वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन

(आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

लेखक
डॉ० राम प्रकाश अग्रवाल
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी)
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
मेरठ कालेज, मेरठ।

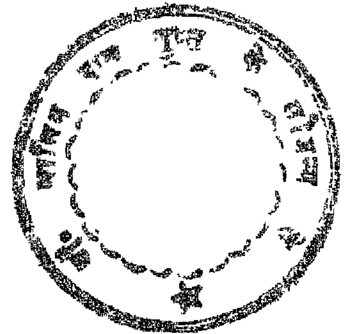
प्र का श न प्र ति ष्ठा न
सुभाष मेरठ

वाल्मीकि और तुलसी :
साहित्यिक मूल्याङ्कन

वाल्मीकि और तुलसी :

साहित्यिक मूल्याङ्कन

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

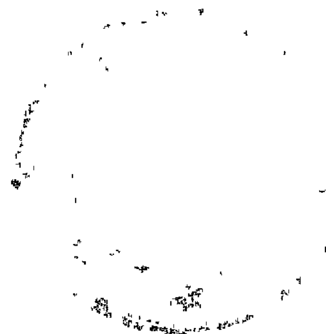


रामप्रकाश अग्रवाल

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी) पी-एच० डी०

अध्यक्ष हिन्दी विभाग

मेरठ कॉलेज मेरठ



प्रकाशन प्रतिष्ठान

सुभाष बाजार

मेरठ

मूल्य २५.००

प्रकाशक—डॉ० विद्याभू
एम० ए०
अधिष्ठात
प्रकाशन प्रतिष्ठान—सुभा
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, मोरी

श्रद्धेय
श्री सीताराम को
जो मुझे यहाँ तक लाये

प्राक्कथन

हिन्दी में आदि कवि वाल्मीकि का अध्ययन प्रायः नहीं के बराबर हुआ है। तुलसी का इतना अध्ययन होने पर भी वाल्मीकि की ओर हिन्दी के विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है, यह आश्चर्य का विषय है। इधर कुछ समय से इस दिशा में कुछ कार्य आरंभ हुआ है, फिर भी वाल्मीकि और तुलसी के तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा को हिन्दी में यथेष्ट प्रश्रय नहीं मिला है, विशेषतः साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध इसी दिशा में एक विशेष प्रयास है।

शोधप्रबन्ध का शीर्षक प्रारम्भ में जितना सरल दिखलाई पड़ता था, अध्ययन करने पर वह उससे कहीं अधिक जटिल और विस्तृत प्रतीत हुआ। दो मुख्य कठिनाइयाँ सामने आईं। एक तो वा० रामायण के प्रक्षिप्त और प्रामाणिक अंशों की समस्या और दूसरी विषय को सीमित रखने की समस्या। मेरा उद्देश्य प्रचलित वा० रामायण के साथ नहीं, वरन् यथासंभव मूल रामायण अर्थात् वास्तविक आदि काव्य के साथ रामचरितमानस की तुलना करने का रहा है जिससे दो कृतियों की ही तुलना नही वरन् उनके निर्माताओं की आत्मा एवं प्रतिभा का भी तुलनात्मक साक्षात्कार किया जा सके। वा० रामायण का पाठ अब भी बहुत अंशों में विवादास्पद है, फिर भी इस विषय में जितना कार्य किया गया है उससे अनुसंधाता को आदि काव्य और आदि कवि की प्रकृति और प्रवृत्ति को परखने की यथेष्ट दृष्टि अवश्य प्राप्त हो जाती है। अत: यथा संभव वा० रामायण के मूल पाठ को ही तुलना का आधार बनाया गया है, यद्यपि अनेक कारणों से कहीं-कहीं उसके प्रक्षिप्त प्रकरणों को भी अध्ययन में सम्मिलित करना पड़ा है।

दूसरी समस्या विषय को सीमित रखने की रही है। वस्तुतः शोध के विचार से महाकाव्य के किसी एक ही पक्ष—कथा, चरित्र, शैली, आदि को—चुना जा सकता था, यहाँ तक कि चरित्रचित्रण का भी एक ही भाग अर्थात् राम और सीता अथवा इनमें से भी केवल एक ही पात्र को चुनकर शोध कार्य के साथ अधिक न्याय किया जा सकता था। परन्तु, उसमें वाल्मीकि और तुलसी की आत्मा के वांछित मिलाप के दर्शन की अभिलाषा कदाचित पूरी न हो पाती। इसलिये विस्तृत विषय को ही अध्ययन का आधार बनाया गया गया ऐसी स्थिति में अनेक स्थलो पर कुछ विचारा को अत्यन्त सक्षिप्त रूप में ही रखना पड़ा है

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय 'विषय प्रवेश' में पूर्ववर्ती सामग्री का सुविस्तृत विवेचन किया गया है जो वाल्मीकि का स्वतंत्र अध्ययन करने के इच्छुक और विशेषत. तुलसी के साथ तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होने वाले व्यक्तियों के लिये विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उस सामग्री से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही प्रस्तुत अध्ययन की मौलिकता का आधार और नवीन दिशा निर्धारित की गई है।

दूसरे अध्याय 'कथाशिल्प' में प्रत्येक काण्ड की कथा का पृथक-पृथक तुलनात्मक विश्लेषण करने के बाद 'कथानक' 'कथावस्तु' तथा 'कथा-शैली' पर पृथक-पृथक विचार किया गया है। इस प्रकार दोनों कवियों के उद्देश्यों और वस्तु संगठन की प्रतिभा को तुलनात्मक दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी में अभी तक वाल्मीकि और तुलसी के तुलनात्मक अध्ययन का जो आनुषंगिक कार्य हुआ है वह कथा-तत्वों का इस प्रकार विश्लेषण करके नहीं किया गया है। कथा की रचना में भी कवि-प्रतिभा झलकती है अतः उसका इस प्रकार विश्लेषणात्मक अध्ययन आवश्यक ही था।

तीसरा अध्याय 'पात्र-निरूपण और चरित्रचित्रण' का है जिसमें दोनों काव्यों के प्रायः सभी पात्रों पर वर्गीकरण के आधार पर विचार किया गया है। महाकाव्य के पात्रों का यह वर्गीकरण सर्वथा मौलिक प्रयास है। इसके अतिरिक्त मुख्य पात्रों पर विशेष विस्तार के साथ विचार करते हुए दोनों कवियों की चरित्रचित्रण-पद्धति, मनोवैज्ञानिक निरूपण और आदर्शवाद तथा यथार्थवाद को समझने की चेष्टा भी की गई है।

चौथा अध्याय 'प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन' का है। वाल्मीकि और तुलसी के प्रकृति-चित्रण पर अभी तक तुलनात्मक दृष्टि से विचार नहीं किया गया था। इस अध्याय में प्रकृति चित्रण की कुछ नवीन विधाओं की ओर भी संकेत किया गया है जो आदि काव्य में ही प्रस्फुटित हो चुकी थी। दोनों कवियों के वस्तुवर्णन पर भी विस्तार के साथ विचार किया गया है।

पाँचवा अध्याय 'रस-निरूपण' का है। भारतीय साहित्य में रस-सिद्धान्त को सबसे अधिक मान्यता प्रदान की गई है। आदि काव्य में 'रस' का स्वरूप क्या है, उसमें रसों की संख्या कितनी है, मुख्य रस कौन से हैं, तथा प्रधान रस क्या है, इस पर विचार किया गया है। इस दृष्टि से दोनों काव्यों की तुलना की गई है। साथ ही मानस में रस की स्थिति और रसों की संख्या तथा क्षेत्र के विस्तार पर विचार करते हुए भक्ति रस की व्यापकता को समझने का प्रयत्न भी किया गया है।

छठे अध्याय, 'काव्य-शैली' के अंतर्गत, भाषा, छंद, अलंकार, सम्वाद, और काव्यरूप अर्थात् महाकाव्य के विविध प्रकारों की दृष्टि से तुलना की गई है। दोनों कवियों की भाषा और छन्द पृथक-पृथक हैं फिर भी इन काव्य-तत्वों के प्रति उनके दृष्टिकोण और व्यवहार में कुछ [illegible] हो सकती है। दोनों काव्यों में कौन से

अलंकार मुख्य हैं और किन अलकारों के साथ उनकी शैली का विशेष सम्बन्ध है, इसका भी विवेचन किया गया है। सम्वाद-शैली मानसकार की विशिष्टता है, जिस कारण उसे 'नाटकीय महाकाव्य' कहा जाता है। इस विषय पर विशेष विचार किया गया है।

सातवें अध्याय में विषय का उपसंहार करते हुए दोनों कवियों की मूलभूत एकता, उनके अतर, सापेक्षिक महत्व और भारतीय जनता पर उनके प्रभाव का आकलन किया गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध की मुख्य उपलब्धि यह है कि भारतीय साहित्य प्रारम्भ से अब तक भक्ति भावना से अनुप्राणित रहा है। वा० रामायण में उस भक्ति भावना को पहली बार निश्चित आधार और ठोस धरातल प्राप्त हुआ है। इसके पश्चात् वह कभी मन्द गति से और कभी तीव्र गति से विकसित होती रही, पर निरन्तर भारतीय साहित्य को शक्ति देती रही। तुलसी तथा उनके समकालीन समस्त भारतीय साहित्य में भक्तिभावना का व्यापक विस्तार हुआ और वह अपने चरम उत्कर्ष पर भी पहुँची। तुलसी ने तथा उनके समकालीन सहयोगियों ने उसकी जड़ें इतनी गहराई के साथ भारतीय साहित्य के धरातल में स्थिर कर दी कि वह साहित्य का सर्वमान्य प्रमुख आधार ही बन गई। यद्यपि यह उपलब्धि मौलिक खोज का दावा "Discovery of fact" नहीं कर सकती पर तथ्य-विवेचना की नई दृष्टि "Fresh approach towards interpretation of facts" का विनम्र दावा अवश्य कर सकती है। इस प्रकार मैं शोध के लक्ष्य की पूर्ति का सन्तोष अनुभव करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ आगरा विश्व विद्यालय में समर्पित शोध प्रबन्ध का किंचित् संशोधित रूप है। संशोधन बहुत सीमित ही किया गया है जिससे कि शोध-प्रबन्ध का मूल रूप (कुछ शोधार्थियों की दृष्टि से) सुरक्षित रह सके। जिस प्रकार शोध-प्रबन्ध के समर्पण के समय, उसी प्रकार प्रकाशन के समय भी, विषय को अद्यतन बनाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक को सन्तोष है कि अब तक की प्रकाशित और अप्रकाशित भी अधिकांश सामग्री को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करते हुए और उसका यथेष्ट उपयोग करते हुए वाल्मीकि और तुलसी की, तथा उनके माध्यम से भारतीय साहित्य की, मूल प्रवृत्तियों को सम्यक रूप से समझने का प्रयत्न किया गया है। आशा है प्रस्तुत प्रबन्ध अपने क्षेत्र की अध्ययन-यात्रा में एक विशिष्ट प्रयाणक सिद्ध होगा।

इस शोध-साधना में अनेक विद्वानों के स्नेह और सौजन्य का प्रसाद प्राप्त हुआ है, जो इस शोध-कार्य और इससे प्राप्त होने वाले भौतिक लाभ से कहीं अधिक मूल्यवान हैं। अपने पूज्य गुरु और निर्देशक डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग मेरठ कॉलेज तथा निर्देशक भारतीय विद्या संस्थान दिल्ली, के प्रति आभार निवेदित करने में मुझे कुछ संकोच इसलिये होता है कि वे इसे लौकिक शिष्टाचार न समझ लें। वस्तुतः मैं इस शोधकार्य के लिये उनका उतना आभारी नहीं हूँ जितना उस जीवन-दर्शन और प्रोत्साहन के लिये जो मैंने उनसे अध्ययन-काल और अनुसंधान-काल दोनों में ही प्राप्त किया है आज मैं अनुभव करता हूँ कि यदि उनके

चरणों में बैठ कर मैंने संस्कृत का अध्ययन न किया होता तो यह जीवन कितना रीता होता और शायद साहित्य-शास्त्र और साहित्य-दर्शन को समझने की यह दृष्टि भी मुझे प्राप्त न होती।

अन्य मानस अथवा परोक्ष गुरुओं में से मैं डा० कामिल बुल्के, डा० माता प्रसाद गुप्त और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके ग्रंथों, पत्रों तथा मौखिक परामर्शों से मैंने विशेष लाभ उठाया है। अन्य विद्वानों का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रंथों का उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है। मेरठ कालिज के तत्कालीन प्रधानाचार्य श्री मदनमोहन जी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन भी मेरे लिये उतना ही आवश्यक है जितना अपने गुरु, आदरणीय विद्वानों और प्रतिष्ठित लेखकों के प्रति, क्योंकि उनकी सतत् प्रेरणा के बिना यह कार्य पूर्ण कर पाना कदाचित मेरे लिये सम्भव भी न हो पाता। अनेक मित्र भी धन्यवाद के पात्र हैं, पर वल्लभ विश्व-विद्यालय गुजरात के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल 'तरुण' का नामोल्लेख अनिवार्य है जो श्रान्ति को शक्ति में परिणत कर देने की कला में पारंगत है। छात्रों को तो आशीर्वाद ही दिया जाता है, पर अब तो प्रो० कर्णसिंह वर्मा मेरे सहयोगी भी हैं। उन्होंने प्रबन्ध के टंकन, आवृत्ति और व्यवस्था आदि में जो सहायता दी थी उसे विस्मृत कर देना भावजगत में एक अपराध होगा। उनकी सेवायें मेरे लिये अविस्मरणीय हैं। मेरे शिष्य एवं अनुसंधान-छात्र डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज ने यह प्रबन्ध अपने नव-स्थापित 'प्रकाशन-प्रतिष्ठान' से प्रकाशित कराया है, उनका यह ममत्व मेरे लिये अत्यन्त मूल्यवान है।

ग्रंथ का समर्पण मेरठ के वरेण्य नागरिक डॉ० प० सीताराम को कर रहा हूँ जिनकी विशेष प्रेरणा से मैं हिन्दी के बाद संस्कृत के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ था और आज भी मैं जिनके आशीर्वाद का अभिलाषी हूँ।

४, प्रोफेसर कालोनी,
विक्टोरिया पार्क, मेरठ
गणराज्य दिवस, वसन्त पंचमी १९६६

—रामप्रकाश अग्रवाल

विषय-सूची

संकेताक्षर

संकेत	पूर्ण रूप
१. अ० रा०, अध्या० रा०	अध्यात्म रामायण
२. ए न्यू एप्रोच०	ए न्यू एप्रोच टू रामायण (ले० नावलेकर)
३. चौ०	चौपाई
४. गौ० रा०	गौड़ीय रामायण
५. जे० ओ० आई०	जनरल आफ दी ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
६. जाकोबी	एच० जाकोबी (डस रामायण)
७ दो०	दोहा
८. दा० रा०	वा० रामायण का दाक्षिणात्य संस्करण
९. प० रा०	वा० रामायण का पश्चिमोत्तरीय संस्करण
१०. बिब्लियो०, बिब्लियोग्राफी०	बिब्लियोग्राफी आफ रामायण (ले० एन० गौरे)
११. महाकाव्य०	हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास (शम्भुनाथ सिंह)
१२. माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर	माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान (ग्रियर्सन)
१३ मा०	मानस
१४. व्यास	डा० शान्तिकुमार नानुराम व्यास (रा० कालीन समाज और रा० कालीन संस्कृति)
१५. विजयाटीका	विजयानद त्रिपाठी कृत मानस-टीका
१६ बुल्के	डा० कामिल बुल्के (राम कथा)
१७. रा० या वा० रा०	वा० रामायण (दाक्षिणात्य संस्करण, हिन्दी अनुवाद द्वा० प्र० मिश्र)
१८ रा० शुक्ल	स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१९. रामाज्ञा०	रामाज्ञा प्रश्न
२० रिडिल०	रिडिल आफ दी रामायण (सी० वी० वैद्य)
२१ लैक्चर्स०	लैक्चर्स आन रामायण (वी० एस० एस० शास्त्री)
२२. बं० रा०	बंगीय रामायण (गौड़ीय रामायण)

पाद-टिप्पणियों के विषय में

१. वा० रामायण की पहली सख्या काण्ड की, दूसरी सर्ग की और तीसरी श्लोक की सूचक है, जैसे ३, ५, १५ का अर्थ हुआ अरण्यकांड का पाचवा सर्ग और पन्द्रहवा श्लोक।

२. मानस की पहली सख्या काण्ड की, दूसरी चौपाई की और तीसरी पंक्ति की सूचक है। चौपाई की संख्या दोहे की सख्या से मानी गई है अर्थात् दोहे पर जो सख्या है उससे पूर्व की समस्त पंक्तिया चौपाई सख्या के अन्तर्गत होगी। जैसे, उदा० १, ?, १ का आशय है बालकाण्ड, चौपाई १, पहली पंक्ति बन्दौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ।।

३. वा० रामायण के उद्धरण द्वा. प्र. मिश्र की टीका वाले संस्करण (प्रयाग, द्वितीय संस्करण) से, और मानस के उद्धरण गी. प्रे. गोरखपुर के संस्करण से दिए गए हैं।

१

विषय-प्रवेश

वाल्मीकि और तुलसी भारतीय साहित्य के वे महान् कवि हैं जिनका इस देश के साहित्य और संस्कृति की परम्परा पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा है और जिनका महत्व सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। दूसरी ओर राम-कथा इस देश की ऐसी साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि है जो युगों से यहाँ की जनता को प्रकाश देती आई है और युगों तक देती रहेगी[1]। दोनों कवियों ने अपनी काव्य-रचना के लिये एक ही विषय और प्रायः एक ही काव्य-शैली को चुना है, फिर भी दोनों का प्रभाव परस्पर प्रतिस्पर्धी है। अतः उनकी रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है राम-कथा की आन्तरिक शक्ति, भारतीय साहित्य और संस्कृति के मूल तत्त्वों और उनके रचयिता महापुरुषों के व्यक्तित्व की सबलता की परख करना। कथा वही है, पात्र वे ही हैं और भाषा को छोड़कर काव्य-शैली के तत्व भी प्रायः वे ही हैं, फिर भी दोनों रचनाओं में अन्तर है और परवर्ती रचना अर्थात् मानस में पर्याप्त नवीनता दृष्टिगोचर होती है। लगभग दो सहस्र वर्षों के अन्तराल ने उसी रामकथा को मानस में नवीन रूप प्रदान कर दिया है, मानों कोई ऋषि कायाकल्प के बाद उठ खड़ा हुआ हो।

प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिन्तन एक अविच्छिन्न विकास-परम्परा का और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब हुआ करता है, अतः इन साहित्यिक कृतियों में बाहरी भेद के होते हुए भी आन्तरिक एकता का होना अनिवार्य है, विशेष कर जब काव्य-विषय एक ही हो तब तो इस एकता का और भी अधिक होना स्वाभाविक है। फिर भी देश की आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों ने उस राम-कथा के रूपान्तर में सहयोग दिया है। अतः इन दो महाकवियों के तुलनात्मक अध्ययन की विशेष जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है।

---

१. इस विषय में आदि काव्य की प्रस्तावना की गौरवपूर्ण उक्ति सत्य सिद्ध हुई है—

न्ति गिरयः सरितश्च महीतले
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति (बालकां० सर्ग २ श्लो० ३६)

पूर्ववर्ती अध्ययन

हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में अभी तक वाल्मीकि और तुलसी का तुलनात्मक अध्ययन विधिवत् और विस्तारपूर्वक नहीं हुआ है,[1] साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से तो इस प्रकार का अध्ययन बिल्कुल नहीं हुआ है। अन्य भाषाओं में भी इस विषय की प्रवृत्ति मात्र प्रकट की गई है परन्तु किसी जिज्ञासु ने प्रस्तुत विषय को विशिष्ट एवं सांगोपांग साहित्यशास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं बनाया है। इस प्रकार के अध्ययन की कुछ सामग्री, अधिकांशत: आनुषंगिक और विकीर्ण रूप में, निम्नलिखित प्रकार के ग्रंथों में प्राप्त होती है :—

(१) भारतीय साहित्य, विशेष कर संस्कृत साहित्य के इतिहास, (२) भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास, (३) वा० रामायण के समीक्षात्मक अध्ययन, (४) रामचरित मानस या तुलसी पर समीक्षात्मक अध्ययन, (५) विदेशी भाषाओं में मानस के अनुवाद की भूमिकाएँ, (६) हिन्दी में मानस की टीकाएँ, (७) कुछ शोधप्रबन्ध और (८) अन्य कवियों तथा विषयों से सम्बन्धित ग्रंथ।

इनमें प्राप्त होने वाले संकेतों तथा सामग्री को यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें से कुछ सामग्री ने प्रस्तुत अध्ययन के लिये केवल दिशा-निर्देश किया है और कुछ ने अध्ययन के लिये उपयोगी आधार भी प्रस्तुत किया है।

१. भारतीय तथा संस्कृत साहित्य के इतिहास

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन करने वाली सब से महत्वपूर्ण पुस्तक एम० विन्टरनिट्ज की है जिसने भारतीय साहित्य में दो आदि महाकाव्यों,—महाभारत और रामायण—के महत्व को बतलाते हुए राम-कथा और वाल्मीकि रामायण की परम्परा में कम्बन और तुलसी का विशेष उल्लेख किया है[2]। इसी प्रकार का उल्लेख ए० मैक्डानल के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में हुआ है जिसने तुलसी पर वाल्मीकि के और मध्यकालीन जनता पर रामचरितमानस के विशिष्ट प्रभाव को लक्षित किया है[3]। आशय यह कि भारतीय या संस्कृत साहित्य के इतिहास

१. इस प्रकार का अध्ययन अभी लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में शोधप्रबन्ध के रूप में किया गया है, परन्तु उसमें साहित्य-शास्त्रीय दृष्टि का विस्तार नहीं है। इस पर आगे, इसी अध्याय के अन्तर्गत, विचार किया जायेगा।

२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर (अंग्रेजी अनुवाद), भाग १, पृ ४७७

३. "Above all, it (V. Ramyana) inspired the greatest poet of mediaeval Hindustan, Tulsidas, to compose in Hindi his version of the epic entitled Ramcharitmanas, which, with its ideal standard of virtue and purity, is a kind of bible to a hundred millions of the people of Northern India"—ए० हि० आफ संस्कृत लिट्रेचर (लंदन १९०५) पृ० ३१७

का अध्ययन करने वाले विद्वानों की दृष्टि वाल्मीकि से आगे जिन स्थलों पर रुकती उनमें तुलसीदास का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार तुलसीदास का विशिष्ट अध्ययन करने वाले व्यक्ति की दृष्टि वाल्मीकि की ओर पीछे को लौटती है, उसी प्रकार आज वाल्मीकि का विशिष्ट अध्ययन करने वाले व्यक्ति की दृष्टि भी आगे को तुलसी की ओर दौड़ती है। ऐसे ही ग्रंथों की श्रेणी में मानियर विलियम्स के 'इंडियन विजडम' और 'इंडियन एपिक पोयट्री' को भी लिया जा सकता है। उन्होंने भारतीय साहित्य और महाकाव्यों की मूलभूत प्रवृत्तियों में से धार्मिकता की प्रवृत्ति को विशेष रूप से लक्षित किया है[1], जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि के राम मानव होकर भी ईश्वरत्व से विभूषित थे और तुलसी के राम ईश्वर होकर भी मानवत्व से युक्त थे। राम के चरित्र-विवेचन में हम इस पर विचार करेंगे। भारतीय साहित्य की मूल प्रवृत्ति धार्मिक है जिसका पूर्ण विकास मानस में दिखलाई पड़ता है।

२. भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास

जिन विद्वानों ने भारतीय धर्म, उसके विविध सम्प्रदायों और दर्शन को समझने के लिये प्रयास किये हैं उन्होंने राम-कथा और राम-भक्ति का प्रभाव देखते हुये वाल्मीकि और तुलसी की वाणी की शक्ति को एकसाथ ही लक्षित किया है। इन विद्वानों में उदाहरण के लिये विल्सन, कार्पेन्टर और फर्कुहार के नाम उल्लेखनीय हैं। किस प्रकार वा० रामायण से लेकर रामचरितमानस तक राम-कथा के सहारे विष्णु और परब्रह्म के अवतार की भावना अपनी अभिव्यक्ति के लिये संघर्ष करती रही और किस प्रकार रामानुज और रामानन्द के संप्रदाय में उसे विशेष बल मिला और किस प्रकार तुलसी ने राम के अवतारत्व को महाकाव्य के उच्च स्तर पर अभिव्यक्त किया[2], इस प्रकार के अध्ययन का कुछ आधार उक्त प्रकार के ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। जे० एन० फर्कुहार ने वा० रामायण और रामचरितमानस की तुलना करते हुये लिखा है—"तुलसीदास की कृति की कथावस्तु का मूल आधार तो वाल्मीकि की रचना ही है लेकिन उसमें प्रकाशित धर्मभावना मध्यकालीन साहित्य की है, जिसका प्रभाव अनेक कथा-प्रसंगों में प्रतिबिम्बित होता है।"[3] स्पष्ट है कि लेखक ने इस बात को लक्षित किया है कि भारतवर्ष की धार्मिक क्रान्ति में रामकथा का महत्वपूर्ण योगदान है और उसमें आंशिक श्रेय वाल्मीकि का भी है। तुलसी की मौलिकता कथा में नवीन अर्थ ध्वनित कर देने में है जिसके द्वारा उन्होंने इसे महान धार्मिक क्रान्ति का आधार बनाया है। इसी प्रकार इस वर्ग के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी दोनों कवियों का सांस्कृतिक तुलना की दृष्टि से उल्लेख हुआ है।

---

१. "वास्तव में भारतीय महाकाव्यों की धार्मिक भावना ही वह प्रमुख तत्व है जो उसे होमर के साहित्य से पृथक कर देता है", इंडियन विजडम, पृ० ४२७ ।

२. जे० ई० कार्पेन्टर 'थीज्म इन मेडिवल इंडिया' (लन्दन १९२६) पृ० ४२४ ।

३. जे० एन० फर्कुहार 'एन आउटलाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया' (आक्सफर्ड १९२० पृ० २४

३. वाल्मीकि रामायण के समीक्षात्मक अध्ययन

मानस का समीक्षात्मक अध्ययन आरम्भ करने का श्रेय जिस प्रकार अंग्रेजी विद्वान् डा० ग्रियर्सन को है उसी प्रकार वा० रामायण का जर्मन विद्वान एच० जाकोबी को। यद्यपि उनसे पूर्व दो अन्य जर्मन विद्वान् वेबर और लासेन इसका श्रीगणेश कर चुके थे परन्तु उनके अध्ययन का दृष्टिकोण साहित्यिक नहीं था। वेबर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वाल्मीकि की राम-कथा होमर का ऋण है[1]। उसने यह भी कहा कि समस्त राम-कथा एक ऐतिहासिक रूपक है जिसमें आर्य सभ्यता का दक्षिण की ओर अभियान अंकित हुआ है[2]। इसी विचार का प्रसार लासेन ने भी किया[3]। इन ग्रन्थों और लेखों ने वाल्मीकि रामायण के सांस्कृतिक अध्ययन और अनुशीलन की प्रेरणा को अवश्य बढ़ाया जिससे क्रमशः उसका साहित्यिक अध्ययन भी आरम्भ हुआ, जिसमें पहला प्रयास एच० जाकोबी का था। इस विद्वान ने वा० रामायण का पूर्ण वैज्ञानिक पाठविवेचन करके प्रक्षिप्त और प्रामाणिक सामग्री का वर्गीकरण किया, साथ ही उसकी भाषा, अलंकार, छन्द आदि पर भी विचार किया[4]। इस ग्रंथ के आंशिक अनुवाद अंग्रेजी में भी उपलब्ध हैं[5]।

भारतीय साहित्य में रामकथा के इतिहास, विकास और व्यापक परम्परा का सर्वप्रथम अध्ययन करने वाले जर्मनी के ही अन्य विद्वान बाम गार्टनर थे जिन्होंने अपनी कृति 'रामायण और राम साहित्य'[6] में इस प्रकार के अध्ययन की विशिष्ट प्रेरणा प्रदान की है। यह ग्रंथ अभी जर्मन भाषा में ही है। वा० रामायण के समीक्षात्मक अध्ययन की परम्परा इन ग्रन्थों के पश्चात् भारत में प्रवेश करने लगी थी। वेबर के मत का खंडन श्री के० टी० तेलांग ने "वाज रामायण कापीड फ्राम होमर" नामक ग्रंथ (बम्बई, १८७३) में किया। आगे भी यह विवाद चलता रहा। इसके पश्चात् "रिडिल आफ रामायण" में श्री सी० वी० वैद्य ने इस महाकाव्य का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी दृष्टियों से अध्ययन किया। उन्होंने जाकोबी की अध्ययन-पद्धति का ही प्रसार किया, परन्तु स्पर्श उनसे अधिक विषयों का किया है। उन्होंने वेबर तथा उसके सहयोगी विद्वानों के भी मतों का उत्तर दिया है। जर्मन विद्वान जाकोबी और बाम गार्टनर के ग्रन्थों की सामग्री हिन्दी के पाठक को उपलब्ध कराने का श्रेय डा० कामिल बुल्के को है जिनका शोध प्रबन्ध 'रामकथा'[7] हिन्दी में

---

१. 'यूबेर दस रामायण' अंग्रेजी अनुवाद, बम्बई, १८७३।

२. हिस्ट्री आफ इन्डियन लिट्रेचर, (लंदन, १८९०), पृ० १९८।

३. 'आन वेबर्स डिस्सर्टेशन आन दी रामायण' इन्डियन ऐंटीक्वेरी जिल्द ३, पृ० १०२-१०३।

४. दस रामायण, बान, १८९३।

५. दि जर्नल्स आफ ओरियंटल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा तथा 'ए बिब्लियोग्राफी आफ रामायण'। (एन० ए० गोरे)

६. दस रामायण उन्ड डाइ राम लिटरेटर, ८, स्टटगार्ट १९०४

७. प्रयाग वि० वि०, १९५०

वस्तुत: राम सम्बन्धी साहित्य का कोष-ग्रंथ है। इस ग्रन्थ में कथा की दृष्टि से वा० रामायण का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है, उसकी प्रामाणिक और प्रक्षिप्त सामग्री का भेद बतलाया गया है तथा भारतीय और विदेशी साहित्य पर भी, उसका व्यापक प्रभाव सूक्ष्मतापूर्वक दिखलाया गया है। लेखक का विषय है 'रामकथा की उत्पत्ति और विकास', अतः आधुनिक भारतीय भाषाओं के अंतर्गत उसने रामचरित मानस मे भी रामकथा के विकास पर दृष्टिपात किया है। एक पृष्ठ में लेखक ने रामचरित मानस के उन प्रसंगों का भी उल्लेख किया है जो नवीन हैं[1]। इसके अतिरिक्त अन्यत्र उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का भी विवेचन किया गया है जिनके कारण इन नवीन प्रसंगों की योजना हुई है, परन्तु उन में से अनेक का सम्बन्ध केवल मानस से ही नहीं वरन् समस्त मध्यकालीन साहित्य से है। इस सामग्री से वाल्मीकि और तुलसी का कथात्मक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने वाले को पर्याप्त दिशानिर्देश प्राप्त होता है, परन्तु चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, भाषा, सम्वाद और काव्य-शैली आदि की तुलना के लिये इसमें भी कोई सामग्री नहीं है।

वाल्मीकि और होमर को लेकर विदेशी और भारतीय विद्वानों में काफ विवाद रहा था। वेबर के इस विचार का, कि वाल्मीकि ने अपनी सामग्री होमर से ली, खंडन करने वाले अंग्रेजी विद्वान ए. आर्थर लिली की पुस्तक 'राम ऐंड होमर'[2] भी उल्लेखनीय है, जिसमे 'इलियड' और 'ओडेसी' की कथावस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण करके यह सिद्ध किया गया है कि स्वयं होमर ही वाल्मीकि के ऋणी थे। महाकाव्यो के कथाशिल्प के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन की एक विशिष्ट पद्धति की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपयोगी है।

सी० वी० वैद्य की पुस्तक ने भारतीय विद्वानो को वा० रामायण के समीक्षात्मक अध्ययन की ओर आकृष्ट किया। उन्ही के ग्रथ से प्रेरित होकर "दि पोयट्री आफ वाल्मीकि" मे एम० वी० आयंगर ने ग्रंथ के विशिष्ट भागों का साहित्यिक मूल्यांकन किया है। वे 'रिडिल' के लेखक से प्रभावित हुए हैं। उन्होंने यह माना है कि वाल्मीकि के समय में धर्म और काव्य पृथक वस्तु नहीं थे[3]। 'रिडिल' की ही पद्धति पर, परन्तु उससे विस्तृत और अधिक साहित्यिक अध्ययन, श्री के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने 'स्टडीज इन रामायण' अथवा 'दि जीनियस आफ वाल्मीकि' में प्रस्तुत किया है जिसमे उन्होंने पूर्ववर्ती सामग्री का यथेष्ट उपयोग करते हुए विषय का विस्तार किया है और परिशिष्ट में प्रचुर सम्मतियों का भी संग्रह किया है। वाल्मीकि की तुलसीदास से तुलना करते हुए उन्होंने एक पृष्ठ में ही विचार किया है और तुलसी की मौलिकता के विषय मे केवल दो बाते कही है। एक तो यह, कि तुलसी ने बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मे

१. बुल्के, पृष्ठ २२२—२३।
२. प्रकाशित, लन्दन, १९१२।
३ "जब वाल्मीकि ने काव्य रचना की थी उन दिनों धर्म और काव्य पृथक तत्व नहीं समझे जाते थ दि पोयट्री आफ वाल्मीकि पूना १९४०), पृ० २

नवीन कथातत्वों का संयोजन किया है। दूसरी यह, कि वाल्मीकि के राम और सीता का चरित्र मानवीय स्तर पर है जब कि तुलसी और कम्बन ने उन्हें अतिमानवीय और अलौकिक तल पर पहुँचाया है[1]। अपने ग्रंथ के आरम्भ में भी इस लेखक का ध्यान तुलना की दृष्टि से तुलसी और कम्बन की ओर आकृष्ट हुआ है[2]। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से उनकी समीक्षा की अपूर्णता एवं अवैज्ञानिकता इस बात से भी लक्षित होती है कि वे एक स्थल पर वाल्मीकि का चरित्रचित्रण यथार्थवादी मानते हैं और उनके सीता तथा राम को मानवीय तल पर सिद्ध करते हैं (भाग २ परिशिष्ट १५) और दूसरे स्थल पर उनका कथन है कि राम का ईश्वरत्व और अवतारत्व वा० रामायण में ही प्रतिष्ठित हो चुका था[3]। स्पष्ट है कि इस विषय का समीक्षापूर्वक अध्ययन नहीं किया गया है। तुलसी और वाल्मीकि में इस दृष्टि से क्या अन्तर है, इस पर उक्त विद्वान ने विचार नहीं किया है क्योंकि यह उनके अध्ययन-क्षेत्र से बाहर की वस्तु थी। उपरोक्त भारतीय और संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखकों के समान ये वा० रामायण के अध्येता भी यह अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं कि वाल्मीकि को समझने में तुलसी सहायक होते हैं और तुलसी को समझने में वाल्मीकि।

श्री के० आर० शास्त्री के समान ही, परन्तु केवल चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर, श्री० वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने भी वा० रामायण का अध्ययन किया है और यही धारणा प्रकट की है कि ईश्वरत्व और देवत्व की भावना आदि काव्य में आ चुकी थी[4]।

इन अध्येताओं से अभी तुलसी के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये कोई विशेष सामग्री नहीं मिलती है, केवल विचार-प्रेरणा प्राप्त होती है। श्री महाराष्ट्रीय

1. 'While Valmiki keeps Rama and Sita on the human level Tulsidas and Kamban keep them on a super-human and divine level'—
'स्टडीज इन रामायण,' (... I, ...), भाग २, पृ० १५८। (परिशिष्ट ...—१५)।
२ वही, भाग १, पृ० १।
3. "In the Ramayana itself the divinity of Rama is indicated directly and indirectly in many places. To reject these passages as interpolations is to refuse to understand the Hindu theory of Incarnation (Avatara) and the Hindu poetic technique of indirect suggestion (Dhvani)." वही, भाग १, पृ० २।
४. लेक्चर्स ऑन रामायण (... १९५२), पृ० १० तथा श्री वी० आर० वेंकटराम शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, और ... के पृ० २५४ पर यह कथन किया—
"Putting his weakness down, he (Ram) lifted up his own nature until it cam to di inity so nucl so tl at we now do not d st nguish h m from the ce stials

की "श्री रामायण समालोचना"[१] के भाग २ में वा० रामायण की संक्षिप्त तुलना आनन्द रामायण, अध्यात्म रामायण और मानस से की गई है। वाल्मीकि और तुलसी की विचारधारा और काव्यकला के तुलनात्मक अध्ययन का यहां भी संकेत ही मिलकर रह जाता है। इसी प्रकार श्री के० चन्द्रशेखरन की "रामायण त्रिवेणी"[२] में वाल्मीकि, कम्बन और तुलसी का तुलनात्मक अध्ययन है पर उसमें भी इन तीन कवियों के केवल पितृभक्ति के आदर्श, दाम्पत्य के आदर्श, सीता स्वयंवर की कथा, कनकमृग के प्रसंग और विभीषण के चरित्र की तुलना है।

वा० रामायण से हिन्दी का पाठक अभी यथेष्ट रूप में परिचित नहीं हुआ है, इसीलिये हिन्दी में अभी उस पर समीक्षात्मक ग्रन्थ नहीं है। जर्मन, अंग्रेजी और मराठी आदि भाषाओं में उस पर कुछ समीक्षात्मक ग्रन्थ अवश्य लिखे गये हैं। श्री सातवलेकर के विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण अध्ययन का मराठी से हिन्दी में अनुवाद हुआ है जिसमे रामायण का धार्मिक और सांस्कृतिक विश्लेषण है। साहित्यिक या तुलनात्मक समीक्षा उसमें नहीं है। वाल्मीकि रामायण की कथा के राजनैतिक अध्ययन की प्रवृत्ति आज भी दिखलाई पड़ती है। इस दृष्टि से वा० रामायण का अध्ययन 'ए न्यू एप्रोच टु दि रामायण' में किया गया है जिसके लेखक श्री नावलेकर ने राम को आर्य जाति का महान् राजनैतिक और सैनिक नेता माना है और रामकथा को अनार्य जातियों पर आर्य जाति के विजय का इतिहास बताया है। इस ग्रन्थ में रामकथा के प्रारम्भिक अध्येता वेबर की विचारधारा का विकास दिखलाई पड़ता है। लेखक ने कहीं-कहीं वाल्मीकि रामायण की कथा का ऐतिहासिक अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये तुलसी के रामचरितमानस की भी कथा का समावेश कर लिया है, जैसे कि उसकी यह कल्पना कि मानस में छाया-सीता के प्रसंग में कोई अलौकिक अभिप्राय नहीं है वरन् सीता को गुफा में छिपाकर उसके स्थान पर शबरी का हरण कराया गया है[३]। इस कल्पना के औचित्य पर यहां विचार न करके हमें केवल यही संकेत करना है कि वाल्मीकि को समझने का प्रयत्न करते समय उक्त लेखक का भी ध्यान तुलसी की ओर आकृष्ट हुआ है, जैसा कि हम इससे पूर्व कुछ भारतीय साहित्य के इतिहास-लेखकों और समीक्षकों के विषय में दिखला चुके हैं।

इसी प्रसंग में पं० जवाहरलाल नेहरू के भी एक कथन की ओर ध्यान आकृष्ट होता है:—

"Valmiki wrote his immortal Epic and in later days Tulsidasa, writing in homely language made this story a part of the texture of the lives of our people".[४]

---

१. पूना, १९२७ (मराठी में)।
२. मद्रास १९५३ (अंग्रेजी)।
३ एन० आर० नावलेकर ए न्यू एप्रोच जबलपुर) पृ० १४०
४ द० प्रस्तावना वा० रामायण एन० सी० अय्यर भा० वि० भवन बम्बई १९५४

स्पष्ट है कि 'डिस्कवरी आफ़ इन्डिया' के लेखक का ध्यान भी वा० रामायण के विषय में विचारते समय तुलसीदास के रामचरितमानस की ओर भी गया है।

४. रामचरित मानस या तुलसी पर समीक्षात्मक अध्ययन

तुलसी और रामचरितमानस पर हिन्दी में पर्याप्त अध्ययन हुआ है और मानस-बालकाण्ड के मंगलाचरण के 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' को लेकर उसके आधार-भूत ग्रंथों की सामग्री पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा कुछ तुलनात्मक अंश संकलित किये गये हैं। इन आधारभूत ग्रंथों में अध्यात्म रामायण को विशेष महत्व दिया गया है, क्योंकि मानसकार उसके दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित था। तुलसी या मानस सम्बन्धी इन ग्रन्थों में से कुछ में वा० रामायण के साथ अत्यन्त चलती हुई तुलना की गई है या केवल एक पक्ष, प्रायः कथा या कभी-कभी चरित्र-चित्रण को भी, लेकर कुछ तुलना की गई है।

गो० तुलसीदास पर समीक्षात्मक और व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ करने का श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन को है। प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से उनका एक ग्रन्थ उल्लेखनीय है—'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान विथ स्पेशल रिफरेंस टु तुलसीदास'। इसमें लेखक ने कहीं-कहीं तुलनात्मक समीक्षा भी की है (विशेषकर कालिदास से) परन्तु उनका विशेष योगदान तुलसी साहित्य के अध्ययन का वास्तविक और सही मानदंड प्रस्तुत कर देने में है। उन्हीं के दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी में तुलसी का समीक्षात्मक अध्ययन प्रारम्भ हुआ और तुलसी को अपना वर्तमान पद प्राप्त हुआ। उन्होंने तुलसी-साहित्य, विशेषकर मानस, में निहित धार्मिक शक्ति और कवित्व का सम्बन्ध प्रकट करने की चेष्टा की है।

हिन्दी में वाल्मीकि के साथ तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा वस्तुतः इटालियन विद्वान डा० एल०पी० टैसीटरी के लेख "इल रामचरित मानस ए इल रामायण"[1] से आरंभ होती हुई दिखलाई पड़ती है। इस लेख में लेखक ने दोनों महाकाव्यों की कथा-वस्तु की तुलना करते हुए यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि तुलसी मानस की कथा के लिये बहुत कुछ वाल्मीकि रामायण के ऋणी हैं[2]। उन्होंने अध्यात्म रामायण के प्रभाव का भी उल्लेख किया है[3]। दोनों काव्यों की कथावस्तु की रचना, आधिकारिक, प्रासंगिक तथा अन्य कथाओं के योग, कथानक रूढ़ियों आदि कथातत्वों पर इस लेखक ने विशेष विचार नहीं किया है।

श्री शिवनन्दन सहाय ने 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' नामक ग्रंथ के द्वितीय खंड के अंतिम भाग 'कवि की संस्कृतज्ञता' अध्याय के अंतर्गत मानस के आधार ग्रंथों

१. अंग्रेजी अनुवाद, [illegible] (बम्बई) के दो भागों में (१९१२ और १९१३ ई०)
2. "Conforming himself closely to Valmiki as far as particulars of Ram's life are concerned"—वही पृ० ७७८ 3 "Availed himself of the Adhyatma Ramayan"—वही पृ० २७३

पर कुछ विचार किया है और वा० रामायण तथा अध्या० रामायण से मानस की कथावस्तु की तुलना की है। इसी प्रकार का अध्ययन हमें श्री महाराष्ट्रीय की 'श्री रामायण समालोचना' में भी मिलता है, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में (दे० पृ० ७) की जा चुकी है। डा० मा० प्र० गुप्त का विचार है कि मानस पर संस्कृत ग्रंथों की छाया देखने का सर्वप्रथम प्रयास इसी ग्रन्थ में किया गया था।[1]

मद्रास क्रिश्चियन सोसायटी के पादरी जे० एन० कार्पेन्टर ने "दि थियॉलॉजी आव् तुलसीदास" मे कवि के धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। एक अध्याय मे तुलसीकृत मानस के पुरातन आधारों को भी चर्चा की गई है पर उसके अन्तर्गत वा० रामायण को कोई स्थान नही दिया गया है, क्योंकि शोधकर्ता का उद्देश्य कोरा धार्मिक था, साहित्यिक नही।

ना० प्र० स० काशी द्वारा 'तुलसी-ग्रन्थावली' के प्रकाशन ने तुलसी विषयक अध्ययन को हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है। इसके समीक्षात्मक खड में आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है, परन्तु वा० रामयण से तुलना करने वाला लेख एक भी नहीं है। एक लेख में तुलसी पर जयदेव का प्रभाव अवश्य दिखलाया गया है।[2] कहीं-कही प्रसंग वश वा० रामायण की चर्चा, और वह भी केवल कथा की दृष्टि से, आ गई है।[3]

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने ग्रंथ 'गो० तुलसीदास' में वा० रामायण की चर्चा अत्यन्त साधारण रूप से की है जिसमें उन्होने दोनों कवियों के चरित्र-चित्रण[4] और कथा के विषय में[5] कुछ सकेत मात्र दिये है। दोनों की काव्य पद्धति के अन्तर की ओर भी कुछ सकेत हैं।[6] शुक्ल जी के इन अल्प उल्लेखों से स्पष्ट है कि वा० रामायण की ओर हिन्दी के विद्वानों ने बहुत कम ध्यान दिया है। एक तो, हिन्दी के अधिकांश विद्वानों ने प्रामाणिक और प्रक्षिप्त में भेद नहीं किया है और सातो काण्डों को वाल्मीकि की रचना समझ लिया है।[7] दूसरे, सभी ने उसकी कथावस्तु पर अध्या० रामायण का ही प्रभाव

---

१. तुलसीदास पृ० ६।
२. "तुलसी और जयदेव" ले० प० बल्देव उपाध्याय, पृ० १६३।
३. उदा० के लिये ए० ग्रीब्स के लेख में—"कभी-कभी यह बात समझी जाती है कि यह रा० च० मानस वा० रामायण का उल्लास है, पर यह बात ठीक नहीं है। दोनों में सात-सात काण्ड है और दोनों में एक ही कथा है, जो न वाल्मीकि की न तुलसीदास की बनाई है, पर बहुत दिनों से प्रचलित है।" तु० ग्रंथावली, भाग १,—पृ० ५५।
४. 'वा० में राम का नरत्व और तुलसी में नारायणत्व' (पृ० ८२), बालि-वध के प्रसंग में दोनों कवियों का रामविषयक आदर्शवाद (पृ० १३०-३१), दशरथ के चरित्र की तुलना (पृ० १३६)।
५. दे० परशुराम प्रसंग, वही (पृ० ८३)।
६. उदा० के लिये पुष्पवाटिका प्रसंग को लेकर, वाल्मीकि और तुलसी की प्रेम-पद्धति के निरूपण में अंतर दिखलाया गया है, वही (पृ० ८३)।
७ वाल्मीकि ने विवाह के बाद परशुराम का मिलना लिखा है ... वही (पृ० ८३)—इससे प्रकट है कि शुक्ल जी बाल काण्ड को भी वाल्मीकि की रचना मानते हैं

अधिक माना है।[1] इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी के तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग अवरुद्ध ही रहा है।

'मानस-हंस' के लेखक श्री यादवशंकर जामदार ने मानस के आधारभूत संस्कृत ग्रंथों से उसकी संक्षिप्त तुलना करते हुए तुलसी की मौलिकता पर विचार किया[2], परन्तु वाल्मीकि से तुलना को इस ग्रंथ में भी स्थान नहीं मिला है।[3]

'तुलसी साहित्य रत्नाकर' के लेखक श्री रामचन्द्र द्विवेदी ने प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित दो अध्याय दिये हैं। 'वाल्मीकि और तुलसी में' लेखक ने सातों कांडों की कथा को तुलना के लिये उपस्थित कर दिया है, परन्तु कोई तुलनात्मक निष्कर्ष नहीं निकाले है। राम और सीता के चरित्रों की तुलना में भी यथार्थवाद और आदर्शवाद का कुछ अन्तर लक्षित किया गया है। वा० रामायण में इतिहासतत्त्व और मानस में पुराणतत्त्व की भी कुछ चर्चा की गई है, परन्तु कोई विश्लेषण नहीं किया गया है। 'मौलिकता और तुलसीदास'[4] में कुछ ऐसी उक्तियां संग्रहीत की गई हैं जिनका अनुवाद या छाया तुलसीदास में दिखलाई पडती है। इस अध्ययन में भी वा० रामायण से मानस की तुलना का एक संकेत मात्र ही मिलता है।

वाल्मीकि और तुलसी के तुलनात्मक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण आधार हमें डा० मा० प्र० गुप्त के 'तुलसीदास' ग्रंथ में प्राप्त होता है जिसमे लेखक ने एक साथ ही तुलसी के जीवन, कृतियों, काव्य-कला और दार्शनिक विचारो का अध्ययन विस्तारपूर्वक और वैज्ञानिक पद्धति से किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का अध्ययन एक प्रकार से एकांगी था, क्योंकि उन्होंने मुख्य रूप से तुलसी की काव्य-कला के विश्लेषण और उसकी लोकोपयोगिता को ही लक्ष्य बनाया था, परन्तु डा० गुप्त ने भावी पीढ़ियों के लिये तुलसी-साहित्य के अध्ययन को ठोस पीठिका प्रदान कर दी है। पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० माता प्रसाद के ग्रन्थों का अध्ययन तुलसी साहित्य का शास्त्रीय और वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये शेष सब सामग्री से अधिक मूल्यवान है। वाल्मीकि से तुलनात्मक अध्ययन के लिये डा० गुप्त ने भी दो ही पक्षों का चयन किया है—कथा और चरित्र। कथा-प्रसगों के विषय मे उनका कथन है—"अध्या० रामायण को तो वे (तुलसी) मानस मे प्रायः आधार रूप में लेकर चले हैं। यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि मानस में पूरे प्रसंग के प्रसंग अध्या० रामायण के छायानुवाद या संक्षेप हैं। इस प्रकार की सहायता उन्होंने वाल्मीकि रामायण से नहीं ली है।"[5] यह ठीक है कि "इस प्रकार की सहायता" अर्थात् कुछ प्रसंगों की रचना और कुछ उक्तियों के भावानुवाद में वे अध्या० रामायण से अधिक प्रभावित हुए हैं, परन्तु अनेक स्थलों पर ऐसा भी है जहां वा० रामायण और अध्या० रामायण में कोई प्रसंग एक ही रूप से उपस्थित किया गया है, जैसे अशोक-वाटिका में सीता-रावण सम्वाद के अंतर्गत

१. दे० वही, पृ० ८२। डा० मा० प्र० गुप्त भी ऐसा ही मानते हैं, दे० 'तुलसीदास' पृ० ८, ९० तथा २८३ २. हिन्दी अनुवाद मराठी से नागपुर संवत् १९९६ ३. पृ० २६७ ४. पृष्ठ ३०७ ५. पृ० २ ६

तिनके को बीच में रख कर वार्तालाप करना।[1] हमने अपने अध्ययन में ऐसे अनेक प्रसंगों और उक्तियों के उद्धरण विशेष रूप से दिये है जहां तुलसी वा० रामायण का भी उसी प्रकार छायानुवाद करते हुए प्रतीत होते हैं जिस प्रकार अध्या० रामायण और अन्य आधार ग्रंथों का, उदा० के लिये लक्ष्मण-शक्ति पर राम के विलाप की उक्तियां और सीता-अनसूया सम्वाद[2]। तुलसी ने अध्या० रामायण से विशिष्ट भक्ति-परक कथा-प्रसगों को ही चुना है। उन्होने कथा-कंकाल वाल्मीकि रामायण का ही दृष्टि मे रखकर तथा उसमें अन्य ग्रंथों की सामग्री का समावेश करते हुए मानस की कथावस्तु का विधान किया है। डा० गुप्त ने भी कदाचित् ऐसा ही अनुभव करते हुए कथानक की रूप-रेखा के अनुगमन में वा० रामायण को प्रायः समान महत्व ही दिया है।[3] वस्तु योजना के अंतर्गत डा० गुप्त ने अन्य आधार ग्रंथों के प्रभाव तथा तुलसी की मौलिकता के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

चरित्र-चित्रण मे तुलसी की मौलिकता डा० गुप्त ने विशेष रूप से प्रकट की है।[4] उन्होंने प्रायः सभी चरित्रों की तुलना, जो कि अध्ययन के लिये चुने गये हैं, वाल्मीकि के पात्रों से की है। तुलसी की चरित्र-चित्रण पद्धति में एक मुख्य और अत्यन्त महत्व-पूर्ण विशेषता उन्होंने यह बतलाई है कि "आधार ग्रन्थो में कथा के पात्र जिस आवेश, अविचार और अधीरता का परिचय देते है, हमारा कवि उन्हें उनसे मुक्त करके ही ग्रहण करता है।"[5] इससे वाल्मीकि और तुलसी के यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का अंतर स्पष्ट होता है। इन दो ही पक्षों तक डा० गुप्त ने अपने तुलनात्मक अध्ययन को सीमित रक्खा है और उनके प्रतिपाद्य के अंतर्गत इससे अधिक का अवकाश था भी नही। आधार ग्रंथों में उन्होंने प्रायः वा० रामायण और अध्या० रामायण दोनो को ही दृष्टि मे रखा है। वस्तुतः वाल्मीकि की विचारधारा ने महत्वपूर्ण मोड़ अध्या० रामायण पर ही आकर लिया है, परन्तु तुलसी ने उस विचारधारा को धर्म और दर्शन का आवरण प्रदान करते हुए भी उसकी काव्य-सम्पत्ति की सुरक्षा की है। डा० गुप्त के संकेत वाल्मीकि और तुलसी का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये एक उपयुक्त वैज्ञानिक पद्धति का निर्देश करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं।

प० रामनरेश त्रिपाठी ने 'तुलसी और उनकी कविता' ग्रंथ में "मानस-मधु" शीर्षक अध्याय के अंतर्गत संस्कृत ग्रथों से तुलनात्मक उद्धरण प्रचुर परिमाण मे प्रस्तुत किये हैं।[6] कल्याण के रामायण विशेषांक (जुलाई, १९३०) में भी कुछ

१. वा० रा० ५, २१, ३, अध्या० रा० ५, ?, ३१ तथा मा० ५, ९, ६।

२. दे० रा० ६, १०२, १२-१३ और मा० ६, ६१, ७-८, तथा रा० २, ३९, ३० (सीता-कौशल्या सम्वाद) और मा० ३, ५, ५-६ (सीता-अनसूया-सम्वाद)।

३. तुलसीदास पृ० ३३१।

४. 'इस मौलिक योग का दर्शन हम सबसे अधिक उनकी चरित्र कल्पना में करते हैं' वही पृ० २८४।

५ वही पृ २८५

६ पृ० १४१

फुटकर लेख प्राप्त होते हैं। श्री रजनीकान्त शास्त्री ने अपनी पुस्तक "मानस मीमांसा" मे प्राय: पुरानी पद्धति की ही आवृत्ति की है। 'मानस के आधारादि' (तृतीय परिच्छेद) मे कुछ संस्कृत ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है जिनमें पहला स्थान वा० रामायण का है (पृ० १०८)। उन्होंने मानस को वा० रामायण का अनुवाद मानने के विचार का खंडन किया है, जो कि पहले भी किया जा चुका था। इसके अतिरिक्त उनका कथन है "वे लोग घोरतर भ्रम में है जो यह कहा करते है कि वाल्मीकि ने रामचन्द्र को केवल एक आदर्श महापुरुष माना है न कि ईश्वर का कोई अवतारविशेष" (पृ० १०९), परन्तु अवतार-सिद्धि के लिये उन्होंने जो उद्धरण दिये है वे सभी प्रक्षिप्तांशों में से है। इससे स्पष्ट है कि मूल और प्रक्षिप्त में उन्होने भी कोई अन्तर नहीं किया है।

डा० श्री कृष्ण लाल ने 'मानस दर्शन' में मानस की कथा, चरित्र, रस और शैली, सभी पर पौराणिक प्रभाव का विवेचन किया है और स्थल-स्थल पर वा० रामायण तथा अन्य संस्कृत, बंगला और हिन्दी के ग्रन्थो से भी मानस के पात्रों तथा भावों की तुलना करते हुए मानस की शैली पर पौराणिकता का प्रभाव दिखलाया है। वा० रामायण में भी कुछ भक्ति और पौराणिक तत्व थे, इस बात को उन्होंने लक्षित नही किया है।

डा० राजपति दीक्षित ने 'तुलसीदास और उनका युग' के एक अध्याय मे ('तुलसी और प्राचीन साहित्य') वा० रामायण के साथ भी मानस की तुलना की है, जिसमें दोनों कवियों के युग-भेद को लक्षित करते हुए उनके उद्देश्यों में अंतर बतलाया है और कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण में तुलसी की नवीनता प्रकट की है। कथावस्तु की नवीनता का मुख्य आधार उन्होंने मानस के उपक्रम और उपसंहार को बतलाया है और यह साहित्यिक दृष्टि से तुलना करने के लिये एक महत्वपूर्ण संकेत है। चरित्र-चित्रण मे अन्तर का मुख्य आधार उन्होंने भी यथार्थवाद को बतलाया है। वस्तुतः इन लेखकों ने वाल्मीकि के आदर्शवाद को लक्षित नही किया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे यह बात विशेषरूप से स्पष्ट कर दी गई है कि दोनों ही कवि आदर्शवादी थे। अन्तर उनके यथार्थ और आदर्श के परिणाम मे है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने 'गो० तुलसीदास' में "ग्रन्थों की समीक्षा" के अंतर्गत सामग्री के स्रोतों पर विचार करते हुए वा० रामायण की भी चर्चा की है। कथा के विषय मे उनका विचार ग्रौस महोदय के विचार से मिलता हुआ है कि "कथा उन्होंने वाल्मीकि की न कहकर पुरातन कही है।" परन्तु इस पुरातन कथा का स्वरूप और स्रोत उन्होंने प्रकट नहीं किया है। उन्होंने शिव-उमा, काकभुशुण्डि-गरुड़, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज आदि की कथा को पुरातन कहा है पर इनका कोई काल और स्थान निर्दिष्ट नही किया है। इस प्रकार यह अध्ययन भी अत्यन्त अल्प, अपूर्ण और अवैज्ञानिक है।

इधर पिछले कुछ दिनों में मानस की कथा के विश्लेषण के उद्देश्य से ही लिखे गये कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। डा० बल्देव मिश्र ने 'मानस मे राम कथा'[1]

1 कलकत्ता १९५२

के प्रथम अध्याय में डा० बुल्के की सामग्री की आवृति की है। शेष अध्यायों में मानस की कथा का सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। इन आधारों पर वाल्मीकि रामायण से मानस की कथा की तुलना उन्होने नहीं की है।

इसी प्रकार की एक और कृति 'मानस का कथाशिल्प'[1] में श्री श्रीधरसिंह ने अपना विषय केवल कथावस्तु के विश्लेषण तक ही सीमिति रक्खा है। उन्होंने आधार-ग्रन्थों की कथा से मानस की कथा की नवीनता प्रकट करते हुए परिवर्तन, परिवर्धन, स्थानान्तरण आदि की क्रियाओं को व्यावहारिक प से सोदाहरण समझाया है और वाल्मीकि रामायण की भी कथा से कुछ प्रसंगों की तुलना की है। जहां तक कथावस्तु के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है यह कृति अत्यन्त उपयोगी है। कथा के सबन्ध से ही पात्रों की भी कुछ चर्चा हुई है। बस, लेखक का इतना ही विषयक्षेत्र है, जैसा कि पुस्तक के नाम से भी प्रकट है। पुस्तक में कुछ भ्रान्तियों की ओर भी ध्यान जाता है, उदा० के लिये लेखक निषादराज गुह और उसके अनुचर केवट को पृथक-पृथक पात्र न मानकर एक ही पात्र मानता हुआ प्रतीत होता है (दे० पृ० ३४ तथा ११०)।

"तुलसीदास का कथाशिल्प"[2] में डा० रांगेय राघव ने मानस की कथा का विवेचन समाजवादी और प्रगतिवादी दृष्टिकोण से किया है और उसका पौराणिक आवरण हटाया है, परन्तु जहां तक संस्कृत ग्रथों से तुलना का प्रश्न है उस ओर लेखक ने कम ध्यान दिया है और उसमें भ्रान्तिया भी हैं। उदा० के लिए पुष्पवाटिका-प्रसंग को उसने तुलसी की मौलिक सूझ माना है (पृ०४२, ४३) और 'प्रसन्न राघव' नाटक से अनभिज्ञता प्रकट की है। इसी प्रकार अध्यात्म रामायण के विषय में लेखक का यह विचार कि "युद्धकाण्ड को लंकाकांड कहा गया है" (पृ० ३) भ्रामक है।

"मानस की रामकथा"[3] में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने डा० बुल्के के आधार पर रामकथा की व्यापकता और मानस की कथा की विशिष्टता प्रकट की है, परन्तु उनका भी लक्ष्य मुख्यतया वा० रामायण की ओर नहीं है।

प्रो० जगन्नाथ राय की पुस्तक 'रामचरितमानस की कथावस्तु'[4] भी पिछले कार्यों की आवृत्ति मात्र है और सातों काण्डों की कथा तथा उसके पूर्ववर्ती कुछ मुख्य संस्कृत-आधारों की चर्चा करने के अतिरिक्त, लेखक ने तुलना और कथाशिल्प के अध्ययन का कोई प्रयास नहीं किया है।

अन्य ग्रन्थों में श्री श्रीश कुमार की 'बालकाण्ड' के स्रोत तथा डा० रामरतन भटनागर की 'तुलसी एक अध्ययन' पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमे

---

१. वाराणसी, १९५९।
२. दिल्ली, १९५६।
३ इलाहाबाद, १९५२।
४ दिल्ली तथा पटना प्रकाशन संवत नहीं दिया है परन्तु, भूमिका से १९५९ के की प्रतीत होती है

से प्रथम में लेखक का लक्ष्य कथावस्तु के भी एक भाग तक ही सीमित है और दूसरी पुस्तक अधिकांशतः छात्रोपयोगी है ।

५. विदेशी भाषाओं में मानस के अनुवाद की भूमिकायें

श्री ऐफ ऐस ग्राउस ने मानस के अंग्रेजी अनुवाद[1] की भूमिका मे दोनों ग्रन्थों की अत्यन्त सरसरी तुलना मे भी कुछ महत्वपूर्ण बातों को लक्षित किया है जिससे तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा मिलती है। उनका कथन है कि वाल्मीकि की भाषा परिष्कृत और साहित्यिक है तथा तुलसी की बोलचाल की । वा० रामायण का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी अधिक है, उसमें काव्य कला का भी अधिक उत्कर्ष हुआ है, परन्तु तुलसी का महत्व इस दृष्टि से कहीं अधिक है कि भारतीय जन-जीवन और उसकी आस्थाओं पर मानस का प्रभाव अत्यन्त गंभीर है । ग्राउस के इस विचार का विशद विस्तार प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में किया गया है। क्या कथा, क्या चरित्र, क्या भाषा और शैली,—सभी क्षेत्रों में तुलसी की दृष्टि जनता की ओर अधिक रही है जिसे प्रस्तुत प्रबन्ध मे उदाहरण देकर स्पष्ट किया गयाहै । डब्लू डगलस पी० हिल ने भी अपने अंग्रेजी अनुवाद[2] की प्रस्तावना में इसी प्रकार के संकेत किये हैं । बिशप एटकिन्स ने धार्मिक महत्व की दृष्टि से मानस का रामायण की अपेक्षा भारतीय जनता पर अधिक प्रभाव बतलाया है[3] । इन अनुवादों में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रूसी अनुवादक श्री ए० बारान्निकोव की है जो एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में भी हिन्दी मे प्रकाशित हो चुकी है[4] । इस भूमिका का अन्य दृष्टियों से पर्याप्त महत्व है परन्तु वाल्मीकि से तुलना की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय बात इसमें नहीं है । लेखक ने कहीं-कहीं वा० रामायण की मानस की कथा से तुलना करने में विशेष रुचि प्रकट की है[5] और वाल्मीकि के लौकिक तथा तुलसी के अलौकिक दृष्टिकोण के रूप में दोनों के भेद को भी लक्षित किया है[6] ।

६ मानस की हिन्दी टीकायें

मानस की कुछ हिन्दी टीकाओं में भी, प्रायः पादटिप्पणियों में, आधार ग्रंथों से तुलनात्मक तथा प्रासंगिक उद्धरण दिये गये हैं जिनमें वा० रामायण के भी उद्धरण है। ऐसी टीकाओं में श्री विजयानंद त्रिपाठी की "विजया टीका", श्री अंजनी नदन शरण की टीका "मानस पीयूष" और रायबरेली-टीका उल्लेखनीय है। परन्तु इन पाद-टिप्पणियों एवं टीकाओं से वा० रामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है ।

---

१. इलाहाबाद १८७७ ।
२. "दि होली लेक आफ दि ऐक्ट्स आफ राम", लन्दन, १९५२ ।
३. डे० अंग्रेजी अनुवाद दिल्ली, १९५५ ।
४. 'मानस की रूसी भूमिका' अनुवादक डा० केसरीनारायण, लखनऊ १९५५ ।
५ "तुलसीदास की कविता की वाल्मीकि से तुलना करने पर हमारे लिए [illegible] में बड़ी दिलचस्पी है" वही पृ० ५५ ६ वही, पृ० ४६

७. कुछ शोध प्रबन्ध

हिन्दी में तुलसी से सम्बन्धित शोधकार्य में तुलनात्मक अध्ययन की दिशा का कहीं-कहीं संकेत किया गया है जिसमें मानस के आधारग्रंथों को लक्षित करके तुलसी की मौलिकता को खोजना ही विद्वानों का लक्ष्य रहा है। यहां केवल उन्हीं 'शोधप्रबन्धों' से आशय है जो अप्रकाशित हैं, प्रकाशित प्रबंधों को उपरोक्त विवेचन में समाविष्ट कर लिया गया है। हिन्दी का सबसे पहला शोधप्रबन्ध[1] तुलसी पर ही लिखा गया था और उसके लेखक का ध्यान वाल्मीकि से तुलना की ओर गया था। डाक्टर हरिहर नाथ हुक्कू ने "ऐन एनालाइसिस आफ तुलसी' ज क्राफ्ट्समैनशिप इन दी रामचरितमानस" शीर्षक शोधप्रबंध[2] में तुलनात्मक अनुशीलन को भी अपना लक्ष्य बनाया है।[3] परन्तु इस तुलनात्मक अनुशीलन के कुछ नमूनों से प्रकट हो जायेगा कि उनके अध्ययन की कितनी उपयोगिता है। नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है :—

"तुलसी के पूर्ववर्ती सभी लेखकों ने रावण आदि को भयकर रूप में चित्रित किया है और उनके प्रति घृणा प्रेरित की है, परन्तु तुलसी की दृष्टि उनसे भिन्न थी" (पृ० १५)।

"वाल्मीकि के राम में रावण के प्रति घृणा, विरोध, वैमनस्य आदि है, परन्तु तुलसी में नहीं"—(पृ० ३१-३२)।

"वाल्मीकि के राम में इन्द्रियसुख की प्रवृत्ति है (पृ० १३१), उनका क्षोभ और क्रोध भी महापुरुष के अनुरूप नहीं है"—(पृ० १३३-३४)।

"सुग्रीव ने राम को सीता के वस्त्राभूषण दिये तो उन्हें वस्त्र को देखकर उस रात्रि के संभोग-सुख का स्मरण हो आया······"—(पृ० १३७)[4]।

"किसी भी कवि ने किसी स्त्री के प्रति ऐसी निष्ठुरता नहीं की है जैसी कि वाल्मीकि ने सीता के प्रति"—(पृ० १५३)।

"सीता के चरित्र से यह भावना ही नहीं होती कि वह राम की सहधर्मिणी है"—(पृ० १५४)। जब वाल्मीकि के राम ही महापुरुष नहीं हैं तो उनकी सहधर्मिणी से ऐसी आशा ही क्यों की जाये ?

---

१. डा० उदयभानुसिंह ने हिन्दी का सबसे पहला शोध प्रबन्ध एल० पी० टैसीटोरी का "इल रामचरितमानस ए इल रामायण" तथा दूसरा शोध प्रबन्ध जे. एन. कार्पेन्टर का "थियॉलोजी आव तुलसीदास" माना है (दे० "हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध," द्वि० संस्करण)। इन दोनों ग्रन्थों पर इसी अध्याय में पहले ही विचार किया जा चुका है।

२. आगरा विश्वविद्यालय, अप्रेल १९३८।

3 "Inaugurating a new department of appreciation of Tulsidasa, namely the department of comparative criticism."

Ram was reminded how it served as a bed in the middle of night which suggests her getting undressed.'

"वाल्मीकि का रावण मूसे की तरह मर जाता है, चीं भी तो नहीं करता—(पृ० १७०)[1]।

"तुलसी का रावण कामी नहीं है, वह परदार के पीछे नहीं दौड़ता"—(पृ० १८१)[2]।

"सारे कवियों ने भरत को राम से इतना ऊंचा उठा दिया है कि राम नायक ही नहीं रह गये हैं, केवल तुलसी ही इस विषय में सावधान रहे हैं।—(पृ० १९८)।

इस तुलनात्मक अध्ययन पर टिप्पणी ही क्या की जाये ! लेखक ने निराधार और विचित्र बातें कही हैं। सम्भव है अंग्रेजी में लिखने के कारण कुछ अनर्थ या बहक हो गई हो। लेखक संस्कृत में लिखित वा० रामायण से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होता है और उसने किसी अत्यन्त सामान्य हिन्दी रूपान्तर (अनुवाद नहीं) अथवा संक्षिप्त सार को ही देख लिया है। यह शोधप्रबन्ध न अभी हिन्दी में अनूदित हुआ है और न प्रकाशित।

दूसरा उल्लेखनीय शोध प्रबन्ध श्री सीताराम कपूर का 'रामचरित-मानस के साहित्यिक स्रोत' है।[3] इसमें लेखक का उद्देश्य तुलसी के आधार पर साहित्यिक ऋण ग्रहण की पद्धति और मौलिकता का अध्ययन करना है। अतः राजशेखर की काव्य-मीमांसा के आधार पर तुलसी द्वारा "शब्द ग्रहण" और "अर्थग्रहण" का अध्ययन करते हुए लेखक ने मौलिकता के अध्येताओं के लिये मार्ग प्रशस्त किया है। इसी विषय पर, परन्तु भिन्न उद्देश्य को लेकर, फ्रांसीसी महिला कु० सी० वादवील का शोध प्रबन्ध "राम-चरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम"[4] है जो फ्रेंच भाषा में प्रकाशित हुआ है। नाम से ही स्पष्ट है कि आदिकाव्य से तुलना को उसमें प्रमुखता नहीं दी गई है।

इस विषय से सम्बन्धित चौथा और अन्तिम शोधप्रबन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय (१९५८) की डा० कुमारी विद्या मिश्र का है[5]। उनके प्रबन्ध का शीर्षक "वा० रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन" है जबकि प्रस्तुत प्रबन्ध का शीर्षक है "वा० रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन"। दोनों के उद्देश्य और विषय-विस्तार का अन्तर शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है। डा० कुमारी मिश्र ने दोनों कृतियों की बहिरंग परीक्षा ही अधिक की है अर्थात् दोनों कवियों

---

1. "Valmiki's Ravana dies quietly like a mouse, without even so little as a squeak".

   यदि अनुसंधाता वा० रामायण के पन्ने ही पलट लेता तो उसे यह श्लोक दीख जाता—गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव (रा० ६. ११०. २३)।

2. "Tulsi's Ravana is not lustful, he does not run after wives of other people.,,

३. आगरा विश्वविद्यालय, १९५५।

४. पेरिस विश्वविद्यालय, १९५०।

५. प्रकाशित लखनऊ वि० वि०, मई १९६३।

की काव्य-शैली का तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम और उनकी (अधिकांशतः तुलसी की) बाह्य परिस्थितियों पर अधिक विचार किया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध के लगभग १००० पृष्ठों में से केवल ४० पृष्ठों में काव्य शैली के सभी अंगों पर विचार कर लिया गया है (भाषा, छंद, अलंकार, रस, प्रकृतिचित्रण, महाकाव्यरूप आदि सभी पर), जब कि प्रस्तुत प्रबन्ध मुख्य रूप से काव्य-शैली से ही सम्बन्धित है। कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की तुलना करते हुए भी लेखिका ने दोनों कवियों के कथा-शिल्प की तुलना करने की अपेक्षा घटना-विवरण की ही तुलना की है, और चरित्रचित्रण मे कुछ मुख्य पात्रों पर ही विचार करके छोड़ दिया है। न तो गौण पात्रों पर विचार किया है और न दोनो कवियों की मनोवैज्ञानिक निरूपण की पद्धति तथा आदर्शवाद और यथार्थवाद पर। प्रस्तुत प्रबन्ध में 'कथाशिल्प' के अंतर्गत कथानक अर्थात् घटना-विवरण, कथावस्तु अर्थात् घटनाओं का संयोजन तथा कथाकौशल अर्थात् कथाकथन की विशिष्ट शैली की तुलना की गई है। इसी प्रकार 'पात्र' और 'चरित्रचित्रण' शीर्षक अध्यायों में समस्त पात्रों पर दृष्टिपात करते हुए उनका वर्गीकरण किया गया है और दोनों कवियों की चरित्रचित्रण-पद्धति की तुलना मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार पर की गई है। 'प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन' तथा 'रस निरूपण' का पृथक अध्याय है, और 'काव्य शैली' के अंतर्गत भाषा, छन्द, अलंकार, सम्वाद, महाकाव्यत्व तथा तुलसी की मौलिकता पर विचार किया गया है। इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी के काव्य तत्वों पर ही मुख्य रूप से विचार किया जाना प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिकता एवं पृथकता का सूचक है।

डा० विद्या मिश्र ने प्रक्षिप्त और प्रामाणिक में कोई भेद नहीं किया है। वा० रामायण के गौड़ीय और पश्चिमोत्तर पाठों से लेखिका अनभिज्ञ प्रतीत होती हैं। उदा० के लिये वा० रामायण के युद्धकाण्ड मे संजीवनी लाते समय हनुमान-भरत भेंट का 'नितांत अभाव' बतलाया गया है (पृ० ६६३), परन्तु यह प्रसंग गौडीय रामायण (६.८२) में प्राप्त होता है। रावण के अग्रज कुबेर को उसका चाचा बतलाया गया है (पृ० ७७१)।

जैसा कि इससे पूर्व कहा जा चुका है, हिन्दी में वाल्मीकि के सन्देश को यथेष्ट रूप में समझने का प्रयत्न नही किया गया है। अधिकांशतः अनुवादों का ही सहारा लिया गया है और यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि को हिन्दी अनुवादों में नहीं खोजा जा सकता। वस्तुतः हिन्दी में उत्तम टीका सहित इस ग्रंथ के अनुवाद हैं भी नहीं। इसके अतिरिक्त, "वाल्मीकि" "महाकाव्य" "भारतीय काव्य" और "भारतीय विचारधारा तथा जीवन-दर्शन" पर पाश्चात्य विचारकों के मतों की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है जिन पर वा० रामायण के हिन्दी अध्येताओं ने बहुत कम विचार किया है।

सामग्री प्राप्त होती है। डा० सरनाम सिंह शर्मा अरुण के प्रकाशित शोध प्रबन्ध 'हिन्दी पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव' में प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित कुछ विचार हैं। वाल्मीकि और तुलसी के समान 'कृत्तिवास और तुलसी' पर भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है (श्री रमानाथ त्रिपाठी, आगरा)। डा० शम्भूनाथ सिंह के 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' में भी इस विषय से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण विचार प्राप्त होते हैं, परन्तु प्रक्षिप्त और प्रामाणिक के अन्तर को उन्होंने भी महत्व नहीं दिया है। वाल्मीकि रामायण की स्थिति एक विकसनशील महाकाव्य की रही है जिसमें चिर-काल तक प्रक्षिप्त अंश जुड़ते रहते हैं और वे मूल रचना के अभिन्न अंग ही बन जाते हैं। इस विषय में डा० सिंह ने श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर का विचार उद्धृत किया है—"यह प्रसंग काव्य के अंग हैं या प्रक्षिप्त, इसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि प्रक्षिप्त विषयों को अपना लेने वाले यदि न रहते तो प्रक्षेपों को स्थान नहीं मिलता" (पृ० ४९८)। यह विचार अपने में महत्वपूर्ण है परन्तु वाल्मीकि के निजी व्यक्तित्व और उनकी मौलिक प्रतिभा को समझने में इसे अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहासों में भी नाममात्र को तुलसी या रामभक्ति साहित्य के विवेचन के अन्तर्गत वाल्मीकि का उल्लेख तुलनात्मक रूप में प्राप्त हो जाता है (दे० हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, १९४८ ई० संस्करण, पृ० ४७८ तथा ५११)।

निष्कर्ष—

इस पूर्ववर्ती सामग्री के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं जिनको दृष्टि में रखते हुए नवीन और मौलिक अध्ययन का अंश प्रस्तुत करने के लिये प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की विषय-परिधि और उद्देश्यों का निर्धारण किया गया है। ये निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. हिन्दी में वा० रामायण का मूल रूप में अर्थात् संस्कृत में अध्ययन करके वाल्मीकि को, और भारतीय साहित्य पर आदिकाव्य के प्रभाव को तथा उस आधार पर भारतीय साहित्य की मूलभूत चेतना को समझने का प्रयास बहुत कम किया गया है।

२. हिन्दी में प्रायः सम्पूर्ण वा० रामायण को ही वाल्मीकि की रचना मानकर उस पर विचार किया गया है, और प्रामाणिक तथा प्रक्षिप्त अंशों में कोई भेद नहीं किया गया है।

३. मानस के आधार ग्रंथों पर सम्मिलित रूप से ही हिन्दी के समीक्षात्मक ग्रंथों में अधिक विचार हुआ है जिसमें स्वाभाविकतया वाल्मीकि रामायण को अत्यन्त गौण स्थान मिला है। अधिकांशतः अध्या० रामायण, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक और भागवत् से ही तुलना की गई है। इसी प्रकार के अध्ययन की आवृत्तियाँ और पिष्टपेषण बहुत हुआ है।

४ उक्त श्रेणी के ग्रंथों में तुलना करते समय भारतीय साहित्य की स्वाभाविक

विकास-परम्परा को समझते हुए उसमें वाल्मीकि और तुलसी का योगदान तथा उनकी मूलभूत एकता को समझने का प्रयास प्रायः नहीं के बराबर हुआ है।

५. तुलसी और वाल्मीकि का जितना भी तुलनात्मक अध्ययन हुआ है उसमे मुख्य उद्देश्य कथा की तुलना का रहा है, चरित्र-चित्रण की जो थोड़ी बहुत तुलना की गई है उसमे अधिकांशतः राम या सामान्य रूप में सीता के चरित्र की ही तुलना तक अध्ययन को सीमित रक्खा गया है। दोनों कवियों की चरित्रचित्रण पद्धति पर बहुत कम विचार किया गया है।

६. कथा और पात्र सम्बन्धी अध्ययन में भी केवल बहिरङ्ग परीक्षा की गई है। दोनों कवियो के काव्यशिल्प, कला, आदर्श और यथार्थ, तथा जीवन-दर्शन को पर्याप्त समीक्षा के साथ समझने का प्रयास नही हुआ है।

७. हिन्दी मे भक्ति के उद्भव और विकास पर पर्याप्त विचार किया गया है परन्तु उसमे वाल्मीकि के स्थान को समझने का प्रयत्न नहीं किया गया है। वा० रामायण के प्रामाणिक अंशों में भी जो भक्ति विषयक सूत्र है उनकी ओर विद्वानों ने ध्यान नही दिया है।

प्रस्तुत अध्ययन—

प्रस्तुत शोध प्रबंध में मौलिकता के मुख्य आधार दो हैं—"तुलनात्मक अध्ययन" और "साहित्यिक दृष्टि"। इनका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

तुलनात्मक अध्ययन

तुलना दो समान पदार्थों की ही की जाती है। जिनमें अधिक अंतर है अर्थात् जिनके क्षेत्र और परिस्थितियां भिन्न हैं, उनकी तुलना का प्रश्न ही नही उठता। ऐसे भिन्न पदार्थों या व्यक्तियों की तुलना यदि की भी जाती है तो उनमें भी कोई सामंजस्य-सूत्र देखने की आवश्यकता पड़ती है। अतः वाल्मीकि और तुलसी के अन्तर को समानता की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयत्न प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है। दोनों कवियो में समानता का आधार है यह देश, अर्थात् भारतवर्ष की मूलभूत सांस्कृतिक एकता, और अंतर का आधार है काल, अर्थात् दोनों कवियों के युग और समाज की भिन्नता। इन्हीं आधारों को दृष्टि में रखकर यह तुलना की गई है। तुलसी और वाल्मीकि के युग और समाज पर पृथक अध्याय की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई है। जहां तक वाल्मीकि का प्रश्न है उनके विषय में यथार्थ ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री बहुत कम प्राप्त होती है। वह विवादास्पद भी है और इसके अतिरिक्त यह वास्तव में इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों के अध्ययन का क्षेत्र है। तुलसी के विषय में भी इतिहास की तथ्यात्मक सामग्री, अर्थात् उनका सही जन्म-स्थान, समय, माता-पिता, जाति और जीवन संबन्धी विवरण अल्प और विवादास्पद हैं फिर भी उनके युग और परिस्थितियों के विषय में हम वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक हैं और उनके साहित्य पर इनके प्रभाव

शोध कार्य हो भी चुके है ।[1] अतः उस विषय की आवृत्ति प्रस्तुत प्रबन्ध में अनावश्यक समझी गई है।

इस तुलनात्मक अध्ययन में दोनों कवियों के युग और परिस्थितियों पर स्वतन्त्र रूप से विचार न करके उनके काव्य तत्वों के अंतर्गत ही इन विषयों पर विचार किया गया है। उनकी कथा, चरित्रचित्रण, प्रकृति चित्रण और काव्यशैली के विधान में उनकी समकालीन और वैयक्तिक जिन परिस्थितियों ने प्रभाव डाला है उनका उल्लेख सम्बन्धित अध्यायों मे ही कर दिया गया है।

युग और परिस्थितियों के भेद से उत्पन्न होने वाले अन्तर की अपेक्षा इस देश की भूमि और संस्कृति की एकता के कारण दोनों कवियों मे जो मूलभूत एकता है उसे मुख्य रूप से समझने का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः वाल्मीकि के ही आदर्शों की प्रतिध्वनियों का प्रस्तार उनकी परम्परा से सम्बन्धित साहित्य में हुआ है, विशेषकर तुलसी के साहित्य में। इसीलिये सामान्य जनता का यह विश्वास है कि तुलसी वाल्मीकि के ही अवतार थे।[2] विद्वानों ने भी, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भारतीय साहित्य और संस्कृति की परम्पराओ का अनुशीलन करते हुए वाल्मीकि और तुलसी को एक ही पथ के पथिक के रूप मे देखा है अर्थात् 'महाकाव्य', 'भारतीय साहित्य अथवा भारतीय संस्कृति और धर्म' के विकास को समझते समय वाल्मीकि के साथ ही तुलसी पर विचार किया है। आन्दोलन के रूप मे भक्ति भले ही मध्यकाल में प्रकट हुई हो, परन्तु वह तो भारत भूमि के निजी स्वभाव का अंग रही है जिसके आधार पर इस देश की संस्कृति प्रारंभ से ही विकास करती आई है। डा० ह० प्र० द्विवेदी ने इसीलिये डा० ग्रियर्सन के इस विस्मय का उपहास किया है कि यह "भक्ति आन्दोलन सहसा बिजली के चकाचौंध के समान" प्रकट हो गया। उन्होंने हिन्दी साहित्य की भूमिका मे यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्ति का आविर्भाव आकस्मिक नही था और उसे एक पराजित जाति की हीन मनोवृत्ति मानना इस देश की मूलभुत संस्कृति और उसके विकास के इतिहास से अनभिज्ञता प्रकट करना है।[3]

प्रस्तुत अध्ययन में आचार्य द्विवेदी के उक्त विचार को दृष्टि में रखते हुए वाल्मीकि रामायण मे भी भक्ति के सूत्रों और तत्वों का अन्वेषण किया गया है जिसका पूर्ण विकास सांस्कृतिक संघर्षों के कारण तुलसी के रामचरितमानस में ही संभव हो सका। इस प्रकार वाल्मीकि को समझने के लिये तुलसी का और तुलसी को समझने के लिये वाल्मीकि का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है।

---

१. "रामायण कालीन समाज और संस्कृति' दो भागों में, ले० डा० शां० ना० व्यास (सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली) और 'तुलसी और उनका युग', डा० राजपति दीक्षित, बनारस।

२ वाल्मीकि तुलसी भयो भक्तमाल नाभादास

३ दे० हिन्दी सा० की भूमिका, तीसरी आवृत्ति, पृ० ४५

साहित्यिक दृष्टि

साहित्य संस्कृति का साकार स्वरूप होता है। अतः साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ सांस्कृतिक अध्ययन की उपेक्षा कर देना नही है, परन्तु उसे उतना ही महत्व दिया गया है जितना कि दोनों कवियों की साहित्यिक चेतना की उपज को समझने के लिये आवश्यक था।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में दोनों कवियों के कथाशिल्प, चरित्रविधान, प्रकृतिचित्रण, रसनिरूपण और काव्यशैली के विविध तत्वों—भाषा, छन्द, अलकार, सम्वाद, आदि—के द्वारा उनकी मूलभूत साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास किया गया है और उन्हे भारतीय साहित्य की मूलभूत प्रवृत्तियों के साथ सम्बन्धित करके देखा गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिकता, शीर्षक के उक्त दोनों मुख्य तत्वों अर्थात् 'तुलनात्मक' और 'साहित्यिक दृष्टि' के विवेचन से, स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत साहित्य के आलोचनात्मक ग्रंथों मे भी वाल्मीकि के प्रभाव को समझने का प्रयत्न बहुत कम किया गया है, परन्तु हिन्दी साहित्य पर वाल्मीकि और आदि काव्य के प्रभाव को सामूहिक रूप मे अथवा किसी एक कवि के माध्यम से समझने का प्रयत्न तो अभी तक नहीं किया गया है। संस्कृत साहित्य की आलोचना मे भी आदि कवि की परम्परा और प्रभाव को आनुषगिक तथा सरसरे रूप में केवल साहित्य के इतिहास लेखकों ने संकेतित किया है। लौकिक संस्कृत साहित्य पर आदि कवि के प्रभाव का अध्ययन अथवा कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि कवियों के साथ वाल्मीकि का तुलनात्मक अध्ययन, अभी तक सस्कृत साहित्य की आलोचना में भी नहीं किया गया है। सम्भव है प्रस्तुत प्रबन्ध से भारतीय साहित्य के आदि शिखर के रूप में वाल्मीकि के अध्ययन की प्रेरणा किसी जिज्ञासु को प्राप्त हो।

२

●●●

कथाशिल्प

प्रत्येक देश का सांस्कृतिक विकास उसके कथासाहित्य में विशेष रूप से अंकित हुआ करता है। वास्तव में कथा ही साहित्य की वह आधारशिला है जिस पर गद्य, पद्य और रंगमंच की विविध शैलियों के अनुसार साहित्य के अनेक रूपों का विकास होता है। ये कथायें पहले मौखिक रूप में प्रचलित होती हैं और फिर साहित्यकार उनका संचयन तथा संशोधन कर उन्हें प्रबन्धकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। राम-कथा मूल रूप में एक ऐतिहासिक घटना थी, आगे के विवेचन में अनेक प्रसंगों के आधार पर हम यह समझ सकेंगे। धीरे-धीरे इतिहास पर कल्पना का अधिकार होता जाता है और वह साहित्य बन जाता है। राम-कथा का इतिहास भी इसी प्रकार साहित्य बन गया। वाल्मीकि को रामकथा इक्ष्वाकुवंश की चारण-परम्परा से प्राप्त हुई थी,[1] जिसमें उच्चतर कवित्व एवं विचारतत्व का सन्निवेश करके उन्होंने उसे व्यवस्थित करके महाकाव्य का स्वरूप प्रदान किया।

रामकथा का इस देश के वाङ्मय में सब से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उसने भारतवर्ष के धार्मिक और ललित, दोनों ही प्रकार के साहित्य को अत्यंत गहराई के साथ और व्यापक रूप में प्रभावित किया है। इस विषय में 'इंडियन मिथ एंड लीजेन्ड्स' के संकलन कर्त्ता तथा सम्पादक की सम्मति दर्शनीय है :—

'किसी भी देश के राष्ट्रीय कवियों ने जनता के विश्वासों, आदर्शों और परम्पराओं को, इससे पूर्णतर और उससे सुन्दरतर अभिव्यक्ति प्रदान करने में और परिणाम स्वरूप इतनी व्यापक और इतनी अमर ख्याति प्राप्त करने में, ऐसी सफलता नहीं पाई जैसी कि वाल्मीकि और व्यास ने।"[2]

राम और कृष्ण इस देश के सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली नायक सिद्ध हुए हैं तथा रामायण और महाभारत सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली महाकाव्य। विगत ढाई हजार वर्षों में, और उससे भी पूर्व, जितने धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलन हुए हैं, उन पर इन दो लोकनायकों और इन दो महाकाव्यों का अत्यन्त गहरा और आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने अपनी अपनी दृष्टि से इन दो चरित्रों और काव्यों को

१. दे० रा० १, ५, ३ तथा बुल्के पृष्ठ ४८०।

२. दे० उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना, प्रथम पृष्ठ, ले० डोनाल्ड ए. मैकेंजी, लन्दन।

देखा और परखा है और धर्माचार्यों तथा कवियों ने अपने अपने ढंग से उनकी व्याख्या, प्रचार और काव्य-रचना की है। वाल्मीकि ने भी मौखिक कथा को लिखित अथवा विरचित रूप में प्रस्तुत करते समय उस पर अपने आदर्शों की छाप लगाई थी, फिर भी उनकी रचना में सांप्रदायिकता और आग्रहशैली नहीं है। वाल्मीकि और तुलसी के मध्यवर्ती काल में देश की संस्कृति और साहित्य में अनेक नवीन तत्व प्रविष्ट हो चुके थे और तुलसी के समक्ष रामकथा के अनेक रूपान्तर एवं परम्परायें विद्यमान थीं, अत वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के काव्य रूप तथा कथातत्वों मे पर्याप्त अन्तर होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत अध्याय में हमें इसी दृष्टि से दोनों कवियों के कथाशिल्प की परीक्षा करनी है।

रामकथा के विकास अर्थात् संवर्धन, संशोधन आदि में अनेक परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियां कार्य करती रही है, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

१. विभिन्न घटनाओं का कारण-निर्देश।
२. राम के चरित्र से सम्बन्धित अनेक जिज्ञासाओं का समाधान।
३. रामकथा के नायकेतर पात्रों के जीवन-वृत्तान्त का विस्तार।
४. चमत्कारिकता और अलौकिकता की वृद्धि।
५. अवतारवाद।
६. धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव, (यथा मानस में वैष्णव भक्ति)।
७. रामकथा की गौरव-वृद्धि के लिए विविध ज्ञान-सामग्री का समावेश, जैसे कि मानस में नीति, दर्शन आदि।
८. व्यक्ति, युग और संप्रदाय के अनुसार आदर्शवाद की प्रतिष्ठा।
९. काव्यात्मक तथा अलंकारपूर्ण वर्णनों का विस्तार।
१०. लोकतत्वों और लोक गाथाओं का सन्निवेश।

मानस के कथाशिल्प का विवेचन करते समय हम इनमें से अनेक प्रवृत्तियों को कार्य करते हुए देखेंगे। मानसकार ने अपने काव्य की रचना विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार की है, अतः उसने अन्य चमत्कारवादियों या संप्रदायवादियों के समान अपनी कथावस्तु को असंतुलित नहीं बनने दिया है। कथा के रूपान्तर या पुनर्विधान में निम्नलिखित प्रक्रियाओं का प्रयोग विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है :—

१. उद्देश्य के अनुसार संक्षेप और विस्तार की प्रवृत्ति[१]।
२. विपर्यय या घटनाओं का स्थानान्तरण।
३. प्रसंगो या घटनाओं में नवीन अभिप्राय या नवीन भावना का संचार अथवा नूतन उद्भावना।
४. वक्ता-श्रोता शैली की योजना।
५. सम्वाद-योजना और नाटकीय वातावरण की सृष्टि।

इन्हीं आधारों पर मानस की कथा में नवीन वस्तुतत्व, भावतत्व और शैली

१ व्यास समास स्वमति अनुरूपा मा० ७।१२३।१

तत्व का सन्निवेश हुआ है और वह वा० रामायण से कुछ पृथक प्रतीत होने लगी है। दोनों काव्यों की कथात्मक दृष्टि से तुलना करते समय हमें इन आधारों को दृष्टि मे रखना होगा।

कथाशिल्प की परीक्षा में हमें दोनों काव्यों के घटनातत्व, आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं, कथानक-रूढ़ियों, कथा के मोड़ों, घटनाओं के विस्तार और तारतम्य, मार्मिक प्रसंगों, भावों के उतार-चढ़ाव और कहने की शैली पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना है। प्रत्येक काण्ड के प्रमुख घटना-सूत्रों के आधार पर हम यह परीक्षा करेंगे। वाल्मीकि रामायण के प्रचलित स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए भी हम अधिकांशतः, विद्वानों द्वारा शोधपूर्वक निश्चित किये गये, प्रामाणिक पाठ के आधार पर ही दोनों कवियों की कथारचना की प्रतिमा की परख करेंगे। हमें मूलतः दो कवियो की काव्य प्रतिमा की परख करनी है, न कि दो कृतियों की। प्रचलित वा० रामायण का आधार केवल कथा के तारतम्य के विचार से कहीं कहीं लिया गया है और इस विचार से भी कि प्रक्षिप्तांशों मे से अनेक पूर्ववर्ती रचना के पूरक बन गये हैं।

बालकाण्ड

बालकाण्ड की कथा मे निम्नलिखित प्रकरण विचारणीय हैं :—

प्रस्तावना, राम-कथा का आरम्भ, राम-जन्म, विश्वामित्र का आगमन, धनुष-यज्ञ, परशुराम-सम्वाद, विवाह, और काण्ड की समाप्ति।

प्रस्तावना--

मूल वा० रामायण का आरम्भ, बिना किसी प्रस्तावना के, काव्यनायक के कुल-परिचय एवं अयोध्या-वर्णन मे माना जाता है[1]। इतना ही नहीं, बालकाण्ड के प्रक्षिप्त माने जाने के कारण इस काव्य मे काव्यनायक राम के जन्म और विवाह अर्थात् उनके प्रारंभिक जीवन के विषय में कुछ भी न कहा जाना प्रकट होता है और अन्य काण्डों में भी इन प्रसंगों के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह प्रक्षिप्त माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय कथावस्तु-विधान और सांगोपांग कथा की दृष्टि से मूल रामायण मे कुछ कमी थी, जिसकी पूर्ति बाद में कथावाचकों को करना आवश्यक प्रतीत हुई। वास्तव में मूल वाल्मीकि रामायण की रचना आख्यान[2] के रूप मे हुई थी, जिसमें इतिहास-तत्व की प्रधानता होती है अथवा उसे अपेक्षाकृत

१. वाल्मीकि रामायण के प्रामाणिक पाठ के विशेषज्ञ डा० जाकोबी का विचार है कि आदि काव्य का आरम्भिक अंश [१.५.१—६, ८ तथा १.६.२—४ तथा १.१८.१५ (उत्तरार्ध)—१६ (पूर्वार्ध), २१ (उत्तरार्ध) २२-२५] अर्थात् रामायण के संक्षिप्त परिचय और कौशल, अयोध्या, दशरथ तथा चारों पुत्रों के परिचय के रूपमें था जो अयोध्या काण्ड से उठाकर बालकाण्ड में रख दिया गया है—दे बुल्के पृ० १४० तथा मैक्डानल्ड (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर) पृ० ३०४।

२. वा० रा० में १.५.३ और ६.१३१.११३ में रामायण को आख्यान कहा गया है। इसके साथ ही उसे 'इतिहास पुरातनम्' भी कहा गया है (६.१२१.११३) जिससे आख्यान काव्य में इतिहास तत्त्व का प्राचुर्य सूचित होता है।

अधिक महत्त्व दिया जाता है, जबकि प्रचलित वाल्मीकि रामायण को कथा का स्वरूप प्रदान किया गया है, जिसमें कल्पना का तत्त्व बढ़ जाता है।[1] इस प्रचलित रूप में न केवल नायक के जीवन का प्रारम्भिक अंश जोड़ दिया गया है अपितु कथा की पूर्व-परम्परा, नामकरण, रूपरेखा और उद्देश्य[2] का भी प्रकाशन किया गया है।

मानस की प्रस्तावना भारतीय महाकाव्यों की शैली में एक विशेष उत्कर्ष को सूचित करती है। अपनी इस प्रस्तावना के कारण मानस को शैलीगत विशिष्टता प्राप्त हुई है। इस प्रस्तावना को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है— वन्दना (श्लोक १ से दो० २९ - ग तक) और कथा का आरम्भ (चौ० ३०.१ से दो० १७५ तक)। वन्दना के अन्तर्गत मंगलाचरण[3], वन्दना[4], विनयप्रदर्शन[5] आदि विषयों से महाकाव्यों की विशिष्ट शैली का बोध होने के अतिरिक्त कवि का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण[6] भी सुस्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है, यही इस वन्दना का महत्त्व है। न तो वाल्मीकि ने ही कथा केवल मनोरंजन के लिए कही थी और न तुलसी ने। दोनों का कुछ उद्देश्य था और वह मूल रूप में एक ही था अर्थात् धर्मोपदेश। वाल्मीकि ने भी राम को धर्म के आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है, यह मूल रामायण से भी सर्वथा प्रकट है। उनके राम 'विग्रहवान धर्म' हैं[7] और उनके चरित्र के द्वारा धर्मोपदेश करना वाल्मीकि का लक्ष्य है। अन्तर इस उपदेश की शैली में है। तुलसी का उद्देश्य और उपदेश प्रकट और प्रत्यक्ष है, जबकि वाल्मीकि का अप्रकट और अधिक कलात्मक है। इसीलिए मानस को काव्य के साथ ही धर्मग्रन्थ भी माना जाता है। वस्तुतः रामायण-काल के पश्चात् देश में धार्मिक लहर के उत्तरोत्तर बढते जाने के कारण धर्म और काव्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट हो गया था और उसका घनिष्टतम रूप हमे मानस मे प्राप्त होता है। मानस की कथा का प्रस्तावना-भाग उसका धार्मिक उद्देश्य घोषित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार कवि ने अपनी कथा का मूल्यांकन किये जाने की कसौटी स्वयमेव प्रस्तुत कर दी है। उसकी कथा केवल कथा ही नहीं है, कथा के माध्यम से धर्म, नीति, भक्ति, दर्शन आदि के तत्त्वों का निर्देशन भी है। यह शैली, अर्थात् कथा के माध्यम से उपदेश देने की शैली, भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन

---

१. डा० ह० प्र० द्विवेदी ने (हिन्दी सा० आदिकाल, पृ० ६२) कथा और आख्यान या आख्यायिका में इसी प्रकार का अन्तर बतलाया है।

२. बालकाण्ड सर्ग १–४ के अन्तर्गत नारद से वाल्मीकि और वाल्मीकि से लवकुश को कथा की प्राप्ति में परम्परा, "पौलस्त्य वध" के रूप में प्रारम्भिक नामकरण तथा कथा की अनुक्रमणिकाओं में रूपरेखा और महच्चरित के रूप में धर्मोपदेश का उद्देश्य प्रकट होता है।

३. प्रारम्भ के सात श्लोक और पांच सोरठे।

४. चौ० १–७, दो० १४ (घ) से दो० २० तक। इसमें विषयान्तर के कारण क्रमभंग भी हो गया है।

५. चौ० ८. १ से दो० ६ तक।

६ चौ० १० १ से दो० ११ तक

७ ए० ३ १७ १२

रही है जिसका अविकलम परिष्कृत, परिमार्जित और काव्योचित स्वरूप रामचरित-मानस में दिखलाई पड़ता है।

मानसकार ने प्रस्तावना-भाग के उन्तीस दोहों के आगे भी अपनी काव्यकथा के धार्मिक उद्देश्य को प्रकट किया है। वस्तुतः वह सारे ही ग्रंथ में इस उद्देश्य को प्रकट करता रहा है। इन उन्तीस दोहों में केवल वन्दना नहीं है वरन् वन्दना के माध्यम से उसका काव्यकला-विषयक दृष्टिकोण[1] कथा की पूर्वपरम्परा[2], कथा-प्रसंगों का आभास तथा पात्रों का परिचय[3] और उसकी सगुण भक्ति[4] का स्वरूप भी प्रकट किया गया है। मानस के सम्पूर्ण प्रस्तावना-भाग (१७५वें दोहे तक) का एक व्यापक दोष यह है कि इसमें विषयों की आवृत्ति बहुत हुई है, उदाहरण के लिए कवि ने मानस के कुछ कथा-प्रसंगो का उल्लेख अनेक बार किया है।[5] यह पुनरावृत्ति तुलसी की एक शैलीगत विशेषता भी कही जा सकती है जो उन्हें अपने पूर्ववर्ती साहित्य, विशेषकर पुराणों से, प्राप्त हुई है। पाठ-विवेचक विद्वानो का विचार है कि मानस का प्रस्तावना-भाग कई खण्डों में लिखा गया है[6], अतः उसमें विषय का अतिविस्तार और आवृत्ति का होना अनिवार्य ही था।

एक और भी आपत्तिजनक बात इस प्रस्तावना-भाग में दिखलाई पड़ती है। कवि ने जाने-अनजाने ऐसे प्रसंगों का भी इसमे उल्लेख कर दिया है जिनका समावेश उसने मानस-कथा मे कहीं किया ही नहीं है, जैसे सीता-वनवास की कथा का उल्लेख।[7] इसमे यह तो पता चलता है कि तुलसी प्रचलित वाल्मीकि रामायण की सम्पूर्ण कथा एव रामकथा की विविध परम्पराओं से प्रभावित थे और उत्तरकाण्ड की घटनाओ के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उन्होंने मानस का कथाविधान मूल वाल्मीकि रामायण की आधिकारिक कथा को दृष्टि में रखकर और अपनी भावना के ही अनुसार किया, परन्तु वस्तु-संगठन की दृष्टि से यह दोष ही कहा जायेगा, क्योंकि कवि की जिन प्रकरणों के प्रति आस्था नहीं है उनका उसे आभास, और ऐसी निष्ठा के साथ, नहीं देना चाहिये।

मानस की कथा अर्थात् घटनातत्त्व यद्यपि १७५वें दोहे के बाद आरम्भ होना है फिर भी कवि ने अपने ढंग से कथा का प्रारंभ २९वें दोहे के बाद ही कर दिया है। यह दोहा वन्दना-प्रकरण और कथा-प्रकरण का संयोजक है, देखिये :—

---

१. मा० १ १०. १—दो० ११ तक।

२. वही, १३. १०—१४. ५ तक।

३. वही, १६.१—१८.१ तक तथा २४. २—२५.६ तक।

४. वही, १८.१—दो० २९।

५. वही, चौ० २४—२५, ४०—४२ तथा ११०।

६. तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त, पृष्ठ २७३।

७. मा० १. २६. ३। आगे उत्तरकाण्ड के विवेचन में हम देखेंगे कि तुलसी ने प्रचलित वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम का उत्तर चरित नहीं दिया है फिर भी विकीर्ण रूप में उन प्रसंगों का सन्निवेश यत्र-तत्र मानस की कथावस्तु में और अन्य ग्रन्थ में किया है

एहि बिधि निज गुन दोष कहि सबहि बहुरि सिरु नाइ।
बरनउं रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ ।। (बाल० २९—ग)

प्रस्तावना के उत्तर भाग में (३०वी से १७५वीं चौ० तक) कवि ने विविध कथाएं ही दी है और रामकथा के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया है। इन कथाओ को हम दो भागों में बांट सकते हैं—चरित-कथाएं और हेतु-कथाएं। चरित-कथाओ मे शिव का चरित विस्तारपूर्वक दिया गया है और याज्ञवल्क्य तथा भरद्वाज का परिचय मात्र ज्ञानी पंडित और विनम्र-जिज्ञासु श्रोता के रूप में कराया गया है। शिव का चरित कवि ने चार भागों मे विभाजित किया है—पार्वती का पूर्वभव अर्थात् सती-कथा, काम-दहन, शिव-पार्वती विवाह और वक्ता-श्रोता के रूप में शिव-पार्वती का प्रारंभिक सम्वाद। इस चरित मे कवि ने पुराणों और काव्यों की सामग्री का सामंजस्य करते हुए रामचरित के समान ही शिवचरित को भी कवित्वमय धर्मनिरूपण के रूप मे प्रस्तुत किया है। यही तुलसीदास की प्रतिनिधि काव्य-शैली थी—काव्य के रत्न-जटित परन्तु पवित्र सम्पुट में धर्म का पंचामृत प्रदान करना। मानस की प्रस्तावना का 'शिवचरित' रामचरित पर प्रणीत महाकाव्य की भूमिका के रूप में एक सरस खण्ड काव्य है और इसे मानसकार की निजी नाटकीय शैली के अनुसार एक नाटकीय महाकाव्य की नाटकीय प्रस्तावना भी कह सकते हैं। संस्कृत के नाटकों की लम्बी प्रस्तावना के समान ही मानस की सुदीर्घ प्रस्तावना मे भी मंगलाचरण के अतिरिक्त प्ररोचना, प्रयोगातिशय आदि अनेक नाटकीय विधानों का सन्निवेश किया गया है। यह शिवचरित रामचरित मानस-रूपी काव्य-नाटक की 'प्ररोचना' कही जा सकती है, जैसाकि निम्नलिखित दोहे से प्रकट होता है :—

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार ।।(बाल० दो० १०४)

जिस प्रकार प्ररोचना भाग मे नाटककार अपने दर्शकों को आकृष्ट करता है, उसी प्रकार वक्ता याज्ञवल्क्य ने श्रोता भरद्वाज को रामकथा के प्रति इतना अधिक आकृष्ट और तन्मय बना दिया है कि वे कथा के समाप्त हो जाने पर भी जागे नही है।[1]

याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और शिवचरित के अतिरिक्त कवि ने एक तीसरे चरित का संकेत भी प्रस्तावना के इस मध्यवर्ती भाग में दिया है और वह है कागभुशुण्डि चरित[2], परन्तु स्वयं अपनी प्रस्तावना के अतिविस्तार से आतंकित होकर उसने इस तीसरे चरित को ग्रंथ के उपसंहार अर्थात् उत्तरकाण्ड में जाकर स्थान दिया है और यह वहीं उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसाकि हम उस काण्ड के विवेचन में देखेंगे।

इन तीन चरित कथाओं का सम्बन्ध रामकथा के साथ एक विशिष्ट शैली के

---

१. मानस के उपसंहार-भाग में तीन वक्ता-श्रोता अर्थात् शिव-पार्वती, काग-गरुड़ और तुलसी-सुजन ही उपस्थित हुए हैं, याज्ञ०-भरद्वाज पीछे १७५वें दोहे पर ही छूट गये है। कथा-सौष्ठव या वस्तुविन्यास की दृष्टि से यह एक दोष माना जायेगा।

२ मा० १ दो० १२०—ख, ग

द्वारा जोड़ा गया है जिसे पौराणिक शैली कहते हैं। जिस प्रकार पुराणों में कथा एक वक्ता-श्रोता से दूसरे वक्ता-श्रोता की जोड़ी के पास पहुंचती है, उसी प्रकार मानस की इस प्रस्तावना में तीन वक्ता-श्रोताओं का परिचय या चरित देकर कवि ने कथा-सूत्र मानस के प्रथम वक्ता शिव के हाथों में सौंप दिया है।

प्रस्तावना के अन्तिम भाग मे कवि ने पांच हेतु-कथाओ की योजना की है, जिनके द्वारा उसने "नाना भांति राम अवतारा। रामायण सत कोटि अपारा॥' का परिचय दिया है। तुलसीदास ने इस प्रकार राम-कथा की अनेक परम्पराओं को अपनाना सूचित किया है। उपरोक्त पाँच हेतु-कथाएं हैं—जय विजय-चरित, जलंधरवृन्दा-चरित, नारद-चरित, मनु-शतरूपा-चरित और प्रतापभानु-चरित। तुलसी ने स्वयं इन्हें 'हेतु कथा' अर्थात् राम के अवतारों की कारण-कथा कहा है—

१—हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥ (१.१२१.२)

२—राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका॥ (१.१२२ २)

इनमें से अन्तिम चरित को रावणादि के पूर्वभव के रूप में प्रस्तुत करते हुए कवि ने, बडे संघर्ष के बाद, राम-कथा के समारंभ का अवसर प्राप्त किया है। ये हेतुकथाए भी पौराणिक शैली की देन है। जिस प्रकार पुराणों में पूर्वभव, शाप-वरदान आदि के द्वारा चरित-विस्तार किया जाता है उसी प्रकार इनमें भी राम तथा सम्बन्धित पात्रों की जीवन-भूमिकाये प्रस्तुत की गई हैं। इनके द्वारा राम-कथा के अनेक प्रसंगों का पूर्वाभास प्राप्त होता है जैसे स्वायम्भुवमनु और शतरूपा की कथा से बाल-लीला का और नारद-मोह प्रसंग से सीताहरण तथा सुग्रीव-मैत्री का।

इस प्रकार मानस की प्रस्तावना मे प्रकट होता है कि कवि ने अपनी काव्य-रचना में काव्य और पुराण-शैली का सामंजस्य किया है। तुलसी के काव्य में पूर्ववर्ती साहित्यिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार की परम्पराओं का अत्यन्त कुशलता के साथ समावेश किया गया है। एक ओर उन्होंने अपनी भक्ति-भावना मे विभिन्न मत-मतान्तरों का सामंजस्य किया है तो दूसरी ओर अपनी रचना शैली में विभिन्न काव्य-पद्धतियों का। काव्य शैली की दृष्टि से उनका रामचरितमानस एकसाथ ही संस्कृत के अलकृत महाकाव्यों और प्राकृत-अपभ्रंश के पौराणिक चरितकाव्यों की परम्परा में आता है, जैसाकि हम आगे 'काव्यशैली' अध्याय के अन्तर्गत देखेंगे।

मानस की प्रस्तावना को वस्तुतः चार भागों में विभाजित किया जा सकता है —

१. मंगलाचरण (प्रारम्भ के सात श्लोक और पाँच सोरठे)
२. वन्दना (२९वें दोहे तक)
३. वक्ता-श्रोता चरित (१२०-क दो० तक)
४. हेतु-कथाएं (१७५वें दो० तक)

इन चारो भागों को [illegible] महाकाव्य की भूमिका के रूप मे हम निम्नलिखित तथ्य प्राप्त करते हैं

१. कवि के व्यक्तित्व का प्रारम्भिक परिचय[1]
२. उसकी समन्वयपूर्ण भक्ति-भावना का स्वरूप[2]
३. राम-कथा की पूर्वपरम्पराओं का संक्षिप्त इतिहास[3]
४. कवि का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण और उद्देश्य[4]
५. अवतारवाद की संक्षिप्त व्याख्या[5]
६. रामकथा की संक्षिप्त रूपरेखा[6]
७. पूर्ववर्ती काव्य-शैलियों के प्रभाव की सूचना[7]
८. ग्रंथ का रचना-काल[8], स्थान[9] और नामकरण[10]

इस प्रकार यह प्रस्तावना एक पद्य-प्रबन्ध[11] की परिश्रमसाध्य और पांडित्यपूर्ण भूमिका है, जिसे तुलसी ने उतने ही श्रम से लिखा है जितने से शेष महाकाव्य को[12]। इस भूमिका के अनेक गुण-दोष हैं। काव्य-दृष्टि से इसमें निम्नलिखित दोष दिखलाई पड़ते हैं—

१. पुनरावृत्ति
२. अनावश्यक विस्तार
३. उद्देश्य का उपदेशात्मक प्रकाशन
४. पांडित्य और चमत्कारिता का अतिरेक
५. जटिलता और नीरसता
६. वस्तु-संघटन का असंतुलन और अनुपातहीनता

कुल मिलाकर रामचरित मानस की यह प्रस्तावना महाकाव्य के रूप में उसके समस्त गुण-दोषों की प्रस्तावना है। मानस के प्रस्तावना-भाग की उपयोगिता के विषय में निम्नलिखित विचार समर्थनीय है—

१. विशेषतः चौ० ८ और ९ में।
२. मंगलाचरण के श्लोकों में सर्वदेव समन्वय और नाम-वन्दना तथा १९वीं से २५वीं चौ० तक निर्गुण-सगुण का समन्वय।
३. ३०वीं चौ०, वक्ता-श्रोता के चरित-प्रसंग तथा हेतुक-थाओं से।
४. १०वीं और ११वीं चौ०।
५. चौ० १२१।
६. मानस-रूपक के अन्तर्गत चौ० ४०—४२ में, तथा पार्वती-प्रश्न के अन्तर्गत चौ० ११० में।
७. "मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई" (१.१३.१०) से "जे प्राकृत कवि परम सयाने" (१.१४.५) तक।
८. १.३४.४—५।
९. वही, ५।
१०. १.३५.७।
११. तुलसी ने अनेक स्थलों पर अपने काव्य को प्रबन्ध कहा है, उदाहरण के लिए, दो० १.३३.२ तथा १.३७.२।
१२ डा० माताप्रसाद गुप्त का विचार है कि प्रस्तावना-लेखन कई प्रयासों का फल है, दे० तुलसीदास पृ० २७३

"ग्रथारम्भ के पूर्व विस्तृत प्रस्तावना की योजना मात्र इसीलिए हुई है कि उद्देश्य के आग्रह के कारण कथा-प्रवाह में न तो कहीं व्यतिरेक ही आ पड़े और न कथानक में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता ही अन्तर्निविष्ट हो सके। यही नहीं, चरितनायक से सम्बन्धित समूची कथा धारा-प्रवाह-रूप में बढ़ती चले, इसके लिए भी कवि ने प्रस्तावना-भाग में आवश्यक भूमिका निर्मित कर दी है।"[1]

वाल्मीकि रामायण से इस प्रस्तावना-शैली की तुलना निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है —

१. वक्ता-श्रोता के रूप में कथा कहने की प्रवृत्ति (बालकाण्ड, सर्ग १ म वाल्मीकि-नारद सम्वाद)।

२. महच्चरित के द्वारा लोक-कल्याण अर्थात् धर्मोपदेश की प्रवृत्ति (उक्त सम्वाद तथा रा० १. ४. ७)।

३. रामकथा की अनेक मौखिक परम्पराएं (नारद से वाल्मीकि को, वाल्मीकि से कुश-लव को प्राप्त होना)।

४. मूल कथा की रूपरेखा का सादृश्य (रा० १.१ और १.३ में दी गई अनुक्रमणिकाएं)।

५. आन्तरिक सशक्त उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के रूप में काव्य-रचना (मानस में 'स्वान्तस्सुखाय' और वा० रा० मे शोक-श्लोक का प्रसंग)।

आशय यह कि प्रचलित वाल्मीकि रामायण में मानस को प्रभावित करने वाले काव्य रूपों का आभास देखा जा सकता है।

कथा का आरंभ

वाल्मीकि रामायण में कथा का आरंभ इक्ष्वाकु वंश तथा अयोध्या और दशरथ के परिचय के साथ हुआ है और पाठानुसंधान करने वाले विद्वानों का विचार है कि यह अंश मूल रामायण का ही प्रारंभ है जो कि अयोध्याकाण्ड से उठाकर बालकाण्ड में रख दिया गया है।[2] इस प्रकार हम आदि कवि की कथारंभ-शैली का वास्तविक स्वरूप देख सकते हैं अर्थात् वाल्मीकि ने अपने काव्य का आरंभ कथा-काव्य के रूप में न करके आख्यान-काव्य के रूप में किया था। उनकी कथा का समारंभ ऐतिहासिक ढंग का है। वाल्मीकि ने अपने काव्य को आख्यान[3] कहा है, जबकि तुलसी ने कथा[4], प्रबन्ध[5] और गाथा[6] (गुनगाहा या गुण गाथा) और चरित[7] कहा है। इसीलिए सूत्रगी

१. मानस का कथाशिल्प, श्रीधरसिंह, पृ० १५४।
२. दे० प्रस्तुत ग्रंथ का पृ० २४।
३. रा० १. ५. ३ तथा ६. १३१. ११९।
४. मा० १.६.५–६, १.१४.७, १.३३.२, १.३४.२ तथा १.३४.४ इत्यादि।
५. वही, १४. ८ तथा ३३. २।
६. वही, ८. ५, १३. ९।
७ वही १० ३ ३४ ५ ३५ ७

ने प्रस्तावना में पूर्व-परम्पराओं का विस्तार के साथ परिचय दिया है क्योंकि आख्यानों की, लोक-मुख में पहुंचने पर, कल्पना और विविध उद्देश्यों से रंजित होकर, अनेक परम्पराएं बन जाती है और फिर वह आख्यान न रहकर कथा का रूप धारण कर लेता है। अतः कथा के आरंभ करने के ढंग से दोनों काव्यों का यह मौलिक अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना एक आख्यान काव्य के रूप में हुई थी और मानस की कथा-काव्य के रूप में। इसीलिए आदि काव्य में इतिहास तत्त्व और यथार्थवाद अधिक है जबकि मानस में कल्पना-तत्त्व और भावना-तत्त्व का प्राधान्य है।

मानसकार ने प्रस्तावना में अनेक बार कथा आरंभ करने की बात कही है, क्योंकि आधिकारिक कथा से पहले उसने अनेक कथायें (हेतु-कथाएं) तो कही ही है पर वह वक्ता-श्रोता के परिचय को भी कथा से पृथक् नहीं मानता। इस प्रकार आधिकारिक कथा वस्तुतः १७५वें दोहे के बाद ही आरंभ होती है। इस विषय में मतभेद हो सकता है। कथा के नायक राम है, अतः आधिकारिक कथा का आरंभ वा० रामायण के समान नायक के वंश और जन्मभूमि[1] के परिचय से भी माना जा सकता है, परन्तु कवि के उद्देश्य के अनुसार अर्थात् अवतारवाद की सिद्धि के विचार से कथा का आरंभ रावणचरित से ही मानना उचित है। अवतार-भावना के अनुसार अधर्म की उत्पत्ति होने पर धर्म का अभ्युदय होता है, अतः राम के जन्म का कारण रावण का जन्म है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसकार ने राम के जन्म से पूर्व रावण-चरित की योजना करके आधिकारिक कथा की भूमिका ही परिवर्तित कर दी है जिसके प्रकाश में सम्पूर्ण कथा का वातावरण परिवर्तित हो उठा है अर्थात् उसका भावी विकास अवतारवाद की भावना के अनुसार ही हुआ है और राम केवल रावण-वध के लिए नहीं अपितु भक्तों को सुख देने और उनकी विविध इच्छाओं तथा उनके शाप-वरदानों की पूर्ति के लिए भी जन्म लेते हैं।

राम का जन्म

प्रचलित वाल्मीकि रामायण में भी राम के जन्म को अवतारवादी रंग प्रदान किया गया है। उसमें भी मानस के समान शृंगी ऋषि दशरथ को पुत्रेष्टि-यज्ञ कराते हैं और वेदी में से एक दिव्य पुरुष पवित्र पायस लेकर निकलता है तथा इस प्रसाद से तीनों रानियों को दिव्य पुत्रों की प्राप्ति होती है।[2] इसके अतिरिक्त उसमें यज्ञ के समय देवताओं की उपस्थिति,[3] रावण के अत्याचार का वर्णन[4] और विष्णु भगवान के अवतार लेने के आश्वासन की कथा[5] भी कही गई है। वा० रामायण के कथाविन्यास पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अंश कथा की मूल चेतना से पृथक् है, वस्तु-संघटन में ठीक नहीं बैठ रहा है, इससे कथा-क्रम में अवरोध होता है और यह बाद में मूल कथाकार के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा ही जोड़ा गया है। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के प्रचलित संस्करणों में अवतारवाद की भावना कथांशों

१. मा० १. १८८, ७।
२ दे० रा बालकाण्ड, सर्ग १४ १७ ३ वही १५ ४ वही ५ वी

मे थोपी गई प्रतीत होती है जबकि मानस की कथा में वह स्वाभाविक रूप से आद्यन्त सूत्र के समान अनुस्यूत है।

पायस-वितरण के प्रसंग में तुलसी ने परिवर्तन किया है। वा० रामायण मे आधा भाग कौशल्या को, आठवां भाग कैकेयी को और शेष भाग दो बार में सुमित्रा को दिया गया है[1] जबकि मानस में कौशल्या को आधा, कैकेयी को चौथाई और सुमित्रा को भी चौथाई, परन्तु दो बार मे और कौशल्या तथा कैकेयी के हाथ से, दिलाया गया है।[2] यह परिवर्तन सोद्देश्य है। इससे भरत के चरित्र की महत्ता[3] और राम-लक्ष्मण तथा भरत-शत्रुघ्न के 'भायप-भाव' की भूमिका[4] स्थापित हुई है। मानस में वा० रामायण की अपेक्षा भरत के चरित्र को आदर्शात्मक दृष्टि से अत्यधिक निखारा गया है, यहा तक कि विशुद्ध चरित-तत्त्व की दृष्टि से उन्हें राम से भी ऊंचा उठा दिया गया है, यह बात हम आगे चरित्र-चित्रण के प्रकरण में देखेगे। राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न की भ्रातृ-युग्मता वा० रामायण मे भी दिखलाई गई है, परन्तु मानसकार ने उसका कारण भी खाजकर पायस-प्रकरण का प्रयोग उसीके लिए किया है। इससे मानसकार की राम-कथा के सूक्ष्म सर्वेक्षण की दृष्टि, प्रतिभा, मौलिकता और पुनर्विधान की क्षमता प्रकट होती है। अध्याय के आरंभ में हम कह चुके हैं कि राम-कथा के विकास की अनेक पद्धतियों में से एक पद्धति घटनाओं के कारण-निर्देश की भी रही है जिससे कुछ कृतियों मे उसका कलेवर अत्यधिक असंतुलित हो उठा है, परन्तु तुलसीदास ने कथा-सौष्ठव की रक्षा करते हुए ही इस प्रकार के परिवर्तन किये है।

राम के जन्म के प्रकरण से तुलसी का कथा-शिल्प अपने कलात्मक रूप मे प्रकट होने लगता है और वस्तु-विन्यास, प्रवाह, आवश्यक संक्षेप-विस्तार, पुनरावृत्तियों का निवारण, मार्मिक प्रसंगों का चयन, सम्वाद-योजना आदि के द्वारा मानस का कवि एक कुशल कथाकार के रूप मे हमारे सामने आता है। वाल्मीकि रामायण मे राम-जन्म के प्रसग पर कथा का प्रवाह अवरुद्ध और गति कुंठित हो गई है, ऋष्य शृंग की प्रासंगिक कथा और यज्ञ-वर्णन का अत्यधिक विस्तार मूल कवि के द्वारा नियोजित कथांश प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उत्तरकाण्ड को छोड़कर शेष काण्डों में इस प्रकार के भद्दे जोड़ बहुत कम है और जो हैं भी वे प्रक्षिप्त माने गये हैं। इसके विरुद्ध मानस मे इस स्थल से कथा क्षिप्र गति से चलने लगती है, ऋष्य शृंग और यज्ञ-वर्णन एक पक्ति में समाप्त कर दिया गया है और आधिकारिक कथा के सहयोगी प्रसंगों का ही सतुलित प्रस्फुटन किया गया है। इस प्रकार मानसकार ने प्रस्तावना-भाग के विस्तार द्वारा उत्पन्न असंतुलन को इस स्थल पर आकर संतुलित कर लिया है। अतः मानस के अनुवादक, रूसी विद्वान बारान्निकोव का यह अभिमत अधिक समर्थनीय नहीं है कि मानस के बालकाण्ड को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिये

१. रा० १.१६। २. मा० १.१९०।

३. उनकी माता कैकेयी को दिव्य पायस का अधिक भाग प्रदान किया गया है।

४. एक भाग कौशल्या ने और दूसरा कैकेयी ने दिया। इस प्रकार उनके पुत्रों के प्रति सुमित्रा के पुत्रों की प्रीति का होना संकेतित किया गया है

था ।[1] भारतीय महाकाव्यों की शैली से अपरिचित होने के कारण ही उन्होंने ऐस कहा है।

प्रस्तावना और रामजन्म के प्रकरण से मानसकार की कथाशैली या वस्तु-विन्यास की विशिष्टता प्रकट होने लगती है, जिसमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दर्शनीय हैं :—

१. अवतार के नाते राम के कृत्यों की अलौकिकता दिखलाना[2]

२. नायक के परब्रह्मत्व और नरलीला का स्मरण कराना[3]

३. यह चरित सर्वविदित है, ऐसा कहकर कथा को संक्षिप्त करना[4]

४. कथाक्रम के अंतर्गत वस्तुवर्णन के रूप में पारिवारिक वातावरण, रीति-रिवाज आदि का परिचय देना[5]

इसके अतिरिक्त मानसकार की प्रबन्धविस्तार की भी एक विशिष्ट शैली इस स्थल पर देखी जा सकती है—

एक बार भूपति मन माहीं । भै गलानि मोरे सुत नाहीं । (१. १८९. १)

इस शैली पर विचार करना चाहिए । प्रबन्धकाव्य सर्गबद्ध होता है, परन्तु मानसकार ने सर्गो का कार्य इसी प्रकार की शैली से लिया है, जिसमें वह प्राय: निम्नलिखित ढंग के प्रयोग करता है :—

१. 'एक बार' या 'एक समय'[6]

२. यहाँ तक कथा कही, अब आगे सुनो[7]

३. इहाँ, उहाँ शब्दों के प्रयोग[8]

प्राय: पार्वती या गरुड़ (श्रोता) को भी सम्बोधित करने के स्थल ऐसे ही है जो सर्ग जैसे विराम के सूचक प्रतीत होते हैं।

रामजन्म के साथ ही कवि ने काव्य नायक की बाललीला का भी वर्णन किया हैं, जिसे प्रबन्ध सौष्ठव के विचार से मानस में सीमित रखकर अन्य ग्रंथों मे विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु वा० रामायण मे महाकाव्य की दृष्टि से कथा के इस आवश्यक अंग का सर्वथा अभाव है । वा० रामायण के प्रक्षेपकारों ने भी राम के उत्तर-चरित की योजना तो की परन्तु काव्य नायक के प्रारंभिक जीवन की कोमल झाँकी

---

१. मानस की रूसी भूमिका, अनुवाद पृ० ५३ । २. १.१९२ (कौशल्या कृत स्तुति), १९५ (सूर्य का रथ रुक जाना), २०१ (नैवेद्य के समय "अद्भुत रूप अखण्ड") ।

३. निगम नेति सिव अन्त न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥ १.२०३.८ ।

४. यह इतिहास सकल जग जानी । तातें मैं संछेप बखानी ॥ १.९५.४

५. नामकरण, (चौ० १.९७) नैवेद्य, (२०१) चूड़ाकरण (२०३), अनेक और विद्यारंभ (२०४) आदि प्रसंग ।

६. १.४८.१, १.४५.३, १.२००.१, २.२.१ ।

७. यह सब रुचिर चरित मैं भाखा । अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा—१.१८८.६ तथा १-२०६-१ इत्यादि ।

८ मा० इहाँ राम जसि जुगुति बनाई सुनहु उमा सो कथा सुहाई ३ १२ ८ तथा ६ ३८ ३ और ६ ४८ ३ इत्यादि ० मानस का कथाशिल्प पृ २२१

प्रस्तुत करने की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया।

विश्वामित्र का आगमन

विश्वामित्र का आगमन रामकथा की गति में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित करता है। इस प्रसंग के द्वारा राम के विवाह, सीता के गौरव और राक्षस-वध की भूमिका प्रस्तुत होती है तथा महाकाव्य के कथाविस्तार में नाटकीय क्रमविकास परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से कथावस्तु का विवेचन करने वाले विद्वानों ने इस स्थल पर नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट 'आरंभ' जैसी अवस्था मानी है।[1]

विश्वामित्र का प्रकरण यज्ञ की समाप्ति अथवा राम-लक्ष्मण के मिथिला प्रस्थान तक माना जा सकता है, क्योंकि उसके पश्चात् धनुर्यज्ञ का प्रसंग हमारा ध्यान आकृष्ट करने लगता है। इस प्रसंग में भी तुलसी के परिवर्तन की छाप स्पष्ट और कलात्मक रूप में दिखलाई पड़ती है। जहां वाल्मीकि रामायण में आधिकारिक कथा प्रासंगिक कथा में और प्रासंगिक कथा अवान्तर प्रसंगों एवं अन्तर्कथाओं में उलझ गई है वहां मानस में कथा स्वाभाविक, सुलझी हुई गति और प्रवाह एवं आनुपातिकता के साथ चलती रही है। उसमें इस स्थल पर न तो विश्वामित्र का लम्बा-चौड़ा चरित्र अवान्तर प्रसंगों के साथ दिया गया है, न ताड़का-सुबाहु आदि का विस्तृत परिचय है, न कामदहन और उमा-शिव की कथा है और न सगर की गाथा और दूसरी कथाएं हैं जिनका रामकथा के साथ दूर तक कोई सम्बन्ध दिखलाई नहीं पड़ता। वा० रामायण में सगर की कथा विस्तारपूर्वक कही गई है, मानस में केवल एक पंक्ति में। अहल्या का प्रसंग मानस में अन्य अवान्तर प्रसंगों की अपेक्षा कुछ विस्तृत है फिर भी वा० रामायण की अपेक्षा संतुलित तथा आधिकारिक कथा में सम्मिलित और नायक के चरित्रोत्कर्ष में सहायक है। तुलसी ने अपनी भक्तिभावना के कारण इस प्रसंग का कुछ विस्तार किया है, पर वस्तु संगठन का बलिदान करके नहीं। विश्वामित्र के प्रकरण में मानसकार के वस्तुविन्यास के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएं प्राप्त होती हैं :—

१. मानसकार ने प्रचलित वा० रामायण की कथा का एक सीमा तक ही अनुसरण किया है। प्रक्षिप्त और प्रामाणिक का वैज्ञानिक विवेक भले ही उसके पास न हो, परंतु कथासौष्ठव की कलात्मक दृष्टि अवश्य थी जिस के अनुसार वह कथांशों को यथावश्यक व्यास-समास शैली में प्रस्तुत करता है।

२. पूर्ण आस्तिक होते हुए भी यह सम्भव है कि तुलसीदास प्रचलित वाल्मीकि रामायण के कुछ अंशों के प्रति सशंक रहे हों। इसी लिये उन्होंने वे प्रसंग छोड़ दिये हैं या संक्षिप्त कर दिये हैं।

३. भक्तिपरक प्रसंगों पर तुलसीदास की विशेष दृष्टि रहती है, और उन्हें वे

---

१. महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ५३९।

२. वा० १ ३७ से ४४ वें सर्ग तक, जबकि मा० में 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥'

या तो विशेष रूप से मार्मिक बना कर भक्तिरस के रूप में अपनी काव्यभावना का शास्त्रीय प्रयोग करके दिखलाते हैं (जैसे अयोध्याकाण्ड में निषाद-प्रसंग), अथवा स्तुति-पूजन आदि के द्वारा काव्य को पौराणिक या धर्मग्रंथ का रूप प्रदान करते हैं (जैसे अहल्या-प्रसंग), अथवा काव्यभावना और धर्मभावना या भक्ति को एक तुला पर रख देते हैं (जैसे अरण्य काण्ड में शबरी-प्रसंग) जिसे आ० रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य की दृष्टि से भी मानस की कथा का विशिष्ट मार्मिक प्रसंग माना है। (दे० तुलसीदास, पृ० ८८)।

४. राम को भगवान मानने के कारण भी कहीं-कहीं तुलसीदास का वस्तुविन्यास इस प्रकार सीमित और संतुलित बन गया है कि उन्हें बहुत सी वस्तुओं का विस्तार-पूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, जैसे कि प्रस्तुत प्रकरण में वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र द्वारा राम को दिये गये शस्त्रास्त्रों का विस्तृत वर्णन है[1] जबकि मानस मे "आयुध सर्ब समर्पि कै" कहना ही पर्याप्त समझा गया है।[2] आख्यान काव्य होने के नाते वाल्मीकि रामायण में इतिहास, राजनीति, युद्धवर्णन, शस्त्रास्त्र आदि का विस्तार अधिक है जब कि भक्ति प्रधान काव्य मानस में इन स्थूल उपकरणों का उल्लेख बहुत कम है। आगे भी युद्धवर्णनों में हम देखेंगे कि तुलसीदास ने भगवान राम के बाण की महिमा और चमत्कार तो दिखलाया है परन्तु अन्य शस्त्रास्त्रों की चर्चा बहुत कम की है।

५. कुछ कथांशों को तुलसी ने आवश्यकता से अधिक संक्षिप्त कर दिया है जैसे ताड़का और सुबाहु का वध तथा मारीच का प्रक्षेपण[3]। आगे भी अरण्य काण्ड मे हम देखेंगे कि विराध का वध एक पंक्ति मे समाप्त हो गया है।[4] तुलसी ने वास्तव मे काव्य मे रामकथा की लोकप्रियता और पुरातनता समझते हुए ही ऐसा किया है। इससे कथासौष्ठव को सहयोग मिला है, परन्तु यह हानि भी हुई है कि कही-कही मानस की कथा काव्य के स्तर से उतर कर घटनाओं की सूची मात्र बन जाती है। रूसी विद्वान वारान्निकोव ने, एक विदेशी अतः रामकथा से बहुत कम परिचित होने के नाते, तुलसी की सक्षिप्तता पर खीझ प्रकट की है।[5]

६. घटनाक्रम की दृष्टि से इस प्रसंग में यह बात दर्शनीय है कि दोनों ही काव्यो मे ताडका, मारीच और सुबाहु के प्रताड़न का क्रम एक ही प्रकार का है। इसी प्रकार आगे युद्धकाण्ड (लंकाकाण्ड) में कुंभकरण, मेघनाद और रावण के बध का क्रम भी एक जैसा है। उससे प्रकट होता है कि वाल्मीकि रामयण के द्वारा रामकथा के घटनाक्रम की एक ऐसी सुस्थिर एवं निश्चित योजना बना दी गई थी कि वह

१. रा० १. २७।
२. मा० १. २०८ दो०।
३. मा० १.२०६. ६–७ तथा २१०.३–५।
४ मा० ३ ७ ८
५ मानस की रूसी भूमिका अनुवाद के पृ० ५२–५४

अमर और अमिट ही बन गई।

७. भक्तिभावना के कारण चरित-परिवर्तन के कारण कथांशों में वातावरण का परिवर्तन मानस की कथा में अनेक स्थलों पर दिखलाई पड़ता है, जैसे कि उक्त प्रकरण में जहा रामायण के विश्वामित्र का दशरथ के प्रति, राजकुमारो को देने में हिचक प्रकट करने पर, क्रोध प्रकट किया गया है[1] वहा मानस में प्रसन्नता[2], क्योकि वे दशरथ के इस भक्तिभाव को प्रशंसनीय मानते है।

इस प्रकार हम देखते है कि दोनो काव्यों की आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं तथा घटनाक्रम में बहुत कुछ समानता होते हुए भी वस्तुविन्यास और कथा-पद्धति में पर्याप्त अन्तर आ गया है जिस कारण चिरपुरातन रामकथा मानस मे नवीनता का आनन्द प्रदान करती है।

धनुषयज्ञ—

वाल्मीकि रामायण में धनुर्भंग की घटना तो है परन्तु धनुषयज्ञ या स्वयंवर के रूप में कथा की योजना नही है। कथांश का परिचय तो यज्ञ के नाम से ही दिया गया है परन्तु यज्ञ और स्वयंवर का वातावरण बिल्कुल भी चित्रित नही किया गया है, जब कि मानस में राम देश-विदेश के राजाओं की विपुल सभा के मध्य प्रवेश करते हैं, उन राजाओं के बल की परीक्षा के रूप में धनुषयज्ञ आरंभ होता है, धनुष के तिल भर भी न खिसक पाने पर जनक को अपनी प्रतिज्ञा का यज्ञ असफल होता हुआ दिखलाई पड़ता है और अनेक आशंकाओं तथा प्रार्थनाओं के बाद राम के पौरुष द्वारा धनुषयज्ञ की पूर्णाहुति होती है तथा सीता राम के गले मे जयमाला डालती है। इन सब बातों का कोई संकेत वा० रामायण मे नही है।[3] स्पष्ट ही है कि इस कथांश के लिये मानसकार न तो वाल्मीकि रामायण की और न अध्यात्म रामायण की कथापरम्परा का ऋणी है। इसके लिए तो वह संस्कृत के उस ललित वाङ्मय का ऋणी है जिसकी कोई चर्चा प्रस्तावना तथा मंगलाचरण में संकेतित काव्य-स्रोतो के अंतर्गत नही की गई है अथवा जो "क्वचिदन्यतोऽपि" या "कलि के कविन्ह" के अन्तर्गत हैं। इसके लिए वह संस्कृत नाटकों का, विशेष कर जयदेवकृत 'प्रसन्न-राघव' का ऋणी है। यही कारण है कि मानस का धनुषयज्ञ प्रसंग महाकाव्य के अन्तर्गत एक रमणीय नाटक जैसा प्रतीत होता है। तुलसी के कथाशिल्प और उनकी महाकाव्य-शैली की यह एक विशिष्टता है कि उन्होंने रामकथा के कुछ प्रसंगों को परख कर महाकाव्य मे नाटकीयता का संचार और रंगमंचीय विधान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उन्होंने इतिवृत्त की नीरसता का परिहार, पुरातन कथा में नूतन चमत्कार की उद्भावना और प्रबन्धकाव्य को अभिनयात्मक साँचे में ढालने का अत्यन्त कुशल और सफल प्रयत्न किया है जिस कारण मानस को सर्वश्रेष्ठ नाटकीय

---

१. रा० १.२१।

२. मा० १.२०८.७

३. दे० रा० १.८० तथा ६६.६७ सर्ग और मा० १.२४०-२६४

महाकाव्य कहा गया है। आगे मानस की काव्यशैली और काव्य रूप का विश्लेषण करते समय हम देखेंगे कि उसकी प्रस्तावना ने जिस प्रकार महाकाव्यों की शैली मे एक उत्कर्षपूर्ण सोपान प्रस्तुत किया है उसी प्रकार उसके इन नाटकीय प्रसंगो ने महाकाव्यों के एक नवीन वर्ग की सूचना दी है जिन्हें "नाटकीय महाकाव्य" कह सकते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि तुलसीदास ने स्वयं मानस के अभिनय की योजना की थी और रामलीला के रूप में मानस की लोकप्रियता तभी से बढ़ती रही है।[1]

धनुषयज्ञ प्रकरण का महत्व कथा या घटना की दृष्टि से उतना नही है जितना कवित्व और अभिनयात्मकता की दृष्टि से है। इस स्थल पर तुलसी की वर्णनशक्ति जनकपुर के वर्णन में,[2] कवित्व और रस-प्रसार की निपुणता पुष्पवाटिका के प्रसंग[3] में और अभिनयात्मक दृष्टि या रंगनिर्देशक एवं सूत्रधार जैसी प्रतिभा स्वयंवर-प्रसंग[4] में दिखलाई पड़ती है। श्रृंगार रस के अंतर्गत पूर्वराग का पूर्ण परन्तु मर्यादित उत्कर्ष इस स्थल पर दिखलाई पड़ता है और तुलसी एक रससिद्ध कवीश्वर के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण के सम्बन्धों के रूप मे वात्सल्य रस के अंतर्गत आचार्य विषयक रति का भी उत्कृष्ट परिपाक इस प्रकरण मे हुआ है। आगे रस-निरूपण के अध्याय में इस विषय पर विस्तृत विचार किया जायेगा। इस स्थल पर सीता और राम के मनोभावों का निरूपण करने में कवि ने अपने अलंकार-पांडित्य का भी पूरा पूरा प्रयोग किया है,[5] जैसा कि हम आगे काव्य-शैली के अंतर्गत अलंकार-प्रकरण मे देखेंगे।

कथाकार के रूप मे तुलसी की सूझ और विवेक यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत नाटकों से प्रेरित होकर भी उन्होंने अपनी कथा मे किसी प्रकार की उलझन नही उत्पन्न होने दी है; उदा० के लिए वे रावण का उल्लेख मात्र करते है, "प्रसन्नराघव" नाटक के समान उसे स्वयंवर सभा में प्रत्यक्ष नहीं दिखलाते[6], और न ही "अनर्घ राघव" नाटक के समान उसके द्वारा सीता की याचना के लिये दूत के भेजे जाने[7] अथवा सीताहरण का विचार किये जाने का (प्रसन्नराघव, अक १) कोई सकेत करते हैं। इन विविध नाटकों का प्रत्यक्ष या परोक्ष, अल्प अथवा अधिक, प्रभाव मानस के इस प्रसंग पर देखते हुए मानसकार का उनसे सुपरिचित होना तो सिद्ध होता है परन्तु आवश्यक रूप से प्रभावित होना नहीं। अनेकानेक आकर्षक,

१. मध्यकालीन नाट्य-परम्परा और भारतेन्दु, कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, पृ० ६५।
२. १.२१२.५ से २१४.३ तक।
३. १.२२६.१ से दो० २३४ तक।
४. १.२४०.१से दो० २६४ तक।
५. उदा० के लिये दे० १.२५६.१-२ में परम्परित रूपक और निदर्शना तथा दो० २५८ में वस्तूत्प्रेक्षा।
६. दे० अंक १।
७ दे० अक ३, तथा महावीर चरित नाटक क भी अक १

रोमांचक और प्रसंगों को सामने देखकर भी यह सावधान कथाकार अपने निर्दिष्ट मार्ग पर सफलता पूर्वक चलता रहा है।

इस प्रकरण का प्रयोग कवि ने काव्यनायक की प्रथम भव्य झांकी दिखलाने के लिए भी किया है[1], जहां उसके शील, शक्ति और सौंदर्य एक साथ ही पाठक को चमत्कृत और आकृष्ट करके उसके हृदय में भक्ति रस का प्रथम स्रोत प्रवाहित कर देते है, जो उत्तरोत्तर प्रबल बनकर समस्त साहित्यशास्त्रीय रसों की सरिताओं को पचाने के लिये महासागर सदृश बन जाता है। आगे रस-निरूपण के अध्याय में हम देखेंगे कि मानसकार ने किस प्रकार विविध कथाप्रसंगों के द्वारा साहित्यशास्त्रीय दस रसों का संचार करते हुए उन सबको अपने उद्देश्य के अनुरूप भक्तिरस के महासागर में संगमित कर दिया है।

इस प्रकार धनुषयज्ञ का प्रसंग तुलसी के कवित्व, प्रतिभा और कला, मौलिक सूझ आदि के अध्ययन और अनुशीलन के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। इस प्रसंग से यह भी प्रकट है कि रामचरित मानस को धर्मग्रंथ या पौराणिक काव्य की ही श्रेणी में रख देना आलोचक का अन्याय है। इस प्रसग के कथाविन्यास को लक्ष्य करके विद्वानों ने तुलसी को श्रेष्ठ कथाकार भी सिद्ध किया है (दे० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३३६–३३७)।

लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद—

वा० रामायण का पाठक इस प्रसग को सरलता से विस्मृत कर सकता है, परन्तु मानस का पाठक प्रयत्न करके भी नही। धनुषयज्ञ के बाद, उससे मिला हुआ ही, यह भी मानस की कथा का एक अत्यन्त रोचक और लोकप्रिय नाटकीय प्रसंग है। मानस के इन नाटकीय प्रसंगों ने, जिनकी पर्याप्त संख्या इस बात की सूचक है कि कवि अपने महाकाव्य को एक विशिष्ट शैली में कलात्मक सावधानी के साथ ढाल रहा था, इस काव्य और कवि को इतना अधिक लोक-सम्पूजित बना देने में विशेष कार्य किया है।

कथा की दृष्टि से तुलसी ने यहा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है। वा० रामायण मे परशुराम का आगमन विवाह के बाद अयोध्या के मार्ग में हुआ है और उनका सम्वाद लक्ष्मण के साथ न होकर राम के साथ ही हुआ है।[2] रामचरित मानस मे परशुराम का आगमन धनुष के टूटते ही और विवाह से पूर्व होता है और उनका अधिकांश सम्वाद लक्ष्मण के साथ हुआ है[3]। मानसकार अपने कथासूत्रों के लिए पुराण, काव्य, नाटक, आदि विविध स्रोतों का कितना ही ऋणी क्यों न हो फिर भी उसके संयोजन में ऐसा अद्भुत कौशल है कि किसी भी सर्वथा मौलिक (जो कि

१. रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह दिखावा। (१.२३९.४)

२. रा० बालकाण्ड, सर्ग ७४ और ७५।

३ मा० बाल० २६–२८५

असंभव हो है) और उत्कृष्टतम प्रतिभासम्पन्न कवीश्वर के समीप उसे स्थान दिया जा सकता है।

उक्त परिवर्तन द्वारा मानसकार ने वस्तुविधान और चरित्रविधान दोनों में अपनी सूझ का परिचय दिया है। वस्तुविधान की दृष्टि से विवाह से पूर्व एक और महाविघ्न उपस्थित करके उसने कौतूहल, जिज्ञासा, शंका, भय आदि भावों को पाठक के हृदय में प्रेरित करके कथा मे चमत्कार और शैली में नाटकीयता उत्पन्न की है। चरित्रविधान की दृष्टि से उसने शत्रु और मित्रों की विपुल सभा के बीच काव्य नायक के प्रताप का एक और परिचय देकर महाकाव्योचित गरिमा उत्पन्न की है, साथ ही इस स्थल पर नायक के साथ उसने उपनायक अथवा नायक के अनुज के चरित्र का भी उत्कर्ष किया है। यद्यपि शिष्टाचार की दृष्टि से लक्ष्मण के आचरण को सराहनीय नहीं कहा जा सकता परन्तु उनका कैशोर्य-सुलभ चापल्य और क्षत्रियोचित निर्भीकता (और साथ ही उनका भ्रातृप्रेम एवं अनुशासन भी) पाठकों को अत्यधिक मुग्ध अवश्य करती है और परशुराम से सहानुभूति रखने वाले वृद्ध जन भी इस नन्हे रघुवंशी के प्रति प्यार-पुलक अनुभव किये बिना नहीं रह सकते।

वस्तुविधान और चरित्रविधान ही नहीं, भावविधान तथा रसविधान की दृष्टि से भी मानसकार द्वारा किया गया परिवर्तन अत्यन्त श्लाघ्य है। परशुराम जैसे प्रबल, विख्यात योद्धा पर भी राम की यह विजय देखकर कुलकन्या सीता के हृदय में पुष्पवाटिका प्रसंग से अंकुरित और धनुर्भंग से पल्लवित प्रीति-लता अब किस वेग से लहरा उठी होगी, यह सहृदय जन की कल्पना का विषय है।

धनुषयज्ञ के समान यह भी एक नाटकीय प्रसंग है। एक दृश्य में शृंगार और वीर जैसे मिश्र रसों का मिलाप दिखलाई पड़ता है, तो दूसरे में हास्य और रौद्र जैसे अमिश्र रसो का। दोनों प्रसंगों में नाटकीय दृष्टि से अन्तर भी है। पुष्पवाटिका सहित धनुषयज्ञ का प्रसग नाटकीय वातावरण की सृष्टि और रंगमंच के विधान की कुशलता सूचित करता है तो परशुराम का प्रसग विदग्धता, वक्रोक्ति और व्यंग से पूर्ण सम्वादों की योजना में तुलसी की निपुणता को ज्ञापित करता है। सम्वाद-शैली मानसकार की प्रिय शैली है। उसने मानस में विविध प्रकार के सम्वादों की योजना की है।

एक क्षत्रियकुमार से वयोवृद्ध एव तपोधन ब्राह्मण को इस प्रकार परास्त कराने में क्या तुलसी का कोई उद्देश्य था? जहां तक राम से परशुराम के परास्त होने की बात है वह तो काव्यनायक की गौरव-स्थापना के विचार से एक सीमा तक अंगीकार की जा सकती है परन्तु लक्ष्मण के द्वारा परशुराम का यह पराभव अवश्य अशोभनीय प्रतीत होता है और मर्यादावादी कवि तुलसी के लिये तो और भी अधिक। विचार करने पर, तुलसीदास की उद्देश्य और उपदेश निष्ठ काव्य रचना को दृष्टि में रखते हुए यह प्रकट होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण काव्य में तो एक व्यापक उद्देश्य रक्खा ही है परन्तु पृथक-पृथक कथा प्रसगों के द्वारा भी कुछ उद्देश्यों की पूर्ति की है जो कि उस

व्यापक उद्देश्य के ही अंगभूत हैं। प्रस्तुत कथा प्रसंग के द्वारा ब्राह्मणवादी और कट्टर वर्णाश्रमी कहे जाने वाले कवि तुलसीदास का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रकट होता है कि असंयमी और अविचारशील ब्राह्मण या तपस्वी भी समाज द्वारा असत्कार के रूप में दंडनीय है। इसकी पुष्टि के लिए राम की इस उक्ति पर विचार कीजिये—

जो तुम औतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गुसाईं ॥ (१.२८२.३)

कुछ विद्वान इस सफाई से असहमत हो सकते हैं परन्तु तुलसी के वस्तुविधान की यह प्रवृत्ति तो अन्यत्र भी, अनेक स्थलों पर, दिखाई पड़ती है कि वे कथा के विभिन्न कथांशों का प्रयोग निजी विचार-बिन्दुओं की झलक देने के लिए भी करते हैं। यह प्रवृत्ति वाल्मीकि में कम है, तुलसी में बहुत है और थोड़ी बहुत सभी कवियों एवं कलाकारों में होती है।

राम-सीता विवाह

दोनों काव्यों में राम के साथ ही, एक ही दिन और एक मंडप में, राम के तीनों अनुजों का सीता की तीन अनुजाओं के साथ विवाह का वर्णन किया गया है। कथा अर्थात् घटनातत्व की दृष्टि से इसमें कुछ उल्लेखनीय नहीं है परन्तु दोनों काव्यों की वर्णन-शैली में अवश्य अन्तर है। मानसकार ने कथा को इस स्थल पर दीर्घ विराम प्रदान किया है, फिर भी वस्तुसंघटन की दृष्टि से वह नीरस या फालतू नहीं प्रतीत होता। वह महाकाव्योचित शैली के अनुकूल है। वाल्मीकि की अपेक्षा तुलसी ने विवाह का वर्णन अधिक विस्तार से किया है और समकालीन हिन्दू संस्कृति, शिष्टाचार, रीतिरिवाज[1] आदि की पर्याप्त झलक इस वर्णन से मिलती है, जिसमें कालविपर्यय दोष का आ जाना भी स्वाभाविक है, यथा बरात तथा अश्वारोही "छयल" वरों का वर्णन, जो कि वाल्मीकि रामायण में नहीं है, राजपूत और यवन-कालीन युग का आभास देता है। जेवनार,[2] आतिथ्य-सत्कार[3], दहेज,[4] आदि का भी विस्तृत वर्णन है। मानस जैसे कन्या की विदाई[5] और वधू के स्वागत[6] के दृश्य भी वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। राम और सीता भगवान और भगवती के अवतार हैं, इसलिए मानस में उनके विवाह के अवसर पर ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उमड़ उठी हैं तथा उमा-रमा-इन्द्राणी और शिव-चतुरानन-इन्द्र आदि दर्शकों के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार अवतार-वाद अर्थात् परब्रह्म के नरचरित की भूमिका का निर्वाह करना तुलसीदास कहीं नहीं भूलते। एक ओर राम के विवाह में यह अलौकिक वातावरण है तो दूसरी ओर उसमें

१. वैदिक लौकिक रीति—१.३२०.१।
२. मा० १.३२८।
३. वही दो० ३२९ में "पान" का उल्लेख।
४. वही दो० ३३३।
५. १.३३८
६. वही चौ० ३४८ और ३.६

हिन्दू गृहस्थ के पारिवारिक जीवन का सबसे अधिक चहलपहल वाला उत्सव भी साक्षात् रूप में उपस्थित हुआ है।

मानसकार ने इस प्रसंग का सोद्देश्य विस्तार किया है। उसने राम-विवाह के रूप में हिन्दू गृहस्थ के लिए एक गेय मंगलकाव्य प्रदान किया है, जैसा कि उसके एक पृथक् खंडकाव्य के रूप में "जानकी मंगल" की रचना करने और बालकाण्ड के माहात्म्य कथन (३६१ छं०) से प्रकट होता है।

काण्ड की समाप्ति—

दोनों काव्यों में काण्ड की समाप्ति एक ही प्रकरण अर्थात वरवधू के अयोध्या-प्रवेश पर हुई है परन्तु काण्ड के उपसहार की पद्धति भिन्न है। तुलसी ने जिस प्रकार प्रत्येक काण्ड का आरम्भ मंगलाचरण से किया है उसी प्रकार उसकी समाप्ति माहात्म्य-कथन से की है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि प्रत्येक काण्ड एक स्वतन्त्र पद्यनाटक हो और उसके प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा अन्त मे भरतवाक्य की योजना की गई हो।[1] मानस की काव्य-शैली पर नाटकीय शैली का प्रभाव और उसमें अनेक नाटकीय तत्वों को देखते हुए, जिनका उल्लेख धनुषयज्ञ के प्रकरण में किया जा चुका है, यह अनुमान किया जा सकता है कि तुलसी ने वस्तुत: ही प्रत्येक काण्ड की रचना एक प्रकार से पद्यनाटक के ढंग पर करने की कल्पना की हो। इस प्रकार की काण्ड-रचना तुलसी के पूर्ववर्ती काव्यों में कहीं प्राप्त नहीं होती और इस आधार पर भी मानस की महाकाव्य-शैली की एक विशिष्टता प्रकट होती है जो उसे पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी परम्पराओं से किंचित् पृथक् वर्ग का महाकाव्य मानने को प्रेरित करती है। वाल्मीकि रामायण मे केवल युद्धकाण्ड के अन्त मे माहात्म्य-कथन है, प्रत्येक काण्ड मे नहीं है, और वह भी संदिग्ध अंश ही प्रतीत होता है क्योंकि मूल रामायण की शैली के साथ उसका मेल नहीं दिखलाई पड़ता।

वा० रामायण अपने प्रचलित रूप मे कथाशिल्प की दृष्टि से एक अव्यवस्थित रचना है, जिसमे आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओ का यथोचित सामंजस्य नही दिखलाई पड़ता और बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड ने तो मूल रचना के कथाशिल्प को सर्वथा ही तिरोहित कर रक्खा है। मूल रचना की कथावस्तु के स्वरूप पर हम इस अध्याय के अन्त में विचार करेंगे। जहां तक बालकाण्ड की तुलना का सम्बन्ध है बा० रामायण की कथावस्तु अन्तर्कथाओं और अवान्तर प्रसंगो से बोझिल, आधिकारिक कथा को विस्मृत करके लक्ष्यहीन, निरुद्देश्य, दौड़ती हुई दिखलाई पड़ती है। युधाजित के साथ भरत-शत्रुघ्न की विदाई का प्रसंग बालकाण्ड के अन्त में कहकर फिर अयोध्याकाण्ड का आरम्भ भी उसी प्रसंग को लेकर अटपटे ढंग से कर दिया गया है। समस्त बालकाण्ड का कोई भी प्रकरण मन को रमाने वाला नहीं है केवल इक्ष्वाकु

१. मानस की एक अर्धाली से भी ऐसा ध्वनित होता है कि रचना-सौष्ठव, भाव के पूर्णोत्कर्ष और प्रभाव की दृष्टि से प्रत्येक काण्ड स्वतंत्र है,
दे०—"सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥" (१.३७.१)
यहाँ काण्ड के लिए प्रबन्ध शब्द का प्रयोग ध्यानीय है

वंश, अयोध्या का वर्णन और दशरथ की राजसभा तथा राज्य का वर्णन ही ऐसा कथांश है जिसमें महाकाव्योचित गरिमा और महाकवि की रचनाशक्ति का वेग तथा तेज दिखाई पड़ता है। इस अंश को ही विद्वानों ने मूल रचना का प्रारम्भिक अंश माना है।[1] इस प्रकार बाल्मीकि रामायण का बालकाण्ड आदि काव्य के एक छोटे से अंश के कारण ही महत्वपूर्ण है जिससे सम्पूर्ण काव्य की भव्यता का अनुमान किया जा सकता है।

दूसरी ओर मानस की कथावस्तु प्रस्तावना के गुरुभार से लदी हुई भी सुसंबद्ध, सुनियोजित और नाटकीय विकासक्रम से युक्त है। मानस के बालकाण्ड में कवि की कथा-सरिता 'प्रस्तावना' के शैवाल-जाल से मुक्त होकर 'राम के जन्म' प्रकरण से लेकर 'विश्वामित्र के आगमन' प्रकरण तक अत्यन्त तीव्र वेग से दौड़ती हुई, 'यज्ञ-रक्षा' और 'अहल्या-प्रसंग' में संतुलन का प्रयास करती हुई, 'पुष्पवाटिका' और 'धनुषयज्ञ' प्रसंगों में आनन्दोच्छलित और 'परशुराम-सम्वाद' प्रसंग में आवर्तमयी होती हुई, अन्त में 'विवाह' प्रसंग पर मन्द मन्द लहरों में पर्याप्त विश्राम करती दिखलाई पड़ती है। कवि की वस्तुयोजना में इतिवृत्त, पांडित्य, अलंकरण, रस-विधान, वर्णनात्मकता, नाटकीयता, ज्ञान-प्रसार तथा नीतिधर्म-उपदेश आदि तत्वों का इस प्रकार सामंजस्य किया गया है कि समस्त काव्य एक दृष्टि से देखने पर आदर्श धर्मग्रंथ और दूसरी दृष्टि से देखने पर उत्कृष्ट काव्य प्रतीत होता है।

अयोध्या काण्ड

अयोध्या काण्ड की कथा के मुख्य विषय हैं—राम का निर्वासन, राम की चित्रकूट यात्रा, दशरथ की मृत्यु, भरत का आगमन और भरत की चित्रकूट-यात्रा।

राम का निर्वासन

दोनों काव्यों में वनवास की घटना और उसका कारण एक ही है, परन्तु चरित्र-चित्रण की भिन्नता के कारण वातावरण परिवर्तित दिखलाई पड़ता है। मुख्य अन्तर है दशरथ के चरित्र में। वा० रामायण में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि दशरथ ने कैकेयी के साथ छल किया था और वे राम को कुछ अनुचित एवं असाधारण रीति से यौवराज्य प्रदान करना चाहते थे। मानसकार ने इस स्थिति को बदलने की चेष्टा की है परन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका है।

दोनों काव्यों में अभिषेक का निश्चय और सारी तैयारियाँ एक ही दिन में हो जाती हैं। दोनों में ही यह भारी सूचना कौशल्या, सुमित्रा, लक्ष्मण और सारे ही पुरवासियों को तो मिल जाती है परन्तु कैकेयी को नहीं मिलती और मंथरा को अचानक ही मिलती है तथा उसके द्वारा कैकेयी को प्राप्त होती है। यह स्थिति अस्वाभाविक प्रतीत होती है। वा० रामायण में यह स्थिति स्वाभाविक अर्थात्

१ दे० बुल्के पृष्ठ १४० तथा मैकडानल (सं० सा० इतिहास) पृ० ३०८

यथार्थ मनोवैज्ञानिक रूप में सामने आती है जबकि मानस में पक्षपात और प्रच्छन्नता के साथ।

वाल्मीकि रामायण में दशरथ राम को एकान्त में बुलाकर कहते हैं कि मैं चाहता हूं कि भरत के लौटने से पूर्व ही तुम्हारा अभिषेक हो जाये,[1] मुझे भय है कि इस कार्य में विघ्न न हो, तुम्हारे मित्रों को तुम्हारी रक्षा करनी चाहिये, इत्यादि[2]। कौशल्या भी राम से कहती है कि तुम्हारे वैरी नष्ट हों और तुम मेरे तथा सुमित्रा के इष्टबन्धुओं को प्रसन्न करो।[3] दशरथ के मन में इस कार्य को कर डालने की असाधारण शीघ्रता है। कल ही अभिषेक हो जाना चाहिये, यह बात वा० रामायण मे बार-बार कही गई है (२.४.२, २२, २८ तथा २.५.१० और २. ७.११)। अन्त में चित्रकूट-सभा के अवसर पर राम भरत से स्पष्ट रूप में कह ही देते हैं कि दशरथ ने केकैयी के पिता से उसके पुत्र को ही राज्य देने की प्रतिज्ञा करते हुए, विवाह किया था[4]। इस प्रकार दशरथ का छल और मानवीय दुर्बलता रामायण में स्पष्ट है। आदि काव्य से लेकर आज तक सभी रामकथाओं में इस प्रसंग पर आवरण डालने का प्रयत्न किया गया है। वा० रामायण में यह भी कहा गया है कि शीघ्रता के कारण यह समाचार केकयराज और जनक को नहीं भेजा जा सका (२.१.४८), परन्तु दशरथ के चरित्र की रक्षा के लिये यह पर्याप्त नहीं है। इस विषय में मंथरा की बात ही ठीक प्रतीत होती है कि कैकेयी के साथ राजनैतिक छल किया जा रहा था (२.७.२३–२४)।

यहाँ दशरथ के पक्ष में कुछ प्रश्न उठाये जा सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि यदि दशरथ कैकेयी के पिता से प्रतिज्ञा कर चुके थे तो केकैयी ने वर मांगने के बजाय इस बात का ही स्मरण क्यों नहीं दिलाया अथवा मंथरा ने ही उसे यह सूझ क्यों नहीं दी? राम को भी यह बात विदित हो चुकी थी, अतः चित्रकूट में भरत से कहने की अपेक्षा उन्होंने पहले ही राज्य लेना क्यों स्वीकार किया? बूढ़े सुमंत्र को भी यह बात विदित रही होगी? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए और दशरथ की मनोवृत्ति का यथार्थ विश्लेषण करते हुए वा० रामायण के एक विद्वान अध्येता ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं दीखती। उनके विचार का सारांश इस प्रकार है:—

दशरथ की प्रतिज्ञा का स्मरण दशरथ के अतिरिक्त, किसी को भी नहीं रहा था—कैकेयी, मंथरा, सुमित्रा या केकैयी के पिता तक को। केवल एक व्यक्ति ऐसा था जिसके मनमें वह बात खलबली मचा रही थी,—("Who had uneasy conscience of it") और वह थे दशरथ जिन्होंने भरत की अनुपस्थिति के अवसर का उप-

१. रा० २.४.२५।
२. रा० २.४.२४।
३. रा० २ २.४.३९।
४. रा० २. १०७.३।

योग किया। दूरी के कारण निमन्त्रण न भेज पाना तो एक बहाना मात्र था, वास्तविक बात थी उनकी पूर्वप्रतिज्ञा—("The real reason was the promise")।[1]

आदि काव्य की कथावस्तु की अटूट परम्परा की बात पहले भी कही जा चुकी है और आगे भी इसे देखने के अवसर मिलेंगे। राम के निर्वासन के प्रसंग मे दशरथ का छल (यद्यपि उनसे भक्तों की पूर्ण सहानुभूति हो सकती है) प्रारंभ से ही छिपाया नहीं जा सका है और मानसकार भी इसमे सफल नही हो सका है। ऐसे स्थलों को हम रामकथा की रूढ़ियाँ कह सकते है अर्थात् वाल्मीकि द्वारा विन्यस्त कथा में कुछ ऐसे गुण, दोष और अभाव बद्धमूल थे जो बाद तक अक्षुण्ण बने रहे। इस प्रकार की रूढ़ियां हम और भी देखेंगे और कथा मे ही नहीं, चरित्रचित्रण मे भी पायेंगे।

तुलसी ने इस कथांश मे भावपरिवर्तन करते हुए ऐसा प्रकट किया है कि दशरथ के मन में कोई पूर्व योजना नहीं थी तथा उनके मन में यह विचार अपने श्वेत केश देखकर सहसा ही आया था,[2] उन्होंने केवल असावधानी अथवा पारस्परिक विश्वास के कारण ही यह बात कैकेयी से नही कही थी,[3] वे भरत और राम को अपनी दोनो आंखों के सामान प्रेम करते थे,[4] इत्यादि। एक ओर तो तुलसीदास यह भी दिखलाते है कि राम का अभिषेक एक दिन की ही वार्ता में निश्चय हुआ था और अगले दिन होने वाला था,[5] और दूसरी ओर वे मंथरा से यह भी कहलवाते है कि सारी तैयारियां पन्द्रह दिन पहले से हो रही थी।[6] यदि पन्द्रह दिन पहले से तैयारियाँ हो रही थीं तब तो कैकेयी को सूचना न देने में छल प्रकट ही है और यदि एक दिन मे ही निर्णय हुआ था तो जिस प्रकार कौशल्या और सुमित्रा पर सूचना पहुँची और वे चौक पूरने लगी थीं[7], उसी प्रकार दशरथ की परम प्रिय रानी कैकेयी के पास भी यह सूचना भिजवाई जा सकती थी। स्पष्ट है कि तुलसी ने राजनैतिक कुचक्र को प्रकट करने वाले संकेतों पर चिट चिपका दी है जिसे उखाड़ कर वास्तविक अक्षर पढ़ लेने मे कोई कठिनाई नहीं होती। तुलसीदास के एक सुविज्ञ समालोचक का भी ऐसा ही विचार है—

"मूल चरित्र में जो परिवर्तन करने का उसने प्रयत्न किया है, परन्तु जिसे कलात्मक ढंग से निबाहने में वह असफल रहा है, वह यह है कि आधार-ग्रन्थों मे

१. लेक्चर्स ऑन रामायण, वी० एस० शास्त्री, पृ० १०५।
२. मा० २.२.२।
३. वही, २.३२.२।
४. वही, २.३१.६।
५. वही, २.११.४ तथा २.१५.४।
६. भयउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू।—वही, २.१९.३। 'बरवै रामायण' में 'आठ दिन' कहा है जिससे स्पष्ट है कि मंथरा ने यह बात अपनी ओर से बना कर नहीं कही थी वरन इसमें कुछ तथ्य भी था। ० बरवै राम यण, २.२०
७. मा० २ दो० ७ तथा २.८.३

दशरथ राम को युवराज-पद देने की अपनी महत्त्वाकांक्षा में भरत की ओर से बाधा की आशंका करते है, और इसी कारण, जैसा कि वह राम से स्पष्ट कहते हैं, राजधानी से भरत की अनुपस्थिति में वह अपनी योजना को सफल करने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कवि राम के पिता को आक्षेप से मुक्त करने का प्रयत्न करता है, किंतु इस प्रयास मे वह अपने पाठकों से सत्य को छिपाता, किसी अत्यन्त आवश्यक सूचना को दबाता एव किसी कालिमा के ऊपर सफेदी करता हुआ प्रतीत होता है जब कि वह उन की राम को युवराज-पद देने की अकारण आतुरता का चित्रण करता है।''[1]

राम के वनगमन के प्रसंग में तुलसी की भक्तिभावना ने कुछ और भी सूक्ष्म परिवर्तन किये है। वा० रामायण मे विशेष रूप से दण्डकवन का नाम निर्दिष्ट किया गया है[2], जिससे कैकेयी का विशेष लक्ष्य, अर्थात् राम को अत्यन्त दुर्गम वन में भेजकर उनके लौटने की संभावना समाप्त कर देना, सूचित होता है,[3] परन्तु मानस में विशेष वन का निर्देश नहीं है क्योंकि राम तो देवकार्य के निमित्त और मुनि-मिलन का आनन्द उठाने के लिए वन में जा रहे थे।[4] यद्यपि मानस में भी राम ने सीता से वन की भयकरता का वर्णन किया है परन्तु दोनों काव्यों की वनयात्रा में भेद दिखलाई पडता है। वाल्मीकि रामायण मे राम की वनयात्रा संकट और कष्ट का आभास कराती है जबकि मानस में वह काव्यनायक की आनन्दयात्रा और लोकरक्षा का महान संकल्प है।

दोनों काव्यों में राम के साथ सुमंत्र को इस आशा से भेजा जाता है कि वे चार दिन राम को वन दिखलाकर लौटा लायेंगे, परन्तु वाल्मीकि रामायण में दशरथ उनके साथ बहुत-सी सेना और सम्पत्ति भी भेजकर अयोध्या को सूनी कर डालना चाहते हैं।[5] तुलसी ने न केवल प्रकरण को संक्षिप्त किया है वरन् भगवान राम के लिये वे इन सारे भौतिक उपकरणों की आवश्यकता का ही अनुभव नहीं करते। वाल्मीकि के राम पर्याप्त शस्त्रास्त्र लेकर जाते है,[6] सीता के पास वस्त्राभूपणों की पोटली[7] है और लक्ष्मण खुदाई के लिये खन्ता और फल-संग्रह के लिये पिटक[8] लेकर चलते हैं, जबकि तुलसी के राम के लिये तो केवल तरकस में कुछ बाण और सीता के लिये सामान्य वस्त्राभूपण पर्याप्त हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वासन के प्रसंग में घटनातत्व की समानता होते हुए भी भावनातत्व की भिन्नता के कारण वातावरण बहुत बदला हुआ है।

---

१. तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त, पृ० २६५।
२. रा० २, ११, १६ तथा २.२०.२७ और २८।
३. दे० रामायणांक, कल्याण, जुलाई १६३०, पृ० ४०७।
४. मा० २. दो० ४१।
५. रा० २. ३६।
६. रा० २. ३१.३०-३१।
७ रा० २ ३१ १५ तथा २ ५५ १७-१८
८ रा० २ ३१ २५ तथा ३७ ५

डा० रामरतन भटनागर ने दोनों काव्यों के इस प्रसंग की तुलना करते हुए लिखा है—

"यह स्पष्ट है कि रामायण में एक राजनैतिक कुचक्र चल रहा है जिसका थोड़ा भी आभास तुलसी में नहीं है।"[1] यद्यपि तुलसी इस आभास को मिटाने में सफल नहीं हो सके हैं, जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, पर इससे उनके दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रसंग को लेकर तुलसी के आदर्शवाद और यथार्थवाद की तुलना करते हुए उक्त लेखक का कथन है—

"सच तो यह है कि वनवास-प्रसंग चाहे तुलसी ने कितना ही मनोवैज्ञानिक बना दिया हो, परन्तु उन्होंने उसे कूटनीति पर खड़ा नहीं किया। उन्होंने केवल राजा के व्यथित मन के मनोविज्ञान की तस्वीर उतारी है, राजनीतिक संघर्ष (या षड्यन्त्र) का आभास भी नहीं दिया है। वाल्मीकि का यह प्रसंग अत्यन्त स्वाभाविक, बलवान और स्पष्ट है।"[2]

पहले कहा जा चुका है कि कथा को अक्षुण्ण रखते हुए भी तुलसी ने चरित्र में विशेष परिवर्तन किया है जिसका प्रभाव कथा के वातावरण पर पड़ा है। इस प्रसंग में दशरथ का ही नहीं, प्रायः सभी सम्बन्धित पात्रों का चरित्र-चित्र उन्होंने एक ही आदर्शवादी तूलिका से बदल दिया है।[3] वाल्मीकि रामायण में सुमंत्र, कौशल्या, लक्ष्मण, सीता और स्वयं भगवान राम तथा आगे चलकर भरत भी, क्षुब्ध और अधीर दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु मानस में इस अवसर पर लक्ष्मण तक चू नहीं करते और यह बात उनके शेष चरित्र के साथ मेल नहीं खाती। कैकेयी का चरित्र तो दोनों ही कवियों ने मध्यम अर्थात् गुण-अवगुण दोनों से युक्त दिखलाया है और विशेष रूप से उसका मन मंथरा के द्वारा विपरीत किया जाना दिखलाकर अधिकांश दोष मंथरा के सिर मढ़ा है, परन्तु तुलसी ने मंथरा को भी "गई गिरा मति फेरि"[4] कहकर निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार मानस की कथावस्तु की अवतारवादी भूमिका ने चरित्र-परिवर्तन के माध्यम से इस प्रसंग के बाह्यरूप अर्थात् घटनातत्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसके आन्तरिक पक्ष अर्थात् भावनातत्व को एक विशेष सीमा तक परिवर्तित कर दिया है जिस कारण पुरातन कथा में नूतन भावनायें उत्पन्न हो गई हैं। तुलसी के कथाशिल्प की यही मूलभूत और व्यापक विशेषता है और इसी में उनकी मौलिकता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने कथा का वातावरण बहुत कुछ बदल दिया है।

---

१. तुलसी : एक अध्ययन, पृ० २१८।
२. वही।
३. डा० मा० प्र० गुप्त ने वाल्मीकि और तुलसी के पात्रों में यह मूलभूत अन्तर बतलाया है, — तुलसीदास पृ० २७५-७६
४. मा० २ दो० १२

वा० रामायण के बालकाण्ड मे अनावश्यक कथा-विस्तार हम देख चुके है और उस काण्ड की अप्रामाणिकता के कारण इसे वाल्मीकि के कथाविन्यास की अपटुता नही मानते, परन्तु यही बात जब हम एक सीमा तक अयोध्याकाण्ड में भी देखते है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि तुलसी का काव्य कथासौष्ठव की दृष्टि से वाल्मीकि की रचना की अपेक्षा निश्चय ही श्रेष्ठ है। वाल्मीकि रामायण में इस अवसर पर भी कुछ अन्तर्कथायें और अवान्तर कथाये मिलती है जो मूलकथा के विकास में सहयोगी नही है जैसे राजकुमार असमज[1] और केकैयी की माता की कथा[2] तथा त्रिजट ब्राह्मण का प्रसग[3]। वा० रामायण के ये अंश प्रक्षिप्त भी नही माने गये है[4], अत: आदि कवि की ही कथावस्तु की रचनाशैली के सूचक है। ये प्रसंग एक प्रकार के अवरोधक अंश ही प्रतीत होते है जिनसे उस विशिष्ट वातावरण में विकसित होते हुए मनोभाव में थोडा विक्षेप ही होता है। मानस में इस अवसर पर भी सम्वादशैली के द्वारा नाटकीय ढंग से सम्पूर्ण प्रसग को विशिष्ट रसात्मकता प्रदान की गई है और कथा-सौष्ठव भी उसमे अधिक दिखलाई पड़ता है।

इससे सिद्ध होता है कि तुलसी ने कथांशों में भावपरिवर्तन या भावोत्कर्ष करने के साथ ही कथाशिल्प मे भी निजी कुशलता प्रकट की है और कथावस्तु को अधिक सुसघटित बनाया है।

राम की चित्रकूट यात्रा

दोनों ही काव्यों में पुरवासी तमसा-तट तक अपने प्रिय युवराज के पीछे-पीछे जाते हैं। वा० रामायण में दशरथ और उनके साथ तीनों रानियां भी कुछ दूर तक राम के पीछे दौड़ती हैं[5]। यह दृश्य मार्मिक है, परन्तु तुलसी की भक्तिभावना अपने आराध्य के जननी-जनक की ऐसी करुण दुर्गति का दर्शन सहन नहीं कर सकती। यह उनके काव्य मे परिव्याप्त मर्यादा भावना के भी प्रतिकूल था। इससे कथानिरूपण मे दोनों कवियों की यथार्थ और आदर्शवादी भावना का भी सूक्ष्म भेद लक्षित होता है।

घटनातत्व का पूर्ण सादृश्य इस बात से प्रकट होता है कि कथाक्रम एक समान है अर्थात् दोनों काव्यों मे राम की यात्रा के विश्रामस्थल एक समान हैं—तमसा, शृंगवेरपुर, गंगा, भरद्वाज-आश्रम, यमुना, वाल्मीकि-आश्रम और चित्रकूट। दोनों में सीता निर्विघ्न यात्रा के लिये गंगा से मनौती करती है[6], वा० रामायण में यह मनौती यमुना से भी की गई है[7]। वा० रामायण में बास का बेड़ा बना कर यमुना पार की गई है[8]

१. रा० २.३६।
२. रा० २.३५।
३. रा० २.३२।
४. दे० बुल्के, पृ० २१०–११।
५. रा० २.४०.२८।
६. रा० २.५२.८२–९० तथा मा० २.१०३।
७ रा० २ ५५ २०
८ रा० २ ५५

यह बात मानस में नहीं है, जिससे कथासंक्षेप के अतिरिक्त कथातत्व के प्रति भी तुलसी के दृष्टिकोण का पता चलता है। वे कथा में अनावश्यक स्थूल तत्वों की भरती नहीं करते अर्थात् राम के भगवान होने के कारण छोटी छोटी बातों का ब्योरा देना पसन्द नहीं करते। इससे काव्य में चित्रात्मकता की क्षति तो हुई है परन्तु कथा-सौष्ठव में सहायता भी मिली है। पहले कहा जा चुका है कि वा० रामायण में राम की वन-यात्रा कष्टों, संघर्षों और स्वावलम्बन के चित्रों से भरपूर है जब कि मानस में वह एक सहज सी घटना है, काव्यनायक की लीलामात्र है। अपने हाथों से बेड़ा बना कर यमुना पार करते हुए यात्रियों की कठिनाइयाँ और बनवास के जीवन का हम सही सही अनुमान वा० रामायण में कर सकते है, परन्तु जहां यात्रियों के लिये बादल छाया कर देते हैं और नदियाँ मार्ग दे देती हैं[1] वहां तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता।

मानसकार ने एक ओर कुछ स्थूल अर्थात् भौतिक जीवन से सम्बन्धित कथांशों में कटौती की है, जो उसकी भक्तिभावना के प्रसार में सहायक नहीं थे, तो दूसरी ओर कुछ कथांशों में वृद्धि भी की है जो उसकी भक्ति के उत्कर्ष में सहायक थे। शृंगवेरपुर के स्त्रीपुरुषों के भावोद्गार[2], निषाद का चरण-प्रक्षालन[3] और तापस से भेंट[4], ऐसे ही प्रसंग हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्धकार कवि की भावुकता की यह पहिचान बतलाई है कि वह मर्मस्पर्शी कथा-प्रसंगों का ठीक-ठीक चुनाव कर सके[5]। राम का वनगमन एक ऐसा ही मार्मिक प्रसंग है जिसकी मार्मिकता शृंगवेरपुर के स्त्रीपुरुषों की भावमयी वार्ताओं द्वारा व्यंजित करने में तुलसी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। यही उनका कथानैपुण्य, मौलिकता और कवित्व के साथ भक्ति का सम्मिश्रण करने की कलात्मक पद्धति है। वाल्मीकि के समान राम के बनवास की कष्टसहिष्णुता के चित्र, तप और साधना के विवरण, उन्होंने नहीं प्रस्तुत किये हैं पर इस घटना के प्रति लोकहृदय की करुण समवेदना-सरिता प्रवाहित होती हुई दिखलाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रक्खी है। "ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठये बन बालक ऐसे"[6] जैसे उद्‌गार राम के बनवास-प्रसंग की अन्तरात्मा की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हैं। दोनों ही कवि महाकवि हैं परन्तु व्यक्तित्व में अन्तर है। एक की भावधारा यथार्थ लौकिक धरातल पर अधिक प्रवाहित होती है तो दूसरे की सूक्ष्म आदर्शात्मक प्रसंगों की खोज करती हुई और उन्हें भक्तिभाव से सींचती हुई चलती है। तुलसी ने यद्यपि नवीन प्रसंगों की योजना अधिक नहीं की है परन्तु प्राप्त प्रसंगों की मार्मिक उद्‌भावना करने में वे अत्यन्त निपुण हैं[7]।

१. मा० ३.७.३—४।
२. मा० २.११४—११६।
३. वही, १००—१०२।
४. वही, ११०.७—१११.६।
५. दे० गो० तुलसीदास, पृ० ८८।
६. मा० २.८८.२।
७ दे० हिन्दी सा० इति० रा० शुक्ल १० वाँ० संस्करण, पृ० १४३ ४४

यह मार्मिक उद्भावना उन 'प्राप्त प्रसंगों' को नवीन वातावरण प्रदान करने में लक्षित होती है।

निषाद का चरणप्रक्षालन-प्रसंग वा० रामायण में नहीं है। उसमें केवल दशरथ का मित्र निषादराज है, जो सत्कार, शिष्टाचार, और श्रद्धा से पूर्ण है, परन्तु मानस में राजकीय मित्र निषादराज के अतिरिक्त एक भावुक भक्त, दीन केवट[1] भी है जिसका अपनी 'तरणी का मोह' 'घरनी का भय' और 'चरणप्रक्षालन का लोभ' तथा अधीरता और आकांक्षा राम के वनवास-प्रसंग मे सचमुच ही आनन्दोल्लास का संचार कर देती है और जंगल मे मंगल छा जाता है। शृंगवेरपुर के निवासियों की करुण वार्ता भावुक भक्त की विनोदमयी वार्ता में संगमित हो कर करुण रस को भक्ति रस की ओर उकसा देती है। यह प्रसंग मानसकार ने अध्यात्म रामायण से[2] प्राप्त किया है परन्तु स्थानान्तरण के द्वारा उसने इसकी उपयोगिता बढ़ा दी है। अध्यात्म रामायण मे, मिथिला की यात्रा के कथाक्रम में, यह प्रसंग अनचीह्ना पड़ा हुआ था, चित्रकूट की यात्रा के क्रम में उपस्थित होने पर इसका भावपूर्ण चमत्कार जागृत हो उठा है। डा० बुल्के ने कदाचित् तुलसी की भक्तिपरक कथायोजना और काव्ययोजना की ओर विशेष ध्यान न देने के कारण ही अध्यात्म रामायण के कथाक्रम को, इस प्रसंग के सम्बन्ध में, अधिक स्वाभाविक माना है और तुलसी को कथापरिवर्तन में किसी कुशलता का श्रेय नही दिया है।[3]

तापस-भेंट का प्रसंग मानस में सर्वथा मौलिक है। कथा या काव्य की दृष्टि से इसका कोई उपयोग नहीं है, अतः इस वृद्धि के लिये तुलसी को कोई श्रेय नहीं दिया जा सकता। राम ने अनेक ऋषि-मुनियों से भेंट की है, फिर इस नाम-ग्राम-हीन तापस को लाने की क्या आवश्यकता थी? यह तापस कौन है? कहाँ से आता है? कहाँ जाता है? आदि प्रश्नों का मानस की कथा से कोई उत्तर नहीं मिलता और विविध प्रकार की अटकलें इस विषय में लगाई गई हैं, परन्तु 'क्यों आता है' यह बात अवश्य विदित है। इसका कुछ उत्तर मिल जाता है। आचार्य शुक्ल जी भी इस बात से सहमत है कि यह तापस स्वयं तुलसीदास हैं और कथाक्रम में काव्यनायक को अपने जन्मस्थान के पास से निकलते हुए देख कर इस रहस्यमय ढग से उनका काल्पनिक दर्शन कर लेने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं।[4] कुछ अन्य विद्वानों तथा टीकाकारों का भी ऐसा ही विचार है।[5] अपनी काव्य-कथा में स्वयं उपस्थित हो कर पात्रों की पाँत मे बैठने की यह पद्धति अनोखी है और तुलसी के भक्तहृदय की देन है। भक्त लोग अपने आराध्य के साथ जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध मानते हैं और इस प्रकार कथा प्रसंग के

१. मा० २.१०० ।

२. दे० बालकाण्ड, सर्ग ६ ।

३. दे० रामकथा, पृ० ३१२ ।

४. दे० हिं० सा० इति० १० वां संस्करण, पृ० १३१ ।

५. दे० मानस रहस्य दीन पृ० २६२ ६३ तथा विश्वानद त्रिपाठी कृत मानस-टीका द्वितीय भाग पृ० १६२

भीतर गुप्त या प्रकट रूप में अपने आप को उपस्थित करते हैं। सूरदास ने भी ऐसा ही किया है।[1]

राम की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंगों में वाल्मीकि से भेद दोनों काव्यों में दिखलाई गई है[2], परन्तु वा० रामायण का यह प्रसंग निर्विवाद रूप से प्रक्षिप्त है, क्योंकि अत्यंत संक्षिप्त और केवल उल्लेखात्मक होने के अतिरिक्त, यह कथा से विच्छिन्न भी है। मानस में उसका उपयोग इस रूप में किया गया है कि वाल्मीकि ही राम को चित्रकूट-निवास का परामर्श देते हैं,[3] जबकि वा० रामायण में यह परामर्श पहले ही भरद्वाज द्वारा दिया जा चुका है।[4] तुलसी ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह वाल्मीकि, रामायण के प्रणेता वाल्मीकि ही हैं। उन्होंने उनके मुख से राम के निवास के लिये भावमय भवनों की तालिका अवश्य प्रस्तुत कराई है जिसमें उनकी भक्ति के साथ ही कवित्व और कल्पनाशक्ति भी प्रकट होती है।

राम की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग में तुलसी के वस्तु-विधान की एक प्रवृत्ति उल्लेखनीय है। उन्होंने कथा के बीच-बीच नैतिक और दार्शनिक उपदेशों की शृंखलायें जोड़ी हैं जो कि काव्य-कला की दृष्टि से अनुपयुक्त प्रतीत होती हैं, परन्तु भक्ति रस में सहायक हैं। तुलसी की कुशलता यह है कि अवसर के अनुकूल ही उन्होंने ऐसे प्रसंगों की योजना की है। उदाहरण के लिए रात्रि के समय जब शृंगवेरपुर में एक वृक्ष के नीचे राम और सीता विश्राम करने लगते हैं तब निषाद और लक्ष्मण में वार्तालाप होता है। दोनों ही काव्यों में यह प्रसंग है।[5] रात्रि की नीरवता को दूर करने के लिए दो प्रहरियों का इस प्रकार वार्तालाप करने लगना स्वाभाविक ही है, और यह भी स्वाभाविक है कि ऐसे प्रशान्त समय में वन के मध्य वे ज्ञान की ही चर्चा करें। इस अवसर पर तुलसी ने रात्रि की शान्ति और निषाद के विषाद को देखते हुए लक्ष्मण से जो गीता-उपदेश कराया है वह संक्षिप्त होने के कारण कथावस्तु में सहज रूप से रम गया है। हम आगे भी देखेंगे कि तुलसी ने इसी प्रकार उपयुक्त पात्र और परिस्थिति को देखकर ही ज्ञान-चर्चा छेड़ी है जिससे कथावस्तु में असंगति और विषयान्तर दोष प्रायः नहीं आने पाया है। तुलना की दृष्टि से ध्यान देने की एक बात यह भी है कि इसकी प्रेरणा तुलसी को मूल कथावस्तु से अर्थात् आदि रामायण की कथा से ही मिली है क्योंकि उसमें भी निषाद के संताप की चर्चा है।[6] तुलसी ने उसी 'प्राप्त प्रसंग' में नवीन भावना का सन्निवेश कर दिया है। इसमें उनकी कल्पना-प्रवणता और सूझ भी प्रकट होती है।

---

१. दे०, टिप्पणी ४, पृ० ४८।

२. रा० २.५६, १६-१८ तथा मा० २.१२४।

३. मा० २.१३२।

४. रा० २.५४।

५. रा० २.५१ तथा मा० २.६३

६. रा० २.५१।

दशरथ-मरण

दशरथ-मरण के प्रसंग को दोनों ही कवियों ने अपने-अपने ढंग से कारुणिक और मार्मिक बनाया है। दोनों में ही महाराज दशरथ कौशल्या के ही भवन में प्राण-परित्याग करते हैं परन्तु कौशल्या के चरित्रचित्रण में मूलभूत अन्तर है। वा० रामायण की कौशल्या वनवास-प्रसंग से लेकर दशरथ के मरण पर्यन्त उग्र है[1] और केवल मरण के समय दशरथ के गिड़गिड़ाने पर ही अपने उपालंभ और व्यंग के बाणों को कम करती है[2], जब कि मानस की कौशल्या प्रारंभ से ही प्रशान्त और राम के जननीत्व के अनुरूप गंभीर एवं संयत है। इस प्रकार यहां भी चरित्रपरिवर्तन के कारण कथा प्रसंग का वातावरण बदला हुआ दिखलाई पड़ता है। वा० रामायण के दशरथ-मरण में घनीभूत असह्य विषाद है, जब कि मानस में एक प्रकार की शान्ति है। आदि काव्य की कौशल्या दुःख में अचेत अथवा निद्रित पड़ी हुई है, जब कि मानस की कौशल्या धैर्य के साथ महाविपद् को समीप आते देख रही है :—

कौसल्या नृपु दीख मलाना। रविकुल रवि अथयउ जिय जाना॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥ (२.१५४.३-४)

वाल्मीकि के वस्तुविन्यास में प्रासंगिक कथाओं के विस्तार की शैली विशेष रूप से प्रक्षिप्त अंशों में ही अधिक है, परन्तु वह आदिकाव्य और आदिकवि की भी प्रवृत्ति थी इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस प्रकरण में मरणोन्मुख दशरथ ने श्रवण-प्रसंग कौशल्या को दोनों ही काव्यों में सुनाया है परन्तु मानस में वह एक पंक्ति की अन्तर्कथा के रूप में है[3] जब कि रामायण में दो सर्गों के अवान्तर प्रसंग के रूप में।[4]

श्रवणकुमार-प्रसंग से यह भी पता चलता है कि शाप-वरदान की कथानक-रूढ़ियां आदिकाव्य से ही चली आ रही थीं, उन्हें पुराण एवं पौराणिक काव्यों की ही शैलीगत विशेषता नहीं कहा जा सकता। अथवा यह भी कह सकते है कि पौराणिक महाकाव्यों की अनेक प्रवृत्तियाँ वा० रामायण से ही आरम्भ हो चुकी थी।

भरत की चित्रकूट यात्रा

भरत का अयोध्या आना, कैकेयी की भर्त्सना करना, शत्रुघ्न द्वारा मन्थरा की दुर्गति की जाना, कौशल्या के सामने भरत का शपथ खा कर अपने को निर्दोष सिद्ध करना, चित्रकूट को प्रस्थान, गुह की शंका, भरद्वाज की पहुनाई, लक्ष्मण का विभ्रम और उग्र कोप तथा भ्रातृमिलन आदि प्रसंग दोनों काव्यों मे एक समान हैं। फिर भी मानसकार ने तूलिका यहाँ हल्की और वहां गहरी चलाकर चित्रों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाने में कमी नहीं की है। भरत के विषय मे निषादराज गुह की शंका का

---

१. रा० २.६१.१० तथा २५-२६।
२. २-६२-६-१२।
३. मा० २.१५५.५
४. रा० २.६३.११ — २.६४.५

निवारण एक छींक और वृद्ध के परामर्श द्वारा हुआ है,[1] भरद्वाज की पहुनाई का चित्र वा० रामायण में विस्तृत है मानस मे संक्षिप्त, और भरत की यात्रा की तैयारी भी एक में राजकीय सम्भार से परिपूर्ण है[2] जब कि दूसरे में तपस्वी अग्रज के तपस्वी अनुज के आचरण के अनुरूप सरल और निराडम्बर है।

इस यात्रा मे भी आदिकाव्य द्वारा प्रवर्तित सूक्ष्मतम कथाओं की परम्परा की निश्चलता का बोध राम को विश्राम प्रदान करने वाले इंगुदी या शिंशुपा तरु के रूप मे होता है। दोनों ही काव्यों में राम निषादनगरी के समीप एक रात्रि को एक वृक्ष-विशेष के नीचे विश्राम करते है, सीता के आभरण-कण वहां पड़े रह जाते है, और भरत अपने भ्राता एवं भ्रातृजाया को स्मृति तथा उनके वनवास-क्लेश में अपने दायित्व के पुनर्भान से व्याकुल हो उठते है।[3] इतनी अक्षय होती है महाकाव्यों की भावरूढ़ियां!! यह प्रसग एक अति सामान्य घटना होकर भी दोनों काव्यों मे अक्षुण्ण बना हुआ है।

इस प्रसंग में तुलसी की मौलिकता चित्रकूट-सभा की योजना मे पूर्ण प्रभाव और शक्ति के साथ प्रकट हुई है, परन्तु उसका भी श्रेय तुलसी की चरित्रकल्पना को ही है। वा० रामायण के भरत सत्याग्रह करते है, अनशन करते हैं,[4] परन्तु मानस मे वे सब कुछ राम की इच्छा और आदेश पर छोड़ देते हैं[5] तथा राम के धर्मपालन में सहायक होते हुए स्वयं भी धर्मपथ पर अडिग रहते हैं। राम के निर्गमन के प्रकरण की तुलना करते समय कहा जा चुका है कि वाल्मीकि के आवेशवादी पात्र मानस में संयत बना दिये गये हैं, तुलसी ने उनकी उग्रता को छांट कर उन्हें सौम्य रूप मे ग्रहण किया है। अतः मानस के भरत का अधिक आग्रह राम को लौटा ले जाने का नहीं है, उनका विशेष प्रयत्न तो आत्मग्लानि दूर करने और धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने का है। वे बहुत कम बोलते हैं, सुनते अधिक हैं और राम के सांकेतिक शब्दों से ही धर्म का सच्चा स्वरूप समझ कर अयोध्या को लौट जाना और राम की थाती को सम्हाल कर रखना अपना कर्तव्य समझते हैं। उनका उद्देश्य था राम को राज्य प्रदान कर देना, अतः वे सारी अभिषेक-सामग्री लेकर चित्रकूट पहुँचे थे। वह अभिषेक-सामग्री एक कूप में रख दी गई,[6] यह भरत-कूप की कल्पना तुलसी की देन है। इस प्रकार राम का राज्य राम को सौंप कर, आत्मग्लानि और "आपन कदराई" दूर करके, मानस के भरत, पूर्ण प्रसन्नता के साथ अयोध्या लौटते हैं और नन्दिग्राम के तपस्वी बन कर रहने लगते हैं।

कथातत्त्व की दृष्टि से तुलसी ने इस प्रसंग मे दो बातें जोड़ी हैं—देवकुचाल

---

१. मा० २.१६२।
२. रा० २.८०।
३. रा० २.८८ तथा मा० २.१९८।
४. रा० २.१११।
५. मा० २.३०१.४—(अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥)
६. वही दो० ३०६

और जनक-आगमन। देवगण राम के अयोध्या लौट जाने की आशंका से भरत की बुद्धि को ही पलट देने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह टेढ़ी खीर थी, जिसमें न उन्हे सरस्वती का सहयोग मिलता है और न किसी और का, उल्टे देवगुरु और सरस्वती की फटकार ही उन्हें मिलती है।[1] इससे भी तुलसी को भरत का चरित्र-गौरव बढाने मे सहायता मिली है, साथ ही काव्य की प्रस्तावना में स्थापित अवतारवादी भूमिका का प्रसार करते हुए उन्होंने उद्देश्यानुरूप प्रबन्धविस्तार में अपनी संदर्भणकला का परिचय दिया है।

जनक-आगमन का प्रसंग श्रवण-रामायण में पाया जाता है।[2] संभव है तुलसी को वही से प्राप्त हुआ हो, परन्तु मानस-कथा में उन्होंने इसे निपुणता के साथ सन्निविष्ट किया है। मानस में एक ओर कथा का संक्षेपण है तो दूसरी ओर चरित्र-तत्व का विस्तार। मूल रामायण में जनक थे ही नहीं, प्रचलित रामायण के जनक से हमारा पूर्ण परिचय नहीं होता, परन्तु मानस के जनक धनुष यज्ञ में हमारा ध्यान आकृष्ट करके चित्रकूट-सभा में अपने गौरवपूर्ण व्यक्तित्व का यथेष्ट परिचय देते है और उनके साथ ही उनकी सहधर्मिणी सुनयना की भी शालीन-गम्भीर झांकी[3] दिखला कर तुलसीदास अपने आराध्ययुगल के जननी-जनक के प्रति अपनी श्रद्धांजलि पूरी कर देते है। इस प्रसंग से और भी स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने कथा की कटौती करके चरित-तत्व का विस्तार किया है और उनका ध्यान रामकथा से अधिक रामचरित पर था।

काण्ड का अन्त

काण्ड के अन्त में मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वा० रामायण मे राम भरत के जाने के बाद, अयोध्यावासियों के बार-बार आने के भय और आश्रम मे कुछ नागरिक मलिनता आ जाने के कारण, चित्रकूट का परित्याग कर देते हैं और अत्रि से भेंट करते हुए दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं। मानस मे काण्ड की समाप्ति भरत के नन्दिग्राम-निवास की झांकी से हुई है जिससे रामकथा के मंच पर एक ओर एक भाई वन में तप करता हुआ दिखलाई पड़ता है और दूसरी ओर दूसरा नगर मे तप करता हुआ। एक पिता के आज्ञापालन का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है तो दूसरा 'पितुसरिस' अग्रज के आज्ञापालन का। इससे स्पष्ट है कि मानस में अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्ध के नायक भरत है[4]। पूर्वार्ध में वे नेपथ्य के पीछे रहे है और उत्तरार्ध मे रंगशीर्ष पर। यह स्थिति तभी सिद्ध हो सकती थी जब भरत-चरित के साथ,—उनके तप-त्याग की भव्य झांकी के साथ,—काण्ड की समाप्ति की जाती। अतः तुलसी ने ऐसा सोद्देश्य किया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि मानस के अयोध्या-

१. मा० ३.२६५ तथा २९५।

२. दे० बुल्के, १७८।

3 मा० २ २८१।

४ दे० तुलसीदास मा० प्र० गुप्त पृ० २९०

काण्ड का उत्तरार्ध भरत-चरित के रूप में एक खण्ड काव्य जैसा बन गया है।[1] एक श्रेष्ठ महाकाव्य की एक विशेषता यह भी होती है कि वह अनेक भावी प्रबन्धकाव्यों (महाकाव्य तथा खण्डकाव्य) का उद्गम-स्थल बन जाता है। वा० रामायण के समान मानस में भी यह विशेषता है और उसने हिन्दी के परवर्ती साहित्य को अनेक काव्य प्रदान किये हैं।[2]

कथाक्रम की दृष्टि से भी यह विभाजन उचित प्रतीत होता है। भरत का अयोध्या लौट जाना कथा का एक निश्चित विराम है जिस पर काण्ड की समाप्ति मनोवैज्ञानिक रूप तथा शिल्पसौकर्य की भी दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। काण्ड के नाम को देखते हुए भी इस घटना पर ही समाप्ति ठीक है, क्योंकि भरत के अयोध्या लौटने पर अयोध्याकाण्ड की समाप्ति सूचित होती है और राम के दण्डकवन-प्रस्थान से अरण्यकाण्ड का आरंभ। अतः कथाकार, अर्थात् मनोवैज्ञानिक आधार पर कथा का विभाजन करने की सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले कलाकार के रूप में भी तुलसी की दक्षता यहाँ प्रकट होती है। वा० रामायण के वर्तमान रूप में काण्ड और सर्गों का विभाजन वाल्मीकि का किया हुआ है अथवा नहीं,[3] यह प्रश्न भिन्न है, परन्तु यहाँ द्रष्टव्य यह है कि तुलसी ने परम्परागत कथावस्तु पर अपने उद्देश्य, रुचि और कलात्मक दृष्टि की छाप लगाई है।

अयोध्याकाण्ड की कथावस्तु की तुलना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं :—

१. कथानक को अधिकांशतः अक्षुण्ण रखते हुए भी तुलसी ने उसके कथांशों में भावात्मक परिवर्तन अवश्य किये हैं जो अधिकांशतः भक्ति के प्रसार में सहायक हुए हैं तथा कुछ में भक्ति से इतर भावों की व्यंजना भी हुई है। चित्रकूट की सभायोजना में कोई घटनात्मक परिवर्तन नहीं किया गया है परन्तु आदर्शात्मक दृष्टि से उसमें भी पर्याप्त संशोधन किया गया है। इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का विचार दर्शनीय है, जो कि तुलसी के काव्यकौशल का ज्ञापक है—"रामचरितमानस में यह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी" (गो० तुलसीदास, पृ० ६१)।

२. कथा की अपेक्षा चरित्र-विधान में तुलसी की मौलिकता अधिक और स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। उन्होंने कथात्मक अर्थात् घटनात्मक और भावात्मक परिवर्तन भी चरित्रात्मक परिवर्तन के निमित्त किये हैं। अयोध्याकाण्ड में उन्होंने भरत के चरित्र को अपनी आदर्शात्मक दृष्टि से नवनिर्मित किया है।

३. कथासौष्ठव की ओर उनका पूरा-पूरा ध्यान है, वे वाल्मीकि के समान अवान्तर प्रसंगों के विस्तार में नहीं उलझे, —जैसे श्रवणकुमार का प्रसंग।

१. [illegible] अयोध्या, [illegible], पृ० [illegible]।

२. [illegible] मिश्र का [illegible] का 'भरत' [illegible] और डा० रामकुमार वर्मा का [illegible] 'भरत'।

३. [illegible] ने [illegible] का समर्थन किया है कि मूल रामायण में [illegible]

[illegible]

[illegible] में रामकथा [illegible]

४. अपने ग्रंथ की प्रस्तावना और मूल उद्देश्य अर्थात् अवतार-भावना को उन्होने कही विस्मृत नही किया है और नवीन कथातत्व या भावतत्वों का योग उन्होंने इसी दृष्टि से किया है,—जैसे चित्रकूट-सभा के अवसर पर देवगण और देवगुरु-सम्वाद के प्रसंग।

५. आदिकाव्य के कुछ सूक्ष्मतम कथांश सहस्रों वर्षो के बाद भी मानस मे अपनी पूर्ण सजीवता एवं मार्मिकता के साथ जीवित बने रहे हैं,—जैसे इगुदी तरु का प्रसग।

६. रामायण की अपेक्षा मानस के अयोध्याकाण्ड की भिन्न कथांश पर समाप्ति, तुलसी के वस्तुविन्यास की मौलिकता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म और कलात्मक निपुणता को सूचित करती है। भरत के अयोध्या लौटने और नन्दिग्राम में निवास करने के कथा-प्रसग पर काण्ड की समाप्ति वा० रामायण की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और कलात्मक प्रतीत होती है। काण्ड के नाम के अनुरूप भी यही उचित है।

७. वा० रामायण के कुछ मूक पात्रों को मानस में वाणी मिली है,—जैसे जनक और सुनयना, और इस प्रकार पात्र-विस्तार के लिये तुलसी को प्रायः कथा-विस्तार भी करना पड़ा है।

८. कथाकार के रूप में तुलसी की मौलिकता इस रूप में भी दिखलाई पडती है कि यद्यपि उन्होंने नवीन प्रसंगो की योजना अधिक नही की, परन्तु प्राप्त प्रसगो की मार्मिक उद्‌भावना करने में वे अत्यन्त निपुण है,—जैसे राम की वनयात्रा के प्रसंग मे शृंगवेरपुर के नरनारियों की वार्ता।

अरण्यकाण्ड

प्रस्तुत काण्ड के विचारणीय प्रकरण हैं—काण्ड का आरभ, काक-प्रसग, विराध-बध, मुनि-मिलन, पंचवटी-निवास, सीता-हरण, शबरी-भेंट और काण्ड का अन्त।

काण्ड का आरंभ—

इस आरंभिक अश में तुलसी ने काफी परिवर्तन किया है। वाल्मीकि रामायण मे अयोध्याकाण्ड के अंतर्गत ही राम को दण्डकवन की ओर प्रस्थित होते हुए दिखलाया गया है जबकि मानसकार ने अरण्यकाण्ड के अंतर्गत ऐसा किया है। मानस की कथा के अनुसार राम का वन में आने का उद्देश्य मुनि-मिलन भी है, अतः अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण तथा अगस्त्य आदि ऋषिप्रवरों से भेट का क्रम अरण्य-काण्ड की कथा मे समाविष्ट किया जाना ही उचित प्रतीत होता है।

मानस में अरण्यकाण्ड का आरंभ तुलसी की पूर्वकथित कथारंभ की शैली "एक बार" से होता है।[1] कवि ने राम और सीता के विहार की[2] एक हल्की सी झाकी इस स्थल पर दी है जो कि वा० रामायण में भरत के आगमन से पूर्व मिलती

---

१ एक बार चुनि कुसुम सुहाये मा १

२ मा० ३ १ ४

है।[1] यह स्थानान्तरण वा० रामायण की कथा के सूक्ष्म खण्डों को भी कहीं न कहीं समाविष्ट कर लेने का लोभ ही प्रकट करता है, अन्यथा इतने संक्षिप्त प्रसंग द्वारा कथाविन्यास या वातावरण की सृष्टि में कोई विशेष सहयोग नहीं मिलता। वर्णन इतना संक्षिप्त है कि उससे भाव का स्फुरण तक नहीं हो पाता और शृंगार-परक प्रसंग होने के कारण तुलसी की पूज्यभावना उसका अधिक विकास भी नहीं करना चाहती। आगे 'रस' प्रकरण के अन्तर्गत शृंगार रस के विवेचन में हम देखेंगे कि तुलसी ने भक्ति भावना के कारण संयोग शृंगार के चित्र नाममात्र को दिये हैं, परन्तु पूर्वराग (अयोग) और विप्रलंभ (वियोग) शृंगार के चित्रों को अवश्य विशद रूप में प्रकट किया है। तुलसी की कथावस्तु की यह विशेषता अर्थात् शृंगारपरक कथांशों की विशेष काट-छाँट ध्यान देने योग्य है। इससे कथावस्तु के आनुषंगिक भावात्मक अंशों का उनकी भक्तिभावना से अनुशासित रहना सिद्ध होता है।

काक-प्रसंग

काक (मानस में इन्द्र-पुत्र जयन्त) का प्रसंग वा० रामायण में अयोध्याकाण्ड के प्रक्षिप्तांशों के अन्तर्गत माना जाता है[2] परन्तु आगे सुन्दर काण्ड में इसकी चर्चा सीता-हनुमत्सम्वाद में दोनों काव्यों में की गई है।[3] इससे प्रकट होता कि मूल रामायण में भी यह कथांश रहा होगा, यद्यपि संक्षिप्त रूप में। गौडीय और पश्चिमोत्तरीय संस्करणों में भी इसका होना यही सिद्ध करता है।[4] यह घटना दोनों काव्यों में राम के चित्रकूट-निवास के समय ही दिखलाई गई है, मानसकार ने केवल घटना के क्रम में परिवर्तन कर दिया है। दोनों काव्यों में इसका उद्देश्य राम-बाण की महिमा को प्रकट करना है, विशेष कर ऐसे अवसर पर जब कि वीर पुरुष की भार्या का अपमान किया गया हो, और उसमें भी ऐसे अवसर पर जब कि वे आनन्द-विहार में मग्न हों। मानस में इस अवसर पर राम के विराट् प्रताप के अतिरिक्त उनकी विश्वव्यापी भक्तवत्सलता का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है।[5] करुणा और क्रोध (अथवा शौर्य) की ऐसी योजना राम के चरित्र में मानस की कथा के अंतर्गत सर्वत्र की गई है।

विराध-वध

विराध-वध का प्रकरण भी डा० जाकोबी ने प्रक्षिप्तांशों में गिना है[6] परन्तु उसकी अपेक्षा यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि वा० रामायण में यह

१. रा० २.९५.१३-१४।
२. दे० बुल्के पृ० ३१७।
३. रा० ५.३८, मा० ५.२७.५।
४ गौ० रा० २.१०५ तथा प० रा० २.१०६।
५ मा० ३ दो० २
६ दे० बुल्के पृ० ३३०

कथांश संक्षिप्ततर रूप में रहा होगा जिसमें विराध के राम-लक्ष्मण के सामने से सीता को उठा कर ले भागने की घटना और उसके गाड़े जाने आदि का प्रसंग नहीं रहा होगा। मानस के प्रक्षिप्तांशों में भी यह प्रसंग वा० रामायण के समान ही कुछ विस्तृत रूप में मिलता है[1] परन्तु संशोधित एवं अधिक प्रामाणिक संस्करणों में इस प्रसंग का उल्लेख केवल दो पक्तियों मे हुआ है[2]।

मुनि-मिलन

मुनि-मिलन का क्रम दोनो काव्यों मे एक समान है—अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य। इससे पुनः मूलकथा की अक्षुण्णता सूचित होती है। वा० रामायण में मुनि-मिलन को एक प्रकार के कूटनीतिक सगठन का स्वरूप दिया गया है जो कि अगस्त्य द्वारा उनको शस्त्रास्त्र भेंट किये जाने के प्रसंग से और भी स्पष्ट हो जाता है[3], परन्तु मानस के भगवान राम की अलौकिक शक्ति को किसी सहायता या संगठन की आवश्यकता ही नहीं। इस प्रसंग में कवि ने जिस सूक्ष्मता के साथ परिवर्तन किया है वह देखने योग्य है। राम अगस्त्य से "मुनि द्रोही-मारन-मंत्र" पूछते है, जिस पर अगस्त्य मुस्करा उठते है और केवल भक्ति परक उत्तर देकर रह जाते है[4]। दोनों ही काव्यो मे राम का अगस्त्य के परामर्श से ही राक्षस-राज्य के प्रवेशद्वार पंचवटी पर रहने का निश्चय करना दिखलाया गया है। इस प्रकार परम्परागत राम कथा मे बने हुए राजनैतिक और ऐतिहासिक चिह्न मिटाये नही जा सके है। दोनो काव्यों मे मुनिगण को आश्वस्त करते हुये राम राक्षसवध की प्रतिज्ञा करते हैं, परन्तु मानसकार की भक्तिभावना ने इसके लिये एक लघु करुण प्रसग की कल्पना कर डाली है—

> अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
> निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये॥
>
> × × ×
>
> निसिचर हीन करउं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
> सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥ (३.९)

कथाक्रम के विचार से यह तुलनीय है कि दोनों ही काव्यों मे शरभग-आश्रम से विदा होने के बाद यह प्रतिज्ञा की गई है। भावात्मकता की दृष्टि से भी यह बात देखने योग्य है कि दोनों काव्यों में ऋषिमुनियों का भक्ति-भाव दर्शाया गया है, यद्यपि मानस मे ऐसे प्रसंग अधिक भक्ति रस से पूर्ण हैं। तीनों पथिकों की गति का चित्र भी दोनों काव्यों में तुलनीय है—

> (अ) अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा।
> पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह॥ (३.११.१)

---

१. दे० ना० प्र० सभा संस्करण।
२. मा० ३.७६-७।
३. रा० ३ १२
४ मा० ३

(आ) आगे राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछे।
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्मजीव बिच माया जैसी ॥ (३.७ २)

पंचवटी-निवास

दोनों काव्यों में पंचवटी-निवास का परामर्श अगस्त्य द्वारा ही दिया गया है और इस प्रकार विश्वामित्र के समान यह दूसरे ऋषि भी राम के लिये राक्षस-अभियान का दूसरा सोपान तैयार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। दोनों ही काव्यों में पंचवटी के प्रहरी और अपने पिता के मित्र गृद्धराज से राम का परिचय एवं मैत्री पंचवटी-निवास से पूर्व दिखला दी गई है जिसमें भावी सीताहरण से सम्बन्धित कथांश की भूमिका यहाँ तैयार होती दिखलाई पड़ती है।

पंचवटी-निवास की, सीता-हरण के अतिरिक्त, दो मुख्य घटनायें है—शूर्पणखा-विरूपण और खरदूषण-वध,—जो सीताहरण की पृष्ठभूमि तैयार करती है। शूर्पणखा-विरूपण का प्रसंग दोनों काव्यों में प्रायः एक जैसा है—शूर्पणखा का विवाह-प्रस्ताव, दोनों भाइयों का विनोद, लक्ष्मण का अविवाहित बतलाया जाना, शूर्पणखा का खिसिया कर सीता को खाने के लिये दौड़ना, राम के संकेत से लक्ष्मण के द्वारा उसका विरूपण और इस प्रकार रावण को युद्ध की चुनौती दी जाना। शूर्पणखा-विरूपण प्रसंग भावी राम-रावण युद्ध की भूमिका है, इस रूप में घटनातत्त्व का विश्लेषण करते हुए तुलसी लिखते है—

लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ॥ (३.१७)

रामकथा सर्वविदित है, अतः भावी घटनाओं का आभास दे कर कौतूहल तत्त्व के ह्रास का भय न करते हुए तुलसीदास इस प्रकार कथात्मक टिप्पणियाँ करते हुए चलते हैं। यह भी उनके वस्तुविधान की एक शैलीगत प्रवृत्ति ही प्रतीत होती है।

खरदूषण-वध के प्रसंग में संक्षेप और विस्तार के अतिरिक्त कोई महत्त्व-पूर्ण अन्तर नहीं है, परन्तु स्वयं यह अन्तर ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, काव्यनायक को भगवान का अवतार मानने के कारण तुलसी ने युद्धों का अधिक विस्तार नहीं किया है। इस प्रसंग में भी राम की प्रसारित माया से चौदह हजार राक्षस एक दूसरे को राम समझते हुए परस्पर कट मरते हैं।[1] इस प्रकार अवतारवाद ने कथा में से घटना और वर्णन-तत्त्व को स्वयं ही कम कर दिया है।

१. इस [illegible] रामकथा [illegible] [illegible] व्याख्या की है [illegible] दि० भागवत [illegible] पं० [illegible] [illegible]

वाल्मीकि ने ऐसे अवसरो पर भावी महायुद्ध अर्थात् राम-रावण युद्ध की भूमिका और पूर्वाभास के रूप में, युद्ध का विधिवत् सांगोपांग वर्णन किया है जिसमे वे सैन्यसज्जा, राजकीय रथ, शस्त्रास्त्र, अपशकुन आदि के लम्बे विवरण देते है। इस युद्ध के आरंभ और अन्त के प्रसंगो को देखने पर दोनो काव्यों की कथापद्धति का अतिशय साहश्य पुन: दिखलाई पडता है—दोनो मे युद्ध से पूर्व राम, सीता को लक्ष्मण के साथ गुफा मे भेज देते है और लौटने पर सीता विजेता पति की आरती अपनी स्निग्ध दृष्टि से उतारती हैं। निम्नलिखित चित्र देखिये :—

(अ) तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम्।
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिपस्वजे ॥ (३.३०.३९)

(आ) सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥ (३.२१.३)

"परिपस्वजे" और "चितव लोचन न अघाता" मे यथार्थवाद और आदर्शवाद, अभिधा और व्यंजना तथा स्वच्छन्दता और मर्यादा का अन्तर दर्शनीय है, जो कि दोनों कवियों की काव्यशैली मे सर्वत्र दिखलाई पडता है।

प्रस्तुत प्रसग में दोनों कवियों के वस्तुविन्यास की शैली का अन्तर वाल्मीकि के हेमन्त-वर्णन और तुलसी की दर्शन-चर्चा के आधार पर देखा जा सकता है। वा० रामायण मे राम के पंचवटी-निवास के समय कवि ने, अवसर पा कर, हेमन्त ऋतु का वर्णन किया है (अरण्य, सर्ग १६)। वाल्मीकि की यह एक विशेष पद्धति है कि जहाँ भी उन्हे अवसर मिलता है, अर्थात् पात्र और परिस्थिति की अनुकूलता दिखलाई पड़ती है, वहाँ वे प्रकृति-चित्रण के रमणीय खड कथावस्तु मे जोड देते है जबकि तुलसी धर्म और ज्ञानोपदेश के खंड जोड़ते है। यहाँ तुलसी ने प्रकृति के शान्त एकान्त वातावरण को 'शान्त रस' का उद्दीपक बनाते हुए राम-लक्ष्मण के बीच ('गो गोचर जह लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई") दर्शन-चर्चा कराई है (३.१५)। ऐसा ही हम अयोध्याकाण्ड के लक्ष्मण-निषाद वार्तालाप के प्रसंग में देख चुके हैं (दे० पृ० ६०) और ऐसा ही, इसी काण्ड के अन्त में, राम-नारद सम्वाद के अन्तर्गत देखेंगे।

सीताहरण

इस प्रकरण मे तुलसी की भक्तिभावना ने विशेष रूप से परिवर्तन किया है। मानस की कथा मे वास्तविक सीता के स्थान पर छाया-सीता का हरण होता है और यह भी हरण नहीं वरन हरण की लीला के बहाने पृथ्वी का भार उतारने का उपाय होता है[1]। रावण भी हरण नही करता वरन् अपनी मुक्ति का सुगम उपाय करता है क्योंकि उसे आभासित हो गया था कि वह खरदूषण-विजेता और कोई नहीं स्वय भगवान ही है[2]। इतना ही नही, राम सीता की रखवाली के लिये लक्ष्मण को छोड गये थे और जब लक्ष्मण मारीच की पुकार और सीता के मर्मवचन सुन कर भी

१ मा० २४
२ मा० ५६

सीता को छोड़ कर जाने के लिये तैयार नहीं हुए तो भगवान को सीताहरण का रास्ता साफ करने के लिये लक्ष्मण के मन को प्रेरित करना पड़ा।[1] इस स्थल पर तुलसी के मर्यादावाद ने वाल्मीकि के समान लक्ष्मण और सीता में उत्तर-प्रत्युत्तर न करवा करके उस समस्त सम्वाद[2] को "मरम वचन" की पिटारी में रख कर संक्षिप्त कर दिया है, ऐसा ही उन्होंने आगे चलकर सीता की अग्निपरीक्षा के समय किया है।[3]

रामानुज लक्ष्मण के कार्यों मे भी मानसकार ने अलौकिक शक्तियों तथा चमत्कारों का सन्निवेश किया है। सीताहरण के प्रसंग में लक्ष्मण द्वारा अनुल्लंघनीय रेखा खिंचवा कर[4] तुलसी ने मूल रामायण की कथा मे चमत्कारिक तत्वो के योग की परम्परा में सहयोग देने के अतिरिक्त अवतारी नायक के अनुज को भी अद्भुत, अचिन्त्य शक्तियों का स्वामी दिखलाना आवश्यक समझा है।

इस प्रकरण में भी एक सूक्ष्म प्रसंग को लेते हुए रामायणी कथा की अक्षय रूढियों की ओर ध्यान आकर्षित होता है। दोनो काव्यों में खोज मे प्रवृत्त राम का ध्यान 'मृगनयनी' (सीता) के सजातीय 'मृग' आकर्षित करते हैं, परन्तु आकर्षित करने के ढंग मे अन्तर है। वा० रामायण मे वे दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके दौड़ते है और इस प्रकार पता देते है,[5] जब कि मानस मे वे उनके कांचन मृग की खोज के पागलपन पर व्यंग करते हुए प्रतीत होते हैं।[6]

सीता-हरण के बाद राम के विलाप की शैली मानसकार ने आदि-काव्य की ही अपनाई है, जिसमें राम जड़ और चेतन का भेद भुला कर "महा विरही अति कामी" के समान लता-वृक्ष-खग-पतंग आदि से भी जानकी के विषय मे प्रश्न करते हैं,[7] परन्तु तुलसी यह स्मरण दिलाना भी नहीं भूलते कि यह तो राम की केवल नर लीला है।[8] यह एक स्पष्ट उदाहरण है कि कथांश, घटना या क्रिया-

१. मरम वचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥ (मा० ३.२८)

२. रा० ३.४५।

३. "कटुक वचन"—मा० ६.१०८।

४. मानस के अपेक्षाकृत पुराने संस्करणों में यह पंक्ति मिलती है:—

नहुँ दिसि रेख खचाइ अडोला। [illegible] (हि० का० ना० प्र० सभा संस्करण, ३.४८.८)

परन्तु नवीन संस्करणों में यह नहीं है। गी० प्रे० गोरखपुर संस्करण में भी नहीं है। फिर भी आगे चलकर लंकाकाण्ड में इस प्रसंग की पुष्टि करने वाली यह पंक्ति सभी संस्करणों में मिलती है:—

रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई॥ (रा० मानस गी० प्रे० गोरखपुर—६.३६.२)

५. रा० ३.६४.१८।

६. मा० ३.३०.५-६।

७. वा० रा० ३.६० तथा मा० ३.३०

मा० ? ३.१६.१७

व्यापार में परिवर्तन न करते हुए भी किस प्रकार एक दार्शनिक टिप्पणी सी जोड़ते हुए तुलसी ने कथा का वातावरण बदल दिया है।

इसी प्रकार का उदाहरण जटायु के मृतक-कर्म के प्रसंग में मिलता है। दोनो काव्यों में राम उसका मृतक कर्म पितृवत करते हैं परन्तु मानस में भक्तिवत्सलता अधिक है और भगवान होने के नाते राम उसे पुनः प्राणधारण करने के लिये भी कहते है।[1] अलौकिकता के वातावरण में योग देने वाली एक बात और भी इस प्रसंग मे है और वह है राम का जटायु से यह कहना कि सीताहरण की बात जा कर पिता से मत कहना, इसे तो उनके सुपुत्र के शौर्य के साक्षी स्वरूप रावण ही कहेगा।

शबरी-भेंट

वा० रामायण में कबन्ध और शबरी दोनों की कथाओं को सुग्रीव-मिताई के प्रेरक प्रसंगों के रूप में प्रयुक्त किया गया है[2]। मानसकार ने केवल शबरी-भेंट को ही इस रूप मे ग्रहण किया है। कबन्ध का प्रसंग, मानस में, विराध-वध के समान संक्षिप्त है।

शबरी-भेंट के प्रसंग को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मानस के विशिष्ट मर्म-स्पर्शी प्रसंगों में स्थान दिया है।[3] मानस की शबरी कुछ अधिक भक्तिविह्वल अवश्य है परन्तु, जहां तक भक्ति का प्रश्न है, वह वा० रामायण में भी प्रकट होती है। आदि काव्य की शबरी भी राम के दर्शन से कृतार्थ होती है, उसे स्वर्गतुल्य मानती है, उनके कृपा-कटाक्ष से अक्षय्य लोकों की प्राप्ति मे उसे कोई सन्देह नहीं है और चिरसंचित भावना तथा चिरसंचित फलों से वह उनका आतिथ्य करती है।[4] ऐसे ही आधारो को ले कर प्रस्तुत प्रबन्ध में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति के तत्त्व वा० रामायण मे भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। मानस में उनका पूर्ण विकास ही हुआ है, किसी सर्वथा नवीन तत्त्व की योजना नहीं और इस प्रकार दोनों कवियो के उद्देश्य में भी सूक्ष्म मूलभूत एकता दृष्टि-गोचर होती है। मानस में इस प्रसग मे राम के द्वारा शबरी को नवधाभक्ति का उपदेश दिला कर भक्ति के स्वरूप और परिभाषा का अवश्य अधिक प्रसार किया गया है, परन्तु जहाँ तक भावनातत्त्व का प्रश्न है वह वा० रामायण में भी है।

काण्ड का अन्त

दोनों काव्यों में काण्ड का अन्त विरही राम के पम्पा सरोवर के तट पर पहुँचने के साथ होता है। वा० रामायण में यह सरोवर राम की वेदना को बढ़ाता है

---

१. मा० ३.३१।
२. रा० ३.७२।
३ गो० तुलसीदास (१९२३ ई०) पृ० ८८
४ रा० ३ ७४

परन्तु मानस में यह उनके [illegible] का [illegible] भी भावना और उद्देश्य ने कथा का वातावरण [illegible] किया है। मानस में [illegible] का प्रसंग और जोड़ दिया गया है। [illegible] कि तुलसीदास राम की विरह-लीला के पश्चात् [illegible] है। और उनके विरह की अवास्तविकता सिद्ध हो जाये। [illegible] की गई नारी-निन्दा से भी प्रकट है। [illegible] कि प्रिय वस्तु से विछोह हो जाने पर उसकी निन्दा भी [illegible] विरागी-वैरागी दृष्टिकोण का भी प्रभाव [illegible] के अन्तर्गत भगवान के अवतार के [illegible] राम को नारि-विरह में [illegible] के लिये क्षमा मांगने के [illegible]।

वा० रामायण [illegible] किष्किन्धाकाण्ड के आरम्भ में [illegible] दिखलाया गया है [illegible] उद्दीपक प्रतीत होता है। [illegible] नहीं रहा होगा, [illegible] हुआ है। [illegible] होती है। दोनों में [illegible] मानस में वह अरण्यकाण्ड के [illegible] में [illegible] के आरम्भिक [illegible] वेदना का उद्दीपन करती है। [illegible] वर्णन आने का [illegible]।

अरण्यकाण्ड [illegible] लगती है और [illegible] का अभिव्यक्त करने [illegible] अग्रगामी [illegible] होने लगता है। [illegible] दिये जाने के प्रकरणों में [illegible] प्रकृति का नीतिपरक चित्रण, [illegible]

१. [illegible]

२. [illegible]

३. [illegible]

४. [illegible]

लंकाकाण्ड में धर्मरथ-रूपक[1] और अन्त की स्तुतियाँ[2], इसी प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं। उत्तरकाण्ड में पहुंच कर कथा की यही सात्त्विक धारा कागभुशुण्डि के दार्शनिक सम्वादों के महासरोवरों में संगमित हो गई है। बालकाण्ड की प्रस्तावना में और अयोध्याकाण्ड के मध्य के लक्ष्मण-निषाद प्रसंग में[3] यह प्रवृत्ति अंकुरित होकर उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ऐसे ही अंशों को "मानस की गीतायें" कहा गया है,[4] जिससे प्रकट है कि मानस की कथा अधिकांशतः दार्शनिक जलवायु में श्वास लेती हुई वा० रामायण की कथा की अपेक्षा रूप-गुण और शील में भिन्न प्रतीत होने लगी है। कविगुरु रवीन्द्र ने कथा में उपदेश-संचार और विषयान्तर की इस प्रवृत्ति को भारतीय महाकाव्यों की एक पुरातन पद्धति माना है।[5]

किष्किंधाकाण्ड

प्रस्तुत काण्ड के कथाक्रम और घटनातत्व में कोई अन्तर दोनों काव्यों में नहीं दिखलाई पड़ता, केवल कुछ भावनात्मक संशोधन ही मानस की कथा में किये गये हैं। किष्किंधाकाण्ड का कथाक्रम इस प्रकार है—सुग्रीव से मैत्री, बालि का वध, वर्षा और शरद का वर्णन, वानरों का प्रेषण और हनुमान द्वारा समुद्रोल्लंघन की तैयारी।

सुग्रीव से मैत्री—

दोनों काव्यों में सुग्रीव और राम की मैत्री के साधक हनुमान हैं। दोनों में सुग्रीव की कथा का अवान्तर प्रसंग के रूप में विस्तार किया गया है जो कि वा० रामायण में अधिक है। दोनों में ही सुग्रीव राम को सीता द्वारा गिराये गये वस्त्राभूषण देते हैं और दोनों में सप्त ताल तथा दुंदुभि राक्षस के अस्थि-स्तूप के द्वारा राम की बल-परीक्षा की गई है। वा० रामायण (केवल दाक्षिणात्य संस्करण[6]) में हनुमान की वाग्मिता की विशेष प्रशंसा राम ने की है जो कि मानसकार के द्वारा निरूपित हनुमच्चरित में केवल सांकेतिक रूप में है।[7] दोनों के हनुमान वाग्मी, सर्वगुण सम्पन्न, योग्य दूत हैं। दोनों में ही वे अतुल बलशाली हैं और इस बल का परिचय प्रारंभ में ही देते हुए वे राम-लक्ष्मण को अपनी पीठ पर चढ़ा कर ले आते हैं। मानस की कथा एवं चरित्र में

---

१. मा० ६.८० ।

२. वही, ११२-११३ ।

३. मा० २.९३ ।

४. मानस-दर्शन, बलदेव मिश्र, पृ० ३२ ।

५. "वर्णन, अलंकार और अवान्तर प्रसंगों से कथा प्रवाह भले ही पद-पद पर स्खलित हो जाय पर प्रशांत भारत कभी अधीर होता दिखाई नहीं पड़ता। उसे कथा का अन्तिम भाग—परिणामांश—सुनने की उत्सुकता नहीं है।" —दे० प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद), तृतीय संस्करण, पृ० ७७ ।

६. रा० ४.३ ।

७. सकल [illegible] १० सुन्दरकाण्ड [illegible] तथा बुधि विवेक विग्यान [illegible] ४३० ४) और कवितावली के उत्तरकाण्ड तथा हनुमान बाहुक में भी

विशेष परिवर्तन यह किया गया है कि राम-लक्ष्मण का परिचय पाते ही हनुमान उन्हें अपने चिरपरिचित प्रभु के रूप मे पहिचान कर चरणों पर गिर पड़ते हैं और उपालभ भी देते हैं कि राम अपने सनातन सेवक को भूल गये हैं।[1] मानस के हनुमान, इस प्रकार, मुख्य रूप से राम के सेवक हैं जब कि वा० रामायण के हनुमान सुग्रीव के। राम के राज्याभिषेक के बाद हनुमान के अयोध्या में रुक जाने से भी यही प्रकट होता है।[2]

बालि का वध—

बालि और सुग्रीव का दो बार द्वन्द्व युद्ध, दूसरी बार में पहिचान के लिये सुग्रीव को माला पहिना कर भेजा जाना, "एक ही बाण" से बालि का छिप कर वध किया जाना और बालि-राम सम्वाद आदि प्रसंग और कथाक्रम दोनों काव्यों में एक समान है। वा० रामायण में तारा-विलाप[3] एक कवित्वपूर्ण करुण-रसात्मक स्थल है जिसे तुलसी ने प्रायः अछूता छोड़ दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बालि की मृत्यु के बाद सुग्रीव की भार्या बन जाने के कारण तारा के प्रति आदर्शवादी तुलसी का कोई आकर्षण नहीं है। इसलिये आगे भी लक्ष्मण-तारा सम्वाद में जहाँ वाल्मीकि ने उसके रूप के साथ ही गुण और बुद्धि का भी संयोग दिखलाया है, वहा मानस में उस के व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई है। स्पष्ट है कि कवि तुलसी की भक्ति भावना ने चरित्र को और पुनः चरित्र ने कथा को प्रभावित किया है।

बालि-राम सम्वाद को भी संक्षिप्त करते हुए तुलसी ने यह भावना प्रकट की है कि भगवान राम से जवाब-तलबी और उत्तर प्रत्युत्तर करना बालि की अक्षम्य धृष्टता थी। इसलिये मानस के राम बालि के इस आक्षेप का कोई उत्तर नहीं देते—

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥ (४. ६. ५)

वे उसके वध का औचित्य तो बतलाते हैं, परन्तु छिप कर मारने का नहीं। यह तुलसी के चरित्रचित्रण की दुर्बलता है। इस पर अगले अध्याय में विचार किया जायेगा। घटनातत्व की दृष्टि से एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि मानस के राम दयार्द्र हो कर बालि को प्राणदान करना चाहते हैं परन्तु वह मुक्ति के लोभ से उसे स्वीकार नहीं करता। वा० रामायण में यह सम्वाद विस्तृत है और राम के चरित्र की अधिक सफाई देने का प्रयत्न किया गया है, यद्यपि वाल्मीकि भी उसमें असफल ही रहे हैं। इसी आधार पर विद्वानों ने रामकथा की ऐतिहासिकता की पुष्टि की है।[4] वा० रामायण के इस प्रसङ्ग में राजनैतिक वातावरण स्पष्ट दिखलाई पड़ता है जिसके निम्नलिखित आधार हैं :—

---

१. मा० ४.२।

२. मा० ७.१९।

३. रा० ४.२१

४. दे० क़ुके पृ० ११६

१. बालि का राम से यह कहना कि मैं भी रावण से युद्ध करके सीता की प्राप्ति मे आपकी सहायता कर सकता था।[1]

२. राम का वालि से यह कहना कि हम इक्ष्वाकु वंश के प्रतिनिधि के रूप मे अखिल भूमण्डल की धार्मिक व्यवस्था के प्रहरी हैं[2], जिससे इक्ष्वाकुवंश (या आर्यजाति) की साम्राज्यवादी भावना सूचित होती है।

आशय यह कि एक ओर मानस की रामकथा आध्यात्मिक वातावरण में रगी हुई दिखलाई पड़ती है तो दूसरी ओर वा० रामायण की रामकथा राजनैतिक वातावरण में।[3] इसीलिये तुलना करते समय बार-बार इसी तथ्य की ओर दृष्टि जाती है कि कथा वही है परन्तु वातावरण बदल गया है। एक में है इतिहास, राजनीति और यथार्थवाद तो दूसरी में है पुराणतत्व, भक्ति और आदर्शवाद। युग की आवश्यकतानुसार धर्म-भावना दोनों में है।

ऋतु-वर्णन

केवल कथाक्रम की समानता की दृष्टि से दोनों का ऋतु-वर्णन सम्बन्धी अश तुलनीय है, अर्थात् कथाप्रसार मे एक ही निश्चित स्थल पर दोनों काव्यों में वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन किया गया है,[4] अन्यथा काव्यतत्व और वर्णनशैली की दृष्टि से दोनों में बहुत भेद है। इस पर प्रकृतिचित्रण के अध्याय मे आगे विचार किया जायेगा। कथा की दृष्टि से, वर्षा ऋतु मे सीता की खोज का कार्य स्थगित रहता है और शरद में मार्ग स्वच्छ हो जाने पर आरम्भ किया जाता है।

वानर-प्रेषण

हनुमान द्वारा याद दिलाये जाने पर और क्रुद्ध लक्ष्मण के धनुष की टंकार सुनने पर, सुग्रीव की काम-मूर्च्छा भंग होती है और चारों दिशाओं में वानरों की टोलियाँ भेजी जाती है,जिनमे से मुख्य, अर्थात् हनुमान-जाम्बवान-अगद आदि की, टोली दक्षिण की ओर भेजी जाती है। वर्णन-शैली का यह अन्तर द्रष्टव्य है कि वा० रामायण में वानरों की विशाल वाहिनी का प्रत्यक्षीकरण कराया गया है[5] जब कि मानस की समास-शैली और अतिरंजित पुराणशैली में केवल इतना कहा गया है—

१. रा० ४.१७.४८-५० ।

२. रा० ४.१८.६-११ ।

३. वा० रामायण में ऐतिहासिक तत्व और प्राचीन राजनीति विषयक वातावरण के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने विशेष विचार किया है जिनमें से श्री सी० वी० वैद्य (रिडिल आव दि रामायण"), मिस पी० सी० धर्मा ("रामायण पालिटी"), रा० ना० व्यास ("रामायण कालीन समाज और रामायण कालीन संस्कृति"), श्री महाराष्ट्रीय (रामायण समालोचना) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री महाराष्ट्रीय का कथन है कि "वस्तुतः राजनीतिक दृष्टि से ही उन्होंने इस काव्य की रचना की" (दे० कल्याण का रामायण-विशेषांक, जुलाई १९३०, पृ० २६७)

४ "सुग्रीव मित्रता और सीता मन्वेषण के लिये वानर प्रेषण' प्रसगों के बीच में

५ रा० ४ ३९

बानर कटक उमा मैं देखा । सो मूरुख जो करन चह लेखा ।। (४. २२. १)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कथा-प्रसंगों में सन्निविष्ट वस्तुपरक चित्र वा० रामायण में प्रचुर हैं और मानस में वे बहुत कम हैं, जिनके स्थान पर सूक्ष्म, भावपरक (दर्शन, धर्म, भक्ति, नीति आदि) अथवा उपदेशपरक चित्रों की श्रृंखलायें उसमें जोड़ी गई हैं।

कथा के मोड़ दोनों काव्यों में अधिकांशतः एक समान हैं, उदाहरण के लिये इस प्रकरण से सम्बन्धित स्वयंप्रभा और सम्पाति के प्रसंग, जो कि सीता-अन्वेषण के कार्य में सहायक बनते हैं। अन्तर की दृष्टि से यहाँ भी वही शैलीगत भेद है, अर्थात् वा० रामायण में उक्त दोनों कथाओं का विस्तार किया गया है जब कि मानस में वे संक्षिप्त है।

वानर-प्रेषण के प्रकरण के अन्तर्गत अंगद-विद्रोह का प्रसंग मानस में सर्वथा बदल दिया गया है। जैसा कि अभी बालि-वध के प्रसंग में कहा जा चुका है, वा० रामायण में राजनैतिक वातावरण का प्राधान्य है और मानस में भक्ति का। अत रामायण का अंगद इस अवसर पर दक्षिण में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने और सुग्रीव के राज्य पर धावा बोलने की योजना बनाता है जो कि सूक्ष्मदर्शी, कूटनीतिज्ञ हनुमान के द्वारा भंग कर दी जाती है,[1] जब कि मानस के अंगद केवल आँसू भर कर रह जाते हैं और राम के "कोढ़े में खाज" दिये जाने (अर्थात् संरक्षण) के कारण कुछ बोल नहीं पाते।[2] कितनी सफाई से तुलसी ने मूलकथा की परम्परा स्वीकार करते हुए भी अपनी भावना के अनुसार घटना के उसी कलेवर में दूसरा हृदय रख दिया है!

हनुमान की तैयारी

कथा के एक ही मोड़ पर दोनों काव्यों में काण्ड की समाप्ति होती है अर्थात् संपाति से सुनिश्चित समाचार पाकर, कुछ विभ्रम में डूबे हुए और विस्मृत से हनुमान, जाम्बवान की प्रेरणा से सागर-लंघन की तैयारी करते हैं।[3]

अकेले किष्किधाकाण्ड के ही आधार पर भी दोनों काव्यों की कथावस्तु की बाह्य समानता परन्तु आन्तरिक भेद का पर्याप्त अनुशीलन किया जा सकता है।

सुन्दरकाण्ड

सुन्दरकाण्ड की कथा के प्रमुख अंश हैं—अशोकवन में सीता से हनुमान की भेंट, वाटिका-विध्वंस, लंकादहन, मधुवन-प्रसंग और काण्ड का उपसंहार। मानस में राम के लंका-अभियान का प्रारंभिक अंश अर्थात् सागर के तट पर पहुँचना और विभीषण की शरणागति का प्रसंग भी इसी काण्ड में समाविष्ट कर लिया गया है। काण्ड के उपसंहार का यह अंश भी विचारणीय है।

---

१. रा० ४.५३ और ५४।

२ मा ४ २६ तथा ७ १ २

३ रा० ४ ६६ २ तथा मा० ४ ३० ३

अशोक वन में सीता से भेंट

वाल्मीकि रामायण मे महेन्द्राचल पर से हनुमान के प्लवन और सागर-लंघन के दृश्य का अत्यन्त कवित्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है[१] परन्तु मानसकार इस दृश्य की ओर विशेष रूप में आकृष्ट नही हुआ है। इस प्रकार राम कथा के अनेक वर्णनात्मक अशों को काट-छाँट करके तुलसी ने उसी अनुपात मे उसकी काव्य-सामग्री घटा दी है।

मैनाक, सुरसा, सिंहिका और लंकादेवी से मिलाप-मुठभेड़ करते हुए कामरूप धारी हनुमान अणिमा सिद्धि द्वारा लघुकाय होकर लंका में प्रविष्ट होते है। वाल्मीकि रामायण में उनका वृषदंशक रूप से प्रविष्ट होना लिखा है[२] और मानस मे मशक रूप से।[३] इसके पश्चात् दोनों कथाओं में अन्तर है। वा० रामायण में हनुमान के लका-भ्रमण[४], अन्तःपुरदर्शन[५], पुष्पक विमान[६] आदि का विस्तृत वर्णन है जिसका मानस मे सकेत मात्र है।[७] मानस की कथा मे विभीषण-हनुमान परिचय प्रारंभ में ही करा दिया गया है[८] जब कि वा० रामायण में यह परिचय होता ही नहीं, केवल विभीषण को हनुमान के वध से रावण को रोकते हुए दिखलाया गया है।[९] इस प्रकार मानस मे भावी प्रसंग अर्थात विभीषण-शरणागति की भूमिका बांधी गई है, जैसा कि तुलसी की कथा विन्यास की शैली में अन्यत्र भी दिखलाई पड़ता है।

सीता से भेंट के प्रसंग को मानस में, "प्रसन्नराघव" नाटक के प्रभाव से,[१०] नाटकीयता प्रदान की गई है और हनुमान मुद्रिका सीता को देने के स्थान पर उसे सहसा वृक्ष से गिराते है।[११] वा० रामायण में वे इक्ष्वाकु वंशावली द्वारा[१२] सीता का ध्यान आकृष्ट करते हैं जो आख्यान काव्य की शैली के उपयुक्त है। रावण-सीता सम्वाद, त्रिजटा-स्वप्न, जयन्त-कथा की चर्चा, मुद्रिका के बदले मे प्रत्यभिज्ञान स्वरूप चूडामणि का दिया जाना, आदि प्रसंग दोनों काव्यों में हैं। वा० रामायण में वर्णन बिस्तार अधिक है, जबकि मानस में ये प्रसंग संक्षिप्त रूप में हैं। मानस, अध्यात्म रामायण, और वा० रामायण तीनों में सीता-रावण सम्वाद के अतर्गत सीता को तिनके की ओट से बात करते दिखलाया गया है।[१३] यह एक और उदाहरण है जिससे मूलकथा

१. रा० ५. १।
२. रा० ५. २. ४८ (गोविन्दराजीय टीका में वृषदंशक का अर्थ बिडाल दिया गया है)।
३. मा० ५. ४. १।
४. रा० ५. ४।
५. वही० ४, ५, १०. ११ सर्ग।
६. वही ८. ९ सर्ग।
७. मा० ५.५।
८. वही ५. ६।
९. रा० ५. ५२।
१० ,० अंक ६
११ मा० ५ दो० १२

के भावों और आदर्शों की समानता एवं अक्षुण्णता प्रकट होती है।

वाटिका-विध्वंस

हनुमान के उपद्रव की कथा अशोकवाटिका के ध्वंस से आरम्भ होती है। इस उपद्रव के मूल में निहित दोनों काव्यों की भावना में वही, राजनीति और भक्ति का, अन्तर है। वा० रामायण में हनुमान रावण के पास तक पहुंचने, उसकी शक्ति और लंका की सामरिक स्थितियों को परखने तथा उससे दूत-वार्ता का अवसर प्राप्त करने के लिये अशोकवाटिका के ध्वंस को साधन बनाते हैं[1], जबकि मानस में वे उसे राम का प्रताप अपने कर्मों के द्वारा जताने और उसे सुशिक्षा देने के लिये यह मार्ग अपनाते हैं।[2] वा० रामायण में हनुमान के लंका-प्रवेश के समय से ही सीमाओं के निरीक्षण और रात्रि में नगर-भ्रमण आदि कार्यों से उनके कुशल राजनैतिक दूतत्व का बोध होने लगता है और सभा में पहुंचने पर वे अशोकवाटिका के ध्वंस का राजनैतिक अभिप्राय प्रकट भी कर देते हैं।[3] मानस में वे अशोकवाटिका का ध्वंस सीता को राम के प्रताप एवं उनके उद्धार के विषय में आश्वस्त करने के लिये भी करते हैं।

युद्धों और संघर्षों के विस्तृत वर्णन की शैली के अनुसार वा० रामायण में इस प्रसंग का भी विस्तार किया गया है जबकि मानस में इन सब घटनाओं का गौरव होते हुए भी वर्णन संक्षिप्त ही है।

लंका-दहन

डा० जाकोबी का विचार है कि मूल रामायण की कथा में यह प्रसंग नहीं था और चामत्कारिकता के विचार से बाद में जोड़ दिया गया है।[4] रामकथा के विकास की एक प्रवृत्ति सम्बन्धित पात्रों के जीवन तथा कृत्यों के विस्तार करने की भी रही है, यहाँ तक कि कुछ पात्रों के वृत्तान्त स्वतन्त्र काव्यों के योग्य बन गये हैं। हनुमान का वृत्तान्त ऐसा ही है। वा० रामायण और रामचरितमानस दोनों में ही सुन्दरकाण्ड के नायक हनुमान हैं। मानस में राम के सर्वश्रेष्ठ भक्त और उनके प्रताप के प्रमुख प्रतिनिधि होने के नाते हनुमान के चरित्र का विस्तार और विकास किया गया है। मूल वा० रामायण में लंकादहन का प्रसंग न रहा हो पर बाद में वह रामकथा का अनिवार्य अंश बन गया। मानस की कथा में वह पूर्ण स्वाभाविकता के साथ सन्निविष्ट हुआ है। तुलसी की भक्ति भावना ने उसका उपयोग राम के प्रताप की व्यंजना के अतिरिक्त रावण की स्वर्ण नगरी पर व्यंग करने के लिये भी किया है। हनुमान-रावण सम्वाद में भी उन्होंने रावण के अहंकार पर काफी चोटें

१. रा० ५. ४१।

२. "जदपि कही कपि अतिहित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥ मा० ५. २४. १।

३. रा० ५. ५०. १५।

४ दे० बुल्के पृ० ३६६

कराई हैं।[1]

मधुवन-प्रसंग

इसे भी उक्त विद्वान ने प्रक्षिप्त माना है।[2] डा० बुल्के का विचार है कि इससे कथा के प्रवाह में अवरोध होता है, परन्तु वस्तुतः हनुमान की विजय-यात्रा के बाद यह श्रमपरिहार सर्वथा स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और कवित्वपूर्ण प्रतीत होता है। तुलसी ने इसे अत्यन्त स्वाभाविक रूप से रामकथा में स्थान दिया है।

काण्ड का उपसंहार

वा० रामायण में राम से हनुमान की भेंट के कथांश पर काण्ड की समाप्ति कर दी गई है। यही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इस स्थल पर एक पूर्ण विराम की आवश्यकता अनुभव होती है जो कि कांड की समाप्ति के द्वारा ही पूरी होती है, परन्तु तुलसी ने "राम का प्रस्थान", "विभीषण की शरणागति" और "सागर-निग्रह" के प्रसंग और जोड़ कर कथा को बलपूर्वक आगे खींचा है। इससे कथाविन्यास मे उनका स्वातन्त्र्य लक्षित होता है, क्योंकि अध्यात्म रामायण में भी इस स्थल पर रामायण का अनुसरण है।[3]

इस परिवर्तन में तुलसी के निम्नलिखित अभिप्राय हो सकते हैं—

१. आगामी काण्ड का नाम उन्हें लंकाकाण्ड रखना है, युद्धकाण्ड नहीं और उसका औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब कथा का आरम्भ लका-प्रवेश से हो। तुलसी ने सेतुबन्ध को लंका-प्रवेश की तैयारी माना है, अतः रणप्रस्थान का कार्य सुन्दर काण्ड में ही पूरा करा दिया है जब कि वा० रामायण में रणप्रस्थान युद्धकाण्ड के आरम्भ मे ही दिखलाया गया है[4] जो कि अधिक स्वाभाविक है।

२. लंका काण्ड का आरम्भ कवि एक विशेष भव्य दृश्य से करना चाहता है। सेतुबन्ध के दृश्य से काण्ड का समारम्भ उस काण्ड को नाटकीय आकर्षण प्रदान करता है।

३. यह परिवर्तन बंगीय संस्करण के प्रभाव से भी हो सकता है। बंगीय (सर्ग ९५) और पश्चिमोत्तरीय (सर्ग ९८), दोनों संस्करणों में सुन्दर काण्ड के अंतर्गत ही सेतुबन्धन का कार्य पूरा हो जाता है और सेना उतर कर पार भी पहुँच जाती है। तुलसी ने इसमें भी संशोधन किया है और सेतुबंध की कथा लंकाकाण्ड मे रक्खी है।

फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कथा के मोड़ का यह विभाजन उपयुक्त नही

१. मा० ५. दो० २१ और ५. २२. १-२।

२. दे० बुल्के, पृ० ३६७।

३. अध्यात्म रामायण के अन्तिम सर्ग का विषय है—'हनुमान का लंका से लौटकर राम को सीता का संदेश सुनाना'।

४ वा० रा० ६ ४ तथा बुल्के पृ० ३७३

प्रतीत होता। राम के लंका-अभियान को तुलसी ने दो भागों में विभाजित कर दिया है। पूर्वार्ध, अर्थात् सागर तट पर पहुँचने को, उन्होंने एक काण्ड का अन्तिम अंश बनाया है और उत्तरार्ध, अर्थात् सेतुबन्धन को, दूसरे काण्ड का प्रारम्भिक अंश।

विभीषण की शरणागति

विभीषण की शरणागति के प्रसंग में भी वा० रामायण की कथा का राजनैतिक वातावरण प्रकट होता है, जैसा कि हम पहले कुछ अन्य प्रसंगों में भी देख चुके हैं। उसमें राम और उनके सभासदों के बीच राजनैतिक पद्धति पर पर्याप्त विचार विमर्श होना दिखलाया गया है,[1] जब कि मानस में भक्ति के अंगभूत शरणागतपालन और प्रपत्तिवाद की भावना की ही प्रधानता है। वा० रामायण में भक्ति के तत्वों की चर्चा हम पहले उनके कुछ कथा-प्रसंगों के विश्लेषण के साथ कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रसंग भी इस बात का पुष्ट प्रमाण उपस्थित करता है कि वैष्णव भक्ति का एक प्रमुख तत्व "प्रपत्तिवाद" मूल वा० रामायण में भी विकसित हो चुका था, जैसा कि राम की निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥[2]

प्रस्तुत प्रसंग के अंतर्गत, रावण के पदप्रहार का उल्लेख केवल पश्चिमोत्तरीय तथा वंगीय संस्करणों में है।[3] आगे, लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में, भी हम देखेंगे कि कालनेमि और भरत से हनुमान भेंट के कथांश केवल पश्चिमी तथा वंगीय संस्करणों में हैं। इससे दो बातें सूचित होती हैं। एक तो यह कि तुलसी पर वंगीय तथा पश्चिमोत्तरीय संस्करणों या उनकी परम्परा का ही विशेष प्रभाव पड़ा हो, अथवा यह भी हो सकता है कि विविध साहित्य के समान वे वा० रामायण के भी तीनों संस्करणों से परिचित रहे हों अथवा उन तीनों की परम्परा से प्रभावित हुए हों। अध्यात्म रामायण में भी पदप्रहार की घटना नहीं है। इससे भी यही प्रकट होता है कि यह प्रसंग वंगीय संस्करण से आया है। दोनों काव्यों में राम विभीषण को शरण में लेते ही लंका-राज्य का आश्वासन देते हुए समुद्रजल से उनका अभिषेक कर देते हैं। वा० रामायण के इस कूटनीतिक कृत्य को मानस की कथा में भक्तवत्सलता का रंग दे दिया गया है।[4]

सुन्दरकाण्ड की तुलना के द्वारा हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं—

१. वा० रामायण की कथा में राजनैतिक वातावरण की प्रचुरता है जिससे उसमें इतिहासतत्व का भी अधिक होना प्रकट होता है।

२. मानसकार मुख्य रूप से भक्त और सन्त अवश्य हैं परन्तु उनकी काव्य

---

१. रा० ६.१७ तथा १८।

२. रा० ६.१८.३४।

३. दे० सर्ग ८७.२ (गौड़) तथा ६०.३ (पश्चि०म०)
आसनात् उत्थाय उत्पत्य पादेनाभिजघान तम्।

४. मा० ५.४८

प्रतिभा के अन्तर्गत कथाकार की प्रतिभा भी पर्याप्त रूप में प्रकट होती है। तुलसी ने नवीन कथांशों के योग, क्रम-परिवर्तन आदि में अपना कथा-नैपुण्य प्रकट किया है।

३. भक्ति के तत्व मूल रामायण की कथा में भी पर्याप्त परिमाण में मिलते है।

४. प्रचलित वा० रामायण के प्रक्षिप्तांश उसकी कथावस्तु में सुनियोजित नहीं हो सके थे परन्तु परवर्ती साहित्य में वे व्यवस्थित और परिष्कृत होते गये और मानस की कथावस्तु में ऐसे अनेक अंश सहज और स्वाभाविक रूप से पचा लिये गये है। उदाहरण के लिए, लंकादहन या मधुवन-क्रीड़ा के प्रसंग उसमें पूर्ण स्वाभाविक प्रतीत होते हैं, जब कि वा० रामायण मे वे अव्यवस्थित होने के कारण भी प्रक्षिप्त माने गये हैं।

५. मानस की कथा संक्षिप्त की जाने के कारण उसमें एक ओर कथावस्तु की कसावट आई है तो दूसरी ओर काव्यतत्वों को क्षति भी पहुंची है। वा० रामायण मे हनुमान के सागर-लंघन का अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन है, जो कि मानस में नहीं है।

६. मानस में कहीं-कहीं विवरणों का अभाव भी खटकता है जैसे कि अनेक मुख्य स्थलों और स्थानों के नाम भी न दिये जाना। उदाहरण के लिये महेन्द्राचल (जहाँ से हनुमान ने छलांग भरी थी), लम्बगिरि (जहाँ हनुमान लंका के निकट जा कर उतरे), अरिष्ट (जिस पर्वत के शिखर पर चढ़ कर हनुमान लंका से उड़े थे) आदि पर्वत, या सिंहिका (सागर में रहने वाली छायाग्राहिणी) आदि, स्थानों तथा व्यक्तियो के नाम न दिये जाना। इसी प्रकार किष्किंधाकाण्ड मे स्वयंप्रभा का नाम न दे कर केवल "नारि तपपुज" लिख दिया गया है।[1] वास्तव मे साधारण जनता कथा की घटनाओं और भावनाओं में ही अधिक रुचि रखती है, नामों की उसे चिन्ता नहीं होती। इस लोक-मनोविज्ञान को दृष्टि में रखते हुए तुलसी ने सुप्रचलित रामकथा का लौकिक दृष्टि से पुनर्विधान किया है। परन्तु साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक अपूर्णता भी मानी जा सकती है।

लंकाकाण्ड

वा० रामायण के पाँच प्रामाणिक काण्डों म से (बाल० और उत्तर को छोड़-कर) युद्ध काण्ड में प्रक्षिप्त सामग्री अन्य काण्डों की अपेक्षा अधिक है। युद्धों का विस्तार, अलौकिक और चामत्कारिक घटनाओं की आवृत्ति, आदि के कारण इस काण्ड की कथावस्तु मानस की अपेक्षा बहुत शिथिल दिखलाई पड़ती है। काण्ड के नामकरण, आरभ और समाप्ति में भी बहुत अन्तर है। निम्नलिखित प्रकरण तुलना की दृष्टि से हैं

नामकरण

वा० रामायण में छठे काण्ड का नाम "युद्ध" और मानस में "लंका" है। इसमें दोनों कवियों के कथाविषयक दृष्टिभेद का बोध होता है। कथा का अर्थ है घटनायें, और पहले भी कहा जा चुका है कि तुलसी के लिये घटनायें बहुत गौण हैं, क्योंकि उनके नायक ब्रह्म के अवतार हैं और सभी घटनायें उनके लिये क्रीडामात्र हैं। उन कार्यों के लिये नायक को किसी श्रम या योजना की आवश्यकता नहीं पड़ती। इतना ही नहीं, राम के अतिरिक्त अन्य पात्र भी जो कुछ करते हैं वह राम के प्रताप और प्रेरकशक्ति को देखते हुए एक साधारण व्यापार ही बन जाता है। मानस में युद्ध 'युद्ध' ही नहीं है, वह तो भगवान की उदार-लीला है। इसीलिये कवि ने युद्धों का वर्णन, एक प्रकार से, परम्परापूर्ति के लिये ही कर दिया है। उसने शस्त्रास्त्र-वर्णन, युद्धसामग्री का निरूपण, रणस्थली का चित्रण आदि किया है परन्तु इसे विशेष महत्व नहीं दिया है। वा० रामायण से तुलना करने पर इस विषय में दोनों की शैली का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आगे प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन के प्रकरण में भी दोनों कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर दिखलाई पड़ेगा। अतः इस काण्ड का नामकरण घटना के आधार पर न करके, अन्य काण्डों के समान, स्थान के आधार पर ही किया गया है। काण्ड का यह नामकरण तुलसी के विशिष्ट उद्देश्य का सूचक है, और ऐसा प्रतीत होता है कि मानस के आध्यात्मिक आशय और प्रतीकात्मक शैली के अनुरूप यह नाम रक्खा गया है। 'लंका' अहंकार और इन्द्रियलोलुपता का गढ़ है, अतः इसी का विध्वंस किया गया है।[१] जिस प्रकार रामकथा उत्तरोत्तर अन्योक्तिपरक बनती गई और मानस में उसके आध्यात्मिक संकेत विशेषरूप से प्रकट हुए हैं, यह तथ्य इस उदाहरण से प्रकट है। काण्ड का यह सांकेतिक नामकरण अन्य कारणों के साथ कवि की इस प्रवृत्ति का भी परिणाम प्रतीत होता है।

सेतुबन्ध

मानस के सेतुबन्ध-प्रसंग में दो नवीन बातें हैं—नल और नील दो व्यक्तियों के द्वारा पुल का बांधा जाना और शिवलिंग की स्थापना। वा० रामायण में विश्वकर्मा का पुत्र केवल नल ही सेतुरचना करता है, परन्तु मानस में ऋषि के आशीर्वाद से शिल्पसिद्ध भ्रातृयुग्म, नल और नील दोनों मिलकर यह कार्य करते हैं। वा० रामायण में नील का नल से कोई सम्बन्ध नहीं है, तुलसी को इस नवीन भ्रातृयुग्म की कल्पना की प्रेरणा कदाचित् बालि और सुग्रीव, सम्पाति और जटायु आदि के युग्म से मिली है।

१. दे० विनयपत्रिका (पद ५८) :

(अ) "चरण पाताल, नभभूमि [illegible], रोमराजि [illegible] ।

× × ×

मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी ॥"

(आ) कवितावली [illegible] ५) [illegible] राजराग [illegible] विराट [illegible] में [illegible] भाव झलकता है

शिवलिंग की स्थापना के प्रसंग का सम्बन्ध तुलसी की समन्वयपूर्ण भक्ति भावना से है, परन्तु इसका संकेत प्रचलित वा० रामायण (दा० सं०) मे भी मिलता है।[1]

विशेष संशोधन जो तुलसीदास ने इस प्रसंग मे किया है कि वह है इसमे साकेतिक अर्थ की योजना करना। भक्त तुलसीदास के लिये यह सेतु भवसेतु का स्मरण कराने वाला है। इस सेतु को देख कर संसार के जीवों को जान लेना चाहिये कि राम के नाम में कितनी बड़ी शक्ति होगी—

नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं। (६.१ दो०)

मानसकार की दृष्टि से राम के लिये यह सेतुरचना साधारण घटना है, नल-नील को सेत का यश मिल रहा है। इस संदर्भ में सारा ही युद्धकाण्ड उनके लिये घटनाशून्य है, अतः उसका नाम परिवर्तित करके लंकाकाण्ड रख दिया है। इस सेतु के प्रसंग में भक्त तुलसीदास की भावुकता का एक और प्रमाण लीजिये—

देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा। प्रकट भए सब जलधर वृन्दा॥
मकर नक्र नाना झष व्याला। सत जोजन तन परम बिसाला।
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥ (६.४)

राम कथा के प्रसंगों को भक्त तुलसीदास ने किस प्रकार नवीन भावमयता और सांकेतिकता प्रदान कर दी है, इसके प्रमाण के लिये सेतुबन्ध का प्रसंग ही पर्याप्त है।

वाल्मीकि भी आदर्शवादी कवि हैं, परन्तु तुलसीदास से उनकी दृष्टि में कितना अन्तर था यह केवल इस प्रसंग के आधार पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। आदि-कवि ने इस घटना को मानवीय पौरुष के चमत्कार के रूप में ही देखा था। उन्होंने सागर के विस्तार और भयंकरता, सेतुनिर्माण की दुष्करता, क्रम-क्रम से पाँच दिन के अथक परिश्रम द्वारा सौ योजन सेतु का बनना[2], सूत से नाप-नाप कर उसकी लम्बाई और सीध का ठीक किया जाना[3], आदि विवरण प्रस्तुत करते हुए इस घटना को एक ठोस आश्चर्य के रूप में प्रस्तुत किया है। सेतु की भौगोलिक स्थिति को ठीक समझने मे तुलसीदास ने भी त्रुटि नहीं की है, अर्थात् दोनों काव्यों में इस सेतु का दूसरा छोर लका के सुबेल शैल पर जा कर मिलता है जहां राम अपना मुख्य सैन्य-शिविर स्थापित करते हैं। दोनों ही काव्यों में राम की विशाल वाहिनी के लिये यह सेतु संकीर्ण था,[4] अतः कुछ सेना सेतु से उतरी और कुछ जलमार्ग तथा आकाशमार्ग से (दे० मा० ६. दो० ४)। विवरण और घटना का इतना सूक्ष्म अनुसरण करते हुए भी तुलसी उन्ही प्रसगों में जिस प्रकार नवीन भावध्वनि उत्पन्न कर देते हैं, इससे उनकी विशिष्ट प्रतिभा प्रमाणित होती है।

१. "महादेवप्रसादाच्च," "अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत् प्रभुः" (रा० ६.१२६.१६) तथा (६.१२८.१०)।
२. रा० ६.२२.६७-७१।
३ वही ६१
४ रा० ६.२२.८३-८४

गोपुर या अटारी की घटना

अंगद को दूत बना कर भेजने से पहले दोनों काव्यों मे एक और भी छोटा सा प्रसंग घटित होता है, जिसमे दोनों के कथाक्रम की समानता लक्षित होती है। वा० रामायण में सुग्रीव रावण को गोपुर पर खड़ा देखकर सुबेल शैल से कूद कर वहाँ पहुच जाते हैं और हाथापाई कर के लौट आते है।[1] इसी प्रकार की घटना मानस मे होती है। सुबेल शिखर पर से राम लंका की ओर देख रहे थे कि उन्हे उधर कुछ सुन्दर मेघलीला सी होती हुई दिखलाई पड़ी। बिभीषण ने बतलाया कि यह मेघ-लीला नहीं है, वरन् रावण मन्दोदरी सहित नृत्य और संगीत के अखाड़े में बैठा है। सुनते ही राम ने एक बाण से रावण के छत्र मुकुट और मन्दोदरी के ताटंक गिरा दिये।[2] इस प्रकार इन दोनों घटनाओं का एक ही उद्देश्य प्रकट होता है—राम की सेना और उसके साथियों का अत्यधिक उत्साह और रावणपक्ष को अपनी शक्ति का प्रथम आभास देना। इस प्रसंग को दो सैन्यदलों की पहली झड़प कह सकते है। विवरण की भिन्नता होने पर भी इसमें उद्देश्य की समानता है। वा० रामायण और मानस की रामकथा का सर्वप्रथम तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्वान डा० टैसीटरी का विचार है कि तुलसीदास की कल्पना का स्रोत वा० रामायण का उक्त प्रसंग ही है।[3] यह प्रसग अध्यात्म रामायण (६.५.४१-४४) में भी है, परन्तु तुलसी का चित्रण उसकी अपेक्षा कवित्वपूर्ण है। इस प्रकार उन्होंने दोनों रामायणों की एक ही घटना का सम्मिश्रण कर उस पर अपने भक्तिमय व्यक्तित्व की छाप लगा दी है।

अंगद का दूतत्व

युद्धारंभ से पूर्व, दोनों काव्यों में, राजनैतिक दृष्टि से संधिवार्ता के लिये अगद को दूत बनाकर भेजा जाता है। मानस की कथा में, यह प्रसंग अंगद-रावण सम्वाद के नाम से प्रसिद्ध है जिससे उसकी नाटकीयता सूचित होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि तुलसी ने उपर्युक्त कथांशों का चयन करके वातावरण, अनुभाव-योजना और सम्वादों के द्वारा रामकथा को विशिष्ट नाटकीयता प्रदान की है। मानस के नाटकीय सम्वादों में लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद और अंगद-रावण सम्वाद विशेष कौशलपूर्ण हैं। नाटकीय शिल्प के अतिरिक्त तुलसी की भक्तिभावना ने इस प्रसग में कुछ घटनाओं का भी योग किया है।

वा० रामायण में अगद के वार्तालाप से विक्षुब्ध रावण का आदेश पा कर राक्षसगण अंगद को पकड़ कर बांधना चाहते है और अगद उन्हें गिराते हुए तथा लात से

१. रा० ६.४० ।

२. मा० ६.७३ ।

३. डा० टेसीटरी का कथन है कि प्रत्येक शौर्यकृत्य का श्रेय राम को देने की प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए तुलसी ने इसका सम्बन्ध, सुग्रीव से हटाकर, राम के साथ जोड़ दिया है और सुग्रीव की छलांग तथा कुश्ती को राम-बाण के चमत्कार में परिवर्तन कर दिया है- इं० इंडियन एन्टीक्वेरी नम्बर जनवरी १९१२ पृ० १६

रावण की अटारी को तोड़ते हुए, लौट आते है (६.४१.८६-८८)। मानस में वे काफी देर तक निर्भीकता पूर्वक वार्तालाप करने के अतिरिक्त दो चामत्कारिक कृत्यों द्वारा अपने माध्यम से राम की शक्ति भी सूचित करते है। वे भरी सभा मे, सब को ललकारते हुए, अपना पैर स्थापित करते है जिसे कोई नहीं उठा पाता और स्वयं रावण के उठने पर अंगद उसे लज्जित करते हुए बैठा देते हैं।[1] एक बार वे अत्यन्त क्रोधपूर्वक अपनी भुजाये पटक कर रावण के छत्रमुकुट गिरा देते हैं और उन्हें राम की ओर "पँवार" देते है।[2] रावण के छत्रमुकुट गिराने के प्रसंग की मानस में यह आवृत्ति कवि की सांप्रदायिक भक्तिभावना के कारण हुई है। इससे पूर्व के प्रसंग "अटारी की घटना" में भी हम रावण के छत्र-मुकुट और मन्दोदरी के ताटंकों को गिरते हुए देख चुके हैं। अंगद ने पैर स्थापित करते समय यह प्रतिज्ञा भी की थी कि यदि कोई उसे हटा देगा तो वे सीता को हार जायेंगे और राम को लौटना पड़ेगा। राम की भक्ति की अपार शक्ति सूचित करने के लिये तुलसी ने ऐसी अनेक चामत्कारिक घटनाओ को रामकथा में सन्निविष्ट किया है। ऐसी स्थिति में युद्धक्षेत्र और युद्ध-व्यापारों का वर्णन कम किया जाना स्वाभाविक ही है।

नागपाश

दोनों काव्यों में युद्ध का उत्कर्ष मेघनाद के पराक्रम से हुआ है, अन्तर यह है कि वा० रामायण मे उसने नागपाश का प्रयोग पहली ही चोट में किया है जब कि मानस मे लक्ष्मणशक्ति के प्रसंग के बाद।[3] यह क्रमविपर्यय उचित ही है अर्थात् युद्ध का प्रस्तार धीरे-धीरे होता है और उसके अनुसार पहले केवल अनुज का सकट और फिर दोनों भाइयों का संकट दिखलाया जाना ठीक लगता है। मानसकार ने इस प्रसंग में गरुड़ का प्रकरण भी जोड़ा है[4] जो कि वा० रामायण[5] में भी है परन्तु वह प्रक्षिप्तांशों के अन्तर्गत माना जाता है।[6] यह गरुड़-प्रसंग मानस के उत्तरकाण्ड में आने वाले गरुड़-काग सम्वाद[7] के लिये आवश्यक भूमिका प्रस्तुत करता है।[8] अरण्यकाण्ड में मानस की प्रस्तावना के नारद-मोह प्रसंग का उपसंहार[9] और इस काण्ड में मानस के उपसंहार (उत्तरकाण्ड) में आने वाले सम्वाद की भूमिका प्रस्तुत करते हुए तुलसी ने अपने प्रबन्ध की सदर्भणकला प्रकट की है।

---

१. मा० ६.३४-३५
२. वही, ३२।
३. रा० ६.४४ तथा मा० ६.७३।
४. मा० ६.७४।
५. रा० ६.५०
६. बुल्के, पृ० ३८१।
७. मा० ७.५८।
८. तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त, पृ० ३३३।
९ मा० ४१

नागपाश-प्रसंग से यह प्रकट है कि कथा-कंकाल के लिये तुलसी वा० रामायण के भी कम ऋणी नहीं हैं, क्योंकि यह प्रसंग न तो अध्यात्म में है और न प्रसन्नराघव या हनुमन्नाटक में। हो सकता है कि यह प्रसंग वा० रामायण की कथापरम्परा से अन्य साहित्य में प्रविष्ट हुआ हो और इस प्रकार वा० रामायण की कथा का मानस पर परोक्ष प्रभाव हो।

लक्ष्मणशक्ति

इस प्रसंग में भी तुलसी की मौलिकता सूचित होती है। वा० रामायण में लक्ष्मण, रावण द्वारा फेंकी गई शक्ति से मूर्छित हुए हैं और मानस में मेघनाद की शक्ति से[1]। मेघनाद और लक्ष्मण की जोट रावण-लक्ष्मण की जोट की अपेक्षा अधिक उपयुक्त और आकर्षक है, जैसा कि निम्नलिखित चित्र से प्रकट है—

लछिमन मेघनाद द्वौ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा॥
एकहि एक सकइ नहिं जीती। निसिचर छल बल करइ अनीती॥ (६.५४)

इससे कथाकार की सूझ प्रकट होती है। डा० मातालाप्रसाद गुप्त का विचार है कि शत्रुपक्ष में वीरता का प्रदर्शन रावण तक ही सीमित न रखकर बाँटने के विचार से ऐसा किया गया है।[2] इस प्रसंग से सम्बन्धित कालनेमि और अयोध्या में भरत से भेंट की घटनायें वा० रामायण के गौड़ीय संस्करण में हैं, कालनेमि प्रसंग पश्चिमी संस्करण और अध्यात्म रामायण में भी है तथा भरत-हनुमान सम्वाद हनुमन्नाटक में। अतः यहां भी दोनों बातें सम्भव हैं, जैसा कि हम विभीषण-शरणागति के प्रसंग में कह चुके हैं, कि तुलसीदास या तो सीधे गौड़ीय संस्करण की कथा परम्परा से प्रभावित हुए हों या अध्यात्म रामायण और हनुमन्नाटक के माध्यम से उस परम्परा से प्रभावित हुए हों। आशय यह कि मानस की रामकथा के पुनर्गठन के लिए विभिन्न कथापरम्पराओं के अनुशीलन और फिर अपनी भावना तथा कला के अनुसार कथा का गठन करने में तुलसी ने अपनी मौलिकता और कथाकार के रूप में कुशलता प्रकट की है।

सुषेण के विषय में भी तुलसी ने परिवर्तन किया है। वा० रामायण में वह राम की सेना का ही एक वानर है जबकि मानस में रावण का राजवैद्य है, और उसे रात्रि में शत्रुपुरी में से हनुमान उठा कर लाते हैं।[3] संकट में साहस का यह सम्मिश्रण कथा में कैसी सनसनी पैदा कर देता है, यह स्पष्ट ही है। हनुमान के औषधि-आनयन और लक्ष्मण के पुनर्जीवन के बीच के विकलतापूर्ण क्षणों में—

अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥ (६.६१)

---

१. रा० ६.१०१.२७-३२ तथा मा० ६.५४। रा० में इससे पूर्व भी एक बार लक्ष्मणशक्ति का प्रसंग आ चुका है (दे० ६.५९) और यद्यपि वह प्रक्षिप्त माना गया है (दे० बुल्के पृ० ३८१) परन्तु शक्ति वहां भी रावण द्वारा ही फेंकी गई है।

२. दे० तुलसीदास पृ० ३३३।

३. मा० ६.४५

कालनेमि और भरत-भेंट के प्रसंग रख कर तुलसीदास ने कथा मे शंका, भय और कौतूहल के तत्वों का अत्यन्त रोमांचकारी सम्मिश्रण किया है।

लक्ष्मण-शक्ति से सम्बन्धित राम के विलाप की करुण उक्तियों में वा० रामायण और मानस में आश्चर्यजनक साद्दश्य है। उदा० के लिए:—

(अ) देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ (६.१०२.१२)

(आ) सुतबित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जियं जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोद्र भ्राता ॥
(६.६४)

दोनों ही काव्यों में भ्रातृ-वियोग में पत्नी वियोग का दुःख विस्मृत हो गया है। इस प्रकार पुनः मूल-कथा से मानस की अत्यधिक समानता लक्षित होती है। आशय यह कि कथावस्तु के विधान में तुलसीदास पर अध्यात्म रामायण का ऋण भी अन्य ग्रथो के समान सामान्य ही है, विशेष नहीं।

वा० रामायण में शक्ति का प्रसंग दो बार आया है, जिनमें से पहला प्रक्षिप्त माना गया है (६.५९ तथा ६.१०१)। मानस में यह प्रसंग तीन बार आया है। पहली बार का प्रसंग मेघनाद की शक्ति का है (६.५४), दूसरी बार का प्रसंग रावण की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्छित होने का है और तीसरी बार का प्रसंग विभीषण पर छोडी गई शक्ति से, उसकी रक्षा करते हुए, राम के मूर्च्छित होने का है (६.९४)। वा० रामायण में विभीषण पर छोड़ी गई शक्ति लक्ष्मण द्वारा विफल कर दी गई थी, जिसके बाद रावण ने खिसिया कर लक्ष्मण पर शक्ति छोडी थी।[1] वा० रामायण मे लक्ष्मण-शक्ति का प्रसंग इसी रूप में है। मानसकार ने इस 'शक्ति-प्रसंग' मे लक्ष्मण के स्थान पर राम को रख कर उनकी भक्तवत्सलता का उज्ज्वल प्रमाण उपस्थित किया है। इससे मानस के कथानायक का चरित्र पूर्ववर्ती राम-साहित्य के नायकों की अपेक्षा और भी ऊँचा हो गया है[2]। यहाँ पुनः चरित्रोत्थापन के प्रयत्न के कारण घटना मे किंचित् परिवर्तन का उदाहरण मिलता है।

कुम्भकरण-वध

यह प्रसंग किसी नवीनता की दृष्टि से नहीं, समानता की दृष्टि से तुलनीय है। दोनों ही काव्यों में कुम्भकरण की विचित्र निद्रा, उसके जागरण के प्रयत्न, असीमित आहार, पर्वताकार शरीर, रावण को सदुपदेश[3] और युद्धभूमि में विभीषण से भेंट तथा उसकी प्रशंसा[4], सुग्रीव को बगल में दाब कर लाना तथा नाक-कान काटते हुए सुग्रीव का निकल भागना, विशाल काया का खण्ड-खण्ड करके काटा जाना,

१. रा० ६.१०१.२७।
२. तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त, पृ० ३३३।
३ रा० ६ ६ ? २१ मा० ६ ६३
४ रा० ६ ६७ १४८ १५२, मा० ६ ६४

आदि वर्णन बहुत कुछ मिलते-जुलते है । वा० रामायण में कुम्भकरण के द्वारा विभीषण की प्रशंसा और रावण को उपदेश उस काव्य में भक्ति भाव की उपस्थिति को सूचित करने वाले प्रसंग हैं। इससे विभीषण के देशद्रोहत्व का भी निराकरण हो जाता है।

रावण-वध

दोनों काव्यों में रावण का बध कई मुठभेड़ों के बाद हुआ है, जिसमें हनुमान और लक्ष्मण भी विशेष भाग लेते हैं, परन्तु वा० रामायण में जैसा "तुमुल रोम-हर्षणम्", "शरौघैः निरुच्छ्वासमिवाम्बरम्" (सर्ग १०६), "नैव रात्रं न दिवसं विरामम्" और "रामरावणयोरिव रामरावणयोर्युद्धम्" (सर्ग ११०) वर्णन हुआ है, वैसा मानस में नहीं है। शिरों की वृद्धि का प्रसंग वा० रामायण में भी है[1], परन्तु वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। रावण के बध में दोनों काव्यों में अन्तर है। वा० रामायण में मातलि के स्मरण कराने पर राम ब्रह्मास्त्र के प्रयोग द्वारा उसका वध करते हैं[2] और मानस में यह श्रेय भक्तराज विभीषण को दिया जाता है[3] अर्थात् वे राम में पूर्ण भक्ति प्रकट करते हुए अपने भाई की मृत्यु का रहस्य (नाभि में अमृत) राम को बतलाते हैं। यह अध्यात्म रामायण का अनुसरण है।[4] मृत्यु के बाद रावण का तेज राम के मुख में समा जाता है, इस प्रकार मानस में रावण का वध उद्धार या सायुज्य मुक्ति में परिणत हो जाता है[5]। वा० रामायण में रावण को इस प्रकार से सायुज्य मुक्ति नहीं मिली है फिर भी राम उसकी मृत्यु पर जो शब्द विभीषण से कहते हैं उनसे प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि में रावण का कितना सम्मान था, और वे शत्रु के प्रति भी कितने उदार थे:—

> महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः ।
> मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।
> क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥ (६.११४.१०१-२)

सीता की प्राप्ति

दोनों ही काव्यों में सीता को पालकी से उतार कर पैदल लाया जाता है जिससे सब लोग उन्हें देख सकें। वा० रामायण में राम उनसे अत्यन्त अपमानजनक, कठोर शब्द भी कहते हैं जिनका सीता स्वाभिमान पूर्ण उत्तर भी देती हैं।[6] मानस में "कछुक दुर्वाद"[7] केवल लोक दिखावे के लिए कहे गये है क्योंकि राम की "नर लीला"

---

१. रा० ६.११० ।
२. रा० ६.१११ ।
३. मा० ६.१०२ ।
४. अ० रा० ६.११.५१—५३ ।
५. मा० ६.१०३.६ ।
६. रा० ६.११८.११९
७. मा० ६ दोहा १०

का रहस्य और उस कारण सीता का अग्नि मे निवास करना लोगों को अविदित था। वा० रामायण के अग्निपरीक्षा-प्रसंग को भी कुछ विद्वान प्रक्षिप्त मानते है,[1] परन्तु यह विषय विवादास्पद है। मानस की कथा में यह प्रसंग अवतारवाद, लीला और भक्ति भावना पर आधारित तथा पूर्व संदर्भ से सम्बन्धित है। उसमें यह सीता की परीक्षा न होकर अग्निदेव के पास से धरोहर की वापसी मात्र है।

इससे प्रकट है कि प्रचलित वाल्मीकि रामायण के अनेक अलौकिक, अवतार-वादी और विशिष्ट भक्तिपरक स्थल, जिनमें से कुछ प्रक्षिप्त माने गये हैं, मानस की कथावस्तु में अनुकूल वातावरण पाकर सहज रूप से विन्यस्त हो गए हैं।

अयोध्या की ओर

युद्ध के पश्चात देवताओं का आगमन, दशरथ की पुत्रों से भेंट, मृत वानरो का इन्द्र द्वारा जीवित किया जाना विभीषण द्वारा वस्त्राभूषणों की वर्षा, आदि प्रसग वाल्मीकि रामायण में भी है[2] परन्तु वे अनावश्यक प्रतीत होने के कारण प्रक्षिप्त माने गये हैं।[3] मानस की कथावस्तु मे वे बेमेल नहीं लगते और उसकी कथा के स्वाभाविक अग बन गये हैं।

दोनों काव्यों में पुष्पक विमान पर अयोध्या को लौटते समय राम सीता को युद्धस्थल का निरीक्षण कराते है और पूर्वपरिचित मार्ग के विश्रामस्थलों, ऋषि-आश्रमो आदि पर रुकते हुए अयोध्या की सीमाओं के समीप पहुँचने पर हनुमान को भरत के पास भेजते है। मानस में सीता गंगा पर आकर अपनी पूर्वयात्रा की मनौती भी पूरी करती हैं,[4] परन्तु वाल्मीकि इसे भूल ही गये हैं।[5]

हनुमान को अयोध्या भेजने के प्रसंग में चरित्रकल्पना के भेद के कारण अन्तर हो गया है। वा० रामायण में राम उन्हें भरत के आन्तरिक भाव टटोलने के लिये भेजते हैं[6], जब कि मानस की कथा में ऐसा प्रसंग दोनों ही भाइयों के चरित्र के प्रतिकूल बैठता है। अतः हनुमान भरत को सूचना और धैर्य देने के लिये ही भेजे जाते है।

मानस में इसी स्थल पर, अर्थात् राम के अयोध्या की सीमाओं के समीप गगा-तट और निषादनगरी शृंगवेरपुर तक, आने पर काण्ड की समाप्ति कर दी गई है परन्तु वा० रामायरा में सम्पूर्ण कथा, अर्थात् रामराज्य के प्रसंग तक, इसी काण्ड मे समाविष्ट कर ली गई है।

---

१. दे० बुल्के पृष्ठ ३८२ (श्री महाराष्ट्रीय का विचार), तथा पृष्ठ ३९८ (प्रो० वेबर का विचार)।

२ दे० युद्धकाण्ड सर्ग १२० १२२ १२३ १२५ क्रमश

३ दे० बुल्के पृ० ३८२

काण्ड की समाप्ति

कथा की स्वाभाविकता और घटना की यथार्थता तथा वैज्ञानिकता के विचार से काण्ड की समाप्ति विभीषण के राज्याभिषेक के साथ होनी चाहिये थी और अयोध्या की ओर उड़ता हुआ राम का पुष्पक विमान उत्तरकाण्ड के आरंभ में दिखलाई पडना चाहिए था। वा० रामायण मे तो कथा को उसके अभीष्ट या स्वाभाविक विराम से आगे खींचकर लाया ही गया है, परन्तु मानस में भी लंकाकाण्ड की कथा निश्चित सीमा से आगे बढ़ी हुई प्रतीत होती है।[1] उत्तरकाण्ड की कथावस्तु को निश्चित करने मे तुलसी को विशेष प्रयत्न करने पड़े होंगे क्योंकि उन्हें सीता-वनवास आदि प्रसंग सम्मिलित नहीं करने थे और उत्तरकाण्ड के लिये पर्याप्त सामग्री संग्रहीत करनी थी। इसके लिये काग़भुशुण्डि-प्रसंग तो उन्होंने पहले ही, मानस की प्रस्तावना मे में[2], निश्चित कर रक्खा था और रामराज्य का वर्णन उत्तरकाण्ड मे करना स्वाभाविक ही था। अब प्रश्न था लंकाकाण्ड की समाप्ति और उत्तरकाण्ड के आरम्भ का। भरत से मिलाप भी उत्तरकाण्ड में ही स्वाभाविक लगता है। अतः राम के अयोध्या-प्रवेश और भाइयों के मिलाप के भावुक प्रसंग को ही उन्होंने काण्ड का आरम्भिक अंश बनाना निश्चित किया और इससे पूर्व के प्रसंग को लंकाकाण्ड के अन्त मे मिला लिया। आशय यह कि वा० रामायण और अध्यात्म रामायण के युद्धकाण्ड के अन्त मे वे अवश्य प्रभावित हुए हैं और उसी के अनुसार राम के अयोध्या-प्रत्यावर्तन का प्रारंभिक भाग लंकाकाण्ड मे सम्मिलित कर लिया है तथा शेष भाग उत्तरकाण्ड के आरंभ मे रख दिया है। इस प्रकार अयोध्या० और अरण्यकाण्ड, सुन्दर० और लंकाकाण्ड तथा लंका० और उत्तर-काण्ड के सन्धिस्थलों का तुलसी ने पुनर्विधान किया है। इन में से अयोध्या० का अन्त और अरण्य० का आरंभ नये ढंग से करने में वे प्रबन्धकौशल की दृष्टि से जितने सफल हुए हैं उतने अन्य दो परिवर्तनों मे नहीं, जैसा कि हम पहले सम्बन्धित प्रसंगों मे दिखला चुके हैं।

अन्य-विषय

मानस के लंकाकाण्ड में भी भक्ति के पोषक कथांश बढ़ाये गये है और उसके विरोधी प्रसंगों को परिवर्तित किया गया है या छोड़ दिया गया है। यह पहले कहा जा चुका है कि मानस की कथावस्तु में प्रचलित रामायण के वे अंश प्रायः ले लिये गये है जो भक्ति के पोषक हैं और जिनसे कथा-सौष्ठव को भी हानि नहीं पहुँचती, तथा वे अंश छोड़ दिये गये है जिनमे काव्यनायक की मर्यादा भंग होती है और जो कथा-सौष्ठव

१. मानस के लंकाकाण्ड की समाप्ति निम्नलिखित दोहे पर स्वाभाविक और उचित प्रतीत होती है—

प्रभु प्रेरित कपि भालु सब रामरूप उर राखि।
हरष विषाद सहित चले बिनय बिबिध बिधि भाषि॥ (११८-क)

२. कहा भुशुण्डि बखानि सुना विहग नायक गरुड़।
सो संवाद उदार जेहि विधि भा आगे कहब (१ दो० १२० सन्त)

को हानि पहुँचाते हुए प्रतीत होते है।

लंकाकाण्ड में भक्ति की दृष्टि से बढ़ाये गये फुटकर प्रसंगों में रावण-मंदोदरी सम्वादों को विशेष रूप से लिया जा सकता है। वा० रामायण के गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय संस्करणों मे केवल एक बार यह प्रसंग आया है[1] परन्तु मानसकार ने इसका प्रयोग तीन बार लंकाकाण्ड में[2] और एक बार सुन्दर-काण्ड म किया है।[3] मन्दोदरी के अतिरिक्त रावण के अन्य स्वजन भी रामभक्ति में दीक्षित होते हुए दिखलाई पड़ते है—पुत्र, नाना, दूत[4] आदि। वस्तुतः रावण के परिवार और दरबार में शत्रुपक्ष के समर्थक, विभीषण के अतिरिक्त, वा० रामायण मे भी अनेक दिखलाई पड़ते है। कुंभकरण के विषय मे पहले कहा जा ही चुका है (दे० पृ० ७५)। रावण-दूत शुक-सारण ने भी राम के पराक्रम का बखान किया है,[5] जिसका विकास करते हुए मानसकार ने शुक से स्पष्ट उपदेश ही दिला डाला है[6] और फिर वह भी लात खा कर विभीषण की तरह राम की शरण मे पहुंचता है। सुन्दरकाण्ड से ही युद्ध का वातावरण आरंभ हुआ है और मानसकार ने वहीं से रावण-पक्ष के राम-भक्तों के प्रसंग आरंभ कर दिये है। माल्यवान द्वारा उपदेश वा० रामायण में भी है,[7] मानस मे उसे और स्पष्ट अथवा उग्र कर दिया गया है।[8] रावण के पुत्र प्रहस्त का प्रसंग मानसकार ने बदल दिया है। वा० रामायण में वह डींग मारता है, विभीषण का विरोध करता है और पिता का समर्थन करता है[9] परन्तु मानसकार ने मेघनाद के इस अनुज को भी रामभक्त बना कर पिता का विरोध करते हुए दिखलाया है।[10] इससे स्पष्ट है कि रामभक्ति के प्रेरक जो प्रसंग वा० रामायण मे अस्पष्ट या अपूर्ण थे उन्हें मानसकार ने विकसित करके राम भक्ति का प्रसार किया है। उसने राम की विजय और रावण की पराजय, इस प्रकार, पहले से ही सूचित कर दी है।

दूसरी ओर, वा० रामायण के वे प्रसंग जो काव्य नायक राम या सीता के गौरव तथा मर्यादा के प्रतिकूल हैं उन्हें मानसकार ने छोड़ दिया है, जैसे राक्षसों के मायाकृत्यों के अन्तर्गत राम और सीता के मायामय शीशों के प्रसंग,[11] अथवा राम

---

१. गौ० रा० ६. ३३ तथा प० रा० ६. ३५ (दे० बुल्के, पृ० ३७८)।
२. मा० ६.६-७, १४-१५, ३६-३७।
३. मा० ५.३६।
४. दे० मा० ६.८. (प्रहस्त), ६.४८ (माल्यवान), ५.५४-५७ (शुक)।
५. रा० ६.२९।
६. मा० ५.५७।
७. रा० ६.३५।
८. मा० ५.४०।
९ रा० ६ ८ तथा १४ (दा० संस्करण)- और ५.७९ (दे० तथा प० रा०)।
१० मा० ६ ९
११ व० रा० ६ ३१ तथा ६ ८१

और लक्ष्मण को मुमूर्षु अवस्था में सीता को दिखलाया जाना[1]। वा० रामायण के पश्चिमी संस्करण में मेघनाद के समान ही रावण का भी यज्ञ विध्वंस किया गया है,[2] जिसका अनुसरण अध्यात्म रामायण के प्रभाव से मानस में भी किया गया है, परन्तु जहाँ दोनों रामायणों में यज्ञ-विध्वंस करने के लिये अंगद या हनुमान के द्वारा मन्दोदरी की दुर्दशा कराई गई है वहाँ मानस में इसका रूप कुछ मर्यादित कर दिया गया है अर्थात् हनुमान या अंगद नहीं वरन् अन्य वानर, मन्दोदरी को नहीं, वरन् अन्य नारियों को, बाहर घसीट लाते हैं जिससे रावण यज्ञ करना छोड़ कर उठ बैठता है।[3] मानस की मन्दोदरी राम की भक्त है इसलिये तुलसीदास ने उसे दुर्दशा से बचा लिया है। वा० रामायण के दाक्षिणात्य संस्करण में अगस्त्य ऋषि रावण-विजय के लिये राम से आदित्यहृदय स्तोत्र का पाठ कराते हैं,[4] जो कि तुलसी की भक्तिभावना को स्वीकार नहीं है क्योंकि इससे राम की महत्ता गिरती है।

प्रचलित वा० रामायण के बहुत से अनावश्यक प्रसंग मानस में नहीं हैं। उदा० के लिये उसमें जो युद्ध के अनेक सर्गों में युद्धों तथा द्वन्द्व युद्धों का विस्तृत वर्णन किया गया है उसमें इतनी पुनरावृत्ति और नीरसता पाई जाती है कि वह समस्त सामग्री वाल्मीकि जैसे महाकवि की रचना नहीं हो सकती।[5] इसके अतिरिक्त लंकादहन के प्रसंग की भी आवृत्ति इस काण्ड में हुई है।[6] इसी तरह ओषधि-आनयन का प्रसंग भी दो बार आया है।[7] अध्यात्म रामायण में भी इस प्रसंग की आवृत्ति हुई है।[8] परन्तु मानस में यह प्रसंग केवल एक बार आया है।[9] इससे मानसकार का कथा-सौष्ठव स्पष्ट ही प्रकट होता है।

वा० रामायण में विभीषण की पत्नी सरमा को भी कथा-प्रसंगों में स्थान दिया गया है (६.३२ और ३४) और अध्यात्म रामायण में सरमा रावण के वधोपाय का पता देती है (६.१०), परन्तु मानसकार ने सरमा का कहीं उल्लेख तक नहीं किया है। आशय यह कि घटनाओं और पात्रों का बाहुल्य देखकर भी तुलसी अनावश्यक रूप से उनके प्रति आकृष्ट नहीं हुए हैं। सरमा और त्रिजटा दोनों का कार्य मानस की त्रिजटा ही कर लेती है। इसमें मानसकार के कथा-संगठन के अतिरिक्त प्रचलित कथापरम्परा का परिष्कार करते हुए कथा के पुनर्निर्माण में मौलिकता एवं निपुणता

१. वा० ६.४७।
२. प० रा० ६.८२।
३. अ० रा० ६.१०।
४. मा० ६.८५।
५. वा० ६.१०७।
६. दे० बुल्के पृ० ३८१।
७. वा० ६.७४।
८. वही ७४ तथा १०२।
९. अ० रा० ६.५ और ६.६।
१०. मा० ६.५५-६१।

सूचित होती है। दूसरी ओर, उसने मन्दोदरी-सम्वाद जैसे प्रसंगों की अनेक आवृत्तिय की है, इससे उसकी कथा का विशेष रूप से भक्ति के रंग में रंगा जाना भी प्रकट होता है।

वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड के अन्त में रामराज्य-वर्णन के साथ ही माहात्म्य-कथन भी है, जैसा कि मानस के प्रत्येक काण्ड के अन्त मे है। अतः इस माहात्म्य-कथन की शैली का पूर्वरूप आदि काव्य में देखा जा सकता है। इससे भी आदि कवि का धार्मिक-नैतिक लक्ष्य प्रकट होता है। यही अंश मूल रचना का वास्तविक उपसंहार है, जैसा कि "रामायणमिदं कृत्स्न" (६.१३१.११५) से स्पष्ट ही है।

निष्कर्ष

दोनों कवियों के युद्धकाण्ड की कथावस्तु की तुलना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं:—

१. राम को परब्रह्मावतार मानने के कारण तुलसी ने युद्ध-प्रसंगों को संक्षिप्त कर दिया है, जब कि वाल्मीकि रामायण में युद्ध वर्णन स्वाभाविक और विस्तृत है। प्रचलित रामायण में भक्ति का वातावरण होने पर भी वह मानस के समान अधिक नही है, उसमें भक्ति के अनेक प्रसंग ऊपर से थोपे गये प्रतीत होते है। युद्धों का विस्तार भी उसमें मूल रचना की अपेक्षा बहुत अधिक किया गया है।

२. वाल्मीकि रामायण की कथा की प्रवृत्ति चामत्कारिकता की ओर है जबकि मानस की अलौकिकता की ओर। अतः उसमे भक्तिपरक प्रसंगों की अधिकता तो है, परन्तु रामायण के समान चामत्कारिक प्रसंगों की आवृत्तियों से कथासौष्ठव मे कमी नहीं आई है।

३. मानस के अरण्यकाण्ड की छाया-सीता की कल्पना का प्रेरक स्रोत वा० रामायण की सीता की अग्नि-परीक्षा और सीता के मायामय शरीर जैसी घटनाओ मे दृष्टिगोचर होता है। तुलसी ने रामायण के भक्ति के पोषक प्रसंगों को ग्रहण कर लिया है और उसके विरोधी प्रसंगों को छोड़ दिया है।

४. अनेक प्रसंग सीधे वाल्मीकि रामायण से प्राप्त किये गये हैं जैसे नागपाश का प्रसंग, और उसके तीनों ही संस्करणों की कथा-परम्परा से तुलसी प्रभावित हुए है। अनेक प्रसंगों में अध्यात्म रामायण को छोड़ कर वा० रामायण को ही मान्यता दी गई है, तथा नाटकों से लिये गये प्रसंगों में भी संशोधन किया गया है। इस प्रकार विविध स्रोतों से गृहीत सामग्री के खण्डों को जोड़ कर ही मानस की कथावस्तु का विधान नहीं हुआ है, वरन् इन सब से पृथक मौलिक कल्पनायें भी की गई हैं, जैसे लक्ष्मणशक्ति से मेघनाद का सम्बन्ध और प्रहस्त द्वारा अपने पिता का विरोध।

५. वा० रामायण के युद्धकाण्ड के अन्त मे रामराज्य-वर्णन और माहात्म्य-कथन से मूल रचना की धार्मिकता का बोध होता है। इसी आधार पर बालकाण्ड का नारद-वाल्मीकि सम्वाद सर्ग १) कल्पित किया गया प्रतीत होता है जिससे महर्ष्चरित

के रूप में धर्म का उदात्त स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। यही मूल रचना का अन्तिम अंश है, यही उसका वास्तविक उपसंहार है, जिसके आधार पर उत्तरकाण्ड की अप्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है।

उत्तरकाण्ड

वाल्मीकि रामायण का सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है। इस विषय में प्रायः सभी समालोचक सहमत हैं। इसके लिये निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त होंगे :—

१. युद्धकाण्ड के अन्तिम भाग में कथा और काव्य का अन्त सूचित होता है। रामराज्य के वर्णन में कथा का और माहात्म्य-कथन में काव्य का अन्त स्पष्टतः प्रकट है।

२. बालकाण्ड के प्रथम सर्ग की अनुक्रमणिका में केवल अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक के कथा-प्रसंगों का उल्लेख है, उत्तरकाण्ड की कोई चर्चा नहीं है। तृतीय सर्ग में दी गई दूसरी अनुक्रमणिका में उत्तरकाण्ड का उल्लेख मात्र है, परन्तु उसके कथाप्रसंगों की सूची नहीं है। [illegible] अन्य संस्करणों में एक दूसरी [illegible] अनुक्रमणिका भी है (दे० गौड़ीय रामायण १.४ तथा पश्चिमोत्तरीय रामायण १.३) जिसमें सातों काण्डों की सामग्री का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि उत्तरकाण्ड की रचना बहुत बाद में हुई।

३. युद्धकाण्ड की कथा के साथ उत्तरकाण्ड का सामंजस्य भी संगत नहीं है अर्थात् युद्धकाण्ड के अन्तिम भाग के कथा प्रसंगों की पुनरावृत्ति उत्तरकाण्ड में हुई है (पुष्पक-विमान और सुग्रीव-विभीषण आदि [illegible])। इसके अतिरिक्त, उत्तरकाण्ड का प्रारंभ राम के उत्तरजीवन अर्थात् राजकार्य अश्वमेध आदि से करने की अपेक्षा रावण और हनुमान के चरित से किया गया है, जिससे मूल कथा का क्रम नष्ट हो गया है।

४. उत्तरकाण्ड की रचना शैली अन्य प्रामाणिक काण्डों (बालकाण्ड को छोड़कर) की शैली से सर्वथा भिन्न है। इसमें असंगत अवान्तर कथाओं का बाहुल्य है, जैसे नृग, निमि, ययाति (सर्ग ५४-५९) श्वेत, दण्ड (सर्ग ७८-८१) आदि की कथायें। इसके अतिरिक्त रामचरित से सम्बन्धित जो सामग्री है उसमें भी एकता और संगठन नहीं है। सीतात्याग, शत्रुघ्नचरित, शम्बूकवध, अश्वमेध, सीता का भूमिप्रवेश, आदि प्रसंग असम्बद्ध हैं, उनमें कथासौष्ठव या पारस्परिक संगति नहीं है। सम्पूर्ण काण्ड

---

१. दे० बुल्के पृ० १२० तथा [illegible] ने [illegible] और [illegible] (आ० अ० [illegible] पृ० [illegible]) में पर्याप्त एवं [illegible] विवेचन किया है।

२. तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः (१.३.३८

३. दाक्षिणात्य संस्करण में भी इसके पोषक श्लोक हैं—

(१) तथा सर्गशतान्पंच षट्काण्डानि तथोत्तरम्। (१.४.२)

(२) कृत्वापि महाप्राज्ञ सभविष्य सहोत्तरम् (१.४.३)

एक परिशिष्ट सा, किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के द्वारा जोड़ा हुआ, प्रतीत होता है।

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रमाण उत्तरकाण्ड की प्रक्षिप्तता के विषय में दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरकांड वाल्मीकि की रचना और मूल रामकथा का भाग नहीं है। मानस के उत्तरकांड की कथा वा० रामायण से सर्वथा भिन्न है और अध्यात्म रामायण से भी पृथक् है जिसमें वा० रामायण का ही अनुसरण किया गया है। तुलसी ने वा० रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा अर्थात् राम के उत्तरचरित को अपने अन्य साहित्य में, संक्षिप्त और सांकेतिक रूप में, अवश्य स्थान दिया है। उसके कुछ विकीर्ण प्रसंग मानस की कथा में भी सन्निविष्ट हो गये हैं।

वा० रामायण के उत्तरकांड की कथा-सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(अ) रामकथा से सम्बन्धित पात्रों के जीवन-वृत्तान्त (रावण, हनुमान और बालि तथा सुग्रीव की कथायें)।

(आ) राम का उत्तरचरित (सीता का परित्याग, शत्रुघ्न की कथा अर्थात् लवणासुर-वध, लवकुश का जन्म, शम्बूक-वध, अश्वमेध और सीता का पृथ्वी-प्रवेश, रघुवंश का राज्य-विस्तार और महाप्रस्थान)।

(इ) दृष्टान्त रूप में या वार्ता-प्रसंग में कही गई अन्य कथायें (राजा नृग, निमि, ययाति, श्वेत और दण्ड की कथायें)।

इसी प्रकार मानस के उत्तरकांड की कथा को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(अ) राम का उत्तरचरित (भरत-मिलाप, राज्याभिषेक, मित्रों की बिदाई, रामराज्य की सुख-सम्पदा, सनकादि, वशिष्ठ और नारद से ज्ञान-भक्ति की वार्ता तथा हनुमान, भ्राताओं और पुरवासियों को ज्ञानोपदेश, सांकेतिक रूप में महाप्रस्थान)।

(आ) कागभुशुण्डि-चरित।

(इ) ग्रंथ का उपसंहार।

तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों के उत्तरकाण्ड का रचना-विधान सर्वथा भिन्न है। राम का उत्तरचरित दोनों काव्यों में भिन्न है, प्रासंगिक कथायें भी पृथक् हैं और उपसंहार की शैली में भी कोई सादृश्य नहीं है। अतः दोनों के उत्तरकांड की तुलना अन्य कांडों के समान नहीं की जा सकती। इस अध्ययन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

(अ) मानस के उत्तरकांड के प्रारंभिक कथांश की वा० रामायण के युद्धकांड के अन्तिम कथांश से तुलना (भरत-मिलाप, अभिषेक और रामराज्य)।

(आ) वा० रामायण के उत्तरकांड की कथा का तुलसी द्वारा उपयोग।

(इ) मानस में उत्तरकांड की कथावस्तु का समग्र रूप से विवेचन तथा आधिकारिक कथा के साथ काम गरुड़ सम्वाद और कागभुशुण्डि चरित की संगति।

(अ) वा० रामायण के युद्धकाण्ड का अन्त और मानस के उत्तरकाण्ड का आरंभ।

मानस के उत्तरकांड के प्रारभिक अंश में भी वा० रामायण के युद्धकांड की कथा की अपेक्षा कवि ने कुछ नवीनतायें उत्पन्न की है। उसने मिलाप के प्रसंग को अधिक भावपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। भरत की आत्मग्लानि, व्याकुलता और अधीरता का विशेष रूप से चित्रण किया है, यद्यपि हनुमान का सन्देश दोनों ही काव्यो मे प्राय: एक समान शब्दो में दिया गया है। तुलना के लिये देखिये—

(अ) वसन्तं दण्डकारण्ये य त्वं चीरजटाधरम्।
अनुशोचसि काकुत्स्थ स त्वां कुशलमब्रवीत्। (६. १२८. ३५)

(आ) जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुनगन पाती।
रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आयहु कुसल देवमुनि त्राता॥ (७.२)

वा० रामायण में सन्देश सुन कर भरत का मूर्छित हो जाना और कुछ देर बाद ऐसे प्रिय सन्देश की सत्यता में अविश्वास करना भी दिखलाया गया है[1], जिससे भरत का अतिशय भ्रातृप्रेम भक्तिभाव की सीमा तक पहुंचा हुआ दिखलाई पड़ता है। यह हम पहले भी कह चुके हैं कि मानसकार ने घटनातत्व को अक्षुण्ण रखते हुए वस्तुत: मूलकथा की अर्थध्वनियों का ही विकास करके उसे नवीन रूप प्रदान किया है। भरत की भावविह्वलता का मूल स्रोत मूल रामायण ही है।

मिलाप-प्रसंग के अन्तर्गत मानसकार ने कैकेयी का विशेष रूप से समावेश किया है। लक्ष्मण उससे बारंबार मिलते हैं[2] और प्रभु राम उनके समग्र संकोच को अपनी सहृदयता से दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इस मिलाप-प्रसंग में भी मानसकार ने अलौकिक तत्व का समावेश किया है अर्थात् सारे अधीर परिजन और पुरजन से राम एक ही क्षण में, अनेक वेश धर कर, भेंट कर लेते हैं।[4]

मानसकार ने केवल राम के राज्याभिषेक का वर्णन किया है, वा० रामायण के समान भरत के[5], अथवा अध्यात्म रामायण के समान लक्ष्मण के[6], यौवराज्य का कोई उल्लेख नहीं किया है।

विदाई के प्रसंग में भी मानसकार ने कुछ अपनी ओर से जोड़ा है। वा० रामायण में हनुमान की भी सब के साथ विदाई हो गई है[3] और अध्यात्म रामायण

१. वा० ६.१२७.२९ (भरत को शंका होती है कि कहीं हनुमान ने [illegible] असत्य संवाद तो नहीं दे दिया है)।
२. मा० ७.६ (ख)।
३. मा० ७.१०.१-२।
४. मा० ७.६।
५. वा० ६.१३१.९०।
६. अ० रा० ६.१६.२६।

में भी वे हिमालय पर चले गये है,[१] परन्तु मानस मे वे सुग्रीव की आज्ञा से राम की सेवा के लिये रुक जाते हैं[२]। अंगद की बिदाई मानस में विशेष कारुणिक है, वह भी हनुमान के समान राम की सेवा में रुक जाना चाहते थे।[३] इस प्रकार तुलसी की भक्ति-भावना ने, हनुमान और अंगद के चरित्र का विस्तार करने के लिये, ये लघु प्रसंग रामचरित के उपसंहार में जोड़ दिये हैं। इसके लिये वे अध्यात्म रामायण के भी ऋणी नही है, यह उनके भक्तहृदय की ही मौलिक कल्पना है। वा० रामायण में सीता के द्वारा हनुमान के विशेष सत्कार अर्थात् माला प्रदान करने का वर्णन है[४] जिस का विकास मानस मे राम के द्वारा अंगद को माला प्रदान किये जाने[५] के प्रसंग में दिखलाई पड़ता है।

(आ) वा० रामायण के उत्तरकांड की कथा का तुलसी द्वारा उपयोग

यह सामग्री भी कथावस्तु की दृष्टि से तीन भागो मे विभाजित की जा सकती है—प्रतिनायक का चरित्र (रावण-चरित्र), मुख्य सहायकों का चरित्र (हनुमान और सुग्रीव का) तथा उत्तर रामचरित (जिसमें शत्रुघ्नचरित कुछ स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है)। इस सामग्री में, विकसनशील महाकाव्यों के अनुरूप, रामकथा के अनन्त विस्तार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और यदि ईस्वी सन् के समीप प्रचलित रामायण का पाठ स्थिर न कर दिया गया होता तब आज वा० रामायण का आकार क्या होता इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। विभीषण के चरित्र के विस्तार की प्रवृत्ति भी वा० रामायण के युद्धकांड में शरमा-प्रसंग के रूप में दिखलाई पड़ती है। मानस की भी यही दशा होने जा रही थी,[६] परन्तु उस पर समय रहते नियन्त्रण कर लिया गया।

उक्त सामग्री में से निम्नलिखित प्रसंग विचारणीय है :—

१. रावणचरित, २. हनुमच्चरित, ३. वालि और सुग्रीव की कथा, ४. सीता का परित्याग, ५. श्वान, गृध्र और उलूक के प्रसंग, ६. शत्रुघ्नचरित, ७. शम्बूक-वध, ८. अश्वमेध और सीता का पृथ्वी-प्रवेश, ९. रघुवंश का राज्यस्थापन और १०. महाप्रस्थान।

इन प्रसंगों का समावेश मानस के उत्तरकाण्ड में नहीं किया गया है। रावण-

१. अ० रा० [illegible]।
२. मा० ७.१६।
३. वही, १८।
४. वा० [illegible]।
५. मा० ७.१८ (छं०)।
६. [illegible] जिसमें [illegible] तकुश [illegible] के
[illegible]

चरित मानस के बालकांड में है, शेष प्रसंग मानस के अन्य कांडों में संकेत रूप से अथवा तुलसी के मानसेतर साहित्य में समाविष्ट हुए हैं। इससे यह प्रकट होता है कि तुलसी वा० रामायण के उत्तरकांड की परम्परा से प्रभावित अवश्य थे,[1] फिर भी इस कांड की रचना उन्होंने स्वतन्त्र रूप से ही की है।

रावण-चरित

वा० रामायण में रावण-चरित का स्वतंत्र वर्णन उत्तरकांड में हुआ है, परंतु उसके अत्याचार की कथा बालकांड में[2] और उसकी विजय-गाथा, वंश या परिवार आदि की कुछ कथायें अरण्य[3], सुन्दर[4] और युद्धकांड[5] में भी आती रही हैं। तुलसी ने रावण-चरित का स्वतन्त्र वर्णन बालकाण्ड में[6] और उसके जीवन की कुछ अन्य कथायें संकेत रूप से लंकाकांड में भी कही हैं।[7]

रावण-चरित को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—रावण का पितृ-परिवार, मातृ-परिवार, श्वसुर-परिवार, निजी परिवार और विजय-गाथायें। दोनों काव्यों में रावण सम्बन्धी ये विवरण दिये गये हैं, परन्तु मानस में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में है और वा० रामायण में विस्तार-पूर्वक दिये गये हैं। स्वयं वाल्मीकि ने रावण-चरित का विस्तार अपने काव्य में नहीं किया था, इसलिये वा० रामायण की आधिकारिक कथा से रावण-चरित का सम्बन्ध मानस की अपेक्षा दूरी का है। मानस में प्रस्तावना रूप में इसे जोड़ कर आधिकारिक कथा के अधिक समीप लाया गया है।

रावण के पितृ परिवार अर्थात् पुलस्त्य, विश्रवा, कुबेर आदि का विस्तृत विवरण वा० रामायण के उत्तरकाण्ड में है[8], जबकि मानस में इनका उल्लेख मात्र है[9]। इसके स्थान पर मानस में रावण के पूर्वजन्म की कथा प्रतापभानु-चरित के रूप में विस्तार पूर्वक कही गई है।[10] इस प्रकार मानस में रावण-चरित का स्वरूप बदला हुआ दिखलाई पड़ता है अर्थात् वह पूर्व जन्म के संस्कार लेकर नवीन जन्म धारण करता है और उसका भी अवतार होता है (मा० ७.६४.८)। तुलसी ने पूर्वभव के रूप में उसके

१. डा० रामकुमार वर्मा [illegible] (दे० हि० सा० [illegible]) [illegible] उत्तरकाण्ड [illegible] काशी के [illegible] सूर्याचार्य [illegible]।

२. रा० १.१५।

३. रा० ३.४८ (सीता-रावण संवाद)।

४. रा० ५.२.६८-७० (नाग-ग्रप्सरा)।

५. रा० ६.७।

६. मा० १.१७६-१८३।

७. मा० ६.२४.२५ (अंगद-रावण सम्वाद)।

८. रा० ७.२-३।

९. मा० १.१७९.१७६।

१० १ १५३ १७५

वर्तमान जीवन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। उसीके साथ उसके दोनों भाइयों अर्थात् कुंभकरण और विभीषण के भी पूर्वजन्म की कथा प्रतापभानु-चरित में सम्मिलित है। तुलसी ने विभीषण को रावण का वैमातृक अनुज दिखलाया है।[1] यह उनके भक्त हृदय की कल्पना है। इससे रावण की अपेक्षा उसके भिन्न चरित की भूमिका स्थापित हो गई है। प्रस्तावना भाग के अतिरिक्त अन्यत्र भी रावण के उच्च कुल अर्थात् पुलस्त्य कुल का उल्लेख किया गया है।[2] आशय यह कि प्रतिनायक के चरित्र का अनावश्यक विस्तार न करते हुए भी तुलसी ने उसका यथेष्ट परिचय दे कर उसके सम्बन्ध मे पाठकों की आवश्यक जिज्ञासाओं की पूर्ति अवश्य कर दी है।

इसी प्रकार उसके मातृकुल का परिचय[3], लंका का संक्षिप्त इतिहास,[4] मंदोदरी के साथ विवाह[5], कुबेर से पुष्पक विमान का छीनना[6] लंका को फिर से बसाना[7], अनेक सुन्दरियों का वरण करना,[8] देवताओ को विजित करना[9], आदि प्रसंग मानस के भी रावण-चरित में आ गये है। तुलसी को इतने से सन्तोष नहीं हुआ है। अतः उसका शेप चरित उन्होंने संदर्भ या अन्तर्कथाओं के रूप मे लंकाकांड में सम्मिलित कर लिया है, जिनमे से सहस्रबाहु से युद्ध[10], बालि से पराजय[11] और कैलाश का उठाना[12] आदि प्रसग उल्लेखनीय है। वाँ० रामायण मे ये प्रसग विस्तारपूर्वक पूरे सर्गों में दिये गये है जबकि मानस मे उनका उल्लेखमात्र है। वा० रामायण के रावण-चरित में कुछ अन्य प्रसग भी है, जैसे रावण का राम के पूर्वज अनरण्य से युद्ध (७. १९), वेदवती-प्रसग (७ १७), रम्भा-प्रसग (७.२६), मधुदैत्य से युद्ध और उससे रावण की मौसेरी बहिन कुभीनसी का विवाह (७.२५), विद्युज्जिह्व दानव से शूर्पणखा का विवाह (७.१२), इत्यादि। आशय यह कि वा० रामायण का उत्तरकाड वस्तुतः दो मुख्य भागो में विभाजित किया जा सकता है। उसका पूर्वार्ध रावणचरित है और उसका उत्तरार्ध राम

---

१. मा० १.१७६.४ ।

२. मा० ५.२३.२ तथा दो० ३१ (ख) और ६.२०.३ ।

३. मा० १.१७८.३ (इनमें संकेतित "निशाचर" रावण के नाना-परिवार के थे, जिन्हें देवताओं ने खदेड़ दिया था और उनकी लंका पर अधिकार कर लिया था। वा० रामायण के उत्तर-काण्ड की इसी कथा का (सर्ग ४-८) यहाँ संक्षिप्त रूप है।

४. मा० १.१७८.५-८ तथा रा० ७.३ ।

५. मा० १.१७८.२ तथा रा० ७.१२ ।

६. मा० १.१७९.८ तथा रा० ७.१५ ।

७ मा० १.१७९.६ तथा रा० ७.११ ।

८. मा० १ दो० १८२ (ख) तथा रा० ७.२४ ।

९. मा० १.१८१-८२ तथा रा० ७.२७-३० ।

१०. मा० ६.२४ तथा रा० ७.३१-३३ ।

११ मा० ६ २४ तथा रा० ७ ३४

१२ मा० ६ २५ तथा रा० ७ १६

का उत्तरचरित । इसी से उसकी कथावस्तु की अस्वाभाविकता प्रकट होती है । यही स्थिति बालकांड में दिखलाई पड़ती है । उसका भी अधिकांश भाग राम के चरित्र से सम्बन्धित नहीं है।

तुलसी के भी बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में रामकथा से अतिरिक्त कथायें हैं परन्तु वे एक विशिष्ट उद्देश्य और विशिष्ट शैली के द्वारा आधिकारिक कथा से जोड़ दी गई हैं । वा० रामायण में यह बात नहीं है । उसके बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड की कथाओं ने स्वतन्त्र आख्यानों का रूप धारण कर लिया है, वे प्रासंगिक कथावस्तु की सीमा से बाहर चली गई हैं । उत्तरकाण्ड में प्रतिनायक के चरित्र का अत्यधिक विस्तार है जब कि मानस में वही बालकाण्ड के अंतर्गत, भूमिका स्वरूप, कथावस्तु का स्वाभाविक अंग बन कर आया है । आधिकारिक कथावस्तु को विकृत या शिथिल किये बिना प्रतिनायक के चरित्र के आवश्यक प्रसंगों को इस प्रकार कथा में समाविष्ट कर लेना तुलसी के कथाकौशल का प्रमाण है । तुलनात्मक रूप में हम कह सकते हैं कि मूल रामायण की अपेक्षा तुलसी ने प्रतिनायक के चरित्र को आधिकारिक कथा में यथोचित रूप से स्थान दिया है, साथ ही उसे प्रचलित रामायण की कथावस्तु से नितान्त विशृंखलित भी नहीं होने दिया है ।

हनुमच्चरित

वा० रामायण के उत्तरकाण्ड में हनुमच्चरित स्वतंत्र है (सर्ग ३५, ३६), अन्यत्र भी इसका कुछ अंश दिया गया है ।[1] तुलसी को भी इस चरित्र के प्रति राम-भक्ति, बल, बुद्धि, विद्या, ब्रह्मचर्य आदि गुणों के कारण विशेष आकर्षण है, परन्तु उतनी ही भक्ति है जितनी कि भरत और लक्ष्मण के प्रति, फिर भी मानस की कथा में उन्होंने इनके जन्म आदि के विषय में अत्यन्त साधारण संकेत मात्र किये हैं । हनुमान के चरित का अधिक विस्तार उन्होंने कवितावली (उ० का०) और हनुमान-बाहुक में किया है । इस प्रकार उनकी भक्ति-भावना ने मानस के कथा-सौष्ठव को हानि नहीं पहुंचने दी है ।

बालि और सुग्रीव चरित

बालि और सुग्रीव की कथा किष्किन्धाकाण्ड में (दोनों काव्यों में) राम-सुग्रीव सम्वाद में दी गई है, जिसमें बालि और सुग्रीव के वैमनस्य का वर्णन है । अतः मानसकार ने उसके विषय में अन्यत्र कुछ नहीं कहा है । वा० रामायण के उत्तरकाण्ड में इसे भी स्थान दिया गया है, जिसमें बालि और सुग्रीव का जन्म-वृत्तान्त है ।[2]

सीता का परित्याग

सीता के परित्याग की कथा मानस में नहीं है, परन्तु तुलसी इस उत्तर चरित

१. रा० ४।६ ।

२. [illegible]

के प्रति आकृष्ट अवश्य थे। संभव है उनके मन में इस पर पृथक ग्रंथ में कुछ लिखने की रही हो क्योंकि उनके मानसेतर साहित्य में इस प्रकरण से सम्बन्धित प्रसंगो का अनेक बार उल्लेख हुआ है। स्वयं मानस में भी इस विषय के दो संकेत मिलते हैं। एक तो, सीता के दोनों पुत्रों लव और कुश का उल्लेख[1] और दूसरा सीता के परित्याग का भी उल्लेख[2]। ये संकेत इतने अल्प और सामान्य है कि मानस के पाठक का इनकी ओर ध्यान तक नही जाता। सीता के परित्याग[3], आश्रम-निवास[4], लवकुश के जन्म[5], यहाँ तक कि उनके पृथ्वी-प्रवेश का प्रसंग भी तुलसी-साहित्य में आया है[6]।

सीता के परित्याग के विषय में उन्होंने कथा को परिवर्तित करके राम के चरित्र का परिमार्जन करने का प्रयत्न किया है। गीतावली में उन्होंने सीता-परित्याग का मूलभूत कारण यह दिखलाया है कि राम को अपने पिता की शेष आयु, उनकी अकाल मृत्यु हो जाने के कारण, भोगनी थी।[7] अतः वे उन दिनों सीता को अपने पास नही रख सकते थे। दुर्मुख-चर्चा आदि तो उनकी लीला ही थी। इस प्रकार यह सब कुछ हरि-प्रेरणा से ही हुआ। जिस प्रकार सीता पहले उनकी प्रेरणा से अग्नि मे प्रविष्ट हो गई थी, उसी प्रकार अब उन्होंने पति के लोकधर्म-स्थापन की लीला के लिये वनवास भी अंगीकार किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि राम के उत्तरचरित की ओर भी कवि एवं कथाकार तुलसी का आकर्षण था। परन्तु उन्होंने अपने आदर्शों और लीला-सिद्धान्त के कारण इस उत्तरचरित का विस्तार नहीं किया।

इस प्रकार प्रचलित वा० रामायण की सम्पूर्ण कथा को ही अपनाने का लोभ तुलसी के मन में दिखलाई अवश्य पड़ता है परन्तु मानस के कथासौष्ठव की रक्षा अत्यन्त संयम के साथ की गई है। मानस के उत्तरकांड का कथाविन्यास, वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण दोनों से पृथक, अपने उद्देश्य के अनुसार ही तुलसी ने किया है।

श्वान, गृद्ध और उलूक की कथायें

इन कथाओं का सम्बन्ध राम की राज्य-व्यवस्था और उनकी न्यायप्रियता से है। इसीलिये तुलसीदास इनके प्रति आकृष्ट हुए हैं, परन्तु इनका सन्निवेश उन्होंने मानस की कथा मे बाहर ही किया है। वा० रामायण के भी उत्तरकांड में इन्हें बाद मे स्थान दिया गया है और टीकाकारों ने भी इन्हें प्रक्षिप्त माना है।[8] तुलसी ने इन कथाओं का समावेश गीतावली (उत्तर० २८), रामाज्ञा प्रश्न (६. ६. २-३) और

१. बा० ७. २५।
२. मा० १. २६. ३ (निर्वासित? अब आन नसावैं। लोक विसोक बनाइ बसावैं।
३. गीतावली, उत्तर० २७, वि० प० १६५, तथा कवितावली उत्तर० ६।
४. गीतावली, उत्तर २८-३३ तथा कवितावली उत्तर १३८-१४०।
५. गीता० उत्तर० ३४-३६।
६. रामाज्ञा ६.७.६ (अनरथ असगुन अति असुभ, सीता-अवनि-प्रवेसु)।
७. उत्तर० २५-२७।
८. गा० ९ [illegible] अ [illegible] ६० म भाष्य तान प्रक्षिप्त [illegible] शोक स इन कथाओं को दिया गया है

विनय-पत्रिका (पद १४६ और १६५) में संकेत रूप से ही किया है। इससे तुलसीदास की वाल्मीकि रामायण के अधिकतम कथा-प्रसंगों को कहीं न कहीं पचा लेने की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

शत्रुघ्न-चरित

वा० रामायण में शत्रुघ्न-चरित का विस्तार भी स्वतत्र रूप से किया गया है। शत्रुघ्न-लवणासुर युद्ध और मथुरा-विजय (रा० ७. ६०—७०) ग्यारह सर्गों का एक स्वतंत्र आख्यान सा प्रतीत होता है, जिसके बीच में कल्माषपाद का उपाख्यान (सर्ग ६५) और लवकुश-जन्म का प्रसंग (सर्ग ६६) भी मिला दिया गया है। आशय यह कि यह प्रसंग भी उत्तरकांड की कथावस्तु में सुपाच्य प्रतीत नहीं होता। इसीलिये मानसकार ने इसे स्फुट साहित्य में स्थान दिया है। विनयपत्रिका के एक पद में शत्रुघ्न-स्तोत्र के अंतर्गत उसने उनके जीवन की मुख्य घटना अर्थात् लवणासुर-विजय का उल्लेख कर दिया है[1] और उनकी मथुरा-यात्रा तथा वाल्मीकि-आश्रम में निवास (जहां उनकी उपस्थिति मे लव-कुश का जन्म होता है) की चर्चा भी गीतावली के एक पद में कर दी है।[2]

शम्बूक-वध

इस प्रसंग का सम्बन्ध भी उलूक, बक, श्वान आदि की कथाओं के समान, रामराज्य की विशेषतायें दिखलाने से है। राम के राज्य में ब्राह्मण-पुत्र की अकाल मृत्यु का कारण शूद्र के द्वारा तप करना माना गया, अत: राम ने उसका वध किया। मर्यादावादी तुलसी का ध्यान इस प्रसंग की ओर आकृष्ट हुआ अवश्य, परन्तु इसे भी वे अपने स्फुट साहित्य में ही संक्षिप्त स्थान दे सके,[3] जब कि वा० रामायण में यह विस्तारपूर्वक दिया गया है (७. ७३—७६)।

अश्वमेध और सीता का पृथ्वी-प्रवेश

वा० रामायण में वह प्रसंग अनेकानेक उपकथाओं के साथ लगभग १४ सर्गों मे (८४—९७) प्रस्तारित किया गया है जब कि तुलसी-साहित्य में इसके लिये दो चार पंक्तियां ही प्रदान की गई हैं। अश्वमेध की कथा तुलसी-साहित्य में नहीं है, केवल 'कोटिन्ह बाजिमेध' का संकेत दो स्थलों पर है।[4] सीता के पृथ्वी-प्रवेश की चर्चा भी अत्यन्त सामान्य रूप में की गई है।[5] प्रक्षेपकारों ने मानस में अष्टम कांड (रामाश्वमेध लवकुश कांड) जोड़ कर मानस की मूल कथा को परिवर्तित करने का प्रयत्न भी किया,[6] परन्तु इस वैज्ञानिक युग में यह सभव नहीं हो सका।

---

१. पद ४०।

२. ७.३४।

३. दे० गीता ७.२४ तथा रामाज्ञा० ६. ४. २-५।

४. मा० ७.२४. १ तथा रामाज्ञा० ६.६.७।

५ रामाज्ञा० ६ ७६

६ दे० प० ज्वाला प्रसाद मिश्र के सजीवनी टीका

रघुवंश का राज्यस्थापन

मानस के उत्तरकांड में चारों भाइयों के दो दो पुत्रों की चर्चा की गई है[1] और "एक भूप रघुपति कोसला[2]" के द्वारा साम्राज्य का संकेत भी हुआ है, परन्तु वा० रामायण के समान न तो शेष तीन भ्राताओं के पुत्रों के नाम कहीं दिये गये हैं और न उनके लिये राज्य बसाने का प्रसंग।[3] तुलसी का साहित्य पहले ही इतना विस्तृत हो चुका था और रामचरित की वे एक ऐसी सुनिश्चित और आदर्श रूपरेखा बना चुके थे कि इन फुटकर प्रसंगों को मानस से बाहर के साहित्य में भी अधिक विस्तार से स्थान दे पाना उनके लिये संभव नहीं था।

महा प्रस्थान

मानस के बालकांड में पार्वती के प्रश्नों के अंतर्गत "किमि गवने निज धाम" भी पूछा गया है[4], परन्तु तुलसी ने इसका उत्तर कहीं नहीं दिया है। उत्तरकांड मे इसका कुछ परोक्ष संकेत अवश्य मिलता है। राम एक बार हनुमान और भ्राताओं के सहित नगर से बाहर अमराई मे आते है, दान इत्यादि देते है और उसी समय नारद आते है तथा स्तुति करके चले जाते हैं।[5] राम कथा के कुछ विशिष्ट मर्मी, भावुक टीकाकारो एवं आलोचकों का विचार है कि यही भगवान राम का साकेतिक महाप्रस्थान है।[6] वा० रामायण में वे भ्राताओ और पुरवासियों सहित सरयू तट पर आ कर अपने लोक की ओर अग्रसर हुए है और मानस में यह अमराई उस सरयू तट के समीप की ही प्रतीत होती है। वा० रामायण में लक्ष्मण के परित्याग की कथा भी है[7], जिसका संकेत तुलसी की कवितावली मे मिलता है[8]।

उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि परम्परागत रामकथा को सम्पूर्णतः तो तुलसी ने अपने साहित्य मे स्थान देने का प्रयत्न किया है, परन्तु महाकवि के रूप मे उन्होंने अपने मुख्य काव्य की कथावस्तु को एक विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार ही सुगठित रूप में प्रस्तुत किया है।

रामचरित के उत्तरांश अर्थात् सीता-परित्याग आदि प्रसंगों का उनकी भावना के साथ मेल नही था, यद्यपि उन प्रसंगों का भी वे पूर्ण परित्याग नही करना चाहते

---

१. मा० ७.२५।

२. मा० ७.२२.१ (भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला ॥)

३. रा० ७.१०१, १०२, १०७ और १०८।

४. दो० ११०।

५. मा० ७.५०-५१।

६. दे० (१) विनया टीका उ० कां०, पृ० ६०-६१ (२) मानसपीयूष- बालकाण्ड, भाग २ ख) पृ० ११० तथा (३ रामचरितमानस की कथा-वस्तु, प्रो० जगन्नाथ राय, एम० ए०

थे, अतः उन्हें मुक्तक या स्फुट काव्यों में स्थान दे कर उन्होंने अपनी भावना औ परम्परा दोनों का निर्वाह कर लिया। राम के उत्तरचरित में से वंशविस्तार का प्रसंग अर्थात् लवकुश का जन्म, और अश्वमेध के द्वारा विस्तृत साम्राज्य की स्थापना क प्रसंग, मानस में भी देकर उन्होंने उसमें भी सम्पूर्ण, अथवा पूर्व और उत्तर राम चरित का सामंजस्य कर दिया है। मानस में छाया-सीता का प्रसंग दे चुकने के बाद सीता-परित्याग का कथांश जोड़ना उन्हें अनावश्यक भी प्रतीत हुआ होगा, क्योंकि लीला सिद्धान्त की पर्याप्त व्याख्या वे कर चुके थे।

अब तुलसी के उत्तरकांड का स्वतंत्र रूप से विश्लेषण करते हुए हम मानस की आधिकारिक कथा के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करेंगे।

(इ) मानस की आधिकारिक कथावस्तु और उसका उत्तरकाण्ड

मानस की आधिकारिक कथावस्तु की समाप्ति उत्तरकांड के ५१वें दोहे पर मानी जा सकती है। इसके निम्नलिखित आधार हैं :—

१. इसी स्थल पर राम का निजवास-गमन सूचित होता है (जिसका विश्लेषण पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है)।

२. इसमें अगली ही पंक्ति में शिव पार्वती को कथा-समाप्ति की सूचना देते है।

३. इसके आगे पार्वती एक अन्य प्रश्न उठा कर काग-चरित का सूत्र नये सिरे से प्रस्फुटित कराती है, जिसका आभास प्रस्तावना में भी दिया जा चुका था (बाल० १२०—दो० (ख)-(ग)। अतः यहा काग-चरित उपसंहार के रूप में दिया जाना आवश्यक था।

४. आधिकारिक कथावस्तु का कार्य है "राम-राज्य की स्थापना" जिस के लिये रावण-वध मुख्य कारण था। महाकाव्य की दृष्टि से मानस का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने "रावण-वध और रामराज्य की स्थापना", इन दोनों ही प्रसंगों को "फलागम" के अंतर्गत स्थान दिया है और निर्वहण सन्धि का विस्तार इस प्रकार माना है—

"रावण-वध के बाद रामराज्य-वर्णन तक की कथा में निर्वहण सन्धि है क्योंकि यहीं फलागम होता है और विभिन्न सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का उस "कार्य" या प्रधान प्रयोजन से समाहार हो जाता है[1]।"

मानस के कथाशिल्प का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानों का अभिमत है कि मानस की कथा का कार्य वास्तव में रामराज्य ही है, रावण-वध नहीं। उन्हीं के शब्दों में "रावण-वध राम के अवतरित होने के अनेक कारणों में से केवल एक कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से कारण हैं जिनके लिये भगवान राम बहुत पहले से प्रतिश्रुत हैं अत मात्र रावण-वध को मानस कथा का काय मानना इसे [illegible]
[illegible][2]

आधिकारिक कथा की समाप्ति भी युद्धकांड में माननी चाहिये। उत्तरकांड में राम का राज्याभिषेक और रामराज्य-वर्णन इस बात के प्रमाण है कि मानस का कवि रामराज्य-स्थापन को ही आधिकारिक कथा का "कार्य" या "फलागम" मानकर चल रहा है। इसी के द्वारा अवतार का सम्पूर्ण उद्देश्य भी पूरा होता है। अतः तुलसी के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए हेतु कथाये भी आधिकारिक कथा का अंग है। अध्याय के आरम्भ मे हमने प्रस्तावना के दो भाग माने है—"वन्दना" (२९ वें दोहे तक) और "कथा का आरभ" (१७५ वे दो० तक)। इस "कथा का आरंभ" भाग के भी दो विभाग है—"वक्ता-श्रोताचरित" (३० वी चौ० से दो० १२० (क) तक) और "हेतुकथाये" (दो० १२० (ख) से दो० १७५ तक)। प्रस्तावना के "वन्दना" भाग का सम्बन्ध काव्य-शैली से, "वक्ता-श्रोताचरित" का सम्बन्ध कथा-शैली से और "हेतुकथाओ" का सम्बन्ध आधिकारिक कथा से है। कथावस्तु की दृष्टि से इन "हेतुकथाओं" को आधिकारिक कथा की प्रस्तावना कहना चाहिए और वक्ता-श्रोता चरित को कथा-शैली का प्रस्तावना भाग। दो चरित उस प्रस्तावना भाग में कह दिये गये हैं, तीसरे का वहाँ संकेत मात्र किया गया है,[1] परन्तु उसका विस्तार उत्तरकांड में किया गया है। इस प्रकार काग-गरुड सम्वाद मानस की कथा-शैली का उपसंहार भाग है। उत्तरकांड को भी हम बालकांड के समान दो भागो में विभाजित कर सकते है—आधिकारिक कथा की समाप्ति और कथा-शैली के अनुसार उपसंहार। इसी बात को लक्ष्य करते हुए रूसी विद्वान बारान्निकोव ने कहा है कि उत्तरकाड को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए था।[2] भारतीय महाकाव्य-शैली को दृष्टि में रखते हुए इस विभाजन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उसमें ऐसी विशाल प्रस्तावना और उपसंहार होते ही हैं।

अब केवल कागभुशुण्डि प्रसंग विचारणीय रह जाता है। यह कहा जा चुका है कि उसका सम्बन्ध आधिकारिक कथा से नही दिखलाई पड़ता, परन्तु कथाशैली से अवश्य है। शैली के आधार पर ही कथाओं का वर्गीकरण किया जाता है। पौराणिक शैली की कथाओं में वक्ता-श्रोता के सम्वाद रूप में कथा कही जाती है, वक्ता-श्रोताओं का परिचय भी दिया जाता है और कथा का उद्देश्य धार्मिक, अतः उसकी शैली उपदेश-प्रधान होती है। उपदेश के बहाने अनेकानेक दृष्टान्त अथवा जीवन वृत्तान्त उसमें समाविष्ट हो जाते हैं। मानस की कथा इसी शैली-वैशिष्ट्य के कारण वा० रामायण की कथा से पृथक हो गई है। अतः कागभुशुण्डि प्रसंग भी, शैली के विचार से, उसकी कथा का ही भाग सिद्ध होता है।

यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानस की प्रस्तावना में ही इस प्रसग का

---

१. मा० १. दो० १२० (ग)।

२. "निर्विवाद रूप से यदि तुलसीदास काव्य-रचना के पहले, केवल काव्यसामग्री के तर्कपूर्ण समावेश से प्रेरित होते तो वे काव्य की जटिलता को ध्यान में रखते हुए पहले और अन्तिम काण्ड को दो में विभाजित कर देते" की रूसी भूमिका अनवाद

भी समावेश क्यों नहीं कर लिया गया ? इसका उत्तर इसी बात से मिल जाता है कि उत्तरकाड की समाप्ति की कल्पना ५१ वें दोहे पर करके देख ली जाये । ऐसा प्रतीत होता है कि काग-कथा के रूप में उपसंहार के बिना मानस की कथा अशोभन और विकलांग सी प्रतीत होती है । हो सकता है कि तुलसी ने प्रारंभिक रचना या प्रथम पाडुलिपि में इसी स्थल पर समाप्ति की हो परन्तु जब उन्होंने बाद में प्रस्तावना-भाग जोडा तो उसके ही अनुसार यह उपसंहार भी जोडना अनिवार्य प्रतीत हुआ हो । इसके अतिरिक्त इस सम्वाद की पृष्ठभूमि के रूप में गरुड़मोह का प्रसग भी कहा जाना आवश्यक था जो कि बालकाड मे वस्तुशैथिल्य या अति विस्तार की दृष्टि से भी समाविष्ट करना अनुपयुक्त था और लंकाकाड में उपस्थित होने वाले नागपाश के प्रसग[1] के साथ देने से भी विषयान्तर या क्रम-भंग होता ।

काग-गरुड़ सम्वाद प्रसंग निम्नलिखित दृष्टियों से मानस-कथा का अनिवार्य अग प्रतीत होता है और उत्तरकाड में ही उसकी योजना उचित प्रतीत होती है :—

१. प्रस्तावना में इसका संकेत करके इसे उपयुक्त स्थान पर लाया ही जाना चाहिये था और यह स्थान नागपाश और गरुड़-मोह की घटना के बाद ही हो सकता था ।

२. तुलसीदास ने रामचरित को मानसरोवर मानते हुए उसके चार घाट माने है ।[2] दो घाटों का परिचय (याज्ञवल्क्य और भरद्वाज तथा शिव और पार्वती का) प्रस्तावना में दिया जा चुका था और दो (काग-गरुड़ तथा तुलसी और सुजन-समाज) का निर्वहण उपसंहार मे हुआ है । काग-गरुड़ सम्वाद देने के बाद तुलसी ने समाप्ति अपने ही वक्तव्य से की है ।[3] इस प्रकार मानसरोवर के चित्र को पूर्णता प्राप्त हुई है । प्रस्तावना में उक्त सम्वाद दे देने से यह चित्र सुन्दर एवं समनुपातिक नही रहता ।

३. तुलसी की काव्यरचना और कथा-कथन सोद्देश्य है और उद्देश्य की सिद्धि के लिये उसका अन्त में भी विशदता और विस्तारपूर्वक दोहराया जाना आवश्यक होता है । रामकथा के माध्यम से रामभक्ति का विवेचन तुलसी का उद्देश्य था जो कि उन्होंने प्रस्तावना में, कथा के बीच-बीच में, और फिर अन्त मे प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है । डा० बल्देव मिश्र के शब्दों में "उसके उपक्रम और उपसंहार दोनों ही विशद है । उपक्रम सती-मोह को लेकर चला है और उपसंहार गरुड़-मोह को लेकर" (मानस में रामकथा, पृ० ८८) ।

४. सांगरूपक तुलसी की काव्यशैली का विशिष्ट अंग है । मानस की कथा-रचना पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दो सांगरूपक[4], जो अन्य सब सांगरूपकों से वृहद् हैं, मानस के आदि और अन्त में सोद्देश्य रक्खे गये हैं । इससे

१. मा० ६. ७३. ७४ ।

२. मा० १. दो० ३६ ।

३ रघुपति कृपा जथामति गावा मैं यह पावन चरित सुहावा (७ १३०)

४ बालकाण्ड का मानस-रूपक (चौ० ३६ ४३ और उत्तरकाण्ड का [illegible] रूपक (चौ० [illegible])

कथा को विशिष्ट अलंकरण-व्यवस्था और शोभा प्राप्त हुई है। आगे अलंकार-विवेचन करते समय हम देखेंगे कि प्रस्तावना का मानसरूपक और काग-गरुड़ सम्वाद में आने वाला ज्ञानदीपक रूपक मानस की राजकथा या महाकाव्य के दो रत्नजटित कपाट से प्रतीत होते हैं। ज्ञानदीप रूपक ने काग-गरुड़ सम्वाद को विशिष्ट दार्शनिकता युक्त काव्यमयी गरिमा प्रदान की है।

५. कथा यदि वृहत और जटिल होती है तो उसके प्रसंगों की अनुक्रमणिका को दोहराने की आवश्यकता होती है जिससे समस्त कथा का सिंहावलोकन होता चले। उक्त प्रसंग में इस आवश्यकता की पूर्ति हुई है।[1]

कथावस्तु के विचार से इस काग-गरुड़ प्रसंग में दो प्रकरण अनावश्यक विस्तार से युक्त अथवा थोपे हुए से प्रतीत होते है। इनमें से एक है राम का बाल-लीला वर्णन[2] और दूसरा कलियुग का वर्णन[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि बालकांड के बाल-वर्णन को अपूर्ण समझते हुए तुलसी ने उसकी पूर्ति का प्रयत्न इस स्थल पर किया है। इसी प्रकार अपने युग की आलोचना एवं चित्रण को अन्यत्र स्थान दे पाने में कृतकार्य न होने के कारण अथवा उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति से तृप्त न होने के कारण तुलसी ने इस प्रसंग में उसे कलियुग-वर्णन के रूप में स्थान दिया है, जिससे मूल कथावस्तु का सौष्ठव भी नष्ट न हो और अपने युग का समावेश भी हो जाये। इस प्रसग से कालविपर्यय दोष भी उत्पन्न हो गया है क्योंकि कागभुशुण्डि के पूर्वजन्म के कलियुग के रूप में तुलसी ने अपने ही युग का परिचय तो दिया है।

दोनों काव्यों के उत्तरकांड की तुलना और विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है :—

१. वा० रामायण का उत्तरकांड रामकथा के परिशिष्टों का संग्रह मात्र प्रतीत होता है जिसका अधिकारिक कथा से सम्बन्ध दिखलाई नहीं पड़ता, जब कि मानस का उत्तरकांड मूल कथा से सम्बन्धित है। राम के अयोध्या-प्रवेश से कांड का आरम्भ करके, 'अमराई-प्रवेश और नारद स्तुति (चौ० ५०-५०) के प्रसंग में हनुमान तथा भ्राताओं सहित अयोध्या से राम की विदाई अथवा महाप्रस्थान का संकेत करते हुए, कवि ने कथा की समाप्ति सूचित की है और वहीं पर मुख्य वक्ता-श्रोता के सम्वाद मे कागभुशुंडि-प्रसंग का समावेश कराते हुए अपने काव्य के उपसंहार का विस्तार किया है, जिसके द्वारा उसने अपने उद्देश्य को पुनः स्पष्ट कर दिया है।

२. प्रस्तावना और उपसंहार मानस की कथावस्तु के अनिवार्य अंग हैं, क्योंकि इनमे कवि का उद्देश्य और कथा का अभिप्राय, अर्थात् "राम कवन" के रूप मे ज्ञान और भक्ति के तत्वों का विवेचन, स्पष्ट रूप में किया गया है। रामकथा सर्वविदित हो चुकी थी, अतः कथा का गौरव और उपयोग बढ़ाने के लिये इस प्रकार का स्पष्ट

---

१. मा० ७. ६४. ७–७.६८.६।
२. मा० ७. ७६-७७।
३ वही, ९७-१०२

उपदेश-कथन, मानसकार की विशिष्ट काव्यशैली के अनुसार, अस्वाभाविक नहीं बनने पाया है। प्रस्तावना के समान उपसंहार ने भी मानस के काव्य-रूप को भव्यता प्रदान की है। मूल वाल्मीकि रामायण का स्वरूप, प्रस्तावना और उपसंहार की अनुपस्थिति के कारण काव्यदृष्टि से उतना भव्य और आकर्षक नहीं प्रतीत होता जितना कि मानस का। उसमें एक अभाव सा खटकता है। प्रचलित वाल्मीकि रामायण से भी इस अभाव की पूर्ति नहीं हुई है। उसका बालकांड जिस प्रकार प्रस्तावना की यथेष्ट पूर्ति नहीं कर सका है, उसी प्रकार उत्तरकांड उपसंहार की।

३. उत्तरकांड में मानसकार की, कथाशिल्पी के रूप में, मौलिकता भी व्यक्त होती है क्योंकि यहाँ उसने प्रचलित वा० रामायण और अध्यात्म रामायण तथा अन्य ग्रंथों का भी आकर्षण त्याग कर अपने ही उद्देश्य के अनुसार रामकथा को ढाला है[1]।

४. रामचरित मानस को पौराणिक शैली का महाकाव्य, अथवा मात्र पुराण तक कहा गया है,[2] परन्तु वा० रामायण के उत्तरकांड से तुलना करने पर विदित होता है कि मानसकार ने पौराणिक शैली को अत्यन्त संयत रूप में काव्यशैली के साथ संयोजित कर लिया है, जब कि वा० रामायण के बालकांड और उत्तरकांड में पौराणिक शैली काव्य से अलग खड़ी दिखाई देती है।

५. मानसकार को समस्त रामकथा से मोह है, इसलिये उसने प्रचलित वा० रामायण के अधिक से अधिक कथाप्रसंगों को अपने साहित्य में संगृहीत करने का प्रयत्न किया है। मानस की कथा को अपने उद्देश्य के अनुसार निर्धारित करते हुए, उसके कथा-सौष्ठव की उसने पूरी रक्षा की है और अतिरिक्त कथाप्रसंगों को अपने स्फुटसाहित्य में, अथवा मानस में ही, सुपाच्य और सुनियोजित रूप में स्थान दिया है।

६. वा० रामायण का उत्तरकांड वस्तुतः दो चरित-कथाओं का जोड़ है। उनमें से रावणचरित का समावेश मानसकार ने बालकांड में कर लिया था और राम का उत्तरचरित, जो वस्तुतः सीता-चरित है, विकीर्ण रूप में तुलसी के स्फुट साहित्य मे समाविष्ट हुआ है। इस उत्तरचरित अथवा सीता-चरित का थोड़ा-थोड़ा अंश तुलसी

---

१. इस विषय में डा० मा० प्र० गुप्त का कथन उल्लेखनीय है :—

"हमारा कवि मानस के उत्तरकाण्ड में अपने मुख्य आधार-ग्रन्थों की कथा को बिल्कुल छोड़ देता है। यह कथा, वस्तुविन्यास की दृष्टि से, नितांत आवश्यक थी और इसको छोड़ देना कवि के कलाबोध का ज्वलंत परिचय देता है। यों ही भारतीय साहित्य में परम्परा सुखांत काव्यों की ही रही है—हमारे कवि ने उसे सुखांत ही रख कर भारतीय परम्परा की प्रशंसनीय ढंग पर रक्षा की है—(दे० तुलसीदास पृ० ३३३)। इसमें इतना और जोड़ा जा सकता है कि सुखांत के पश्चात् उसमें ज्ञानोपदेश और जोड़ कर 'सुखांत' को 'आनन्दान्त' में परिणत कर दिया गया है मानो कि किसी नाटक का भरत वाक्य बोला जा रहा हो

२ दे० मानस दर्शन (अध्याय, तात्पर्य निर्णय और) काशी, सं० २००६

के प्रायः सभी काव्यों में है—मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली, औ रामाज्ञाप्रश्न में। जानकी-मंगल मे "सीय-भ्रात भौम" का भी उल्लेख हुआ है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी के मन में कदाचित् जानकी-मंगल के बाद एक वृहद 'सीता-चरित' की रचना करने का विचार भी रहा हो। वा० रामायण में इस महा-काव्य का वैकल्पिक नाम "सीतायाश्चरितं महत्" (१.४.७) भी सकेतित किया गया है। संभव है, तुलसी के मन में भी सीता के महच्चरित पर स्वतन्त्र महाकाव्य की रचना का संकल्प कभी कौंध गया हो। भवभूति के उत्तररामचरित से, सभवतया, तुलसी अपरिचित थे।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय में हमने प्रत्येक कांड की कथा के आधार पर दोनों काव्यो की कथा-रचना को समझने का प्रयत्न किया है। एक वृहत् कथा को इस प्रकार खंडशः समझना अनिवार्य था। अब हम सम्पूर्ण कथा को दृष्टि में रखते हुए दोनों कवियो के कथाशिल्प की प्रमुख विशेषताओं को तुलनात्मक रूप में इस निष्कर्ष में प्रस्तुत करेगे।

कथाशिल्प को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—कथानक, कथा-वस्तु और कथाशैली। कथानक से आशय कथा-ककाल अथवा घटना तत्त्व से है, कथावस्तु मे आशय उन घटनाओं के विशिष्ट संयोजन तथा क्रम-विधान से है, और कथाशैली से आशय कवि की विशिष्ट कथन-पद्धति से है जिसके द्वारा वह अपन श्रोताओं या पाठकों को प्रभावित करने एवं अपने उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है।[1] यद्यपि ये तीनों अंग परस्पर सम्बन्धित हैं और उनमे सूक्ष्म अन्तर कर पाना कठिन है, फिर भी इन तीन आधारों पर ही हम दोनों कवियों की विशेषताओं को अधिक स्पष्टतापूर्वक और निश्चित रूप में समझ सकते हैं।

कथानक

१. दोनों काव्यों के कथानक में अन्तर की अपेक्षा समानता ही अधिक है। डा० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में "विभिन्न देशकाल के वातावरण में पोषित यह रामकथा प्रायः एक ही रूप में बनी रही है·····················सदैव और सर्वत्र लगभग एक सी रही है"—(दे० तुलसीदास, पृ० २८४)। इस समानता को सूचित करने वाले आधार निम्नलिखित हैं—

---

१. अंग्रेजी में इन तीन शब्दों के पर्याय 'स्टोरी', 'प्लाट्' या 'प्लाट-कांस्ट्रक्शन' और 'नैरेशन' कहे जा सकते हैं। स्वयं तुलसी ने कथा के पुनर्विन्यास के लिये 'कथाप्रबन्ध' कहा है—

"मो सब हेतु कहब मैं गाई।
कथाप्रबन्ध विचित्र बनाई" ॥ (१.३३.२),

साथ ही "व्यास समास स्वमति अनुरूपा" (७.१२३.१) भी कहा है।

इससे स्पष्ट है कि वे भी कोरी 'कथा' और 'कथाप्रबन्ध' या 'कथावस्तु' में अन्तर मान कर चले हैं रामकथा के विविध कवियों की वन्दना से भी यही बात प्रकट होती है, जिनकी कथा लेकर 'कथावस्तु' उन्होंने अपनी रचित की है

(१) ग्रन्थ के आरंभ या अन्त में दी गई अनुक्रमणिकायें अथवा घटना-सूचियां।

(२) कथा को मोड़ने वाले प्रसंग, यथा—विश्वामित्र का आगमन (विवाह अथवा सीता संयोग), मंथरा का कुचक्र (वनवास), भरत की चित्रकूट-यात्रा (राम का दण्डकवन या राक्षस-जनपद में प्रवेश), अगस्त्य से भेंट (आर्य और राक्षस जनपद के सीमा-संगम पंचवटी पर चौकी की स्थापना), शूर्पणखा-विरूपण (शत्रु को चेतावनी), सीता-प्रदेश (युद्ध की प्रस्तावना) सीता-अन्वेषण (शत्रु के समीप पहुंचने की तैयारी), सुग्रीव-मैत्री (शत्रु-विजय के लिये सैनिक-संधि), हनुमान का दूतत्व (भेद-नीति और शत्रु का रहस्य-ज्ञान), विभीषण-शरणागति (भेद-नीति में सफलता), सेतुबन्ध (अभियान का आरंभ), सुवेल-शैल (शिविर-स्थापना), गोपुर या अटारी की घटना (पहली झड़प), अंगद का दूतत्व (संधि-विग्रह का निश्चय), नागपाश (विजय का संशय), कुम्भकरण-वध (विजय की आशा), लक्ष्मण-शक्ति (उग्र संशय), मेघनाद-वध (पुनः निश्चय), रावण-वध (पूर्ण-विजय या राक्षस-संस्कृति का दमन), सीता की प्राप्ति (प्रतिष्ठा-रक्षा), विभीषण का अभिषेक (साम्राज्य का विस्तार) और रामराज्य (आर्य संस्कृति का प्रसार)।

इन घटनाओं के आधार पर दोनों काव्यों की कथा में एक नाटकीय विकास-क्रम दिखलाई पड़ता है और नाट्यशास्त्र के अनुसार उस पंच अवस्थाओं, सन्धियों तथा अर्थप्रकृतियों का विश्लेषण किया जा सकता है। उसमें भी अधिकांशतः समानता है और जो अन्तर है उसी के कारण कथावस्तु का स्वरूप परिवर्तित हुआ है।

(३) घटनाओं की क्रम-योजना—(अ) राक्षसों के वध का क्रम :—बालकाण्ड में ताड़का, मारीच और सुबाहु का दमन; अरण्यकांड में विराध और कबन्ध का उद्धार तथा युद्धकांड में पहले कुंभकरण, फिर मेघनाद और अन्त में रावण का वध। (आ) मुनि-मिलन का क्रम :—अयोध्याकांड में भरद्वाज के बाद वाल्मीकि और अरण्य० में अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य। (इ) वन-यात्रा के विश्राम :—तमसा, गंगा-तट, यमुना-तट, चित्रकूट, पंचवटी, प्रस्रवण और सुवेल शैल। (ई) ऋतुवर्णन :—एक निश्चित कथास्थल पर (किष्किंधा-कांड में) वर्षा और शरद का वर्णन। (उ) सीता का अन्वेषण :—राम की भेंट क्रमशः जटायु, कबन्ध और शबरी से तथा वानरों की भेंट स्वयंप्रभा और सम्पाति से। (ऊ) हनुमान की लंका-यात्रा :—मैनाक, सुरसा, छाया-ग्राहिणी सिंहिका और लंकादेवी के विराम-स्थल।

आशय यह कि दोनों काव्यों में अधिकांश घटनायें एक ही क्रम से और निश्चित स्थानों पर घटित हुई हैं।

(४) प्रासंगिक कथाओं[१] का क्रम यथा—ताड़का, अहल्या, गंगा, स्वयंवर,

---

१ प्रासंगिक कथाओं के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं अवान्तर या प्रकरी कथायें जो कथानक के विकास में सहायक और उससे सम्बन्धित होती हैं तथा अन्तकथायें या उपाख्यान

परशुराम, निषाद, श्रवणकुमार, जयन्त (काक), विराध, जटायु, कबन्ध, शबरी, सुग्रीव, स्वयंप्रभा, सम्पाति, विभीषण, शुक-सारण, सेतुबन्ध, नागपाश, लक्ष्मण-शक्ति, सजीवनी, कालनेमि, मेघनाद और रावण के यज्ञ, इन्द्र का रथ, सीता की अग्नि-परीक्षा। इन प्रासंगिक कथाओं की श्रृंखला भी दोनों में प्रायः एक समान है, केवल उनके विस्तार में अन्तर है और उसका प्रभाव कथानक पर नहीं वरन् कथा-वस्तु पर पड़ा है। तुलसी ने उन्हें संक्षेप से कहा है, वा० रामायण में वे विस्तार पूर्वक कही गई हैं।

(५) कथानक-रूढ़ियाँ—मानस और वाल्मीकि रामायण की कथानक-रूढ़िया भी प्रायः एक ही हैं, यथा—शाप और वरदान (विराध, कबन्ध आदि के प्रसंगों मे) रूप-परिवर्तन या कामरूपता (मारीच, हनुमान आदि के वेश-परिवर्तन), दैवी शक्तियों का सहयोग (इन्द्र का रथ, ब्रह्मास्त्र, अमोघ शक्ति, अजेय यज्ञ आदि) अद्भुत कृत्य (सागर-लंघन, पर्वत-आनयन, आकाश-युद्ध, माया-शीश आदि), माया-युद्ध, मन्त्र-युद्ध (मंत्र पढ कर बाण आदि चलाना), कबन्ध-युद्ध (धड़ का लड़ना, जैसे कुंभकरण के प्रसंग में), अद्भुत पदार्थ (दिव्य पायस, पुष्पक विमान), सत्यक्रिया (सीता की अग्नि परीक्षा), वन में मार्ग भूल जाने पर अप्रत्याशित सहायता मिलना (सम्पाति और स्वयंप्रभा के प्रसंग), इत्यादि। वा० रामायण के परवर्ती साहित्य से कुछ नवीन कथानक-रूढियाँ भी मानस में प्रविष्ट हुईं, जैसे—मंदिर या वाटिका में किसी सुन्दरी से अचानक भेंट जिसका परिष्कृत रूप मानस के पुष्पवाटिका प्रसंग मे है। परन्तु, इसका उद्गम भी वा० रामायण के स्वयंप्रभा प्रसंग में देखा जा सकता है।

आशय यह कि भारतीय प्रबन्धकाव्यो की कथानक रूढ़ियों का एक कोष आदि काव्य में भी बन चुका था जिनमें प्रचलित रामायण द्वारा और वृद्धि हुई। ये कथानक-रूढियाँ लोकतत्व और जन-मानस को प्रकट करती है। वा० रामायण द्वारा प्रवर्तित इनकी परम्परा को मानस में देखा जा सकता है। अन्तर यह है कि पौराणिक शैली के प्रभाव से मानसकार ने उनका प्रयोग अधिक किया है। इसमें भी उनकी कथा-वस्तु का स्वरूप कुछ भिन्न हो गया है, परन्तु मूल कथानक पर प्रभाव नहीं पड़ा है।

(६) काण्ड-विभाजन—यद्यपि मानस के कुछ काण्डों की समाप्ति और आरंभ भिन्न कथांशों पर हुआ है, परन्तु उससे कथानक नहीं कथावस्तु ही प्रभावित हुई है, अर्थात् विशेष उद्देश्य को लेकर ऐसा किया गया है।

२. मानस के कथानक मे कुछ नवीन प्रसंगों का भी समावेश हुआ है, जो निम्नलिखित हैं:—

बालकांड में पुष्पवाटिका और स्वयंवर, अयोध्याकांड में देव-कुचक्र, निषाद

जिनका उल्लेख मात्र किया जाता है, जैसे—बालकाण्ड में गंगा और श्रवणकुमार की कथा अन्तकथा है मा० में मूल में भी की कथा को [illegible] को भी अवान्तर प्रसंगों जैसा रूप दे दिया गया है जिससे उसका कथानक विशृंखलित हो गया

द्वारा चरण-प्रक्षालन, तापस-प्रसंग, वाल्मीकि-सम्वाद, चित्रकूट की सभा में जनक-आगमन, और भरत-कूप की कल्पना, अरण्यकांड में छाया-सीता और राम-नारद सम्वाद, सुन्दरकांड में हनुमान-विभीषण भेंट, लंकाकांड में शिवलिंग की स्थापना (जिसका संकेत वा० रामायण में भी मिलता है), रावण की नाभि में अमृत की कल्पना, आदि। डा० माता प्रसाद गुप्त ने भरत से मोर्चा लेने के लिये निषाद-राज की तैयारी को भी तुलसी की मौलिक उद्भावना माना है,[1] परन्तु यह प्रसंग वा० रामायण में भी मिलता है।[2] युद्धकांड का नाम तुलसी ने लंकाकांड कर दिया है।

विचारपूर्वक देखने से पता चलता है कि प्रसंगों का सम्बन्ध कथानक से नहीं कथावस्तु से है, अर्थात् कवि ने विशिष्ट भावना और उद्देश्य के अनुसार उन्हें मुख्य घटनासूत्रों के बीच जोड़ दिया है। यहाँ इनके उल्लेख करने का अभिप्राय यही है कि हम मूल कथानक की समानता को हृदयंगम कर सकें और जो भेद दृष्टिगोचर होता है उसका सम्बन्ध कथावस्तु से समझ सकें।

३. मानस की कथा में अनेक प्रसंग समाविष्ट नहीं हुए हैं, परन्तु उनसे भी कथानक नहीं कथावस्तु ही प्रभावित हुई है। उदा० के लिये कुछ प्रसंग निम्नलिखित हैं—

भरत-शत्रुघ्न की युधाजित के साथ विदाई (१.७७), चित्रकूट पर राम-जाबालि सम्वाद (२.१०८ तथा १०९), सीता और राम का अहिंसा विषयक वार्तालाप (३.९, १०) अयोमुखी वृत्तान्त (३.६९), राम का मायाशीश (६.३१), माया-सीता का वध (६.१०७) तथा अनेक फुटकर युद्धों के प्रसंग।

मानसकार ने इन्हें अनावश्यक या अपनी भावना के प्रतिकूल समझ कर छोड़ दिया है, इनमें से कुछ की ओर उसकी दृष्टि तक नहीं गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वा० रामायण का कथानक मानस तक प्रायः अक्षुण्ण रहा है। उसकी कथावस्तु में अवश्य अन्तर है, और इसी में तुलसी की मौलिकता भी प्रकट होती है।

कथावस्तु

४. कथानक की अपेक्षा वा० रामायण और मानस की कथावस्तु का अन्तर अधिक स्पष्ट है, परन्तु उसमें भी एक मूलभूत एकता लक्षित होती है क्योंकि दोनों कवियों का मूलभूत लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है—महच्चरित के द्वारा धर्मोपदेश। मानस में धर्म को भक्ति का नाम दे दिया गया है, परन्तु स्वयं वा० रामायण में भक्ति के तत्व तथा सूत्र अलक्षित नहीं हैं, जिनके कारण वह भी धर्मग्रंथ के रूप में ही अधिक सम्पूजित हुई है। अन्तर यह है कि तुलसी वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी हैं और वाल्मीकि में तुलसी की अपेक्षा यथार्थवाद को अधिक आश्रय मिला है। उसी दृष्टिकोण से तुलसी ने "स्वमति अनुरूप", "संग्रह और त्याग" के विवेक

---

१. दे० तुलसीदास, पृ० ३३२।

२ रा० २.८४

तथा "व्यास और समास" शैलियों के द्वारा कथा को नवीन रूप प्रदान कर दिया है।

५. दोनों कवियों की कथावस्तु के स्वरूप-भेद को प्रकट करने वाले आधार निम्नलिखित है:—

१. **इतिहास**—वा० रामायण में इतिहास-तत्व प्रचुर है, मानस में वह भावना के आवरण में छिप गया है। उसकी घटनाओं में अलौकिकता और पात्रो मे आदर्शात्मकता की इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि इतिहासपरक ग्रंथ के रूप मे उसकी उपयोगिता समाप्त हो गई है, जबकि वा० रामायण की यह उपयोगिता बनी हुई है। मानस में भी शूर्पणखा-विरूपण और छिप कर वालि का वध किया जाना आदि ऐसी घटनायें हैं जो राम-कथा की ऐतिहासिकता की ओर संकेत करती है परन्तु इन्हें परब्रह्म के कृत्यों की अनिर्वचनीयता या उसकी मानव-लीला मात्र कह कर उस ऐतिहासिकता को आध्यात्मिक आवरण में ढक दिया गया है।

२. **राजनीति**—राजनीति का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, वह इतिहास की घटनाओं को संचालित करती है। वा० रामायण में राम-कथा के माध्यम से इस देश की राजनीति का जितना ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उतना मानस की कथा से नहीं। मानस में राजनीति भी भक्ति में विलीन हो गई है। यह अन्तर राम के वनवास, चित्रकूट की सभा, अगस्त्य से भेंट, राम-बालि सम्वाद, हनुमान-सुग्रीव-अंगद के कार्य और चरित्र, रावण की राजसभाओं, विभीषण-शरणागति, हनुमान का अयोध्या भेजा जाना, जैसे प्रसगों में देखा जा सकता है। वा० रामायण में इन प्रसगों के चारों ओर राजनीति का वातावरण है और मानस में भक्ति का। मानस मे नीति और राजनीति दोनों ही भक्ति से परिचालित हुई है।

३. **भक्ति और नीति**—भक्ति के तत्व अर्थात् श्रद्धा, विनय, माहात्म्य, स्तुति, समर्पण, शरणागति और राम का लोक-नायकत्व, शरणागत-वत्सलता आदि वा० रामायण के भी कथा-प्रसंगों में हैं। प्रचलित रामायण में अवतार-विषयक प्रसंग भी पर्याप्त हैं। मूल कथा में भी विभीषण और शबरीके प्रसंग, कुंभकरण, माल्यवान और मंदोदरी तक के द्वारा रावण को शिक्षा, भरत का भ्रातृभाव, युद्धकाण्ड के अन्त मे माहात्म्य-कथन आदि प्रसंग भक्ति के सूचक हैं। मानस में ऐसे प्रसंगों का विस्तार किया गया है, रावण-मन्दोदरी सम्वाद अनेक बार हुआ है और भक्ति विषयक नवीन प्रसंग भी जोड़े गये है। इस प्रकार उसमे एक सम्पूर्ण भक्तिशास्त्र ही कथा और काव्य के माध्यम से विकसित हुआ है। वा० रामायण के सम्वादों में जहां राजनीति का समावेश है वहां मानस में भक्ति, नीति और दर्शन का। मानस का समारंभ ही शिव-पार्वती के दार्शनिक सम्वाद और "राम कवन" की चर्चा से हुआ है। इस प्रकार उसकी कथा का वदल गया है। रावण वस्तुत हरण नहीं करता मोक्ष का साधन करता है राम वास्तव में वध नहीं करते आर्त जीव का उद्धार

अन्तर है। वा० रामायण में प्रकृति, रणस्थल, अन्तःपुर, शस्त्रास्त्र, रणयान, विमान, नगर, वन, पर्वत, सागर, सरोवर, भूगोल, खगोल आदि के भी विस्तृत वर्णन है जिनके कारण उसका वस्तु-विधान मानस से भिन्न है। मानसकार ने ऐसे वर्णनों की अपेक्षा भक्ति, नीति, दर्शन आदि के प्रकरणों को स्थान दिया है। उसका प्रकृति-वर्णन भी नीति और भक्ति के रंग में रंगा हुआ है। आगे "प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन" के अध्याय में इस विषय पर विचार किया जावेगा।

५. **जीवन-क्षेत्र का विस्तार**—मानस की कथा में नायक के जीवन और शील स्वभाव के पक्षों तथा पारिवारिक परिस्थितियों को वा० रामायण से अधिक स्थान देने का प्रयत्न किया गया है जैसे बाल्यकाल का वर्णन और पारिवारिक क्षेत्र में श्वसुर-जामाता, माता-पुत्री, गुरु-शिष्य आदि के सम्बन्ध। विवाह का वर्णन भी उसमें विस्तार-पूर्वक हुआ है। वा० रामायण का बालकांड उसकी कथा से पृथक किया जा सकता है, वह आदि कवि की रचना है भी नहीं, परन्तु मानस का बालकांड उसकी कथा का अविभाज्य अंग है।

६. **चरित-तत्व की ओर तुलसी की विशेष दृष्टि**—यद्यपि वा० रामायण भी चरित काव्य ही है, जैसा कि प्रस्तावना रूप में लिखित उसके बालकांड में प्रकट किया गया है, फिर भी तुलसी का प्रयास चरित्र-विधान की ओर अधिक है। मानस के अनेक प्रसगों की वा० रामायण से तुलना करते हुए हम देख चुके है कि तुलसी ने चरित्र-विधान की दृष्टि से कथाशों में परिवर्तन, संशोधन या वृद्धि की है और नवीन पात्रो को स्थान देने के लिये कुछ कथाश जोड़े हैं। विवाह से पूर्व, धनुषयज्ञ के बाद ही परशुराम से वाग्युद्ध कराकर, उन्होने नायक और उपनायक का कीर्ति-विस्तार किया है। चित्रकूट-सभा में जनक-आगमन का प्रसंग जोड़कर काव्य-नायिका के माता-पिता को कथा में अधिक स्थान देने का प्रयत्न किया है। हनुमान और अंगद के कार्यों को भी उन्होंने इस रूप में प्रस्तुत किया है जिससे नायक की प्रताप-व्यंजना और गौरव-विस्तार हो। इस प्रकार सारे पात्रों और घटनाओं को उन्होंने राम के चरित में केन्द्रित किया है। उनका कथातत्त्व चरित-तत्व के आधीन है।

७. **विशिष्ट प्रसंगों का चुनाव**—तुलसी ने विशिष्ट प्रसंगों का चुनाव, जिसमे उनकी कवित्व-शक्ति प्रकट होती है, भक्ति की दृष्टि से किया है अथवा रामकथा के विशिष्ट प्रसंगों में भक्ति-भावना को भरने का प्रयत्न किया है, जैसे राम का वन-गमन, चित्रकूट-सभा, लक्ष्मण-शक्ति, शबरी का प्रसंग और भरत-मिलाप। उनकी श्रेष्ठ कविता भक्तिपरक कथांशों में प्रकट हुई है। निषाद द्वारा चरण-प्रक्षालन का प्रसंग भक्ति और कवित्व दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है। वाल्मीकि का कवित्व मार्मिक घटनाओं के अवसर पर तथा प्रकृति चित्रण और वर्णनात्मक कथांशों में प्रकट हुआ है। राम का वनगमन वाल्मीकि रामायण में विषाद और करुणा से ओत-प्रोत है, जबकि मानस में वह भक्ति की धारा से शीतल भी है तारा विलाप वा० की कथा का विशिष्ट अंश है मानस म वह है ही नही हनुमान के सागर-लंघन का वाल्मीकि

ने प्रत्यक्ष चित्र ही उपस्थित कर दिया है, मानस में वह केवल राम के प्रताप का ही एक और प्रकरण है। शृंगार के संयोग पक्ष के प्रसंगों को तुलसी ने छोड़ ही दिया है या अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि ने सीता और राम के संयोग शृंगार-वर्णन को अवश्य सीमित रक्खा है, परन्तु वानर और राक्षसराज के अन्तःपुर की विलास-लीला का उन्होंने विस्तृत वर्णन किया है।

८. **चमत्कार एवं अलौकिकता**—वा० रामायण में चामत्कारिक, अतिमानवीय अतिप्राकृत और अद्भुत कृत्यों का विस्तार तथा आवृत्ति हुई है, विशेष कर प्रचलित रामायण में। परन्तु मानस मे उन्हें सीमित, एकत्रित और राम की शक्ति में केन्द्रित किया गया है। इस प्रकार कथागत चमत्कार को उन्होंने दिव्यता और अलौकिकता मे परिणत कर दिया है। वा० रामायण (प्रचलित) में भी देवताओं के रथ, विमान पुष्प-वर्षा, स्तुति आदि के प्रसंग हैं, परन्तु मानस में उनका आधिक्य है।

इस प्रकार मानस की कथावस्तु में अनेक नवीन विषय सन्निविष्ट हुए हैं। भक्ति और उससे सम्बन्धित विषय वा० रामायण मे संकेतित ही थे परन्तु मानस में उनका विशेष रूप से विस्तार किया गया है। इस प्रकार उसकी कथावस्तु नवीन वातावरण मे रंग उठी है।

कथा-शैली

६. **सबसे अधिक और मुख्य अन्तर** दोनों कवियों की कथा-शैली में दिखलाई पडता है, क्योंकि शैली ही व्यक्ति है। कथानक से अधिक अन्तर कथावस्तु में है और उससे भी अधिक अन्तर कथा-शैली में है। मानस की कथा-शैली में पुराण, शास्त्र, काव्य और नाटक की शैलियों का कलात्मक सम्मिश्रण किया गया है। दोनों काव्यो की कथा-शैली का अन्तर मुख्यतया निम्नलिखित आधारों पर देखा जा सकता है :—

१. **प्रस्तावना और उपसंहार**—मानसकार ने अपनी कथा-शैली अथवा काव्य सरिता को प्रस्तावना और उपसंहार के कगारों में सुनियोजित किया है, उसकी कथा का भवन प्रस्तावना की नींव पर खड़ा हुआ है और उपसंहार उस भवन का कलश है। उसका उपक्रम सती-मोह को लेकर चला है और उपसंहार गरुड़-मोह के प्रसंग से हुआ है। सारी कथा एक महान दार्शनिक प्रश्न के उत्तर के रूप में लिखी गई है। उसी के अनुसार कथा-प्रसंगों में परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन, संग्रह, त्याग, व्यास, समास, क्रम-विपर्यय, हेतु-व्यत्यय, स्थानान्तरण आदि प्रक्रियाओं को अपनाया गया है। उसी के अनुसार वक्ता-श्रोता की योजना, उनके चरित, और हेतुकथाओं का विन्यास किया गया है। इसी प्रस्तावना और उपसंहार के नियत्रण में सारे कथांश एक नवीन अर्थ को अभिव्यंजित करने लगे है। कथा, चरित्र, उपदेश और कवित्व का ऐसा तारतम्य बैठाया गया है कि रामचरित मानस एक साथ ही धर्मग्रन्थ और काव्यग्रथ बन गया है।

वाल्मीकि रामायण का उद्देश्य मानस के समान प्रकट नही किया गया है परन्तु

इतना स्पष्ट है कि वह भी विशुद्ध काव्यग्रंथ नही है अर्थात् धर्मतत्व उसमें भी सन्निहित है। कथावाचकों ने प्रस्तावना के रूप मे कुछ अश जोडकर (बाल० सर्ग १—४) उसके उद्देश्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, उसी के आधार पर कुछ कथाश (प्रक्षिप्ताश) बीच-बीच मे भरे हैं, परन्तु वाल्मीकि के मूल उद्देश्य को उन्होने अतिरजित कर दिया है। वाल्मीकि का लक्ष्य इतिहास, राजनीति, धर्म और कला को काव्य की डोरी मे संगुम्फित करना था। तुलसी मे भी ये तत्व है, परन्तु उन्होंने धर्म और भक्ति को इतना प्राधान्य दिया है कि उनकी कथा-शैली और काव्य-शैली दोनो ही आदि कवि से पृथक हो गई हैं।

२. सर्ग और काण्ड—दोनों काव्यों मे कांड विभाजन प्रायः एक जैसा है। मानसकार ने अपने उद्देश्य, भावना और रुचि के कारण उसमे भी कुछ परिवर्तन किये है, परन्तु उसकी विशेषता महाकाव्यों की सुप्रचलित सर्ग-शैली का परित्याग करते हुए कथा को निजी ढंग से कहने मे दिखलाई पडती है। उसके श्रोता प्रत्यक्ष है, चारों ओर बैठे हैं, प्रश्न उठाते है, उत्तर सुनते हैं और पृथक-पृथक चार वक्ता उन्हे सम्बोधित कर रहे है। श्रोता असावधान न हो जायें, सो न जायें, उन्हे जम्हाई न आने पायें, इसलिये उन्हे विवध ढंगों से सावधान किया जाता है और कथा की ओर आकृष्ट किया जाता है। इस प्रकार मानसकार की शैली कथावाचक की शैली है। अतः उनमे सर्गों के विराम से नहीं, दूसरे ही प्रकार के विरामों अर्थात सम्बोधनों से काम लिया गया है, जैसे—"एक बार", "आगिल कथा सुनहु मन लाई", "इहाँ उहाँ", "हे उमा", "उरगारि, "भरद्वाज सादर सुनहु" आदि। कथा के सर्वविदित होने के कारण वह अनेक कथांशों को सक्षिप्त कर देता है और इसकी सूचना भी अपने श्रोताओं को दे देता है, जैसे "जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे" और कथा की पुरातनता के कारण यह दोष न होकर उसकी शैली की ही एक विशिष्टता बन गई है। इसका एक कारण यह भी है कि कथा तुलसी के लिए इतना महत्त्व नही रखती जितना कि उसकी शैली, जिसमे कि वे अपना उद्देश्य पूर्ण कर सके। इसीलिये उन्होंने सारी कथा एक प्रकार से प्रारंभ मे ही समझा दी है और बीच-बीच मे भी समझाते चलते हैं।

इस प्रकार वक्ता-श्रोता शैली में कथा कहने के कारण मानसकार को सर्ग-विभाजन की आवश्यकता नहीं पड़ी है। वा० रामायण का प्रचार कुशीलवों के द्वारा तन्त्री ताल लय के साथ किया गया था जिसमे श्रोताओं से वार्तालाप न हो कर एक पक्षीय कथन या गायन था, अतः सर्गों के द्वारा कथा की गति और उतार-चढ़ाव सूचित किया जाता था। मानस का प्रचार स्वयं कवि ने और बाद में उसके टीकाकारों तथा [illegible] ने व्यास पीठ पर बैठ कर किया [illegible] इसी दृष्टि से कवि ने उसकी कथा

उसकी सम्वाद-शैली, नाटकीय प्रसंगों का विशेष संचयन (पुष्प-वाटिका, धनुषयज्ञ, लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद, मथरा-कैकेयी सम्वाद, अंगद-रावण सम्वाद, सुवेल शैल की झांकी), अभिनयात्मक वातावरण की सृष्टि, अनुभाव-योजना आदि के अतिरिक्त, काडों के आरंभ और अन्त (नाटकीय मगलाचरण तथा माहात्म्य रूप मे भरतवाक्य) मे भी दिखलाई पड़ती है। सारी कथा में एक नाटकीय विकास-क्रम है। प्रास्ताविक कथा (शिव-चरित) और हेतुकथायें नाटकीय "प्ररोचना"[1] जैसी प्रतीत होती है जिनके द्वारा नाटककार के समान कवि ने अपने श्रोताओं को आकृष्ट किया है। घटनाओ के विकास और विस्तार में मनोवैज्ञानिक तत्वों,—कौतूहल, शंका, रोमाच, पुलक, भय, विस्मय, आकस्मिकता आदि,—का आश्रय लिया गया है। उदाहरण के लिये धनुषयज्ञ, परशुराम का आगमन, लंका-दहन और लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग लिये जा सकते है। "अर्ध राति गई कपि नहिं आवा" सुनते ही श्रोता के हृदय में लक्ष्मण के प्राणो के विषय में शंका होने लगती है और "आइ गयउ हनुमान" के द्वारा सहसा पुलक का सचार हो उठता है। "रहेउ एक दिन अवधि अधारा" कहते हुए भरत और फिर "जासु विरह सोचहु दिन राती"[2] कहते हुए हनुमान को देख कर काव्य में नाटक जैसा ही आनन्द आता है।

इस विषय में डा० मा० प्र० गुप्त का कथन उद्धरणीय है—"शान्ति और सुख के दृश्य अशांति और अंधड के दृश्यों के पूर्व आकर इसलिये बहुधा हमारी कलात्मक भावना को आनंद पहुंच ते है कि उनके द्वारा हमारे दो परस्पर विरोधी भावों को सघर्ष का अवसर मिल जाता है।"[3] इसके लिये डा० गुप्त ने महायुद्ध से पूर्व सुबेल शैल की झांकी, चन्द्रोदय, तथा रावण के अखाड़े के दृश्य की योजना (मा० ६. ११–१३) का उदाहरण दिया है।

४. **सयोजन-कला**—वा० रामायण का मूल रूप अनिश्चित होने के कारण आदि कवि की संयोजन-कला अर्थात् वस्तु-विन्यास की शैली[4] का निश्चित अनुमान नही लगाया जा सकता। पाठ-विवेचक विद्वानों[5] के द्वारा निश्चित किये गये प्रक्षिप्तांशो को पृथक कर देने पर मूल रचना का जो स्वरूप सामने आता है उसके अनुसार वाल्मीकि की संयोजन-शैली वर्णनात्मक, चित्रात्मक, और रसात्मक प्रतीत होती है अर्थात् वे इतिवृत्त के साथ पदार्थों और स्थानों के वर्णन में, प्राकृतिक दृश्यों और अद्भुत व्यापारों अथवा विशिष्ट कृत्यों के चित्रण में तथा मार्मिक प्रसंगों के रसात्मक

१. उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना...दशरूपक, ३. ६।
२. मा० ७. १. १ तथा ७. २. ३।
३. दे० तुलसीदास, पृ० ३३२-३३।
४. वस्तुविन्यास को डा० माता प्रसाद गुप्त ने भी कथा-शैली का अंग माना है और मानस के धनुष-यज्ञ प्रसंग को लेकर तुलसी की शैली का विवेचन किया है—दे० तुलसीदास, पृ० ३३५-३७।
५ विशेषत डा० जाकोबी के निष्कर्ष जो कि रामकथा [illegible] में सग्रहीत है और जिनका उपयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है

निरूपण में, जिनमें उन्हें पात्रों की मनस्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने का अवसर मिलता है, विशेष रूप से प्रवृत्त होते है। उपदेशात्मक प्रसग उनकी कथा मे कम है, फिर भी सम्वादों में राजनीति और नीति के तत्व अवश्य कहे गये है (दे० विभीषण-प्रसग, रावणमारीचम-सम्वाद और रावण की राजसभाओं के प्रसंग)। भक्ति का उपदेश वाल्मीकि ने कही नही दिया है, यद्यपि भक्ति भावना और भक्ति के प्रसंग उनकी कथा मे भी हैं।

मानसकार ने अपनी कथा-सामग्री को विविध स्रोतों से ग्रहण किया है फिर भी, प्रस्तावना और उपसंहार को छोड कर, उसकी कथा कहीं असंतुलित नहीं हुई है। वा० रामायण के तीनों सस्करणों की कथा, और पुराण, काव्य, नाटक, स्मृतियो आदि की सामग्री को उसने सुपाच्य रूप मे स्थान दिया है। विशेष प्रकार की प्रासंगिक कथाओं अर्थात् शिव-चरित और काग-चरित तथा हेतुकथाओं को प्रस्तावना तथा उपसंहार मे समेट कर, अन्य प्रासंगिक कथाओं को उसने अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे स्थान दिया है। इस प्रकार मूल कथा मे अनुपात और सतुलन यथेष्ट रूप में दिखलाई पडता है। इसमें स्तुतियो और दार्शनिक सम्वादों के प्रसगों पर काव्य-दृष्टि से अवश्य आपत्ति उठाई जा सकती है, परन्तु इनकी योजना भी तुलसी ने पात्र और परिस्थिति के अनुरूप तथा इतिवृत्त, नाटकीय प्रसंग और कवित्वपूर्ण मार्मिक प्रसंगों के बीच-बीच मे करके अपनी रचना को काव्य की सीमा में रक्खा है। यदि उपदेशात्मक प्रसंगों की योजना लगातार, दूर तक और विस्तृत रूप में होती तो अवश्य संतुलन नष्ट हो जाता। लक्ष्मण-निषाद सम्वाद (अयो० कांड), राम-लक्ष्मण सम्वाद (अरण्य कांड) और नारद-राम सम्वाद (अरण्य काड) के प्रसंगों में हम इन दार्शनिक प्रकरणों की तुलसी की कथावस्तु में सुपाच्यता देख चुके हैं। मन्दोदरी के उपदेश भी सामयिक है।

वा० रामायण की समस्त प्रचलित सामग्री के लोभ की बात भी हमने काडो की कथा (विशेष कर उत्तरकाड) का विश्लेषण करते हुए कही है, परन्तु तुलसी ने उसमें से कुछ सामग्री मानस में कथासौष्ठव की रक्षा के साथ पचाई है और कुछ को अपने शेष साहित्य में स्थान दिया है। इससे कथाकार के रूप में तुलसी का सयम और सूझ प्रकट होती है। रूसी विद्वान बारान्निकोव के शब्दों में :—

"कवि की कलात्मकता काव्य की प्रबन्धात्मकता तथा स्वरूप-संगठन में और अभिव्यक्ति के विभिन्न काव्यात्मक साधनों के कौशल पूर्ण उपयोग में प्रकट होती है"। (मानस की रूसी भूमिका, हिन्दी अनुवाद पृ० ५०)

इतनी अपार कथा-सामग्री का उपयोग करते हुए भी मानसकार ने अपने महाकाव्य के स्वरूप को सुगठित रक्खा है। प्रचलित वा० रामायण की तुलना में मानस की कथा कहीं अधिक संतुलित अर्थात् आवृत्ति-दोषों से रहित, अनावश्यक विस्तार से मुक्त और एक विशेष लक्ष्य में केन्द्रित दिखलाई पड़ती है।

५ **सांकेतिकता** तुलसी की शैली की एक बड़ी विशेषता उसकी सांकेतिकता में है जिसके कारण सारी कथा ने अन्योक्ति का रूप धारण कर लिया है और पात्र

सूक्ष्म प्रवृत्तियों या आध्यात्मिक तत्वों के प्रतीक बन गये हैं। कदाचित सभी श्रेष्ठ कथायें चिरकाल तक जनमानस में रहने और सांस्कृतिक आन्दोलनों का भार वहन करने के परिणाम स्वरूप सांकेतिक बन जाया करती हैं। कुछ तो मानस की कथा को टीकाकारों और कथावाचकों ने अपनी व्याख्या द्वारा प्रतीकात्मक बना दिया है और कुछ स्वयं तुलसीदास की भी यह प्रवृत्ति और उद्देश्य था, जिसका प्रमाण उसकी प्रस्तावना से मिल जाता है, उदाहरण के लिये—

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना। (१. ३७. १)

मानस का प्रत्येक कांड स्वतंत्र भी है, उसका निजी आध्यात्मिक नाम है,[1] जिस रूप में उसकी पहिचान केवल अन्तर्चक्षुओं से की जा सकती है। तुलसीदास के विशिष्ट समालोचक डा० मा० प्र० गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध की प्रस्तावना में लिखा है—

"मेरा अनुमान है कि रामचरित मानस की कथा का एक रहस्यपूर्ण 'आध्यात्मिक' अर्थ भी है, जो उसके आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थों का पूरक है" (तुलसीदास, प्रथम संस्करण की प्रस्तावना)।

इस रूप में मानस का यथेष्ट अध्ययन अभी नहीं हुआ है, फिर भी उसके लिये प्रचुर सामग्री विद्यमान है।[2]

मानस के सांकेतिक अर्थ को प्रकट करने वाले आधार निम्नलिखित हैं :—

(अ) प्रस्तावना और उपसंहार (हेतुकथायें, पूर्वभव, अवतार, कल्प आदि)।

(आ) कांडों के अन्त में माहात्म्य कथन और उन कांडों के नाम।

(इ) मानस के कुछ सांग रूपक, उदाहरण के लिये मानस रूपक (बाल०), धर्म-रथ रूपक (लंका० ८०) और ज्ञान-दीप तथा भक्तिमणि-रूपक (उत्तर० ११७-१२०)।

(ई) पात्रों के कुछ प्रतीकार्थ, यथा राम (ब्रह्म), सीता (शक्ति), लक्ष्मण (शेषनाग), रावण (मोह या अहंकार) आदि तो स्वयं तुलसी ने ही दे दिये हैं। इन्ही आधारों पर अन्य पात्रों के भी प्रतीकार्थ निकाल लिये गये है, (दे० श्री बलदेव मिश्र, मानस मे रामकथा, चतुर्थ परिच्छेद)।

(उ) घटनाओं के प्रतीकार्थ, यथा सेतुबन्धु 'भवसेतु' का और लंका दहन "अहंकार या भोग-विनाश" का प्रतीक है (दे० प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत लंकाकाण्ड के 'नाम करण' और 'सेतुबन्ध' प्रकरण)। इसी प्रकार सीता-हरण और रावण-वध

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, डा० मा० प्र० गुप्त और बा० राम दास गौड़ द्वारा सम्पादित प्रतियों के आधार पर सात काण्डों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—
"बिमल सन्ताप सम्पादन", "विमल बिग्यान वैराग्य सम्पादन", (गौड), "विमल वैराग्य सम्पादन", "विशुद्ध सन्तोष सम्पादन", "ज्ञान सम्पादन", या "बिमल ज्ञान सम्पादन" (मा० प्र० गुप्त), "बिमल बिग्यान सम्पादन" और "अविरल हरि भक्ति सम्पादन"।

२. विजयानन्द त्रिपाठी (टीका), जयराम दीन (मानस रहस्य), डा० बल्देव मिश्र ("तुलसी दर्शन और मानस में राम कथा का चतुर्थ परिच्छेद) डा० माता प्रसाद प्रभृति विद्वानों ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है

भी प्रतीकात्मक घटनायें हैं । राम का वन-गमन निर्वासन नहीं लोकमंगल का अभियान है ।

(ऊ) कुछ उक्तियों के प्रतीकार्थ, यथा "एक बार बिलोकु मम ओरा" (मा० ५ ६.५) ।[1]

आध्यात्मिक अन्योक्ति के अतिरिक्त इसमें राजनैतिक अन्योक्ति भी देखी जाती है जैसे कलियुग-वर्णन (उत्तर० ९७-१०२) और रावण-राज्य मे तुलसी-कालीन समाज तथा अत्याचारी राज्य का प्रतिबिम्ब[2] ।

तुलना की दृष्टि से इस सम्बन्ध में वा० रामायण के विषय में भी कुछ कहना अपेक्षित है । वाल्मीकि के मन में भी तुलसी के समान कुछ अभिप्राय रहे होंगे, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता फिर भी उसमें अवतारवाद का आभास अवश्य मिलता है । प्रचलित वा० रामायण में तो अवतारवाद सर्वथा स्पष्ट है । वा० रामायण को भी उसके अध्येताओं तथा आलोचकों ने 'भक्ति-शास्त्र' कहा है[3] । प्रस्तुत अध्याय मे इस विषय मे अनेक सकेत दिये जा चुके हैं । स्वयं वाल्मीकि को ही विशुद्ध जाग्रत आत्मा का प्रतीक माना जाने लगा है[4] जिसने समाधि की अवस्था मे राम-चरित के रूप में राम के ही दर्शन किये थे ।[5] तुलसी के विषय मे तो यह किंवदन्ती सर्वविदित ही है कि उन्हें चित्रकूट पर राम के दर्शन हुए थे । अयोध्याकांड मे तापस के रूप मे स्वय तुलसीदास ने राम के साथ कुछ दूर तक वन यात्रा की थी (दे० अयो० चौ० १०६ तथा १०७), ऐसी कल्पना अनेक भावुक टीकाकारों एव आलोचको ने की है (दे० इस अध्याय का प्रकरण "राम की चित्रकूट यात्रा)" । आशय यह कि मानस में भक्तिभाव और आध्यात्मिकता का विस्तार अधिक है, पर वा० रामायण में भी यह भावना अनुपस्थित नही थी ।

वा० रामायण और मानस के सांकेतिक अर्थविश्लेषण में अन्तर यही है कि जहाँ मानस की पूरी कथा पर यह अर्थ आरोपित किया जा सकता है वहाँ वा० रामायण की पूरी कथा का ऐसा अर्थ करने पर अनर्थ ही हो सकता है और उसका सारा सौंदर्य

---

१. वा० रामायण में रावण द्वारा की गई प्रणय-याचना स्पष्ट है, परन्तु मानस में यह सांकेतिक रूप में भक्ति-याचना है । यहा रावण अपनी तामसिकता के विनाश की याचना कर रहा है (दे० मानस-पीयूष, सुन्दरकाण्ड, पृ० ९६ तथा विजया टीका, भाग ., पृ० ८६) ।

२. दे० तुलसी दर्शन पृ० १६०, तथा महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ५२७ ।

३. स्टडीज़ इन रामायण, भाग १, पृ० ४ ।

४. वही, पृ० ७ ।

५. दे० वा० रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३ के श्लोक २-६ तक–

हसितं भाषितं चैव गतिर्या यच्च चेष्टितम्
तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत्संप्रपश्यति ।
×　　　×　　　×
तत्र पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः
पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं　　　यथा

और वास्तविक अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस साकेतिक शैली का बीज भी आदि काव्य में रहा है[2], जिसका चरम विकास मानस की कथाशैली में दिखलाई पड़ता है।

असंगतियाँ एवं दोष

५. दोनों कवियों की कथा में अनेक असंगतियाँ, दोष एवं अपूर्णतायें भी दिखलाई पडती हैं जिनमें से कुछ परम्परागत है और कुछ दोनों कवियों की निजी हैं। इनमे मे कुछ उल्लेखनीय असगतियाँ एवं दोष निम्नलिखित हैं:—

. कथासंघटन सम्बन्धी दोष दोनों ही कवियों में हैं यथा,—पुनरावृत्ति, विषयान्तर, अतिविस्तार आदि, पर तुलसी में ये दोष अपेक्षा कृत कम है और उनकी विशिष्ट शैली के आश्रित हैं। वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्ताश अधिक होने के कारण इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। फिर भी, दोनो कवियों की यह समान प्रवृत्ति है कि उन्हे कथा की अधिक चिन्ता नहीं है। वाल्मीकि कवित्व मे डूबते हुए धीरे-धीरे चलते हैं और तुलसी उपदेश देते हुए।

२. विश्वामित्र, बालकाड के बाद, दोनों ही काव्यो में ओझल हो गये हैं। वा० रामायण में तो यह प्रक्षेपकारों की असावधानी है परन्तु तुलसी परम्परा में बधे रहे है। अतः इस कथांश की पूर्ति उन्होने भी नही की है।

३. वा० रामायण मे सीता वन जाते समय गंगा की मनौती करती हैं, परन्तु लौटने पर वे उसे पूरी नही करती। यह कथासघटन की भूल वाल्मीकि की ही कही जा सकती है, विशेषकर इसलिये कि उन्होंने प्रत्यावर्तन की यात्रा का पूरा-पूरा वर्णन करते हुए भी इसे छोड़ दिया। तुलसी इस कथासूत्र को भी सम्मिलित करना नही भूले है।[3]

४. तुलसी ने प्रस्तावना में तीन वक्ता-श्रोताओं का परिचय कराया, परन्तु याज्ञवल्क्य और भरद्वाज बालकांड के १७५वें दोहे के बाद फिर दिखलाई नहीं पड़ते।

५. कहीं-कहीं तुलसी ने कथा को अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया है, स्थान और पात्रों के नाम तक नहीं दिये है और घटना हो जाती है परन्तु उसका कोई प्रभाव नही पडता जैसे विराध-वध का प्रसंग और ताड़का-सुबाहु तथा मारीच के प्रसंग। उनकी यह अतिव्यास शैली श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य के लिये उपयुक्त नहीं है।

---

१. श्री के० रामास्वामी शास्त्री ने इस विषय में सचेत करते हुए कहा है—"यद्यपि इस काव्य में स्पष्टतः ही अन्योक्ति शैली तथा सांकेतिकता है फिर भी अन्योक्ति परक विश्लेषण का विस्तार प्रत्येक पात्र और प्रत्येक घटना तक करने पर हम केवल संकुचित विचारों एवं अनर्थ के दलदल मे ही फंस कर रह जायेंगे।" (स्टडीज इन रामायण, भाग १, पृ० ६)

२. इसका उदाहरण हनुमान की गति को राम-बाण की उपमा देने में भी देखा जा सकता है (रा० ५-१-३६)।

३ दि पोयटी आव वाल्मीकि प० ८३।

४ मा० ६ १२१ ८

६. बार-बार परब्रह्मत्व का स्मरण कराना और हठ तथा भर्त्सना के साथ उपदेश को श्रोता के मस्तिष्क में कील के समान ठोंकना[1] भी कवि की सहृदयता के प्रतिकूल है।

७ दोनों कवियों के कथाशिल्प के निजी गुण-दोष हैं फिर भी यह निश्चित है कि भारतीय कवियों में कथाकार के रूप में जितनी सफलता इन दो कवियों को मिली है, उतनी अन्य को नहीं। मानस की कथा वस्तुतः रामायण की ही कथा का एक आरोहण-सोपान है, किसी नये मार्ग या दिशा का मोड़ नहीं। वाल्मीकि और तुलसी की कथा अभिप्रेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों दृष्टियों से 'राम कथा' है, अर्थात् इसके द्वारा उन्होंने राम को तो जनता के जीवन में रमाया ही है, स्वयं को भी रमा दिया है। वे स्वयं भी इस कथा के द्वारा जनता के पूज्य बन गये हैं।

१ दे० मानस-दर्शन, पृ० १७

३

चरित्रचित्रण

रामकथा के विकास में तुलसी का मौलिक योगदान चरित्र चित्रण के क्षेत्र में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। दोनों कवियों के कथाशिल्प की तुलना करते समय, पूर्ववर्ती अध्याय में, हम यह देख चुके हैं कि कथानक की अपेक्षा कथावस्तु में और वस्तु की अपेक्षा कथाशैली में तुलसी की विशिष्टता लक्षित होती है। उनकी कथाशैली वस्तुतः चरित्र-विधान की ओर प्रवृत्त हुई है अर्थात् कथा को महत्व न दे कर, क्योंकि वह तो सर्वविदित और प्रचलित है, उन्होंने चरित्र को महत्ता दी है[1]। जहां कहीं भी तुलसी ने कथा मे किसी प्रकार का परिवर्तन किया है, वह चरित्र के लिये ही किया है। रामचरितमानस, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, चरित या चरित्र-प्रधान काव्य है। तुलसी ने अपनी दृष्टि से राम के चरित्र की पुनर्व्याख्या की है, उसी के लिये उन्होंने कथा का आधार लिया है और जहां आवश्यकता पड़ी है उसमें परिवर्तन किये हैं।

वा० रामायण के अनेक पात्र मानस की कथा में दिखलाई नहीं पड़ते, साथ ही कुछ नवीन पात्र दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ पात्रों के चरित्र का, नैतिकता या भक्ति की दृष्टि से, उत्कर्ष हुआ है और कुछ का अपकर्ष। मूल वा० रामायण में जोड़े गये प्रक्षिप्तांशों में दो प्रवृत्तियां विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है—एक तो चमत्कारिकता की प्रवृत्ति जिसका सम्बन्ध मुख्यतया कथा या घटनातत्व से है और दूसरी अलौकिकता, आदर्शवाद या भक्ति की प्रवृत्ति, जिसका सम्बन्ध मुख्यतया चरित्र-तत्व से है। तुलसी ने कथाविषयक चमत्कारिकता को अधिक नहीं अपनाया है, वरन् चरित्र विषयक अलौकिकता या आदर्शवाद का ही मानस में विशेष विस्तार किया है। वा० रामायण के प्रक्षिप्त अंशों में अनेक पात्रों का जीवनवृत्त और घटनाओं के कारण-निर्देश के रूप में कुछ नवीन चरिततत्व भी जोड़ा गया था। मानस में इन अंशों में से भी कुछ गृहीत हुआ है,

---

१. डा. श्रीकृष्णलाल का कथन है—"एक वाक्य में रामचरितमानस रामभक्ति का काव्य है, रामचरित का काव्य नहीं, रामकथा का भी काव्य नहीं है।" [दे० मानस दर्शन, पृ० १४१) परन्तु इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे परिवर्तित करके इस प्रकार कहा जा सकता है कि रामचरितमानस में कथा से अधिक महत्व चरित्र का है और चरित्रचित्रण से अधिक महत्व भक्ति के प्रतिपादन का है। प्रबन्धकार और कुशल चरित्रकार कवि के रूप में तुलसी की श्रेष्ठता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता भले ही उनका उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन या

परन्तु उतना ही जो तुलसी की मर्यादा-भावना और भक्ति के मेल में था। इस प्रकार रामचरितमानस रामकथा की चरित्रविषयक विकासपरम्परा का एक उत्कृष्ट सोपान है। चरित्रविधान की दृष्टि से तुलसीदास के विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है—"चरित्रचित्रण में तुलसीदास की तुलना संसार के गिने चुने कवियों के साथ ही की जा सकती है"।[1]

तुलसीदास के चरित्रचित्रण का कौशल आधुनिक दृष्टि अर्थात् केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर नहीं समझा जा सकता क्योंकि प्राकृत-जन गुणगान उनका लक्ष्य नहीं था।[2] उन्होंने सामान्य जन की मानसिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण को, आधुनिक उपन्यासकार या गल्पलेखक के समान, अपना लक्ष्य नहीं बनाया था, वरन् उनकी विशेषता मनुष्य के चरित्र में निहित सर्वोच्च क्षमता को देखने तथा उसके विकास के उच्चतम शिखर तक कल्पना के पगों से आरोहण करने में है। दार्शनिकों द्वारा निरूपित परब्रह्म की उन्होंने मानवीय व्याख्या की है। मानवचरित की उच्चता के दर्शन का जो प्रयास वाल्मीकि से आरंभ हुआ था, उसका ही उच्चतम विकास हमें तुलसी में लक्षित होता है। उपनिषदों और पुराणों ने इस विकास के लिये पहले से ही पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी थी।

वाल्मीकि और तुलसी की अनुभूति और अभिव्यक्ति, अर्थात् भावना, विचार और शैली में हमें एक मूलभूत एकता दिखलाई पड़ती है जो कि इस भूमि और यहां की संस्कृति की मूलभूत एकता से सम्बन्धित है। दोनों ही आदर्शवादी कवि हैं, यह हम पूर्ववर्ती अध्याय में देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे। अन्तर दोनों के आदर्शवाद की सीमाओं एवं लोकहृदय में उस आदर्श का संचार करने की शैली में है। तुलसी के समय तक हमारे जातीय चरित्र का इतना अपकर्ष हो चुका था, उस पर अन्य संस्कृतियों का इतना भार पड़ चुका था, कि हम अपने मौलिक स्वरूप को भूलने लगे थे। अतः तुलसी को उपदेश-शैली अर्थात् उग्ररूप में, हठपूर्वक, चेतावनी देने और सावधान करने की शैली, का सहारा लेना पड़ा। इसलिये हमें तुलसी के कथाविधान और चरित्रविधान में सांप्रदायिकता लक्षित होती है। वाल्मीकि की काव्यकृति में धर्म, दर्शन और कला नीर-क्षीर के समान घुले-मिले हैं, तुलसी में वे पृथक-पृथक दिखलाई पड़ते है।

तुलसी ने अपनी दृष्टि को राम के चरित्र पर ही केन्द्रित किया गया है। सीता तक का उन्होंने विश्लेषण नहीं किया है, अधिकांशतः वन्दना-अर्चना ही की है। उनके समस्त पात्रों का व्यक्तित्व राम के आधीन है, उनकी रचना राम के लिये ही की गई है। जिस प्रकार मानस का कथातत्व 'चरित तत्व' के आधीन है, उसी प्रकार 'चरित-

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० २३७।

२. दे० कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥ मा० १. ११.७। इसके अतिरिक्त डा० गंगा नाथ झा का यह कथन—"महापुरुषों के चरित्र परीक्षण में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये "महापुरुष" थे। साधारण पुरुषों में जो नियम लागू होते हैं वे उनमें नहीं हो सकते कल्याण रामायणांक जुला० १९३० पृ० १४१]—भी यही संकेत करता है

तत्त्व' अर्थात् समस्त पात्र-विधान केवल 'राम-तत्व' अर्थात् राम के चरित्र के आधीन है।[1] उनके अन्य पात्रों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जब कि वाल्मीकि के सभी पात्र अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते है। वाल्मीकि के पात्र-समाज में हमे विभिन्न व्यक्तित्वों की अनुभूति होती है जब कि तुलसी के समाज में केवल एक व्यक्तित्व की, जैसा कि स्वयं उनके "सीय राम मय सब जग जानी"[2] कथन से प्रकट है। अतः तुलसी का चरित्रचित्रण उनके अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के सिद्धात पर आधारित है जिसके अनुसार सभी जीव एक आभा से आभासित हैं, एक अशी के अंश है।[3]

मानस की प्रस्तावना में जिस प्रकार तुलसी ने अपना कथा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है, उसी प्रकार चरित्र सम्बन्धी दृष्टिकोण भी। इस प्रस्तावना से हम उनके चरित्रचित्रण विषयक निम्नलिखित विचार प्राप्त करते है:—

१. सामान्य मनोवैज्ञानिक स्तर पर चरित्र-विश्लेषण करना उनका लक्ष्य नहीं है।[4]

२. रामकथा के समस्त पात्र उनके लिये वन्दनीय हैं।[5]

३. सभी पात्र राम के आश्रित और आधीन है। राम के कारण ही उनका

---

१. इसीलिये कुछ आलोचकों को कहना पड़ा है कि "एक वाक्य में रामचरितमानस रामभक्ति का काव्य है"—(दे० श्रीकृष्णलाल, मानस दर्शन, पृ० १४१)

२. मा० १.८.२।

३. ईश्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।। ७.११७.२

४. कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ।। १.११.७
(जब लौकिक जन या जीवन उनका अभिप्रेत नहीं है तब चरित्रचित्रण का तल अनिवार्य रूप से परिवर्तित हो जायेगा। उनका लौकिक जीवन चित्रित तो होगा, परन्तु उसकी परिणति अलौकिक जीवन मे होगी।)

५. बाल० १६.१. से दो० १८ तक रामकथा के प्रमुख पात्रों की वन्दना नामोल्लेख सहित की गई है—कौशल्या, दशरथ, अन्य रानियां, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान, निशाचरराज विभीषण, अंगद तथा अन्य वानरों की और समष्टि रूप में अवशिष्ट पात्रों—खग, मृग, सुर, नर, असुर, भक्त लोग तथा मुनिसमाज की। अन्त में सीता, राम और सम्मिलित सीता-राम की। इस तालिका में तुलसी ने प्रतिनायक-पक्ष के पात्रों का उल्लेख नहीं किया है। केवल "रघुपति चरन उपासक जेते" (१.१८.३) ही वन्दनीय हैं, परन्तु सामान्य रूप में सीय-राम की व्यापकता के नाते तुलसी ने अपनी प्रस्तावना में सभी की वन्दना की है—
जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।। १.७ (ग)
रावण के विषय में भी "तासु तेज समान प्रभु आनन" (६.१०३.६) और "प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ" (३.२३.४) कहकर उन्होंने उसे 'भक्तराज' बना दिया है और इसलिये वह भी तामस भजन शिरोमणि बनकर वन्दनीय हो गया है

महत्व है।[1]

४. सीता और राम का भी वस्तुत: एक ही व्यक्तित्व[2] है।

५. पात्रों की एक निश्चित रूपरेखा कवि के मन में है, उसी के आधार पर वह कथा को गूंथ रहा है।[3]

६. कथा के समान कवि ने पूर्वपरिचय के नाते अधिकांश पात्रों की स्थिति और चरित्र का आभास प्रारंभ में ही दे दिया है।[4]

७. उसकी कथा में उत्तम और अधम पात्रों का सम्मिलित समाज है।[5] इस प्रकार आदर्श और यथार्थ का मेल स्वयमेव हो गया है।

८. राम का चरित्र सावधानी से समझा जाना चाहिये, उनके दृश्यमान दोष भी मूल रूप में गुण ही हैं।[6]

९. राम के चरित्र का विश्लेषण उनका प्रधान लक्ष्य है।[7]

१०. उनके राम एक साथ ही परब्रह्म, लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक राम (दाशरथी राम), ईश्वर और विष्णु हैं।[8]

११. राम के स्थूल और सूक्ष्म दोनों स्वरूपों का वर्णन उनका अभिप्रेत है, दोनों में अज्ञानजन्य भेद प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में एकता है।[9]

---

१. सभी पात्रों की वन्दना राम के नाते की गई है, साथ ही उनके चरित्र की परिभाषा भी राम से उनके सम्बन्ध के आधार पर ही की गई है, जैसे लक्ष्मण 'जो कि राम की यश-पताका के लिये डंडे के समान थे', भरत जो कि राम को प्रेम करते थे, और शत्रुघ्न भरत के अनुगामी थे इत्यादि। दे० मा० (१.१६.१८)।

२. गिरा-अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न (१ दो० १८)

३. दे० ऊपर की टिप्पणी १। इसके अतिरिक्त तुलसी ने सारे पात्रों को अवतारवाद से सम्बन्धित किया है। लक्ष्मण भी अवतार हैं (१.१७.७), हनुमान भी अवतार हैं (५.३०.६) रावण भी अवतार है (१.६४.८), दशरथ-कौशल्या भी कश्यप-अदिति के अवतार हैं (१.१८७.३-४) और वानरादि भी देवताओं के अवतार हैं (१.१८८.३)।

४. दे० ऊपर की टिप्पणी १। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य पात्रों का परिचय भी किसी न किसी बहाने दे दिया गया है, जैसे ताड़का का (१.२४)।

५. संत-असंत वन्दना और 'गुण-दोष मय' विश्व के उल्लेख (१.६) से यह स्पष्ट ही है।

६. "लघुमति मोरि चरित अवगाहा" (१.८.५)। इसके साथ ही कवि ने राम पर यह आक्षेप भी किया है कि जिस अपराध पर उन्होंने बालि का वध किया वही फिर सुग्रीव और विभीषण ने किया, परन्तु राम ने उस पर स्वप्न में भी ध्यान नहीं दिया क्योंकि अपने भक्तों के सब अपराध वे क्षमा कर देते हैं दे०—(१.२९)। बालि से भी तो उन्होंने कहा था "अचल करौं तनु राखहु प्राना" (४.१०.२)। पीछे पृ० ११४ पर दी गई डा० गंगा नाथ झा की टिप्पणी का भी यही आशय है।

७. करन चहउं रघुपति गुन गाहा (१.८.५), तथा भरद्वाज के प्रश्न "राम कवन" (१.४६) और पार्वती के प्रश्न "जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि" (१ दो० १०८) के उत्तर के रूप में कथा का प्रसार। इसके अतिरिक्त उनकी कविता का उद्देश्य भी केवल "भगति" अर्थात् राम का गुणकथन ही है (१.१३)।

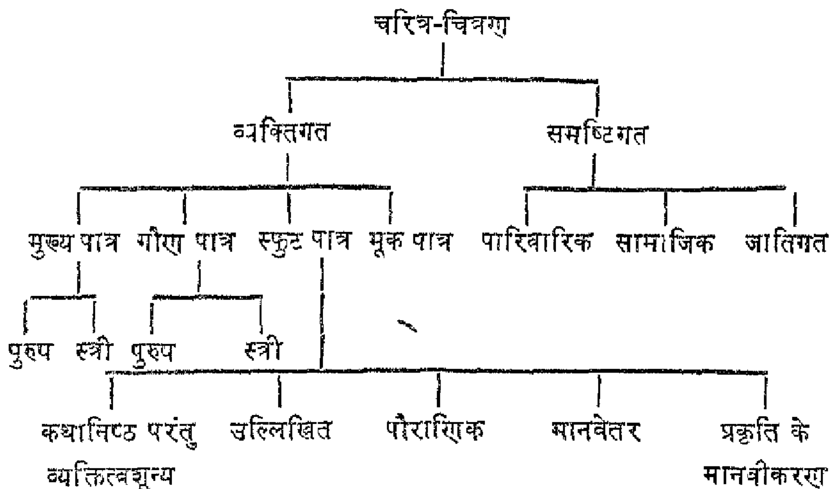
८. "अशेष कारण पर", "रामाख्य", "ईश" और "हरि" (१. मंगलाचरण .६)

९. सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा (१ ११६ १) तथा इस स्थल पर नामसत्य पर बल दिया जाना

वाल्मीकि का भी मूल उद्देश्य महच्चरित की महिमा का प्रकाशन था। इसका हम अनुमान अवश्य कर सकते हैं, क्योंकि उसी आधार पर मर्मी कथावाचकों ने नारद वाल्मीकि सम्वाद (बाल० सर्ग १) की योजना की है जिसमें महच्चरित के गुण गिनाये गये हैं।

वाल्मीकि के राम भी विग्रहवान धर्म हैं[1], राम के चरित्र-चित्रण में उनकी काव्य कला का चरम उत्कर्ष भी हुआ है, परन्तु उनके काव्य में मानस के समान अन्य पात्रों का व्यक्तित्व राम के आधीन नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि वा० रामायण भी एक सीमा तक चरितकाव्य है, उसे चरितकाव्यों की परम्परा की पहली कड़ी कह सकते हैं[2], फिर भी चरितत्व का जो महत्त्व तुलसी की दृष्टि में है और जिस रूप में मानस चरितकाव्य है उस रूप में वा० रामायण नहीं है। यों तो सभी महाकाव्य मूल रूप में चरितकाव्य कहे जा सकते हैं।

महाकाव्य के विशाल समाज में विविध पात्रों का एक संकुल, कोलाहलपूर्ण समुदाय होता है। उन सभी पर दृष्टिपात, एक विहंगम दृष्टि से भी, कर पाना असम्भव है। अतः वा० रामायण और रामचरितमानस के पात्र-समाज के तुलनात्मक अनुशीलन के लिये, पृष्ठभूमि या आधारफलक के रूप में, किसी वर्गीकरण का आश्रय लेना अनिवार्य है। इस वर्गीकरण का चित्र निम्नांकित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है:—



इन्हीं वर्गों के आधार पर दोनों कवियों के चरित्रशिल्प का अध्ययन किया जायेगा। इन वर्गों का अभिप्राय और सीमा भी, आगे प्रत्येक वर्ग के पात्रों का विश्लेषण करने से पूर्व, निर्दिष्ट की जायेगी। यहां केवल व्यक्तिगत और समष्टिगत का आशय स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। चरित्र का अध्ययन मुख्य रूप से व्यक्ति के

१. रा० ३.३७.१३।

२ दे० हिन्दी महाकाव्य०, पृ० ४८७

आधार पर ही किया जाता है जिसमें व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों के बीच होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की परीक्षा की जाती है और व्यक्ति विशेष के गुणों तथा अवगुणों के आधार पर मानवस्वभाव का अनुशीलन किया जाता है। परन्तु अनेक स्थलों पर व्यक्तियों के समूह, सभा, समाज, जाति, संप्रदाय आदि के भी स्वभाव और सस्कृति का चित्रण होना है जिनमे, नाम रूप के बिना जाति-गत विशेषताओं का ही उल्लेख या चित्रण होता है, जैसे प्रजा, सैनिक, योद्धा अथवा वानर, राक्षस आदि। दोनो महाकाव्यों में मानव समाज की छोटी बड़ी विविध इकाइयों का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। अतः ये दो मूलभूत वर्ग बनाने आवश्यक प्रतीत हुए। नाटकों में जिस प्रकार पात्रों का वर्गीकरण नायक-नायिका भेद के रूप में किया गया है उस प्रकार काव्यो मे नही, परन्तु महाकाव्य के विशाल समाज में पात्रों की स्थिति को ठीक समझने के लिये भी एक वर्गीकरण अपेक्षित है। प्रस्तुत विश्लेषण में इस दिशा मे भी कुछ प्रयास किया गया है।

इस विश्लेषण में हमारा लक्ष्य दोनों काव्यों में पात्रों की कथात्मक स्थिति, मनोवैज्ञानिक तत्वों, नैतिक तत्वों और अस्वाभाविकताओं तथा अतिप्राकृत तत्वों आदि की परीक्षा करना होगा। निष्कर्ष रूप मे हमें दोनों के आदर्शवाद और यथार्थवाद को भी समझना है।

मुख्य पात्र

महाकाव्य में मुख्य या प्रधान पात्र वे माने जाते हैं जिन्होंने कथा अर्थात् घटनाओ मे अधिक भाग लिया है, जिनका सम्बन्ध महत्वपूर्ण घटनाओं से है, जो कथानक में दूर तक दिखलाई पडते हैं और जिनके व्यक्तित्व-विस्तार अर्थात् शीलस्वभाव के निरूपण मे कवि ने अधिक प्रयत्न किया होता एवं दक्षता प्रकट की होती है। मुख्यता की एक पहिचान यह भी है कि जन-मानस पर उनका प्रभाव अधिक होता है और वे जनता के चरित्र को अधिक प्रभावित करते है। वे पात्र जो केवल चारित्रिक या नैतिक दृष्टि से तो बहुत ऊंचे हैं तथा परम्परा से भी अत्यन्त आदरणीय है, परन्तु कथानक में उनका अधिक भाग नहीं है, महाकाव्य की दृष्टि से प्रधान नही माने जा सकते। इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा निरपवाद या पूर्ण नहीं हो सकता, उसमें मतभेद हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि वा० रामायण के कुछ प्रधान पात्र मानस में गौण बन गये हों अथवा गौण पात्र प्रधान बन गये हों। यह हम आगे के विवेचन में देखेंगे।

दोनों काव्यों के पुरुष-समाज में निम्नलिखित पात्र क्रमशः प्रधान या मुख्य माने जा सकते हैं, जिनका विवेचन उसी क्रम से किया जायेगा। ये पात्र हैं—(१) राम, (२) लक्ष्मण (३) भरत (४) दशरथ (५) रावण (६) हनुमान (७) सुग्रीव (८ विभीषण ९ मेघनाद और १० अगद

विष्णु तत्व और (३) परब्रह्म तत्व। विद्वानों का विचार है कि राम एक क्षत्रिय जाति के नेता थे जो, अपने महत्कार्यों के द्वारा चारणों एव कवियों की वाणी से गौरवान्वित होकर, क्रमशः एक राष्ट्रीय नेता के रूप में सम्पूजित होने लगे और अन्ततोगत्वा उनकी परिणति मानव-मनीषा द्वारा निरूपित महत्तम सत्ता अर्थात् पूर्णपरब्रह्म में हो गई।[1] वा० रामायण से पूर्ववर्ती स्फुट आख्यान काव्य में वे इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय नेता के रूप मे प्रकट हुए, आदिकाव्य में उनकी प्रतिष्ठा आदर्श मानव या पूर्ण पुरुषोत्तम के रूप मे हुई, पुराणों ने उन्हे विष्णु और महाविष्णु माना और वेदान्त की पृष्ठभूमि पर पल्लवित ब्रह्मवाद का प्रवेश जब भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से काव्य के क्षेत्र में हुआ तब यही राम "परब्रह्म" तत्व की भी व्याख्या के आधार बने। रामचरितमानस के राम में उनके विकास के इन तीनों तत्वों का सामंजस्य कर लिया गया है, अतः उनका रूप वा० रामायण के राम की अपेक्षा जटिल और सघन हो गया है। उनमें नराकार, सुराकार और निराकार, तीनों ही झांकियां देती जा सकती हैं। डा० बल्देव मिश्र के शब्दों मे—"गोस्वामी तुलसीदास जी के राम न केवल ब्रह्म हैं (निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण अशरीरी परमात्मा), न केवल महाविष्णु हैं (सगुण शरीरी परमात्मा), न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम हैं (आदर्श मनुष्य) वरन् तीनों के सामजस्य से पूर्ण परम आराध्य है।"[2] डा० माता प्रसाद गुप्त का भी यही विचार है कि तुलसी को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से एक पूर्ण चरित "ईश्वर" की प्राप्ति हुई थी जिसमें उन्होंने और भी पूर्णता भरने का प्रयत्न किया है।[3] रामायण से लेकर रामचरितमानस तक, और उसके आगे भी, साहित्य मे राम के लिये जितने विशेषण प्रदान किया गये हैं उन्होंने एक व्यक्तित्व को भूलभुलैया में उलझा दिया है जिससे मुक्त करके उसे ठीक प्रकार समझ पाना आलोचकों और टीकाकारों के लिये अत्यन्त कठिन हो गया है। प्रस्तुत अध्ययन में हम राम के व्यक्तित्व का अध्ययन उक्त तीन तत्वों के आधार पर ही करेंगे—पूर्ण पुरुषोत्तम, विष्णु या महाविष्णु और परब्रह्म।

पुरुषोत्तम राम

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मानस के राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य, इन तीन विभूतियों की पराकाष्ठा मानी है और इनमें भी प्रधानता शील की बतलाई है।[4] सौन्दर्य के द्वारा इस शील में रमणीयता की वृद्धि हुई है और शक्ति के द्वारा प्रभविष्णुता अर्थात् व्यापक प्रभाव की। वस्तुतः किसी भी महापुरुष, नेता अथवा काव्य-नायक की श्रेष्ठता के ये ही तीन आधार हैं। नायक के चरित्र-विश्लेषण के लिये आचार्य शुक्ल ने यह एक उपयुक्त शास्त्रीय आधार प्रस्तुत कर दिया है। अतः सर्व-

१. विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इंडियन लिट्रेचर, पृष्ठ ५०१ तथा बुल्के पृ० ४८०-४८३।
२. तुलसीदर्शन, पृ० १३३।
३ तुलसीदास पृ० २८७
४ गोस्वामी तुलसीदास पृ० ६० तथा चिन्तामणि भाग १, पृ० २१

प्रथम महा मानव के रूप में हम भी राम की इन तीनों विभूतियों का विश्लेषण, दोनों काव्यों के आधार पर, तुलनात्मक दृष्टि से करेंगे। सौन्दर्य व्यक्तित्व का बाह्य पक्ष है, अतः सर्वप्रथम उसी का विवेचन अभिप्रेत है।

राम का सौंदर्य

सौन्दर्य-विवेचन अधिकांशतः अलंकार-क्षेत्र की वस्तु है परन्तु उसका सम्बन्ध व्यक्तित्व से होता है और व्यक्तित्व चरित्र का अनिवार्य अंश है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार बाह्य आकृति से ही व्यक्ति के गुणों का बोध हो जाता है—"आकृतौ गुणा"। अतः चरित्र-चित्रण के अंतर्गत उस पर विचार किया जाना अनिवार्य है।

रामकथा के पात्रों में काव्यनायक राम का सौन्दर्य भी रामायण-काल से ही कवियों की महान कल्पना और सूक्ष्म चित्रण का विषय रहा है। वा० रामायण के प्रारंभ में ही (बाल० सर्ग १) वाल्मीकि के प्रश्न का उत्तर देते हुए नारद ने राम की अन्य विशेषताओं के साथ उनकी रूप-श्री का भी वर्णन किया है और अन्य प्रसंगों पर भी उनके सौन्दर्य का निरूपण किया गया है। राम के सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिये ही वाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर राम की तुलना चन्द्रमा से की है[1] और आगे चलकर यह उपमेय-उपमान सम्बन्ध या रूपक न रहकर साधारण व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में चल पड़ा।[2] इस प्रकार 'राम' 'रामचन्द्र' बन गये। पौराणिक युग में देवताओं की रूपाकृति-विषयक कल्पना का विकास हुआ, विशेषकर विष्णु के सुकुमार-सौन्दर्य और नखशिख निरूपण की प्रवृत्ति बढ़ती गई, जिसका प्रभाव रामकथा पर भी पड़ा और विष्णु के अवतार 'राम' का चित्रण उनके अद्वितीय सौन्दर्य-वर्णन के बिना अधूरा ही प्रतीत होने लगा। इतना ही नहीं, पुराणों में देवताओं, विशेषकर विष्णु, का सौन्दर्य इतने सुकुमार और सूक्ष्म रूप में चित्रित किया गया कि वह स्त्री-सौन्दर्य के समकक्ष प्रतीत होने लगा।[3] मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में राम और कृष्ण का नख-शिख-निरूपण रीतिकालीन नायिकाओं के समान हुआ है, जिसका प्रभाव तुलसी पर भी पड़ा है, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

राम की रूप-छवि के विकास के तीन सोपान हम वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी में देख सकते हैं :—

(अ) रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्।
　　ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ (रा० ३, १, १२)

---

१. सोमवत्प्रियदर्शनः (१. १. १८), पूर्णचन्द्राननः (२. १. ४४), चन्द्रमिवोदितम् (२. ४४. २२), लोककान्तः शशीयथा (५. ३४. २८), पूर्णचन्द्रमिवोदितम् (६. ३०. ..), इत्यादि।

२. बुल्के, पृ० १४।

३ स्टडीज इन रामायण, भाग १, पृ० ४६

(आ) तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ (रघुवंश, ११. ६३)

(इ) थके नयन रघुपति छबि देखें । पलकन्हिहूं परिहरी निमेषें ॥ (मा० १. २३२. ५)

राम का यह रूप-माधुर्य और उसके प्रति आसक्ति तुलसी-साहित्य में उनकी भक्तिभावना का अंग बन गई है। वा० रामायण में भी, जिस प्रकार भक्ति के आश्रय-पक्ष में श्रद्धा, विनीतता, शरणागति, समर्पण आदि तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार आलम्बन-पक्ष में राम की रूपमाधुरी उस सीमा तक अपना प्रभाव डालती हुई प्रतीत होती है कि वह सामान्य आसक्ति से भिन्न "भक्ति" ही प्रतीत होने लगी है। वा० रामायण के उक्त उद्धरण में "सौकुमार्य" का संकेत मात्र है, मानस में उसका अधिक विस्तार हुआ है। आश्रय-पक्ष में "दृष्टिर्विस्मितताकरा" में भक्ति के भाव निहित है, परन्तु मानस में सौन्दर्य-प्रेरित भक्ति के उद्गार और चेष्टायें विशद रूप में प्रस्तुत की गई हैं।

शारीरिक सौंदर्य के दो पक्ष हैं, बाह्य अथवा स्थूल और आंतरिक अथवा सूक्ष्म। बाह्य या स्थूल सौंदर्य के अंतर्गत शरीर रचना को लिया जा सकता है और आंतरिक अथवा सूक्ष्म सौन्दर्य के अन्तर्गत उस रचना में से फूटने वाले लावण्य, कांति अथवा ओज को। दोनों ही कवियों ने राम के सौन्दर्य के ये दोनों पक्ष चित्रित किये हैं।

शरीर-रचना के सौन्दर्य को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है—शक्ति सूचक सौंदर्य और सौकुमार्य सूचक सौन्दर्य। पुरुष-सौंदर्य के वर्णन में प्रथम की प्रधानता होगी और स्त्री सौंदर्य के वर्णन में द्वितीय की। उन्नत स्कन्ध, विशाल वक्ष, आजानु भुज, आदि का वर्णन शक्तिसूचक सौंदर्य के अन्तर्गत है और काकपक्ष, कुन्तल, भ्रू, पक्ष्म, अपांग, चितवन, नासिका, दन्तपंक्ति, अधर, कटि आदि का वर्णन सौकुमार्य सूचक सौंदर्य के अंतर्गत। वाल्मीकि ने उनमें से प्रथम को ही प्रधानता दी है, परन्तु तुलसी ने दोनों को सन्तुलित रखा है अथवा कहीं-कहीं उनकी प्रवृत्ति द्वितीय पक्ष की ओर अधिक दिखलाई पड़ती है। इसी भेद को लक्ष्य करते हुए डा० श्रीकृष्ण लाल ने कहा है—"मानस के राम का सौंदर्य तो वह नवनीत कोमल सौंदर्य है जिसका आदर्श पौराणिक कामदेव और रति है। मानस के राम में सर्वत्र वही 'कोटि मनोज लजावन-हारा' सौंदर्य दिखलाई पड़ता है जिसे देख कर जीवमात्र ठिठके से खड़े रह जाते हैं। यह सौंदर्य वाल्मीकि के राम का वह कठोर सौन्दर्य नहीं है, जिसके विषय में माता कौशल्या ने कहा था—

महेन्द्रध्वजसंकाशः क्व नु मे ते महाभुजः ।
भुज परिघ महाबल (रा० २ ६१ ७)

और न वह भवभूति के राम का "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' वाला सौंदर्य है।"[1]

वाल्मीकि ने भी राम के कोमल सौन्दर्य का वर्णन किया है, लेकिन कम। उन्होंने राम के चन्द्रमुख के अतिरिक्त, कमल जैसे नेत्रों का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है।[2] कहीं-कहीं उनकी समस्त शारीरिक कोमलता के लिये बार-बार कमल से उपमा दी है—

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम्।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम्॥ (२.६१.८)

कोमलता के लिये कमल लोकप्रसिद्ध उपमान है और उनका अधिक प्रयोग कोमल सौंदर्य के प्रति वाल्मीकि के भी आकर्षण को प्रकट करता है। इतना ही नहीं, श्यामता और नीलकमल के प्रति तुलसी का जो विशेष अनुराग है उसकी परम्परा भी हमें आदि काव्य में ही मिल जाती है।[3] कहीं-कहीं राम की तुलना पौराणिक कामदेव से भी की गई है।[4] वा० रामायण के संदिग्ध स्थलों में हमें राम के सौंदर्य-विस्तार की प्रवृत्ति और अधिक लक्षित होती है जिससे राम के चरित्रचित्रण में अलंकारिकता की वृद्धि होते जाना प्रकट है। मुख और नेत्र के अतिरिक्त राम के अन्य अंगों के सौंदर्य का वर्णन भी वा० रामायण में किया गया है—यथा, उनकी कम्बु जैसी ग्रीवा, सुन्दर हनु, विपुल स्कन्ध, विस्तीर्ण भुजायें, उन्नत ललाट, विस्तीर्ण वक्षस्थल इत्यादि।[5] इस सौन्दर्य-वर्णन मे कवि की दृष्टि सूक्ष्म विश्लेषण में भी प्रवृत्त हुई है, उदा० के लिये उसने समविभक्त अंगों और मांस से ढकी हुई हंसुली (गूढ़ जत्रु) पर भी दृष्टिपात किया है।[6] सीता के समक्ष राम की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय हनुमान ने उनका अत्यन्त सूक्ष्म शारीरिक वर्णन किया है।[7] राम और शूर्पणखा के वार्तालाप में भी राम के सौंदर्य का निरूपण किया गया है,[8] परन्तु इन वर्णनों में तुलसी जैसी नखशिख निरूपण की प्रवृत्ति नहीं है, यद्यपि सीता के सौंदर्य-वर्णन में उसका आभास अवश्य मिलता है।[9]

तुलसी ने कुछ विशिष्ट परिस्थितियों और उद्देश्य विशेष के कारण राम का

---

१. मानसदर्शन, पृ० ५४।
२. रामः कमलपत्राक्षः (५-३५.८), वदनं पुष्करेक्षणम् (२.६१.८), पद्मपत्रनिभेक्षणः (३.३८.१४), आदि।
३. कथमिन्दीवरश्याम दीर्घबाहुं महाबलम् (२.१३.१०) तथा राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् (३.१७.६)।
४. वही (३.१७.६)।
५. रा० १.१।
६. रा० १.१.११ और १०।
७. रा० ५ ३५।
८ रा० ३ १७
९ रा० ३ ६०

नखशिख-निरुपण किया है और उन्होंने स्वयं इसे नखशिख वर्णन ही माना है।[1] एक तो यह प्रवृत्ति पुराणों से मध्यकालीन हिन्दी तथा इतर भाषा-साहित्यों में प्रविष्ट हुई थी।[2] दूसरे, तुलसी के विषय में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने मानस के आधार पर रामलीला की योजना की थी[3] जिसमें राम और लक्ष्मण का नख-शिख शृंगार किया जाता होगा। एक कारण और भी है। मर्यादावादी और वैरागी भक्त होने के नाते तुलसी सीता माता या अन्य स्त्री पात्रों का नखशिख-वर्णन तो कर नहीं सकते थे, परन्तु कवि होने के नाते उन्हें नखशिख-वर्णन करना अवश्य था। अतः उन्होंने कवि-कर्म का निर्वाह करते हुए नखशिख निरूपण की परिपाटी राम के सौन्दर्य-निरूपण मे पूरी कर दी। इसमे उनका उद्देश्य यह भी था कि राम के सौन्दर्य के प्रति जनता को आकृष्ट करके फिर उनके शील का स्थायी प्रभाव उसके हृदय पर सरलता से डाला जा सकता है। सौंदर्य का प्रभाव तत्काल पड़ता है और अन्य गुणों का उसके बाद मे। इसके अतिरिक्त "लोकहृदय आकृति और गुण, सौंदर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान मे देखना चाहता है।"[4] इस नखशिख निरूपण की पृष्ठभूमि में उनके अवतारवाद का सिद्धान्त भी है। नायिकाओं के नखशिख निरूपण से यह भिन्न है, क्योंकि अवतार के नाते तुलसी ने राम के दिव्य रेखा-चिह्नों का भी वर्णन किया है।[5] उनका कोमल नखशिख-निरूपण और आभूषण-वर्णन केवल बाल्यकाल में[6] अथवा विवाह के अवसर पर[7] किया गया है, आखेट के अवसर पर अथवा युद्धभूमि में उनका वीरवेश ही चित्रित हुआ है। परब्रह्मत्व के नाते राम की यह छवि जगद्व्यापिनी है और चर-अचर, स्त्री-पुरुष सभी के मन को मुग्ध करती है। कदाचित् इसलिये भी राम के सौंदर्य में उभय पक्ष को आकर्षित करने वाले तत्वों का सम्मिश्रण किया गया है। तुलसी ने लिखा है "मोह न नारि नारि के रूपा" (७.११०)। यह बात पुरुषों के पक्ष में सही नहीं है और तुलसी साहित्य में तो और भी नहीं, क्योंकि उनके राम के सौंदर्य के प्रति पुरुष स्त्रियों से अधिक रीझे हैं। भक्ति के प्रसार की दृष्टि से इस सौंदर्य-चित्रण का महत्व प्रकट करते हुए डा० श्रीकृष्ण लाल ने कहा है—"रामचरितमानस साधारण जनता की सम्पत्ति है और साधारण जनता अधिकाश रजोगुणी है जिसमें श्री तथा वैभव की वासना और कामना प्रधान होती है। अतः मानस के भगवान राम भी सौंदर्य प्रधान हैं[8]। उक्त विद्वान का विचार यह भी है कि तुलसी के राम में सौंदर्य-विभूति की ही

---

१. रामरूप नखसिख सुभग (१. दो० ३१५) तथा नखसिख मंजु महाछवि (१.३४४)।

२. उदा० के लिये श्रीमद् भागवत दशम स्कंध में कृष्ण का नखशिख वर्णन।

३. लोकधर्मी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु, कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह,।

४. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१८ तथा तुलसीदास (रा० शुक्ल) पृ० ६०।

५. रेखकुलिस ध्वज अंकुस सोहे (१.१९९.३)।

६. मा० १.१९९।

७ वही २२७

८ न पृ० ५८

पराकाष्ठा है, शील या शक्ति की नहीं,[1] परन्तु हम देखेंगे कि तुलसी के राम में वस्तुतः शील की ही पराकाष्ठा है, जिसके दो आवरण मात्र है सौन्दर्य और शक्ति।

राम के शक्तिसूचक सौन्दर्य का वर्णन वा० रामायण में प्रधान रूप में किया गया है क्योंकि वह एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है, परन्तु मानस में भी इस प्रकार के सौन्दर्य-वर्णन का अभाव नहीं है। धनुष-यज्ञ में, आखेट को जाते समय और युद्धभूमि में उनकी वीरत्व-व्यंजक मूर्ति का चित्रण हुआ है। वाल्मीकि के समान तुलसी ने भी उनके वृषभ-कंध[2], आयत उर[3], विशाल बाहु[4] आदि का उल्लेख किया है और उन्हे 'नर केहरि'[5], 'रघुसिंघ'[6] आदि विशेषण प्रदान किये हैं।

प्रकरण के आरम्भ में हमने शारीरिक सौंदर्य के दो विभाग किये थे—बाह्य अथवा स्थूल सौन्दर्य अर्थात् शरीर-रचना और आन्तरिक अथवा सूक्ष्म सौंदर्य अर्थात् कान्ति, लावण्य या ओज। इस सौन्दर्य के भी दो पक्ष हैं। बहिरंग पक्ष के अन्तर्गत वर्ण जैसे, श्याम, गौर, ताम्र, कनक, चम्पक आदि को लिया जा सकता है और अन्तरंग पक्ष में कान्ति, प्रकाश, दमक, तेज, आभा, ओज आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इसी के अन्तर्गत उस अनिर्वचनीय सौंदर्य-तत्त्व को भी ले सकते हैं जिसे 'छवि' कहा जाता है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों की दृष्टि राम के इस सूक्ष्म सौन्दर्य की ओर अधिक प्रवृत्त हुई है और इसमें भी वही सुकुमारता और शक्तिमत्ता का अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

राम के श्याम और लक्ष्मण के गौर वर्ण की परम्परा आदिकाव्य से ही चली आ रही है। राम की श्यामता तुलसी की भक्ति का विशिष्ट आलंबन है, परन्तु इसकी भी परम्परा आदिकाव्य से ही आरंभ हो चुकी थी, जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके है (दे० पृ० १२२)। तुलसी ने इस श्यामता के निरूपण के लिये प्रकृति के कोष से विविध उपमानों का संचयन किया है जैसे, मरकत, तमाल, मेघ केकीकंठ आदि।

राम की छवि के व्यापक प्रभाव का वर्णन भी दोनों ही कवियों ने किया है। वाल्मीकि के राम अतीव प्रियदर्शन हैं[7] और दर्शकों की दृष्टि और चित्त का अपहरण करने वाले है। उनके दर्शन से प्रजा को उसी प्रकार शान्ति प्राप्त होती है जिस प्रकार घाम से तपे हुए लोगों को मेघ-दर्शन से।[8] राम के दर्शन से प्राप्त होने वाली इस शीतलता में भक्तिभावना का आदि अमृतस्रोत स्पष्ट ही छलकता हुआ दिखलाई पड़ता है। तुलसी ने राम की इस नयनाभिरामता और शीतल छवि का तथा उनकी विशिष्ट

१. मानस दर्शन, पृ० ५८।
२. मा० १. दो० २४८।
३. वहीं, ३२७।
४. वही।
५. ७.३७।
६. ७-२३३।
७ रा० १ ४ २८
८ रा० १ ३ २६

चितवन का अधिक विस्तार किया है जो दशरथ के प्रांगण से प्रस्फुटित और अयोध्या नगरी से प्रसारित होती हुई, मिथिला के नरनारियों को अमृत प्रदान करती हुई, शृंगबेरपुर और वन मार्ग के नर-नारियों को 'रंक से राय' बनाती हुई, वीतराग तपस्वियों को भी आर्द्र करती हुई[1], सैन्य-शिविर में साथी सैनिकों की श्रान्ति-क्लान्ति दूर करती हुई[2], रणांगण में बाण-मोचन से पूर्व ही शत्रुओं को विजित कर लेती है। खर जैसा तामस राक्षस भी इस छवि को देख कर ठगा रह जाता है,[3] विषैले सर्प और बिच्छू अपना विष त्याग देते हैं[4] और 'मकर नक्र झप नाना व्याला' तक जिसे एकटक देखते हुए सेना को पार उतारने के लिये स्वयं जलचर-सेतु का निर्माण कर देते हैं[5]। सौंदर्य का ऐसा व्यापक प्रभाव मानव या महामानव का भी नहीं हो सकता, देव जाति के पास भी ऐसी अमूल्य सौन्दर्य-निधि नहीं है। यह तो परब्रह्म के अवतार की ही व्यापक विभूति है।

आदि काव्य में पुरुषोत्तम के रूप में राम के सौंदर्य का वर्णन हुआ था, परन्तु वह भी साधारण नहीं, असाधारण था। इसी असाधारणता का आगे चल कर और अधिक विकास हुआ। प्रारंभ से ही राम का सौंदर्य लोकचितापहारी था, वही धीरे-धीरे विकसित होता हुआ मानस महाकाव्य में पहुँच कर निखिल सृष्टि को आह्लादित करने और शक्ति का प्रसाद वितरण करने वाला बन गया है। वाल्मीकि के राम की शक्ति उनके सौंदर्य से अधिक उनके भुजबल में है, मानस के राम की शक्ति भुजबल से अधिक उनकी अमोल चितवन एवं शीतल दृष्टि में है। वाल्मीकि के राम के शक्ति-प्रधान-सौंदर्य से तुलसी के राम की सौन्दर्यप्रधान-शक्ति कम शक्तिशाली नहीं सिद्ध हुई है।

राम का शील—

नैषधीय चरित में स्वर्णहंस की प्रशंसा करते हुए निषाधराज नल ने कहा है—

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचो वर्त्मनि ते सुशीलता।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिक सार मुद्रणा॥ (२.५)

राम के व्यक्तित्व-विश्लेषण के लिये हम भी सामुद्रिक की इस उक्ति का आश्रय ले सकते हैं—यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति। वाल्मीकि और तुलसी के राम का जैसा रूप माधुर्य है वैसा ही लोकोत्तर उनका शील भी है। उनमें चन्द्रमा का सौंदर्य अर्थात् नयनाभिरामता ही नहीं वरन् उसका जैसा शील अर्थात् अमृतमय शीतल स्वभाव

१. देखि राम छवि नयन जुड़ाने (२.१२५)ऋषि वाल्मीकि के समान अन्यऋषि-मुनि भी उस छवि से लुब्ध हुए हैं।
२. राम कृपा करि चितवा सबही। भए बिगत श्रम बानर तबही॥ (६.४८.२)
३ हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं अस सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बधलायक नहि पुरुष अनूपा॥ -३.१९।
४ मा० २ २६२
५ मा० ६ ४

भी है। एक ओर वे सौन्दर्यसिन्धु हैं तो दूसरी ओर शीलसिन्धु भी।

शील और सुशीलता में अन्तर है। शील का अर्थ होता है केवल आचरण या स्वभाव (चाहे वह जैसा भी हो), जब कि सुशीलता का आशय है दूसरों को प्रसन्न करने और लाभ पहुंचाने वाला आचरण या स्वभाव। शील का विधान उन स्थायी के द्वारा होता है जो किसी पात्र के जीवन में क्षणिक रूप में दिखलाई न पड़ कर व्यापक मनोविकारों रूप में दिखलाई पड़ते है।[1] राम के चरित्र में जो दुर्बलतायें है वे क्षणिक है पर उनके गुण जीवन-व्यापी हैं। अतः उनके व्यक्तित्व या स्वभाव का मूलरूप उन गुणों में ही खोजा जा सकता है, वे गुण ही उनका शील कहलायेंगे। वा० रामायण में इसी को 'चारित्र्य' कहा गया है और मानस में 'शील'[2]। इसके अन्तर्गत स्वभाव, आचरण और व्यवहार अर्थात् सम्पूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व, दूसरे शब्दों में हृदय, मन, बुद्धि, मनीषा आदि के समस्त गुण और परिवार, समाज, तथा शिक्षा आदि से उत्पन्न सभी संस्कार आ जाते हैं।

वा० रामायण का प्रथम सर्ग राम के चारित्रिक गुणों की तालिका है। यद्यपि यह अंश वाल्मीकि की रचना नहीं है, परन्तु यह उनके काव्य की उपयुक्त एवं सारगभित प्रस्तावना अवश्य है। इसमें राम के चारित्रिक गुण इस प्रकार गिनाये गये हैं—धर्मज्ञता, कृतज्ञता, सत्यभाषण, दृढसंकल्प, सर्वभूतहित, विद्वान्, आत्मवान्, जितक्रोध, अनसूयक[3], धृतिमान, बुद्धिमान, नीतिमान, वाग्मी, शुचिः, इन्द्रियजयी, समाधिमान, वेद-वेदांग-सर्वशास्त्रार्थ तत्वज्ञ, साधु, अदीनात्मा और विलक्षण।[4] इनके अनन्तर उन्हें गंभीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय के समान, वीरता में विष्णु के समान, क्रोध में कालाग्नि के समान, क्षमा में पृथ्वी के समान और दान में कुबेर के समान बतलाया गया है।[5] संक्षेप में उन्हें दूसरा धर्म ही (धर्म इवापरः) कहा गया है।[6]

ये समस्त गुण मानस के राम में भी है परन्तु वे भक्तवत्सलता अथवा शरणागत-पालन की पिटारी में सहेजे हुए हैं, अतः उनकी प्रक्रिया और इस प्रकार राम के समस्त चरित्र का वातावरण वा० रामायण की अपेक्षा भिन्न दिखलाई पड़ता है। विनयपत्रिका के एक पद में[7] तुलसी ने राम के शील के प्रमुख तत्वों को इस प्रकार गिनाया है—अक्रोध (कभी किसीने उनके चन्द्रमुख पर रिस की रेखा तक नहीं देखी), सौहार्द एवं सौजन्य (खिलते समय जीत में भी हार मान लेना), कृत को विस्मृत कर देना और किंचित् भी की गई अविनय पर पछताना (अहल्या के उद्धार को भूल कर

---

१. गो० तुलसीदास रा० शुक्ल, पृ० १२५।

२. 'चारित्रेण च को युक्तः' (१.२.३) और 'राम रूप गुन शील सुभाऊ' (२.१), साथ ही मानस में 'चरित' भी कहा गया है 'पितहि प्रमोद चरित सुन जासू' (२.४६)।

३. रा० १.१.२-४।

४. वही, ८-१५।

५. वही, १६-१९।

६. वही।

७. सुनि सीतापति सील

चरण द्वारा छूने का पछतावा), क्षमा और सहनशीलता (परशुराम-प्रसंग में), औदार्य अथवा दूसरे की बुराई को मन में न रखना (कैकेयी के विषय में), कृतज्ञता (हनुमान के प्रति), अदोष-दर्शन एवं गुणग्राहकता (सुग्रीव और विभीषण के प्रसंग में), यशोलिप्सा की अनासक्ति तथा निरहंकारिता (भक्तोद्धार की प्रशंसा से मुंह छिपाना और सकृत प्रणाम की भी बार-बार चर्चा)। ये गुण वा० रामायण के राम में भी है, परन्तु तुलसी ने उनका संग्रह और संचयन इस प्रकार किया है कि वे भक्तवत्सल भगवान की शीलविभूति के विधायक तत्व बन गये है, जैसा कि स्वयं तुलसीदास ने पद के अन्त में कह दिया है कि इन गुणों का स्मरण करने से अनायास ही प्रेमप्रवाह उमड़ उठता है।

तुलसीदास ने राम की सुशीलता का वा० रामायण की अपेक्षा उत्कर्ष भी किया है और विस्तार भी, अर्थात् एक ओर उन्होंने राम के आदर्शात्मक गुणों को उच्चतम सीमा तक पहुंचाया है और दूसरी ओर कुछ नवीन कथा-प्रसंग जोड़ कर इस शील के अभ्यास की नवीन परिस्थितियां तथा क्षेत्र भी प्रस्तुत किये है। यह शीलोत्कर्ष और शील-विस्तार परिवार, समाज, राज्य और साम्राज्य, सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

पारिवारिक परिधि में राम प्रत्येक सम्बन्ध की दृष्टि से आदर्श व्यक्ति हैं—पुत्रत्व, भ्रातृत्व, पतित्व और शिष्यत्व की दृष्टि से। उन्हें आदर्श पुत्र मानने की परम्परा तो चिरपुरातन है और प्राचीनतम साहित्य में ही "राम" शब्द 'पुत्र' का पर्यायवाची जैसा बन गया है—'राम' अर्थात् रमणीय पुत्र।[1] दशरथ का प्राणविसर्जन ही राम की सर्वोत्तम पुत्रता का अद्वितीय प्रमाणपत्र बन गया है। राम की माता भी ऐसे पुत्र को जन्म देकर 'सुप्रजा' बनी हैं (रा० १. २३, २)। उनकी विमाता तक अपने कोख के जाये पुत्र के समान उन्हें मानती थीं,[2] और मानस में तो उससे भी बढ़ कर।[3] उनके अनुज उनके साथ बनवास का कठिनतम जीवन सुख से बिता सकते हैं और राज्य त्याग सकते है। उनकी पत्नी उनके आदेश पर आग में कूद सकती हैं, इत्यादि।

दोनों काव्यों में पारिवारिक क्षेत्र में राम का यह आदर्शात्मक चित्रण हुआ है। अन्तर यह है कि तुलसी ने वा० रामायण के राम की सहज दुर्बलताओं को आदर्श की प्रखर ज्योति में छिपा दिया है। वा० रामायण के राम विपत्ति-काल में विचलित हो सकते है, परन्तु मानस के राम कभी विचलित नहीं होते। वा० रामायण के राम

१. तैत्तिरीय आरण्यक के निम्नलिखित श्लोक में 'राम' शब्द का 'पुत्र' के अर्थ में प्रयोग हुआ है—

संवत्सरं न मांसमश्नीयात् न रामामुपेयात्।
नास्य राम उच्छिष्टं पिबेत तेज एव तत्संश्यति ॥ (५.८.१३)

सायण ने यहां राम का अर्थ 'रमणीय पुत्र' किया है जो सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है (दे० बुल्के, पृ० ५)।

२ यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघव' (२ ८ १८)।

३ प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे (२ १५)

विमाता पर मन ही मन विक्षुब्ध हो सकते हैं,[1] वे पिता के व्यवहार पर भी आश्चर्य कर सकते हैं[2], भाई भरत की ओर से भी शंका रख सकते हैं[3] और शत्रुगृह में रह कर आने वाली पत्नी पर भी अविश्वास कर सकते हैं[4], परन्तु मानस के राम में ये दुर्बलतायें नहीं दिखलाई पड़ता। यदि कभी दिखलाई भी पड़ती हैं तो केवल अवतार-लीला के नाते[5], अन्यथा [illegible] प्रति उनका समान व्यवहार है। राम की यही समदर्शिता मानस में उन्हें पूर्णपुरुषोत्तम के शिखर से और ऊपर उठाकर पूर्ण परब्रह्म के महा-शिखर तक ले गई है।

पारिवारिक क्षेत्र में इस शील का अधिक विस्तार करने का प्रयत्न राम के आदर्श रूप चित्रण द्वारा निर्वहण में देखा जा सकता है। मानस के राम वनगमन के समय अपने राजधानी तक के शासन-पालन का भार गुरु को सौंप जाते हैं।[6] अपने उभय गुरुओं, विश्वामित्र और वशिष्ठ, के प्रति उनकी श्रद्धा, विनय और सेवाभावना आदर्श पुत्र के समान है। चरणसेवा, कुसुमावचय, आज्ञापालन आदि के अतिरिक्त वे अपनी दुर्बलताओं तक को सहज भाव से गुरु के सामने व्यक्त कर देते हैं।[7] चित्रकूट पर वे निर्णय का दायित्व गुरु वशिष्ठ को सौंप देते हैं,[8] जो कि वा० रामायण के राम नहीं कर सकते (२. १११)।

पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि मानसकार ने चित्रकूट-सभा में जनक-आगमन का प्रसंग जोड़कर काव्य-नायिका के माता-पिता का भी शील-स्वभाव प्रकट किया है। इसी के साथ पारिवारिक परिधि का विस्तार करते हुए राम का सास-श्वसुर के प्रति माता-पिता जैसा भाव भी दिखलाने का अवसर मिल गया है। वे गुरु के समान ही पितृतुल्य श्वसुर पर निर्णय का सारा भार छोड़ देते है (२. २९६)। मानस के धर्मज्ञ राम को अपने समस्त गुरु-जन, पुरजन और परिजन की धर्मज्ञता पर अटल विश्वास है, परन्तु वा० रामायण के राम में यह बात नहीं है। उनका धैर्य डोल सकता है और [illegible] की स्थिरता के विषय में भी वे सशयालु हो सकते है।

सामाजिक क्षेत्र में भी, राम के शील का वा० रामायण की अपेक्षा मानस में अधिक प्रसार किया गया है। उनके शील का स्वरूप मिथिला, शृंगवेरपुर और वनपथ के अपरिचित व्यक्तियों को भी आकृष्ट कर लेता है। उनकी प्रसन्नता के लिये राम वनमार्ग

1. [illegible] वा कैकेयी सा भविष्यति (३. ६२. ११) तथा २. ५३. १४. भी।
2. को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्। छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण (२. ५३. १०)।
3. वा० रा० २. २६. २४-६ तथा ३१. १४ तथा ५३. ११ तथा ६. १२८. ११-१७।
4. वा० रा० ६. ११८।
5. सुग्रीव पर उनका कोप दिखावटी है (मा० ४. १८. ६-७) तथा सीता के प्रति दुर्वाद भी (३. १०८)।
6. मा० २. ८० ५-६।
7. मा० १ २३७ २
8. मा० २ २५८ ४-५ तथा २६०

में रुकते हुए चलते हैं (२. ११५), गांव-गांव में उनके आगमन से आनंद छा जाता है (२. २२२)। ऐसे अवसरों पर भक्ति का पुट देते हुए तुलसीदास यह भी कहते है कि राम के शील से सुवासित उन पथिकों का तो सहज ही भवसागर से उद्धार हो गया (२. दो० १२३)। मानस के राम के पवित्र शील का वनचर समाज पर भी अमोघ प्रभाव पड़ता है, और यही उसकी सामाजिक उपयोगिता है:--

सपनेहुं धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ ॥ (२. २५१. ६)

वाल्मीकि के राम वीरयुग के नायक है और वा० रामायण वीर रस-प्रधान महाकाव्य है, अत: आदिकाव्य में राम के शक्ति-गुण की प्रधानता के साथ उनके व्यक्तित्व का राजनैतिक या राज्यविषयक पक्ष ही अधिक प्रसारित किया गया है। अयोध्यावासियों के बीच उनकी लोकप्रियता इसी दृष्टि से दिखलाई गई है, परन्तु मानस के राम जिस प्रकार प्रत्येक समाज मे घुलते-मिलते और उसे प्रभावित करते है वह गुण वाल्मीकि के राम में नही है। यौवराज्य-प्रसंग के अवसर पर मानस के राम अपने बाल-सखाओं का स्वागत करते हैं,[१] राजपरिवार में अन्य कुमारो को छोड़ कर एक को ही अभिषिक्त करने की प्रथा पर खेद प्रकट करते है,[२] सुवेल-शिखर पर सैन्यशिविर मे वे सखाओं से मधुर वार्तालाप करते हैं[३] और अयोध्या लौटने पर भरत तथा वशिष्ठ को अपने सखाओं का गौरवपूर्ण परिचय देते है।[४] वा० रामायण में इन अवसरों पर राम की राजनैतिक दृष्टि ही प्रधान प्रतीत होती है, सामाजिक दृष्टि नही। ईश्वरत्व के नाते मानस के राम व्यापक मानव समाज के सदस्य है और इक्ष्वाकुवंश के प्रतिनिधि होने के नाते वा० रामायण के राम एक सीमित भूभाग या केवल एक देश और उसके धर्म के संरक्षक मात्र हैं।[५] मानस के राम में प्रेमतत्व और वात्सल्य की प्रधानता है, रामायण के राम मे प्रभुत्व और ताड़ना की। सुग्रीव से मित्रता करते समय, विभीषण को अपनी ओर मिलाते और लंका-राज्य का आश्वासन देते समय, मुनि-समाज से भेंट करते समय और युद्ध के प्रसंगों में, वा० रामायण में राम की राजनैतिक दृष्टि ही प्रधान है। आदिकाव्य मे इतिहास, राजनीति, राज्य और साम्राज्य की प्रवृत्तियो एवं तत्वों की ओर हम कथावस्तु का विश्लेषण करते समय पिछले अध्याय मे संकेत कर चुके हैं और आगे भी इसके प्रमाण प्राप्त करेंगे। मानस में, इससे भिन्न, भक्तिभाव की प्रधानता के कारण राम के सामाजिक व्यक्तित्व की प्रधानता है।

राज्य के क्षेत्र में भी हम मानस के राम को वा० रामायण के राम की अपेक्षा अधिक उदार पाते हैं। मानसकार की रामराज्य की कल्पना का आधार आदिकाव्य ही है, परन्तु तुलसी ने उसके आदर्शात्मक पक्ष का और अधिक प्रसार किया है। लोका-

---

१. मा० २. २४. १–४।

२. मा० २. १०।

३. मा० ६-१८।

४ ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे भए समर सागर कहँ बेरे (७ ८)

५ इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि (४ १८ ६)

पवाद और लोकरंजन के लिये सीता का निष्कासन आदिकवि की कल्पना नहीं थी, मर्यादावादी भक्त तुलसीदास ने भी उस प्रसंग का समावेश अपने महाकाव्य में नही किया है, परन्तु इस प्रसंग के बिना भी उन्होंने राम के आदर्श और अति उदार राजत्व का परिचय निम्नलिखित पंक्तियों में दे दिया है। अपनी प्रजा को पूर्ण स्वातंत्र्य प्रदान करते हुए राम उन्हें बुलाकर कहते है—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउं न कछु ममता उर आनी ॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु काहु जो तुम्हहि सोहाई ॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई ॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई ॥ (७.४३)

वे अनुशासन को अनिवार्य बतलाते हुए भी उन्हें राजतंत्र की खुली आलोचना की छूट देते हैं। अतः मानस के राजा राम वाल्मीकि के राजा राम से कही अधिक लोकप्रिय हैं। एक चित्र और देखिये :—

सुकसारिका पढावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक ॥ (७. २८)

स्पष्ट है कि राज्य की परिधि में भी राम के आदर्श का प्रसार तुलसीदास ने उस सीमा तक किया है कि उनमें ईश्वरत्व की ज्योति झलकने लगी है।

शरणागत-पालन का आदर्श दोनों के राम मे है, परन्तु जहां वाल्मीकि के राम मे यह गुण महापुरुष के कर्तव्य के नाते है वहां मानस में भगवान की भक्त-वत्सलता के नाते। राम के शील अर्थात् उनके जीवनव्यापी आचरण में तुलसी ने इसी गुण का प्रसार मुख्य रूप से किया है जिस कारण उनके राम की रूपरेखा वा० रामायण की अपेक्षा बदल गई है। सभी प्रकार के भक्तों की, सभी प्रकार की इच्छायें, मानस के राम के द्वारा पूर्ण की जाती है, अतः यह केवल शरणागत-पालन का भाव न रह कर व्यापक भक्तवत्सलता का भाव बन गया है। मनु और शतरूपा को वरदान देकर[1] और नारद[2] तथा वृन्दा[3] के शाप को अगीकार करके, कौशल्या के कहने पर विराट् रूप त्याग कर 'अति प्रिय सीला सिसु लीला' करके[4], और दशरथ (मनु) के मांगने पर मणि और फणी तथा जल और मीन के समान पुत्र के लिये प्राण-परित्याग का वरदान देकर,[5] मुनियो की इच्छानुसार उनके हृदय में निवास करके[6] बालि[7] और जटायु[8] आदि की प्रार्थना पर प्राण-दान से बढकर निज लोक-दान करके और अपने परम शत्रु तक को तामस-साधना[9]

१. मा० १. १४६-१५०।
२. वही १३७।
३. वही, दो० १२३।
४. वही, १९२।
५. वही, १५१.६।
६. मा० ३. दो० ११ तथा १३. १०।
७. मा० ४.११.१।
८ मा० ३ ३१ १०
९ वही, २ .६

के द्वारा ही सर्वोच्च सारूप्य मोक्ष प्रदान करके,[1] मानस के राम अपनी भक्तिवत्सलता की विविधता और व्यापकता का परिचय देते हैं अर्थात् प्रत्येक शरणागत को उसकी इच्छा के अनुसार शरण देते हैं। परन्तु इस शील-सुवास, समदर्शिता, शरणागत-वत्सलता, लोकपालन और भक्तवत्सलता के प्रारंभिक अंकुर वाल्मीकि के राम मे ही प्रतिष्ठित हो चुके थे, जैसाकि "स्मितिपूर्वाभिभाषी", (२.१.५३) रिपूणामपि वत्सलः (६.५०.५६), "विग्रहवानधर्मः" (३. ३७.१३) "विद्धि मां ऋषिभिस्तुल्यं" आदि से प्रकट है।

इस प्रकार वाल्मीकि द्वारा कल्पित पुरुषोत्तम-चरित्र के आदर्श गुणों का सचयन और मंथन करके उसमें से भक्ति का नवनीत-सग्रह कर गो० तुलसीदास ने मानस-वपु में भगवान की प्रतिष्ठा कर दी है।

राम की शक्ति—

सृष्टि में जितनी भी अधिक से अधिक शारीरिक और मानसिक बल, ओज, पौरुष एवं शक्ति की कल्पना की जा सकती है वह सब राम में दिखलाई पड़ती है। राम-कथा के अनेकानेक प्रसंगों द्वारा उनके असाधारण शारीरिक बल, साहस, वीरता और रणचातुरी का प्रकाशन हुआ है। वे जितने महान धर्मवीर है उतने ही महान युद्धवीर भी। वस्तुतः वे धर्मवीर के रूप मे ही हमारे समक्ष आते हैं, उनकी युद्धवीरता उसी धर्मवीरता के आश्रित है। रामायण और रामचरितमानस के राम धर्म की रक्षा के लिये ही युद्ध करते हैं, धन, जन और भूमि पर आधिपत्य-स्थापन अथवा साम्राज्य विस्तार के लिये नहीं। वे विजेता नहीं धर्म-रक्षक है। उनका साध्य है धर्म-रक्षा, जिसका साधन है युद्ध। युद्ध उन्हें विवशता की स्थिति में करना पड़ता है। रामायण का युद्ध इस प्रकार महाभारत के युद्ध से भिन्न है जो 'भूमि' के लिये लड़ा गया था— "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" (महाभारत)। इस प्रकार रामायण के योधाओं की वीरता की कसौटी भी महाभारत के योधाओ की वीरता की कसौटी से भिन्न है। महाभारत के योधाओं में शरीर-बल अधिक है, रणदक्षता भी अधिक है परन्तु इन गुणों का किसी उच्च सामाजिक लक्ष्य के लिये या लोक-कल्याण के लिये उपयोग कराने वाली नैतिक प्रेरणा नही है। वे बुद्धिवादी है, आदर्शवादी नही। वे अधिकार के लिये युद्ध करते हैं, कर्त्तव्य के लिये नहीं। रामायण के राम की शक्ति कृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिर से भिन्न है। उनमें बुद्धि, शरीर और हृदय तीनों के बल का पूर्ण सामंजस्य है। महाभारत और रामायण के योधाओं का अन्तर व्यक्त करते हुए महर्षि अरविन्द ने कहा है—

"वाल्मीकि के स्वभाव में अतिशय सवेदनशीलता और नारीजनोचित भावुकता के कारण उनके पात्र महाभारत से भिन्न हैं। वे भावुकता और काल्पनिक आवेश से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, महाभारत के योधाओं के समान बौद्धिक प्रेरणा और

१ तासु तेज समान प्रभु आनन ६.१०२.१

आत्मविश्वास से नहीं । राम में नैतिकता का आवेश है, रावण मे अनैतिकता का।" (इडियन इन्हैरिटैंस, भाग १, पृ० ११४) ।

'शक्ति' से सामान्यत: शारीरिक बल का ही आशय ग्रहण किया जाता है, परन्तु यह उसका अत्यन्त स्थूल अर्थ है । हमारे यहां साहित्यशास्त्र में वीर चार प्रकार के माने गये हैं—युद्धवीर, दानवीर दयावीर और धर्मवीर । इन विभागो से स्पष्ट है कि वीरता मे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों ही प्रकार की शक्तियो का सामंजस्य होता है और वीरता का पूर्ण उत्कर्ष इसी सामंजस्य पर निर्भर करता है। शारीरिक शक्ति के दो विभाग किये जा सकते है, बल और पराक्रम एक ओर तथा शस्त्रास्त्र सचालन और रणविद्या दूसरी ओर । मानसिक शक्ति के अतर्गत साहस, वीरता, दृढता आदि गुण आते है। आत्मिक शक्ति एक प्रकार से अनिर्वचनीय है, परन्तु उसकी व्यंजना ओज, प्रताप, तेजस्विता आदि गुणों में होती है । वस्तुत: आत्मिक शक्ति ही प्रधान है, शेष दोनो उसी के आश्रित हैं । ससार के योधाओं, सम्राटो, राजपुरुषों, देश-भक्तों, शहीदों, विद्वानों और कलाकारों में जो मुख्य शक्ति कार्य करती है वह आत्मिक शक्ति ही है—'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महताम् नोपकरणे' । महाकाव्य के नायक मे भी शक्ति का यही विशद और व्यापक रूप मूर्तिमान होता है । इस शक्ति की तीन मूल प्रेरणाये दिखलाई पड़ती है—साम्राज्य विस्तार की अहंवादी महत्वाकाक्षा, किसी विश्व सुन्दरी का हरण-वरण अथवा पुन: प्राप्ति, तथा लोक-मगल अर्थात् अत्याचारियो से लोक-रक्षा की पुरुषार्थ-परमार्थमयी भावना । रामायण और रामचरितमानस के राम की शक्ति का तुलनात्मक विश्लेषण इन्ही आधारों पर किया जा सकता है ।

रामायण और मानस की रामकथा मे राम की शक्ति-परीक्षा के निम्नलिखित स्थल हैं :—

(१) विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, (२) धनुर्भङ्ग, (३) परशुराम का मानमर्दन, (४) जयन्त का ताड़न, (५) विराध-बध, (६) खरदूषण-त्रिशिरा का बध, (७) कबन्ध-बध, (८) दुन्दुभि राक्षस की अस्थियों का प्रक्षेपण और सप्तताल-बेध, (९) बालि-वध, (१०) कुम्भकरण-वध और (११) रावण-वध । इन प्रसंगों के आधार पर उभय महाकाव्यों में राम की शक्ति के विविध रूपो को समझा जा सकता है, जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) **शरीर बल**—राम के शरीर-बल की परीक्षा मारीच को बिना नोक के बाण से दो सौ योजन दूर फेंक देने और दुदुभि राक्षस की अस्थियों के पहाड़ को पैर के अंगूठे मे दस योजन दूर फेंक देने में होती है । धनुर्भग मे भी राम के शरीर-बल का विस्मयकारी प्रकाशन हुआ है क्योंकि उनकी बाह्य सुकुमारता से ऐसे ठोस शरीर-बल की आशा नहीं की जाती थी । इससे राम की मल्ल-शिक्षा और व्यायाम द्वारा अर्जित शारीरिक गठन एवं शक्ति का बोध होता है, उनके सुपुष्ट अवयवों और दृढ़ मांस-पेशियों में ऊर्जस्वित अपार बलवीर्य का प्रकाशन हाता है साथ ही राज के मध्य उनके विपुल प्रताप की भी व्यंजना होती है

(२) शस्त्र-बल—ताडका और सुबाहु के वध में वे पहली बार शस्त्रास्त्र प्रयोग की अद्‌भुत निपुणता का परिचय देते हैं और विश्वामित्र से प्राप्त शिक्षा को सार्थक करते है। उनकी रण-विद्या का सबसे अधिक चमत्कारिक परिचय खर-दूषण-त्रिशिरा के वध में मिलता है जब कि वे अकेले ही अपार सेना का वध कर डालते हैं—(अहो वीर्यमहो दाक्ष्यं विष्णोरिव हि दृश्यते)। अन्त में कुंभकरण और रावण के वध में तो उनकी रणदक्षता का पूर्ण प्रकाशन होता ही है। कुंभकरण जैसे ठोस शारीरिक-बल के पहाड़ और तामसिकता के महास्तूप से मुठभेड़ करने मे, उसके शरीर के अवयवों को तिल-तिल करके काटने में दोनों ही कवियों ने राम के साहस, धीरता और शारीरिक श्रम को कसौटी पर रक्खा है। रावण-वध में अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की कुशलता के अतिरिक्त राम को इन्द्र का सहयोग उसके सारथी मातलि के रूप मे लेना पड़ता है, अगस्त्य उनसे आदित्यहृदय स्तोत्र का पाठ कराते हैं[1] और विभीषण भी उन्हें रावण-पक्ष के अनेक छिद्र बतलाता रहता है। राम और रावण का युद्ध राम और रावण के समान ही होता है। तुलसी ने केवल भक्त के गौरव के लिये राम को इन्द्र और विभीषण से सहायता दिलवाई है, अन्यथा उनके राम को वास्तव में इसकी आवश्यकता नहीं थी।

(३) चमत्कारिक बाण—दोनों ही कवियों ने शस्त्रास्त्रबल में राम के चमत्कारिक बाण को विशेष महत्व दिया है जिसकी शक्ति मारीच ने समझी थी, जिसने महार्णव में खलबली मचा दी थी, जिसने एक साथ सप्ततालों का वेधन कर दिया था और जो बालि जैसे रणमल्ल के लिये एक अकेला ही पर्याप्त हुआ था। यद्यपि बालि को छिप कर मारने के कारण राम की वीरता कलंकित भी हुई है, फिर भी केवल एक बाण से बालि का वध करने में दोनों ही कवियों ने उस बाण की अचूकता और शक्ति पर विशेष जोर दिया है—

(अ) एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे। (रा० ४.४.११)

(आ) सुनु सुग्रीव मारिहउं बालिहि एकहिं बान। (मा० ४ दो० ६)

श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री का कथन है—'केवल एक ही बाण से बालि-वध की कल्पना को कुछ असाधारण गौरव प्रदान किया गया था'।[2] तुलसी ने राम की बाण-शक्ति को वाल्मीकि से अधिक महत्व दिया है। उनके काव्य में राम का बाण एक प्रतीक बन गया है।

(४) तेजस्विता—राम की तेजस्विता स्थल-स्थल पर प्रकट हुई है। यहां एक उदाहरण ऐसा प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें उपरोक्त तीनों बलों में से कोई भी बल नहीं दिखलाई पड़ता, फिर भी वह एक प्रकार का बल है, अर्थात् आन्तरिक शक्ति का प्रकाशन है। परशुराम के प्रति राम का ऐसा ही बल प्रकट हुआ है। यद्यपि वे धनुष चढा कर अपने बल की भी परीक्षा देते हैं, परन्तु परशुराम को वे वस्तुतः

---

१ वा० १०६ ०७

२ लेक्चर्स आन पृ० १५५–५६

अपने तेज से ही परास्त करते हैं। उन्होंने बिना युद्ध के केवल अपने तेज से परशुराम के तेज को फीका कर दिया था—

(अ) तेजोभिहतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जड़ीकृतः (रा० १.६७.१२)

(आ) देत चाप आपुहिं चलि गयउ। परशुराम मन बिसमय भयऊ ॥

(मा० १.२८४)

राम की इसी तेजस्विता का चित्र मारीच द्वारा रावण के समक्ष प्रस्तुत अग्नि-रूपक (रा० ३.३७.१५) में देखा जा सकता है।

राम के समकालीन तीन महायोधा थे जिन्हें राम ने तीन प्रकार से परास्त किया है—रावण को सम्मुख समर में, बालि को केवल एक बाण से और परशुराम को केवल अपने तेज से।

यद्यपि कथा के आधार पर वाल्मीकि और तुलसी के राम की शक्ति में अधिक अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता परन्तु तुलसी की भक्ति ने राम की शक्ति को कुछ नवीन रूप में देखा है। वह अन्तर निम्नलिखित है:—

(१) राम के बाण का विशेष गौरव—

राम-बाण का प्रतीकार्थ वा० रामायण से ही प्रारंभ हो गया था (हनुमान की गति के लिये राम-बाण की उपमा दे० रा० ५.१.३९) परन्तु तुलसी की काव्य-रचना में यह और भी अधिक लाक्षणिक बन गया है। तुलसी ने राम के बाण की चर्चा बार-बार की है। साधुओं का परित्राण करने वाला और दुष्टों का दमन करने वाला तथा अत्याचार से आतंकित पृथ्वी की आशा का अवलम्बन राम का बाण ही है। इस बाण की दो विशेषतायें है। यह अचूक है (अमोघ), और भक्तों तथा साधुओं की रक्षा का ध्रुव प्रतीक है। तुलसी ने अनेक स्थानों पर उपमान के रूप में राम-बाण का प्रयोग किया है—

ताही भांति चला हनुमाना। जिमि अमोघ रघुपति कर बाना ॥

(मा० ५.१.८)

ठीक इसी स्थल पर वाल्मीकि ने भी इसका प्रयोग किया है—

यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः। गच्छेत्तद्वद्‌गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम् ॥

(५.१.३९-४०)

इस बाण से ब्रह्मा और रुद्र तक किसी की रक्षा नहीं कर सकते जैसा कि मानस के जयन्त-प्रसंग से प्रकट है (३.२)। इस प्रकार राम का बाण तुलसी के साहित्य मे विजय और रक्षा का प्रतीक बन गया है।

राम के बाण का गौरव प्रकट करने के लिए तुलसी ने कुछ नवीन प्रसंगों की भी कल्पना की है जैसे रावण की अटारी वाला प्रसंग, जिसमे सुबेल शैल पर मित्रो के साथ बैठे हुए राम दक्षिण दिशा में बादलों का गर्जन और विद्युत-विलास देख कर विभीषण का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं विभीषण उन्हें बतलाते हैं कि यह तो लंका के एक पर रावण का संगीत का अखाड़ा जुड़ा हुआ है और राम

एक बाण छोड़कर रावण के छत्र-मुकुट और मन्दोदरी के ताटंक गिरा देते हैं (६.१३)। तुलसी के राम केवल धनुष-बाणधारी वीरमूर्ति हैं। यही मूर्ति उनकी आराध्य है। विपुल आत्मबल से सम्पन्न भगवान राम के सुकुमार श्याम शरीर पर उन्होंने अनेकानेक कठोर शस्त्रास्त्रों का भार नहीं लादा है।

(२) राम की आन्तरिक शक्ति का विशेष महत्त्व

राम की शक्ति के प्रकाशन में दोनों कवियों का दृष्टिभेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। वाल्मीकि ने राम की वाह्यशक्ति को विशेष महत्व दिया है, तुलसी ने उनकी आन्तरिक शक्ति को। इसीलिए तुलसी के राम वीर होते हुए भी अत्यन्त सुकुमार हैं और केवल मानवलीला के लिए युद्ध करते हुए दिखलाई पड़ते हैं, अन्यथा उन्हें कोई श्रम या कौशल-प्रयोग नहीं करना पड़ता। धनुषयज्ञ प्रकरण में राम अत्यन्त सहज रूप से धनुष को उठा लेते हैं, उसे "छूते" "उठाते" और "खेंचत गाढ़े" कोई नहीं देखता और फूलमूल के समान वे शिव के पिनाक को मध्य से दो टूक करके डाल देते है। राम की इस शक्ति का रहस्य स्वयं तुलसीदास के शब्दों में देखिए। सीता की माता सुनयना को विश्वास नहीं होता कि राम जैसा किशोर धनुप को उठा सकेगा, तब चतुर स्त्रियां उन्हें विश्वास दिलाती हुई और प्रतापी लोगो की शक्ति का रहस्य बतलाती हुई कहतीं हैं—

············तेजवंत लघु गनिय न रानी ॥
कहं कुंभज कंह सिन्धु अपारा। सोषेउ सुजसु सकल संसारा ॥
रबि मंडल देखत लघु लागा। उदय तासु तिभुवन तम भागा ॥
मंत्र परम लघु जासु बस विधि हरिहर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहुं बस कर अंकुस खर्व ॥ (बाल० २५६)

राम की यही शक्ति सर्वोपरि है। अन्य सारे शक्तिकृत्य, सारा शरीर-बल और शस्त्र-बल इसी के आधीन है। सारे शक्ति-कृत्य वस्तुतः इसी के द्वारा सम्पादित होते हैं। तुलसीदास ने इसी शक्ति का स्वरूप राम के मुख से विभीषण के प्रति दिव्यरथ के रूपक द्वारा प्रकट कराया है :—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका—(लंका० ८०)

वाल्मीकि ने वन प्रयाण के समय राम के साथ विविध शस्त्रास्त्र ले जाये जाने की बात कही है, वन में भी वे अगस्त्य से अनेक शस्त्रास्त्र प्राप्त करते है। इस प्रकार कवि ने राम की शक्ति को वाह्य उपकरणों से सुसज्जित किया है। रामायण के राम शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ है, उन्हीं के लिए गीता में कहा गया है "रामो शस्त्रभृतांवरः"। वे वनवास में भी शस्त्रास्त्रों की सज्जा से ऐश्वर्य्यवान हैं, परन्तु तुलसी के राम सच्चे वनवासी, अपरिग्रही, बन कर वन को प्रस्थान करते हैं। उनकी कमर के तरकस मे है केवल कुछ बाण और कन्धे पर है केवल एक धनुष राम की इसी सूक्ष्म शक्ति ने उन्हें मानस मे सूक्ष्म परब्रह्म बना दिया है मानस मे राम की शक्ति के सूचक

सूक्ष्मतम हो गये हैं।

(३) राम की माया-शक्ति

राम ने इतने अल्प साधनों द्वारा लंकेश्वर की समृद्ध सैनिक शक्ति का मुकाबला किया और विजय प्राप्त कर ली, यह आश्चर्य की बात है। वाल्मीकि ने इसे अपेक्षाकृत स्वाभाविक रूप मे प्रस्तुत किया है। इसीलिए राम अपने साथ पर्याप्त शस्त्रास्त्र लेकर चलते है और वन में अगस्त्य से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त करते है, परन्तु मानस मे वे केवल अपने धनुषबाण पर निर्भर हैं : अकेले राम ने चौदह हजार सैनिकों सहित खर-दूषण का वध कर दिया और वह भी केवल कन्धे के एक धनुष और तरकस के कुछ बाणों द्वारा। इस अस्वाभाविकता का समाधान उपरोक्त आन्तरिक शक्ति के अतिरिक्त तुलसी ने परब्रह्म राम की मायाशक्ति के रूप में भी प्रस्तुत किया है, जिसके द्वारा वे राक्षस एक दूसरे को राम समझते हुए परस्पर कट कर मर जाते है (३.२०)। वाल्मीकि ने राक्षसों के मायायुद्ध का वर्णन तो किया है पर उनके राम कहीं इस प्रकार के माया-युद्ध का आश्रय नही लेते। तुलसी ने राक्षसो के भयंकर मायायुद्ध के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत करने के साथ ही कहीं-कही राम के द्वारा भी माया की सहायता ली जाती हुई दिखलाई है। उनके राम माया-नाथ है—

सुरमुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यो। (३.२०)

मायापति "ब्रह्म" राम की लीला के रूप मे यह ठीक है, परन्तु मानव राम की शक्ति का महत्व इससे अवश्य घट गया है।

राम के चरित्र पर आक्षेप और उनके अन्य दोष—

महापुरुष राम की तीन विभूतियों—सौंदर्य, शील, शक्ति—का एक तुलनात्मक चित्र उपरोक्त विवेचन मे प्रस्तुत किया गया है। इससे दोनों कवियों का आदर्शवाद भी प्रकट होता है अर्थात् उन्होंने राम की तीनों विभूतियों का असाधारण चित्रण किया है, फिर भी दोनों काव्यों में राम का चरित्र सर्वथा निर्दोष नही है। मानवीय स्तर पर उसमें अनेक त्रुटियां भी दिखलाई पड़ती हैं। रामायण और मानस एक ही धार्मिक और साहित्यिक परम्परा के काव्य हैं, अत: राम के चरित्र में अनेक दोष भी परम्पराबद्ध हो गए है। तुलसी यद्यपि वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी है फिर भी रामायणी रामकथा की परम्परा अक्षुण्ण रख कर उन्होंने राम के चरित्र के उन दोषों को हटाया नहीं है वरन् अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के बल पर उन दोषों को भी गुण में परिणत कर दिया है।

राम के चरित्र में निम्नलिखित दोष दिखलाई पड़ते हैं :—

(१) स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार तथा अनुदारता (ताड़का, शूर्पणखा, सीता)

(२) स्वार्थसिद्धि के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग (बालि)

(३) असत्यभाषण (शूर्पणखा)

४ साम्राज्यवादी मनोवृत्ति

(१) स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार—

दोनों काव्यों में राम ताडका, शूर्पणखा और सीता के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं। वे ताड़का का वध करते हैं, शूर्पणखा को विरूप करते हैं और सीता का अपमान करते हैं। फिर भी दोनों कवियों की दृष्टि में राम पुरुषोत्तम ही बने रहते है!

रामायण में ताडका-वध से पूर्व राम के मन में इस कार्य के औचित्य के विषय मे शंका उठती है और विश्वामित्र शास्त्रोक्तियों द्वारा उसका समाधान करके उन्हे ताडका-वध के लिए प्रेरित करते हैं (१.२५.१६–२१)। इस प्रकार राम का यह कार्य अधर्म न बन कर धर्म ही प्रतीत होता है। मानस में इस प्रकार की शंका उठाई ही नही गई, जिसका आशय यह है कि कवि धार्मिक दृष्टि से अर्थात् लोक रक्षा की दृष्टि से आततायी के वध को, चाहे वह स्त्री ही क्यों न हो, उचित मानता है।

शूर्पणखा के विरूपण के विषय मे भी यही बात है। वाल्मीकि ने तो इस अवसर पर राम या लक्ष्मण के मन में कोई हिचक ही पैदा नहीं की है और हिचक तुलसी ने भी नही दिखलाई है पर वे उसे "दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी" कह कर दण्डनीय मानते है। साथ ही "प्रभु समर्थ कौसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहि सब छाजा" कह कर राम के इस आचरण में भी शंका उठाने की गुंजायश तक नही देखते। एक बात वे और प्रकट कर देते है कि शूर्पणखा-विरूपण शीघ्र युद्ध आरम्भ कर देने का उपाय था–"ताके कर रावन कहं मनहुं चुनौती दीन्ह"। वाल्मीकि ने इस विषय में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है, परन्तु शूर्पणखा के प्रति राम की उपहासवृत्ति (३.१८.१) और शूर्पणखा को 'सुदुर्वृत्ता" तथा राम को "न्यायवृत्त" (३.१७.१२) कह कर वे भी राम के इस कार्य को न्यायोचित ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों कवियो के पास, कथा प्रसग के आधार पर, राम के इस कार्य के समर्थन के निमित्त पर्याप्त तर्क है अर्थात् राम आत्मरक्षा की स्थिति में ऐसा करते हैं। शूर्पणखा के नाक-कान तब काटे जाते है जब वह सीता को खाने को दौड़ती है और रोकने पर भी नहीं रुकती।

सीता का अपमान लंका से लौटने पर किया जाता है। वा० रामायण में राम उनके चरित्र पर अविश्वास करते है, यह भी कहते है कि युद्ध उनके लिए नही वरन् आत्म-सम्मान के लिए किया गया था और इतना तक कह डालते हैं कि तुम किसी भी पुरुष के पास चली जाओ—सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण या भरत मे से किसी को भी वरण कर लो, अब तुम मेरे काम की नहीं हो (६.११८)। वाल्मीकि का दृष्टिकोण इस अवसर पर बिल्कुल स्पष्ट है।[१] यद्यपि वे सीता से इन उग्र वचनों का उग्र ही उत्तर दिलवा कर राम के इस व्यवहार को एक सीमा तक अवांछनीय मानते हैं, परन्तु साथ

---

१. कुछ लोग इस प्रसंग को भी प्रक्षिप्त मानते है (बुल्के, पृ० ३६८) परन्तु "वाल्मीकि और तुलसी का नारी समाज' शीर्षक परिशिष्ट में इस विषय पर विचार करते हुए हम इस प्रसंग की प्रामाणिकता और स्वाभाविकता को समझने का प्रयत्न करेंगे

ही इसे इक्ष्वाकुवंश और पुरुष जाति की प्रतिष्ठा के विचार से असंगत भी नही समझते।[1] तुलसी इस अवसर पर अपने राम के आचरण की पूरी रक्षा करते हे वे "करुणानिधि' राम से 'कछुक दुर्वाद" अवश्य कहलाते है परन्तु केवल लोकदिखावे के लिए (६. दो० १०८)। इस प्रकार मानस मे इस प्रसंग को ब्रह्म की लीला बतला कर परिवर्तित कर दिया गया है।

शूर्पणखा-प्रसंग में अन्य दोनों प्रसंगों से अधिक, राम के चरित्र पर आक्षेप का अवकाश है। राम के चरित्र की यह दुर्बलता आज तक जनता के मन में खटकती आ रही है, इसका प्रमाण इस बीसवीं शताब्दी की रचनाओं से भी मिलता है। आज का कवि वाल्मीकि और तुलसी के राम के इस चारित्रिक दोप की खुली आलोचना करते हुए उनसे पूछ रहा है कि राम फिर भी पुरुषोत्तम क्यों कहे जायें ? क्यों नही ये दोनों महाकवि इसका समाधान करके गये ?[2] आज का आलोचक भी राम के चरित्र की इस त्रुटि से असन्तुष्ट है। उसके विचार से "शूर्पणखा का विरूपीकरण एक ऐसा आक्षेपयोग्य कृत्य है जिसका समर्थन किसी प्रकार नहीं हो सकता" (मिश्रबन्धु, सुधा, तु० सं ३०५, वैशाख, पृ० ४४०)[3]। रामायण और रामचरितमानस किस प्रकार कथा और चरित्रचित्रण के क्षेत्र में एक ही लीक पर चलने वाले काव्य हैं, यह इससे प्रकट है। मानस में रामायण के अनेक गुण-दोषों की परम्परायें जीवित बनी हुई हैं। बालि-वध के समान यह भी राम कथा की ऐतिहासिकता का द्योतक तथ्य है।

उपरोक्त तीनों उदाहरणों से प्रकट है कि दोनों कवि अपने पुरुषोत्तम राम मे स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार का दोष स्वीकार नहीं करते, वे धर्म विग्रह राम का प्रत्येक कार्य विस्तृत क्षेत्र में धर्म-सस्थापन की दृष्टि से उचित ही मानते है। केवल इतना अन्तर है कि वाल्मीकि 'आदर्शपुरुप' की मानवीय सीमाओं के भीतर इस व्यवहार का औचित्य प्रकट कर देते है जबकि तुलसी राम को 'परब्रह्म' भी मानते हैं और परब्रह्म के आचरण को समस्त आक्षेपों से परे समझते हैं।

---

१. श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने इसे राम के मानवीय आचरण की दृष्टि से स्वाभाविक माना है और तत्कालीन समाज के विचार से यह भी माना है कि उन दिनों क्षत्रिय के लिए प्रतिष्ठा ही सर्वोपरि थी और उस पर आंच आने के समय स्त्री का मूल्य एक साधारण "इन्द्रियार्थ" से अधिक नही आंका जाता था। (लैक्चर्स आन रामायण, अध्याय १३,१४, १५ विशेषतः पृ० १७०–७१ तथा १७७–८६)। उन्हीं के शब्दों में—

We must not judge by modern theory but by the standards of his time. 'La Glorie' was a Kshattriya's creed."

२. कवि निराला ने अपने काव्य में शूर्पणखा द्वारा राम की भर्त्सना इन शब्दों में कराई है—

धिक है नराधम तुझे, वंचक कहीं का शठ
विमुख किया तूने उसे, आई जो तेरे पास
चाव से, अर्पण करने के लिये जीवन यौवन नवीन।

(अनामिका १९२३ ई० पृ० २४

३ तुलसी दर्शन पृ० १६५ से उद्धृत

(२) स्वार्थसिद्धि के लिये अनुचित साधनों का प्रयोग

स्वार्थसिद्धि के लिये अनुचित साधनों के प्रयोग में 'बालि का छिप कर वध किया जाना' माना जा सकता है। विभीषण से जो सहायता राम ने ली उसका सम्बन्ध विभीषण के चरित्र से है, राम के चरित्र से नही। विभीषण राम के पास शरणागत के रूप में आया था। उसकी रक्षा राम का कर्त्तव्य था और बदले में उसने राम की सहायता की। अतः राम के लिये यह कार्य राजनैतिक दृष्टि से भी उचित था और सास्कृति दृष्टि से भी।

बालि को छिप कर मारना राम का ऐसा कृत्य अवश्य है जिसके विषय में भारतीय जनता आज तक संतुष्ट नही की जा सकी है। बालि के प्रसंग को लेकर राम के चरित्र के विषय में अनेक शंकाये उठती हैं—बालि से राम ने बैर ही क्यों किया? उसे छिप कर क्यों मारा? उसके साथ अन्याय करके भी, जब कि वह दम तोड़ रहा था, उसकी इतनी भर्त्सना क्यो की?

दोनों काव्यों में बालि ने राम से पूछा है कि राम ने उसे अपना बैरी क्यों माना? वा० रामायण में वह कहता है कि मैं सुग्रीव से भी अधिक सीता की खोज में आपकी सहायता कर सकता था (४. १७. ४८) और मानस में भी वह कहता है कि सुग्रीव को अपना मित्र और उसे अपना बैरी राम ने क्यों मान लिया (४. ६. ६)? दोनों ही काव्यो में राम लगभग एक सा उत्तर देते हैं कि उसने सुग्रीव का राज्य और स्त्री छीन कर अधर्माचरण किया था। वा० रामायण में राम इक्ष्वाकु के वंशज और भरत के प्रतिनिधि होने के नाते सारे देश मे धर्म की रक्षा और अधर्म के दमन का उत्तरदायित्व पूरा करते हैं (४. १८ ६—११), मानस में शरणागत वत्सल भगवान के नाते (४. ९)। इसके अतिरिक्त सुग्रीव से उनकी मित्रता पहले हो चुकी थी, सुग्रीव की रक्षा और हिमायत उनका कर्त्तव्य था, सुग्रीव आर्त भी था। अतः सुग्रीव से जो सहायता उन्हें मिल सकती थी वह बालि से नहीं। उसमें परस्पर का स्वार्थ था। अतः बालि से राम का बैर उचित था। इसके अतिरिक्त वे बालि और रावण की गुटबन्दी भी समझते थे।[1]

छिप कर मारने के विषय में कोई उपयुक्त समाधान अवश्य नहीं मिलता। वा० रामायण में इसके लिये दो कारण प्रस्तुत किये गये है। एक तो उसमे यह संकेत है कि बालि को इन्द्रप्रदत्त चमत्कारिक माला का बल था जिसमें उत्तम विजय श्री का वास था।[2] अतः उससे अकेले सम्मुख युद्ध करना बुद्धिमानी नहीं थी। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा इत्यादि के दिये हुए अस्त्रों के समान इन्द्र की माला के गौरव के लिये भी यह आवश्यक था। दूसरा कारण यह दिया गया है कि आखेट में छिप कर वार किया ही जाता है, और राम क्षत्रिय थे तथा मृगया उनकी आजीविका थी।[3] पहला कारण स्पष्ट नही

---

१. दे० 'लैक्चर्स आन रामायण' वी० शास्त्री, पृ० १४६-५६ तथा 'तुलसीदर्शन' (डा० बल्देव मिश्र, पृ० १६६)।

२ रा० ४ २२ १६

३ रा० ४ १८ ३८ ४१

बतलाया गया है, उसका संकेत मात्र है।[1] दूसरा तर्क सर्वथा निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि न तो बालि बनैला पशु ही था और न राम ने उसे आखेट करते हुए ही मारा था। इसका समाधान केवल यही है कि यदि राम खुल कर युद्ध करते तो बालि की सारी सेना से लड़ाई छिड़ जाती और रावण तक समाचार पहुँचता तथा उससे अपरिपक्व स्थिति में युद्ध छिड़ जाता।[2] रावण को बालि-वध का समाचार अंगद के दूत रूप से उसके दरबार में पहुँचने पर ही मिला है।[3] इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से इस प्रच्छन्न युद्ध का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु नैतिक दृष्टि से नहीं।[4] इसका एक प्रमाण यह भी है कि बालि के आक्षेप से राम तिलमिला उठे थे और कोई उपयुक्त उत्तर न पा कर ही उसकी भर्त्सना करने में प्रवृत्त हुए थे। बालि के दीनता प्रकट करने पर रामायण में राम ने अपने कार्य को पर्याप्त रूप में धर्मानुमोदित सिद्ध करके और यह कह करके कि दण्ड द्वारा वह पापमुक्त हो गया है उसका समाधान किया, परन्तु मानस में अधिक करुणार्द्र हो कर उसकी प्राणरक्षा लिये सचेष्टता प्रकट की है। मानस में यह व्यवहार भगवान राम की दीन शरणागत के प्रति करुणार्द्रता है जिससे भी कुछ ऐसा ध्वनित होता है कि वे वस्तुतः बालि को उतने बड़े दण्ड का अधिकारी नहीं मानते थे और कदाचित् अपनी भूल स्वीकार करते हुए कुछ पश्चात्ताप प्रकट कर रहे थे।[5] परन्तु यह तो दण्ड या वध के कृत्य का समाधान हुआ, छिप कर मारने वाले आक्षेप का तो नैतिक समाधान नहीं ही किया जा सकता है। उसका कारण राजनैतिक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः बालि-वध के प्रसंग से राम का मानवीय चरित्र प्रकट होता है। यह प्रसंग राम-कथा की ऐतिहासिकता की ओर भी निर्देश करता है।[6] अतः दोनों कवियों ने उस पर जो लीपापोती करने का प्रयत्न किया है वह उनकी हठधर्मी ही है। राम के चरित्र में से इन दुर्बलताओं को निकाल देने पर उनका चरित्र सर्वथा अवास्तविक और अकाव्योचित हो जाता।[7]

(३) असत्य भाषण

राम के असत्यभाषण का एक ज्वलन्त उदाहरण शूर्पणखा-प्रसंग में मिलता है।

---

१. कुछ लोगों ने ऐसा संकेत किया है कि उस चमत्कारिक माला के कारण बालि सम्मुख समर करने वाले का आधा बल हरण कर लेता था—दे० मानसपीयूष, किष्किधाकाण्ड, पृ० १०१।

२. लैक्चर्स ऑन रामायण, अध्याय ११।

३. मा० ६.२१.७.।

४. "नैतिक दृष्टि से इसका औचित्य सिद्ध करना मूर्खता और अविचार है। स्पष्ट सत्य यह है कि राम को विशुद्ध राजनैतिक आवश्यकता से ऐसा करना पड़ा"—(ए न्यू एप्रोच टु रामायण, एन० आर० नावलेकर, पृ० १७०)।

५. सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥ अचल करौं तनु राखहु प्राना॥ (४.१०.१)

६ दे० बुल्के पृ० ११३

७ डा० रा० च० शुक्ल, गो० तुलसीदास पृ० १२० १३१

रामायण में वे लक्ष्मण को 'अकृतदार' कह कर और मानस में 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता' कह कर शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजते हैं। टीकाकारों ने अनेक प्रकार के अर्थ करके राम को असत्यभाषण के आरोप से बचाया है परन्तु दोनों कवियों की ओर मे इस प्रकार का कोई प्रयत्न नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम शत्रु की बहिन और स्वैरिणी शूर्पणखा से विनोद कर रहे थे, विनोद-व्यंग द्वारा वे उसे उसके कार्य का अनौचित्य समझाना चाहते थे, और लक्ष्मण के लिये भी विनोद-सामग्री दे कर उनके विनोदको देखना चाहते थे। वा० रामायण मे यह स्थिति काफी स्पष्ट है, अर्थात् राम उससे परिहास कर रहे थे। राम उससे 'सस्मित श्लक्ष्ण' वाणो में बात करते है, कवि भी राम की सुरूपता और शूर्पणखा की कुरूपता का समानान्तर चित्र प्रस्तुत करता है। वा० रामायण के विज्ञ आलोचक भी ऐसा ही मानते है कि यह राम की परिहास-वृत्ति थी।[1] मानस में ऐसा स्पष्ट नहीं है पर ध्वनित अवश्य है, क्योंकि पहले तो राम और लक्ष्मण उससे बड़े आदरपूर्वक बात करते है और फिर जब वह उस कृत्रिम शिष्टाचार मे निहित व्यग के द्वारा भी अपनी परिस्थिति नही समझ पाती तब उसकी भर्त्सना करते है।[2]

अतः शूर्पणखा-प्रसंग के आधार पर राम पर असत्यभाषण का आरोप निर्मूल सिद्ध होता है। उन्हें शूर्पणखा से कोई भय नही था, किसी स्वार्थसिद्धि के लिये उन्हे असत्य का आश्रय लेना अनिवार्य नहीं हो उठा था, और न ही वे उसे इस प्रकार टालना चाहते थे क्योंकि अपनी बला वे लक्ष्मण के गले कैसे मढ सकते थे? वे तो शूर्पणखा के साथ लक्ष्मण को भी छेड़कर तमाशा देखना चाहते थे और कदाचित् सीता भी दर्शकों मे सम्मिलित थी। अतः यह असत्यभाषण नही, वरन् मर्यादा-पुरुषोत्तम का क्षणिक हल्कापन है जिसमें वे विनोद-वृत्ति में बह गये अथवा शत्रु की बहिन के माध्यम से वे अपने शत्रु का ही उपहास कर रहे थे। मर्यादा, नीति और आदर्श आचरण की कसौटी पर यह हल्कापन राम के चरित्र का एक धब्बा ही है। इस आधार पर भी राम-कथा की ऐतिहासिकता और राम-चरित्र की मानवीयता सिद्ध होती है।

(४) साम्राज्यवाद

राम-कथा का अवसान रामराज्य की स्थापना से होता है। रामायण के अनेक आलोचकों का कहना है कि राम की रावण-विजय दक्षिण में आर्यों का

---

१. लैक्चर्स आन रामायण, पृ० ८७।

२. मानस के टीकाकारों ने भी यहां हास्य और श्लिष्ट व्यंग ही माना है—उदा० के लिये, "शूर्पणखा ने विधवा होकर अपने को कुमारी कहा- उसी प्रकार लक्ष्मण विवाहित होकर भी कुमार थ कुमार छोटे और राजकुमार' को भी कहते ह —मानस पीयूष अरण्यकांड पृ० २१५

साम्राज्यविस्तार ही था और इस प्रकार यह काव्य एक ऐतिहासिक अन्योक्ति है।[1] स्वयं कथा के अनेक प्रसंगों से इसकी पुष्टि होती है। बालि को उत्तर देते हुए राम ने कहा है कि यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंश वालों की है (४.१८. ६)। विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के रूप में रावण की उत्तर-स्थित चौकी और उसके एक सहायक दल का ध्वंस तथा अगस्त्य से शस्त्रास्त्र की सहायता और उनके परामर्श से पंचवटी-वास के प्रसग भी इसी ओर सकेत करते है। सुग्रीव के द्वारा समस्त दिशाओं में वानर-प्रेषण का भी ऐसा ही आशय प्रकट होता है। वानर, भालू, गृद्ध, निषाद आदि असभ्य जातियों का संगठन और सहयोग तथा विभीषण की शरणागति आदि प्रसंगों को एक शृंखला मे रख कर देखने से साम्राज्यविस्तार की योजना स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।[2] अन्त में 'रामराज्य' भी एक व्यक्ति के शासन अर्थात् साम्राज्यवाद का सूचक प्रतीत होता है, भले ही उसमें व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और प्रजा की सुखसमृद्धि पर्याप्त हो और उसे एकाधिपत्य अथवा निरंकुशता पूर्ण राजतंत्र न कहा जा सके।

उस प्राचीन युग मे यह साम्राज्यवादी मनोभावना आज की भाँति हेय दृष्टि से नही देखी जाती थी। तब तो यह वसुन्धरा वीरभोग्या थी और राजूसय तथा अश्वमेध रचाने वाले चक्रवर्ती सम्राट ईश्वर स्वरूप ही माने जाते थे, उन्हें इन्द्रासन प्राप्त होता था। बालि को उत्तर देते हुए राम ने कहा भी है कि राजा तो ईश्वर स्वरूप होता है, उसके कार्यों की आलोचना अधर्म है। उसके द्वारा दण्ड पाने वाले लोगों का तो उद्धार हो जाता है।[3] अतः तत्कालीन स्थिति और युगधर्म के विचार से राम के साम्राज्य-विस्तार की मनोवृत्ति एक व्यापक सांस्कृतिक सगठन और धर्मसंस्थापन की लोककल्याणकारी वृत्ति ही मानी जानी चाहिये। उसे शक्ति का उन्माद, बर्बरता, शोषण, लूटमार आदि नहीं कह सकते। इसमे लोकैषणा अवश्य निहित थी पर वित्तैषणा नहीं, और वह लोकैषणा भी लोकमंगल से रहित नहीं थी।

मानस में राजनैतिक दृष्टि आध्यात्मिक आवरण से आच्छन्न है और राम का साम्राज्यवाद भक्तवत्सलता के सुन्दर नाम से अभिहित हो कर सर्वस्वीकृत रूप मे धर्मसंस्थापन और लोकरक्षा का ही प्रतीक बन गया है। राम सब को, व्यक्तियों और राज्यों को, अपना अनुचर भक्त बनाकर अपने चरित्र के प्रभाव से एक सुसंगठित, सदनुशासित विश्वसंघ जैसा बनाने में सफल होते हैं और "सप्तदीप नवखंड" में "राजाराम अवध रजधानी" के रूप में विश्व-परिवार सहगान करता हुआ दिखलाई

१. दे० वेबर, दि हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर (लन्दन, केगन पाल, १९०४ ई०) पृ० १९३। वेबर से पूर्व लासेन ने भी इसी विचार को उठाया था। भारतीय लेखकों में से भी अनेक ने इस विचार का प्रसार किया है—दे० रामायणांक कल्याण (जुलाई १९३० ई०) में "बालिवध का राजनैतिक कारण" लेख, तथा श्री नावलेकर की पुस्तक "ए न्यू एप्रोच टु दि रामायण" (जबलपुर)।

२. दे० 'ए न्यू एप्राच टु रामायण' की

३. रा० ४ १८ ३२ ३५

पड़ता है।[1]

मानस में आध्यात्मिक दृष्टि तो प्रत्यक्ष है परन्तु परोक्ष में राक्षसों के स्थान पर तत्कालीन यवनों का राज्योन्मूलन भी संकेतित है। रामराज्य का अर्थ है 'धर्मराज्य"। प्रत्यक्ष में तो राम ने भक्ति का उपदेश किया है, परन्तु रामकथा से हिन्दूजनता ने आत्मसंगठन, आत्मरक्षा और विदेशी राज्योन्मूलन के लिये शक्तिसग्रह का सकेत भी ग्रहण किया है।[2]

इस प्रकार राजा राम दोनों ही काव्यों में विश्व के पोषक या पालक ठहरते है, शोषक या आत्मपोषक नहीं। उनका सम्राज्यवाद आज के साम्राज्यवाद से भिन्न था।

पुरुषोतम राम के चरित्र मे उपरोक्त दोष-विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि रामकथा के ऐतिहासिक आधार सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं, रामायण और मानस में राम के मानवीय चरित्र का विवेचन करने पर वे उद्घाटित होने लगते है। रामायण में राम का मानवीय चरित्र अधिक सुरक्षित और अधिक स्पष्ट है, परन्तु मानस में राम के मानवीय चरित्र पर कल्पना और आध्यात्मिक भावना का घना आवरण पड़ गया है।

विष्णु या महाविष्णु राम

मूल वा० रामायण में विष्णु के साथ राम की तुलना अनेक स्थानों पर की गई है और प्रचलित वा० रामायण के समय तक विष्णु के रूप में उनका विकास भी हो चुका था। मानस मे वे परब्रह्म के अतिरिक्त विष्णु के भी अवतार माने ही गये है। अत: विष्णु के अवतार के रूप में भी राम के चरित्र का अध्ययन दोनो ही ग्रंथो के आधार पर किया जा सकता है। वा० रामायण में विष्णु केवल एक श्रेष्ठ देवता के रूप में समाने आते हैं और दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में उपस्थित होकर देवताओं को रावण-बध का आश्वासन देते है।[3] परन्तु मानस में वे प्रत्यक्ष नहीं होते, गगनवाणी द्वारा उक्त आश्वासन प्रदान करते है।[4] मानस में यद्यपि उनके निवासस्थान क्षीर-

---

१. राम राज बैठें त्रै लोका। हरषित भए गए सब सोका।। (मा० ७.२०.७) भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।। (वही, २२.१) डा० बल्देवमिश्र का कथन है—"साम्राज्यविस्तार की कूटनीति का परित्याग करते हुए उन्होंने अपनी शक्ति, शील और सौहार्द से जिस तरह अखिल भारत और भारत ही क्यों, कहना चाहिये कि अखिल जगत के हृदय पर अपना अविनश्वर साम्राज्य स्थापित कर लिया, वह देखने और अनुभव करने की वस्तु है।" (तुलसीदर्शन, पृ० १६३)।

२. "मानस के सप्तम सोपान में रामराज्य के वर्णन में तुलसी की जो तन्मयता और उल्लास दिखाई पड़ता है उससे भी पता चलता है कि वे अत्याचार और अधर्म पर आधारित मुसलिम शासन को मिटा कर आदर्श धर्मराज्य की को कल्पना करते थे इस दृष्टि से देखने पर पूरा रामकथा एक रूपक कथा प्रतीत होती है जिसमें रावण मुस्लिम

सागर का भी उल्लेख है, परन्तु उन्हें सर्वव्यापी भी कहा गया है।[1] इस प्रकार वा० रामायण में जहां वे एक स्थूल देवता के रूप में दिखलाई पड़ते है वहां मानस मे वे नामरूप वाले 'विष्णु' देव होते हुए भी सर्वव्यापक हैं और इस प्रकार एक श्रेष्ठदेवता से आगे भी कुछ और होने का सकेत करते दिखलाई पड़ते है। इसीलिये डा० बल्देव मिश्र ने विष्णु की अपेक्षा उनके लिये "महाविष्णु" नाम की कल्पना की है।[2]

रामायण मे अवतारवाद की चर्चा, अर्थात् राम 'विष्णु' के अवतार है इस प्रकार की सूचना, मुख्य रूप से बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में मिलती है। अन्य काण्डो मे भी इस प्रकार के कुछ संकेत है, परन्तु ये अंश निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है।[3] इन सब स्थलों को मिला कर भी वा० रामायण में अवतारवाद का स्वरूप उतना स्पष्ट नहीं जितना कि मानस मे। मानस में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के मानव चरित्रों का आध्यात्मिक अर्थ निकाल कर सुराकार राम की लीलाओं में सम्मलित कर लिया गया है। उनके साथ ही कई अतिमानव चरित्रों का भी योग कर दिया गया है। मानस के आरंभ में हेतुकथाओ द्वारा और बीच बीच मे भी कवि की अथवा अन्य पात्रो की उक्तियों द्वारा प्रकट होने वाली अवतारधारी राम के चरित्र की विशेषतायें निम्नलिखित है :—

(१) सजातीय देवताओं की रक्षा के लिये अवतार लेना।
(२) यज्ञादि पवित्र कर्म करने वाले ऋषिमुनि और ब्राह्मणों की रक्षा करना।
(३) भक्तों की विविध इच्छाओं का पूर्ण करना।
(४) शापग्रस्त व्यक्तियों का उद्धार करना।

(१) मानस में देवताओं के साथ राम का सम्बन्ध अनेक प्रसंगों पर दिखलाया गया है। वे राम के समस्त कृत्यों के निरन्तर दर्शक हैं। जन्म, विवाह, बनवास, युद्ध, अभिषेक आदि सभी अवसरों पर वे राम के प्रत्यक्ष या परोक्ष साथी हैं। आशय यह कि देव-परिवार के एक सदस्य और देव जाति के नेता के रूप में राम का चरित्र मानस में विकसित किया गया है, रामायण मे ऐसा नहीं है। मूल रामायण में तो इसका प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु प्रचलित रामायण मे भी राम के व्यक्तित्व का विष्णु के रूप में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। उनको विष्णु घोषित करने वाले प्रकरण कथाकंचुक में थेगली से प्रतीत होते है। वा० रामायण मे तो विष्णु से उनकी तुलना ही अधिक की गई है। उस में देवताओं के साथ राम का सम्बन्ध इन अवसरों पर विशेष रूप से प्रकट होता है—पुत्रेष्टि यज्ञ में,[4] दण्डकवन मे, शरभंग ऋषि के आश्रम को जाते समय,[5] युद्ध में इन्द्रजीत के नागपाश से मोचन के लिये गरुड़ के

१. मा० १.१८५।
२. तुलसीदर्शन, पृ० १३६।
३ हि० सा० की भूमिका ह० प्र० द्विवेदी पृ० १८२ तथा बुल्के पृष्ठ १२२ १२३।
४ रा० १ १५
५ वही ३ ५

आने के समय[1] और इन्द्र द्वारा रथ भेजे जाने के समय ।[2] इनके अतिरिक्त कुछ अवसरों पर देवतागण कुंभकरण, मेघनाद, रावण आदि के बध एवं राम तथा उनके साथियों की विजय पर प्रसन्नता प्रकट करते या पुष्पवर्षा और जयकार भी करते हैं ।[3] वा० रामायण के ये सभी प्रसंग प्रायः प्रक्षिप्त माने गये है। अभिषेक के समय भी राम 'सुरकारज' के लिये ही अपने परिवार, प्रिय पिता और प्रजा आदि पर विपत्ति का पहाड डाल कर बन जाना स्वीकार करते है । इस प्रकार मानव राम के परिवार का बलिदान करके विष्णु राम के परिवार की रक्षा की जाती है। उन्हें निन्तर सुरकारज का ध्यान है । मानस के राम के इन कार्यों में विष्णु के अवतार की ही योजना कार्यान्वित होती दिखलाई पड़ती है । देखना यह है कि राम के चरित्र-चित्रण पर इसका क्या प्रभाव पडा है ।

मानस के विष्णु राम का व्यक्तित्व इतने घनिष्ट रूप में देवताओं से सम्बन्धित होने के कारण एक साप्रदायिक प्रतीक बन गया है । उनका कोई मानवीय आदर्श नही है, वरन् एक जातिविशेष के निमित्त वे सब कुछ करते हैं । यह बात इसलिये और अखरती है कि स्वयं तुलसीदास उस जाति की निन्दा करते है—"ऊंच निवास नीच करतूती"[4], और ऐसी जाति के रक्षक होकर 'विष्णु' राम जनता के सामने जो आदर्श प्रस्तुत करते है वह 'मानव' राम के आदर्श से हीन है । वा० रामायण के और स्वयं मानस के भी लोकरक्षक राम का रूप इन देव-रक्षक राम से कही अधिक ऊंचा है । विष्णु-तत्व के योग ने उस आदर्शपुरुष के चरित्र को हानि ही पहुंचाई है । एक देश या जाति के उद्धारक राम की अपेक्षा नीच देवजाति के रक्षक राम का चरित्र स्पृहणीय नही कहा जा सकता ।[5] इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि स्वयं तुलसीदास ने मानस मे रामकथा के श्री गणेश से पूर्व जलंधर-वृन्दा की कथा के अन्तर्गत इन्हीं विष्णु को देवताओं के कार्य के लिए इतना नीचे गिरता हुआ भी दिखलाया है कि वे पराई स्त्री पर बलात्कार तक कर सकते है ।[6] जब हम ऐसे विष्णु का चरित्र भगवान राम के साथ जोड़ते है तब हमारी आदर्श-भावना विद्रोह कर उठती है । रामायण में राम के चरित्र में विष्णुतत्व सीमित रहने के कारण यह दोष उत्पन्न नही हुआ है, अतः उसके राम का मानवीय चरित्र मानस की अपेक्षा उज्ज्वल है ।

(२) देवताओं के अतिरिक्त राम ऋषि-मुनि और ब्राह्मणों की रक्षा भी करते है । ऋषिमुनि यज्ञादि, पवित्र और पारमार्थिक, कृत्य करने वाले हैं । अतः उनकी रक्षा करके विष्णु राम लोककल्याण का मार्ग प्रशस्त करते है । वा० रामायण में वे यह

---

१. रा० ६.५० ।
२. वही, १०३ ।
३. रा० ६.६७, ६-९१, ६.१२० इत्यादि ।
४ मा० २ १२ २ २९५ तथा ६ ११० २ (आये देव सदा स्वारथी) ।
५ दे० मानस मीमांसा रबनी० शास्त्री पृ० १८४
६ मा० १ १२२

कार्य एक आदर्श राजा के कर्त्तव्य के रूप मे ही करते है परन्तु मानस में विष्णु के अवतार के रूप में अर्थात् सजातीय देवताओं के पुजारियों के हिमायती के रूप में। आशय यह कि विष्णु के रूप मे ऋषि-मुनियों की रक्षा करने में मानस के राम की महत्ता लोकोद्धारक के रूप में उतनी प्रतिष्ठित नही होती जितनी अपनी जाति को पुष्ट और प्रसन्न रखने वाले एक वर्ग के रक्षक के रूप में। इस प्रकार यहां भी वे अपना साम्प्रदायिक रूप ही प्रकट करते हैं। वा० रामायण में इन ऋषिमुनियों की देवताओं के साथ सांठगांठ नहीं है, जहां ऐसा प्रकट भी होता है वे स्थल प्रक्षिप्त हैं (शरभंग आश्रम मे इन्द्र का प्रसंग दे० अरण्य० सर्ग ५)। मानस के राम ब्राह्मणों के प्रति भी बहुत उदार है क्योंकि ब्राह्मण भी "भूसुर" है। मानस के विष्णु को इस प्रकार अत्यधिक ब्राह्मण-भक्त प्रकट करके तुलसी ने रामायण के आदर्श पुरुष के चरित्र को क्षति पहुंचाई है। मानस के भगवान राम 'श्रुति' के भी बड़े भक्त है, वे 'श्रुति सेतु पालक' हैं। यह उनके महान लक्ष्य अर्थात् मर्यादा-स्थापन का भी एक अंग है। वा० रामायण के राम का आचरण भी आदर्श होने के नाते मर्यादा का सेतु स्थापित करता है, परन्तु मानस के राम मे श्रुति-पक्षपात इतना अधिक है कि वे बार बार उसका उपदेश देते है। इस श्रुति-पक्षपात और उपदेशात्मकता ने भी उनका स्वरूप सांप्रदायिक बना दिया है।

(३) विष्णु राम देव-ऋषि-मुनि-ब्राह्मण के उद्धारक ही नहीं शापग्रस्त व्यक्तियो के भी उद्धारक हैं। वा० रामायण में ऐसे अवसरों पर राम के विष्णुत्व की घोषणा नहीं की गई है, परन्तु मानस में की गई है। राम के द्वारा तारे जाने वाले व्यक्ति है— अहल्या, विराध और कबन्ध। वा० रामायण मे राम की इस तारण-लीला का रहस्य प्रकट नहीं किया गया है, क्योंकि पुराणो के आदर्श देव 'विष्णु' की तब तक पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी। अत: वहां इसका आशय यही ग्रहण किया जा सकता है कि श्रेष्ठ जन के सम्पर्क से निकृष्टजन आत्मोद्धार करते है, परन्तु मानस में वे यह कार्य सर्वशक्ति सम्पन्न विष्णु भगवान होने के नाते करते है। अहल्या उनकी चरण-रज की प्रतीक्षा कर रही थी और विराध तथा कबन्ध उनके पतित-पावन बाण की प्रतीक्षा कर रहे थे। वस्तुत: यह कार्य देवजाति के प्रतिनिधि विष्णु राम के द्वारा नही वरन् महाविष्णु, अथवा 'ब्रह्मपद' पर ही पहुंचे हुए राम के द्वारा होता है। विष्णु भी महान हैं फिर भी उनमे अपनी जाति वालों के दोष, छल-कपट, मिथ्या, स्वार्थ आदि हैं। उनका रक्षाक्षेत्र संकीर्ण है और लक्ष्य निम्न है। उनमें वे दिव्य शक्तियां नहीं हैं जो ब्रह्म राम मे हैं। वा० रामायण में राम की यह उद्धार-लीला सीमित है परन्तु मानस में तो राम का समस्त युद्ध-कार्य और रावण-विजय ही विराट् विश्व का उद्धारकृत्य है। राम अपने शत्रुओं का बध नहीं करते वरन् उन समस्त शाप-ग्रस्त प्राणियों का उद्धार करते हैं। राम का यह कार्य विष्णुत्व की परिधि से बाहर ब्रह्मत्व की परिधि के अंतर्गत है, अतः इसका अधिक विवेचन अगले शीर्षक में किया जायेगा।

(४) भक्तों की विविध इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अवतार लेने वाले राम भी ब्रह्म ही हैं विष्णु नहीं क्योंकि विष्णु का उद्देश्य तो केवल सजातीय देवताओं

के राज्य की रक्षा करना था। सारे लोक का रंजन और रक्षण उनकी सामर्थ्य और कार्य-क्षेत्र से बाहर था। वा० रामायण में राम के चरित्र मे इस विशेषता का कोई आधार नहीं मिलता, परन्तु मानस के राम की तो यह प्रमुख विशेषता है। वे तो मुख्य रूप से भक्तों के लिये ही अवतरित हुए थे और उन्हें प्रसन्न करना ही उनका प्रधान ध्येय था।

राम के विष्णुत्व का विवेचन करते समय ऐसा अनुभव होता है कि आदर्श मानव राम के साथ विष्णु के चरित्र का सामंजस्य उचित नहीं बैठता क्योंकि देवता विष्णु का चरित्र मानव राम से नीचा है। अनेक प्रसंगों में तुलसीदास ने स्वयं ही राम को विष्णु से श्रेष्ठ बतलाया है जहां विष्णु को राम के आधीन, उनकी प्रकाश-किरण, उनका सेवक, भक्त आदि दिखलाया है[1]। मानस में ऋषि वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए उन्हें विष्णु का स्व भी बतलाते हैं[2]। इस प्रकार विष्णु अनेक देवताओं मे से और तीन प्रधान देवताओं में से, एक हैं परन्तु राम उनसे कहीं अधिक ऊंचे "कोटि विष्णु सम पालनकर्ता"[3] और परब्रह्म के ही पर्याय हैं।[4] अतः मानस के राम वस्तुतः परब्रह्म के अवतार हैं, विष्णु के नहीं। विष्णु के साथ भी उनकी संगति बैठाने के लिये ही विद्वानों को महाविष्णु की कल्पना को आश्रय देना पड़ा है।[5]

परब्रह्म राम

वा० रामायण और मानस दोनों में राम देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठ दिखलाये गये हैं। जो कार्य इन्द्र आदि देवता भी नहीं कर सके वह राम ने किया है। मानस में राम को ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि मुख्य देवताओं से भी ऊंचा कहा गया है। वा० रामायण में उनकी तुलना विष्णु, इन्द्र और वरुण से की गई है और देवतागण उन पर फूल बरसाते हैं। राम का यही महान रूप,—मनुष्य और देवताओं की सीमा से अतीत रूप,—उनमें परब्रह्म की कल्पना करने का आधार बन गया है।

वा० रामायण में भी उन्हें केवल "त्रिदशपुंगव" (१.१५.२५), "विष्णुः सनातनः" (२.१.७), और "सुरोत्तम" (१.७६.१७) ही नहीं कहा गया है वरन् "सर्वलोक नमस्कृतः" (१. १५. २६) "महायोगी, परमात्मा सनातनः" (६.११४.१४) भी कहा गया है। इससे प्रकट है कि वा० रामायण के राम में पुराणों के स्थूल देवता विष्णु से ऊपर परब्रह्म की कल्पना भी आरोपित हो चुकी थी। मानस और रामायण

१. मा० बाल०—५४,८८,१४४, १४५, १४६, ३१७, ३२१, अयो०—२५४, २९५. सुन्दर०—२१ २३ ५६ उत्तर०—८१ ९२ आदि

२ जग पेखन तुम्ह देखनिहारे विधि हरि संभु नचावनिहारे २ १२७

के राम के परब्रह्म-स्वरूप में अन्तर यह है कि रामायण में उनका मानव-रूप प्रधान है और उसकी पूर्ण गरिमा मे ही परब्रह्मत्व का आभास होता है अर्थात् मनुष्य ही अपनी महानता में परब्रह्म जैसा प्रतीत होता है जब कि मानस में इसका उल्टा है। मानस के राम वस्तुतः परब्रह्म हैं जो कि भक्तों के रंजन के लिये मनुष्य जैसी लीला करते है।

वा० रामायण मे यद्यपि किसी विशिष्ट दार्शनिक संप्रदाय द्वारा निरूपित परब्रह्म और उसके अवतार का निरूपण नहीं किया गया है परन्तु उसके पुरुषोत्तम राम मे ही ईश्वरत्व की वह आभा दृष्टिगोचर होती है जिसकी तुलना परब्रह्म से ही की जा सकती है। इससे पूर्व हम देख चुके है कि वा० रामायण मे भी राम का सौन्दर्य, शील और शक्ति इतना असाधारण है कि केवल पुरुषोत्तम या श्रेष्ठ देव कहने अथवा इन्द्र, विष्णु आदि से उनकी तुलना करने से काम नही चलता। इनके भी आगे विकास का जो सोपान परब्रह्म के रूप में दिखलाई पड़ता है उसी में वा० रामायण के भी राम का अधिष्ठान यथोचित रूप मे किया जा सकता है। भगवान या परमेश्वर के छह प्रधान गुण बतलाये गये हैं—

ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पण्णा भग इतीरणा ॥[1]

इस षाड्गुण्य की कसौटी पर वा० रामायण के भी राम का चरित्र पूरा उतरता है। वाल्मीकि ने भी पुरुषोत्तम राम मे छह गुणों की गणना की है—

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते पड्गुणाः पुरुषोत्तमम् ॥ (२. २३. १२)

इसी प्रकार उनमें सत्य, दान, तप, त्याग आदि गुणों का बार-बार उल्लेख हुआ है (दे० २. १२. ३०)। नारद-वाल्मीकि सम्वाद मे कहा गया है "बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता-गुणाः" (१.१.७), फिर भी ये सारे गुण एक पुरुष में दिखलाये गये है। आशय यह है कि जब हम सृष्टि के समस्त गुण, पूर्ण पराकाष्ठा पर, एक ही व्यक्ति मे एकत्र करके देखने लगते हैं वही हमारी परब्रह्म की कल्पना पूर्ण होती प्रतीत होती है और यह कल्पना वाल्मीकि के राम में भी पूर्ण हुई है।[2] इसी कल्पना का भक्ति मार्ग मे विकास किया गया है। वेद और उपनिषदों के अव्यक्त ईश्वर को महामानव के माध्यम से वा० रामायण में और परब्रह्म के अवतार के रूप में मानस में साकारता और व्यक्तित्व प्रदान किया गया है।[3] इसके लिये आधार आदिकाव्य में भी

---

१. स्टडीज इन रामायण, पृ ४७।

2. "In fact it is the presence in one and the same person of high gualities thet are seen in separated glory in various men that is the most unique fact in Rama's character"—वही।

३ मानस के राम किस प्रकार पूर्ववर्ती चिन्तन के हा स्व' सिद्ध परिणाम हैं इस विषय में

विद्यमान था।

वाल्मीकि रामायण में राम की महत्ता के सूचक ऐसे अनेक विशेषण प्रयोग में लाये गये हैं जो एक साथ ही महापुरुष और ईश्वर या परब्रह्म दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं, उदाहरण के लिये—"महातेजः", "समदर्शी", "सत्यवाक्", "ऋजुः" "विग्रहवान धर्मः", "आर्तानां सश्रयः", "रामो रमयतां श्रेष्ठः", "सर्वभूतहितेरतः", "सर्वगुणोपेतः" इत्यादि और अनेक स्थलों पर राम के इन गुणों की मूर्तिमत्ता और व्यावहारिकता देखने पर एक प्रकार से निराकार ब्रह्म की ही सगुणता का बोध होता है। वन-प्रयाण से पूर्व राम कैकेयी से कहते हैं "रामो द्विन भिभाषते" (२.१८.३०) "विद्धि मां ऋषिभिस्तुल्यं केवल धर्ममास्थितम्" (२.१९.२०)। रावण से मारीच राम के जिस रूप का वर्णन करता है उसमें ब्रह्म की सर्वव्यापकता का आभास मिलता है (३.३९.१४-१८), उसे समस्त अरण्य "राममय" दिखलाई पड़ता है (रामभूतमिद सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे), "र" अक्षर तक उसके हृदय में सिहरन का सचार कर देता है (रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण)। तारा जिस रूप में राम का परिचय देती है वह भी परब्रह्मत्व की कल्पना के लिये यथेष्ट है—

> रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।
> निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः॥
> आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्।
> ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः॥ (४.१५.१९-२०)

इसमें राम की सर्वशक्तिमत्ता, शरण्यता, भक्तवत्सलता, ज्ञानरूपता आदि गुण उनके परब्रह्मत्व के ही सूचक हैं। शतानन्द उन्हें "पूजार्ह सर्वदेहिनाम्" (१.५१.५) कहते हैं। शबरी इस "देववर" के दर्शन पर अपना जन्म सफल मानती हुई अक्षय लोकों की अधिकारिणी बनती है (.७४.१२-१३)। इस प्रकार राम के ईश्वरतासूचक अपार गुणों का कीर्तन वा० रामायण में भी अनेक स्थलों पर किया गया है और यह भी कहा गया है कि पृथ्वीमंडल पर कोई भी राम के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता—"वक्तुं न शक्तो रामस्य नरः कश्चिद् गुणान् क्षितौ" (६.३०.३०)।

अतः राम के चरित्र में परब्रह्म की विभूतियों का समावेश कर लेने का पर्याप्त आधार वा० रामायण में प्रस्तुत किया जा चुका था। भक्ति शब्द का प्रयोग भी वा० रामायण में अनेक स्थलों पर हुआ है—

पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह विचार दर्शनीय है—'नियमों से निराश होकर, कर्मवाद की कठोरता से घबरा कर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देख कर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अन्त में भक्ति मार्ग में जा कर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है, वह क्षमा, दया, उदारता इत्यादि का अनन्त समुद्र है। लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक बिन्दु है।"

—गो० तुलसीदास पृ० १०६

(१) भक्तजनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः (२.४७.५)
(२) जानामि भक्तिं च पराक्रमं च (२.२१.५६)
(३) भक्तिमानिति तत्ताबद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि (२.५२.३८)

निस्सन्देह, तुलसी ने परब्रह्म के गुणों और भक्ति-भावना में अनेक नवीन तत्वों का समावेश किया है जिनमें से मुख्य है परब्रह्म का लीला तत्व। एक अन्तर यह भी है कि मानस के राम अपनी परब्रह्मता से परिचित है, परन्तु वा० रामायण के राम नही। उनके इस रूप का परिचय उन्हें देवगण कराते हैं (६.१२०)।

परब्रह्म का लीलातत्व रामायण में अप्राप्य है, इसका विकास परवर्ती काल में हुआ और मानस के राम का चरित इसके बिना नहीं समझा जा सकता।

मानस के राम के निम्नलिखित कार्य (आचरण) उनकी लीला को प्रकट करते हैं—

(१) उनका समस्त जीवन एक विशाल क्रीड़ा और विराट् अभिनय है। उनकी न किसी से शत्रुता है न मित्रता। रावण का वध वे शत्रुतावश नहीं करते, लोकोद्धार के लिये करते हैं और लोक के साथ स्वयं रावण का उद्धार उसे मुक्ति दे कर कर देते हैं। कौशल्या को वे जन्म के समय ही सचेत कर देते हैं कि वे उसके पुत्र नही वरन् "माया गुन ग्यानातीत" (१.१९२) हैं। दशरथ भी उनके ब्रह्मरूप से अवगत हैं (२.७७)। इस प्रकार समस्त प्राणी लौकिक नातों के बीच भी उनके परब्रह्म रूप को पहिचानते हैं और जहाँ भूल पड़ती है वहां कवि इसका स्मरण करा देता है। परन्तु रामायण के राम का जीवन और आचरण इस प्रकार कृत्रिम नहीं है, उनके हास-रुदन-शोक-क्षोभ वास्तविक हैं और इनके साथ उनके आत्मसंयम का प्रकाश उनके उस महामानवत्व को प्रकट करता है, जो मानवीय श्रद्धा का आलंबन बन कर उनमे ईश्वरत्व का आभास करा देता है।[१]

(२) ब्रह्म राम में यदि कोई मनोराग है तो वह है भक्तवत्सलता। भक्तों के लिये वे सब कुछ कर सकते हैं। उन्ही के लिये वे अवतीर्ण हुए हैं, उनके लिये वे न्याय और नीति का उल्लंघन भी कर सकते हैं। बालि को वे परनारी-रमण के अपराध पर दण्ड देते है परन्तु भक्त सुग्रीव की इस कुचाल पर ध्यान तक नही देते और स्वय तुलसीदास भी इस पक्षपात पर कटाक्ष कर बैठते है।[२] भक्तों के प्रति इतनी उदारता और इतनी क्षमता न तो यथार्थ मनुष्य मे देखी जाती है और न आदर्श मनुष्य मे। यथार्थ मनुष्य के सीमित हृदय मे भक्तों के विशाल परिवार को प्रेम करने की समाई नही हो सकती और आदर्श मनुष्य नैतिकता के विचार से न्याय और नीति का उल्लघन नही करेगा। यह तो कोई सर्वतंत्र स्वतंत्र कल्पनातीत व्यक्ति ही कर सकता है।

---

१. "He makes us feel his divinity and surrender our hearts to him in a passion of prayer for his grace"—

स्टडीज इन रामायण पृ० ४६

२. मा० १ २६

(३) मानस के परब्रह्म राम के चरित्र में सर्वशक्ति सम्पन्न व्यक्ति का अदम्य अहंकार भी है। वे परम स्वतंत्र हैं। उनके समक्ष संसार की सत्ता शरणागत के रूप में ही बनी रह सकती है, जो शरणागत नहीं है उसका दमन करके वे प्रत्यक्ष या परोक्ष में उसे शरणागत ही बनाते हैं।[१] वा० रामायण में अंगद सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाते हैं, परन्तु मानस में शरणागति का। उत्तरकाण्ड में राम अपनी प्रजा को भी अपना भजन करते रहने का उपदेश देते हैं। अपने वानरादि मित्रों को विदाई देते हुए भी वे यही उपदेश देते है (७.१६)। यह एक प्रकार का भावात्मक या सामनीति का साम्राज्यवाद कहा जा सकता है। आदर्श दृष्टि से यह संसार के प्रेम को अपनाने की चाह है परन्तु यथार्थ दृष्टि से बल और उपाय का प्रयोग करके संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की महत्वाकांक्षा भी है।

(४) राम की लीला का चौथा तत्व है निश्चेष्टता। उनका प्रत्येक कार्य इच्छाशक्ति मात्र से होता चला जाता है, कोई प्रयास उन्हें नहीं करना पड़ता। यदि कहीं वे प्रयास करते भी हैं तो दिखाने भर के लिये। वे धनुष को सहज में उठा लेते है और फूलमूल के समान तोड़ देते हैं। विराध, कबन्ध, बालि आदि का एक बाण मे वध कर देते है। रावण के साथ युद्ध नही करते, उसे खेल खिलाते हैं। उनके स्वेद और शोणितबिन्दु ब्रह्म की मानव-लीला के प्रदर्शन मात्र हैं। इसी प्रकार उनके समस्त मनोविकार भी प्रदर्शनमात्र हैं क्योंकि जिसकी इच्छाशक्ति से समस्त सृष्टि, अखिल ब्रह्माण्ड संचालित है उसमे मनोविकार उत्पन्न ही क्यों होंगे!

(५) मानस के ब्रह्म राम सर्वव्यापी हैं। प्रत्येक महापुरुष अपने असाधारण प्रभाव और लोकप्रियता के कारण सर्वव्यापक सा प्रतीत होता है। यह सर्वव्यापकता प्रेम और भय के प्रसार का ही दार्शनिक नामकरण है। शक्तिशाली पुरुष "भय" के रूप में सर्वव्यापी होता है और दयालु "प्रेम" के रूप मे। राम अपने तामस भक्तों, अपराधियों और अज्ञानियों के लिये "भय" के रूप में सर्वव्यापी हैं और राजस तथा सात्विक भक्तों के लिये "प्रेम" और "ज्ञान" के रूप में।

(६) परब्रह्म राम के साथ माया की कल्पना दो रूपों में की गई है। एक तो उनकी रहस्यमयी शक्ति के रूप में, जिसके द्वारा वे अकेले ही चौदह सहस्र का वध कर सकते हैं (३.२०) एक क्षण में सारे पुरवासियों से आलिंगन-भेंट कर सकते हैं (७.६.६), सींक को अभिमंत्रित करके त्रैलोकचारी प्रचंड बाण में परिणत कर सकते हैं (३.२) और राक्षसों के मायायुद्ध को विफल कर सकते हैं (६.४६-५७)। माया के दूसरे रूप की कल्पना साकार रूप में सीता बनकर दिखलाई पड़ती है। मानस की सीता महाविष्णु जगदीश अथवा परब्रह्म की महाशक्ति हैं[२]। जिस प्रकार विष्णु के साथ

१. इसीलिये उन्होंने नारद का गर्व खंडित किया, बालि का वध किया और भक्त की अपेक्षा ज्ञानी उन्हें इसीलिये प्रिय नही है क्योंकि उसमें दैन्य का अभाव होता है (दे० मानस-दर्शन पृ० ३२)।

२ मा० २ १२६ श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी)

"माया" एक शक्तिशाली देवता का छल-कपट, वेश-परिवर्तन, छद्मवाणी आदि है परन्तु महाविष्णु या परब्रह्म के साथ वह उसकी अज्ञेय, अनिर्वचनीय विराट् शक्ति है, उसी प्रकार विष्णु के साथ में माया लक्ष्मी है परन्तु महाविष्णु के साथ वह महाशक्ति सीता है।[1] पहले कहा जा चुका है कि मानस के राम ब्रह्म के अवतार हैं, विष्णु के नहीं। अतः सीता भी महाशक्ति की अवतार हैं, लक्ष्मी की नहीं, जो अपने स्वामी परब्रह्म के समान ही सुख-दुःख का अभिनय मात्र करती हैं, वस्तुतः उससे प्रभावित नहीं होतीं। इसीलिये वे राम के संकेत पर उनकी नरलीला की सिद्धि के लिये निर्विकार भाव से अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं (३,२४) और चिता में प्रवेश करके भी अछूती निकल आती हैं (६.१०६)।

निष्कर्ष : रामायण और मानस में राम के व्यक्तित्व में जो वाह्य अन्तर प्रतीत होता है उसका आन्तरिक सामंजस्य भी देखने का प्रयत्न करते हुए हमने उपरोक्त विवेचन के द्वारा निम्नलिखित तथ्य प्राप्त किये—

(१) रामायण के राम महामानव या पूर्णपुरुषोत्तम हैं परन्तु उनकी महानता मे परवर्तीकाल के अवतारवाद की कल्पना के लिये प्रचुर आधार प्रस्तुत हो चुके थे। उनके सौन्दर्य, शील और शक्ति की पराकाष्ठा ही परवर्तीकाल के परब्रह्म की कल्पना का आधार बनी अर्थात् जब परब्रह्म को काव्य नायक के रूप में लोकग्राह्य बनाने की आवश्यकता उठी तब रामायण के नायक के व्यक्तित्व और चरित्र के द्वारा वह आवश्यकता सुगमतापूर्बक पूरी हो गई। इस प्रकार मानस के काव्यनायक राम रामायण के राम के स्वाभाविक विकास हैं।

(२) इस विकासक्रम के तीन सोपान रामायण से मानस तक दिखलाई पड़ते हैं—राम का महामानवत्व, विष्णुत्व और ब्रह्मत्व। इन तीनों सोपानों की प्रारंभिक चेष्टा स्वयं मूल रामायण में निहित है। प्रचलित रामायण के विष्णुवादी और अवतारवादी अंशों में वह चेष्टा प्रकाशित हो उठी है और दीर्घकाल के अनन्तर मानस में वह प्रयत्न पूर्ण हुआ है अर्थात काव्यनायक के रूप में महानतम व्यक्तित्व की कल्पना मानस के राम में परिपूर्ण हुई है। वे एक साथ ही महामानव (ऐतिहासिक), सर्वशक्तिमान देवता विष्णु (पौराणिक) और अनिर्वचनीय, अवाङ्मनस गोचर, भावरूप परब्रह्म (दार्शनिक) के रूप में ऐतिहासिक, पौराणिक और दार्शनिक क्षेत्रों की महत् कल्पना के प्रतीक बन गये हैं।

(३) इन तीन व्यक्तित्वों का एक ही व्यक्ति में संयोजन या केन्द्रीयकरण होने के कारण मानस के राम के चरित्रचित्रण में जटिलता और अस्वाभाविकता आ गई है, जिसे सुलझाने के लिये रामायण और मानस के मध्य का सांस्कृतिक और साहित्यिक

---

१. कुछ लोगों का विचार है कि देवताओं की मायाशक्ति अथर्ववेद में निरूपित जादू, इन्द्रजाल आदि तत्व हैं, परन्तु कुछ लोग इसे देवताओं की अनिर्वचनीय, अतिप्राकृत शक्ति ही मानते हैं (द्र० 'दि मिरैकल्स एण्ड मिस्टेरियस इन वैदिक लिटरेचर' डा० ए० ए० पारव। पृ० ४) तुलसी के विष्णु राम में पहले प्रकार की माया भी अचित होती है, परन्त ब्रह्म राम में नहीं

इतिहास दृष्टि में रखना अनिवार्य है। मानस का मूल्यांकन, समस्त मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के समान, केवल लौकिक दृष्टि से नहीं किया जा सकता, उसके साथ अलौकिक अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि का सामंजस्य आवश्यक है।

(४) वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही आदर्शवादी कवि थे, दोनों का अपने काव्यनायक के प्रति पक्षपात है और दोनों ने ही उसे गुणों की समष्टि के रूप में प्रस्तुत किया है। इसलिये एक सीमा तक दोनों में ही कुछ अस्वाभाविकता और जटिलता है। मूल और प्रक्षिप्त अंशों के सम्मिश्रण के कारण वा० रामायण के राम में भी अन्तर्विरोध और असंगतियां लक्षित होती हैं। फिर भी, वा० रामायण मानस के समान सांप्रदायिकता से युक्त नहीं है।

(५) दोनों ही कवियों के राम के चरित्र को किसी एक कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। न तो काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट 'धीरोदात्त' नायक कहने से उनकी व्याख्या पूरी हो सकती है, न धर्मशास्त्र में निरूपित 'महात्मा' कहने से, न दर्शनशास्त्र में निरूपित 'परमात्मा' कहने से और न समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र के 'लोकनायक' या 'लोक-नेता' कहने से। उन्हें 'सुपरमैन' कहना भी उनकी मर्यादा घटाना है। इन दोनों कवियों की महानता इसी में है कि उनका काव्य-नायक सीमाओं और परिधियों से अतीत है। इसीलिये दोनों काव्यों के राम अपनी और अपने निर्माताओं की अनेक त्रुटियों के होते हुए भी व्यापक और विविध मानव समाज पर प्रभाव डालने वाले हैं।

लक्ष्मण

रामकथा में राम के साथ लक्ष्मण का नाम अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। राम के व्यक्तित्व को पूर्णता में देखने के लिये जिस प्रकार 'सीता-राम', 'राम-रावण' जैसे युग्म-शब्दों का प्रयोग सहज ही हो जाता है, उसी प्रकार 'राम-लक्ष्मण' का भी। राम से सर्वथा भिन्न प्रकृति के होते हुए भी लक्ष्मण उनके साथ अभिन्न है, मानो कि वे राम के पूरक हों[1]। एक श्याम है, दूसरा गौर। एक शान्त है, दूसरा उग्र। इस प्रकार दो भ्राताओं के युग्म रूप में मानो एक ही व्यक्तित्व सामने आता है।

कथात्मक एकता के अतिरिक्त स्वभावविषयक एकता के कारण भी दोनों काव्यों के लक्ष्मण में कोई विशेष भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है, परन्तु तुलसी की भावना और उद्देश्य ने लक्ष्मण के वेशविन्यास और आचरण दोनों में परिवर्तन और संशोधन किया है, जिस कारण हम कुछ नवीन अनुभूतियों में निमग्न होते हैं। मानस में कुछ कथांशों के योग, संक्षेप, परिवर्धन, स्थानान्तरण और भावपरिवर्तन द्वारा लक्ष्मण के चरित्र के नवीन पक्ष भी प्रस्तुत किये गये हैं और पुरातन पक्षों को नवीन शोभा भी प्रदान की गई है।

तुलसीदास द्वारा किये गये संशोधन से पूर्व लक्ष्मण-चरित के परम्परागत तत्वों पर एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। मूलरूप में लक्ष्मण के चरित्र की दो

---

१ स्वयं तुलसीदास ने लक्ष्मण की परिभाषा इसी रूप में की है
रघुपति कीरति बिमल पताका दंड समान भयउ जस जाका (१ १७-६)

विशेषतायें हैं, भ्रातृप्रेम और उग्र स्वभाव। पहली विशेषता में उनके व्यक्तित्व का आदर्श पक्ष अभिव्यंजित हुआ है और दूसरी में यथार्थ, परन्तु दूसरी विशेषता ने पहली को आत्मसमर्पण कर दिया है। इसलिये लक्ष्मण का चरित्र भी आदिकाव्य से ही आदर्श प्रधान है। उन्होंने अपना व्यक्तित्व राम के लिये विसर्जित कर दिया है। व्यक्तित्व-विसर्जन का ऐसा उदाहरण भारतीय साहित्य में, कदाचित् विश्व साहित्य में भी, दुर्लभ है[1]। तुलसी ने इसी व्यक्तित्व-विसर्जन की सीमा का विस्तार करके लक्ष्मण के आदर्श को और भी ऊंचा उठाया है।

भ्रातृप्रेम—लक्ष्मण जन्म से ही राम के अभिन्न सहचर रहे हैं। विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा से लेकर रावण-वध की महान घटना तक उन्होंने कभी राम का साथ नहीं छोड़ा। सिद्धाश्रम की यज्ञवेदिका, मिथिला की गलियां और वाटिका तथा स्वयवर-सभा, चित्रकूट और पंचवटी की पर्णकुटी, दण्डक के घोर अरण्य, पम्पा का तट, किष्किन्धा के शिखर, प्रस्रवण की गुफा और सुबेल का सैन्य-शिविर—ये समस्त ऐतिहासिक स्थल इस भ्रातृयुग्म की शोभा और शील से एक साथ ही आलोकित हुए है। मानसकार ने प्रांगण की बालक्रीड़ा, 'केलि लरिकाई' और "करन वेध, उपवीत बिआहा"[2] आदि की भी साथ-साथ चर्चा करके इस युग्मता की प्रस्तावना चित्रित की है। बाल्यकाल से ही लक्ष्मण के मन में भगवद्भक्ति की सीमा तक पहुंची हुई भ्रातृभक्ति रही है[3]।

वा० रामायण में भी लक्ष्मण का अनन्य अनुराग और अनुसरण भ्रातृप्रेम ही नहीं, भ्रातृभक्ति भी है। वे राम के वाह्यप्राण के समान हैं,[4] उनकी दूसरी आत्मा है,[5] प्रारंभ से ही उनके साथ मृगया मे जाते रहे है,[6] राम को उनके बिना नींद नही आती,[7] सीता से अधिक वे राम को प्रिय हैं,[8] एक बार उन्होंने राम के समक्ष आवेशपूर्वक विचार-स्वातंत्र्य भी प्रकट किया है,[9] एक बार सीता के प्रति भी उग्रता प्रकट की है,[10] परन्तु उनके व्यक्तित्व की धुरी राम-प्रेम ही है। वे आर्त है, राम के शरणा-

१. "महत्वाकाक्षाओं से हीन, यह चरित्र राम में अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार परिसमाप्त किये हुए है कि इसकी जोड़ का उदाहरण अन्यत्र कहीं कठिनाई से मिलेगा"—मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० २६२।

२. मा० २.१०।

३. बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ (मा० १.१६८.३)

४. रा० १.१८.२६ तथा ६.१०२.६।

५. रा० २.४.४३।

६. रा० १.१८.३०।

७. रा० १.१८.२६।

८. रा० ५.३८.६३ तथा ६.१०२.१२।

९ रा० २ २३

१० रा० ३ ४५

गत हैं[१], सीता के भी भक्त हैं[२], राम के आदेशों की पूर्ति मूकभाव से करते हैं[३], राम के शरणागत की रक्षा में जान-जोखम उठाते हैं[४] और वास्तविक भूल न होने पर भी चुपचाप भूल स्वीकार कर लेते हैं[५]। वे पतिव्रता के समान भ्रातृव्रती हैं—खन्ता और टोकरी लेकर राम के पीछे चलते हैं[६]। उनके लिये फल-मूल संग्रहीत करते हैं, पर्णकुटी बनाते हैं[७], स्वामी के अमंगल या मंगल के अभाव की संभावना मात्र[८] से कूकर के समान भूंक उठते है,[९] उनका मंत्रित्व करते है,[१०] विनय और माधुर्य के साथ उचित परामर्श देते है[११], अनावश्यक हस्तक्षेप नही करते है, पूछने पर ही मत प्रकट करते है। सेवा ही नहीं, वे राम का अभिभावकत्व भी करते हैं, जिस कारण राम को पिता का अभाव नहीं खलता[१२]। राम के अनन्य सेवक लक्ष्मण में कूकर की स्वामिभक्ति और सेवक का समर्पण भाव है।[१३] प्रारंभ से ही राम के गुणों का मर्म समझ कर वे अपने को राम का दास बना चुके थे।[१४] यह भ्रातृप्रेम असाधारण है, यह प्रेम नहीं भक्ति है, इसमें दास्यभाव है। स्वयं राम इसे लक्ष्मण की भक्ति कहते है।[१५] इस वृत्ति को सहृदय समालोचको ने लक्ष्मण की "कैंकर्य-लक्ष्मी" कहा है।[१६]

उक्त प्रसंगों से यह प्रमाणित हो जाता है कि लक्ष्मण-चरित्र की सुपुष्ट नीव और सुस्पष्ट भूमिका वा० रामायण में, अधिकांशत. आदिकाव्य में ही, पूर्ण रूप से स्थापित की जा चुकी थी। भक्ति का व्यावहारिक रूप पहले से विद्यमान था, उसी मे वृद्धि की गई है और वह भी अधिकांशतः सैद्धान्तिक। मानस में लक्ष्मण राम और

---

१. रा० २.३१.५ तथा २.२३.४०।
२. 'नित्यं पादाभिवन्दनात्' (४.६.२२)।
३. स० ३.१८.२१ तथा ६.११६.२१।
४. रा० ६.१०१ (विभीषण की रक्षा के कारण रावण की शक्ति के लक्ष्य बनते है)।
५. रा० ३.५६।
६. रा० २.३१.२५।
७. रा० ३.१५.२१-२६।
८. भरत के चित्रकूट आगमन पर (२.६६) और सुग्रीव के प्रमाद पर (४.३१. १-६)।
९. "As a watchful guard, if there is a stranger or even a friend in apparent enemity, he barks"—लेक्चर्स आन रामायण, वी० एस० शास्त्री, पृ० ३३।
१०. हनुमान से प्रथम वार्ता, सुग्रीव के अभिषेक, विभीषण–शरणागति, विरह-विलाप, सागर-विनय, विभीषण के अभिषेक आदि प्रसंगों में।
११. वहीं।
१२. भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण। त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम (३.१५.२६)
१३. "He has a dog's qualities and a slave's virtues."—लेक्चर्स आन रामायण, वी० शास्त्री, पृ० ३३।
१४. अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः (४.४.११)।
१५ जानामिभक्तिं च पराक्रमं च २ २१ ५६)
१६ दे० लेक्चर्स वी० शास्त्री, पृ० ३३

सीता के ऐसे नैष्ठिक भक्त हैं कि उनके चरण-चिह्नों को बचा कर चलते हैं[१]। इस प्रकार रागानुगा भक्ति में वैधी भक्ति का तत्व और आ मिला है। वे पुष्टि-जीव है। उन पर राम का विशेष अनुग्रह है। उनकी क्रियाओं पर राम का वात्सल्य-पूर्ण पहरा है, इसीलिये वे सीता माता से उत्तर-प्रत्युत्तर न करके चुपचाप राम को देखने के लिये चले जाते है, क्योंकि उसमें राम की ही प्रेरणा थी[२]। इस प्रकार तुलसी ने आदर्श अनुज और भक्त की मर्यादा का मिलाप करा दिया है। राम के प्रति लक्ष्मण की भक्ति है और राम की उनके प्रति वत्सलता। वा० रामायण में भी राम के अतिशय अनुज-प्रेम के उद्‌गार हैं, परन्तु मानस में राम के इस अनुज-प्रेम को भक्त-वत्सलता भी कहा गया है[३]। वनप्रस्थान के समय लक्ष्मण की और लक्ष्मण-शक्ति के समय राम की उक्तियोंमें, दोनों काव्यों में, बहुत साम्य है फिर भी मानसकार ने अपने भाषाधिकार और भावना-शक्ति से उन्ही उक्तियों की आवृत्ति करते हुए भी भक्ति का विशेष पुट दे दिया है। इस प्रकार लक्ष्मण का समर्पण और राम का ग्रहण आदिकाव्य से ही भ्रातृत्व के माध्यम से भक्ति अर्थात् भ्रातृभावपरक भक्ति[४] का संकेत करता चला आ रहा है, जिसे मानस में और विशद बना दिया गया है। परन्तु, इस विशदता के साथ साम्प्रदायिकता की गंध भी आ पहुंची है[५], यही तुलसी की दुर्बलता है। इस अत्यधिक भक्तिभाव के कारण भ्रातृत्व का माधुर्य कम हो गया है।

स्वभाव की उग्रता—कुछ विद्वानों ने मानस के सभी पात्रों को 'टाइप' कहा है,[६] लक्ष्मण इसके स्पष्ट अपवाद है। तुलसी ने उनके मौलिक स्वभाव की रक्षा करते हुए भी उन्हें भक्ति का परिच्छद पहिनाया है। वा० रामायण में भी लक्ष्मण की उग्रता राम-प्रेम से प्रेरित है और मानस मे भी। अन्तर यही है कि मानस में आदर्श पक्ष का विस्तार अधिक है अर्थात् भक्ति का, और वा० रामायण में यथार्थ पक्ष का भी पर्याप्त विस्तार है अर्थात् लक्ष्मण की उग्रता कुछ अधिक विस्तार से दिखलाई गई है। वे मानस के लक्ष्मण के समान मर्यादा के बोझ से अधिक दबे हुए नहीं है। तुलसी ने लक्ष्मण की उग्रता ऐसे ही अवसरों पर प्रकट की है जहां राम के सम्मान पर सीधा प्रहार होता हुआ दिखलाई पड़ता है। राम के आदर्श, विचार और उद्देश्य से मानस के लक्ष्मण कहीं नहीं टकराते, परन्तु वा० रामायण के लक्ष्मण टकराते हैं। वन-प्रस्थान से पूर्व वा० रामायण के लक्ष्मण राम के भाग्यवाद और आदर्शवाद का उग्र विरोध करते है,[७] परन्तु मानस के लक्ष्मण मौन रहते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पर

१. सीय राम पद अंक बराए। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥ (२.१२३.६)।
२. हरि प्रेरित लछिमन मन डोला (३.२८.५)।
३. राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हिय हुलसानी (१.२१८)।
४. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् (गीता)।
५. पुत्र वही जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ (२.७५.१)।
६ हिन्दी महाकाव्य० पृ० ५३७।
७ रा० २ २३

आश्चर्य प्रकट किया है[1], परन्तु शुक्ल जी के इस आश्चर्य पर आश्चर्य प्रकट किया जा सकता है क्योंकि तुलसीदास के उद्देश्य की उन्होंने स्वयं अत्यन्त मार्मिक व्याख्या की है और यहां भी तुलसी का उद्देश्य अधिक छिपा हुआ नहीं है। प्रस्तावना में ही तुलसीदास लक्ष्मण के अवतारत्व की घोषणा कर चुके हैं[2], जन्म के समय भी इसकी आवृत्ति की गई है[3], अतः लक्ष्मण के जीवन का उद्देश्य राम के साथ सम्मिलित है। संभवतया, राम के वनगमन के उद्देश्य को समझते हुए ही वे उस अवसर पर विरोध नहीं करते[4], अथवा राम की ही मूक प्रेरणा से वे मौन धारण किये रहते हैं। भरत के चित्रकूट पहुंचने पर उन्हे राम का प्रत्यक्ष अपमान दिखलाई पड़ता है, उनके संयम का बांध टूट जाता है और उग्र प्रतिक्रिया में वे पिछला बैर निकालने को तैयार हो जाते हैं[5]। अतः तुलसी ने वन-प्रस्थान-प्रसंग का लक्ष्मण-चरित्र से सम्बन्धित अंश परिवर्तित कर दिया है, परंतु चित्रकूट पर भरत-आगमन के प्रसंग में लक्ष्मण का चरित्र दोनों काव्यों में प्रायः एक जैसा है। मानस के लक्ष्मण को राम के वनगमन का इतना दुःख नहीं है, परन्तु वे उनके अमगल या अपमान की संभावना तक को सहन नही कर सकते। लक्ष्मण की इसी मनोभावना का विशद विस्तार करने के लिये तुलसी ने धनुपयज्ञ मे उनके रोष और परशुराम-सम्वाद के प्रसंग की योजना की है। वनप्रस्थान के अवसर पर वा० रामायण में लक्ष्मण का जो रोष प्रदर्शित किया गया है उसे भी मानस की कथा मे अन्यत्र स्थान दे कर तुलसी ने उनकी मूल प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट नहीं होने दिया है। सुमंत्र की विदाई के समय लक्ष्मण अपने पिता के लिये इतने अनुचित शब्द कहते हैं कि राम को सौगध दिलाना पड़ती है कि सुमंत्र उन शब्दों को पिता से जाकर न कहें[6]। ये शब्द वे ही हो सकते हैं जो लक्ष्मण ने वा० रामायण में कहे हैं[7]। तुलसीदास ने उन शब्दों को लक्ष्मण के मुख से दो कारणों से नही कहलाया है, सक्षिप्तता की शैली के कारण और मर्यादा-भाव के कारण। ऐसा हम अन्य अवसरों पर भी देखते हैं[8] और यह तुलसीदास की विशिष्ट आदर्शमूलक चरित्रचित्रण-पद्धति है। इसी प्रकार अग्रज की मर्यादा को भुला कर लक्ष्मण ने जो विचार-स्वातंत्र्य उपदेशात्मक ढंग से वा० रामायण में वन-प्रस्थान

१. गो० तुलसीदास, पृ० १२१।

२. मा० १ १७.७ तथा 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउं दिनकर अंस उदारा॥ (१.१८७.२)।

३. वही, दो० १९७।

४. इसे तुलसी ने प्रकट नही किया है, परन्तु उनके मन में यही भावना प्रतीत होती है। यदि प्रकट कर देते तो लक्ष्मण का चरित्र भी राम के समान अवतारवाद की परिधि में घिर जाता। प्रकट न करने पर लक्ष्मण के चरित्र में एक अभाव और अस्वाभाविकता खटकने लगी है, जिसकी पूर्ति को प्रयत्न तुलसी ने आगे चलकर (भरत के चित्रकूट-आगमन के अवसर पर) किया है

५ मा० २ २३०

के अवसर पर प्रकट किया है[1], उसीमें का कुछ अंश मानस में सागर-विनय के अवसर पर काम में लाया गया है।[2] यही एक अवसर है जहां मानस में लक्ष्मण मर्यादा का उल्लंघन करते हुए प्रतीत होते है, जब कि इसके विपरीत इस अवसर पर वा० रामायण के लक्ष्मण ने शान्ति और सौम्यता प्रदर्शित की है[3]। मानस में लक्ष्मण का उक्त आचरण कुछ अप्रासंगिक भी प्रतीत होता है और उससे इस विचार की पुष्टि होती है कि तुलसी लक्ष्मण की मूलप्रकृति के तत्वों को सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नवान थे, चरित्र-चित्रण में यथार्थ पक्ष के सौन्दर्य की सर्वथा अवहेलना नहीं करना चाहते थे, साथ ही राम के अनुज लक्ष्मण को मर्यादित एव राम के व्यक्तित्व तथा जीवनोद्देश्य मे पूर्णतया लीन रखना चाहते थे।

वा० रामायण में ऐसे भी प्रसंग हैं जहां राम रोष करते है और लक्ष्मण उन्हे शान्त करते हैं[4]। ऐसे भी प्रसग है जहां मानस के लक्ष्मण रोष प्रकट करते हैं और वा० रामायण के लक्ष्मण शान्त रहते हैं[5]। दोनों ही काव्यों में लक्ष्मण का क्रोध तामस प्रकृति का सूचक न होकर, उनके शील का अंग न होकर, उनकी सात्विक प्रकृति का ही सूचक है। वे आशुकोपी है और आशुतोषी भी। दोनों काव्यों में समान कथा-प्रसगो पर लक्ष्मण के स्वभाव की यही विशेषता प्रकट की गई है।[6]

कुछ विशेष गुण—प्रारंभ में कहा गया है कि लक्ष्मण का चरित्र मूलरूप मे अर्थात् आदिकाव्य से ही आदर्शात्मक रहा है। उनकी उग्रता और औद्धत्य स्थायी तथा व्यापक नहीं है, इसका उद्‌भव राम-प्रेम में से होता है। इस आंशिक अवगुण के अतिरिक्त लक्ष्मण का चरित्र भी उच्चतम मानवीय गुणों तथा विभूतियों की समष्टि है। वे लक्ष्मी-सम्पन्न, 'लक्ष्मिवर्धन' हैं, शुभ लक्षणों के भण्डार है। उनका गौर वर्ण, तेजस्वी ललाट, निर्भीक स्वभाव, अतुल साहस, अनुपम वीरता, अद्‌भुत साधन, बल-वीर्य और ब्रह्मचर्य, बुद्धिमत्ता, अल्पभाषित्व, निस्पृहता आदि गुण यदि किसी से तुलनीय हैं तो केवल राम से। भरत का चरित्र एकांगी है, विशुद्ध आदर्श, परन्तु लक्ष्मण का चरित्र

१. रा० २.२३.५–१८।

२. तुलनीय उक्तियां हैं—(अ) विक्लबो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीरा' सम्भावितात्मानो न दैवं पर्यु पासते॥ (२.२३.१६)।

× × × ×

(आ) नाथ दैव कर कवन भरोसा।
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ (५.५१)

३. रा० ६.१९.३८–४०।

४. रा० ३. ६४–६६।

५. परशुराम-प्रसंग और सागर-निग्रह प्रसंग।

६. उदा० के लिये वे सुग्रीव के प्रमाद पर कोप करते हुए किष्किंधा को जला डालने को उद्यत हो जाते हैं, परन्तु तारा के आगमन और सुग्रीव की क्षमायाचना पर संतुष्ट होकर परम प्रीतिभाव प्रकट करते हैं (मा० ५.२० तथा रा० ५.३६)। इसी प्रकार मानस में जब वानर लोग राक्षसदूत शुक के नाक कान काटने लगते हैं तब लक्ष्मण उसे दयापूर्वक छुड़ाते है (५ ५२)

अधिक स्वाभाविक तथा रमणीय है। उसमें यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य है। लक्ष्मण में भी प्राय: वे सब गुण हैं जो पुरुषोत्तम में प्राप्त होते हैं। उनमें कुछ अधीरता और उग्रता अवश्य है परन्तु साथ ही दृढता, उदारता, दया, क्षमा, विवेक, धैर्य आदि गुण भी है। वे वस्तुतः रामकथा के दूसरे नायक हैं, घटना-व्यापार की दृष्टि से भी और चरित्र की उदात्तता की दृष्टि से भी। शास्त्रीय शब्दों में उन्हें 'उपनायक' कह सकते है।

तुलसी ने लक्ष्मण के 'चरित' का भी विस्तार किया है और चरित्र का भी अर्थात् उनकी 'जीवन-कथा' के भी कुछ अंश मानस में जोड़े हैं और 'आचरण एवं व्यक्तित्व' का आदर्शात्मक उत्कर्ष करने के साथ-साथ उसके कुछ नवीन पक्ष भी उद्‌घाटित किये है। जनकपुर-दर्शन की लालसा में उनकी बालसुलभ जिज्ञासा और और औत्सुक्य प्रकट होता है[1]। पुष्पवाटिका-प्रसंग मे समवयस्क भ्राताओं का सख्य भाव तुलसी की सहृदयता का सूचक है[2], स्वयंवर-सभा में सिंह-किशोर जैसा लक्ष्मण का आतंक तरुण-हृदय में उत्साह और प्रौढ़ हृदय में उनके प्रति ममत्व उत्पन्न करने वाला है[3], जनक की चिनौती पर उनका अमर्ष रघुवंश के प्रताप का प्रतिनिधि बन कर प्रकट होता है[4], परशुराम के प्रति उनकी अविनय और अशिष्टता में भी कुमारस्वभाव-सुलभ चापल्य मन को आकर्षित करता है[5]। डा मा० प्र० गुप्त ने लक्ष्मण के आचरण में दो आपत्तियां उठाई हैं। एक तो यह नैतिक आपत्ति कि उन्होंने परशुराम जैसे तपोवृद्ध और आयुवृद्ध ऋषीश्वर का उपहास और अपमान करने की अशिष्टता की[6] और दूसरी यह मनोवैज्ञानिक आपत्ति कि स्वभाव से उग्र और उद्धत लक्ष्मण परशुराम के द्वारा राम के प्रति कहे गये अपमान सूचक शब्दों को इतना भी सहन कैसे कर सके?[7] इसका समाधान यही है कि तुलसी का उद्देश्य लक्ष्मण के बाल-चापल्य की रसात्मक झांकी प्रस्तुत करना है। मूलत: लक्ष्मण की प्रकृति उद्धत नहीं है। 'विप्र धेनु सुर संत हित' अवतार धारण करने वाले राम के अनुज होकर वे अपने अग्रज और अपने अंशी के आदर्श और संस्कृति के विरुद्ध आचरण कैसे कर सकते थे? इसके अतिरिक्त, तुलसीदास परशुराम जैसे ऋषीश्वर और ब्राह्मण को उनके तामस तथा अशोभनीय स्वभाव के लिये कदाचित् कुछ दंड भी देना चाहते थे।[8]

---

१. मा० १.२१८।
२. वही, २३१।
३. वही, दो० २६७।
४. वही, २५२-५३।
५ वही, २८२ ०
६ दे० तुलसीदास पृ० ३१५

सीता हरण के प्रसंग में जिस प्रकार छाया-सीता की कल्पना द्वारा तुलसी ने महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है और कथा को अवतारवाद के साथ जोड़ा है उसी प्रकार लक्ष्मण के आचरण और कार्य मे भी उन्होने इसी उद्देश्य से परिवर्तन किया है। वा० रामायण मे ऐसा प्रतीत होता है कि सीता हरण के लिये लक्ष्मण उत्तरदायी थे, वे दूर-दर्शिता से काम लेते तो यह दुर्घटना टल सकतीथी[1], स्वयं राम उन पर यह कटु आरोप करते है[2], परन्तु मानसकार ने 'हरि प्रेरित' कहकर लक्ष्मण को इस आरोप से मुक्त करने का प्रयत्न भी किया है। इस प्रकार वे अज्ञात रूप मे राम की अवतार-लीला मे सहायक बनते है।

तुलसी ने लक्ष्मण के चरित्र मे जो आदर्शात्मक परिवर्तन किया है उसमें कृत्रिमता का संचार वही हुआ है जहां उसका सम्बन्ध भी अवतारवाद के साथ जोड़ा गया है और वाल्मीकि के आदर्शवाद से उनका मुख्य भेद इसी आधार पर दिखलाई पड़ता है। वा० रामायण के भी प्रक्षिप्तांश में लक्ष्मण के आंशिक अवतार होने का उल्लेख है (१.१८.१४), परन्तु मानस मे ऐसा अनेक स्थलों पर है। जिस प्रकार राम के चरित्र को उन्होंने प्रस्तावना-भाग से ही अवतारवाद के धरातल पर प्रसारित करना आरभ किया है और बीच बीच मे भी इसका स्मरण कराते रहे हैं, उसी प्रकार लक्ष्मण के चरित्र में भी उन्होंने अवतारवादके पुट दिये है। उदा० के लिये, वे शेषनाग के अवतार हैं और राम के साथ पृथ्वी का भार उतारने के उद्देश्य से प्रकट हुए हैं[3], राम की कीर्ति-पताका के दण्ड हैं[4], परशुराम उनकी भी वन्दना करते है और क्षमा-याचना करते हैं[5], जहा वे अपने स्वरूप को सर्वथा विस्मृत कर बैठते है वहा राम सम्हाल लेते हैं[6], उनके पास भी अलौकिक मंत्र-शक्ति है जिससे वे अभिमंत्रित रेखा खीच कर जाते है[7], रावण और मेघनाद उन्हें मूर्छित अवस्था मे भी उठा नही पाते, क्योंकि वे तो शेषनाग के अवतार है, उनकी क्रोधाग्नि ब्रह्माण्ड को जला सकती है, वे अजेय है, उनके शीश पर ब्रह्माण्ड विराजित हैं[8], इत्यादि, अनेक स्थल लक्ष्मण के चरित्र के भी अवतारवादी चौखटे में कसे

राम को अपमानित करने वाले परशुराम के प्रति स्वयं कवि का भी क्षोभ और उपहास लक्ष्मण के आचरण मे व्यक्त हुआ है; इस वैयक्तिकता का समावेश चरित्रचित्रण की कला की दृष्टि से दोष माना जा सकता है।

१. गोविन्द राज की 'भूषण टीका' के विचार का समर्थन करते हुए वी० एस० एस० शास्त्री का विचार, दे० लेक्चर्स आन रामायण, पृ० ३८१।

२. रा० ३-५९- २२-१४। मानस में भी यह आरोप झलकताहै ('आयहु तात बचन मम पेली?') परंतु साथ ही 'वाहिज चिन्ता' का उल्लेख भी है (३.३०)।

३ मा० १.१७.७।

४. वही १७.६।

५. छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता (१.२८५)।

६. उदा० के लिये सीता के 'मरम बचन' कहने पर भी जब वे पर्णकुटी नहीं छोड़ते तो हरि को प्रेरित करना पड़ता है (३.२८)।

७ दे० मानस का क ०ना० प्र० सभा संस्करण (६ ४८ ८ तथा गी० प्रे० संस्करण(६ ३१ २) मा० ६ ५४ तथा ८३

होने के सूचक हैं। परन्तु, ऐसे स्थल कम ही हैं। राम के अवतार-वपु और उनकी लीला के समान लक्ष्मण के विषय में चेतावनियाँ अधिक नहीं दी गई हैं। राम के ब्रह्मत्व की घोषणा बार बार की गई है परन्तु लक्ष्मण को शेषावतार के अतिरिक्त 'जीव' भी कहा है (ब्रह्म जीव इव सहज संघाती)। अतः सीता के अग्नि-निवास का रहस्य लक्ष्मण को विदित नहीं होता। राम उनकी अनुपस्थिति में यह लीला करते हैं, इसीलिये अग्नि-परीक्षा के समय लक्ष्मण को मार्मिक पीड़ा होती है। इससे स्पष्ट है कि 'राम कवन' की व्याख्या के समान लक्ष्मण के चरित्र में तुलसी ने दार्शनिक जटिलता नहीं आने दी है।

डा० गुप्त ने तुलसी द्वारा निरूपित लक्ष्मण के चरित्र में एक और आपत्ति उठाई है[1] कि लक्ष्मण भी राम के समान एक स्थल पर दार्शनिक उपदेश देते हैं[2]; जो कि उनके व्यापक चरित्र के साथ मेल खाने वाली बात नहीं है। इसका समाधान भी उपरोक्त पंक्तियों द्वारा हो जाता है—अर्थात् परब्रह्मावतार राम के अनुज होने के नाते अंशी का कुछ स्वभाव अंश को भी मिलना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रश्न के रूप में भी दार्शनिक चर्चा राम से की है[3], अतः उनके शील-स्वभाव में यह असंगति नहीं कही जा सकती। वे 'जीव' स्वरूप हैं अर्थात् जिज्ञासा और भावना, और उनका समाधान है ब्रह्म राम अर्थात् साक्षात ज्ञान और प्रेम। इसीलिये कुछ विद्वानों ने मानस के लक्ष्मण को रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों का प्रतिनिधि माना है[4]।

लक्ष्मण के चरित्र की तुलना से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. दोनों ही कवि आदर्शवादी हैं। तुलसी ने मूल कथा के आदर्शवाद का विस्तार किया है, परन्तु उसे सांप्रदायिक परिधि में बांध भी दिया है। उनका चरित्र-चित्रण अवतारवाद से प्रभावित है और यह प्रभाव सभी पात्रों पर है।

२. तुलसी की चरित्रचित्रण-पद्धति में यथार्तवाद का कुछ नमूना लक्ष्मण के चरित्र में मिलता है[5]।

३. तुलसी का महाकाव्य अधिकांशतः चरितकाव्य है, चरित्र-विधान की दृष्टि से ही उन्होंने कथा में संक्षेप, विस्तार, विपर्यय आदि किये हैं[6]।

४. मूल कथा और प्रचलित रामायण के अधिकांश को अपनाने और समन्वय करने की प्रवृत्ति तुलसी के चरित्रचित्रण में भी दिखलाई पड़ती है। उन्होंने लक्ष्मण-चरित के सभी मूलतत्व संग्रहीत करते हुए उनमें कुछ नवीन तत्व और जोड़ दिये है।

---

१. दे० तुलसीदास, पृ० २९३।

२. दे० मानस, निषाद-लक्ष्मण सम्वाद (२,९२-९३)।

३. मा० ३.१४।

४. दे० मानस में रामकथा (ले० डा० बल्देव मिश्र) के पृ० १४२ पर अवधवासी ला० सीताराम का मत

५ तुलसीदास ने भाषाग्रन्थों के इस चरित्र को लेकर बड़ी से चित्रित करने का

भरत

रामकथा में भरत इस दृष्टि से एक अद्वितीय पात्र हैं कि उनके जीवन मे मनुष्य की सात्विक प्रकृति का चरम आदर्श अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ है। आदिकाव्य में भी सबसे अधिक निर्दोष चरित्र केवल भरत का है, तुलसी ने उस आदर्श का और अधिक विस्तार किया है। उन्होंने धर्मपालन की दृष्टि से भरत को राम से भी ऊंचा उठा दिया है[1] और आदि कवि की भी ऐसी ही भावना लक्षित होती है।

भरत का चरित्र राम और लक्ष्मण दोनों से ही तुलनीय है। उनकी धर्मभावना राम से और उनका राम-प्रेम लक्ष्मण से बढ़ कर है। नैतिकता, कर्त्तव्यपालन, वैराग्य और आदर्शात्मकता की दृष्टि से भरत का चरित्र राम और लक्ष्मण दोनों से ही बढ़ कर है। राम में मानवीय दुर्बलतायें लक्षित होती हैं, भरत में नहीं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके जीवन को उतनी विविध परिस्थितियों में से निकलना भी नही पडा है जितना कि राम को। उनका राम-प्रेम लक्ष्मण से बढ़ कर इसलिये है कि वे राम-प्रेम के कारण ही राम को भी त्याग सकते थे, जो कि लक्ष्मण नही कर सकते थे। लक्ष्मण के राम-प्रेम में मोह है, आसक्ति है और इसीलिये उग्रता है। भरत के रामप्रेम में विवेक है, श्रद्धा है, कर्त्तव्य है और इसीलिये उनका राम-प्रेम शान्त, स्निग्ध और संयत है। भरत के विषय में यह निर्णय करना भी असंभव है कि उन्हें धर्म से अधिक प्रेम था या राम से[2]। राम की भी भरत और लक्ष्मण के प्रति भिन्न भावनायें है, लक्ष्मण के प्रति उनका वात्सल्य है और भरत के प्रति श्रद्धा तथा समादर।

भरत के चरित्रचित्रण में भी तुलसी ने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया है, विस्तार और उत्कर्ष अवश्य किया है। इसलिये उसमें भी निश्चित रूप से नवीनता दिखलाई पडती है। अपनी आदर्शात्मक पद्धति के अनुसार तुलसी ने भरत के गुणों का विस्तार किया है और उनकी त्रुटियों को न्यूनतम परिमाण में प्रस्तुत किया है। साथ ही, अपने काव्य के उद्देश्य और अपनी नीतिपरक शैली के अनुसार भरत के चरित्र से शिक्षा-ग्रहण करने का उपदेश भी अनेक बार दिया है और राम सहित अनेक पात्रो के मुख से यह उपदेश दिलाया है। इस विषय में सभी विद्वान सहमत हैं कि उन्होने आधार ग्रंथों की अपेक्षा भरत के चरित्र का उत्कर्ष किया है[3]।

भरत के चरित्र के आधार पर हम दोनों कवियों के आदर्शवाद और यथार्थवाद का अन्तर समझने का अवसर प्राप्त कर सकते हैं। पहले हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि एक परिपूर्ण आदर्श को तुलसी ने किस प्रकार आगे बढ़ाया है और फिर यह देखेंगे कि यथार्थ की सीमायें उन्होंने किस प्रकार बांधी हैं।

---

१. अगम सनेह भरत रघुबर को। जहं न जाइ मनु बिधि हरिहर को॥ (२.२४१)

२. भरत अमित महिमा सुनु रानी! जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥
देवि परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥ (२.२८८)

३ शंभुनाथ सिंह (हिन्दी महाकाव्य०), पृ० ५४२, तथा डा० मा० प्र० गुप्त (तुलसीदास) पृ० २९०

आदर्शवाद--आदिकाव्य में भी भरत के सतोगुणी स्वभाव और धर्मतत्परता की प्रशंसा उनसे सम्बन्धित सभी पात्रों ने की है। दशरथ उन्हें धर्मक्षेत्र में राम से भी बढ़कर मानते हैं,[१] कौशल्या उन्हें सत्य-प्रतिज्ञ कहती हैं,[२] भरद्वाज अपने योगबल से उनके वास्तविक मनोभाव को पहले ही समझते थे और उन्होंने केवल लोकशिक्षा के विचार से उन पर शंका प्रकट की थी,[३] निषादराज उन्हें धराधाम पर अद्वितीय कीर्ति वाला मानते हैं,[४] राम उनकी राज्य-विषयक निस्पृहता को अच्छी तरह समझते हैं,[५] लक्ष्मण भी अपनी भूल समझ कर लज्जा से सिकुड़ जाते हैं,[६] और कवि वाल्मीकि भी उन्हे आकाश की तरह निर्मल स्वभाव वाला बतलाते हैं[७]। स्पष्ट है कि सर्वसम्मति से भरत का आदर्श उच्चतम है, परन्तु इन्हीं सब पात्रों के द्वारा वाल्मीकि ने भरत पर शंका किया जाना भी दिखलाया है। भरद्वाज भी उन पर व्यक्त रूप में शंका करते हैं,[८] यहा तक कि राम ने भी उन पर अनेक बार अविश्वास प्रकट किया है।[९] दशरथ उन्हे दाहसंस्कार के अधिकार तक से वचित करते है (२.१२.६४)। यही है वाल्मीकि की यथार्थ और आदर्श के सामंजस्य की पद्धति। भरत उनके सब से अधिक आदर्श पात्र हैं, उनका चरित्र पूर्णतया निष्कलंक है, फिर भी वह मानव-समाज के आक्षेपों और आशंकाओं से मुक्त नहीं हैं। उनके आदर्श की कोमल गद्दी यथार्थ की ही कठोर चौकी पर विछाई गई है।

मानस में भरत के चरित्र पर शंका करना पाप के तुल्य है[१०] भरद्वाज उन्हे राम के प्रेम का साक्षात् स्वरूप कहते हैं,[११] उनके यश को निष्कलंक चन्द्रमा बतलाते हैं[१२] निषादराज उनपर शंका करके ज्योंही अवरोध की तैयारी करते है कि छींक होती है[१३] और राम को तो भरत पर अपने से भी अधिक विश्वास है।[१४] उनका

---

१. रा० २.१२.६१-६२।
२. वही, ७५.६२।
३. वही, ६०.२१।
४. वही, ८५.१२।
५. वही, ६७.१८।
६. वही, ९९।
७. वही, ८५.८।
८. वही, ९०.१०।
९. सीता-सम्वाद (२.२६.२४–२७), भरत-सम्वाद (२.१००), लक्ष्मण-सम्वाद (२.५३.११) तथा हनुमान-सम्वाद (६.१२८.११-१७)।
१०. कान मूंदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा।। सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहुं प्रान पियारे।।—(२.४८), तथा—उर आनत तुम पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई।।—(२.२६३)।
११ मा० २ २०
१२ वही २०९

विश्वास है कि प्राकृतिक नियमों में विपर्यय हो सकता है, परन्तु भरत की प्रकृति में नहीं[1]। तुलसी ने भरत पर शंका करने वाले व्यक्तियों और अवसरों की संख्या घटा दी है तथा प्रशंसा करने वाले व्यक्तियों और सम्बन्धित अवसरों की संख्या बढ़ा दी है। शंका करने वालों में केवल लक्ष्मण और निषाद है और प्रशंसा करने वालों में भरद्वाज के अतिरिक्त वसिष्ठ,[2] जनक[3] और देवगुरु बृहस्पति भी हैं[4]। देवगुरु भरत को राम की परछाहीं मानते हैं। साक्षात् सरस्वती भी मानस के भरत की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं और उनके चरित्र को अमेय तथा अगम्य बतलाती हैं[5]। चित्रकूट की सभा में आदि से अन्त तक भरत का ही जयनाद सुनाई पड़ता है। अतः विद्वानों का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि मानस के अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्ध के कथानायक भरत ही हैं।[6]

यही है तुलसी का आदर्शवाद। भरत के चरित्र में उन्हें जनजीवन के लिए इतनी नैतिक सामग्री मिली है[7] कि सबसे अधिक प्रशंसा भरत की ही की गई है। इस आदर्शवाद की दो शैलियाँ दिखलाई पड़ती हैं—पौराणिक अर्थात् उपदेशात्मक और अलंकृत अर्थात् अत्युक्तिमूलक। दोनों के दो-दो उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(अ) १. पात्र (राम) के मुख से परोक्ष उपदेश—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥ (२.२६३)

२. स्वयं कवि द्वारा प्रत्यक्ष उपदेश :—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होई भवरस बिरति॥ (२.३२६)

(आ) १. भरत-चरित की अनिर्वचनीयता (अत्युक्ति)—

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति होचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥
(२.२८३)

(इसी प्रकार के अन्य उदाहरण २.२९५.६ तथा ३२५.८)

२. विशिष्ट अलंकार के आश्रय से अत्युक्ति :—

नव विधु विमल तात जस तोरा (२.२०९)

"जग जप राम राम जप जेही" (२.२१८), सो तुम करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू (वही २०९)।

१. वही, २३२।

२. भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबलासी॥-(वही, २५७)।

३. वही २८९।

४. वही २६६।

५. मा० २.२९५ तथा २८३।

६. दे० तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त, पृ० २९०।

७. भरत कथा भव-बंध बिमोचनि (२.२८८)।

(इसमें सम्बन्धातिशयोक्ति के आश्रय से परम्परित रूपक का बंधान है)

वाल्मीकि का आदर्शवाद इनमें से एक भी शैली का आश्रय नहीं लेता। चरित्र विषयक अत्युक्ति उन्होंने बहुत कम की है और प्रत्यक्ष उपदेश कहीं नहीं दिया है।

यथार्थवाद—अब भरत के ही चरित्र के आधार पर दोनों कवियों के यथार्थवाद की सीमाओं को भी देख लेना आवश्यक है, अर्थात् अपने पात्र के दोषों का निर्वाह वे किस प्रकार करते हैं। भरत के चरित्र में मुख्य दोष है—माता को अमर्यादित अपशब्द कहना और अत्यधिक अनादर करना। दोनों काव्यों में भरत इस लांछन के भागी हैं, परन्तु यहां भी परिमाण का भेद है। वाल्मीकि में यथार्थ का परिमाण अधिक है और तुलसी में कम। वा० रामायण के भरत कैकेयी का वध ही कर डालते यदि उन्हें राम का भय न होता,[1] परन्तु मानस के भरत गालियां दे कर ही रह जाते हैं जिसके लिए वे बाद में पछताते भी हैं।[2] वा० रामायण के भरत में मानस के भरत की अपेक्षा उग्रता अधिक है और उदारता कम। अयोध्या के दूतों से भी उन्होंने माता के विषय में निन्दा सहित प्रश्न किया था (२.७०.१०)। वे बाद में भी कैकेयी की निन्दा करते है,—भरद्वाज के सामने[3] और चित्रकूट की सभा में[4]। उन्हें इस बात का, मानस के भरत की अपेक्षा, अधिक दुःख है कि कैकेयी के किये को मुझे भरना पड़ रहा है (२.७४.११)। वे राम के सामने भी यह कहने से नहीं चूकते कि मैं कैकेयी को मार ही डालता यदि मुझे पाप का भय न होता[5]। परन्तु, मानस के भरत उसे एक बार गालियां सुना कर और इसे विधाता का अतिचार समझ कर कैकेयी के प्रति सहानुभूति धारण कर लेते है।[6] इस प्रकार भरत के दोष की गुरुता मानसकार ने कम कर दी है। गीतावली में उन्होंने मानस के भरत-चरित्र का मार्जन कर लेने की अपनी सफलता भरत की इन उक्तियों में घोषित की है :—

अइहैं राम सुखी जग ह्वै है, ईस अजसु मेरो हरि है।
तुलसिदास मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौन विधि भरि है॥

(गीतावली, २ ६०)

वस्तुतः यह दोष भी भरत के आदर्श से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार की अशिष्टता, अधैर्य और उग्रता उनके शीलस्वभाव का अंग नहीं है। किसी अन्य अवसर पर उन्होंने ऐसा व्यवहार नहीं किया है, विशेष कर मानस मे उनकी मुख्य भावना कैकेयी के तिरस्कार की नहीं है, राम-प्रेम और धर्मप्रेम की है, जिस कारण वे

---

१. हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन मातृघातकम्॥ (२.७८.२२)।
२. बिनु समझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू॥ (२.२६१)।
३. रा० २.९२.२४—२८।
४. वही, १०६.८-९।
५. वही।
६. मा० २.२६१.१।

समाज के प्रतिनिधि के रूप में कैकेयी को गाली देते है। कैकेयी के आचरण के कारण उन्हें लांछित होना पड़ा और उनके कारण ही राम को बनवास मिला, यह वैयक्तिक भाव भी भरत की विक्षुब्धता के मूल मे है, परन्तु मुख्य भाव यह है कि कैकेयी के कारण रघुवंश की कीर्ति दूषित हुई और समस्त राज्य को हानि उठानी पड़ी। यही भरत की मूल प्रकृति अर्थात् व्यापक धर्म-भावना है। संकीर्ण दृष्टि अर्थात् कुलधर्म की सीमित परिधि या परिवार धर्म के विचार से उनका यह आचरण आक्षेप योग्य है परन्तु व्यापक दृष्टि अर्थात् समाजधर्म, लोकधर्म या पूर्णधर्म के विचार से उनका यह आचरण आक्षेप से मुक्त है। "यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु बचन तक न कहते तो उनके राम-प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का, उनकी मनोवृत्तियो के बीच क्या स्थान दिखलाई पडता ?"[1]

वा० रामायण के भरत में उच्च मर्यादावादी दृष्टि से एक और त्रुटि दिखलाई पडती है जिसका परिष्कार मानसकार करता हुआ प्रतीत होता है। वे चित्रकूट की सभा में राम पर एक प्रकार का आत्मिक बल-प्रयोग करते हैं, धरना देते और अनशन करते है[2]। मानस में यह प्रसंग नहीं है। यह राम का निरादर था, यह भरत का भी निरादर है, क्योंकि यह "सत्याग्रह" नहीं था। उसमें व्यक्तिगत मोह,—चाहे राम का प्रेम और चाहे अपने धर्म-यश का प्रेम—ही प्रधान था, इसमें वह व्यापक लोकधर्म नहीं था जिसका प्रकाशन मानस में हुआ है। मानस के भरत को मर्यादा का अधिक ध्यान है। वे तो राम के सामने मुंह भी नही उठाते। वे सेवक के धर्म को कैलाश पर्वत से भी गुरुतर समझते हैं[3]। वे राम के मर्म को वा० रामायण के भरत की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से समझते है, अतः राम उन पर विश्वासपूर्वक सब कुछ छोड़ देते है।[4] राम की आज्ञा भरत का सर्वस्व है, उसीमे उनके सारे समाधान विद्यमान है।[5] ऐसी स्थिति में अनशन और धरने का प्रश्न ही कहां उठता है ? मानस के भरत और राम की प्रीति इसीलिए अगम्य है। उसके मूल में एक तीव्र अनुभूति है जिसने भरत के चरित्र को और अधिक चमका दिया है। डा० माताप्रसाद के विचारानुसार तुलसी ने आदि कवि के भरत-चरित को भी आवेश और विक्षोभ से मुक्त करके उज्ज्वलतर रूप मे प्रस्तुत किया है।[6] इस प्रकार मानस में भरत की भायप भगति केवल काव्य-क्षेत्र की वस्तु न रह कर व्यापक धर्मक्षेत्र की वस्तु बन गई है।

---

१. रा० शुक्ल, चिन्तामणि, भाग १, पृ० २१० ।
२. रा० २.१११ ।
३. हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू (२.२५३) ।
४. मा० २.२५९ तथा दो० २६४ ।
५. वही दो० २६९ तथा "अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा ।। (२.३०१.४) ।
६. दे० तुलसीदास, पृ० २८५, पृ० २८६ टिप्पणी ३, तथा "तुलसीदास भरत के इस चरित्र को उठाते हैं पृष्ठ २९०

तुलसी की मौलिकता—तुलसी मानस के भरत को वाल्मीकि के भरत से कुछ आगे बढ़ा कर लाये है, यही उनकी मौलिकता है। आगे लाने के लिये उन्होंने कथातत्व का भी विस्तार किया है और चरित्र-तत्व का भी। भरत के भी बाल्यजीवन की भूमिका उन्होंने अन्य पात्रों के समान प्रस्तुत की है। वे शिशुपन से ही राम के साथ रहे हैं। राम ने कभी उनका मन भंग नहीं किया है, हारते हुए भी उन्हें जिता दिया है।[१] जनकपुर का दूत जब पाती लेकर पहुंचता है तो कुमार-सुलभ जिज्ञासा से भरत-शत्रुघ्न ने पूछा था कि "पिता यह पाती कहां से आई है?"[२] अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्ध की समस्त कथा भरत के चरित्र से आलोकित है ही और उस काण्ड का अन्त भी नन्दिग्राम के गृहस्थ-तपस्वी की भव्य झांकी से इसीलिये किया गया है कि श्रोता-पाठक के मन पर भरत-भाव की अमिश्रित छाप पड़े। चित्रकूट-सभा के प्रस्तावों में भी नवीनता है। इस प्रकार के प्रस्ताव भी रक्खे जाते हैं कि भरत-शत्रुघ्न या भरत और राम अथवा लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न वन को जायें तथा राम और सीता अयोध्या लौट आवें,[३] अथवा केवल भरत ही जन्म भर के लिये वनवास करें।[४] भरत के द्वारा अयोध्या से अभिषेक-सामग्री लाई जाने की[५] और उसे वहीं वन में प्रतिष्ठित करने की तथा भरत-कूप की कल्पनाये भी नवीन है।[६] द्रोणाचल लेकर हनुमान के जाते समय भरत के बाण का प्रताप भी दिखलाया गया है। वा० रामायण के एक संस्करण में हनुमान के प्रति भरत द्वारा बाण-संधान का प्रसंग तो है[७] परन्तु गिराने और बाण पर बैठा कर शीघ्र भेजने के प्रस्ताव का प्रसंग तुलसी की ही मौलिक कल्पना है।[८] इस प्रकार भरत के प्रति अधिक ध्यान आकृष्ट करने के लिये तुलसी ने कथांशों में वृद्धि की है।

चरित्र-तत्व में उन्होंने भरत की बुद्धिमत्ता का विस्तार किया है और वाग्मिता की मौलिक कल्पना की है।[९] वा० रामायण में हनुमान की वाग्मिता की विशेष प्रशंसा हुई है[१०] परन्तु मानस में भरत की। उनकी बुद्धि की थाह वशिष्ठ जैसे पंडित,[११] जनक

---

१. मा० २.३६० ।
२. वही १.२९०.८ ।
३. मा० २. दो० २६८ तथा २६९.१ ।
४. कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू (२.२५६) ।
५. तिलक समाजु साजि सब आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥ (२.२६८) ।
६. वही, ३०७, ३०८ तथा ३१० ।
७. वंगीय संस्करण ६.८२ ।
८. मा० ६.५८-६० ।
९. भरत की वाग्मिता का भी आदि सूत्र आदिकाव्य में दिखलाई पड़ता है। उन्हें राम ने "वदतांवर" कहा है (२.१०५.४०), इसके अतिरिक्त उनके वार्तालाप में तो, विशेष कर कौशल्या-सम्वाद (रा० २.७५) में वाग्मिता है ही।
१० रा० ४ ३ (दा० संस्करण)
११ मा० २ २५७ २

जैसे ज्ञानी[1] और स्वयं राम भी नही पा सकते हैं।[2] स्वयं बुद्धि और वाणी की देवी सरस्वती उनके इन दो गुणों की थाह नहीं पा सकती हैं।[3] उनकी वाणी में निष्पक्षता, विवेक, नीति, न्याय[4] आदि भावतत्व तथा सुगमता, अगमता, मृदुता, मंजुता, संक्षिप्तता और ध्वन्यात्मकता आदि कला तत्वों का सहज सामंजस्य विद्यमान था।[5] यही है तुलसी की मौलिकता। यहां तक कला का भी उत्कर्ष है, परन्तु जब तुलसी इससे भी आगे बढते है और उपदेश देने लगते हैं तो भटक जाते हैं और कला या काव्य के क्षेत्र से धर्म एवं पुराण के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं।

राम ही तुलसी के आराध्य नहीं है, वरन् सारा ही राम-परिवार एवं समस्त अवध-समाज उनका आराध्य है जिसकी वन्दना उन्होंने प्रस्तावना में की है। इन आराध्यों के सिंहासन एक सोपान पर नहीं है, उनमें ऊंचाई-नीचाई है। भरत का सिंहासन राम के समीपतम है। कभी-कभी धोखा होता है कि वह राम से भी ऊपर है। अयोध्याकाण्ड में तो भरत ही तुलसीदास की ध्यान मूर्ति हैं।[6] उनकी भक्ति का चरम आदर्श भरत या हनुमान में प्रतिफलित हुआ है। वा० रामायण में यौवराज्य भरत को प्रदान किया गया है,[7] परन्तु तुलसी इस विषय में मौन है क्योंकि उन्हें तो भरत को भक्त के मानस-सिंहासन पर राम के समकक्ष ही बैठाना है। आराध्य के रूप मे उन्होंने राम की महिमा गाई है और आराधक के रूप में भरत की। कहीं-कहीं उन्होने आराधक का गौरव आराध्य से भी ऊपर उठा दिया है।[8] आदर्श भक्त के सभी गुण उनमें है। "पद्मपत्रमिवाम्भसा" का साक्षात् चित्र भरत का चरित्र है। वा० रामायण मे भी भरत की वृत्ति वैराग्यमयी है परन्तु मानस में उसका और अधिक विस्तार हुआ है जिसे तुलसीदास ने रूपक के रौप्य पिंजर में प्रस्तुत किया है—

संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरा राखे भा भिनुसार॥ (२. २१५)

अपने मनचीते पात्रों का पूर्ण आदर्श प्रसारित करके उनकी पूजा करने लगना और उसके लिये दूसरों को भी निमंत्रित करना, और आग्रह तथा उत्कट आग्रह करना तुलसी के चरित-विधान की शक्ति भी है और दुर्बलता भी। उनकी कला का धर्मतत्व से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। भरत के चरितनिरूपण में उनकी काव्यकला और धर्म-

---

१. वही, २८६।
२. जानहिं राम न सकहिं बखानी, वही।
३. वही, २८३ तथा २९५।
४. वही, २९७.८।
५. वही, २९४.२-३।
६. "अयोध्याकाण्ड में भरत की भूमिका अद्भुत है। भरत जी तुलसीदास की ध्यान मूर्ति है।" —कल्याण, रामायणांक, जुलाई १९३०, पृ० ५०३।
७. रा० ६.१३१।
८. भरत के प्रति प्रकृति तक की श्रद्धा उन्होंने राम से अधिक दिखलाई है दे० २ दो० २१६

बुद्धि का अद्भुत सामंजस्य दिखलाई पड़ता है। "कवि ने अपने हृदय का सम्पूर्ण रस ढाल कर भरत के प्रेम और शील का चित्रण किया है"।[1]

दशरथ

वा० रामायण विश्व का भव्यतम एवं अधिकतम अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण महाकाव्य है।[2] इस कारण इसमें किया गया चरित्रचित्रण भी अनेक स्थलों पर अस्पष्ट है और कुछ पात्रों का व्यक्तित्व जटिल तथा उनका चरित्र एक पहेली बन गया है। उनमें आदर्श और यथार्थ का विचित्र सम्मिश्रण है जिस कारण उनके विषय में निश्चित धारणा बना सकना कठिन है। ऐसी स्थिति में विचारकों में मतभेद होना स्वाभाविक है। दशरथ का चरित्र एक ऐसा ही चरित्र है। भरत का चरित्र आदर्श प्रमुख है, लक्ष्मण में यथार्थ है परन्तु उनकी भी परिणति आदर्श में हीं होती है। हनुमान भी आदर्श पात्र हैं। इन पात्रों में ऐसी कोई जटिलता नही है कि उनके विषय में निश्चित धारणा न बनाई जा सके। राम में जटिलता है, उनके मानवत्व और ईश्वरत्व की सीमाओं को पृथक कर पाना कठिन पड़ता है, फिर भी उनके विषय में सब की भावना एक ही है— श्रद्धा। दशरथ का चरित्र उपरोक्त पात्रों जैसा स्पष्ट नहीं है। उनकी सत्यनिष्ठा और प्रतिज्ञापालन के विषय में मन में अनेक शंकायें उठती हैं और एक ही व्यक्ति उनके प्रति विरक्ति, तिरस्कार, उपेक्षा, श्रद्धा और सहानुभूति रख सकता है। एक ओर जनता उनके स्त्री-प्रेम या स्त्रैणता[3] की निन्दा कर सकती है, दूसरी ओर पिताओं में दशरथ उसी प्रकार आदर्श है जिस प्रकार पुत्रों में राम, और तीसरी ओर आदर्श राजा या महापुरुष के रूप में उनका प्रतिज्ञापालन या सत्यनिष्ठा एक बहुचर्चित गुण है। अत: दशरथ के विषय मे विद्वानों की विविध एवं परस्पर विरोधी सम्मतिया है और यह स्थिति वाल्मीकि और तुलसी दोनों के ही चित्रण के सम्बन्ध में हैं।

दोनों काव्यों में दशरथ का चरित्र तीन प्रवृत्तियों पर आधारित है—स्त्री-प्रेम, पुत्र-प्रेम और प्रतिष्ठा अथवा प्रतिज्ञा-पालन या सत्य-प्रेम। ये तीन प्रवृत्तिया तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण की प्रतिनिधि भी कही जा सकती हैं। दशरथ के कैकेयी-प्रेम में तमोगुण का आभास बहुपत्नीत्व, 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' और राज-महिषी कौशल्या की उपेक्षा के कारण होता है। राम के प्रति उनके प्रेम में रजोगुण का आभास अन्य तीन पुत्रों की अपेक्षा उन्हें अधिक प्रेम करने और उनके लिये छल-बल का प्रयोग करने के कारण होता है। पुत्र के लिये प्राण-परित्याग केवल वैयक्तिक

---

१. हिन्दी महाकाव्य०, पृ० ५४२।

२. "The grandest and most paradoxical poem in the world" श्री अरविन्द, इंडियन इन्हेरिटेंस, भाग १, पृ० ११३ तथा "In fact the entire career of Ram seems to be a clueless puzzle"—एन० आर० नवलेकर, (ए न्यू एप्रोच०, भूमिका पृ० ८।

३ दे० गो० तुलसीदास रा० च० शुक्ल पृ० १३७

आदर्श है, व्यापक क्षेत्र में उसका अधिक महत्व नहीं है। अतः इसे रजोगुण के अंतर्गत ही कह सकते हैं। उनका सत्य-प्रेम विशुद्ध सतोगुण है, अखिल मानव-समुदाय के लिये उसका महत्व है। दशरथ का चरित्र तम से रज और रज से सत की ओर बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है, अतः यह भी आदर्श चरित्र है। कैकेयी से अधिक उन्हें राम प्रिय थे जैसा कि कथा से प्रकट ही है। अतः राम के लिये उन्होंने कैकेयी का सदैव के लिये परित्याग कर दिया।[१] राम से अधिक उन्हें सत्य प्रिय था, अतः सत्य के लिये उन्होंने राम का परित्याग कर दिया।[२] उन्होने अपना बलिदान राम के लिये नहीं, वरन् सत्य के लिये किया। वे चाहते तो राम को रोक सकते थे, परन्तु तब सत्य चला जाता। उन्होने राम को नहीं रोका, प्राणों को जाने दिया, और सत्य की रक्षा की,—यही उनका आदर्श है। वा० रामायण से लेकर मानस तक दशरथ के चरित्र की यही आधारभूत रूपरेखा है।

दशरथ के चरित्र-निरूपण में वाल्मीकि और तुलसी में कोई मतभेद नहीं है, चित्रण की शैली में अवश्य अन्तर है। वाल्मीकि ने दशरथ के मानवीय मनोद्वन्द्व तथा यथार्थ और आदर्श प्रवृत्तियों के संघर्ष का चित्रण विस्तार और सूक्ष्मता के साथ किया है, परन्तु तुलसी ने इस चरित्र को भी आदर्श की ओर ही अधिक ढुलकने दिया है।[३] मानस के दशरथ हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों को अधिक दबाते हैं। वाल्मीकि के दशरथ का विक्षोभ और कैकेयी के प्रति कोप एवं घृणा या विरक्ति अधिक उग्र है, वे उसके पुत्र को पिता के दाहकर्म तक से वंचित करने का विचार करते हैं,[४] वे भरत और कैकेयी को वंचित करने के लिये सारी संपदा और सेना राम के साथ भेज कर अयोध्या के राज्य को सूना कर देना चाहते थे[५], राम के रथ के पीछे दूर तक जाते है,[६] उनकी मृत्यु में भी गहरे विषाद का पुट है। तुलसी के दशरथ के विक्षोभ में तीव्रता तो कम नहीं है, विशदता अवश्य कम है। कैकेयी के प्रति उनकी विरक्ति भी उतनी उग्र नहीं है जितनी वा० रामायण में। वा० रामायण के अन्य प्रसंग मानस में नहीं हैं क्योंकि वे सत्यसंध नरेश और राम के पिता की मर्यादा के विरुद्ध हैं। मानस मे दशरथ की मृत्यु का विषाद शान्ति के आवरण में लिपटा हुआ है।

---

१. राम के वनगमन के बाद वे कौशल्या के महल में ही रहे, वहीं उन्होंने प्राण-परित्याग किया। इस प्रकार कैकेयी से उनका सम्बन्ध-विच्छेद सा ही हो गया।

२. राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी —मा० २.२६४।

३. नियम का सम्बन्ध विवेक से है और शील का हृदय से (नियम अर्थात् प्रतिज्ञा-पालन और शील अर्थात् पुत्र प्रेम) दशरथ के सामने दोनो पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यों कहिये कि नियम की ओर पलड़ा कुछ झुकता हुआ था।—रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास, पृ० १३५।

४. रा० २.१२.९४।

५. वही, २.३६। वे शेक्सपीयर की पोर्शिया जैसी दलील देते हैं कि वरदान में यह तो नहीं मांगा गया था कि राम खाली हाथों वन को जायें (श्लो० १४)

६ वही, २ ४० २८

राम-प्रेम या पुत्र-प्रेम और सत्य-प्रेम दशरथ-चरित के आदर्शात्मक पक्ष हैं और कैकेयी-प्रेम उनके चरित्र की वह दुर्बलता है जिसके अन्धकार में अन्य दो आदर्शात्मक प्रवृत्तियों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। दशरथ की इस तामसिक कामुकता का चित्रण दोनों कवियों ने किया है, केवल परिणाम या विस्तार का अन्तर है। पुत्र के यौवराज्य से पिछली निशा को दशरथ वासना से भरे हुए कैकेयी के पास पहुंचते है,[1] कोपभवन के समाचार से सूख जाते हैं और एक स्त्री के लिये सब कुछ कर डालने को तैयार हो जाते हैं। मर्यादावादी कवि और भक्त तुलसी ने थोडी ही पंक्तियों में एक कामुक के उद्‌गारों को अत्यन्त सजीव चित्रात्मक रूप में प्रस्तुत किया है।[2] इस चित्रण में व्यंग्य नहीं है, उपहास नहीं है, वरन् सहानुभूति छिपी हुई है। अतः दशरथ के चरित्रचित्रण मे, अपनी आदर्शात्मक पद्धति का निर्वाह करते हुए भी, तुलसी ने यथार्थवाद को यथोचित स्थान दिया है।

अब दशरथ के चरित्रचित्रण में जो अन्तर्विरोध या असंगति दिखलाई पडती है, उस पर विचार करना आवश्यक है। इस असंगति के तीन कारण है। प्रथम तो, यह असंगति स्वयं मूलकथा में विद्यमान है। द्वितीय, वाल्मीकि और तुलसी दोनों पक्षपात वश या कथात्मक अस्पष्टता के कारण बचकर निकलते हुए से दिखलाई पडते है। तीसरा कारण स्वयं जनता और आलोचक की अपनी अभिरुचि और मनस्थिति भी है।

मूलकथा मे दशरथ-चरित से सम्बन्धित प्रसंग में निम्नलिखित असंगतियाँ दिखलाई पड़ती है:—

१. विवाह होते ही भरत को ननिहाल भेज देना।

२. अभिषेक के लिये अनावश्यक त्वरा।

३. अन्य राजाओं को एकत्र कर लेना और मिथिलेश तथा कैकय-नरेश को न बुला पाना।

४. एकान्त में राम से कहना कि भरत के लौटने से पहले ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना चाहिए।

५. कैकेयी के पिता से की गई प्रतिज्ञा को छिपाना और स्वयं कैकेयी, उसके भाई, पिता, मंथरा आदि के द्वारा यह प्रसंग न उठाया जाना।

६. कैकेयी से राम के यौवराज्य के विषय में परामर्श न करना, और कौशल्या सुमित्रा आदि को इसकी सूचना मिल जाना।

इन विषयों में दोनों ही कवियों ने कथानक के अंतर्गत स्थिति को स्पष्ट नही किया है। हो सकता है कि ननिहाल भेजने में कोई छल न हो, परन्तु फिर दशरथ उस

---

१. स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थ मनुजाधिपः (२.१०.१७)। तुलसी ने इतना स्पष्ट नहीं लिखा है लेकिन उस समय की परिस्थिति और वार्तालाप से ऐसा ही सूचित होता है (दे० २.२५ तथा २६)।

२ मा० २ दो० २५ तथा २६ १

स्थिति का लाभ क्यों उठाना चाहते हैं ? वा० रामायण में यह भी कहा गया है कि कैकेयी ने स्वयं ही भरत को भेज दिया था या उसकी सम्मति से ही भरत गये थे।[1] दोनों ही काव्यों में कैकेयी का राम-प्रेम प्रकट है,[2] फिर दशरथ को छल करने की क्या आवश्यकता थी ? मानस में दशरथ उस अवसर पर भरत को स्मरण तक नहीं करते, यद्यपि राम करते हैं (२.७)। विश्लेषण करने पर ऐसा पता चलता है कि मानस की अपेक्षा वा० रामायण में स्थिति अधिक अस्पष्ट है अथवा वाल्मीकि का मत कुछ अनिश्चित है जबकि तुलसी का दृष्टिकोण, भले ही वह आदर्शात्मक अधिक है और उसमें उन्हे "कलात्मक दृष्टि से सफलता नहीं मिली है,"[3] स्थिर और निश्चित है। वे इसमें कोई छल नहीं मानते, शंकायें नहीं उठने देते, जबकि वाल्मीकि छल मानते हुए प्रतीत होते हैं और शंकायें उठने देते हैं।

वा० रामायण में दशरथ राम को एकान्त में बुला कर अपनी योजना समझाते है,[4] मानस में वे ऐसा नहीं करते। वा० रामायण में दशरथ की विवाह के समय की प्रतिज्ञा का उल्लेख किया गया है,[5] मानस में नहीं। यदि इस प्रतिज्ञा का कोई महत्व था तो केवल एक श्लोक में ही इसका उल्लेख क्यों किया गया[6] और मंथरा, कैकेयी आदि को इस विषय में कैसे चुप रक्खा गया ?[7] यदि दशरथ छल कर रहे थे और सावधानी से योजना बना रहे थे तो फिर उन्हे वर प्रदान करने के समय भी सावधान रहना चाहिये था। वे राम की सौगन्ध क्यों खा लेते हैं और वर देने को क्यो तैयार होते है ? उन्हें परिषद की सम्मति मिल चुकी थी, जनमत का पता चल चुका था, भरत के चरित्र पर भी उन्हें विश्वास था, फिर उन्होने कैकेयी को दिये गये वरदानों को इतना महत्व ही क्यों दिया ? उनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा भंग हो सकती थी परन्तु न तो उन्हें राम के बिछोह का शोक सहना पड़ता और न परिवार तथा राज्य की ऐसी दुर्गति होती। ये प्रश्न वा० रामायण में उठते हैं।

मानसकार के निश्चित मत और आदर्शात्मक पद्धति के कारण ये प्रश्न नहीं उठते। मानस के दशरथ के मन में कोई योजना नहीं थी यह बात निम्नलिखित आधारो से स्पष्ट हो जाती है—

१. दशरथ के मन में यह विचार सहसा ही उठा था और शुभ घड़ी के

---

१. रा० २.८.२८।
२. रा० वही श्लो० १४-१६ तथा मा० २.१५।
३. दे० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० २६५।
४. रा० २.४.२५।
५. रा० २.१०७.३।
६. वही। इस विषय में वाल्मीकि पर श्री नावलेकर की आपत्ति यह है कि उन्हें इसका विस्तार करना चाहिये था और उचित स्थान पर उल्लेख करना चाहिये था—दे० ए न्यू एप्रोच, पृ० ५८-५९।
७. दे० श्री वी० एस० एस० शास्त्री का मत लेक्चर्स आन रामायण पृ० १०५

विचार से वे जल्दी कर रहे थे।[1] अथवा, वृद्धावस्था के कारण उन्हें यह त्वरा थी।[2]

२. वे कैकेयी के समक्ष अपनी भूल स्वीकार करते हैं कि उमसे परामर्श नहीं किया गया।[3] उसे विश्वास दिलाते हैं कि इसमें कौशल्या का कोई हाथ नहीं है।[4]

३. उन्हें भरत के राज्याभिषेक पर कोई आपत्ति नहीं है, वे प्रसन्नता से यह शुभकार्य सम्पन्न करना चाहते हैं[5], परन्तु राम को वनवास देना उन्हें सर्वथा अनुचित लगता है।[6] भरत और राम में उनके लिये कोई अन्तर नहीं है, वे दोनों उनकी दो आंखों के समान हैं। वे केवल बड़े छोटे का विचार करते हुए यह कार्य कर रहे थे।[7]

४. वे कैकेयी की भर्त्सना करते हैं, परन्तु वा० रामायण के समान राम के वन-प्रस्थान के समय अयोध्या को सम्पत्ति-हीन करके उसके साथ छल करना नहीं चाहते।

दशरथ के पक्ष और विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा जा सकता है और वाल्मीकि तथा तुलसी के भी, परन्तु प्रश्न का समाधान नहीं होता क्योंकि इसमें मानव-चरित्र की अपेक्षा नियति की ही प्रधानता है। यह प्रसंग रामकथा के पूर्वार्ध का प्राण है, इसकी असंगति में ही कथा का रस है। तुलसी ने उस असंगति से छेड़छाड़ नहीं की है और सरल स्वभाव से नियति की विजय घोषित कर दी है।[8] इसके अतिरिक्त उनकी अवतारवादी प्रस्तावना भी उनका मुख्य सम्बल है जिस कारण यह सब कुछ राम की इच्छा से, देवकार्य और भू-भार उतारने के लिये हो रहा है। स्वयं दशरथ भी तो अपने पूर्वजन्म में तप करके ऐसी ही मृत्यु की याचना कर चुके थे।[9] ऐसी मृत्यु तो बड़े भाग्यवानों को मिलती है, फिर विषाद का अवसर ही कहां ? इसीलिये हमने पहले कहा है कि मानस में दशरथ की मृत्यु का विषाद शान्ति के आवरण में लिपटा हुआ है।

वाल्मीकि के दशरथ के चरित्र के विषय में आपत्तियां उठाई गई हैं,[10] परन्तु मानस के आलोचकों ने तर्कवाद की कसौटी पर दशरथ के चरित्र को रखने की

---

१. मा० २.२ तथा दो० ४।
२. वही, २.४।
३. मैं सब कीन्ह तोहि बिन पूछे। तेहि तें परेउ मनोरथ छूछे। (२.३२.२)
४. २.३२।
५. मा० २.?१।
६. वही, ३२.४।
७. वही दो० ३१।
८. दे० मा० २.४८ तथा ४९.१ तथा दो० १७१।
९. मा० १.१४२-१५१, मनु-शतरूपा प्रसंग में।
१०. श्री नावलेकर का विचार है कि वाल्मीकि ने दशरथ की विवाह-समय की प्रतिज्ञा को प्रकाशित करते हुए इस प्रसंग को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया होगा जिसे ने प्रक्षिप्त करके अस्पष्ट बना दिया है (दे० ए न्यू एप्रोच पृ० ५६) परन्तु डा० बुल्के दा नाकोबी

आवश्यकता ही नही समझी है और वह रक्खा भी नहीं जा सकता।[१] स्वयं वाल्मीकि के आलोचकों के इस विषय में विभिन्न मत हैं। एक इसे वाल्मीकि की अक्षमता या कथावाचकों का जाल मानते हैं,[२] दूसरे दशरथ की चारित्रिक दुर्बलता[३] और तीसरे न वाल्मीकि की अक्षमता मानते है और न दशरथ की दुर्बलता।[४] मानस के आलोचक यदि वा० रामायण से तुलना करें तो उन्हें वहां अधिक असंगति दिखलाई पड़ेगी। अतः दशरथ के चरित्र की एक ही सर्वसम्मत परिभाषा की जा सकती है कि यह एक शोकपर्यवसायी जीवन-कथा है जिसका नायक समवेदना का पात्र है क्योकि वह अपनी त्रुटियों से अनवगत है और उनके लिये उत्तरदायी नही है।[५] इस रूप में दोनो काव्यों के दशरथ एक ही विषादमय प्रभाव उत्पन्न करते हैं, भले ही उनके चरित्र-चित्रण की शैली में कुछ अन्तर है।

रावण

रसात्मक दृष्टि से रामकथा के पात्रों के अनुशीलन का कोई एक सर्वसम्मत क्रम नही बनाया जा सकता। कथा की दृष्टि से चित्रकूट-सभा और अवध-समाज का प्रसग समाप्त होने पर रावण की ओर ही दृष्टि दौड़ने लगती है। अतः दशरथ के बाद रावण के चरित्र को ही अध्ययन के लिये चुनना उपयुक्त प्रतीत हुआ। तुलसी-साहित्य के कुछ विशेषज्ञों को भी इस चुनाव मे प्रमाण मान लिया गया है।[६]

रावण रामकथा का प्रतिनायक है, और इस दृष्टि से वाल्मीकि और तुलसी

इसकी प्रक्षिप्तता के विषय में मौन है (दे० रामकथा, पृ० ३१०-११) और श्री वी० एस० शास्त्री का विचार है कि दशरथ को उस प्रतिज्ञा का स्मरण था परन्तु उन्होंने छिपाया है (दे० लेक्चर्स आन रामायण पृ० १०५)।

१. डा० मा० प्र० गुप्त ने इसे कला की दृष्टि से तुलसी की असफलता अवश्य माना है (दे० तुलसीदास, पृ० २६५) परन्तु आचार्य रा० शक्ल (दे० तुलसीदास पृ० १३५), डा० श्रीकृष्ण लाल (दे० मानसदर्शन, पृ० ६७) प्रभृति विद्वानों ने इस विचार का स्पर्श ही नहीं किया है।

२. श्री नावलेकर तो यहां तक कहते हैं कि कथागायकों ने मूल प्रतिज्ञा का प्रसंग उड़ा दिया और दो वरदानों का प्रसंग गढ़ दिया है (दे० ए न्यू एप्रोच, पृ ५६ ।

३. वी० एस० एस० शास्त्री, लेक्चर्स, पृ० १०५।

४. श्री के० एस० आर० शास्त्री इसे केवल आलोचकों की अनुदारता या अन्याय मानते है, दे० स्टडीज, भाग २, पृ० ७६।

५. डा० मा० प्र० गुप्त ने दशरथ के चरित्र-विश्लेषण की जो भूमिका बनाई है, वही एक मात्र आधार इस चरित्र के अध्ययन का है। अन्य कसौटियों पर इसे कसने में एक निर्णय होता दिखलाई नहीं पड़ता। डा० गुप्त के अनुसार "दुःख पर्यवसायी नायक की सभी विशेषतायें दशरथ में पाई जाती हैं" (दे० तुलसीदास, पृ० २६४) और इस विषय में तुलसी भी असफल नही है क्योंकि दशरथ की सरलता, नियम-पालन और राम-प्रेम आदि गुण ही उस दुःखान्त नाटक के लिये मानस में भी उत्तरदायी है।

६. डा० मा० प्र० गुप्त , पृ० २६६

के चित्रण में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। इस अन्तर को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि वाल्मीकि ने प्रतिनायक का चित्र प्रस्तुत किया है और तुलसी ने विजेतव्य का। तुलसी के सामने रावण की पराजय का चित्र है और वाल्मीकि के सामने संघर्ष का। वा० रामायण के बालकाण्ड में इस काव्य का एक वैकल्पिक नाम भी प्रस्तुत किया गया है—पौलस्त्य वध (१. ४. ७.)। अतः रामायण का रावण राम का योग्य प्रतिद्वन्द्वी है—शील, शक्ति और सौन्दर्य में, पांडित्य और बुद्धि में तथा महिमा और गरिमा मे। विजेतव्य की दृष्टि से तुलसी ने रावण को सर्वथा हीन रूप मे प्रस्तुत किया है, इतना ही नहीं उन्होंने उसे भी बलपूर्वक राम का भक्त बनाकर उसकी मुक्ति करा दी है। उनकी दृष्टि में यही रावण का वास्तविक गौरव था, यही उसका जीवन-लक्ष्य था। इस प्रकार दोनों कवियों के रावण के चित्र में बहुत अन्तर है।

प्रतिनायकत्व की दृष्टि से सर्वप्रथम हम रावण के चरित्र का विश्लेषण भी उन्हीं आधारों पर करके देखते हैं जिन आधारो पर राम का किया गया है अर्थात् उसके सौंदर्य, शील और शक्ति को राम के समकक्ष रख कर देखते हुए इस विषय मे दोनों कवियों के दृष्टिकोण की परीक्षा करेंगे।

रावण का सौन्दर्य

मानस का पाठक इस विषय पर आश्चर्य कर सकता है, इसका उपहास कर सकता है, परन्तु वा० रामायण का पाठक नहीं। वाल्मीकि ने रावण के रूप, तेज, प्रताप, सुवेशता, अलंकरण आदि का निष्पक्ष और उदारतापूर्ण वर्णन किया है। लंका प्रवेश या परिभ्रमण और राजसभा में प्रवेश के समय हनुमान के भावोद्‌गार एक महाकाव्य के आदर्श प्रतिनायक के प्रति हमारी दृष्टि को आकर्षित करते हैं—

अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्वमहो द्युतिः
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥ (५.४९.१७)

इसकी तुलना जब हम मानस के अंगद के उद्‌गारों से करके देखते हैं तो दोनों कवियों की मनोवृत्ति का भेद सर्वथा स्पष्ट हो जाता है—

अंगद दीख दसानन बैसें। सहित प्राण कज्जलगिरि जैसें॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कन्दरा खोह अनुमाना॥ (६.१९)

तुलसी ने रावण का समस्त चित्रण एक निशाचर के अनुरूप ही किया है, वे भूल गये हैं कि यह "उत्तम कुल पुलस्त्य का नाती" भी है और है ब्रह्मा का प्रपौत्र। उसके आचरण की कुरूपता ने, जिसकी सीमा स्वयं विचारणीय है, उसके व्यक्तित्व की सुरूपता को तुलसी की दृष्टि में सर्वथा समाप्त कर दिया है। उन्हें उसके बीस भुज और दशशीश होने में कोई सन्देह नहीं है जबकि वाल्मीकि ने इसे रावण की क के अन्तर्गत या केवल भाषा के चमत्कार अथवा लाक्षणिक अर्थ में ही स्वीकार किया

है[1]। तुलसी ने कहीं भी उसके सौन्दर्य के किसी अंश का उल्लेख तक नहीं किया है, उसके मुकुट आदि का वर्णन या उल्लेख तो उसके अपमान के प्रसंग लाने के लिये ही किया गया है, जबकि वाल्मीकि ने अनेक अवसरों पर उसके शारीरिक सौन्दर्य और अलकृत सौन्दर्य, दोनों का ही वर्णन किया है।[2] शारीरिक सौन्दर्य में एक ओर तो उसके सुपुष्ट और स्वस्थ शरीर, शक्तिशाली स्कन्ध, उन्नत ललाट आदि का वर्णन किया है और दूसरी ओर उसकी कान्ति, द्युति और तेजस्विता का भी। इसी प्रकार अलंकृत सौन्दर्य मे उसके सुन्दर वस्त्राभूषण, अंगराग, अवलेप, माल्य आदि का वर्णन किया है तो साथ ही उसके शरीर पर ऐरावत के दांतों और सुदर्शन चक्र के वीरत्व सूचक चिन्हो का भी[3]। रावण के लिये तुलसी की समस्त उपमायें उनकी सांप्रदायिक मनोवृत्ति अर्थात् घृणा और तिरस्कार को व्यक्त करती है जबकि वाल्मीकि की उपमाओ मे शालीनता और सम्मान झलकता है[4]।

रावण का शील—

शील का आशय है मनुष्य का जीवनव्यापी आचरण और स्वभाव[5]। रावण के शील के अन्तर्गत उसके दो मुख्य मनोविकारों पर विचार किया जा सकता है—कामुकता और अहंकार। सर्वप्रथम उसकी बहुकदर्थित कामुकता पर ही विचार कर लिया जाये। सीता को अपनी प्राणों से भी प्रिय अशोकवाटिका में लाकर रखने वाले, पहरा रखकर भी उसकी समस्त सुख-सुविधाओं का ध्यान रखने वाले, कामाग्नि से अत्यन्त व्याकुल अथवा रूप की पिपासा से विक्षुब्ध या सृष्टि की अप्रतिम सौन्दर्य-सम्पति पर अधिकार करने की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित रावण की याचनाओं में क्या सामान्य लम्पट, कामी, व्यभिचारी, बलात्कारी बर्बर का शील ही देखा जा सकता है ? क्या उसमें भी सौन्दर्य का प्रत्येक प्रकार से वरण करने के लिये सचेष्ट वीरों का शौर्य

१. वाल्मीकि ने कुछ स्थलों पर उसे दशशीश और बीसभुज दिखलाया है, (यथा, ३.३५.६, तथा ६.१०३.३४) और कुछ स्थलों पर एकशीश द्विभुज (यथा, ५.१०.२१-२४, ५.२२.२७-२८, ५.४२.२३ तथा ६.४६.११०-११३, ६ ९३.२०, ६.११३.८-१०)। बार-बार नये शीश निकलने के समय भी एक ही शीश का होना सूचित होता है (६.११०)। अतः वा० रामायण का रावण कामरूपधारी था जैसा कि ३.४६.४ तथा ६ से (सीताहरण के प्रसंग से) प्रकट होता है। टीकाकार तिलक का सुझाव है कि युद्ध के समय कभी-कभी वैसा रूप रख लेता होगा—"द्विभुजत्व कथनात् युद्धादिकाल एव विं शतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं चेति बोध्यम्' (तिलक टीका)। कुछ विद्वान इसे काव्यशैलीगत अत्युक्ति या अलंकृत प्रयोग मात्र मानते हैं। उनका विचार है कि बाद में अलंकारिक कल्पना ही वास्तविकता के रूप में स्वीकार कर ली गई, मूल रामायण में ऐसा नहीं था (सी० बी० वैद्य, रिडिल, अध्याय ११)।

२. दे० रा० ५.१०, ५.१८.२३ (कामदेव से उपमा।) ५.१९.१ तथा ५.४९.१७-१८।

३. रा० ५.१०.१६।

४. दे० अध्याय ६—"काव्यशैली" में 'अलंकार' प्रकरण।

५. दे० आचार्य रा० शुक्ल द्वारा की गई "शील" की परिभाषा- गो० तुलसीदास, पृ० १२४

बिलकुल नहीं देखा जा सकता ? उसने सीता का हरण किया और अकेले में हरण किया, यह अवश्य उसकी कायरता है, परन्तु इसके परिणामों को तो उसने अवश्य सोच लिया होगा ? ऐक सुन्दरी के लिये उसने अपनी सुवर्ण नगरी और "इक लख पूत सवा लख नाती" बलिदान कर दिये। क्या एक सामान्य कामुक, लोलुप और लम्पट ऐसा कर सकता है ?[1]

अशोकवाटिका में उसने क्रुद्ध होकर सीता को मार डालने की धमकी दी है, परन्तु साथ ही उसने सीता के अप्रतिम सौन्दर्य की भावमय प्रशंसा भी की है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वसृक् ।। (५.२०.१३)

यद्यपि वा० रामायण के संदिग्ध स्थलों मे (उत्तरकांड मे) वेदवती, पुंजिकस्थली, रम्भा आदि के शापों की भी कथा है जिनके कारण रावण परस्त्री का स्पर्श नही कर सकता था, परन्तु उसकी व्याकुल वासना का नियंत्रण भय के द्वारा नहीं वरन् उसकी सामान्य कामुक से भिन्न और नारी-मनोविज्ञान से परिचित सौंदर्य-लिप्सु की शालीनता के कारण भी होता हुआ प्रतीत होता है जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से प्रकट है :—

एवं चेतद् कामां तु न त्वां स्प्रक्ष्यामि मैथिलि ।
कामं कामः शरीरे मे यथाकामं प्रवर्तताम् ।। (५.२०.६)

आशय यह कि वाल्मीकि ने रावण के शील की गहराई में उतर कर उसकी भावनाओं का सम्बन्ध एक आदिम शक्तिशाली मनोविकार के साथ स्थापित किया है जिसकी परख हम तटस्थ भाव से कर सकते हैं, परन्तु तुलसी ने रावण के शील का चित्रण बिना मानव-प्रकृति की गहराई में उतरे हुए मूल्यांकन की ऊपरी सांप्रदायिक सतह पर रह कर ही पक्षपातपूर्ण भाव से किया है और हमें इस प्रतिनायक से घृणा करने को बाध्य किया है।[2] वाल्मीकि के रावण की कामुकता में रजोगुण का प्रकाश है, तुलसी के रावण की कामुकता में केवल तमोगुण का अन्धकार। मानस का रावण शुद्ध निशाचर है। रतिलालसा या कामुकता के निरूपण में ही तुलसी ने अत्युक्ति नहीं की है वरन् उसके समस्त गुणों की ओर से ही आँख मूंद ली है अथवा गुणों को भी अवगुण बनाकर एवं अनुदार दृष्टि से प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि ने उसे एक विलासी सम्राट के रूप में चित्रित किया है परन्तु तुलसी उसे केवल लम्पट और इन्द्रिय-

१. कुछ लोगों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि सीताहरण के मूल में प्रतिहिंसा का भाव ही प्रधान था जो कि अनरण्य के साथ चले आते हुए युद्ध और शूर्पणखा-प्रसंग द्वारा संघर्ष के समारंभ को देखते हुए एक सीमा तक विचारणीय है। (दे० मानसमीमांसा, रजनीकान्त शास्त्री, पृ० १६२) परन्तु उसका केवल यही उद्देश्य था, ऐसा रावण-सीता सम्वादों के आधार पर (३.४८, ३.५५ तथा ५.२०) नहीं कहा जा सकता।

२. वाल्मीकि ने रावण की कामुकता को वीर-विलास का स्वरूप प्रदान करने के लिए यह भी लिखा है कि उसने अन्य सुन्दरियों का हरण बलपूर्वक किया था पर वे उसमें अनुरक्ता थीं (५.९.६९-७०) और यह तत्कालीन रिवाज और रक्षसंस्कृति के अनुकूल था (५.२०.५)। ने अपनी धार्मिक दृष्टि के आधार पर इसे उसकी कामुकता माना है और इसकी विशेष भर्त्सना और निन्दा की है

परायण ही मानते हैं। वाल्मीकि उसकी महत्वाकांक्षाओं को प्रकाश में लाते हैं, तुलसी केवल उसके अत्याचार और निरंकुशता को प्रकट करते हैं। वा० रामायण में वह धीर, वीर और साहसी है, मानस में क्रोधी और हठी। मानस के रावण की कामलालसा ने उसके समस्त गुणों पर परदा डाल रक्खा है। उसके शास्त्र-पांडित्य, राजनीति विषयक ज्ञान, धैर्य, साहस, दृढ़ता, आत्मविश्वास आदि गुणों को भी उन्होंने इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वे अवगुण प्रतीत होने लगे हैं। मानस में खर-दूषण-वध के पश्चात उसे राम के ईश्वरत्व का आभास हो जाता है और वह तामस-भक्ति की साधना में लगता है,[1] इसके लिए भी तुलसी ने उसकी कोई प्रशंसा नहीं की है। तुलसी के रावण की प्रशंसा, उसके शील के विचार से केवल एक बात में की जा सकती है और वह है मन्दोदरी के प्रति उसका योग्य पति के अनुरूप व्यवहार। जहा वह अपने भ्राता विभीषण, पुत्र प्रहस्त, नाना माल्यवान, मामा मारीच और दूत शुक्र के सदुपदेश पर कुपित एव उद्धत हो उठता है वहा वह मन्दोदरी का राजमहिषी और उत्तम महिला के अनुरूप ही सम्मान करता है। बार-बार उसके उपदेश की आवृत्ति होने पर भी[2] क्रोध प्रकट नही करता, उसी के रोकने पर सीता के वध से हाथ रोकता है।[3] परन्तु, इसी मन्दोदरी को जब हम पति-शव पर विलाप करते हुए यह सुनते हैं कि राम-विमुख होने के कारण तुम्हारी यह दशा होनी उचित ही थी कि गीदड तुम्हारी लोथ को नोंचे,[4] तब हम रावण से योग्य पति का भी प्रमाण-पत्र छिनता हुआ पाते है और भक्त तुलसीदास की कट्टरता तथा कवि तुलसीदास की सहृदयशून्यता पर आश्चर्य किये बिना नहीं रहते।[5]

वा० रामायण का रावण पति, पिता, भ्राता और राजा के गौरव से पूर्णतया सुसज्जित है। उसके वध पर मन्दोदरी अत्यन्त गौरवपूर्ण शब्दों में अपने यशस्वी पति का स्मरण करती है और उसकी तथाकथित कामुकता का भी उल्लेख गौरवपूर्ण शब्दो में ही करती है :—

> इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया।
> स्मरद्भिरिव तद्वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः॥ (६.११४.१८)

तुमने इन्द्रियों को बलपूर्वक जीतकर त्रिभुवन को ही जीत लिया था उसी का बदला तुमसे इन्द्रियों ने सीता के माध्यम से लिया। रामायण की मन्दोदरी को अपने पति की साधना और संयम पर गर्व है। यह है सच्चे कवि की उदार दृष्टि। मेघनाद के वध पर रावण के वास्तविक पितृहृदय का दर्शन वा० रामायण में किया जा सकता है,[6] मानस में नहीं। उस अवसर पर कथा को सरपट चाल से दौड़ाते हुए तुलसी ने

१. ३.२३।
२. मा० ५.३६, ६.६, ६.१४—१५, ६.३६।
३. वही, ५.१०।
४. वही, ६.१०४।
५. दे० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० २१७।
६ रा० ६ ९३

भले ही रावण की मूर्छा का उल्लेख किया है, परन्तु उसके मुख से दर्शन का उपदेश भी दिलाया है और फिर उसकी खिल्ली भी उड़ाई है।[1] यह एक स्पष्ट प्रमाण है कि वे रावण को किसी बात का, किसी अवसर पर, श्रेय नही देना चाहते थे।

वाल्मीकि ने रावण के अवगुणों को भी सहृदयतापूर्वक देखा है, यद्यपि राम के प्रति उनका भी पक्षपात छिपा हुआ नही है। वा० रामायण में जिस प्रकार रावण की कामुकता रजोगुण के रूप में प्रस्तुत की गई है अर्थात् वह एक वीर का विलास है, उसी प्रकार रावण के अहंकार में भी तेजस्विता है—

द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित् (६.३६ ११)

यह अहंकार एक वीर पुरुष का अलंकार है। इसी को तुलसी ने "शठ का हठ", अज्ञान, मतिमन्दता आदि कहा है। वा० रामायण में जब रावण को उनके परिजन और सभासद समझाते है और वह उनकी अवज्ञा कर देता है तब वाल्मीकि अपनी ओर से कोई टिप्पणी नही करते, परन्तु तुलसी लंकेश्वर के गौरव को भूल कर गालियां सुनाने लगते है। इन बातों को दृष्टि में रख कर यदि मानसकार की काव्यकला मे और मानस के महाकाव्यत्व में शंका प्रकट की जाय और उसे केवल भक्ति ग्रंथ या पुराण काव्य माना जाये तो आश्चर्य ही क्या है।[2] अगद-रावण सम्वाद में तुलसी ने रावण के अहकार का जो उपहास किया है, वह भी एकपक्षीय है। उसके कैलाशगिरि उठाने की तुलना गधो के बोझ उठाने से की जाती है और उसके यज्ञों और आहुतियों की तुलना मदारियों और बाजीगरों के कृत्यों से।[3] यह ठीक है कि रावण ने भी राम के सेतुबध आदि महत्कृत्यों की तुच्छता प्रकट की थी (६.·८), परन्तु प्रश्न तो यह है कि तुलसी ने रावण को ऐसी उपहासास्पद स्थितियों मे रक्खा ही क्यों? उन्होने उसे वा० रामायण की राजनीतिविज्ञता, स्वाभिमान और गम्भीरता से सर्वथा वंचित कर दिया है। रावण की वीरत्वव्यंजक या आत्मविश्वास-सूचक समस्त उक्तियों को मानस में एक गपोड़िये की गप या कायर की डीग के रूप में परिणत कर दिया गया है। अंगद और हनुमान ने उसकी राजकीय मर्यादा पर अनुचित प्रहार किये हैं, विशेष कर अंगद ने तो उसके किरीटमुकुट गिरा कर[4] और उसे चरण पकड़ने के लिए सिहासन से उठा कर[5] संसार के एक प्रसिद्ध वीर की प्रतिष्ठा पर क्रूर पदाघात किया है।

विलासिता और अहंकार रावण की प्रकृति या शील के यथार्थवादी पक्ष है जिनका निरूपण वाल्मीकि ने कलाकार की सहृदयता और तुलसी ने वैष्णव भक्त की संकीर्णता के साथ किया है। इन प्रवृतियों के अतिरिक्त उसके सद्गुणों के अंतर्गत

---

१. मा० ६.७७—७८।
२. दे० मानसदर्शन, श्रीकृष्णलाल, पृ० १४१।
३ दे० मा० ६ २१
४ वही ३२

वा० रामायण में उसकी कलाप्रियता, संगीत[1], शिल्प[2] आदि की रुचि और उसकी शास्त्रज्ञता, नीतिज्ञता तथा धर्मज्ञता की भी चर्चा की गई है। "वेदविद्याव्रतस्नात. स्वकर्मनिरतस्सदा" (६.९३.६३) "एषो हिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्यवीर्यः" (६.११२.२४) बतलाया गया है। रावण की मृत्यु पर विभीषण के उद्‌गार देखिये :

गतः सेतुः सुनीपानां गतो धर्मस्य विग्रहः ।
गतः सत्त्वस्य सक्षेपः सुहृस्तानां गतिर्गता ॥
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमा ।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसाया निरुद्यमः ॥ (६.११२.७-८)

ये महाकाव्य के प्रतिनायक की प्रतिष्ठा के अनुकूल उद्‌गार हैं। रावण की तपस्या, साधना, कष्टसहिष्णुता, धीरता आदि गुणों को भी यदि तुलसीदास कुछ श्रेय दे देते तो वे रावण को राम का योग्य प्रतिद्वन्दी बना कर राम का गौरव भी अधिक बढा सकते थे।

रावण की शक्ति—

ऊपर कहा गया है कि तुलसीदास ने रावण की शक्ति का उपहास किया है। उनके विचार से उसकी कामुकता ने उसकी समस्त शक्ति क्षीण कर दी थी। इससे उन्होंने रावण के गौरव को तो समाप्त कर ही दिया है, राम के गौरव को भी अनजाने ही क्षति पहुंचाई है। दोनों ही काव्यों में रावण की प्राकृतिक शक्तियों की तथा देव-गधर्व-किन्नर आदि जातियों की विजय की चर्चा की गई है, परन्तु व्यवहार में भेद है। वाल्मीकि उसके इन महत्कृत्यों को वीरोचित रूप में प्रस्तुत करते हैं जब कि तुलसी (जैसा कि ऊपर कहा गया) इसे गपोड़िये की गप या कायर की डींग के रूप में ही प्रस्तुत करते है। वे उसकी पराजय के प्रसंगों को (सहस्रबाहु, बालि और बलि) तो बढा-चढ़ा कर व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं (६.२४) परन्तु उसकी दिग्विजय, शारीरिक शक्ति (कैलाशगिरि-उत्तोलन) तथा तप-साधना अर्थात्, आत्मिक शक्ति का उल्लेख उपेक्षा के साथ करते हैं (६.२८)। मानस की कथा में से रावण की शक्ति के व्यंजक प्रसंग और सम्वाद उन्होंने उड़ा दिये हैं और हीनता एवं पराजय के प्रसंग बढा दिये हैं। राम के वाण से मन्दोदरी के ताटंक और रावण के छत्रमुकुट गिराये जाने का प्रसंग (६.१३) ऐसा ही है। एक और प्रसंग देखिये जिससे तुलसी की मनोवृत्ति का आभास मिलता है :—

गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि-तनय अतिबल बांकुरा ॥
उठे सभासद कपि कहुं देखी। रावन उर भा क्रोध विसेषी ॥ (६.१९)

लंकेश्वर का अपनी राजसभा में कोई सम्मान नहीं रह गया है, उससे कहीं अधिक सम्मान उसके प्रतिपक्षी राम के वानर-दूतों का है। अंगद का किरीट-मुकुट गिरा

१ रा० ५ ४।
२ रा० ५ ६ (अन्तःपुर) तथा ५ १४ ( )

कर फेंकना और पैर उठाने के लिए रावण को ललकारना तो और भी आपत्तिजनक प्रसंग है।

राजसभा से बाहर रणक्षेत्र में ऐसे वीर्यहीन वीर का प्रताप फिर कैसे दिखलाया जा सकता था ! नल-नील उसके शिरों पर उछल-कूद मचाते है,[1] हनुमान उसे मुक्का मारकर मूर्च्छित कर देते है[2] और जाम्बवान लात मारकर रथ से नीचे गिरा देते है।[3] जिसे उसने लात से मारा था वही विभीषण उसे गदा के प्रहार से धराशायी कर देता है।[4] हनुमान का बल उससे कही अधिक है। वह मूर्छित लक्ष्मण को नही उठा पाता, हनुमान उठा लेते हैं।[5] वह हनुमान को पूंछ पकड़ कर पटकना चाहता है परन्तु वे उसे लेकर आकाश में ही उड़ जाते है।[6] इन स्थितियों को लगातार लाने से रावण का वीरत्व सर्वथा समाप्त हो गया है और उसके प्रति दया और करुणा ही उत्पन्न होती है। यही तुलसी का लक्ष्य भी है अर्थात् वे रावण के व्यक्तित्व के द्वारा वीरत्व का उद्रेक नहीं करना चाहते, उसकी दीनता दिखला कर भगवान राम की उदारता ही प्रदर्शित करना चाहते है :

> अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
> जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान ॥ (६.१०४)

वा० रामायण में राम-रावण का युद्ध एक महायुद्ध ही है—महद्युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् (६.११०.१६)। ऐसे महाभयकर युद्ध के छिड़ने पर समुद्र का खलबला उठना, पृथ्वी का कांप उठना, प्राकृतिक शक्तियों का आतंकित हो जाना, ग्रहों की गति रुक जाना, देव-ऋषि-योगी जनों का जाप करने लग जाना स्वाभाविक ही है (६.११०)। राम और रावण एक रात और एक दिन एक सांस युद्ध करते रहे (वही, ३७)। इन दो विश्वविश्रुत योद्धाओं का अप्रतिम युद्ध दर्शनीय था :—

> गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
> रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥ (६.११०.२४)

वा० रामायण के ये राम और रावण दोनो ही शास्त्रधारियों में श्रेष्ठ थे। दोनों ही सत्वसम्पन्न और अपने संकल्प में अडिग थे। रावण की मृत्यु पर, राम के समक्ष, विभीषण के मुख से रावण को 'शस्त्रभृतांवर' (६.११२.८) कहलाकर वाल्मीकि ने रावण का वीरोचित सम्मान किया है।

मूल्यांकन की कसौटी—

दोनों काव्यों के मूल्यांकन की कसौटी में कहीं-कही इतना अन्तर पड़ जाता

---

१. मा० ६.६८।
२. वही, ८४।
३. वही, ६८।
४. वही, ६४।
५. वही ८३।
६. वही, ६५

है कि सामंजस्य असंभव ही हो जाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में वाल्मीकि और तुलसी के आदर्शो और उद्देश्य की मूलभूत एकता को, वाह्य विभेदो के मूल में, देखने का प्रयत्न किया गया है। रावण के चरित्र के विषय में भी यह देखना आवश्यक है। रावण के प्रति दोनो ही कवियो की अश्रद्धा है, परन्तु तुलसी के समान रावण का तिरस्कार वाल्मीकि ने कही नही किया है, यहाँ तक कि प्रचलित वा० रामायण में भी ऐसे स्थल नहीं है। वा० रामायण के रावण की अत्यन्त उपयुक्त परिभाषा इन शब्दों मे की गई है—'ग्रेटनैस विथाउट गुडनैस'[1] अर्थात् सत् से रहित महत्ता। वाल्मीकि ने उसकी महत्ता को पहिचाना है, परन्तु तुलसी इसे भी नही स्वीकार करते। यदि वे इतना कर लेते तो उनके काव्य मे धर्मपक्ष के साथ कलापक्ष की भी रक्षा हो जाती।

वाल्मीकि की रावण-विषयक कलात्मक दृष्टि का विश्लेषण श्री वी० शास्त्री ने इन शब्दों में किया है—

"प्रत्येक महत्ता मे एक आकर्षण होता है। घोर अपराधपूर्ण कृत्य भी, यदि वे महान और अद्भुत है, मन में सिहरन उत्पन्न कर देते हैं। भले ही हमारी आत्मा वर्जन करती रहे, परन्तु आँख उस ओर से हटती नही। रावण एक असाधारण क्रूरकर्मा था, उसके पास महत्ता के प्रेरक मानसिक और बौद्धिक गुण थे, काश वह उनका सदुपयोग कर पाता!"[2]

इससे वाल्मीकि के आदर्शवाद की स्वाभाविकता और ग्राह्यता तथा तुलसी के आदर्शवाद की कृत्रिमता और अग्राह्यता प्रकट हो जाती है। तुलसी के राम से अधिक साम्प्रदायिक चरित्रचित्रण रावण का है, परन्तु राम का मानवीय तत्व सर्वथा लुप्त नही हुआ है[3] और इसीलिये हम उनके चरित्र से शिक्षा प्राप्त करते हैं। मानस के रावण मे से मानवीय तत्व इस सीमा तक अलग कर दिया गया है कि उससे हम कोई शिक्षा नही पा सकते क्योकि उसका अपने जीवन से मिलान नही कर सकते। उसकी जैसी तामस-साधना कोरी कल्पना की वस्तु है।

अवतारवाद की दृष्टि से तुलसी का रावण भी अवतार है[4] अर्थात् अधर्म का अवतार और भक्तिभावना की व्यापकता की दृष्टि से वह भक्त भी है अर्थात् तामस भक्त। वह जगदीश से रण करके मुक्ति पाने की योजना बनाता है,[5] हरण करते समय सीता की वन्दना करता है,[6] प्रणय-याचना मे उनमे केवल एक चितवन का प्रसाद मांगता है,[7] उन्हें निरन्तर अपने हृदय मे धारण करता है और अपनी चरम विकलता के क्षण

१. लैक्चर्स आन रामायण, वी० शास्त्री, पृ० ३०७।
२. लैक्चर्स आन रामायण, वी० शास्त्री, पृ० ३०७।
३. मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास पृ० २८९।
४. मा० ७.६४।
५. मा० ३.२३।
६. वही, २८।
७. मा० ५.९ (जिसका विजयानंद प्रभति टीकाकारों और जयरामदास दीन जैसे व्याख्याकारों ने भक्तिपरक अर्थ लगाया है)

मे ही उनका ध्यान छोड़ पाता है।[1] तब राम अवसर पाकर उसका बध करते है और उसे सायुज्य मुक्ति प्रदान करते हैं।[2] रावण के जीवन का यह उपसंहार ही मानस मे उसके मूल्यांकन की कसौटी है अर्थात् उसने घर और बाहर के लोगों से और स्वय कवि से जो इतनी अवमानना पाई थी, वह इसी मुक्ति-साधना के लिये। उसकी परख वीरोचित सहिष्णुता और शक्ति के आधार पर नहीं वरन् भक्तजनोचित सहिष्णुता और शक्ति के आधार पर की जाये तभी हम मानस के रावण का सौंदर्य समझ सकते हैं और वा० रामायण के रावण से उसकी पृथकता या विशिष्टता का अनुभव कर सकते है। आकृति से भी वह महाकुरूप था परन्तु जब हम उसकी ज्योति राम के मुख मे समाती हुई देखते है तो उसे असुन्दर भी नहीं कह सकते। इस प्रकार तुलसी की भक्तिभावना के इस विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने पर ही हम रावण का प्रतिनायकत्व अर्थात् दो महान ज्योतियों के सम्मिलन का सिद्धान्त समझ सकते हैं। परन्तु, साहित्यिक रसास्वादन से यह साधना और भावना कितनी भिन्न है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं।

तुलसी ने रावण को एक विशेष श्रेणी का भक्त बना कर मुक्ति प्रदान कर देने मे चरित्रचित्रण की सफलता समझी है। मानस के एक विज्ञ समालोचक ने रावण के विषय में लिखा है "इस तामस स्वरूप के राजस परिवेष्टन में भी ज्वलंत सात्विक तेज वर्तमान था, यद्यपि उसके दर्शन बहुत कम मिलते थे।"[3] वा० रामायण मे उस सात्विक तेज के भी दर्शन मिलते हैं। तुलसी के रावण का लक्ष्य लोकोद्धार तो नहीं पर जाति-उद्धार अवश्य था, इस दृष्टि से उसके चरित्र की महत्ता स्थापित करते हुए उक्त विद्वान का कथन है—"उसने सारे राक्षसों के तामस स्वभाव का अनुशीलन कर लिया था। इसी से उन्हें अपने सामने कटवा डालने में उसने तनिक भी संकोच नहीं किया।"[4] यह मानस के रावण-चरित्र की सीमा से अधिक सहानुभूतिपरक व्याख्या है, परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि रावण के चरित्र में एक महानता सन्निहित थी। तुलसी ने भले ही रावण को मुक्ति दिला दी, परन्तु उसकी महानता को वे प्रकाशित नहीं कर सके। वह व्यक्त रूप में शिव का और प्रच्छन्न रूप में राम का भक्त था। तुलसी ने दोनो भक्तियों का मिलाप करा दिया। इससे धार्मिक समन्वय का तो क्षेत्र-विस्तृत हुआ, परन्तु काव्य के क्षेत्र में रावण-चरित्र का उत्कर्ष नहीं हुआ। रावण भी राम के समान एक ऐतिहासिक पुरुष था, एक महान जाति और प्रदेश का शासक था, उसका संगठन सुदृढ और विशाल था, वर्षों से रघुवंश के साथ उसका युद्ध चला आ रहा था, इन ऐतिहासिक तत्वों की तुलसी ने सर्वथा उपेक्षा कर दी है। इसीलिये रावण की महानता का अंश मानस में से निकल गया है। वा० रामायण में वह बना रहा है, क्योंकि वह

---

१. मा० ६.९९।
२. वही, दो० ९९ तथा ६.१०३।
३ सद्गुरुशरण अवस्थी- तुलसी के चार दल. पहली पुस्तक. पृ० १६४।
४ वही पृ० १६५

एक आख्यान काव्य है जिसमें ऐतिहासिक तत्व भी सुरक्षित रहते है।[1]

इन महाकाव्यो के प्राय. सभी पात्रों पर अनेक युगो की भावनाओं के इतने आवरण चढ गये है कि उनका एक सुनिश्चित, निर्भ्रान्त और तर्कसम्मत एव शास्त्रीय मूल्यांकन कर पाना असभव है। राम के समान रावण भी एक जटिल पात्र है। राम के भी निन्दक हैं और रावण के भी प्रशंसक। राम का आदर्श और रावण का यथार्थ सर्वांगीण नही है। शास्त्रीय दृष्टि से जिस तरह "धीरोदात्त" शब्द राम के सभी गुणो को व्यक्त करने मे समर्थ नहीं है, उसी तरह केवल "धीरोद्धत" शब्द भी रावण के सभी पापों और अवगुणो को नहीं समेट पाता। वस्तुतः राम की तरह रावण का चरित्र भी सामान्य या यथार्थ नही, बल्कि अतिरंजित और पौराणिक ढंग का अति-मानवीय है।"[2] यह बात मूल वा० रामायण, प्रचलित रामायण और मानस तीनो के ही विषय में कही जा सकती है। उनके नायक और प्रतिनायक अपने-अपने क्षेत्र मे मानवकल्पना की महानतम देन है। वे अब यथार्थ नही रहे, वरन् प्रतीकात्मक-चरित्र बन गये है। मानस मे इस प्रतीकात्मकता का वा० रामायण की अपेक्षा अत्यधिक विस्तार हो गया है, इसीलिये उसमे अधिक अस्वाभाविकता भी है।

हनुमान

रामकथा के पात्रों मे हनुमान का बल, बुद्धि और अद्भुत कृत्यो के कर्ता तथा राम के अनन्य सेवक होने के कारण महत्वपूर्ण स्थान है। परवर्ती साहित्य मे उनका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और राम के अद्वितीय सेवक तथा अनन्य भक्त होने के कारण वे स्वयं भी जनता की भक्ति के आलम्बन बन गये हैं[3]। यहां तक कि उन्हे भी एक अवतार(शिव का) माना जाने लगा है।[4] मध्यकालीन रामकथा-साहित्य में हनुमान के चरित्र का जो विकास हुआ है उसका उत्कृष्ट उदाहरण तुलसी-साहित्य के द्वारा प्राप्त होता है। हनुमान के चरित्र का क्रमिक विकास प्रारंभिक आख्यान काव्य (मूल रामायण से भी पूर्व) से लेकर, मूल वा० रामायण, प्रचलित रामायण, मध्य-कालीन देशभाषा-साहित्य और आधुनिक काल तक में होता आया है।[5] प्रारंभिक राम सम्बन्धी आख्यान काव्य मे हनुमान को एक वानर-गोत्रीय आदिवासी और सुग्रीव के

---

१. दे० प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ० २४ पर, टिप्पणी २।

२. हिन्दी महाकाव्य, पृ० ५४१।

३. चिन्तामणि भाग १, रा० शुक्ल, पृ० ३४।
(विनय-पत्रिका में तुलसी ने राम के भक्त होने के कारण और स्वतंत्र रूप से भी हनुमान के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए स्तोत्रों की रचना की है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'कवितावली' (उ० कां) और 'हनुमान-बाहुक' में भी उन्होंने स्वतंत्र नायक के रूप में हनुमान का गौरव-गान किया है। मानस के मंगलाचरण के श्लोकों में भी (बाल० ४ तथा सुन्दर० ३) उन्हें स्थान दिया गया है।)

४. 'देवमनि रुद्र-अवतार संसारपाता'—विनयपत्रिका, २५।

५ उदाहरणार्थ आधुनिक कवियों में श्री पाण्डेय ने अञ्जनापुत्र काव्य की रचना राष्ट्रीय दृष्टि से की है

बुद्धिमान एवं पराक्रमी मन्त्री के रूप में प्रस्तुत किया गया था। आदि काव्य रामायण में व कपिकुंजर तथा वायुपुत्र भी माने जाने लगे, प्रचलित रामायण में वानरत्व विषयक विशेषणों के बाहुल्य से उनके वास्तविक वानरत्व की धारणा बनने लगी, तत्पश्चात् कपियोनि में रुद्रावतार और राम के आदर्श भक्त के रूप में उनकी पूजा होने लगी।[1] हनुमान की विस्तृत जीवन-कथा वा० रामायण के उत्तरकाण्ड (सर्ग ३५, ३६) तथा किष्किंधाकाण्ड (सर्ग ६६) में दी गई है जो इस परवर्ती विकास की प्रेरक है। तुलसी-साहित्य में राम के बाद हनुमान की चरित-कथा ही सबसे अधिक दी गई है (देखिये पिछले पृ० की टिप्पणी–३)। सुन्दरकाण्ड के नायक वे मानस में भी है और वा० रामायण में भी। अद्भुत रस के आलंबन भी वे दोनों काव्यों में है।

हनुमान की इस महत्ता को देखते हुए और उनसे सम्बन्धित आख्यानों के आधार पर विद्वानों ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या वानरपूजा राम से प्राचीनतर थी, जिस कारण हनुमान को रामकथा में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, अथवा रामकथा में उनका इतना महत्व देखकर इस देश में वानर-पूजा की परम्परा प्रवर्तित हुई ?[2] यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय है।

वा० रामायण और मानस में हनुमच्चरित के तीन प्रमुख गुण प्रकाशित किये गये है—बल, बुद्धि और सेवाभावना या भक्तिभावना। इन्हीं तीन के आधार पर दोनो काव्यों में उनके व्यक्तित्व और चरित्र की तुलना की जा सकती है। इनके अतिरिक्त उनके कपि-स्वभाव की भी कुछ विशेषताओं पर विचार किया जा सकता है।

हनुमान का शरीर-बल या शक्ति—

हनुमान अनेक साहसिक कार्यों के कर्त्ता हैं।[3] उनके शरीर-बल, साहस, पराक्रम, धैर्य और अध्यवसाय आदि विविध शक्ति-तत्वों का चित्रण दोनो ही कवियों ने किया है। अनेक अद्भुत और महान कृत्यों का श्रेय—जिनके आधार पर स्वतत्र प्रबन्ध-काव्यों की रचना की गई और उत्कृष्टतर महाकाव्य लिखे जा सकते है—हनुमान को प्राप्त है जैसे :—सागर-लंघन, अशोकवन-विध्वंस, लंका-दहन, द्रोणाचल-आनयन और युद्धविषयक पराक्रम। उनके द्रुमशिला-युद्ध, उनकी लांगूल के दाँव-पेंच उनके पाद-प्रहार उनके विकराल तमाचे और थप्पड़ विश्व के एक अद्वितीय मल्ल का चित्र प्रस्तुत करते है। राम और लक्ष्मण को वे अपनी पीठ पर चढ़ा कर पम्पासर से ले गये थे (दे० रा० और मा० का किष्किंधाकाण्ड)। सीता से भी उन्होंने यही प्रस्ताव किया था (रा० ५.४७.२४ तथा मा० ५.१६.३)। बड़े-बड़े पर्वत उनके शरीर के भार से दब जाते या कसमसा उठते अथवा फूट पड़ते थे। (रा० ५.१.११-१४, मा० ५.१.७)। उनके शरीर-बल का रहस्य भी, दोनों काव्यों मे, उनके पवनपुत्रत्व और ब्रह्मचर्य के रूप मे

---

१. दे० हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक (प्रयाग) पृ० ३४२ पर डा० बुल्के का लेख।

२. ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर, विन्टरनिट्ज़, पृ० ४७८।

३ "Superlatives crowd round Hanuman as you contemplate him —वी० एस० एस० शास्त्री लेक्चर्स आन अध्याय १०

प्रकट किया गया है।[1] वे अणिमा-गरिमा सिद्धियों पर अधिकार रखने वाले महान योगी भी है।[2] वा० रामायण में उन्हें 'श्वसनविक्रम' कहा गया है (५.१.३६)।

मानसकार की भक्तिभावना ने हनुमान के बल की भावना का विकास किया है और इस प्रकार के नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। राम के लोक विश्रुत दूत को अतुलित बल की आवश्यकता भी थी। वे मेघनाद के शव को बिना प्रयास लंका में रख आते हैं (६.७७.१), सुषेण को उसके घर सहित लका के सुबेल-पर्वत तक उठा लाते है (६.५५), मूर्छित लक्ष्मण को दो बार रणस्थल मे उठा कर लाते है जब कि इस कार्य में रावण और मेघनाद असफल रहे थे (६.५५ तथा ८४)। राम के अनुज भरत का बाण भी इस बलशाली का भार वहन नही कर सकता था (६.६०.७)। हनुमान के मुष्टिका-प्रहार और लातों तथा थप्पड़ों की मार के प्रसग भी मानस मे रामायण की अपेक्षा अधिक हैं तथा अधिक प्रभावशाली रूप में भी प्रस्तुत किये गये है। लकिनी उनके मुष्टिका-प्रहार से रक्त-वमन करने लगी थी (५.४) और रावण एक मुक्के से मूर्छित होकर गिर पड़ा था (६.८४)। कालनेमि की तो उन्होने कपालक्रिया ही कर दी थी (६ ५८)। हनुमान की लागूल के पराक्रमों की भी कथा मानस मे बढाई गई है जिसमें लपेट-लपेट कर वे साधारण राक्षसो को ही नही, रावण को भी पटकते हैं (६.९५)। यह लोकरंजक तत्व जोड़ने की प्रवृत्ति हनुमान को लोकप्रिय बनाने में सहायक हुई है। राम के अमोघ शर के समान हनुमान की अमोघ मुष्टिका ने उन्हे भी 'सकटमोचन' देवता या भगवान बना दिया है।[3]

तुलना के विचार से एक उद्धरण हनुमान की सूक्ष्म शक्ति अर्थात् गति का दिया जा सकता है। दोनों ही कवियों ने उनकी तुलना राम के बाण से की है—

१. यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः। (५.१.३६)

२. जिमि अमोघ रघुपति कर बाना।
एही भांति चलेउ हनुमाना॥ (५.१)

उनकी शक्ति के अनुरूप उनकी तेजस्विता का वर्णन भी दोनों कवियों ने अत्यत प्रभावशाली रूप में किया है। उनकी दीप्ति की तुलना वाल्मीकि ने दहकती हुई अग्नि से (५.३७.३५) और उनकी विराट्देह की तुलना तुलसी ने सुमेरु से (५.मंगलाचरण ३) की है। उनकी शक्ति के अद्भुत और अतिप्राकृत तत्वो के साथ अलौकिक तत्वों का सम्मिश्रण भी वा० रामायण में देखा जा सकता है। उन पर अग्नि और पवन की कृपा है (५.५४. श्लो० ५ तथा २२)। वे इच्छानुसार रूप परिवर्तित कर सकते हैं

१. डा० बुल्के का विचार है कि इसका सूत्रपात भी वा० रामायण मे देखा जा सकता है (दे० हिंदी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० ३४६)। यद्यपि भरत के द्वारा उन्हें उपहार-स्वरूप १६ कन्यायें प्रदान किये जाने का प्रसंग वा० रामायण में है (६.१२८.४३-४४) परन्तु रावण के अन्तःपुर में अर्धनग्न ललनाओं को देख कर संकुचित होने का प्रसंग भी है (५.११.४१-४२)।

२. दे० मशक या वृषदंशक रूप से लंका प्रवेश, लंकादहन के समय पहले लघुरूप फिर भीम रूप, सुरसा-प्रसंग सागर-लंघन आदि प्रसंग

३ सुमिरत संकट-सोच-विमोचन मूरत मोदनिधान की, वि० पत्रिका, ३०

अर्थात् कामरूपधारी है (रा० ४.३.२३, ५.६.१, ५.२५.७६ तथा ५.३७.७६)। उनकी अपार शक्ति और सामर्थ्य तथा राम के दल में उनके गौरवपूर्ण स्थान का परिचय जाम्बवान की इस उक्ति में मिलता है—

तस्मिन् जीवति वीरे तु हतमप्यहत बलम् ।
हनुमत्युज्झित प्राणे जीवन्तोऽपि वयं हताः ॥ (६.७४.२२)

इससे प्रकट है कि हनुमान की शक्ति के विकास की कितनी सभावनाये आदि-काव्य में ही विद्यमान थीं जिनकी पूर्ति मानस प्रभृति मध्यकालीन काव्यों में हुई है। दोनों कवियों के शक्ति-निरूपण में एक सूक्ष्म अन्तर यह है कि वाल्मीकि ने उनके युद्ध-प्रसंगों का विस्तार किया है और द्रुम, शिला, परिघ आदि (दे० अशोक वाटिका प्रसग) के प्रयोगों को महत्व दिया है जब कि तुलसी ने राम-वाण के समान उनकी शक्ति की सूक्ष्मता मुष्टिका-प्रहार में दिखलाई है।

हनुमान का मनोबल और बुद्धि—

प्रकृति के निकट सम्पर्क में रहने वाले और प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाले वनचर में अद्भुत शरीर-बल का होना तो आश्चर्य की बात नहीं है परन्तु उसके साथ बुद्धि-बल और वाग्मिता का भी सयोग होना अवश्य आश्चर्य की बात है। वानर वीर हनुमान ऐसे ही उदाहरण है। वे एक साथ ही 'अतुलित बल-धाम' और 'सकल गुण-निधान' तथा 'बलबुद्धिनिधान' है। वे प्रत्युत्पन्नमति, दूरदर्शी और वाक्पटु हैं, अत सुग्रीव के सचिवत्व और दूतकार्य के लिये परम उपयुक्त हैं। मानस और वा० रामायण के हनुमान के चरित्रचित्रण में यह अन्तर स्पष्ट दिखलाई पडता है कि मानसकार ने उनके शरीरबल के सूचक प्रसंगों को अधिक महत्व दिया है और वाल्मीकि ने उनकी राजनीतिज्ञता को। कारण भी स्पष्ट है। मानस के हनुमान के व्यक्तित्व का झुकाव आदर्श सेवकत्व की ओर अधिक है और वा० रामायण का राजनीतिपटु मन्त्रित्व और दूतत्व की ओर। तुलसीदास ने हनुमान के बल का निरूपण करने में जितनी रुचि प्रदर्शित की है, उतनी बुद्धि के निरूपण में नही, यद्यपि प्रशंसा उनकी बुद्धि की भी काफी की गई है।

वा० रामायण में राजनीति-तत्व के आधिक्य की बात अनेक स्थलों पर कही गई है। इसका प्रभाव कथाप्रसगों की रचना और चरित्रचित्रण पर दिखलाई पड़ता है। हनुमान के विषय में भी यही बात है। राम-लक्ष्मण से उनकी भेट की पहली ही झाकी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मानस में यह भेट भक्त और भगवान की है,[१] जबकि वा० रामायण में लक्ष्मण और हनुमान के रूप में दो पारस्परिक सहायतार्थियों या राजनैतिक स्वार्थियों की।[२] उनकी वाग्मिता की भी वा० रामायण में विशेष प्रशसा की गई है (४.३.२८-३३)। उनकी राजनैतिक दूरदर्शिता के प्रसंग वा० रामायण मे

१ प्रभु पहिचानि परेउ गहिचरना (४-१)।
२ रा० ४ ४ २ २० तथा २१

अधिक हैं जैसे, विद्रोही युवराज अगद को शान्त करना (४.५४), लंका का भावी युद्ध की दृष्टि से निरीक्षण करना (५.४१, तथा ५ ४), विभीषण को दल में मिला लेने की सलाह देना (६.१७.५१-६८)। मानस में इन प्रसगों का वातावरण स्वामिभक्ति मे परिणत कर दिया गया है। अकेले हनुमान ही नहीं, सारी वानर जाति को स्वामि-भक्ति का प्रमाणपत्र दिया गया है।[1] सीतान्वेषण के विषय मे सुग्रीव को हनुमान द्वारा चेतावनी दिये जाने का प्रसंग दोनों काव्यों में है, परन्तु वा० रामायण में वह एक योग्य मंत्री की दूरदर्शिता का परिचायक है जब कि मानस मे प्रभु के सच्चे सेवक के कर्तव्य-पालन का। रावण के दरबार में भी वे वा० रामायण में राज-चर का कार्य करते हैं और मानस मे राम-भक्त का। आदिकाव्य में हनुमान वाग्मी राजदूत हैं और मानस मे मूक चरण-सेवक। जो हनुमान विभीषण-शरणागति के समय मानस में मूक बने रहते है वे ही एक अन्य अवसर पर अपनी वाग्मिता का प्रमाण एक दूसरे ही रूप मे देते है जिससे भक्त की कल्पनाशक्ति प्रकट होती है :—

> कह हनुमत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
> तव मूरति विधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥ (६.१२)

हनुमान की विस्मरणशीलता और कपिस्वभाव—

हनुमान की बुद्धि की एक विचित्र दुर्बलता का आभास भी, उनकी विस्मरण-शीलता के रूप में, दोनों काव्यों में मिलता है। वा० रामायण में इसके प्रमाण अनेक है परन्तु मानस मे उनमें से कुछ, कदाचित् कथापरम्परा के कारण ही, बने रहे है। वा० रामायण में इस प्रकार के प्रसग ये हे—लक्ष्मण-भेंट से पूर्व सुग्रीव, हनुमान के ही परामर्श से, वानर-संग्रह के लिये दूत भेज चुके थे, परन्तु लक्ष्मण-कोप के समय हनुमान ही इसे भूल जाते है और तब तारा उन्हें याद दिलाती है। (४.३५.१९-२२)। द्रोणाचल पर पहुंचने पर वे औषधियों का विवरण ही भूल गये, इसलिये सारा पर्वत उखाड़ लाये (६.१०२.२५-२६)। सागरलंघन मे पूर्व उन्हें अपने बल का स्मरण ही नही था और जाम्बवान के कराने पर ही आया (४.६६)। ये अन्तिम दो प्रसग मानस मे भी है[2], जिनमें से अन्त के प्रसग मे इस बात का आभास स्पष्ट रूप में मिलता है कि उन्हे कदाचित् विस्मरणशीलता (Amnesia) का कुछ रोग या स्वभाव था।[3] वा० रामायण के एक विज्ञ समालोचक ने इसे हनुमान के स्वभाव की एक विचित्रता बत-लाते हुए ऐसे और भी अनेक प्रसंग प्रस्तुत किये है।[4] वा० रामायण में इस विस्मरण-शीलता का कारण भी एक शाप के रूप में दिया गया है[5] जिसके आधार पर उक्त आलोचक ने इन प्रसगों की ओर सकेत किया है।

---

१. अंगद स्वामिभक्त तब जाती (६.२४.३)।
२. मा० ६.५८ तथा ४.३०।
३. लैक्चर्स आन रामायण- वी० शास्त्री- लैक्चर१७।
४ वही
५ ७ ३६ ३३

हनुमान के कपि-स्वभाव का चित्रण भी दोनों कवियों ने किया है, अर्थात् इस बुद्धिवैभव के साथ उनका जातीय स्वभाव समाप्त नहीं हो गया था। उनके लांगूल-प्रेम और हर्ष को लांगूल-संचालन के द्वारा व्यक्त करने के स्वभाव का वर्णन दोनों कवियो ने किया है, परन्तु उनकी कापेयी चंचलता को मानसकार ने राम-भक्त की मर्यादा की दृष्टि से संयत कर दिया है। वा० रामायण मे वे तारा से कह उठते है कि अपने पुत्र के अभिषेक की तैयारियां करो (४.२१.११), सीता से प्रस्ताव करते है कि मेरी पीठ पर बैठ कर भाग चलो (५.३७.२४) और सीता इस कापेयी चचलता के लिये उनकी भर्त्सना भी करती है (वही, २९)। वा० रामायण मे वे अवसर-अवसर पर बोल उठते हैं, जबकि मानस मे राम के पूछने पर ही बोलते है अन्यथा अधिकांशतः चुप रहते हैं। आशय यह कि मानसकार ने उनके कपि-स्वभाव का उतना ही अंश ग्रहण किया है जो उनके राम-दूतत्व के लिये शोभनीय था। वे वाटिका-विध्वस के लिये रावण के समक्ष अपने जातीय स्वभाव की ही दुहाई देते है, परन्तु इसमें राम के प्रताप की प्रेरणा भी छिपी हुई है।[1]

हनुमान की सेवा और भक्ति-भावना—

वा० रामायण मे वे आदर्श सचिव भी है, मानस मे केवल आदर्श सेवक। दूतकार्य मे उनकी निपुणता दोनों मे है, परन्तु वा० रामायण में राजनीतिज्ञ के नाते और मानस में राम-भक्त के नाते। यही दोनों के हनुमान में सूक्ष्म अन्तर है।

हनुमान की चरित-कथा में तीन क्रमिक सोपान लक्षित होते हैं। प्रारंभ मे वे वानर-राज के सुयोग्य सचिव के रूप मे दिखलाई पड़ते हैं, मध्य में कुशल दूत के रूप में और अन्त में सेवक के रूप में। मानस में उनका यही अन्तिम रूप दास्य-भक्ति के आदर्श में परिणत हो गया है, जैसा कि राम के साथ अयोध्या जाने के बाद उनके वही राम की सेवा में रुक जाने से प्रकट है—

पुन्यपुंज तुम्ह पवन कुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥ (७. १९)

वा० रामायण में यह प्रसंग नहीं है परन्तु जिन शब्दो मे राम ने उसकी प्रशंसा की है उससे प्रकट है कि वे सेवाधर्म के महान आदर्श थे।[2]

वा० रामायण में उनके प्रति राम की अतिशय कृतज्ञता का ज्ञापन एवं सीता और भरत की भी विशिष्ट कृतज्ञता का प्रकाशन हुआ है,[3] परन्तु मानस में उन्हें सबसे बड़ा उपहार राम की चरण-सेवा का मिला है। वा० रामायण में उनका प्रारम्भिक परिचय भी सुग्रीव-सचिव के रूप में हुआ है और अन्त में वे सुग्रीव के साथ वापस लौट भी गये हैं[4]। अन्य प्रसंगों में भी उन पर सुग्रीव का आधिपत्य और अनुशासन ही विशेष

---

१. मा० ५.२८।

२. कृतं हनुमता कार्यं सुमहद्भवि दुष्करम्। मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले॥ (६.१.२)

३ रा० ६ १-६, १२८ तथा ६ ११

४ रा० ६ १११

दिखलाई पड़ता है जब कि मानस में वे सीता-सन्देश के बाद से ही राम की आजीवन सेवा में नियुक्त दिखलाई पड़ते है। चरण-दाबने से लेकर सिफारिश करने तक का गौरव और अधिकार मानस के हनुमान को प्राप्त हुआ है। किसी बात को पूछने मे यदि भरत सकोच करते है तो हनुमान उनके लिये राम से सिफारिश करते है।[1] इस प्रकार आदर्श सेवक हनुमान, सेवा के पुरस्कार-स्वरूप, विशेषाधिकार सम्पन्न उच्चतम भक्त के आसन पर विराजमान हो गये हैं।

वा० रामायण मे भी हनुमान के प्रसंग से आदर्श सेवक की परिभाषा की गई है (६.१.८-११), परन्तु मानस में आदर्श भक्त के रूप मे उनका हृदय 'सरचापधर राम'' का निवास स्थान बन गया है (१.१७)। इसके अतिरिक्त तुलसी की मूल भावना के अनुसार वे राम के अवतारमंडल के सदस्य भी हैं—

राम काज लगि तव अवतारा। (४.३०)

वा० रामायण में अपने समस्त अद्भुत कर्मो के साथ भी हनुमान का सम्बन्ध अवतारवाद से नही दिखलाई पड़ता है, यद्यपि चिरंजीवत्व, अनन्य रामभक्ति और निरन्तर रामकथा-श्रवणत्व का वरदान उन्हें मिल चुका है।[2] मानस में तो वे सीता-राम के सुत ही बन गये हैं।[3]

निष्कर्ष—

हनुमान के महत्कृत्य इस बात के सूचक हैं कि वे एक आदिवासी जाति के महापुरुष थे जिनके विषय मे स्वतन्त्र आख्यान प्रचलित रहे होंगे। उनकी यशस्विनी जीवन-गाथा लोककथाओं के पालने में झूलने के बाद महती रामकथा के आश्रित हो गई है। हनुमान के बल, वीरता, बुद्धि, सेवा और भक्ति के तत्व आदिकाव्य और मानस दोनो मे ही संवर्धित रूप में है, फिर भी उनके अनुपात मे कुछ अन्तर है। मानस में ये समस्त गुण राम की कृपा से प्रेरित और राम की सेवा के निमित्त हैं। इसीलिये मानस के हनुमान का व्यक्तित्व राम के साथ एकाकार है, जैसा कि वा० रामायण में नहीं है। वा० रामायण में उनकी शोभा उनके व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य में ही है, जबकि मानस मे पूर्ण समर्पण, सायुज्य और सामीप्य मे। मानस में उनके समस्त गुण और शक्तियाँ भगवद्भक्ति में परिणत हो गई हैं। इसीलिये तुलसीदास स्वयं भी हनुमान के भक्त बन गये हैं।

सुग्रीव

सुग्रीव का चरित्र कथा की दृष्टि से जितना महत्वपूर्ण है उतना आचरण की दृष्टि से नहीं।[4] वे सीता के अन्वेषण और रावण-वध में राम के मुख्य सहायक हैं,

---

१. मा० ७.३६।
२. रा० ७.४०।
३. ५.१७।
४. सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दरजे का है (अर्थात् विभीषण से बहुत नीचे)—रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास पृ० १४३

उनकी स्थिति पताकानायक की है परन्तु बल, वीरता, बुद्धि, विवेक औदार्य आदि कोई गुण उनमें विशेष नही है। गुणों की अपेक्षा सुरा और सुन्दरी के सेवन के अवगुण ही उनके व्यक्तित्व की प्रतिनिधि विशेषतायें है, जिस रूप में वे दोनों काव्यों में पहिचाने जाते हैं। उनके चरित्र को व्यजित करने वाली केन्द्रीय घटना उनका वह प्रमाद है जिसमें वे राम के कार्य को भूलकर राजसी सुखों में डूब जाते हैं और लक्ष्मण के कोप-भाजन बन कर, तारा और हनुमान की मध्यस्थता से, अपने कर्त्तव्यपथ पर आरूढ होते हैं[1]। वा० रामायण में फिर भी उनमें कुछ व्यक्तित्व दिखलाई पड़ता है परन्तु मानसकार ने उनके चरित्र को स्वयं उन्ही के मुख से कराई हुई परिभाषा में सीमित रक्खा है—

मैं पांवर पसु कपि अति कामी। (४.२१)

'राम' के अनन्य उपासक तुलसी ने 'काम' के किसी भी उपासक को क्षमा नही किया है, इसीलिये उन्होंने आदि काव्य के वानरराज सुग्रीव को प्राय: श्रीविहीन करके दीन रूप में प्रस्तुत किया है और यह दैन्य भी भगवान की महत्ता का बोध करने वाले भक्तों का आदर्श "दैन्य" नहीं वरन् अपहृत राज्य और पत्नी को दूसरे की सहायता से प्राप्त करके उसी में निमग्न हो जाने वाले ग्राम्यसुख-भोगी[2] अत्यन्त सामान्य जन का दैन्य है।

तुलना की दृष्टि से उनके चरित्र की तीन विशेषताओं पर विचार किया जा सकता है—कामुकता या विषय लोलुपता, राजकीय प्रभुत्व, और वीरता। सच्चे मित्र का आदर्श वे दोनों ही काव्यो में एक जैसा निबाहते है, परन्तु मानस मे इसका भी श्रेय राम की उदारता को ही है, सुग्रीव की चारित्रिक प्रौढ़ता को नहीं।

विषय लोलुपता—दोनों ही काव्यो में सुग्रीव का प्रारभिक परिचय एक ऐसे अत्यन्त भीरु व्यक्ति के रूप मे मिलता है[3] जिसका आत्मविश्वास, राज्य और स्त्री के छिन जाने के कारण, जाता रहा हो। उनके जीवन की भूमिका ही एक प्रकार से भगोड़े, कायर और क्लीव की भूमिका है। अत: उनके विषय सुख-भोग में वैसी तेजस्विता नही है जैसी वा० रामायण के राक्षसराज रावण में है। वा० रामायण में भी अन्त:पुर मे स्थित सुग्रीव का चित्र उसी प्रकार के रावण के चित्र से[4] सर्वथा भिन्न प्रभाव वाला है। वह अत्यन्त अभद्र और वीभत्स है।[5] कदाचित् कामसुख-भोगी वानरों की विशिष्ट सस्कृति का आभास देने के लिये ही वाल्मीकि ने इसे प्रस्तुत किया है और इस प्रकार

---

१. रा० ४.३१–३८ तथा मा० ४.१९-२०।
२. ग्राम्येषु भोगेषु सक्त:, (रा० ४.३४.१५)।
३. रा० ४.२ तथा मा० ४.१ (भागौं तुरत तजौं यह सैला)।
४. रा० ५.११.६।
५. रा० ४.३३.६५-६६ तथा ४.३४.६—लक्ष्मण सुग्रीव को ऐसे निर्लज्ज रूप में देखकर आश्चर्यचकित रह गये थे। श्री वी० एस० शास्त्री विनोदपूर्वक लिखते हैं **What an edifying posture** लेक्चर्स पृ० १६४

सुग्रीव वानर-संस्कृति के दुर्बल पक्ष के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। यही पक्ष मानस के सुग्रीव के चरित्र का मुख्य आधार बना है। मानस में सुग्रीव अपनी अथवा अपनी जाति की इस अभद्रता को स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना करते हैं,[1] परन्तु वा० रामायण के सुग्रीव को इसमें कोई अशालीनता नहीं प्रतीत होती। वह अपने प्रमाद को तो समझ लेते है, परन्तु कामवासना के लिये मानस के सुग्रीव के समान क्षमा-याचना नहीं करते। तारा को भी वाल्मीकि ने रजोगुण में डूबी प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया है जिसके लक्ष्मण के साथ वार्तालाप मे स्त्रीजनोचित संकोच का अभाव है, यद्यपि उसकी वाग्मिता और बुद्धिमत्ता आकर्षक है।[2] इस प्रकार वा० रामायण में सुग्रीव का विषय-विलास यथार्थ, स्वाभाविक और प्रभावशाली रूप में चित्रित किया गया है जब कि मानस में नैतिक और चारित्रिक दुर्बलता के रूप में। इससे दोनो कवियों के यथार्थ और आदर्शवाद का अन्तर स्पष्ट होता है।

राजकीय प्रभुत्व—वा० रामायण में सुग्रीव का राजकीय प्रभुत्व पर्याप्त रूप से प्रकट होता है, परन्तु मानस में वह कहीं-कहीं भगवान राम की दया के प्रकाश मे ही प्रकट हो पाता है, अन्यथा नही। वा० रामायण में दोनों मित्रों का स्वार्थ समान है, वरन् राम की ओर से सहायता और शरणागति की याचना विशेष रूप से की गई है[3]। सुग्रीव बड़े गौरव के साथ मित्रता का हाथ पसारते है (रोचते यदि वा सख्यं बाहुरेष प्रसारितः ४.५.१२)। वे स्वयं राम की वीरता से आश्वस्त हैं और उन्हें भी अपने भुजबल का पूर्ण विश्वास दिलाते हैं तथा अपने शोक को भी कम करते हैं और उनके शोक को भी (५.४.७)। मित्रता के आदर्श की परिभाषा वा० रामायण में (४.८) सुग्रीव ने की है और मानस मे (४.७) स्वयं राम ने श्रीमुख से। दोनों मित्रों के पारस्परिक अवलोकन की रमणीय झांकी वा० रामायण में देखने योग्य है (अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमुपजग्मतुः—४.५.१८)। अनेक अवसरो पर सुग्रीव के व्यक्तित्व को उभारने का प्रयत्न वा० रामायण मे किया गया है। सागर को देखकर हताश होते हुए राम को सुग्रीव प्रोत्साहन प्रदान करते हैं।[4] सुबेल पर पहुंचते ही उनका उत्साह रोके नही रुकता और वे रावण के गोपुर पर कूद कर उसमे गुंथ जाते हैं और राम इस प्रकार प्राण-संकट के लिये उसकी मृदु भर्त्सना करते है।[5] मानस में यह प्रसंग ही नही है। इससे मिलता हुआ एक प्रसंग है, परन्तु उसका श्रेय राम के बाण को मिला है सुग्रीव के विक्रम को नही।[6] सबसे अधिक उनका प्रभुत्व वानरों को दी गई उस आज्ञा मे दिखलाई पड़ता है जिसके कारण वे आतंकित हो कर आत्महत्या करना या छिपे रहना

१. मा० ४.२१।
२. रा० ४.३३, तथा ३५।
३. रा० ४.४ में "रामः शरणमागतः" "शरण्यः" आदि की आवृत्ति लक्ष्मण ने, हनुमान के समक्ष अनेक बार की है।
४. रा० ६.२।
५. वही, ४०
६. मा० ६ ११

पसन्द करते हैं परन्तु लौटकर जाना नहीं।[1] वा० रामायण में उसे "सुतीक्ष्ण दंड" और "उग्रशासन" (४.४९.४) कहा गया है। मानस में भी उक्त प्रसंग अर्थात् सुग्रीव से बानरों के भयभीत होने का उल्लेख है[2] फिर भी उससे सुग्रीव का राजकीय प्रभाव प्रकट नहीं होता। वा० रामायण में रावण के दूत को पाती लिख कर सुग्रीव ही देता है,[3] विभीषण-शरणागति के अवसर[4] तथा अन्य अवसरों पर भी उसका परामर्श उसके पद की मर्यादा के अनुकूल ही लिया जाता है, परन्तु मानस मे ऐसे प्रसंग या तो संक्षिप्तता के कारण प्रभावशून्य है या अनुपस्थित अथवा स्थानान्तरित है। पाती का प्रसंग मानस मे भी है, परन्तु वह सुग्रीव के नाम से नही लक्ष्मण के नाम से भेजी जाती है।[5] इस प्रकार मानस में सुग्रीव को रावण की बराबरी का दरजा नहीं दिया गया है। एक विद्वान ने कहा है कि "सुग्रीव आज्ञा" शब्द, सुग्रीव के कठोर शासन के कारण, लोकोक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है,[6] परन्तु उस सुग्रीव का आभास वा० रामायण में ही मिलता है, मानस में नही। भगवान राम के प्रभुत्व के समक्ष तुलसी ने सुग्रीव के प्रभुत्व को सर्वथा समाप्त कर दिया है।

वीरता—मानस में केवल कुंभकरण के नाक-कान काटकर भाग आने[7] या कभी रावण से झड़प कर लेने के अतिरिक्त और कोई प्रसग वानरराज की वीरता का नही है, जब कि वा० रामायण में उनके पराक्रम और विजय के अनेक प्रसंग है। उसका परिचय अनेक स्थलों पर 'विपुलग्रीवः सुग्रीव.' कह कर सम्मानपूर्वक दिया गया है (उदा० ६.१९.३४)। विरूपाक्ष और महोदर जैसे सेनानायकों का वध भी वही करता है।[8] मानस में वा० रामायण के सुग्रीव का विक्रम हनुमान, अंगद और लक्ष्मण मे विभाजित कर दिया गया है। इस प्रकार मानसकार ने सुग्रीव को गौरव शून्य कर दिया है, उसे राम के कार्य में प्रमाद करने का पर्याप्त दण्ड दिया है।

अन्तर—वा० रामायण में सुग्रीव का चित्र यथार्थवादी है परन्तु मानस में न तो उसका यथार्थ चित्र ही काव्य की दृष्टि से कोई प्रभाव रखता है और न वह भक्तो की श्रेणी में ही बैठाया जा सकता है। एक प्रकार से वह मानस में व्यक्तित्वशून्य पात्र है। कथा-संक्षेप और प्रसंगों के स्थानान्तरण के कारण, आदि काव्य में उसका जितना व्यक्तित्व था वह भी मानस में समाप्त हो गया है। उसमें आदर्श मित्र की प्रभा, राजा का प्रताप, राजनीतिज्ञ की मनीषा, सचिव की निपुणता, वीर का साहस आदि कुछ भी शेष नहीं रह गया है। न तो उसमें ऐसी कोई बड़ी बुराई है और न भलाई ही जिसका

१. रा० ४.५३।
२. मा० ४.२६।
३ रा० ६.२०।
४. वही, १७।
५. मा० ५.५२।
६. के० आर० शास्त्री, स्टडीज०, १० ८१।
७ मा० ६ ६६
८ रा० ६ ७० तथा ९८

विशेष रूप में चित्रण किया जाता[1]। उससे अधिक प्रभावशाली उसके सेवक हनुमान और युवराज अंगद तथा राम के दूसरे सखा विभीषण और निषादराज हैं। इसीलिये तुलसी और मानस के समीक्षकों ने अगद तक का चरित्रचित्रण किया है, परन्तु सुग्रीव को छोड़ दिया है।[2] मानस मे सुग्रीव का चरित्र केवल राम का चरित्र चमकाने अर्थात् उनकी उदारता को प्रकाशित करने के काम में आया है। राम बार-बार अपने सखा का गौरव रखते है, उसे मान प्रदान करते है और उसे भरत से भी अधिक समझते है।[3] तुलसी ने प्रस्तावना में ही स्पष्ट कर दिया है कि भगवान ने अपनी भक्तवत्सलता के कारण ही उसका अपराध क्षमा करके, जो कि बालि से कम नहीं था, उसे शरण प्रदान की थी अन्यथा वह किसी योग्य नही था।[4] वस्तुत: बालि और सुग्रीव के पर-नारी-ग्रहण को एक स्थिति में रखना तुलसी का अन्याय है क्योंकि एक ने अपहरण किया था, दूसरे ने ग्रहण। इससे प्रकट हो जाता है कि तुलसी सुग्रीव के प्रति कुछ अनुदार हैं। उत्तरकाण्ड में बिदाई के समय हनुमान को राम की सेवा में रुकने की आज्ञा सुग्रीव से दिलवा कर तुलसी ने सुग्रीव को कुछ मान प्रदान किया है[5] परन्तु साथ ही हनुमान की श्रेष्ठता (भक्त रूप में) यहां भी स्थापित कर दी है।

राम कथा के पात्रों का ग्रहण और संशोधन करने में तुलसी की यह प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है कि जहां वाल्मीकि ने उनके गुण-दोष निरपेक्ष और तटस्थ भाव से प्रसारित किये हैं वहां तुलसी ने अपने उद्देश्य के अनुसार ही उनका संकोच या संप्रसारण किया है। सुग्रीव के चरित्र के हीन पक्ष का ही उन्होंने प्रकाशन किया है। यहा भी यह दर्शनीय है कि सुग्रीव की हीनता की यह परम्परा आदिकाव्य से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। उसकी भीरता की हनुमान भी हंसी उड़ाते हैं (४.२.१७), बालि के मुक्के से घबरा कर लौट आने से प्रकट है कि उसके लिये किष्किन्धा नगरी अभोग्या थी, अपनी पूर्व पत्नी रूमा को बालि के पास रहने के बाद बिना हिचक ग्रहण करने मे भी उसकी क्लीवता प्रकट होती है, भले ही वानर संस्कृति में इसका निषेध न रहा हो।[6] तुलसी ने उसके व्यक्तित्व के इस एक ही पक्ष को ग्रहण किया क्योंकि 'काम' और 'राम' में वे सामंजस्य नहीं कर सकते थे।

विभीषण

विभीषण का चरित्र विवादग्रस्त है क्योंकि उसके विषय में लोकमत और

१. "न उनकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही"—रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास, पृ० १४३।
२. दे० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास अध्याय ६।
३. मा० ४. २१. ७, ५.४३, ६.१२.७,८ तथा ७. १७।
४. मा० १. २६।
५. मा० ७-१६।
६. वा० रामायण में सुग्रीव के चरित्र का इस दृष्टि से विवेचन श्री वी० एस० शास्त्री ने किया है, दे० लेकचर स० १४

शास्त्रमत पृथक पृथक हैं। एक ओर वह कुलद्रोही और देशद्रोही की उपाधि से कलंकित है, दूसरी ओर वह एक महान धर्मात्मा और राम के भक्त के रूप में सम्मानित भी है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने ही उसे धर्मात्मा और राम-भक्त के रूप मे प्रस्तुत किया है फिर भी इस विषय में न तो वे स्वयं आश्वस्त है और न ही अपने पाठकों को पूर्णतया आश्वस्त कर पाये हैं।[1] समीक्षकों की भी इस विषय मे तीन श्रेणियां हैं। कुछ उसे देशद्रोही मानते है,[2] कुछ सच्चा नीतिवादी, धर्मात्मा और रामभक्त[3] और कुछ उसमे स्वार्थबुद्धि का सन्निवेश देखते हुए भी उसे व्यापक दृष्टिकोण से रामभक्त और सच्चा धार्मिक मानते हैं।[4] विभीषण के चरित्र के उक्त दोनों पक्षों, अर्थात् धर्मात्मा और देशद्रोही, पर पृथक-पृथक विचार करके हम दोनों कवियों के दृष्टिकोण को समझ सकते हैं।

धर्मात्मा विभीषण—

विभीषण राक्षसकुल का अपवाद है। विभीषण के संस्कारों की भिन्नता का कारण दोनों ही काव्यों में प्रस्तुत किया गया है। वा० रामायण के दाक्षिणात्य संस्करण में तो विश्रवा ने ही कैकसी को विशेष वरदान दिया है कि उसका कनिष्ठ पुत्र धर्मात्मा होगा[5] और गौडीय तथा पश्चिमी संस्करणों में उसकी माता निकषा स्वय धर्मात्मा है। वह विभीषण को राम की सहायता के लिये प्रेरित करती है और वह रावण का परित्याग तथा राम की शरण में प्रस्थान उसी की अनुमति से करता है।[6] मानस मे भी विभीषण रावण की विमाता का पुत्र है और बचपन से ही धर्म मे उसकी विशेष रुचि बतलाई गई है।[7] दोनों ही काव्यों में विभीषण ने कठिन तपस्या के बाद धर्म और भक्ति का ही वरदान मांगा है।[8] अत. विभीषण की धर्मबुद्धि को अवसरवादिता या पाषंड नहीं कहा जा सकता। वह एक सच्चा धार्मिक, पवित्रात्मा और राजनीति का नीति के साथ सामंजस्य करने वाला व्यक्ति था।

दोनों ही काव्यों में धर्मबुद्धि होने के कारण विभीषण का आदर राक्षसकुल मे दिखलाया गया है। वा० रामायण में शूर्पणखा अपना परिचय राम को देते हुए अपने धर्मात्मा भाई का उल्लेख गौरव के साथ करती है।[9] रावण भी नीतिज्ञता के कारण

---

१. कवितावली में तुलसी ने स्वयं ही उसे "भ्रातघात पातकी" कहा है (उत्तरकांड, १४) और मानस में भी उसके तथा सुग्रीव के चरित्र पर आक्षेप किया है (१.२९)।

२. मा० प्र० गुप्त तुलसीदास, पृ० २९७ तथा रजनीकांत शास्त्री, मानसमीमांसा, पृ० १९६।

३. वी० शास्त्री, लेक्चर १५।

४. रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास, पृ० १४२।

५. रा० ७.९.२७।

६. गौ० रा० ५.७६ तथा प० रा० ५.७५।

७. मा० १.१७६।

८. रा० ७.१० तथा मा० १. १७७।

९ रा० ३ १७ २४

उसका सम्मान करता है। उसी की सलाह पर हनुमान को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता और एक बार युद्धकाल मे रावण विभीषण की अवज्ञा के कारण पछताता भी है— (रा० ६.६८)। दोनों ही काव्यों में रावणानुज कुम्भकरण अपने इस धर्मात्मा अनुज के प्रति परम सन्तोष प्रकट करता एवं उसे राक्षसकुलभूषण कहता है।[1] वा० रामायण मे विभीषण की पत्नी सरमा और पुत्री कला (अनुला) भी (५.३७.११) सीता की विशेष सहायता करती है, समाचार ला कर देती है और रहस्योद्घाटन भी करती है। जिस प्रकार विभीषण राम-भक्त है, उसी प्रकार वे सीता-भक्त हैं।

स्पष्ट है कि दोनों ही कवियो ने उसे सहसा धर्मात्मापन का बाना धारण करते हुए और किसी निश्चित राजनैतिक योजना के अनुसार राम की शरण में जाते हुए नही दिखलाया है। वह रावण को यथासभव नीति-मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है, बार-बार समझाता है, लात सह कर भी निराश नहीं होता, बुरा नही मानता और जब रावण किसी भी प्रकार अपना दुराग्रह नहीं त्यागता और विभीषण देखता है कि यह सारे राक्षसकुल का सर्वनाश कराने पर ही तुला हुआ है तब वह उसके साथ अपना असहयोग घोषित कर देता है और उसे सूचित करता हुआ ही राम की शरण में जाता है। रामायण के वंगीय और पश्चिमोत्तरीय संस्करणों तथा तुलसी की गीतावली मे वह राम के पास जाने से पूर्व अपनी माता, अपने अग्रज और अपने आराध्यदेव शिव से भेंट करता है और उनकी अनुमति तथा आशीर्वाद प्राप्त करके ही राम की शरण मे जाता है।[2] वह न तो छिप कर कपटपूर्वक राम के पास जाता है और न क्रोधावेश मे प्रतिक्रिया या प्रतिहिंसा के रूप में रावण को छोड़ कर जाता है। वह परिपक्व विचार और सदुद्देश्य के साथ राम की शरण में जाता है। दोनों काव्यों मे यह स्थिति स्पष्ट है—

(१) आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया बिना॥ (रा० ६.१६.२५)

(२) राम सत्यसकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउं देहु जनि खोरि॥ मा० ५.४१.

अब राम के पास पहुंचने पर वह कैसा आचरण करता है इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वह राम के पास विक्षुब्ध और अव्यवस्थित मनस्थिति में पहुंचता है, पुत्र और कलत्र का मोह भी उसने क्षोभ के कारण त्याग दिया है (रा० ६.१७.१६), राम के दर्शन और सामीप्य से उसमें और भी पवित्रता आ गई है और रही सही वासना का लेश भी जाता रहा है (मा० ५.४९.६)। वह एक सच्चे, ईमानदार मित्र के समान राम की पूरी-पूरी सहायता करता है, उनसे लंका का और रावण का कोई भेद नही छिपाता। वह रावण के भेदियों की पहिचान कराता है, सेना और राज्य के रहस्य बतलाता है, रावण के योधाओं और उनकी शक्ति का परिचय देता है (रा० ६.५८

१- रा० ६-६७- १४८-१५० तथा मा० ६-६४

२ दे० बुल्के पृ० ३७६ तथा गातावली ५ २६ २८ पद

तथा ५९), माया-युद्धों से सावधान करता है, माया-सीता का रहस्य बतला कर आश्वासन देता है और सब से बढ़ कर सहायता वह यह करता है कि मेघनाद (रा० ६.८६) और रावण के उन महान यज्ञों (रा० पश्चिम० स० ६.८२ तथा मा० ६.८५) को पूरा नहीं होने देता जिनके कारण ये दोनों राक्षस अजेय बन जाते। मानस में रावण रहस्य विभीषण बतलाता है (६.१०२) और वा० रामायण में इन्द्र-सारथी मातलि की मृत्यु का (६.१११)। इस प्रकार वह निष्कपट भाव से राम की पूरी-पूरी सहायता करता है। इतना ही नहीं, वह आगे बढ़ कर सम्मुख युद्ध करता है (रा० ६.१०१ तथा मा० ६.६४)। राम को संकटापन्न देख कर वह अधीर और विचलित भी हो जाता है।

दोनों ही काव्यों में राम विभीषण की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। वा० रामायण में उसी की रक्षा करते हुऐ लक्ष्मण को घातक शक्ति लगी है—(६.१०१), और मानस में भी रावण द्वारा उस पर फेंकी गई शक्ति को झेलने के लिये राम आगे आ जाते हैं (६.६४)।

आशय यह कि दोनो काव्यों में उसकी मित्रता, सचाई, नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता का आदर लंकादल और राघव-दल दोनों के ही लोग करते हैं। अन्तर यह है कि जहां रामायण में उसके मनोद्वन्दों का प्रकाशन और सहज वृत्तियों की अभिव्यजना करते हुए वाल्मीकि ने स्वाभाविकता की रक्षा की है वहाँ मानस में प्रारम्भ से ही उसे भक्ति की डोरी में अधिक कसकर उसके नैसर्गिक हृदय को अभिव्यक्त होने का अवसर कम दिया गया है। दोनों ही काव्यों में रावण के वध पर विभीषण पश्चात्ताप भी करता है. परन्तु मानस में वह भक्ति के आवेश में उसका तिरस्कार ही अधिक करता है।

विभीषण के मित्र-धर्म की कठिन कसौटी रामायण में मेघनाद-वध के अवसर पर और मानस में रावण-वध के अवसर पर प्रस्तुत होती है और इन दो प्रसंगो के आधार पर उभय कवियों की चरित्रचित्रण-कला का भेद भी पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है। वा० रामायण मे विभीषण मेघनाद के यज्ञ-विध्वंस और वध के लिये स्वय लक्ष्मण के साथ जाता है, उसकी छल-विद्या से लक्ष्मण को सावधान करता और उसे न्यग्रोधवृक्ष के पास तक जाने से रोकता है, इस प्रकार उसके वध में पूरा-पूरा सहयोग देता है। परन्तु ऐसा करते समय उसकी आंखों में सहज वात्सल्य के अश्रु भी तो छलछला आते है और वह सोचता है कि काश उसका भाई और यह भतीजा इतना दुराग्रही न होता।[1] तुलसीदास ने, इसके विपरीत, रावण का मृत्युरहस्य राम को बतलाते समय विभीषण के हृदय में किंचित भी कम्पन या धुकधुकी नहीं होने दी है।[2] वा० रामायण के विभीषण में राम के प्रति श्रद्धा और प्रेम के साथ ही स्वजनों के प्रति ममत्व और कोमलता भी यथेष्ट है, जबकि मानस में उसकी सारी भावुकता राम को समर्पित कर दी गई है और वह केवल बुद्धिवाद अर्थात् सैद्धान्तिक भक्तिवाद का जड़

---

१ रा० ६ ८४—८९ सर्ग

२ मा० ६ १०२

पिण्ड बना दिया गया है। मानस की अपेक्षा गीतावली के विभीषण में अधिक सहृदयता और स्वाभाविकता है—(गीता० ५.२६.४६)।

विभीषण की धर्मज्ञता दोनो काव्यों में असंदिग्ध है। उसका मुख्य और वास्तविक विचार रावण और मेघनाद को मरवा कर श्मशान बनी लंका पर स्वार्थपूर्ण निष्ठुर शासन करना न था, वरन् वह रावण को इस धमकी के द्वारा नीतिमार्ग पर लाना चाहता था। लंका के हित मे ही उसने लंका का परित्याग किया था और फिर लका के हित मे ही उसने राज्य ग्रहण किया।[1] परन्तु जब तक लका में सुशासन की परम्परा उसने प्रवर्तित की तब तक दूसरी ओर से उसे देशद्रोही की उपाधि भी मिल चुकी थी जिसने उसकी धर्मवत्ता, नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता की ओर से जनता की दृष्टि को बिल्कुल हटा दिया है। उसके व्यक्तित्व और चरित्र के उस दूसरे पक्ष की परीक्षा कर लेने के बाद ही किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है।

देश या जाति का द्रोही—

विभीषण को देशद्रोही या कुलद्रोही बतलाने वाले आधार निम्नलिखित है —

१. उसने जाते ही राम से लका के राज्य का आश्वासन प्राप्त किया।

२. उसने रावण के सारे रहस्य राम को बतलाये।

३. उसने मेघनाद को मरवाया।

४. उसने कुम्भकरण और माल्यवान आदि की नीति का अनुसरण क्यों नही किया अर्थात् वह रावण से असहमत होता, उसकी आलोचना करता, असहयोग कर सकता था, पर उसे राम की शरण में जाने की, लंका के राज्यलोभ के अतिरिक्त, क्या आवश्यकता थी ?

वा० रामायण के समीक्षकों ने इन प्रश्नों का समाधान विभीषण के पक्ष में किया है। दोनों ही काव्यों में विभीषण को पहुंचते ही लंका का राज्य दिया गया है, रामायण मे यह राम की राजनीतिक-दूरदर्शिता कही जा सकती है और मानस में भक्तवत्सलता।

विचार करने पर पता चलता है कि विभीषण के पास लंका का राज्य स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। वह अच्छी तरह समझ चुका था कि रावण सीता को वापस नही करेगा, उसकी जीत अधर्म की जीत होगी और उसकी हार धर्म की जीत।[2] रावण की जीत के बाद उसके सामने पलायन या मृत्यु का मार्ग था और हारने पर लका का राज्य। उसके जन्मजात संस्कार और सारी विचारधारा ही दूसरी थी, जैसा कि प्रारंभ में दिखलाया जा चुका है। मेघनाद से सम्वाद करते समय उसने स्वयं भी यही बात कही है।[3] ऐसी स्थिति में या तो वह अपनी धर्मबुद्धि और जन्मजात संस्कारों का बलपूर्वक दमन करता और तटस्थ होकर बैठ जाता या साहसपूर्वक लंका की व्यवस्था को ही आमूल परिवर्तित करने का प्रयत्न करता। उसने

१. दे० वी० एस० शास्त्री, लैक्चर्स, पृ० २३१।

२ वही पृ० २३०

३ रा० ६.८७ (मच्छील किं राक्षस विकत्थसे)

दूसरा मार्ग ग्रहण किया। उसके संस्कार कुम्भकरण से भिन्न थे, कुम्भकरण की धार्मिक दृष्टि उतनी व्यापक नहीं थी, वह शरीर से बलवान और मन से दुर्बल था जब कि विभीषण की मानसिक शक्ति सबल थी। उसने रावण को सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न किया और अन्त में कोई चारा न देखकर पूरी तरह राम की सहायता कर लंका में धर्मव्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य स्थिर किया। वह छिप कर नहीं आया, छल से नहीं आया, पूर्व योजना से नहीं आया वरन् जता कर और चेतावनी देकर आया, जिससे उसके विचार की सत्यता और निष्ठा प्रकट होती है :—

राम सत्यसंकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥ (मा० ५.४१)

"देहु जनि खोरि" से स्पष्ट है कि अपने चरित्र का भावी लांछन उसकी दृष्टि में है पर वह इसकी चिन्ता नहीं करता। मेघनाद-विभीषण सम्वाद में (रा० ६.८७) वाल्मीकि ने विभीषण की स्थिति को एक प्रकार से स्पष्ट कर दिया है। रामायण और मानस दोनों के राम "धर्मविग्रह" हैं और राम का पक्ष ग्रहण करना धर्म का पक्ष ग्रहण करना था। राम से प्राप्त की हुई लंका मानो धर्म से, धर्म-व्यवस्था के लिये प्राप्त की हुई लंका थी।[१]

रावण के सारे रहस्य राम को न बतलाने या राम की सहायता में कमी करने का अर्थ होता कि विभीषण दोनों ओर से ही मारा जाता, न उसका स्वार्थ सिद्ध होता और न परमार्थ। विभीषण न इतना मूर्ख था और न इस प्रकार असत्य का आचरण करने वाला। उसने रावण से लंका का राज्य छुड़वा कर स्वार्थ और परमार्थ दोनो को ही सिद्धि की।

मेघनाद का वध उसी ने करवाया, परन्तु छाती पर पत्थर रख कर करवाया। वह रावण की सभा में उसको फटकार चुका था,[२] युद्ध में भी उसने उसे फटकारा और अपने पक्ष का दृढ़ता से समर्थन किया।[३] वाल्मीकि ने इस अवसर पर यथार्थ और आदर्श का स्वाभाविक द्वन्द्व भी दिखलाया है। यथार्थ उसके मन में वात्सल्य की प्रेरणा करता है[४] और आदर्श उसे भतीजे की निर्मम हत्या देखने देता है,[५] परन्तु मानस में कोरा आदर्शात्मक चित्रण ही हुआ है। रामभक्ति के दृढ़ शिकजे में फंसे विभीषण के

---

१. "If he took Lanka it was in the highest sense of duty and service, it was because a stricken land wanted a wise, honest and straightforward ruler".—वी० शास्त्री, लैक्चर्स, पृ० २३१ इसके अतिरिक्त देखिये—रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास, पृ० १४२ और चिन्तामणि, भाग १, पृ० २११।

२. रा० ६.१५।

३. वही ६.८७।

४. हन्तुकामस्य मे बाष्पं चक्षुश्चैव निरुध्यति॥ (६.९०.१८)।

५ अयुक्तं निधनं कर्तुं पुत्रस्य जनितुर्मम स्य रामार्थे निहन्या भ्रातुरात्मजम्
(वही, १७)

हृदय की नैसर्गिक वृत्तियां उभरने ही नहीं पाती। फिर भी, दोनों कवियों की दृष्टि मे विभीषण के समक्ष लंका के राज्य का आकर्षण प्रधान नही है। वा० रामायण मे स्पष्ट ही है कि उस आकर्षण को मेघनाद की मृत्यु या दयनीय अवस्था का दृश्य दबा सकता था, परन्तु उसके सामने धर्मराज्य का आकर्षण प्रधान था जिसके लिये अर्जुन को तो अपने हाथों से ही अपने सम्बन्धियों का बध करना पड़ा था। मानसकार ने इस स्थिति को आदर्शात्मक बना कर इस रूप में प्रस्तुत किया है :—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ (५.४९)

कुम्भकरण के संस्कार मिश्रित थे। उसकी धर्मबुद्धि और उसका व्यक्तित्व विभीषण के समान सबल नही था, भले ही उसमें शरीर-बल अधिक था और माल्यवान बेचारा बूढ़ा था। उसने विरोध प्रकट कर दिया इतना ही बहुत किया। अत आलोचकों का कुम्भकरण या माल्यवान की स्थिति से विभीषण की तुलना करना न्यायसंगत नही है।[१]

कुछ आलोचकों ने तो यहां तक कह डाला है कि मयकन्या की रूपमाधुरी पर उसकी गिद्धदृष्टि लगी थी।[२] ऐसा वे ही लोग कह सकते है जिन्होंने, विभीषण के चरित्र की पृष्ठभूमि को समझने की चेष्टा नहीं की है। जिसकी माता ने धर्मात्मा पुत्र की कामना की हो, जिसके पिता ने धार्मिक पुत्र का वरदान दिया हो, जिसने तप करके धर्मबुद्धि का वरदान मागा हो वह अपने भाई की पत्नी पर गृद्धदृष्टि जमाये रहे, देश-द्रोह और कुलद्रोह करे और अपने भाई-भतीजों का बध कराये, ऐसा विचार और निर्णय करना विभीषण के साथ अन्याय करना है।[३]

विभीषण ने भी सुग्रीव के समान अपनी अग्रज-वधू को भार्या बनाया, परन्तु अग्रज की मृत्यु के बाद, और उसको छीन कर नहीं वरन् वरण करके। ऐसा न होता तो तारा और मन्दोदरी में इतनी शक्ति, इतना सबल व्यक्तित्व अवश्य था कि वे विद्रोह कर देतीं या सन्यास ले लेतीं। एक तो राक्षसकुल और वानरकुल की पारिवारिक मर्यादायें आर्य्यों से भिन्न थीं,[४] उनमें धर्म और संयम का वैसा ऊंचा आदर्श नही था, दूसरे विशिष्ट स्थितियों में भ्रातृवधू के वरण की अनुमति प्राचीन शास्त्र भी देते है।[५]

१. "जो यह कहते हैं कि उसे तटस्थ रहना चाहिये था वे मानवस्वभाव की उदासीनता से, उस उच्च उद्देश्य से जिसके लिये उसने धरती पर जन्म लिया है, अनभिज्ञता प्रकट करते है।" वी० शास्त्री, लैक्चर्स, पृ० २३० ।

२. रजनीकांत शास्त्री, मानसमीमांसा, पृ० १६७ ।

३. "विभीषण के चरित्र की उत्तरी भारत मे जैसी छीछालेदर हुई है वैसी अन्यत्र नहीं। राजनीति का वास्तविक रूप भारतवासियों की दृष्टि से ओझल हो गया है। विभीषण का चरित्र संतुलित दृष्टि से समझे जाने की अपेक्षा रखता है" वी० शास्त्री, लैक्चर १५, पृ० २२३-२४ ।

४. दे० दि पोयट्री आफ वाल्मीकि, एम० वी० आयंगर, पृ० १६० ।

५ दे० इवोल्यूशन आफ मारल्स इन ऐपिक्स अध्याय ५ (पोस्ट वैडलाक रिलेशन्स), विशेष पृ० ६९, ७०

इस प्रकार दोनों ही कवियों ने विभीषण के चरित्र को लोकमान्यता से भिन्न आधार पर प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि की दृष्टि में वह एक आदर्श राजनीतिज्ञ है और तुलसी की दृष्टि में एक महान भक्त, फिर भी उसकी प्रतिष्ठा हनुमान, निषाद, शबरी आदि से बहुत नीचे है क्योंकि उसमे कुछ वासना अथवा स्वार्थ भी है। वह न तो पूर्ण ज्ञानी और जिज्ञासु है और न पूर्ण प्रपन्न, वरन् कुछ अर्थार्थी भी है। तुलसी ने उसे राम-नाम का जप करते हुए और उसके निवासस्थान को 'रामायुधअंकित' और 'तुलसिका पादप' से युक्त दिखला कर उस पर वैष्णवता की छाप स्पष्ट रूप में अंकित की है (मा० ५. दो० ५)। मानस में उसका अपना चरित्र वास्तव में ऊंचा नहीं है, वह तो वा० रामायण में उच्चतर है, केवल रामभक्ति ने ही उसे सम्मानित और परिष्कृत किया है। भक्त की दृष्टि से उसकी भावनाओं का चित्र गीतावली मे अधिक रमणीय है—(सुन्दर० २९, ३०, ३६, ३७, ४३)। मानस में वह केवल राम की भक्ति के प्रकाश में चमकता है अन्यथा नहीं, और यह बात हम तुलसी के सभी पात्रो मे देखते है।

विभीषण के प्रसंग से भक्ति-भावना का प्रारंभिक परन्तु विशद रूप वा० रामायण में स्पष्टतया देखा जा सकता है। विभीषण को शरण मे लेते समय राम की शरणागत-विषयक घोषणा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ (६.१८.३३)

भक्ति का एक मुख्य सूत्र बन गई है जिसे वैष्णव धर्म में विशेष मान्यता मिली है और जिससे प्रकट है कि गीता में निरूपित भक्तिभावना (सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज) आदि काव्य में भी विद्यमान है।[१]

निष्कर्ष—

१. रामकथा के अधिकांश पात्रों के चरित्र के विषय में मतभेद है, क्योंकि उनका सम्बन्ध हमारे विविध आदर्शों और सांस्कृतिक प्रश्नों के साथ है और उन पर विभिन्न युगों की विचारधारा का प्रभाव पड़ता रहा है। अतः उनके विषय मे एक सर्वसम्मत निर्णय नहीं दिया जा सकता।

२. व्यापक दृष्टि से देखने पर विभीषण का चरित्र वा० रामायण में एक निस्स्वार्थ उदार राजनीतिज्ञ और देशहितैषी का ही सिद्ध होता है। दोनों ही काव्यो मे वह भक्त भी है, परन्तु वा० यामायण में उसकी राजनैतिक व्याख्या अधिक स्पष्टता-पूर्वक की गई है। मानस में उसे स्वार्थी बतलाते हुए भक्ति के द्वारा परिष्कृत करके उच्च श्रेणी में बैठाया गया है। इस प्रकार यथार्थ और आदर्श दोनो दृष्टियों से विभीषण का चरित्र वा० रामायण मे उच्चतर है।

---

१. वा० रामायण के उक्त स्थल की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों ने कोई सन्देह प्रकट नहीं किया है (दे० बुल्के० पृ० ३८०), अत वाल्मीकि को रामभक्ति के विकास का भी आदिकवि माना जा सकता है

३. अन्य सभी पात्रों के समान वा० रामायण में विभीषण का भी अपना व्यक्तित्व है, परन्तु मानस में वह केवल राम के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने का निमित्त मात्र है अर्थात् विभीषण की भक्तिभावना की अपेक्षा भगवान राम की भक्तवत्सलता ही मानस में अधिक प्रकाशित होती है। तुलसी की भक्ति ने व्यक्ति विभीषण को उभरने का अवसर नहीं दिया है।

४. तुलसी ने विभीषण के चरित्र का विस्तार केवल साम्प्रदायिक दिशा में किया है, उस पर वैष्णवता की छाप अधिक लगाई है, परन्तु उसके हृदय की उदात्त वृत्ति का विशद विकास नहीं किया है। इस दृष्टि से वा० रामायण का विभीषण मानस की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

५. भक्ति के तत्व वा० रामायण में अनेक प्रसंगों और पात्रों के आधार पर देखे जा सकते हैं। विभीषण का चरित्र भी इसका उदाहरण है। मानस में भक्ति-भावना का विस्तार अवश्य हुआ है परन्तु, साथ ही, उसमें अनेक स्थलों पर सांप्रदायिकता की भी गहरी छाप लगी है जिसके कारण काव्यक्षेत्र में मानस के महत्व को ठेस पहुची है। आदि कवि होने के साथ ही वाल्मीकि रामभक्ति के भी आदि द्रष्टा माने जा सकते हैं।

मेघनाद

अनन्य मायावी योधा और रावण का अनन्य सहायक,—मेघनाद की ये ही दो विशेषतायें दोनों काव्यों में प्रकट की गई है।

मायाशक्ति—वा० रामायण के उत्तरकाण्ड में (सर्ग १) राम के दरबार में आने वाले महर्षियों ने मेघनाद के बल पर विशेष प्रसन्नता प्रकट की है क्योंकि वह अपने कठोर यज्ञों के द्वारा प्राप्त दिव्य वरों से अजेय ही बन चुका था। उसके विषय में आदि कवि की मान्यता थी—

१. अदृश्यः सर्वभूतानां कूटयोधी निशाचरः ॥ (६.४४.४१)
२. अदृश्यः सर्वभूतानां योऽभवद्युधि दुर्जयः ॥ (वही, ३३)
३. स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम् ॥ (वही, ३७)

अशोकवाटिका में कोई उपाय न देख कर उसने हनुमान पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था (रा० ५.४८), युद्ध में भी कपटपूर्वक उसने राम और लक्ष्मण को नाग-शरों में बांधा था (६.४४.३८-४१), एक बार और भी यज्ञ द्वारा प्राप्त माया-शक्ति तथा दिव्यास्त्रों की सहायता से उसने सारी सेना सहित राम और लक्ष्मण को धराशायी किया था (६.७३), और अन्त में माया-सिद्धि में विफल कर दिये जाने पर ही उसका बध हुआ है (६.८६-९१)। रावण को उसकी वीरता पर सब से अधिक गर्व है[1], परन्तु वह अपने पिता से भी इस बात में श्रेष्ठ है कि उसने अपनी सिद्धियों का उपयोग वीरता के क्षेत्र में ही किया है, विलास के क्षेत्र में नहीं।

[1] न कश्चित् त्रिषु लोकेषु संयुगे न गतश्रम (५.४८.४) तथा मत्समानुरूप तपसा बल च ते परा [illegible] स्युगे (वही ६)

तुलसीदास ने मेघनाद के चरित्र की इसी परम्परा का निर्वाह किया है और वा० रामायण में कथित उसकी वीरता के प्रसंगों को मानस में उसी प्रकार स्थान दिया है। केवल मायामय सीता के बध का प्रसंग (रा० ६.८१) तुलसीदास ने भक्ति-भावना के कारण नही दिया है। उन्होंने भी उसकी उपरोक्त विशेषताओं की आवृत्ति की है—

१. मेघनाद मख करइ अपावन।
   खल मायावी देव सतावन ॥ (६.७५)
२. मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयेउ अकास ॥ (६.७२)
३. भट महुं प्रथम लीक जग जासू ॥ (१.१८०)

रावण जैसी विलासिता का कोई चिह्न मानस के मेघनाद में भी नही है, इससे प्रकट है कि मूलकाव्य के पात्रों के चारित्रिक सौन्दर्य को उन्होंने हर कहीं नही बिगाड़ा है। इसके अतिरिक्त उन्होने रावण के स्थान पर मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण का मूर्छित होना दिखलाया है (मा० ६.५४) जिससे प्रकट है कि मेघनाद की निन्दा करते हुए भी तुलसी उसके शौर्य के प्रति आकृष्ट अवश्य हैं। लक्ष्मण और मेघनाद की जोट उन्हें अत्यन्त प्रिय प्रतीत हुई है,[1] और उसकी मृत्यु के समय अंगद और हनुमान भी धन्य-धन्य कहते हुए उसकी जननी की प्रशंसा कर उठे थे।[2] इस अजेय योधा का शक्ति-रहस्य मरते समय उद्घाटित हो गया था अर्थात् मरण-बेला में उसने अपना कपट (माया-शक्ति) त्याग दिया था।[3] मानस का मेघनाद लक्ष्मण के समान ही अपनी वीरता से हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

रावण का अनन्य सहायक—मानस में भी केवल एक पात्र, जिसने आजीवन रावण की हठवादिता में सहयोग दिया है, वह मेघनाद ही है। दोनों ही काव्यो मे रावण विचलित हो उठा है[4], परन्तु मेघनाद कभी नहीं झुका है। मानस में तुलसीदास रावण को तो भक्ति के रंग में रंग सके[5], परन्तु मेघनाद के राक्षस-रक्त की शुद्धता की उन्होंने भी रक्षा की है। मरते समय उसने राम और लक्ष्मण को पुकारा है, परन्तु यह भक्त की नही वरन् वीर योधा की ललकार है।

रामानुज कहं राम कहं अस कहि छाड़ेसि प्रान।
धन्य-धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान ॥ (६.७६)

अन्तर—मेघ-चरित्र की मौलिकता का निर्वाह करते हुए भी तुलसी ने राम-विरोधी होने के कारण उसे, अपने स्वभाव के अनुसार, 'खल' इत्यादि अवश्य कहा है। 'कवितावली' में मन्दोदरी उसी पर सारा आरोप करती हुई उसे गाली देती है—

खीझति मंदोवै सविषाद देखि मेघनाद,
बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को ॥ (सुन्दर० १२)

१. मा० ६.५४.१।
२. वही, दो० ७६।
३. वही, ७६।
४ रा० ६ ६०,६८ तथा ७२ और मा० ५ ५७ १,६ दो० ५ ६.९२ ५
५ मा० ३ २३

मानस मे अंगद का पैर मेघनाद भी नहीं उठा पाता (६-३४.११)। वाल्मकि के पास उसके विक्रम-विस्तार के अवकाश के अतिरिक्त उसके "श्रीमान् पद्मपलाशाक्ष" (५.४८.१७) और उसका 'रणपांडित्य' (वही, २१) देखने की सहृदयता भी है।

निष्कर्ष—दोनो काव्यों मे मेघनाद की शक्ति (माया पर आधारित होने के कारण) एक प्रकार से कृत्रिम ही है, और इस प्रकार उसका तपोबल ही अपेक्षाकृत अधिक सराहनीय है। यज्ञ करते समय उसके बध किये जाने का औचित्य इसीलिये है कि वह अपनी सिद्धि का दुरुपयोग कर रहा था और ऐसे मायावी व्यक्ति के साथ छल या नीति के सामान्य नियमो का उल्लंघन किया जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता। मेघनाद के चारित्रिक सौन्दर्य को तुलसी की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति ने स्पर्श मात्र किया है, उसे बिगाड़ा नही है। इससे प्रकट है कि धर्मोपदेश का लक्ष्य रखते हुए भी तुलसी ने काव्यकला की रक्षा का प्रयत्न किया है।

अंगद

रामकथा में अंगद एक विशिष्ट मनोग्रंथि से पीड़ित पात्र है। पिता का अनुचित रूप से वध किया जाना और अपनी माता के नवीन भर्ता सुग्रीव की धृष्टता एवं अनीति उसके हृदय में शल्य के समान चुभती ही रही, परन्तु वह अपनी प्रतिहिंसा को पूर्ण करने का अवसर न पा सका। यही उसके व्यक्तित्व की व्याख्या है जिससे प्रायः दोनो कवि सहमत हैं। उसका यह चरित्र सीतान्वेषण के अभियान में प्रकट होता है जब कि सुग्रीव की कठोर आज्ञा से भीत और क्षुब्ध वह या तो आमरण अनशन करने की ठानता है, या एक स्वतंत्र राज्य स्थापित करके सुग्रीव का राज्य ही पलट देने की योजना मन ही मन बनाता है।[1] रामायण में उसकी मनस्थिति के इस दूसरे पक्ष की प्रधानता है और मानस मे पहले की। मानस में केवल पहला पक्ष अर्थात् आमरण अनशन का विचार ही प्रस्तुत किया गया है।[2]

स्पष्ट है कि रामचन्द्र की भक्तिचन्द्रिका में मानस के अंगद का रजोगुणी स्वरूप मिटा कर सतोगुणी स्वरूप उभारा गया है। उसमें विद्रोह है परन्तु भक्त का प्रशान्त विद्रोह है। तुलसी ने प्रायः पात्रों की मूल परम्परागत भूमिका को अक्षुण्ण रखते हुए ही उनमें कुछ परिवर्तन किये हैं। अंगद के चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि की यथार्थवादी और तुलसी की आदर्शवादी पद्धति का भेद स्पष्ट दिखलाई देता है। रामायण का अंगद यथार्थ पात्र है। वह पिता के वध को विस्मृत नहीं कर सकता, माता के परपुरुषवरण से सहमत नहीं होता, चाचा का दुलार उसे झुठला नहीं सकता। उसमें बल है, बुद्धि है, नेतृत्व है, परन्तु दूरदर्शी कुशल राजनीतिज्ञ और सुग्रीव के सच्चे हितैषी एवं राम के निष्कपट सेवक हनुमान विष-बेलि का अंकुर देखते ही उसे उखाड़ डालते हैं।[3] मानस के अंगद के व्यक्तित्व का यथार्थ पक्ष बलपूर्वक दबा दिया गया है। जाम्बवन्त राम का

१. रा० ४.५५।
२ मा० ४ २५
३ रा० ४ ५४

सच्चा स्वरूप समझा कर उसकी मनोवृत्ति बदल देते है। मानस में अंगद के चरित्र मे विशेष परिवर्तन किया गया है। वे हनुमान के समान कुशल दूतत्व करते है।[1] मानस के अंगद का बल और उनकी बुद्धि रामायण के अंगद से इसीलिये बढ़ी हुई दीखती है कि उन्हें राम की कृपा का प्रसाद मिला हुआ है, अन्यथा वे चरण का आरोप करके सीता की हार-जीत की बाजी न लगा देते और अपनी शक्ति से इस प्रकार सारी सभा को, इन्द्रजित और रावण तक को, हतप्रभ न कर देते। रावण के चार मुकुटों के रूप मे रावण की राजनीति के चारों तत्व छीनकर राम के पास पंवार देने की शक्ति मानस के भक्त अंगद में ही हो सकती थी, वा० रामायण के विद्रोही तरुण में नही। मानस के अगद का चरित्र इस प्रकार अधिक चमत्कारपूर्ण है, परन्तु उसमें उतनी ही अधिक अवास्तविकता भी है। रामायणकार की राजनैतिक दृष्टि और मानसकार की भक्ति-भावना इस चरित्र के प्रसार में भी पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ती है।

मानसकार ने अंगद को हनुमान की समकक्षता देने का प्रयत्न किया है। बल और बुद्धि में हनुमान जैसे दो पात्र मानस में और दिखलाई पड़ते हैं। जाम्बवान बूढे हनुमान हैं और अंगद किशोरवय हनुमान। इसीलिये तुलसी ने राम के राज्याभिषेक के बाद अंगद का ऐसा भक्तिप्लावित मार्मिक चित्र उपस्थित किया है :—

१. अंगद बैठ रहा नहि डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला।। (७.१७)

२. मरती बेर नाथ मोहिं बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछें घाली।।

× × ×

नीचि टहल गृह के सब करिहउं। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउं।।

अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही।।

× × ×

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।

बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ।। (७.१८)

भक्त तुलसी का स्वाभिमान और विनय तथा विनयपत्रिका के रचयिता का भावपूर्ण हृदय, मानस के जिन अनेक पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र में प्रतिबिम्बित होता देखा जा सकता है, अंगद उनमें से एक है।

इस प्रकार रामायण और मानस के अंगद में बहुत अन्तर है।

प्रधान स्त्री पात्र

सीता, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, मंथरा, शूर्पणखा, शबरी और मन्दोदरी रामकथा के प्रमुख नारी पात्र हैं जिनका कथानक में भी महत्वपूर्ण भाग है और जिनकी ही चारित्रिक विशेषताओं को दोनों कवियों ने विशद रूप में प्रकट किया है। तारा की गणना भी मुख्य स्त्रीपात्रों में की जा सकती है परन्तु मानस में उसका स्थान गौण ही है त्रिजटा आदि स्त्री पात्रों पर गौण वर्ग के अन्तर्गत विचार किया

सीता

वा० रामायण में सीता के महत्व को प्रकट करते हुए कहा गया है—काव्य रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् (बाल० ४.७)। वस्तुतः रामकथा का उत्तरार्ध विशेष रूप से सीता के गौरव का ज्ञापक है जिनके निमित्त संसार के दो महान् योधाओं मे महायुद्ध हुआ। सीताहरण की घटना और महायुद्ध का सादृश्य यूनानी महाकाव्य इलियड की घटनाओं से देखते हुए कुछ योरोपीय विद्वानों को भ्रम हुआ था कि वा० रामायण की कथा होमर की कृति का अनुकरण है। इस मान्यता का खंडन अनेक विद्वानों के द्वारा किया गया है।[1] सीता भारतीय नारीत्व का महान आदर्श हैं। राम के समान उनका व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक, पौराणिक और आध्यात्मिक भावनाओं मे परिवेष्टित है। राम की अपेक्षा सीता के व्यक्तित्व के विधायक उपकरण, प्राकृतिक प्रतीकों के रूप मे वैदिक साहित्य में कहीं अधिक मिलते हैं।[2] विद्वानों का विचार है कि वैदिक साहित्य की कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता का प्रभाव वा० रामायण पर भी पड़ा है, इसीलिये उन्हें जनक की औरस पुत्री की अपेक्षा पृथ्वी-पुत्री माना गया है। उनका पालन करने के कारण ही उनके पिता कहलाने का गौरव जनक को प्राप्त हुआ था।[3] मानस की कथा के अलौकिक वातावरण में सीता की चमत्कारिक जन्मकथा उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के साथ सहज रूप में समन्वित हो गई है।

वाल्मीकि और तुलसी के राम की अपेक्षा इन दोनों कवियों की सीता में अधिक अन्तर दिखलाई पड़ता है। राम के विषय में दोनों कवियों की पुरुषोत्तम की कल्पना मे पर्याप्त सादृश्य है, अवतारवाद के तत्व भी प्रचलित वा० रामायण मे जुड़ गये थे, परन्तु सीता के सामाजिक आदर्श के विषय में दोनों कवियों में पर्याप्त मतभेद है। दोनों की युग-संस्कृति की भिन्नता का प्रभाव सीता के चरित्रनिरूपण में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है। मानस की सीता का सामाजिक आदर्श आदि काव्य की सीता से भिन्न है तथा उनका पातिव्रत भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रतिबन्धों द्वारा अनुशासित है, जबकि आदि काव्य की पतिव्रता सीता में वैदिक समाज की नारी का स्वाभिमान है जो अपना पृथक आकर्षण रखता है। मानसकार की सीता की अतिशय विनयशीलता, उनकी शालीनता और पूर्ण समर्पण कवि की आध्यात्मिक कल्पना (अर्थात् परब्रह्म से आद्याशक्ति की अविच्छिन्नता की भावना) के भी मेल में है, जिसका प्रादुर्भाव आदि काव्य में नहीं हुआ था। अतः दोनों काव्यों की सीता के माध्यम से, समकालीन युगभावना से प्रभावित, दोनों कवियों के आदर्श की भिन्नता का अध्ययन अधिक स्पष्ट रूप में किया जा सकता है। ये दोनों ही महाकाव्य पारिवारिक महाकाव्य हैं[4] परन्तु इस दृष्टि से मानस की सीता भारतीय परिवारों में अधिक लोकप्रिय हैं

१. दे० प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ४ और ५।
२. दे० बुल्के, पृ० ६-२७।
३. वही पृ० २६३।
४ Epic of the Household' टैगोर (दे० स्टडीज इन रामायण पृ० ६५

क्योंकि उनका आदर्श भारतीय समाज के अधिक अनुकूल है। विदेशों में भी सीता के उच्च आदर्श के प्रति जनता की विशेष श्रद्धा दृष्टिगोचर होती है।[1]

दोनों कवियों की सीता का तुलनात्मक अध्ययन दो मुख्य आधारों पर किया जा सकता है---पारिवारिक आदर्श अथवा आदर्श नारीत्व और अलौकिक तत्व। मुख्य आधार पहला ही है, परन्तु वा० रामायण में भी सीता विषयक अलौकिक तत्व होने के कारण मानस में उनका विकास देखना आवश्यक है :

पारिवारिक आदर्श अथवा आदर्श नारीत्व---तुलसी ने सीता के पारिवारिक आदर्श का विस्तार भी किया है और उत्कर्ष भी, अर्थात् एक ओर तो उन्होने उन्हें कन्या और वधू के रूप में, विशेष रूप से, प्रस्तुत किया है और दूसरी ओर उनके पातिव्रत को और अधिक आदर्श बनाने का प्रयत्न किया है।

वा० रामायण में यद्यपि बालकाण्ड बाद मे जोड़ दिया गया है, फिर भी कन्या रूप में सीता के शील के दर्शन उसमें भी नहीं होते। मानस के पुष्पवाटिका और स्वयंवर प्रसंग में सीता एक आदर्श कुलकन्या के रूप में दिखलाई पड़ती है। राम के प्रति उनमें पूर्वराग जागृत होता है परन्तु न तो कालिदास की शकुन्तला के समान गान्धर्व विवाह होता है और न ही महाभारत की सुभद्रा के समान कन्या का हरण किया जाता है। वे राम को पतिरूप में प्राप्त करने के लिये पतिव्रताओं मे शिरोमणि पार्वती से वर-याचना करती है,[2] पिता के प्रण की कठोरता से विचलित होती हुई भी अपने विक्षोभ को किसी पर व्यक्त नहीं करतीं[3]। चित्रकूट मे उन्हें देखकर पिता के गौरव से गौरवान्वित जनक अत्यन्त सन्तोष के साथ कह उठते हैं---"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।"[4] राम के वन-गमन के समय राम से उनका वार्तालाप अपने महल में नहीं[5] वरन् सास के आंचल की छाया में होता है[6] और उनके सामने पति से वार्तालाप करने की अविनय के लिये वे क्षमायाचना भी करती है,[7] तथा सेवा के समय सास से बिछुड़ने को अपना परम दुर्भाग्य बतलाती है।[8] राम से वार्तालाप में भी उनका वह स्वाभिमान नहीं झलकता जो वा० रामायण में है[9] वरन् वे अपने संयत एवं मार्मिक शब्दों द्वारा अपने अधिकार का औचित्य प्रकट कर देती हैं। वा० रामायण की सीता

१. "Sita the perfect woman nobly planned"---माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर, पृ० ४८।

२. मा० १.२३५।

३. वही. २५८।

४. मा० २.२८६।

५. रा० २.२६।

६ मा० २ दो० ५७

७ वही ६४

अधिक मनस्विनी है, मानस की सीता अधिक तपस्विनी। आदि काव्य और प्राचीन युग की सीता अपने अधिकार का आग्रह करती हैं, मध्य युग के मानस की सीता अपने कर्तव्य का।

मानस के सीता-चरित्र का निर्वाह इसी आदर्शवादी भूमिका पर हुआ है और वा० रामायण से उनका भेद अन्त तक दिखलाई पड़ता है। वन-यात्रा में उन्हें एक बार फिर अपने गुरुजन के प्रति अविनय का सामना करना पड़ता है अर्थात् श्वसुर तुल्य सुमंत्र को समझाना पड़ता है कि उनका अयोध्या लौटना अनुचित है परन्तु वे पुनः वैसे ही संयत और मार्मिक शब्दों द्वारा उन्हें आश्वास्त करती है।[1] लक्ष्मण के समान क्षोभ का कण भी उनके हृदय में नहीं है। ऐसी वधू का श्वसुर को पुत्र के समान ही प्रिय होना स्वाभाविक है, अतः मानस के दशरथ यह प्रकट करते हैं कि राम की अनुपस्थिति में, उन्हीं के शील की प्रतिच्छवि, सीता भी उनके प्राणों का आधार बन सकती थी।[2] चित्रकूट में वे सभी सासों की सेवा अत्यन्त मनोयोग पूर्वक करती हैं[3] और पितृ-परिवार के आ जाने पर भी पतिसेवा के विचार से वहां एक रात्रि तक नहीं रुकतीं।[4]

हरण से पूर्व मानस की सीता भी लक्ष्मण पर कोप प्रकट करती हैं और 'मर्मवचन' बोलती हैं,[5] परन्तु राम के शील से अनुरंजित इस सीता में वैसा असयम अथवा उग्रता प्रकट नहीं होती जैसी कि वा० रामायण की सीता में है।[6] अशोक वाटिका में यह सीता भी मृत्यु का वरण करना चाहती है परन्तु उस आवेश के साथ नहीं जैसा कि वा० रामायण में है। यह सीता वेणी से गला घोट कर आत्महत्या नहीं करना चाहती[7] वरन् अग्नि की 'शीतल' गोद का आलिंगन करना चाहती है।[8] लंका से लौटने पर इस सीता को भी राम के 'कटुक दुर्बाद' सुनना पड़ते हैं[9] परन्तु वह वा० रामायण की सीता के समान कोई आवेश प्रकट न करके[10] अत्यन्त सौम्य भाव से अग्नि में प्रवेश करके अपनी पवित्रता को प्रमाणित करती है। वन से अयोध्या लौटने पर यह सीता पुनः गृहिणी-पद के सभी विभागों का दायित्व ग्रहण करती है और 'विपुल सेवक सेवकिनी' के होते हुए भी 'निज कर गृह परिचरजा' करती है और 'रामचन्द्र आयसु' के अनुसरण के साथ साथ सभी सासों की भी सेवा करती है।[11]

१. मा० २.९७-९८।
२. वही, ९९।
३. वही, २५२।
४. वही, २८७।
५. मा० ३.२८।
६. रा० ३.४५।
७. रा० ५.२८।
८. मा० ५.१२।
९. वही, ६ दो० १०८।
१०. रा० ६ ११६ ५।
११ मा० ७ २४

यह है मानस की सीता के सर्वांगीण गृहिणी पद का स्वरूप। वाल्मीकि की सीता केवल पत्नी के रूप में समक्ष आई हैं जब कि मानस की सीता पुत्री और वधू के रूप में भी। जहां पत्नी के शील को प्रकाशित करने का प्रसग आया है वहा तुलसी ने वा० रामायण की ही कथा का अनुसरण किया है। दोनों काव्यो की सीता पति की यात्रा की मंगल-सिद्धि के लिये गंगा से मनौती करती हैं। मानस की सीता लौटते समय इसे पूरा करना नही भूलतीं परन्तु वा० रामायण की सीता भूल जाती हैं।[1]

वा० रामायण में अभिषेक के स्थान पर वनवास की स्थिति आ जाने पर सीता भी राम के समान अपना नैराश्य प्रकट करती हैं[2] परन्तु मानस की सीता में इसका आभास तक नही मिलता। एक प्रक्षिप्त प्रसंग में वा० रामायण की सीता राम को अहिंसा का उपदेश देती हैं।[3] प्रक्षेप-पंडित ने कदाचित् 'कान्तासम्मित' प्रसग की योजना द्वारा उनके पत्नी-पद का विस्तार या नारी-सुलभ कोमलता का प्रदर्शन करने के लिये ऐसा किया हो, परन्तु मानसकार की सीता अपने पति राम को उपदेश देने की अमर्यादा की कल्पना भी नहीं कर सकती। अतः मानस की पारिवारिक कल्पना से आदिकाव्य और प्रचलित महाकाव्य कितना दूर है, यह स्पष्ट ही है।

तुलसीदास की चरित्रचित्रण-पद्धति की वह विशेषता, जिसकी ओर निरन्तर ध्यान आकृष्ट होता है, यहां भी दर्शनीय है कि कथाकार के रूप में नवीन प्रसंगो की उद्भावना और नूतन कथा-निर्माण का कौशल उन्होंने भले ही प्रकट न किया हो' परन्तु चरित्र-विधान के लिये उन्होने कथा पर पूर्ण नियत्रण रख कर उस में यथावश्यक परिवर्तन और संशोधन अवश्य किये है। अपने उद्देश्य के अनुरूप सीता का चरित्र प्रस्तुत करने के लिये उन्होंने अवांछनीय प्रसंग छोड़ दिये है और वांछनीय प्रसंग जोड लिये हैं। सीता-अनसूया सम्वाद दोनों ही काव्यों में है परन्तु मानसकार ने किस प्रकार कुलवधू के अनुरूप सीता की अतिशय शालीनता व्यजित करने के लिये उसमें सूक्ष्म परिवर्तन किया है, वह देखने योग्य है। वा० रामायण की सीता उपदेश सुनने पर कुछ ऐसा प्रकट करती हैं कि उनके लिये वह अनावश्यक था क्योकि वे तो उसके अनुरूप थी ही (२.११८.२)। कौशल्या के सामने भी वे यही भाव प्रकट करती हैं और उनसे उपदेश-ग्रहण करने के स्थान पर स्वयं अपनी उच्चता का बखान करती हैं (२.३९.२८)। इससे उन सीता का गर्व और स्वाभिमान सूचित होता है जो कि रामायणकार की भावना के मेल में है, परन्तु मानस की सीता चुपचाप उस आदर्श, पतिव्रता वृद्धा, अनसूया का उपदेश सुनती रहती हैं और अन्त में तुलसी लिखते हैं—

सुनि जानकी परम सुख पावा। सादर तासु चरन सिर नावा॥ (३.६.१)

इतनी मूकता और विनय, कलात्मक दृष्टि से, व्यक्तित्व की निर्जीवता प्रकट कर सकती

---

१. मा० ६.१२१, रा० ६.१२६।

२- रा० २-२६-८-१८।

३ रा० ३ ९ तथा १०

४ रा० शुक्ल हि० सा० इतिहास पृ० १५२

है पर इसमें सन्निहित अतिशय शालीनता, मर्यादा और भद्रता छन कर और घट कर ही जनता के पास पहुँचती है। इसीलिये काव्य में अत्युक्ति की आवश्यकता होती है।

नारी-स्वातंत्र्य के निर्घोष से पूरित एवं मनोवैज्ञानिक यथार्थ के पक्षपाती नवयुग के वरिष्ठ आलोचकों को तुलसीदास की सीता, वाल्मीकि की तुलना में, व्यक्तित्वशून्य 'गुड़िया' सी प्रतीत हो सकती है,[1] परन्तु इस गुड़िया को आज भी हिन्दू परिवारो मे उस पुरातन क्षत्राणी और मनस्विनी नारी की अपेक्षा अधिक सम्मान मिल रहा है। वाल्मीकि की सीता का व्यक्तित्व किंचित् प्रखर है और अधिक आकर्षक भी, परन्तु तुलसी की सीता का व्यक्तित्व सौम्य है, अतः अधिक आदर्शात्मक होने के कारण अधिक पूज्य भी।

अलौकिक तत्व—

वा० रामायण में सीता के व्यक्तित्व के अलौकिक अंश के तीन विभाग किये जा सकते हैं। एक तो उनकी अलौकिक जीवन-कथा, दूसरा उनका अलौकिक अर्थात् देवीतुल्य आचरण और तीसरा उनका अवतार होना। पृथ्वी से उनकी उत्पत्ति की कथा का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है[2] जिनमें से कुछ प्रामाणिक अंशों के भी अतर्गत हैं। उनका अलौकिक आचरण अग्नि-प्रवेश द्वारा अपनी पवित्रता प्रमाणित करने के प्रसंग में दिखलाई पड़ता है, जिसे कुछ विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं[3]। उनके अवतार का संकेत वेदवती और अग्नि-साक्षी के प्रसंग में मिलता है। वेदवती की कथा, उत्तरकांड के अतिरिक्त, युद्धकाण्ड में भी है जहां कि रावण अपनी पराज्य के नैराश्य-क्षण में पूर्वशाप का स्मरण करता है।[4] इसके अनुसार सीता वेदवती का अवतार सिद्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें लक्ष्मी का अवतार भी, राम के विष्णु का अवतार होने के साथ, कहा गया है[5] तथा उन्हें देवमाया के तुल्य भी बतलाया गया है (देवमायेव निर्मिता—१.१.२७)। राम के समान वे भी शरणागतवत्सल 'प्रणिपातप्रसन्ना' (५. ५८ ८९-९०) हैं। वे उन्हीं के समान 'रिपूणामपिवत्सला' भी है। हनुमान जब उन्हे लका से लिवाने जाते है और उन्हें सताने वाली राक्षसियों को दण्ड देना चाहते हैं तो सीता दयापूर्वक उन्हें छुड़ा देती हैं, जिस पर हनुमान कह उठते हैं—

युक्ता रामस्य भवती धर्मपत्नी यशस्विनी ॥ (६. ११६.४६)

तुलसी ने इन अलौकिक और आदर्शात्मक तत्वों में विकास किया है। उन्होने प्रस्तावना में ही, अन्य मुख्य पात्रों के समान, सीता की भी स्थिति स्पष्ट कर दी है। मगलाचरण में उन्होंने "उद्‌भवस्थितिसंहारकारिणी" सीता-शक्ति की वन्दना की है

१. डा० नगेन्द्र, विचार और विश्लेषण, पृ० ४८।

२. रा० १.६६.१३-१४, २.११८. २८ तथा ३७, ५.१६. १६, ६.११९.१५ और उत्तरकाण्ड में।

३ दे० बुल्के, पृ० ३८२।

४ रा० ६ ६० १ ११

५ रा० ६ १२० २८ सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णु

(बाल० श्लो० ५), वाल्मीकि द्वारा स्तुति में भी इनके तीन कार्य "सृजन, पालन हरण" बतलाये गये हैं (२.१२६), और ब्रह्म राम की नर-लीला के लिये प्रस्तुत होते समय भी उनकी प्रेरक आद्याशक्ति के रूप में वे अग्नि-निवास करती हैं (३.२४)। विद्वानों का विचार है कि इस छाया-सीता की कल्पना का भी आदि स्रोत आदिकाव्य मे देखा जा सकता है।[1] इन्द्रजित के द्वारा यदि माया-सीता की रचना की जा सकती है तो राम के द्वारा छाया-सीता की भी। कुछ नवीन आलोचकों ने छाया-सीता की यथार्थपरक अथवा तर्कवादी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है[2], परन्तु यह कल्पना के उन्माद और अतिशय बुद्धिवाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

तुलसी ने इस सीता की अलौकिकता के विस्तार के लिये कुछ नवीन प्रसंग भी मानस की कथा में जोड़े हैं। इस सीता को पार्वती से प्रत्यक्ष प्रसाद मिलता है, प्रतिमा मुस्करा उठती है और बोलती हुई माल्य-प्रसाद प्रदान करती है।[3] इस सीता का अष्ट सिद्धियों पर अधिकार है जिसका उपयोग वे अपने श्वसुर के साथ आये बरातियो के सत्कार के लिये करती है।[4] यह सीता अनेक वेष धारण करके चित्रकूट में आई हुई सासों की सेवा करती है[5]। यह सीता विष्णु-जाया लक्ष्मी से ऊपर है क्योंकि इसके विवाह में स्वयं लक्ष्मी दर्शक बन कर आती है।[6] राम परब्रह्म हैं, सीता उनकी आद्या-शक्ति। राम के साथ उनकी पुरातन प्रीति और युग-युग का सम्बन्ध है (१.२२८)। जिस प्रकार मानस में राम विष्णु भी है उसी प्रकार सीता का भी कही-कहीं (प्राय स्तुतियों में) लक्ष्मी भी कहा गया है[7]। मानस में जिस प्रकार राम का मुख्य रूप पर-ब्रह्म का ही है उसी प्रकार सीता भी मुख्य रूप में आद्या परमशक्ति ही है जिन्होने अवतार लिया है।[8] इसके अतिरिक्त उनकी दिव्यता की पृष्ठभूमि में वा० रामायण (बा० सर्ग ६६) में उल्लिखित उनकी अलौकिक जन्मकथा का भी समावेश कर लिया गया है और उन्हे कुछ स्थलों पर पृथ्वी-पुत्री कहा गया है[9]। परन्तु, तुलसी ने सीता की यह दिव्योत्पत्ति की कथा मानस में नहीं कही है[10] और न ही उसके उत्तरकाण्ड में

१. बुल्के, पृ० ३४६।

२. I am inclined to the view that it was Shavari who played the ıoll of Sita'' ए-यू एप्रोच टु रामायण, नावलेकर, पृ० १८०।

३. मा० १.२३३।

४. वही, ३०६।

५. मा० २.२५२।

६ मा० १ ३१८

७ मा० ३ ४ ३ ७ ६ १११, ११३ ७ १४ तथा जानकी मगल (छद ५) में "सीय सच्चि

उनके पृथ्वी-प्रवेश का प्रसंग है। सीता-वनवास के प्रसंग के द्वारा वे सीता की सहिष्णुता और तेजस्विता का एक और प्रसंग मानस में जोड़ सकते थे परन्तु, जैसा कि कहा जा चुका है, उनका उद्देश्य मुख्य रूप से सीता के द्वारा गृहिणीत्व का आदर्श प्रस्तुत करना था जिसमें सीता-वनवास और पृथ्वी-प्रवेश का प्रसंग सहायक नहीं थे, वरन् उल्टे वे तुलसी की भक्ति और मर्यादा के वांछित आदर्श को विरूप कर सकते थे। पतिव्रता सीता की पर्याप्त परीक्षा लंकाकाण्ड में की जा चुकी थी, उनका लौकिक कलंक जल चुका था,[1] और बार-बार उस बात को लोकमुख पर लाना अभीष्ट प्रभाव को नष्ट करना ही होता। इसीलिये अपने आदर्श ग्रथ मानस में तुलसी ने सीता के उत्तरचरित (वनवास और पृथिवी-प्रवेश) को स्थान नहीं दिया है।

यथार्थ और आदर्श—

यहां एक बार फिर दोनों कवियों के यथार्थ और आदर्शवाद पर किंचित् दृष्टिपात कर लेना उपयोगी होगा। वा० रामायण में सीता की दिव्योत्पत्ति, अलौकिक आचरण और अवतारतत्व का सम्बन्ध पूर्णतया प्रक्षिप्त अंशों से मान लेने पर भी, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अलौकिकता की सीमा तक पहुंच जाने वाला आदर्शवाद आदिकाव्य में भी था जो सीता के अनुपम रूपवर्णन में, दिव्य आभरणों में और तेजस्वी आचरण में देखा जा सकता है। सीता का अद्भुत रूप सभी के लिये अपार आश्चर्य की वस्तु है।[2] अनसूया उन्हें दिव्य आभरण प्रदान करती हैं जिस कथा का आदि स्रोत वैदिक कालीन प्राकृतिक अलौकिक प्रतीक-कथाओं में देखा जा सकता है[3] और इससे प्रकट होता है कि सीता की दिव्यता के उपादान वाल्मीकि के समक्ष प्रचुर परिमाण मे उपस्थित थे। सीता का तेजस्वी आचरण भी उन्हें अलौकिक बनाने में सहायक हुआ है। वेदवती के शाप आदि की कथायें तो अविश्वसनीय हैं परन्तु एक तिनके की ओट में तलवार ताने राक्षसराज से अपनी रक्षा करने में समर्थ[4] रमणी को जनता यदि अलौकिक देवी मानने लगे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

वा० रामायण में पतिव्रता की दिव्य शक्ति के भी उल्लेख हुए हैं। रावण की मृत्यु पर विलाप करती हुई मन्दोदरी कहती है कि पतिव्रताओं के आंसू निष्फल नही जाते हैं (६.११४.६७) और वह पतिव्रता के तप में भस्म कर डालने की शक्ति मानती है (वही,२४)। आदर्श पतिव्रता के अनुरूप सीता परपुरुष का अंगस्पर्श तक, चाहे

---

१. मा० ६.१०६।

२. दे० हनुमान के उदगार रा० ५.१६.१७ तथा रावण के उदगार (त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वसृक्–५.२.१३ तथा १४,१५) और अपार सैन्य का उनके दर्शन के लिये उमड़ना (६.११७.२२)।

३. दे० बुल्के पृ० ६२।

४ रा० ५ २१ ३ (तृणमन्तरतः कृत्वा) तथा मा० ५ ६.५ (तृन धरि ओट)।

वह अपनी रक्षा और कल्याण के लिये ही हो और उसमें कोई अपवित्र भाव न हो, अनुचित मानती है (५.३७.६०,६१)। पातिव्रत के समस्त उपदेश सीता के प्रसंग मे ही दिये गये हैं[१]। उनके प्रति वा० रामायण के अनेक पात्रों की असामान्य भावना है, अर्थात् रामपक्ष के पात्रों की अतिशय श्रद्धा और रावण पक्ष के पात्रों का भय। एक पक्ष के लिये वे जगन्माता है और दूसरे के लिये कालसर्पिणी। शत्रु-पत्नी तक, अपने पति के शव को सामने देखकर भी, सीता का उल्लेख अत्यन्त गौरवपूर्ण शब्दो मे करती हैं :—

वसुधायाश्च वसुधां श्रियः श्री भर्तृवत्सलाम्।
सीतां सर्वानवद्यांगीमरण्ये विजने शुभाम्॥ (६.११४.२२)

इससे स्पष्ट है कि वा० रामायण की सीता भी सौन्दर्य, शील और आन्तरिक शक्ति अर्थात् चरित्रबल और तेजस्विता की खान हैं। ये अनुपम गुण और विभूतिया ही कल्पना और अत्युक्ति का आश्रय पाकर यथार्थ व्यक्ति को आदर्शों से भी ऊपर ले जा कर अलौकिक बना देती हैं। तुलसीदास की सीता में उसी अलौकिकता का और अधिक विकास हुआ है।

मानस की सीता की आध्यात्मिक कल्पना का सीता के पातिव्रत विषयक आदर्श से सम्बन्ध इस रूप में दिखलाई पड़ता है कि आद्यशक्ति जिस प्रकार परब्रह्म के "रुख" पर सृजन, पालन और संहार करती है[२] या नरलीला के लिये अग्नि में प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार आदर्श पतिव्रता पति की आज्ञा का प्रतिवाद के बिना अनुसरण करती है। मानस की सीता वनगमन के समय भी राम का प्रतिवाद नही करतीं, इतना ही कहती हैं कि यदि आप समझें कि मैं जीवित रह जाऊंगी तो छोड़ जाइये (२.६६)। इसके अतिरिक्त, मानस में राम ने आदेश के स्वर में उनसे अयोध्या मे रुक जाने को कहा भी नहीं है। वा० रामायण की सीता के स्वाभिमान के साथ भी उनके आदर्श पातिव्रत का निर्वाह हुआ है और इस पातिव्रत का मर्म आदि कवि की उपमाओं से समझा जा सकता है जिनमे वे राम और सीता की अभिन्नता प्रकट करते हैं।[३] यही भावना आगे संवर्धित होकर और अत्युक्ति एवं प्रतीकपद्धति से अलंकृत होकर मानसकार की आध्यात्मिक कल्पना में सहायक बन गई है जिसके अनुसार सीता और राम "गिरा-अरथ" के समान अभिन्न हैं[४] और वस्तुतः युगल का एक ही व्यक्तित्व समस्त विश्व में व्याप्त बतलाया गया है।[५]

---

१. रा० २.२६.२६,३.१८, ५.१७, ६.११४।

२. जो सृजति पालति हरति जगु रुख पाय कृपानिधान की (२.१२६)।

३. छायेवानुगता सदा (१.७३.२७), चन्द्रादिव प्रभा (२.२६.२८), कीर्तिरात्मवतो यथा (२.३०.२६), भास्करेण प्रभा यथा (५.२१.१६)। इसी प्रकार की उपमायें तुलसी की हैं—तन और छाया (२.९७), भानु और प्रभा (वही), चन्द्र और चंद्रिका (वही)।

४ मा० १, दो० १८।

५ सीय राम मय सब जग जानी करौ प्रणाम जोरि जुग पानी (१ ८ २)

एक ओर इन आदर्शात्मक तत्वों का मानस में विकास हुआ है और दूसरी ओर यथार्थ तत्वो का अभाव होने पर भी उन्हें समाप्त नहीं कर दिया गया है। सीता के विलाप आदि के प्रसंग तो राम की मानवीय लीला के कारण कृत्रिम भी माने जा सकते हैं परन्तु आकाशमार्ग से, पहिचान और पते के लिये, वस्त्राभूषण गिरा देने के प्रसंग में तो सहज मानवीय बुद्धि का प्रयोग ही दिखलाई पड़ता है। कांचन मृग का प्रसंग मूल कथा से ही, सीता के माध्यम से, नारी-सुलभ चापल्य की घोषणा करता चला आ रहा है जिसके कारण जनता प्राय: सीता के सतीत्व का विस्मरण कर नारी-चापल्य की निन्दा कर बैठती है। सीता तुलसी की पूज्या हैं और राम उनके परम पूज्य है, फिर भी राम के मुख से सीता हरण के अवसर पर उनका यह कहलवाना—

राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवती शास्त्र नृपति बस नाहीं ॥ (३.३७)

प्रकट करता है कि अपने पात्रों को देवता और प्रतीक बना कर भी तुलसी ने सामान्य मानवी तत्वों की पृष्ठभूमि उनके चरित्र में से समाप्त नहीं कर दी है। तुलसी के राम के विषय में जिस प्रकार एक विद्वान का यह अभिमत है कि उनके मानवीय तल की रक्षा हुई है[१], उसी प्रकार सीता के विषय में भी दूसरे विद्वान का कहना है कि अलौकिक तत्वों का आरोप होने पर भी चरित्रचित्रण में स्वाभाविकता और आकर्षण है अर्थात् यह आदर्श चित्र जीवनशून्य नहीं हैं, उसमें सजीवता है।[२]

दोनों कवियों के आदर्श और यथार्थवाद के सम्बन्ध में विद्वानों के पृथक-पृथक विचार है। जिस प्रकार तुलसी के अत्यधिक आदर्शवाद की आलोचना की गई है, उसी प्रकार वाल्मीकि के यथार्थवाद की प्रखरता भी कहीं-कहीं कुछ विद्वानों को अखर गई है। लक्ष्मण के प्रति सीता के व्यवहार की आलोचना करते हुए एक विद्वान ने कहा है—"सीता की तत्कालीन मनस्थिति को दृष्टि में रखते हुए उनकी यह अधीरता और उग्रता स्वाभाविक ही थी, फिर भी यदि वे उन अंतिम शब्दों को लक्ष्मण से न कहतीं !"[३]

निष्कर्ष—

स्पष्ट है कि वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत सीता-चरित्र में भी परवर्ती काव्य की 'जगन्माता' के प्रति विशेष श्रद्धा के भाव अंकुरित हो चुके थे, वे जनता की भक्ति-भावना का आलंबन बन चुकीं थी और मध्ययुग के वातावरण के लिये आवश्यक नारी-आदर्श प्रस्तुत करने की परिपुष्ट पीठिका आदि काव्य की सीता में ही तैयार हो चुकी थी। मानसकी सीता का व्यक्तित्व राम के समान अधिक सांप्रदायिक छींटों से रंजित नहीं हुआ है वरन् अपनी आदर्शात्मकता के होते हुए भी उसमें जनमन को आकृष्ट करने की शक्ति आदिकाव्य की सीता से अधिक है। कलात्मक दृष्टि से वा० रामायण की सीता का

---

१. डा० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० २८६।

२ डा० शंभुनाथ सिंह हिन्दी महाकाव्य प० ५४४

३ वी० एस० शास्त्री लेक्चर्स प० २८०।

चरित्र उत्कृष्ट माना जा सकता है परन्तु सामान्य जनता भावना प्रधान स्वभाव वाली होती है, अतः उसकी श्रद्धा का उच्चतम आलंबन मानस की सीता में प्राप्त होता है। मानस की सीता भारतीय परिवार या गृहस्थ-जीवन का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करती है। राम विश्व साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य-नायक हैं और सीता सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य नायिका।

कौशल्या

मानस में कौशल्या का भी पारिवारिक दृष्टि से विकास किया गया है, परन्तु इसके लिये कवि को कथा में कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं करना पड़ा है, केवल सम्वादों में ही कुछ परिवर्तन किया गया है। वा० रामायण की कौशल्या में माता की वास्तविक दुर्बलताएँ भी प्रकट हुई है, जबकि मानस में उनका आदर्श रूप ही प्रस्तुत किया गया है। उसमें उनके मातृत्व को ही मुख्य रूप से प्रकट किया गया है, परन्तु वा० रामायण में अन्य पक्षों की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। पारिवारिक द्वेष और कलह की प्रशान्ति के लिये प्रयत्नशील मानस की कौशल्या अधिक गंभीर, सयत और गौरवान्वित कुलज्येष्ठा है। तुलसी ने अन्य अनेक पात्रों के समान उन्हे भी आदिकाव्य के आवेशमय आचरण से मुक्त करके अपनी मर्यादामय सृष्टि में स्थान दिया है।

वा० रामायण की कौशल्या में सपत्नी भाव भी प्रबल है, वे कैकेयी के प्रति उग्र द्वेष और विक्षोभ व्यक्त करती है,[1] परन्तु मानस की कौशल्या इस दौर्बल्य से सर्वथा मुक्त हैं। वे किसी भी प्रकार गृह-कलह नहीं होने दे सकतीं।[2] वे भरत को राम से कम नहीं मानती और कैकेयी को अपने से कम गौरव नहीं देतीं। वनवास का समाचार सुन कर वे राम से कहती हैं कि यदि माता और पिता दोनों की आज्ञा है तो वन सौ अयोध्याओं के समान है।[3] पिता की आज्ञा के पालन का महत्व वे स्वयं राम को समझाती हैं न कि वा० रामायण के समान राम।[4] भरत के प्रति उनका वात्सल्य भी वा० रामायण की अपेक्षा अधिक उदार और निर्मल है। उनके कैकय प्रदेश से लौटने पर उन्हें देखते ही मानस की कौशल्या का अतिशय मातृत्व उमड़ उठता है और वे उन्हें आंचल में समेट कर आंसू पोंछने लगती है।[5] चित्रकूट-यात्रा में भरत को पैदल चलते हुए जान कर वे विह्वल हो उठती है और यान पर चलने का आग्रह करती है।[6] उन्हे राम के वनवास से राम के क्लेश और कष्ट की इतनी चिन्ता नही है[7] जितनी कि

---

१. दे० रा० २.२०,२१ तथा ४३ वें सर्ग।
२. मा० २.५५.४।
३. वही, ५६.१।
४. वही, ५५.८ तथा रा० २ २१.३०-३७।
५. मा० २.१६५.४।
६ वही १८८ ५
७ वही, २८४

भरत की, साथ ही सारी अयोध्या की भी (मा० २ दो० ५५)।

सपत्नी और सपत्नी-पुत्र के अतिरिक्त पति के प्रति भी वा० रामायण की कौशल्या में वह सौम्यता और सहनशीलता का भाव नहीं है जो मानस की कौशल्या मे है। आदिकाव्य की कौशल्या मर्मवचनों और व्यंगवाणों से विकल दशरथ को और भी विकल कर देती हैं[1], यहां तक कि दशरथ को उनसे उदार और क्षमामयी होने की प्रार्थना करनी पड़ती है।[2] मानस की कौशल्या भी पिता की अपेक्षा पुत्र पर माता का अधिकार अधिक मानती है[3] परन्तु वे वा० रामायण के समान अपने पुत्र को विद्रोह का पाठ नहीं पढ़ा सकतीं[4], आत्महत्या की धमकी नहीं दे सकतीं[5] और न पति को छोड़ कर पुत्र के साथ जाने का अमर्यादापूर्ण आग्रह ही कर सकती है।[6] मानस की कौशल्या इस प्रकार की कल्पना करके ही रह जाती हैं, परन्तु अपने आदर्श पुत्र के भय से इस प्रस्ताव को प्रस्तुत नहीं कर सकतीं।[7] एक अन्तर यह भी है कि वे केवल वात्सल्य-वश राम के साथ जाना चाहती हैं जब कि वा० रामायण की कौशल्या सवति-सेवकाई के भयवश।[8]

वा० रामायण की कौशल्या का विलाप भी उतना ही उग्र है जितना कि उनका विक्षोभ। वे राम के पीछे दौड़कर वन में चली जाना चाहती हैं (रा० २.६०), साथ ही उनके उद्‌गारो में मातृहृदय का मार्मिक चित्र व्यक्त होता है। वे कहती हैं—"मैंने दूध पिलाती माताओं के स्तन काट डाले होंगे,[9] या गायों के बछड़े छुड़ा लिये होंगे।[10] ऐसे ही पातकों के कारण मुझे पुत्र-वियोग का दारुण दुःख सहना पड़ा है।" वा० रामायण की माता का ममत्व पक्ष अधिक यथार्थ और मुखर है परन्तु मानस की माता का यह पक्ष संयत और मर्यादित है। मानस में सास का ममत्व पक्ष अधिक मुखर है। वे बेटे की ओर से आश्वस्त हैं, परन्तु बहू की ओर से अधिक अधीर हैं।[11]

दोनों काव्यों की कौशल्या पूजा-परायण हैं फिर भी वा० रामायण की कौशल्या पूजा-पाठ अधिक करती दिखलाई पड़ती हैं। राम जब उनके पास पहुंचते हैं तो वे हवन करती हुई मिलती हैं (२.२०) और विदा के समय उनका विशाल स्वस्ति-वाचन

१. "इन उग्र वचनों ने वृद्ध राजा का मर्म-भेदन कर उन्हें मृत्यु मुख मे ढकेल देने में जल्दी की थी"—(वी० एस० शास्त्री, लेक्चर्स आन रामायण, पृ० ४४२), और दे० रा० २.६१.१० तथा २३-२५ श्लोक।
२. रा० २.६२.७-१० श्लोक।
३. मा० २.५६-१।
४. रा० २.२१.२१-२५।
५. वही, २७-२८।
६. रा० २.२४.६ तथा २.६०।
७. मा० २.५६.६।
८. रा० २.२० तथा ४३ सर्ग।
९. रा० २.४३.७।
१०. वही, १८।
११. मा० २.५८.५६

करती हैं (२.२५)। इसका भी कारण है। वा० रामायण की कौशल्या अपने पुत्र के लिये जितनी चिन्तित हैं उतनी मानस की कौशल्या नहीं क्योंकि उनके पुत्र परब्रह्म है।

मानस की कौशल्या भी वा० रामायण के समान दशरथ द्वारा उपेक्षित है, परन्तु इसकी प्रतिक्रिया उनमें नहीं है। फिर भी इसका आभास हमें अवश्य हो जाता है, क्योंकि कैकेयी की अपेक्षा वे सुमित्रा के साथ ही अधिक रहती है।[1] वा० रामायण मे राम अपनी माता को उपदेश देते हैं,[2] जब कि माता उन्हें विद्रोह का पाठ पढाती है या साथ जाने का दुराग्रह करती हैं। मानस के राम परब्रह्म है फिर भी आदर्श की शिक्षा उन्हें माता से ही मिली है। तुलसी की भक्तिभावना ने इस मर्यादा का विशेष ध्यान रक्खा है। मानस की कौशल्या को पुत्र-वियोग से अधिक दशरथ की, अयोध्या की, और भरत की चिन्ता है।[3]

तुलसी ने कौशल्या के व्यक्तित्व के अन्य सभी पक्षों को—पत्नी, सपत्नी, विमाता, सास, राजमहिषी, राजमाता, आदि को—एक ही मूल पक्ष में केन्द्रित कर दिया है, और वह है उनका मातृत्व। इस प्रकार आदर्श वधू सीता के साथ आदर्श माता के रूप में कौशल्या हिन्दू परिवार के मुख्य स्तम्भ (सास-बहू का सम्बन्ध) की आन्तरिक शक्ति और गौरव को सूचित करती हैं।

कौशल्या का चित्र भी, मानस में सर्वथा आदर्श रंजित होने पर भी, यथार्थ से रहित नहीं है। वे माता का अधिकार पिता से अधिक समझती है जिससे उनका अधिकारवाद प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त जटिल परिस्थिति सामने आने पर वे एकदम आदर्श की सीधी राह पर नहीं चल पड़ती, वरन् मानसिक संघर्ष के बाद ही विवेक का आलोक देखती है—

धरम सनेह उभय मति घेरी।
भइ गति सांप छछुंदर केरी॥ (२.५५.२)

इससे कौशल्या का मानसिक द्वन्द्व प्रकट होता है और यथार्थवादी चित्रण का स्वरूप सामने आता है। मानस की कौशल्या का भी कारुण्य कम हृदयद्रावक नहीं है परन्तु उनकी सहनशीलता और विवेक के सहयोग से वह कारुण्य मन को विक्षुब्ध और विचलित न करके सहने की शक्ति और करने की दृढ़ता प्रदान करता है।

यही तुलसी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। वे पात्र की यथार्थ मनस्थिति का भी आभास देते हैं और उसे इस प्रकार आदर्श की ओर अग्रसर करते हैं कि पाठक या श्रोता का मन उसके साथ-साथ आगे बढ़ने या ऊंचा उठने लगता है। वा० रामायण के पात्रों में मनोवैज्ञानिक तत्व अधिक है और मानस के पात्रों में नैतिक फिर भी उनमे सर्वत्र अस्वाभाविकता नहीं है। वा० रामायण की कौशल्या का गौरव विशुद्ध मातृत्व

---

१. मा० २.८।
२. रा० २ २१।
३. मा० २ दो० ५५

के कारण नहीं वरन् राम की माता होने के कारण है[1], जब कि मानस में वे स्वय ही मातृत्व के चरम आदर्श को प्रस्तुत करती है। मानस की कौशल्या के चरित्र में अस्वाभाविकता का समावेश अवतार आदि के कारण हुआ है। राम के जन्म के समय माता उनकी स्तुति करती हैं (बाल० १६२) और नैवेद्य के समय भी उन्हें अपने पुत्र के परब्रह्मत्व का बोध होता है (वही १०१, १०२), परन्तु वनवास-प्रसंग या उसके बाद तुलसी ने ऐसे प्रसंगो की आवृत्ति न करके कौशल्या के स्वाभाविक मातृरूप की रक्षा की है।

निष्कर्ष

मानसकार ने मातृत्व की दृष्टि से कौशल्या का पुनर्विधान किया है और उनके व्यक्तित्व के सभी पक्षों को इसी एक पक्ष में केन्द्रित किया है। उसके आदर्शवाद की पृष्ठभूमि में यथार्थवाद अर्थात् स्वाभाविक मनोद्वन्द्व भी विद्यमान है। अवतारवाद की भूमिका ने अवश्य कौशल्या को माता के साथ ही भगवान की अलौकिकता से आतंकित और अवनत भक्त भी बना कर अस्वाभाविकता उत्पन्न की है। यही तुलसी के चरित्र-चित्रण में धार्मिक सांप्रदायिक तत्व है। इस तत्व के होते हुए भी भारतीय गृहस्थ मानस की कौशल्या से अधिक निकटता का अनुभव करता है क्योंकि वा० रामायण की कौशल्या राजकीय चक्र में भी फंसी हुई हैं।

कैकेयी

नैतिक क्षेत्र में विभीषण का चरित्र जिस प्रकार एक पहेली है, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उसी प्रकार कैकेयी का चरित्र एक समस्या है।[2] कैकेयी एक साथ ही हमारी घृणा और सहानुभूति की पात्र है। वह मानवमन की जटिलता और नियति की दुर्ज्ञेयता तथा दुर्निवार्यता की सूचक है। उसके विषय में भी जनता तथा विद्वानों की भिन्न भिन्न धारणायें और मत है।

दोनों काव्यों में कैकेयी राम के वन-प्रस्थान के अवसर पर एक अमंगल नक्षत्र के समान उदित होती है और भरत की चित्रकूट-यात्रा के बाद प्रायः अस्त हो जाती है। उसके चरित्र की इस संक्षिप्तता ने भी जटिलता उत्पन्न कर दी है। उसका विद्रोह सहसा ही उत्पन्न हो कर और उग्रतम स्थिति तक पहुंच कर शीघ्र ही समाप्त हो गया है, जिससे प्रकट होता है कि वह एक संस्कारहीन दुष्ट चरित्र नहीं है वरन् अनियंत्रित परिस्थितियों के रूप में प्रकट होने वाली निर्मम नियति के कठोर हाथों से दण्डित अभागिन पात्री है।[3] उसके विषय में एकपक्षीय निर्णय देना अन्याय है। उसे 'रावण का

[1] "Her greatness consists in her having been the mother of Ram"—
वी० एस० शास्त्री, लेक्चर २६, पृ० ४२७।

२. "Knotty Problems which centuries of subtle scholarship—have raised and debated about her impulses and motives."—
के० आर० शास्त्री, स्टडीज० भाग १, पृ० ७५।

३ "Unwitting ins t of an overruling providence"
वही, भाग २, पृ० ८५

प्रतिरूप', 'अधार्मिक' और 'प्रवृत्ति प्रमुख' पात्र बतलाने वाले समालोचक भी स्वीकार करते हैं कि "उसकी अंतिम झलक अनुताप, आत्मग्लानि तथा घोर आंतरिक व्यथा से ओत प्रोत है।"[1] उसे "दि वुमैन वाज मैस्कुलिन"[2] और "हार्ड-फाइबर्ड, हार्ड हार्टिड ऐंड हार्ड नेचर्ड" कहने वाले विद्वान यह भी अनुभव करते है कि शेष कथा मे उसकी मूकता उसके गहरे पश्चात्ताप की द्योतक है।[3] पाप की स्वीकृति पाप का मार्जन है। मनोविज्ञान के आधार पर नैतिकता की निकष तैयार करने वाले नवयुग मे कैकेयी के चरित्र को जन-न्यायालय में सम्मानित पद दिलाने के प्रयत्न किये जा रहे है[4] जब कि मध्ययुग में भी ऐसे प्रयत्न विविध आधारों पर किये गये थे।[5] जहां तक वाल्मिकि और तुलसी का प्रश्न है, उनमे भी इस विषय में अधिक मतभेद नहीं है। कैकेयी की स्थिति निन्दनीय दिखलाते हुए भी, दोनों कवियों ने उसके प्रति सहानुभूति का परित्याग नहीं किया है, मानवप्रकृति की दुर्बलताओं को उदार दृष्टि से देखा है और भवितव्यता को स्वीकार किया है। अन्तर यह है कि वाल्मीकि ने मुख्य रूप से मानवीय प्रकृति की असंतुलित और अनिश्चित वृत्ति को ही प्रकट किया है, जब कि तुलसी ने 'विधि गति' और 'होनी' के विषय में अधिक कहा है और इस अप्रत्याशित षडयंत्र के मूल में दैवी प्रेरणा तथा 'सुरप्रपच' को भी दिखलाया है। अवतारवाद और अलौकिक लीला की पृष्ठभूमि मे मानस की कैकेयी लांछनीयता के कर्दम से उठा कर वन्दनीयता के उच्च आसन पर भी बैठा दी गई है।[6] साथ ही विद्वानों ने कैकेयी के क्रूरकर्म की यवनिका में लोककल्याणकारी योजना का सूत्र भी आदिकाव्य मे ही खोजने का प्रयत्न किया है।[7]

एक लोकगीत में कैकेयी के चरित्र का रहस्य और उसकी महत्ता दर्शनीय है :—

---

१. डा० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३०१-३०२।
२. वी० एस० शास्त्री, लेक्चर्स०, पृ० ४०९।
३. वही, पृ० ४२३।
४. दे० साकेत, मैथिलीशरण गुप्त—
"पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई॥" (सर्ग ८)
५. दे० बुल्के, पृ० ३२४ पर 'जानकी हरण' काव्य और 'प्रतिमा' नाटक तथा 'महावीरचरित' नाटक का उल्लेख।
६. जिस प्रकार 'जानकी हरण' (सर्ग १, ४२) में "रक्षोभयनाशाय हेतुर्बभूव" और अध्यात्म रामायण में "देवकार्यार्थ सिद्धयर्थमत्रदोषः कुतस्तव" (चित्रकूट-प्रसंग) २.९.६४ कहा गया था, उसी प्रकार मानस में भी (दे० २.१२) और "सद्गुणवती कैकेयी" जैसे लेखों में (कल्याण, जुलाई, १९३०, रामायणांक पृ० ८३) यह सिद्ध किया गया है कि "कैकेयी का जन्म भगवान राम की लीला में प्रधान कार्य करने के लिये ही हुआ था"।
७. दे० रा० २.१२.३० (रामप्रव्राजनं श्वो तत्सुखोदर्कं भविष्यति) तथा प्रकृति के लीलानिकेतन निविड़ दण्डकारण्य में नवीन और विशाल साम्राज्य स्थापना के ही हेतु श्री राम ने प्रवेश किया था (कल्याण जुलाई १९३० पृ० ४०९)

प्रान दै दियो जस न दै सक्यो, पिया बचा गयो कंध।
सो करतूति कैकई कीन्ही, प्रेम निगोड़ो अंध ॥
(मानस रहस्य, ज० रा० दीन, पृ० २५०)

दोनों काव्यों में कैकेयी के चरित्र में यह परिवर्तन आकस्मिक दिखलाया गया है और दोनों कवियो ने उसकी कुटिलता के साथ उसके गुण भी बतलाये है। वा० रामायण और मानस दोनों में वह राम के अभिषेक के समाचार से प्रसन्न होती हुई दिखलाई गई है[1], राम और भरत में वह कोई भेदभाव नहीं रखती[2], और दशरथ को भी उसके इस आकस्मिक व्यवहार पर आश्चर्य होता है क्योंकि वे राम के प्रति उसका प्रेम जानते थे।[3] कैकेयी के पिता से दशरथ ने जो प्रतिज्ञा की थी उसका प्रसंग वा० रामायण में है।[4] कैकेयी उसको बिल्कुल भूल चुकी थी। वा० रामायण में यह भी कहा गया है कि उसने स्वयं ही भरत को ननिहाल भेज दिया था[5] और मानस में भी यह दिखलाया गया है कि उसे भरत की अनुपस्थिति की कोई चिन्ता नही थी (२.१४.५)। राम तो इस अवसर पर भरत का स्मरण करते हैं[6], परन्तु कैकेयी नहीं करती। दोनो ही काव्यों में कैकेयी का वाद का जीवन भी पश्चात्ताप से पूर्ण दिखलाया गया है। वह अत्यंत प्रसन्न मन से भरत के साथ चित्रकूट जाती है[7] और राम के अयोध्या लौटने पर उनके अभिषेक से अत्यन्त संतुष्ट दिखलाई पड़ती है।[8] मानस मे वह उनके समक्ष अपनी लज्जा भी प्रकट करती है (७ दो० ६)। इस प्रकार दोनों कवियों द्वारा कैकेयी के चरित्र मे निहित उत्तम संस्कार प्रकट किये गये है और मानस में राम की सगति का प्रभाव उस पर और भी अधिक दिखलाया गया है।

दूसरी ओर दोनों ही काव्यों में कौशल्या के प्रति उसकी उपेक्षा या वैमनस्य दिखलाया गया है।[9] तुलसी ने इसका संकेत बहुत कम किया है, परन्तु मंथरा-सम्बाद से यही प्रकट होता है कि कैकेयी की यही दुर्बलता थी जिसे मंथरा ने आधार बनाया था। वा० रामायण में इस प्रकार के सकेत और भी हैं कि कैकेयी में दुष्ट संस्कार पहले से थे जो कदाचित् रघुवंश के उत्तम वातावरण, दशरथ की प्रीति और राम तथा भरत के सदाचरण के प्रभाव से मन्द पड़ गये थे, परन्तु मंथरा को कूटनीति के जल ने उन्हे अंकुरित कर दिया था। सुमंत्र ने कैकेयी की भर्त्सना करते हुए उसकी माता के अव-

१. रा० २.७ तथा मा० २.१५।
२. वही।
३. रा० २.१२.१६-१७ तथा २.३२।
४. रा० २.१०७.३।
५. रा० २.८.२८।
६. मा० २.७।
७. रा० २.८३.६ तथा मा० २.१८७।
८. रा० ६.१३१.१ तथा मा० ७.१२।
९ रा० २ ४ ३१ तथा मा० २ ८ तथा २१

गुण उसमें आने की बात कही है[1], कौशल्या के उद्‌गारों से प्रकट है कि कैकेयी का उसके साथ अत्यन्त द्वेष भाव था।[2] भरत भी अपनी माता के दुष्ट स्वभाव को जानते थे और वे उसकी ओर से सशंकित रहते थे।[3] राम को भी भय है कि कहीं उनकी अनुपस्थिति में वह पिता का बध ही न कर दे।[4]

इससे यह अन्तर तो दिखलाई पड़ता है कि वाल्मीकि ने उसके चरित्र की पूर्व-भूमिका अधिक परिमाण में प्रस्तुत की है, जिसके आधार पर उसका यह आचरण सर्वथा अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता और तुलसी की अपेक्षा इसमे अधिक यथार्थता है, परन्तु पूर्वोल्लिखित कैकेयी के गुणों और उसके परवर्ती व्यवहार के आधार पर यह प्रश्न वा० रामायण में भी बना रहता है कि एक ही व्यक्ति के इन दो विरोधी आचरणों की सामजस्य-भूमि क्या है? तुलसी ने तो इसे 'सुरमाया' और 'देव प्रपच' तथा 'लीलाहेतु' बतला कर भिन्न मार्ग ग्रहण कर लिया है, जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है, परन्तु वाल्मीकि ने इसका कोई कारण प्रकट नहीं किया है। भरद्वाज-भरत सम्वाद में राम की राक्षस-बध योजना का सकेत मात्र है (२.९२.३०) जो कि आदिकाव्य की मूल भावना (अवतारवाद से रहित ऐतिहासिकता और यथार्थ) से पृथक होने के कारण प्रक्षेप भी माना जा सकता है। अतः इसका एकमात्र कारण भरत का आचरण ही कहा जा सकता है जिसे देख कर कैकेयी को अपनी भूल विदित हो गई और उसके शुभसंस्कार पुनर्जाग्रत हो गये। इस प्रकार वाल्मीकि ने नैतिकता और मनोवैज्ञानिकता का मिलाप करा दिया है।

यद्यपि वाल्मीकि ने कैकेयी के चरित्र की यथार्थपरक भूमिका अधिक परिमाण मे प्रस्तुत की है, परन्तु तुलसी के कैकेयी-चरित्र में मानसिक सघर्ष वा० रामायण की अपेक्षा अधिक दिखलाया गया है। आदिकाव्य की कैकेयी राम के यौवराज्य-समाचार से अत्यधिक हर्ष तो अवश्य प्रकट करती है परन्तु न तो मंथरा की घरफोड़-नीति (मा० २ १४.८) पर कोप व्यक्त करती है और न ही उस प्रकार संभलने की चेष्टा करती है। मानसकार ने उसका मनोद्वन्द्व अर्थात् सत् और असत् प्रवृत्तियों का सघर्ष चित्रित करने मे विशेष कलात्मकता प्रकट की है और उसकी मनस्थितियों के लिये सुन्दर उपमायें दी हैं, उदाहरण—

> सादर पुनि-पुनि पूंछति ओही। सबरी गान मृगी जनु मोही॥
> तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। रहसी चेरि घात जनु फाबी॥
>
> (मा० २.१७)

× × ×

---

१. रा० २.३५।
२. वही २०.‒.३-४५।
३. वही ७७ १०
४ [illegible]

तन पसेउ कदली जिमि कांपी। कुबरी दसन जीभ तब चांपी ।।
फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ।।
× × ×
काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउ काऊ ।। (वही, २०)

इस प्रकार परिस्थितियों का प्रभुत्व दिखला कर तुलसी ने मानवस्वभाव की दुर्बलता के प्रति अधिक सहानुभूति उत्पन्न की है। यह उनकी सम्प्रदायमुक्त सहृदयता है और एक उदाहरण है कि किस प्रकार उन्होंने उपदेश के साथ कलात्मक अनुरंजन का संयोजन किया है।

दोनों काव्यों में समानता की दृष्टि से यह बात दर्शनीय है कि कैकेयी का चरित्र विमाता का नहीं वरन् सपत्नी का है अर्थात् उसने यह उपद्रव कौशल्या के प्रति द्वेष के कारण किया था न कि राम को कष्ट और दशरथ को क्लेश देने के लिये। दशरथ के प्रति उसकी भी प्रीति में कोई कमी नहीं थी और राम से तो वह भरत के समान स्नेह करती ही थी, परन्तु जब एक मनोविकार अत्यधिक प्रबल हो जाता है तो वह दूसरी प्रवृत्तियों पर शासन स्थापित कर लेता है। सपत्नीद्वेष स्त्री की नैसर्गिक दुर्बलता है और उसी को आधार बना कर मथरा ने अपना षड्यन्त्र पूरा किया है।

परन्तु कैकेयी, वा० रामायण और मानस दोनों में ही, सपत्नी का 'टाइप' या प्रवृत्ति प्रमुख पात्र नहीं है। यदि वह 'टाइप' होती तो राम को उस प्रकार प्रेम नहीं कर सकती थी, मंथरा के फुसलाने से पहले ही अपना कार्य आरंभ कर देती और अन्त में अपनी भूल स्वीकार न कर लेती। वह वस्तुत: रामकथा के आदर्शवादी वातावरण में सांस लेने वाली समवेदनीय सपत्नी है जिसके प्रति घृणा के साथ कुछ सहानुभूति भी होती है और यह सहानुभूति कुछ भावुक हृदयों में श्रद्धा तक का रूप धारण कर लेती है। राम चित्रकूट में सर्वप्रथम कैकेयी से भेंट करते हैं (मा० २.२४४), अयोध्या लौट कर भी वे पहले उसी से मिलते हैं (मा० ७.१०)। इस प्रकार मानस में राम के शील ने भी कैकेयी को और अधिक उबार लिया है।

निष्कर्ष—

दोनों कवियों ने कैकेयी के चरित्र में नारी-प्रकृति का एक क्रूरतम पक्ष उपस्थित करते हुए भी कथा की पूर्वपरम्परा और अपनी आदर्शभावना के कारण उसके प्रति औदार्य भी प्रदर्शित किया है। दोनों के द्वारा प्रस्तुत चरित्र न तो विशुद्ध यथार्थवादी है और न कोरा आदर्शवादी। चरित्र-चित्रण की पद्धति में वाल्मीकि ने यथार्थवाद को अधिक प्रश्रय अवश्य दिया है, परन्तु 'सुरमाया' के प्रसंग को छोड़ देने पर मानस को कैकेयी का भी जो चित्र सामने आता है वह 'तिय मिस मीचु सीस पर नाची' (मा० २.३४) अर्थात् 'होनी' या भवितव्यता का ही है। अलौकिकता का अंश इससे पृथक है जिसे भक्त जन कैकेयी के चरित्र में जोड़ कर उसे ऊंचा उठा सकते हैं और कलावादी सहृदय जन उसे पृथक करके कैकेयी के चरित्र की वास्तविकता देख सकते हैं। कैकेयी का मनोद्वन्द्व तुलसी ने वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक कुशलता और विस्तार से अंकित किया है। इससे प्रकट है कि चरित्र चित्रण में ८ तत्त्वों और

को भी उन्होंने कहीं-कहीं पर्याप्त स्थान दिया है ।

सुमित्रा

दोनों काव्यों में सुमित्रा का चरित्र अत्यन्त संक्षिप्त और सीमित है फिर भी अपनी आदर्शात्मकता के कारण वह अत्यन्त प्रभावशाली है। वह एक तावीजी तस्वीर है जिसकी बारीकी में चित्रकार की चतुराई झलकती है।[1] छोटे चित्रपट में अत्यल्प सामग्री का आश्रय ले कर दोनों कवियों ने अपना चित्रण-कौशल दिखलाया है। वा० रामायण में कदाचित् यही एक ऐसा पात्र है जो सर्वथा निर्दोष (भरत से भी अधिक) कहा जा सकता है, जिसके व्यक्तित्व की आदर्शात्मक पृष्ठभूमि में वाल्मीकि यथार्थ की एक रेखा तक नहीं खींच सके हैं, जो मानस में तो वैष्णवभक्ति का पूर्ण आदर्श प्रस्तुत करती ही है परन्तु वा० रामायण में भी वह भक्ति भावना से ओतप्रोत प्रतीत होती है। दोनों कवियों का यह आदर्शवाद तुलनीय है :—

(अ) सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ (२.४०.५)
रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ (२.४०.६)

(आ) पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई ॥

× × ×

तुम्हेरहिं भाग राम वन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥ (२.७५)

सुमित्रा की वैष्णवभावना की परम्परा रामायण से ही चलती दिखाई देती है। वह लक्ष्मण को राम की सेवा के लिये वन में केवल इसलिये ही नहीं भेजतीं कि राम उनके अग्रज हैं, वरन् इसलिये भी कि वे भगवान है। व्याकुल कौशल्या को समझाती हुई सुमित्रा ने राम के भगवतत्व की व्याख्या की है और कहा है कि प्रकृति पर उनका ही शासन है, प्रकृति में उनकी ही ज्योति है, उन्हे कष्ट क्यों होगा ? (दे० रा० २.४४)।

कथाक्रम एवं घटनातत्व में उनकी उपयोगिता केवल दो ही बातों में दिखलाई पड़ती है। प्रथम तो वे अपने पुत्र को राम और सीता के साथ अत्यन्त उत्साहपूर्वक वन में भेजती हैं और विद्रोह तथा द्वेष से अछूती रह कर गांभीर्य, बुद्धिमत्ता और नीतिमत्ता का आदर्श प्रस्तुत करती हैं। दूसरे, दुःखिनी कौशल्या को पुत्रवियोग मे, निजी पुत्रवियोग सर्वथा भुलाकर, अत्यन्त मार्मिक परन्तु सीमित शब्दावली में सच्ची सान्त्वना प्रदान करती हैं। एक ओर कुटिल और कठोर कैकेयी साधु तथा सहिष्णु पुत्र भरत को जन्म देती है, तो दूसरी ओर सरल और सौम्य सुमित्रा उग्र एवं असहिष्णु लक्ष्मण को। दो माताओं का यह वैषम्य (कंट्रास्ट) रामकथा के पात्र-कोष का एक चमत्कारिक उदाहरण है।

कौशल्या के साथ सुमित्रा का विशेष सख्य भाव और सहयोग दोनों ही काव्यों मे विशेष रूप से प्रकट होता है। रामायण में अभिषेक का समाचार सुन कर कौशल्या

१ , , जुलाई १९१० पृ० ७६

कहती है कि अब राम मुझे और सुमित्रा तथा दोनों के ज्ञातिबन्धुओं को आनन्द प्रदान करें।[1] मानस मे भी अभिषेक का समाचार कैकेयी को बाद में, परन्तु कौशल्या के साथ रहने वाली सुमित्रा को पहले ही मिल जाता है और वे चारु चौक पूरती हुई दिखलाई पडती है।[2] दोनों ही दशरथ द्वारा, कैकेयी के कारण, उपेक्षिता हैं। अतः उनका यह प्रगाढ़ सख्य स्वाभाविक भी है।

आदर्शात्मकता के क्षेत्र में रामायण की सुमित्रा कौशल्या से बहुत आगे हैं[3], परन्तु मानस में वे कौशल्या की छाया ही है। मानस में वे न तो वा० रामायण की कौशल्या के समान कैकेयी से द्वेष करती हैं, न दशरथ को उपालभ देती हैं और न लक्ष्मण के विद्रोह का उद्दीपन या समर्थन करती है। वे तो दोनो ही काव्यों में पूर्ण निर्विकार, स्थितप्रज्ञ सन्यामिनी है जिन्होंने या तो भाग्य के साथ समझौता करके मानो कापाय ग्रहण कर लिया था अथवा जन्म और कुल से ही वे ऐसे सस्कार लेकर उत्पन्न हुई थीं। सुमित्रा का यह स्वरूप प्रतिक्रियात्मक है अथवा नैसर्गिक, इस विषय में दोनो ही कवि मौन रहे है पर लगता ऐसा है कि शान्ति, संयम, धैर्य, नीति, मितभाषण आदि के गुण उनमे जन्मजात ही थे, अन्यथा कहीं तो उनकी क्षणिक दुर्बलता प्रकट होती।

सुमित्रा के चरित्र का यह विशुद्ध एकांगी आदर्शवाद शुद्ध कला की दृष्टि से सगत नहीं प्रतीत होता,[4] परन्तु भारतीय काव्य और कलाभावना आदिकाव्य से लेकर ही आदर्शोन्मुख है। अत. सुमित्रा के चरित्र में भी यह बात अस्वाभाविक नही प्रतीत होती। वा० रामायण की तीनों रानियो में सुमित्रा प्रत्येक दृष्टि से, प्रत्येक क्षेत्र में,—माता-विमाता-पत्नी-सपत्नी,—सर्वश्रेष्ठ है। श्री वी० श्रीनिवासशास्त्री का विचार है कि वाल्मीकि ने तीन रानियो को तीन नारी-प्रकृतियो का प्रतिनिधि बना कर प्रस्तुत किया है। नारी का निकृष्ट रूप कैकेयी में, उत्कृष्ट रूप सुमित्रा में और मध्यम रूप कौशल्या में दिखलाई पड़ता है। कैकेयी में नारी का यथार्थपक्ष प्रधान है और आदर्श पक्ष गौण, कौशल्या में उसके विपरीत आदर्श तत्व अधिक है यथार्थतत्व कम, परन्तु सुमित्रा में विशुद्ध आदर्शतत्व है। अपने क्षेत्र में वह धर्म का उतना ही ऊंचा आदर्श प्रस्तुत करती है जितना कि स्वयं भगवान राम ने किया है।[5]

---

१. रा० २.४.३१।

२. मा० २.८।

३. वा० रामायण की कौशल्या राम के मातृत्व से गौरवान्वित है, परन्तु सुमित्रा अपने ही आदर्श नारीत्व से। उसका चारित्रिक स्तर कौशल्या से बहुत ऊंचा है। रामायण के समस्त पात्रों में वही राम के चरित्र-मर्म को सब से अधिक समझती है। इस महाकाव्य की कुछ सर्वोत्तम सूक्तियां और श्रेष्ठतम उद्गार उसी के मुख और हृदय से प्रस्फुटित हुए है"—लैक्चर्स आन रामायण, वी० शास्त्री, पृ० ४२७।

४ मा० प्र० गुप्त तुलसीदास, पृ० १०१

५ वी० शास्त्री लैक्चर्स० पृ० ४१०-८

निष्कर्ष—

रामायण और मानस की सर्वथा आदर्शमयी सुमित्रा के चरित्र में केवल यही अन्तर है कि एक का आदर्शवाद संप्रदायमुक्त है जबकि दूसरे का आदर्शवाद साम्प्रदायिक परिधि से घिरा हुआ है। मानस की सुमित्रा के मस्तक पर वैष्णव तिलक भी है, परन्तु रामायण की सुमित्रा केवल मातृत्व और पत्नीत्व की ज्योति से ही दीप्तिमती है।

मंथरा

चरित्रचित्रण की आदर्शवादी और यथार्थवादी पद्धति के विचार से यदि सुमित्रा आदर्शवाद के छोर पर है तो मंथरा यथार्थवाद के। सुमित्रा वैसी है जैसी कि श्रेष्ठ माता-विमाता, सपत्नी और पत्नी होनी चाहिये। मंथरा वैसी है जैसी कि कुटिल स्त्रिया, विशेष कर निम्न वर्ग की, हुआ करती हैं—

> काने, खोरे, कूबरे, कुटिल, कुचाली जानि
> तिय विशेष पुनि चेरि कहि, भरतमातु मुसकानि ॥ (मा० २.१४)

वा० रामायण और मानस की कथा में मंथरा एक निश्चित काम करती है अर्थात् कैकेयी को उकसा कर दशरथ-परिवार की टूट-फूट करान। और इसके लिये उसे एक ही जैसा दण्ड मिलता है अर्थात् शत्रुघ्न की लात से कूबड़ पर आघात और चोटी पकड़ कर घसीटा जाना। परन्तु, मंथरा ने ऐसा किया क्यों, इसका मनोवैज्ञानिक कारण तुलसीदास ने एक नीतिविद् की दृष्टि की अपेक्षा अधिक स्पष्टतापूर्वक उपरोक्त उद्धरण में प्रस्तुत किया है।

मंथरा कैकेयी की धात्री थी, अतः उस पर माता जैसा ही अंकुश रखती थी। वा० रामायण में मानस की अपेक्षा यह अंकुश अधिक प्रबल है, मानस की अपेक्षा वह कैकेयी की ताड़ना अधिक निर्भीकतापूर्वक करती है जब कि मानस में कैकेयी उसे अधिक दृढता से फटकारती है। आशय यह कि दोनों काव्यों की मथरा में यह अन्तर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि वा० रामायण में वह धात्री है और मानस में दासी। इसीलिये एक काव्य में मंथरा का अंकुश और शासन प्रबल है, दूसरे में कैकेयी का। राजकीय मर्यादा को अधिक महत्व देने वाले कवि वाल्मीकि ने धात्री का चित्रण किया है और लौकिक मर्यादा को महत्व देने वाले कवि तुलसी ने दासी का। रामायण की मथरा एक और कैकेयी को "मूढ़े" "बालिशे" "मन्दस्वभावे" "अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यात" आदि कह कर अपना शासन जताती है, दूसरी ओर "शुभदर्शने" "कल्याणी" आदि कह कर अपना ममत्व भी प्रकट करती है। मानस की मंथरा चेरी है, इसलिये कैकेयी उसे फटकारती है—

> झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥
> पुनि अस कबहुं कहसि घरफोरी।
> तब धरि जीभ कढ़ावउ तोरी (२ १४)

नातिवादी

कवि तुलसी ऐसी कुटिल स्त्री को कैकेयी या भरत

की धात्री का पद नहीं दे सकते थे। इसीलिये उन्होंने उसे केवल दासी की सीमा में ही रक्खा है।

वाल्मीकि ने मंथरा की कुचाल को अपेक्षाकृत तटस्थ भाव से देखा है यद्यपि "पापिनी" आदि शब्दों का प्रयोग उन्होंने भी किया है, जब कि मानसकार इस स्त्री से चिढ़ता हुआ भी प्रतीत होता है। वाल्मीकि ने कैकेयी की वार्ता के माध्यम से उसके कूबड़ के प्रति विनोद भाव व्यक्त किया है (रा० २.९), जब कि तुलसी ने शारीरिक विकृति को मानसिक विकृति की पृष्ठभूमि मानते हुए नीतिकार की शैली का अनुसरण किया है। उन्होंने कहा है कि काने-कुबड़े लोग प्रायः कुटिल और कुचाली होते ही हैं, और फिर उनमें भी स्त्री और फिर दासी। इस प्रकार मंथरा की मनोवैज्ञानिक स्थिति का सम्बन्ध उन्होंने उसके शरीर से जोड़ा है। वाल्मीकि ने इसका सीधा-सीधा कारण यही बतलाया है कि ज्ञातिकुल की दासी होने के कारण उसका कैकेयी के प्रति यह पक्षपात स्वाभाविक ही था। वह राजकुमारी और अब राजरानी कैकेयी की राजनैतिक बुद्धि की पूरक थी (२.७.२३)। दासी होने में यह भाव भी निहित है कि निम्नवर्ग वालों में सामाजिकता का, स्नेह और संगठन का, भाव कम ही होता है। उनकी दृष्टि संकीर्ण होती है, उच्च वर्ग के प्रति उनमें जन्मजात द्वेष होता है जिस कारण वे उन्हें नीचा दिखाने के अवसर ताकते रहते है और जिस आपसी कलह से उनका निजी समाज पीड़ित रहता है उसी प्रकार का कलह वे उच्चवर्ग या अपने स्वामिवर्ग में उत्पन्न करके आत्मसन्तोष लाभ करते है।

दोनों ही कवियों ने मंथरा का चित्रण एकांगी दृष्टिकोण से किया है अर्थात् उसकी कुटिलता को तो देखा है, क्योंकि इसी के कारण कथा की घटनायें प्रभावित होती हैं, परन्तु उसके कार्य में निहित स्वामिभक्ति की भावना को महत्व नहीं दिया है।[1] इससे इस पात्र के प्रति दोनों का दृष्टिसाम्य प्रकट होता है। मंथरा यद्यपि दुष्टता की प्रतीक है, वही रामकथा के पूर्वार्ध अर्थात् अयोध्याकाण्ड की घटनाओं के मध्य खलपात्री है, उसकी स्थिति के कारण कैकेयी के अपराध की गुरुता कम हो गई है, परन्तु स्वयं मंथरा के भी चरित्र की रक्षा का प्रयत्न मानस में दिखलाई पड़ता है। उसने भी यह कार्य स्वाभाविक रूप मे नही किया था, वरन् सुरमाया के वशीभूत किया था और इस प्रकार वह राम के अवतार के उद्देश्य में सहायक हुई थी।[2] रामायण में इस विषय का किंचित् भी आभास प्राप्त नहीं होता, परन्तु संभवतया रामायणकाल से ही ले कर अवतारवाद के अंतर्गत मंथरा के चरित्र की भी अलौकिक भूमि तैयार होने लगी थी जिसका विकसित रूप मानस में दिखलाई पड़ता है। महाभारत के रामोपाख्यान में वह गंधर्वी दुंदुभी का अवतार बतलाई गई है, पद्म पुराण के पाताल खंड (गौड़ीय पाठ) और आनन्द रामायण में भी ऐसा कथन पाया जाता है। आनन्द रामायण में मानस के समान वह सरस्वती के द्वारा विमोहित भी की गई है।[3] इस प्रकार वा० रामायण

१. दे० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३०६।।

२ मा० २ दो० १२।

३ दे० बुल्के पृ० ९२५

और मानस की मंथरा में समय के अन्तर के साथ अन्तर पड़ गया है। अवतारवाद की भावना के साथ दुष्ट पात्र भी भगवान की लीला के साधक बन गये हैं।

निष्कर्ष—

१. दोनों काव्यों में मंथरा की कथात्मक स्थिति एक है, वह राजपरिवार मे कलह उत्पन्न करती है और शत्रुघ्न द्वारा दन्डित होती है।

२. वा० रामायण में वह धात्री का गौरव लिये हुए है परन्तु मानस मे स्वामिनी की प्रीतिपात्री दासी मात्र है।

३. वा० रामायण मे उसके कुकृत्य का कारण केवल उसका ओछापन है, ज्ञातिकुल की दासी होने के कारण वह कैकेयी की ही वृद्धि चाहती है। मानस में इस कारण के साथ उसकी शारीरिक विकृति की सार्थकता भी दिखलाई गई है। इसके अतिरिक्त अवतारवाद के अनुसार उसका भी कृत्य भगवान की लीला का ही अग बतलाया गया है जिस कारण सरस्वती ने बुद्धि पलट कर उससे यह कार्य कराया।

४. कैकेयी पर मनोवैज्ञानिक रूप से काबू पाने में मंथरा की कार्यकुशलता दोनों काव्यों में एक जैसी निपुणता के साथ दिखलाई गई है परन्तु मानस में मंथरा के व्यवहार और बातचीत में नाटकीयता विशेष रूप मे आ गई है, उसकी उक्तियो मे अभिनयोचित चांचल्य है, उसके एक-एक शब्द में उसकी भावभंगिमा सजीव हो उठी है। कवि कला की दृष्टि से मानस की मंथरा खल पात्र की कार्य कुशलता का और वाचिक अभिनय का रोचक उदाहरण प्रस्तुत करती है।

इस पात्र में कवि तुलसी ने अपनी कला का ऐसा उत्कर्ष दिखाया है कि मंथरा एक अमर चरित्र बन गई है।[1] "जिस मनोवैज्ञानिक और व्यंजना प्रचुर तर्क प्रणाली को कवि उसके हवाले करता है उसके कारण मंथरा का चित्र किसी भी कलापूर्ण चित्रावली में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है[2]।"

शूर्पणखा

महाकाव्य के विस्तृत कथानक में कुछ पात्र केवल कथा-सन्धियों पर किंचित् काल के लिये आविर्भूत हो कर सदा के लिये विलुप्त हो जाते हैं। विश्वामित्र, मंथरा, शूर्पणखा और संपाति ऐसे ही संधिस्थल पात्र कहे जा सकते हैं। उनका चरित्रचित्रण बहुत संक्षिप्त होता है, नही भी हो पाता है, परन्तु कथा में काफी समय तक उनके कार्य की गूंज रहती है। विश्वामित्र के द्वारा राम और सीता का सम्बन्ध स्थापित होता है और राक्षसवध के महायज्ञ की प्रथम आहुति पड़ती है। राम को वन भेजने के लिये कैकेयी काफी नहीं थी, मंथरा अनिवार्य थी। युद्ध का द्वार खोलने के लिये

१. "इस प्रसंग के चित्रण को देख कर समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव अन्तःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन किया है"। ऐसी गूढ उद्भावना बिना सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के नहीं हो सकती (रा० शुक्ल, तुलसीदास, पृ० १४८)

२ मा० प्र० गुप्त तुलसीदास पृ० ३०५

शूर्पणखा आवश्यक थी। ऐसे पात्र क्षणिक होकर भी प्रभावशाली होते है।

दोनों काव्यों में शूर्पणखा एक ही स्थल पर एक ही कार्य करती है। वह राम और लक्ष्मण से प्रणय-प्रस्ताव करती है और उपेक्षित होने पर सीता को खाने के लिये दौड़ती है। तब आत्मरक्षा और दण्ड के विचार से उसके नाक-कान काटे जाते हैं। इस प्रकार राम जिस प्रयोजन से वन में आये थे उसकी पूर्ति का अवसर मिलता है। मानस में यह स्थिति स्पष्ट कर दी गई है—

लछिमन अति लाघवं सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहं मनहुं चुनौती दीन्हि॥ (३.१७)

वा० रामायण में भी राक्षसिया विलाप करते समय शूर्पणखा को कोसती है (६.९५.६-१०)।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से शूर्पणखा की दो विशेषताएं दोनों काव्यों में सामने लाई गई हैं। प्रथम, वह स्वैरिणी स्त्रियों की प्रतिनिधि है। दूसरे, राजनीति-पण्डित रावण की अनुजा होने के नाते स्वयं भी राजनीति-विज्ञ है। खरदूषण-बध के बाद, दोनों ही काव्यों में, उसके मुख से रावण की राजनीति की कटु आलोचना कराई गई है और राजनीतिक उपदेश दिलाया गया है[1]।

शूर्पणखा का चरित्र मुख्यत: स्वैरिणी स्त्री के रूप मे ही अंकित हुआ है। राक्षसी होने के कारण वह कामरूपा भी है। युवावस्था में ही विधवा होने के कारण अतृप्त है, तुलसीदास ने उसकी इस मनस्थिति को स्पष्टतर शब्दों में प्रस्तुत कर दिया है।

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी॥
(३.१७)

शूर्पणखा के प्रसंग से नारीमात्र पर कामजन्य दुर्बलता का ऐसा खुला आक्षेप अशोभनीय है जिससे तुलसी का नारी जाति के प्रति अनौदार्य ही नहीं अपितु घृणा-भावना प्रकट होती है।[2] इस प्रकार वह अपने भाई की ही प्रतिरूप है। भाई किसी की सुन्दरी स्त्री को देख कर मन.संयम नहीं रख पाता और बहिन किसी सुन्दर पुरुष को देखते ही अधीर हो जाती है। उसकी व्यभिचारवृत्ति इससे भी प्रकट है कि वह पहले राम से, फिर लक्ष्मण से और पुन: राम से प्रस्ताव करती है। इस प्रकार दोनों ही काव्यों मे वह अत्यन्त उपहासस्पद स्थिति में रक्खी गई है।

यद्यपि दोनों ही कवियों का शूर्पणखा के प्रति अनादर भाव है फिर भी वाल्मीकि की विनोद वृत्ति परन्तु तुलसी की व्यंगवृत्ति शूर्पणखा के प्रति प्रकट हुई है। वाल्मीकि राम को उसके साथ "स्मितिपूर्वम्" "श्लक्ष्णयावाचा" बात करते ए दिखलाते हैं जिसे वह मूर्खा "परिहासाविचक्षणा" समझ नहीं पाती।[3] तुलसी

१. रा० ३.३३ तथा मा० ३.२१।
२ मा० प्र० गुप्त तुलसीदास, पृष्ठ ३०६
३ रा० ३ १८

के लक्ष्मण उस पर भर्त्सना पूर्वक कठोर व्यंग करते हैं—

लछिमन कहा तोहि सो बरई।
जो तृन तोरि लाज परिहरई ॥ (३.१७)

इस विनोद और व्यगवृत्ति से दोनों कवियों के व्यक्तित्व और काव्यदृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। वाल्मीकि मे कवि की तटस्थता और सहृदयता अधिक होने के कारण वे विनोद से काम लेते हैं जब कि मर्यादावादी और नीतिवादी तुलसी चिड़चिड़ाहट के कारण व्यंग का प्रयोग करते है। मथरा के विषय मे भी दोनों काव्यों का यही दृष्टि भेद दिखलाई पडता है। वाल्मीकि ने राम की सुन्दरता और शूर्पणखा की कुरूपता को आपने-सामने रखते हुए भी अपनी विनोद-प्रियता को प्रकट किया है (३.१७.१०-१२) जब कि तुलसी ने इन स्पष्ट शब्दों में प्रणय-प्रस्ताव रखवा कर मानो उसकी निर्लज्जता को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है :—

तुम सम पुरुष न मो सम नारी।
यह संजोग विधि रचेउ विचारी ॥ (मा० ३.१७)

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते" के देश में आदिकवि और सन्त कवि का यह व्यवहार अशोभन एवं आक्षेपयुक्त कहा जा सकता है। उन्होंने शूर्पणखा को सर्वथा स्त्रीसुलभ लज्जा से रहित प्रकट किया है, उसका उपहास किया है, उसे अत्यन्त मूर्खा भी बतलाया है और फिर उसका विरूपण कराया है। कथा उन्हें इसी रूप में प्राप्त हुई, अत वे विवश थे। नारी की अतिशय स्वच्छन्दता के भी वे समर्थक न थे। राक्षस-सस्कृति भी उनकी दृष्टि में निकृष्ट थी, यद्यपि विभीषण और मन्दोदरी उससे ऊपर उठे हुए थे। जहां तक विरूपण का प्रश्न है वह कृत्य तो आत्मरक्षा की स्थिति मे अनिवार्य ही हो गया था। शूर्पणखा-प्रसंग भी, बालि-वध के समान राम कथा की ऐतिहासिकता का द्योतक है। शूर्पणखा के प्रति दोनों कवियों का दृष्टिकोण एक समान है। अन्तर यही है कि वाल्मीकि के चित्रण में कविजनोचित सहृदयता कुछ कुछ बनी रही है जब कि तुलसी में वह लुप्त हो गई है और मानस की शूर्पणखा का केवल इतना ही परिचय मिलता है :—

दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी।

शबरी

शबरी मतंगशिष्या और किरातमहिला है, जिसने अपने विशेष तप से ख्याति अर्जित की थी। वा० रामायण में शबरी का कोई विशेष चरित्र नही है परन्तु मानस मे है। वा० रामायण में वह राम का आतिथ्य करती है और सीता की खोज करते हुए राम को मार्ग बतलाने का कार्य करती है, मानस में वह अधिक भावविह्वलता पूर्ण आतिथ्य करती है और केवल वही, कबन्ध के स्थान पर, राम को सुग्रीव से मिताई करने की सलाह देती है।[1] इस प्रकार एक ओर कबन्ध का कार्य दे कर

[1] म० ३ ३४ और ३६

तुलसीदास ने उसे प्रभु की उपकारिणी बना कर उसका महत्व बढ़ाया है। दूसरी ओर, उन्होंने भक्तिन के रूप में भी उसके चरित्र का विकास किया है। वा० रामायण मे वह केवल तपोधना है परन्तु मानस में अधिकारी भक्त है जिसे राम नवधा भक्ति की दीक्षा देते है (मा० ३.३५)। राम के पुरुष भक्तों में जो स्थान निषाद का है वही स्त्री भक्तों मे शबरी का। दोनों निम्न जाति के हैं, परन्तु भक्ति के आलोक से उच्च हो उठे हैं। दोनों की भक्ति अत्यन्त भाव-विह्वल है। राम के भक्त मानस की शबरी को नहीं भुला सकते, परन्तु रामायण की शबरी से उनका उतना निकट परिचय नहीं हो पाता।

मन्दोदरी

दोनों ही काव्यों में मन्दोदरी केवल पत्नी के रूप में सामने आती है, माता आदि के रूप में नहीं, फिर भी दोनों कवियों ने उसे भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। मानस में मन्दोदरी केवल उपदेशयुक्त वाक्य बोलने वाली धर्मपरायणा नारी है परन्तु रामायण में वह अपने वीर पिता, वीर पुत्र और वीर पति पर गर्व करने वाली राजरमणी है। वा० रामायण में भी वह सीताहरण के लिये अपने पति की निन्दा करती है, उसके शव पर विलाप करते समय गुणो के साथ उसके दोषों का भी बखान करती है,[1] परन्तु उसका चरित्र उसके अनुरूप है, कवि के दृष्टिकोण की कुहेलिका में धुधलाया हुआ नहीं है।

मानस में मन्दोदरी का केवल एक कार्य है—अपने पति को राम के प्रति आत्मसमर्पण और भक्ति का उपदेश देना। अशोकवाटिका प्रसंग से लेकर युद्ध मे रावण के प्रयाण करने तक वह पांच बार केवल उपदेश देने के लिये ही सामने आती दिखलाई पड़ती है।[2] उसके चरित्र की यह सीमबद्धता ऊब पैदा कर देती है, फिर भी वह अपने पति की नैतिक प्रहरी है और उसके पत्नीत्व का यह पक्ष सराहनीय कहा जा सकता है। वह विवेकमयी है, राम की शक्ति और सत्ता को पहिचानती है, परस्त्रीहरण के पातक की भयंकरता को समझती है, प्रीतिपूर्ण वचन, करुणा, याचना, आग्रह आदि के द्वारा अपने पति को सुमार्ग पर लाना चाहती है, पति के कल्याण के लिये निरन्तर सतर्क रहती है, यह सब शोभनीय है। परन्तु, वही जब रणभूमि में पड़े हुए पति के शव के प्रति इतना तक कह डालती है—

अस तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम विमुख अस अनुचित नाहीं॥ (६.१०४)

तब अवश्य खेद होता है। तुलसी ने विनयपत्रिका में 'नाते सबै राम के मनियत' कह कर अपना भक्ति विषयक मत स्पष्ट अवश्य कर दिया है, परन्तु दूसरी ओर अनसूया के मुख से पतिव्रता का जो आदर्श उन्होंने प्रस्तुत कराया था (३.५) उससे मन्दोदरी को गिरा दिया है। रावण के प्रति तो तुलसी की अत्यधिक अनुदारता और कविसुलभ

१. रा० ६.११४।

२ मा० ५ १० ५ ३६ ६ ६, ६ १४ और ६ ३६

सहृदयता का अभाव व्यक्त है ही परन्तु उसकी पत्नी के प्रति भी वे न्याय नहीं कर सके। उसके मुख से शत्रु की अत्यधिक प्रशंसा और उसकी भर्त्सना करा के उन्होंने राम के प्रति पक्षपात किया है और सम्पूर्ण प्रतिनायक पक्ष की हीनता प्रकट की है।

दूसरी ओर वाल्मीकि ने मन्दोदरी के मुख से राम की प्रशंसा और रावण की निन्दा कराके भी उसके सम्मान और उसके प्रति हमारी आवश्यक सहानुभूति को बनाये रक्खा है। वा० रामायण में भी वह केवल पत्नी के रूप मे ही दृष्टिगोचर होती है परन्तु उसका एक सर्ग में ही जितना चित्रण है वह यशस्वी राक्षसराज रावण और महाकाव्य के प्रतिनायक की पत्नी के अनुरूप है (रा० ६.११४)। वा० रामायण मे उसके अनिन्द्य सौंदर्य, दर्प और विवेक का भी प्रभावशाली परिचय प्राप्त होता है।

दोनो काव्यों में मन्दोदरी पहली बार सुन्दरकाण्ड में ही सामने आती है, परन्तु रामायणकार की निष्पक्षता और सहृदयता देखिये कि वह शत्रुपत्नी को किस प्रकार सामने लाता है—

> गौरीं कनकवर्णांगीमिष्टामन्तःपुरेश्वरीम्।
> कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम्
> स तां दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः॥
> तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसम्पदा। (५.१०.५१-५२)

सौन्दर्य में मन्दोदरी को सीता के समकक्ष रख कर आदि कवि ने सच्चे कलाकार की उदार दृष्टि दिखाई है। मन्दोदरी किसी प्रकार अपने को सीता से कम नहीं मानती (६.११४.२९), न रूप में, न कुल में और न बुद्धि में। उसका उच्च कुलोत्पन्न महिला-सुलभ दर्प दर्शनीय है। रावण की मृत्यु के बाद उसे अपने राजसी-विहार (६.११४.३३-३४) याद आते है, उसे सीता से अब ईर्ष्या होती है (६.११४.३१), वह अपने पति की सुन्दरता (६.११४.३५-३७) और वीरता (६.११४.४९) का बखान करती है, पति की मृत्यु पर उसे अपने पुत्र की भी मृत्यु का स्मरण हो आता है (११४.५८) और वह कहती है कि अब तो वह सर्वथा ही निस्सहाय हो गई। इन विविध भावनाओ के द्वारा एक विधवा नारी के हृदय के,—और ऐसी विधवा जिसका सौभाग्य कभी पराकाष्ठा पर था,—सच्चे और मार्मिक चित्र उपस्थित होते हैं, साथ ही कवि ने उसकी निष्पक्ष न्यायबुद्धि का भी परिचय दिया है। वह खेद प्रकट करती है कि उसके पति ने उसकी तथा उसके बुद्धिमान देवर और अन्य ज्ञातिबन्धुओं की हितकारी सीख का तिरस्कार किया। एक ओर वह अपने पति के गौरव का स्मरण करती हुई कहती है कि तुमने इन्द्रियों को जीत रक्खा था सो तुमसे सीता हरण करवा कर तुम्हारी इन्द्रियों ने तुम्हें परास्त कर तुम से बदला लिया और दूसरी ओर वह यह भी कहती है कि पतिव्रताओं के आंसू निष्फल नहीं जाते—

न [illegible] णि भूतले (६ ११४ ६७

की मन्दोदरी के भी पातिव्रत मे कोई कमी नही है पति के प्रति अतिशय प्रेम

के कारण ही वह उसकी निन्दा करती है, परन्तु यदि पतिव्रताओं का परमेश्वर पति ही होता है (तुलसी के अनसूया-उपदेश द्वारा) तो इस आदर्श से वह गिर गई है क्योंकि वह तो राम को परमेश्वर मानती है। इतना ही नहीं, उस परमेश्वर के कारण अपने पति-परमेश्वर की दुर्दशा पर भी वह एक प्रकार का सन्तोष ही प्रकट करती है।

वा० रामायण मे रघुवश की रानियों के अतिरिक्त दो राजरमणियो का चित्रण हुआ है, मन्दोदरी और तारा का, जिनके सौन्दर्य, ऐश्वर्य्य, तेजस्विता और बुद्धिमत्ता का कवि ने पूर्ण निष्पक्षता, उदारता और सहृदयता के साथ वर्णन किया है और महाकाव्य की चरित्रश्रृंखला मे वे अपनी विशिष्ट कान्ति से आकर्षित करने वाली नारी-रत्न है, परन्तु मानसकार ने तारा को तो उभरने ही नहीं दिया है और मन्दोदरी को केवल अपने उद्देश्य की पुतली बना कर निष्क्रिय ही कर दिया है। शत्रुपत्नी के मुख से शत्रु की प्रशंसा कराना, नायक के उत्कर्ष की दृष्टि से, वीर रसात्मक काव्यो की परम्परा अवश्य है, वा० रामायण में भी वह है, परन्तु शत्रु की पत्नी के द्वारा अपने पक्ष का इस सीमा तक खंडन न्यायोचित नही कहा जा सकता। काव्यदृष्टि इसे स्वीकार नहीं कर सकती। आदर्शवाद और सम्प्रदायवाद में अन्तर है। संप्रदायवाद सीमित और सकीर्ण होता है तथा आदर्शवाद व्यापक और विस्तृत। मानस की मन्दोदरी का चरित्र आदर्शवाद की कोटि मे नही आता, वह केवल संप्रदायवाद की कोटि में आता है। मन्दौदरी का चित्रण मन्दोदरी या रावण के निमित्त नहीं, केवल राम के निमित्त हुआ है।

तारा

यद्यपि दोनों ग्रंथों में तारा की घटनात्मक स्थिति एक सी है परन्तु रामायण की तारा का व्यक्तित्व सुस्पष्ट और विकसित है, जब कि मानस की तारा का उल्लेख मात्र हुआ है। उसके व्यक्तित्व या चरित का प्रकाशन मानस मे नहीं हुआ है। ऐसा दो कारणों से हुआ प्रतीत होता है। एक तो मानस के कथा-संकोच के कारण, और दूसरे कवि की स्त्रियों के प्रति उपेक्षावृत्ति होने के कारण। तारा के प्रति उसके आकृष्ट न होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि सुग्रीव का पुनर्वरण करके उसने सन्त तुलसीदास की सूची के लिये अपने आप को अनविकुल सिद्ध कर दिया था।

दोनों काव्यों में तारा बालि को सुग्रीव से युद्ध करने से रोकती है क्योंकि उसकी पीठ पर राम जैसे सहायक थे। इसके पश्चात् पति के बध पर उसका विलाप अत्यन्त मार्मिक है, जिसका मानस में संकेत मात्र हुआ है परन्तु वा० रामायण में विशेष विस्तार है।[1] काव्य की दृष्टि से वह एक उत्कृष्ट प्रसग है। उसकी बुद्धिमत्ता इस बात से प्रकट होती है कि उसने परिस्थिति के अनुसार अपने को बना लिया और माता तथा पुत्र दोनों ने ही सुग्रीव की पूर्ण आधीनता स्वीकार कर ली जिससे कि अंगद को यौवराज्य मिल गया। तारा राजनीति कुशल थी, अतः उसने विद्रोह की अपेक्षा विनय से ही भविष्य की उज्ज्वलता देखी वा० मे अगदकृत विद्रोह में तार की कोई

१ रा० ४ २२

सहमति न थी। अंतिम प्रसग, जिससे तारा का सम्बन्ध है, क्रुद्ध लक्ष्मण को शान्ति और चातुर्यपूर्ण वाणी से आश्वस्त करके सुग्रीव के प्रति उनको प्रसन्न करना है।[1] तुलसीदास ने भी इन्ही प्रसंगों में तारा को सीमित रक्खा है, तारा के निमित्त न कोई प्रसग बढाया है और न घटाया है, परन्तु उसका इतना चलता हुआ उल्लेख किया है कि व्यक्तित्व स्फुरित ही नही हो पाया है। इसके विपरीत रामायण की तारा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और गुणों के कारण अविस्मरणीय है। वा० रामायण की तारा की वाग्मिता की सहृदय जन ने विशेष रूप से प्रशसा की है।[2]

रामायण की तारा में वाह्य और आन्तरिक तेजस्विता है, कदाचित् इसी कारण उसकी गणना पंचकन्याओं में की जाने लगी है।[3] वह परम रूपवती है, बोलने मे अत्यन्त निपुण और आकर्षक है, विवेकमयी है और राजनीतिज्ञ भी है। जब वह क्रुद्ध लक्ष्मण के सामने आती है तो उनका क्रोध शान्त हो जाता है और उसकी वाक-कुशलता उन पर अपना अभीष्ट प्रभाव डालती है। वाल्मीकि ने तारा के माध्यम से एक आदर्श वानर महिला और तत्कालीन वानरी संस्कृति, सभ्यता एव शिष्टाचार का परिचय दिया है।

वा० रामायण में तारा और मन्दोदरी जिस प्रकार अपने पतियों की अनीति और अदूरदर्शिता का विरोध करती हैं और राम के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रकाशन करती हैं, उससे यह प्रकट होता है कि सभी प्रान्तों और जातियों में राम विशिष्ट आदर की दृष्टि से देखे जाते थे और उनके प्रति एक प्रकार की भक्ति अर्थात् सर्व-शक्तिमत्ता और भय तथा सम्मान की भावना परिपुष्ट हो चुकी थी। राम के भगवदत्व की सूचक तारा की यह उक्ति देखिये—

> रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥
> निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः ॥
> आर्तानां संश्रयश्चैव यशश्चैकभाजनम् ।
> ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो निदेशे निरतः पितुः ॥ (४.१५.१९-२०)

तारा का चरित्र इस बात का उदाहरण है कि मानस मे वा० रामायण के अनेक मार्मिक प्रसग ही नहीं प्रभावशाली पात्र भी छूट गये हैं। तारा-विलाप वा० रामायण का एक मार्मिक कवित्वपूर्ण प्रसंग है और तारा कवि की एक आकर्षक सृष्टि है, परन्तु मानस मे ये दोनों ही अनुपस्थित हैं। तुलसीदास ने उन्हीं पात्रों को सुरक्षित रक्खा है और कुछ ऐसो का ही विस्तार किया है जो उनके प्रतिपाद्य की स्थापना में सहायक थे। कोरे कवित्व प्रेरक पात्रों का उनकी दृष्टि में कोई महत्व न था।

---

१. रा० ४.३५।

2. "What an ancient Portia she was ! × × × Many advocates may learn lessons from her speech"—वी० एस० शास्त्री, लेक्चर्स आन रामायण

३ अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा पंचकन्या स्मरेन्नित्य महापातकनाशनम्

गौण पुरुष पात्र

इस वर्ग के अंतर्गत वे पात्र आते हैं जिनका कथानक में तो कुछ योगदान है, परन्तु जिनके व्यक्तित्व का उद्‌घाटन अर्थात् चरित्र-चित्रण बहुत कम या बिल्कुल नही हुआ है। इनमें से कुछ केवल प्रचलित वा० रामायण से सम्बन्धित हैं अर्थात् आदि कवि ने उनकी कल्पना नही की थी और कुछ ऐसे हैं जिनका वा० रामायण में विस्तार है और मानस में संक्षेप अथवा मानव मे विस्तार है और वा० रामायण में संक्षेप। इस दृष्टि से वे एक काव्य में गौण और दूसरे में अपेक्षाकृत मुख्य भी माने जा सकते हैं। इन पात्रों को कथा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) राम के स्वजन सम्बन्धी—शत्रुघ्न, सुमंत्र, जनक और वशिष्ठ।

(ख) राम के सखा, सेवक, सहायक आदि—निषाद, जाम्बवंत, जटायु और सम्पाति।

(ग) ऋषिगण—विश्वामित्र, परशुराम, भरद्वाज, वाल्मीकि और अगस्त्य।

(घ) रावण के स्वजन और सहायक—मारीच, कुंभकरण, खर, बालि, माल्यवान और प्रहस्त।

(क) राम के स्वजन-सम्बन्धी

शत्रुघ्न—

मूल वा० रामायण और रामचरितमानस में शत्रुघ्न ने एक ही कार्य किया है—मथरा को दण्ड देना,[1] और उनके चरित्र के विषय में दो ही संकेत है—वैमातृक अग्रज भरत का अनन्य अनुराग और अपने अग्रज लक्ष्मण के समान उग्र स्वभाव। इस प्रकार दोनों ही काव्यों में वे लक्ष्मण के व्यक्तित्व की लघु आवृत्ति सी प्रतीत होते हैं।

तुलना की दृष्टि से एक बात का संकेत किया जा सकता है। कथाशिल्प के विवेचन में हम कह चुके है कि तुलसी को वा० रामायण के उत्तरकाण्ड की भी कथा और पात्रों के प्रति मोह है। अतः उन्होंने वा० रामायण के उत्तरकांड में दिये गये शत्रुघ्नचरित्र के कुछ अंशों को विनयपत्रिका[2] और गीतावली[3] में स्थान दिया है। फिर भी शत्रुघ्न रामकथा के मूकपात्र हीठह रते हैं और कथा की अन्विति को नष्ट किये बिना उनके किये अधिक अवकाश न तो मानस में ही संभव था और न वा० रामायण मे। अतः किसी भी विद्वान का यह अभिमत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वाल्मीकि और तुलसी ने शत्रुघ्न की उपेक्षा की है अथवा असावधानी दिखलाई है।[4]

सुमंत्र

सुमंत्र राजा दशरथ के अमात्य, मुख्य सारथी और परिवार के सदस्य सदृश

---

१. रा० २.७८ तथा मा० २.१६३।

२. पद ४०।

३ उत्तर० ३४

४ रांगेय राघव तुलसीदास का कथाशिल्प पृ० ८५

सम्मानित वयोवृद्ध है। राम-वनगमन के विषादमय वातावरण में दोनों ही कवियो ने विशिष्ट सहानुभूति और समादर के साथ सुमंत्र को स्थान दिया है। वाल्मीकि ने उन्हे कैकेयी को फटकारने तक का अधिकार दे दिया है,[1] जिससे कि उस परिवार में उनका विशिष्ट सम्मान लक्षित होता है, पर तुलसी ने यह अधिकार न देते हुए भी उनके सम्मान को उसी स्तर पर रखा है। दशरथ उन्हें सखा मानते हैं, राम पिता के तुल्य और सीता श्वसुर के समान।[2] तुलसी ने उनकी कारुणिकता मे एक हल्की सी घटना और भी जोड़ दी है कि अयोध्या लौटने का आग्रह करते समय लक्ष्मण ने उनके प्रति दुर्व्यवहार प्रकट करते हुए पिता के लिये कुछ कटु वचन कह दिये और राम ने इसके लिये उनसे क्षमा-याचना की। सुमंत्र के इस प्रसंग के आश्रय से राम के शील की एक और झांकी दिखलाने का अवसर तुलसीदास को मिल गया है। इस प्रकार कथावस्तु की दृष्टि से सुमंत्र के चरित्र में समानता होते हुए भी दोनों कवियों के उद्देश्य की दृष्टि से अन्तर है। वाल्मीकि ने उनका चरित्र-चित्रण राजनैतिक दृष्टि से किया है जबकि तुलसी में भक्ति भावना का प्रकाशन स्पष्ट है।

जनक—

तुलसी की भक्ति भावना ने राम कथा में जनक के चरित्र का विस्तार किया है और उनके व्यक्तित्व को ऊपर उठाया है। वा० रामायण में उनके दर्शन केवल बाल-काण्ड में होते है और उसे प्रक्षिप्त मान लेने पर वे रामायण की कथा में अनुपस्थित ही कहे जायेंगे। तुलसी ने उन्हे ग्रहण तो प्रचलित वा० रामायण की परम्परा से ही किया परन्तु विकास स्वतंत्र रीति से किया है। राम के श्वसुर अथवा, उससे भी अधिक, सीता के पिता होने के नाते उनका जनक को विशिष्ट गौरव प्रदान करना स्वाभाविक ही था।

कथा में तुलसी ने जनक की दो झांकियां प्रस्तुत की हैं। प्रथम, धनुषयज्ञ-प्रसंग मे, जहां कि वे सच्चे क्षत्रिय के रूप में अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं, भले ही उनकी कन्या क्वांरी रहे, और 'बीर बिहीन मही मैं जानी' कह कर क्षत्रियोचित विक्षोभ प्रकट करते हैं[3]। उनका यह प्रतिज्ञापालन, साथ ही राम के प्रति उनका आकर्षण और सीता के प्रति प्राणों से अधिक प्यार, यह प्रकट करता है कि तुलसी जनक के चरित्र को दशरथ के समकक्ष स्थापित कर रहे हैं। वे अपने आराध्य और आराध्य के जनकों को एक ही आदर्श में रंगते हुए दिखलाई पड़ते हैं। प्रेम और प्रण अथवा सत्य के द्वन्द्व पर ही दोनों का चरित्र आधारित है।

जनक के चरित्र की दूसरी झांकी अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट-सभा के अवसर पर प्राप्त होती है जब कि जनक जैसे महाज्ञानी भी धर्मसकट मे फस कर सोचने

आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं (मा० २.२९२)

फिर भी उनकी उपस्थिति ने समस्या के सुलझाने में सहयोग दिया है।

वा० रामायण के बालकाण्ड में जनक तो है पर जनक का चरित्र नहीं है। उनमें न तो उनके पितृ-प्रेम, न क्षत्रियोचित दृढ़ता और न विक्षोभ का प्रकाशन हुआ है। मानस में जनक आदर्श पुत्री पर गर्व करने वाले पिता के रूप में सामने लाये गये हैं—

पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ (अयो० २८७)

यदि दशरथ को राम जैसे पुत्र पर गर्व था तो जनक को सीता जैसी पुत्री पर।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी ने रामकथा मे नवीन परम्परायें जोड़ी हैं जिससे कथा और चरित्रचित्रण दोनों क्षेत्रों में नवीनता और कवि की मौलिक कल्पना के प्रसार को अवसर मिला है। जनक चित्रकूट से लौटकर चार दिन अयोध्या रुक कर सारी व्यवस्था करके ही मिथिला लौटते है (मा० २.३२२)। मानस की ऐसी पारिवारिक भावनाओं ने उसे विशेषरूप से लोकप्रिय बनाया है।

कथात्मक आवश्यकता और राम तथा सीता के प्रति भक्ति भावना के कारण ही तुलसीदास जनक के प्रति आकृष्ट नहीं हुए हैं। वे उनके "विदेह" नाम पर भी लट्टू हैं और इन्हें इसलिये भी पूजते है कि—

जोग भोग मह राखेउ गोई (१.१७)

इस प्रकार मानस में जनक के चरित्र को नये सिरे से उठाया गया है और जनक के साथ सुनयना को भी स्थान दे कर कवि ने अयोध्या-परिवार के साथ मिथिला-परिवार की झांकी भी पूर्ण कर दी है।

वशिष्ठ

वशिष्ठ का चरित्र भी, मानस में, कवि के आराध्य देव के गुरु होने के कारण और अपने युग के श्रेष्ठतम ब्राह्मण होने के कारण, वाल्मीकि की अपेक्षा नये ढंग से उठाया गया है।

दोनों ही काव्यों मे कथाप्रवाह पर वशिष्ठ का कोई विशेष प्रभाव नहीं है, परन्तु अपने पद और स्थिति के कारण उनका महत्व है। राम के राज्याभिषेक की चर्चा के अवसर पर वे सामने आते हैं, कैकेयी की दुर्विनीतता पर उसे फटकारते है (रा० २.३७), चित्रकूट की सभा में धर्मसगत निर्णय कराने में सहायक होते हैं और राम के अयोध्या लौटने पर उनका अभिषेक करते है।

मानसकार ने उनके गौरव-विस्तार के साथ उन्हें राम का भक्त भी बना दिया है। मानस में वशिष्ठ यह प्रकट करते हैं कि केवल राम के दर्शनार्थ, ब्रह्मा की आज्ञा से उन्होंने रघुवंश में "उपरोहित्य" का "अति मंद कर्म" अंगीकार किया था (७.४८)। अन्त मे वे राम से जन्मजन्मान्तर की भक्ति का वरदान प्राप्त करके विदा लेते हैं—

नाथ एक बार माँगउं राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुं घटै जनि नेहु॥ (७.४९)

इस प्रकार अन्त में गुरु का व्यक्तित्व भक्त के व्यक्तित्व मे विलीन हो गया है। मानस के चरित्रचित्रण की यह एक विशेष पद्धति है जिसके अनुसार सारे लौकिक नाते एक बड़े नाते अर्थात् जीव और ब्रह्म अथवा भक्त और भगवान के नाते के आधीन हो गये है।

(ख) राम के सखा, सेवक और सहायक

निषादराज गुह और केवट—

दोनों काव्यों में निषादराज गुहकी कथात्मक स्थिति एक जैसी है। समानता प्रकट करने वाली मुख्य बात यह है कि दोनों कवियों ने इस अर्धसभ्य और अशिक्षित व्यक्ति मे उच्च कोटि की सचाई और ईमानदारी की भावनाओं को स्थान दिया है। राम और सीता को तरुतले भूमि पर शयन करते देख उसके मार्मिक विषाद मे झलकता हुआ परिष्कृत मानव हृदय,[1] तथा भरत पर शंका करके राम पर बलिदान हो जाने की तैयारी में प्रकट होने वाला सच्चा सख्य अथवा स्वामिभक्ति[2] हमारे हृदय में निषाद के प्रति आदर की भावना उत्पन्न करती है।

दोनों कवियों की भावना में मुख्य अन्तर यह है कि वा० रामायण में गुह-निषाद राजा के गौरव और मित्र की प्रतिष्ठा से अधिक विभूषित हुआ है जब कि मानस में वह आदर्श भक्त के दैन्य से भरपूर है और इस रूप में भरत और वशिष्ठ तक की प्रशसा का पात्र बना है।[3] मानस में लक्ष्मण के मुख से गीता-चर्चा भी उसे सुनवाई गई है[4]।

मानस में वा० रामायण के निषादराज के अतिरिक्त एक दूसरे निषाद (केवट) की भी अवतारणा हुई है।

मानसकार ने निषादराज के साथ एक दूसरे सामान्य निषाद को जोड़ने की आवश्यकता क्यों अनुभव की, यह विचारणीय है। आलोचकों ने भ्रम से इस दूसरे निषाद को पृथक न मानकर निषादराज के व्यक्तित्व में ही मिला दिया है[5] परन्तु वास्तव में भक्त का मार्मिक प्रेम, दैन्य और शरणयाचना इसी दूसरे सामान्य निषाद के चरित्र में दिखलाई पड़ती है, जिसका कोई चिह्न वा० रामायण में नहीं है। तुलसीदास को यह दूसरा निषाद अध्यात्म रामायण से उपहार मिला है।[6] भक्त तो दीन और प्रपन्न ही हो सकता है, अतः भक्ति का गद्गद् प्रवाह दिखाने के लिए उन्होंने निषादराज को न चुनकर उसके सेवक एक सामान्य निषाद को चुना है। यही राम से चरणामृत का आग्रह करता है, यही उनको पार उतारता है, इसी को राम

---

१. रा० २.५१ तथा मा० २.९०।

२. रा० २.८४ तथा मा० २.१९०।

३. मा० २.१९३ तथा २४३।

४- वही- ९२-९३।

५ दे० श्रीधरसिंह मानस का कथाशिल्प पृ० ९४ और ११०

६ अ० रा० १ ६

'मजूरी-मुद्रिका' देना चाहते हैं और यही मानस का वास्तविक निषाद है। गुह निषाद-राज है, वह भी भक्त है, परन्तु भक्तराज यही अनामधारी निषाद है[1]।

निषादराज गुह का सम्बन्ध कथा से अधिक है पर इस साधारण निषाद का गहरा सम्बन्ध मानस के कवि की निजी भावना से है।

जाम्ववान—

जाम्ववान का स्थान दोनों ही काव्यों में एक वयोवृद्ध अर्धविश्रान्त यशस्वी सैनिक का है जिसकी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता नई पीढ़ी के लिए अत्यन्त उपयोगी थी और जिनका अवशिष्ट बूढ़ा बल उनके गौरवशाली तारुण्य की साक्षी देता प्रतीत होता था। हनुमान को उनके बल का स्मरण जाम्बवान ही कराते हैं। (रा० ४.६६ मा० ४.३०), लंका में उनके कर्तव्य की शिक्षा भी वे ही देते हैं (वही) और वा० रामायण में वानरों की इस योजना का, कि चलकर सीता को अभी छुड़ा लावें, निषेध वे ही करते हैं (रा० ५.६०)। उनके बल का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वामनावतार के समय उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी की परिक्रमा की थी (रा० ४.६६. ३३ और मा० ४.२९)। दोनों ही काव्यों में उनका व्यक्तित्व हनुमान के साथ संयुक्त है। उन्हें बूढ़ा हनुमान कह सकते है जिस प्रकार अंगद को किशोर हनुमान। तुलसी की श्रद्धा इसी कारण उनके प्रति भी दिखलाई पड़ती है। हनुमान के बाद वे जाम्बवान का ही विशेष आदर करते दिखलाई पड़ते हैं और उन्हे वा० रामायण की अपेक्षा मंच पर अधिक लाने का प्रयत्न करते हैं। पवनतनय के चरित, उनके लंका से लौटने पर, वे ही राम को सुनाते है (मा० ५.३०)। वे ही युद्ध छेड़ने से पहले अंगद को दूत बनाकर भेजने का परामर्श राम को देते हैं (मा० ६.१७)। लंका मे प्रसिद्ध सुषेण वैद्य है, इसकी जानकारी उन्हें ही है (मा० ६.५५)। उनके बूढे पराक्रम की मानस में दो झांकियां उल्लेखनीय हैं—मेघनाद को उठाकर लंका में फेंक देना (मा० ६.७४) और रावण पर ऐसा पद प्रहार करना कि वह मूर्छित हो गया और उसे सारथि रथ में डालकर ले गया (मा० ६.९८)। इस प्रकार तुलसी ने उनके चरित्र की भी एक सुस्पष्ट निश्चित परिधि तैयार कर दी है जिससे वे रामचन्द्र के नक्षत्र-मंडल मे विशिष्ट ज्योति से चमकते दिखलाई पड़ते हैं। वा० रामायण में वे वानरों की अपार भीड़ में, तार-सुषेण-गवय-मंयद आदि के बीच, खोये हुए से है परन्तु मानस मे स्पष्ट चमकते हैं।

जटायु—

वा० रामायण में आर्यजाति के व्यापक संगठन और विराट् सांस्कृतिक अभियान में भाग लेने वाली अनेक वन्य जातियों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया है। निषाद जाति के प्रतिनिधि गुह, वानर जाति के सुग्रीव और हनुमान, भालू जाति के जाम्बवान, और गृद्ध जाति के जटायु और सम्पाति हैं।[2] ऋषिवर्ग में से भी इसी प्रकार

१ दे० मानस-रहस्य पृ० २५९-२६१

२ सी० वी० वैद्य, रिडिल, पृ० १३८ तथा रांगेय राघव कृ० कथारिल्प, पृ० १०४

विश्वामित्र और अगस्त्य हैं। अतः जटायु ऐतिहासिक दृष्टि से और कथात्मक स्थिति के विचार से भी एक महत्वपूर्ण पात्र है। मानस में वह भक्तों की माला का भी एक मूल्यवान मोती है।

जटायु की कथात्मक स्थिति दोनों काव्यों में समान है। अरण्यकाण्ड उसके गौरव से गुंजायमान है। पंचवटी पर पहुचते ही राम का परिचय उससे हो जाता है और दशरथ के मित्र होने के कारण वह राम के वनवास का अभिभावक (गार्जियन) बनकर रहता है। सीता को वह अपनी पुत्रवधू ही मानता है, और अपने मित्र की कुलप्रतिष्ठा के लिए प्राण-परित्याग करता है।

दोनों ही काव्यों में बूढे जटायु की वीरता विस्मयकारिणी है, फिर भी वा० रामायण में उसकी वीरमूर्ति जितनी अभिराम है उतनी मानस में नहीं—

१. युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर।
वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेय रथोत्तमात्॥ (३.५०.२८)
२. तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तम् तिष्ठ रावण॥ (३.५१.३०)

मानस का कवि जटायु के रूप में भक्ति की बलिवेदी के एक शहीद का चित्रण करता है जबकि वाल्मीकि रामायण का कवि अपने मित्र की कुल-प्रतिष्ठा और अपने उत्तरदायित्व की पूर्णता के लिए प्राण देने वाले वीर का। दोनों ही काव्यों में राम उसका प्रेतकर्म पिता के समान करते हैं और वा० रामायण में भी राम के द्वारा उसे उत्तम लोकों में भेजे जाने का प्रसंग है (३.६८.३०)। मानस में उसके प्रति राम के औदार्य को विशेष रूप से भक्तवत्सलता के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसा कि जटायु-प्रसंग के उपसंहार से स्पष्ट है—

कोमलचित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥ (३.३३)

वा० रामायण में जटायु अपनी स्वतंत्र छाप पाठक के हृदय पर अंकित करता है, जब कि मानस में उस छाप को मिटकर राम की सुशीलता की छाप लगाने का प्रयत्न किया गया है। परब्रह्म होने के नाते राम उस विशिष्ट कोटि के महाकाव्य-नायक बन गये है जिसके चरित्र की चकाचौंध में दूसरे पात्रों को चमकने का अवसर ही नहीं दिया जाता। जटायु का निष्काम, निस्स्वार्थ बलिदान मन को एक भव्य अनुभूति से भर देता है—एक महिला की रक्षा में प्राण-परित्याग कर देने वाला वृद्ध वीर!

सम्पाति—

सम्पाति सीता-अन्वेषण के कथांश की एक महत्वपूर्ण शृंखला है। वही निश्चित रूप से है कि सीता समुद्र के पार लंका में है और जो सौ योजन सागर लाँघ कर आ सकता हो वही सीता से भेंट कर सकेगा दोनों काव्यों में सम्पाति के चरित्र

की तीन विशेषताएँ प्रकट की गई हैं। उसका भ्रातृप्रेम[1], भाई के मित्र के लिए उसकी सेवाभावना[2] और उसकी पूर्वकाल की महत्वाकांक्षा अर्थात् सूर्य तक पहुचने की स्पर्धा। वाल्मीकि ने आनुषंगिक रूप से वन्यजातियों के इतिहास और उनके विशिष्ट वीरो के लोकप्रसिद्ध कृत्यों का सन्निवेश भी महाकाव्य के विशाल क्षेत्र में कर लिया है।

एक महापुरुष के जीवन के साथ अनेक महज्जीवनों और एक महत्कृत्य के साथ अनेक महत्कृत्यों को झलकाते चलने की महाकाव्योचित प्रवृत्ति का निर्वाह दोनों काव्यों में है। महाकाव्य को इसीलिये जातीय या राष्ट्रीय इतिहास कहा जाता है।

(ग) राम के हितैषी ऋषिगण

विश्वामित्र—

वा० रामायण में विश्वामित्र बालकाण्ड के बाद दिखलाई नहीं पड़ते, राक्षसो के ध्वंस का महामंत्र देकर वे पीछे मुड़कर भी नहीं देखते। मानस में भी यह अभाव खटकता है, कवि को कहीं विश्वामित्र को फिर से लाने का अवकाश नहीं मिला है। चित्रकूट सभा मे उनका उल्लेख मात्र है (अयो० २७८)।

राम के गुरु के रूप में विश्वामित्र को तुलसी ने अधिक चमकाया है। वा० रामायण में भी वे राम के शस्त्रगुरु हैं पर धनुषयज्ञ में उनके वात्सल्य की जैसी झाकी मानस में है वह रामायण में नही है। सबकी दृष्टि राम की ओर है और विश्वामित्र का हृदय अपने इन शिष्यों को देखकर फूला नहीं समाता है। धनुर्भङ्ग होने पर कवि ने गौरवान्वित गुरु के हृदय का चित्र प्रस्तुत किया है—

कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम वारि अवगाहु सुहावन।। (बाल० २६२)

इस प्रकार कवि को विश्वामित्र के साथ राम की गुरुभक्ति की झांकी दिखाने का भी अवसर मिल गया है।

वा० रामायण में विश्वामित्र दशरथ पर, राम-लक्ष्मण को देने में उनकी अतत्परता देखकर, क्रुद्ध होते हैं (रा० १.२१) परन्तु मानम में वे उनका यह भक्ति-भाव देखकर प्रसन्न ही होते हैं। इस प्रकार भक्तिप्रधान काव्य में छोटे से छोटे प्रसंग भी दृष्टिकोण के आधार पर परिवर्तित कर दिये गये हैं।

परशुराम—

रामकथा से परशुराम का सम्बन्ध अत्यंत गौण है। आदिकाव्य में उनका कोई स्थान नहीं था। तुलसी ने वा० रामायण की अपेक्षा उनमें कुछ परिवर्तन और परिवर्धन किया है, अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

परशुराम की स्थिति दोनों कथाओं में एक क्षत्रिय-विरोधी ब्राह्मण की है,

---

१- रा० ४ ५७.२. ५८.६, तथा मा० ४.२७।

२ मा० ४ ५८ १२ तथा मा० वही

रा० ४ ५८ तथा मा० ४ २८

परन्तु मानस में परशुराम की यह भावना विशेष रूप से उग्र है यहां तक कि उनमे ब्राह्मणोचित सौम्यता, क्षमा और संयम का अत्यंत अभाव दिखलाई पड़ता है। इसी लिए तुलसीदास ने लक्ष्मण जैसे अल्पवय युवक के साथ वाग्युद्ध कराते हुए उनको उपहासास्पद बनाकर मानो सच्चे ब्राह्मण बनने की प्रेरणा दिलवाई है। राम के विरोधी होने के कारण भी उन्होंने परशुराम को उपहासास्पद स्थिति में पहुंचाया है। दोनों में ही परशुराम राम का सच्चा स्वरूप पहिचान कर उनकी भक्ति से पूरित हो कर बिदाई लेते हैं। विद्वानों का विचार है कि परशुराम एक व्यक्ति न होकर सम्प्रदाय है और हो सकता है कि यह परशु धारण करने वाले क्षत्रिय विरोधी ब्राह्मणों का एक प्राचीन सम्प्रदाय हो।[१]

भरद्वाज—

प्रयागराज में भरद्वाज का आश्रम राम और भरत की वनयात्रा के एक विश्राम-स्थल के रूप मे स्मरणीय है। दोनो की काव्यों में अपनी अष्टसिद्धियों के द्वारा उन्होने भरत का राजसी आतिथ्य किया है। वा० रामायण में भरद्वाज ही राम को चित्रकूट-निवास का परामर्श देते है (रा० २.५४), जब कि मानस में यह परामर्श वाल्मीकि मुनि ने दिया है (मा० २.१३२)।

मानसकार ने इन सभी ऋषि-मुनियों को ब्रह्म राम का उपासक प्रदर्शित किया है (२.१०७) जब कि वा० रामायण में वे राम का आतिथ्य एक महापुरुष के नाते करते हैं (रा० २.५४)। मानस के भरद्वाज की भरत के प्रति भी विशेष भक्ति है—

तुम्ह तो भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥ (२.२०८)

मानस में यही भरद्वाज राम-कथा के एक श्रोता भी हैं (मा० १.४४–४६)। इससे स्पष्ट है कि भरद्वाज की कथात्मक स्थिति दोनों काव्यों में एक समान होते हुए भी चरित्रचित्रण में भेद है। भक्ति के दीक्षित करने के लिये मानसकार ने उनके व्यक्तित्व मे सशोधन किया है।

वाल्मीकि—

वाल्मीकि नाम के एक ऋषि राम के समकालीन थे, इसमे तुलसी को कोई सन्देह नही प्रतीत होता, परन्तु वा० रामायण में यह विषय संदिग्ध है। दो स्थलों पर वाल्मीकि की चर्चा वा० रामायण की कथा के बीच में की गई है। एक तो, राम के चित्रकूट पर पहुंचने से पूर्व (रा० २.५६) और दूसरे, सीता-परित्याग के प्रसंग में (रा० उत्तरकाण्ड)। दोनों ही स्थल संदिग्ध है। यह वाल्मीकि रामायण के रचयिता वाल्मीकि ही थे ऐसा कोई संकेत पहले स्थल से नहीं मिलता। उ——— से अवश्य यही प्रकट होता है सग ९३ ९५

और देर तक वार्तालाप हुआ (मा० २.१२५-१३२) वे रामायण के रचयिता वाल्मीकि थे अथवा कोई अन्य वाल्मीकि, क्योंकि उनके कवि होने का कोई उल्लेख मानस में नहीं है और उनका आश्रम तमसा-तट से, जहां कि राम ने वनवास की प्रथम रात्रि व्यतीत की थी, काफी दूर भी (चित्रकूट के समीप) दिखलाया गया है। गीतावली में सीता के वाल्मीकि-आश्रम मे रहने का प्रसंग है (७.२८-३६) परन्तु उसमे प्रथम वनवास की भेट का कोई उल्लेख नहीं है। इन पदों मे वाल्मीकि के द्वारा रामायण की रचना और लवकुश को रामायण पढ़ाये जाने की चर्चा भी नहीं है। मानस में रामायण के रचयिता वाल्मीकि की भी चर्चा अन्य स्थलों पर हुई है (१, दो० १४ घ)। उसमें नाम के द्वारा शुद्ध होनेवाले आदि कवि वाल्मीकि का भी उल्लेख है (१.१९.५) और राम के परम भक्त ऋषि वाल्मीकि का तो उक्त प्रकरण ही है। इनमे से प्रथम दो उल्लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि उल्टे जाप करके शुद्ध होने वाला रत्नाकर डाकू और आदि कवि एक ही हैं (कदाचित् नाम-जप का अर्थ रामायण की रचना करना ही हो !), परन्तु यह दूसरे वाल्मीकि ऋषि भिन्न प्रतीत होते हैं। मानस में चित्रकूट-निवास का परामर्श, भरद्वाज नहीं, यही वाल्मीकि देते हैं (२.१३२)। तुलसी की प्रवृत्ति सर्वत्र समन्वय और संग्रह की रही है—काव्य, कला, दर्शन, सामाजिक विचार, धर्म आदि सभी में। विभिन्न कथाओं और पात्रों का भी उन्होंने समन्वय और संग्रह किया है। वाल्मीकि के विषय में भी उनकी यही प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। उन्होंने वाल्मीकि की लोक-प्रचलित तीनों कथाओं का संग्रह (रत्नाकर डाकू, ऋषि और रामायण के रचयिता) तो मानस में कर लिया है पर इन तीनों का एक व्यक्तित्व में समन्वय कर लेना उन्हे उचित नहीं प्रतीत हुआ है। वे रामायण के रचयिता वाल्मीकि को अन्य दो या एक से भिन्न ही मानते हुए प्रतीत होते हैं।

अगस्त्य—

ऐतिहासिक एवं राजनैतिक दृष्टि से उत्तर में आर्य सभ्यता के प्रहरी और रक्षसंस्कृति के विरोधी जिस प्रकार विश्वामित्र थे, उसी प्रकार दक्षिण में अगस्त्य। दक्षिण दिशा में आर्य-सभ्यता के प्रसार का मार्ग उन्मुक्त करने वाले यशस्वी आर्य नेता के रूप में अगस्त्य का नाम भारतीय साहित्य में अमर है। राम ने लंका से लौटी हुई सीता से कहा था कि मैंने शत्रु के हाथों से तुम्हारा उद्धार उसी प्रकार किया है जिस प्रकार अगस्त्य मुनि ने दुराधर्ष दक्षिण दिशा का किया था :—

अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक् (६.११८.१५)

इससे प्रकट है कि राम के समय में अगस्त्य का यश देश भर में फैला हुआ था। दक्षिण में वे आज भी परमपूज्य हैं। वा० रामायण में अगस्त्य का राजनैतिक और ऐतिहासिक महत्व अधिक स्पष्ट है जब कि मानस में यह केवल संकेतित है। विश्वामित्र और अगस्त्य ने राम के लिये वही कार्य किया था जो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिये किया था।[1]

१ भूमिका, भवभूति टीका० रामचन्द्र मिश्र (बनारस १९५५) पृ० १९

वा० रामायण में अगस्त्य ऋषि ने राम को शस्त्रादि भी भेंट किये हैं (३.१२) और (एक प्रक्षिप्त सर्ग के अनुसार) युद्धस्थल में भी पहुंच कर उन्हें 'आदित्य हृदय' स्तोत्र का पाठ कराया है (रा० ६.१०७)। इससे स्पष्ट है कि राक्षसों के विनाश मे उन्होंने अप्रकट रूप से राम की सहायता की थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि चौदह हजार सेना सहित खरदूषण के विनाश में राम को अगस्त्य के आश्रम से अवश्य सहायता मिली थी, जो कि सैनिक शिक्षा का एक महान केन्द्र रहा होगा, अन्यथा राम के लिये अकेले इतने राक्षसों का बध करना असम्भव था।[1] मानस में तो इस अलौकिक कृत्य की असंभवता का समाधान राम की मायाशक्ति के द्वारा कर दिया गया है जिससे वे खर-दूषण की सेना में भ्रम पैदा कर देते है और राक्षस लोग एक दूसरे को राम समझते हुए लड़ मरते हैं (मा० ३.२०), परन्तु वा० रामायण में यह कार्य अलौकिक रूप में नहीं वरन् सर्वथा स्वाभाविक रूप में होता है। अगस्त्य का आश्रम राम की कुटी के समीप ही था, उन्हीं की सलाह से राम ने पंचवटी पर कुटी बनाई थी तथा दस वर्ष तक वे आस-पास मुनियों की बस्ती में घूमते भी रहे थे, (३.११.२८)। इससे उक्त अनुमान की, अर्थात् राम को खर-दूषण और उसकी विशाल वाहिनी के बध मे अगस्त्य की सहायता प्राप्त हुई थी, पुष्टि होती है। मानस मे भी राम ने अगस्त्य से ही मुनिद्रोही राक्षसों को मारने का मंत्र पूछा है जिस पर अगस्त्य विशेष रूप से मुस्कराते हैं और राम को पंचवटी पर निवास करने की सलाह देते है (३.१३)। इससे भी संकेत मिलता है कि राम को दक्षिण-अभियान में अगस्त्य की विशेष सहायता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार वा० रामायण के ऐतिहासिक और राजनैतिक संकेत मानस मे सुरक्षित हैं। यद्यपि मानसकार ने अपने स्वभाव के अनुसार अगस्त्य को भी राम का निस्पृह भक्त ही दिखलाया हैं, फिर भी अगस्त्य का ऐतिहासिक गौरव अक्षुण्ण है।

(घ) रावण के स्वजन और सहायक

मारीच—

सीताहरण से सम्बन्धित होने के कारण मारीच कथात्मक दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण पात्र है। वह रावण का मामा और कामरूपधारी, विशेष रूप से स्वर्णमृग का रूप धारण करने और दूसरों की वाणी का अनुकरण करने तथा छलवाणी बोलने मे अत्यन्त निपुण था। अतः उसने काञ्चन मृग का रूप धारण करके राम और सीता को छला तथा राम की कृत्रिम बोली में लक्ष्मण को पुकार कर सीता को पुनः धोखा दिया।

दोनों ही काव्यों में वह राम के बाण के प्रताप का सजीव साक्ष्य उपस्थित करता है। विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के समय राम ने उसे बाण द्वारा सौ योजन दूर उठा कर फेंक दिया था (रा० १.३०.१८ तथा मा० १.२१०), अतः वह भय आजीवन उसके मन में बना रहा। रावण के साथ सम्वाद में वह राम की शक्ति और उनके

१ चिद्यानन्द विदेह, रामचरित, पृ० ३ तथा श्री पाराशर रामायण का ऐति० रूप, पृ० ६२

वाण की महिमा का प्रभावशाली चित्र इन शब्दों में उपस्थित करता है:—

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप॥
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतन:
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण॥
रत्नानि च रथाश्चैव त्रास सञ्जनयन्ति मे।
अह तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम्॥ (३.३९. १६-१८)

"मुझे सारा अरण्य राममय दिखलाई पड़ता है, राम रहित कुछ नही दिखता, स्वप्न मे भी राम को देख कर मूर्छित हो जाता हूँ और रकार मात्र से मुझे भय लगता है।" —इन शब्दों की व्यजना दर्शनीय है। यह भय से उत्पन्न होने वाली भक्ति है और वा० रामायण में मारीच के चरित्र के माध्यम से इसकी परम्परा स्पष्ट रूप में दृष्टि-गोचर होती है। यद्यपि वह अपने को भक्त घोषित नही करता पर उसका आचरण भक्त जैसा ही है, क्योंकि उसे चारों ओर धनुषधारी राम ही दिखलाई पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि भक्ति भावना के मूलतत्व किस प्रकार रामायण की कथा में निहित हैं और विकास के नियमानुसार वे सहज रूप से मानस की रामकथा में पल्लवित हो उठे है।

मानस मे मारीच राम का दीक्षित भक्त बन गया है। वह उनके वाण से मुक्त होने की कामना लेकर ही रावण के साथ आता है और उसकी यह कामना पूरी होती है।

कुम्भकरण—

शरीर की स्थूलता और विशालता का चरमनिदर्शन रामकथा के इस अनोखे पात्र में प्राप्त होता है। वह विशुद्ध अन्नमय कोष का उदाहरण है। बाल्मीकि की भी अत्युक्ति-शैली इस पात्र के वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। वह आकृति से महाभयकर शुद्ध तमोगुण है, परन्तु उसके स्वभाव में कुछ सात्विक वृत्ति भी है। दोनों ही काव्यो मे वह रावण को उसके दुराग्रह के विरुद्ध उपदेश देता है।[1] उसमें और विभीषण मे यही अन्तर है कि वह कुलधर्म या जातीयता को अधिक महत्व देकर रावण का परि-त्याग नहीं करता है। रण भूमि में वह विभीषण को देख कर गर्व और प्रसन्नता प्रकट करता है।[2] दोनों ही काव्यों में उसका कार्य एक जैसा ही है। युद्ध के मध्य वह सुग्रीव को उठा कर चलता है और सुग्रीव उसके नाक-कान काट कर भाग आते हैं। उसका वध एक वाण से नही किया जा सकता था, अतः उसकी भूधराकार काया खण्ड-खण्ड करके ही काटी जा सकी।

कुम्भकरण की आकृति और प्रकृति के निरूपण में दोनों काव्यों में पर्याप्त साम्य है जो कि उनकी अत्यधिक निकटता का सूचक है। साथ ही, इस प्रसंग के द्वारा भी बाल्मीकि की भक्ति भावना प्रकट होती है क्योंकि उन्होने कुम्भकरण में भी

१. रा० ६.१२ तथा ६३ सर्ग मा० ६ दो० ६२—दो० ६३।
२ रा० ६ ६७ १४७—१५०, तथा मा० ६ ६४

नैतिक प्रकाश प्रकट किया है जिसमें भक्ति की भी झलक है।

खर—

खर की कथात्मक स्थिति दोनों काव्यों में समान है। दण्डकवन में राम से उसकी मुठभेड़ होती है। वा० रामायण में उसके साथ डट कर काफी समय तक युद्ध होता है, जिससे रावण के इस सम्बन्धी की शक्ति का यथेष्ट बोध होता है और उसके द्वारा रावण की भी शक्ति का आभास पहले से ही प्राप्त हो जाता है। वा० रामायण में राम को रावण और खर का वध करने में प्रायः एक समान ही श्रम करना पड़ा है, जब कि मानस में राम ने 'निमिष भर' में उसके चौदह सहस्र सैनिकों सहित उसका वध कर दिया है।

वा० रामायण में वह शुद्ध तमोगुणी राक्षस है जबकि मानस में उसमें एक सात्विक चिनगारी भी दहकती हुई दिखलाई पड़ती है। वह राम के रूप को देख कर मुग्ध होता है :—

हम भरिजनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुँदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

(अरण्य० १९)

इस प्रकार तुलसीदास ने उसे भी भक्ति के शिविर में लाने का प्रयास किया है।

तुलसी ने खर का व्यक्तित्व उसके दो भाइयों दूषण और त्रिशिरा के साथ मिला दिया है।[1] यह उनकी कथा के समान चरित्र-प्रक्षेप की पद्धति है, परन्तु वाल्मीकि ने खर के व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रक्खा है। वा० रामायण में वह दूषण और त्रिशिरा से श्रेष्ठ, रावण-कुम्भकरण-मेघनाद के समकक्ष योद्धा है।

बालि—

बालि का वध जिस प्रकार किया गया है उसे लेकर दोनों ही काव्यों में राम के चरित्र पर आक्षेप किये जाते हैं। बालि के प्रति पाठक की सहानुभूति का निवारण दोनों ही कवि नहीं कर सके हैं, दोनों ही उसके प्रति अनुदार प्रतीत होते हैं और दोनों ही एक कथा परम्परा से बँधे हुए प्रतीत होते हैं। दोनों ने ही बलपूर्वक उसके हृदय में राम की भक्ति का संचार किया है (दे० रा० ४.१८.४८-५० तथा ४.१०)।

तुलसी ने बालि-पुत्र अङ्गद के प्रति राम का अतिशय वात्सल्य और समादर प्रकट करके मानो बाली की आत्मा को शान्ति प्रदान की है।

माल्यवान—

इस पात्र का भी चरित्र साम्य दोनों कवियों का दृष्टि-साम्य प्रकट करता है अर्थात उसके से दोनों कवियों ने रावण की नीति का विरोध उपस्थित किया

१ मा० ३.१८ २ १९ २०६ तथ ० १

है और राम के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है। दोनों काव्यों में विभीषण के अतिरिक्त भी कुछ पात्र रावण के विरोधी हैं, जिनमें से यह उसका बूढ़ा नाना माल्यवान भी एक था।

प्रहस्त—

तुलसी ने लङ्का में रावण-विरोधी पात्रों की संख्या में वृद्धि करने का प्रयत्न (भक्ति भावना के कारण) किया है। अतः प्रहस्त का चरित्र दोनों काव्यों में एक दूसरे के विपरीत है। वा० रामायण का प्रहस्त अपने पिता रावण की नीति का समर्थक है (६.८) जबकि मानस मे विरोधी (६.६)। भाई, पत्नी, पुत्र, पितामह, सभी प्रकार के सम्बन्धियों को रावण के विरोधीवर्ग में रख कर तुलसी ने रावणपक्ष की दुर्बलता और रावण की पराजय का पूर्वाभास अथवा पूर्ण निश्चय ही पहले से प्रकट कर दिया है। रावण के पुत्रों में भी फूट पैदा कर तुलसी ने प्रहस्त को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया है परन्तु मेघनाद के अनुज के संस्कार सर्वथा परिवर्तित करने का साहस वे नही कर सके। सन्तुलित चरित्रचित्रण की दृष्टि से यह उचित ही था। रावण की नीति से असहमत होकर भी उसने विभीषण के समान उसका साथ नहीं छोड़ा। इस दृष्टि से मानस में कुम्भकरण और प्रहस्त एक ही श्रेणी के पात्र हैं जो राजभक्ति के निमित्त रामभक्ति का दमन कर देते हैं।

निष्कर्ष—

ये उपरोक्त समस्त गौण पुरुष पात्र भी इस बात के सूचक है कि वा० रामायण और रामचरित मानस की कथा और चरित्रों में सूक्ष्म भेद सन्निहित हैं जो दोनो कवियों के व्यक्तित्व और आदर्श की भिन्नता को तथा तुलसी की मौलिकता को भी प्रकट करता है।

गौण स्त्री पात्र

गौण स्त्री पात्रों में केवल त्रिजटा और अनसूया ऐसी हैं जिनका दोनों काव्यो मे उल्लेख हुआ है। स्वयप्रभा भी दोनों काव्यों में है। इनके अतिरिक्त वा० रामायण में त्रिजटा के समकक्ष वैसी ही एक और पात्री सरमा है और मानस में कौशल्या के समकक्ष सुनयना। ये गौण पात्र भी विचारणीय है।

त्रिजटा—

त्रिजटा की भक्ति भावना का अंकुर वा० रामायण में भी सीता के प्रति उसकी सहानुभूति और श्रद्धा के रूप में देखा जा सकता है (५.२७ तथा ६.४८), परन्तु मानस में वह राम की भी भक्त है[1] और सीता के चरणों से तो उसका उतना ही सम्बन्ध है जितना राम के चरणों से हनुमान का। उसके स्वप्न का उल्लेख, जिससे रावण की भावी पराजय सूचित हुई है, दोनों ही काव्यों में है।[2] मानस में वह सीता

१ रामचरन रति निपुन विवेका (५ ११)
२ म० वही, रा० ५ २७

की विदाई के क्षण तक उनके चरणों से अलग नहीं हुई है और रावण की अजेयता से अधीर होती हुई सीता को रावण का रहस्य बतला कर आश्वासन देती है।[1] वा० रामायण में जो कार्य विभीषण-पत्नी सरमा और राक्षसी त्रिजटा मिलकर करती हैं, मानस में अकेली त्रिजटा ही करती है। कथा-संक्षेप के समान पात्र-संक्षेप अर्थात् दो व्यक्तियों के एकीकरण की यह प्रवृत्ति मानस में अनेक प्रसंगों मे दिखलाई पडती है। मानस के नारी-समाज के राम भक्तों में त्रिजटा का विशिष्ट स्थान है। उसे सीता की शबरी कहा जा सकता है।

अनसूया—

राम का सत्कार करने वाले अनेक ऋषि जिस प्रकार वनमार्ग पर दिखलाई पडते है उसी प्रकार सीता का विशेष सत्कार करने वाली यह ऋषिका है। कथा से इनका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी सीता को वस्त्राभूषण का उपहार और पातिव्रत का उपदेश देने के सामान्य प्रसंग[2] के ही द्वारा यह पात्री रामकथा के पात्रों की भीड मे विशेष ढंग से दिखलाई पड़ जाती है। वह वन में सीता की सास के अभाव की पूर्ति करती सी दिखलाई पड़ती है। तुलसी ने अनसूया के पातिव्रत-उपदेश को मानस-कथा में विशेष ढङ्ग से प्रस्तुत किया है (३.५) और वह भारत के नारी समाज के लिए आदर्श वाक्य बनकर अत्यन्त लोक प्रिय हुआ है।

स्वयंप्रभा—

दोनों काव्यों मे यह अज्ञातकुलशील रहस्यमयी पात्री कथा के एक निश्चित मोड पर[3] प्रकट होकर सीतान्वेषण के कार्य में सहायक होती है। इससे दोनों काव्यो की सूक्ष्मता समानता का बोध होता है। वा० रामायण में इसका परिचय और कथा विस्तारपूर्वक दी गई है जिससे प्रकट होता है कि किसी लोक-प्रचलित उपाख्यान को राम कथा में सम्मिलित किया जा रहा है। तुलसी ने संक्षिप्तता के कारण इस पात्री का नामोल्लेख तक नही किया है, परन्तु स्त्री समाज के राम भक्तो में एक सदस्या की वृद्धि अवश्य कर दी है।

सरमा—

विभीषण-पत्नी सरमा की ओर तुलसी की दृष्टि नहीं पहुँची है। अध्यात्म रामायण में भी वह नही है, अन्यथा वे इस रामभक्त की पत्नी को मानस-कथा मे अवश्य स्थान देते। वा० रामायण में त्रिजटा के समान सरमा भी सीता को रावण का भेद बतलाती है (६.३३,३४ सर्ग)। मानस मे उसके कार्य त्रिजटा को सौंप दिये गये है, अत: संभव है तुलसी ने जानबूझ कर ही यह पात्र-संक्षेपण किया हो।

---

१. मा० ६.९९।

२ रा० २ ११७ तथा ११८ और म० ३ ५

३ रा० ४ ५०–५३ मा० ४ २५

सुनयना—

सीता के चरित्र-विश्लेषण में यह दिखलाया जा चुका है कि तुलसी ने सीता की दिव्योत्पत्ति की कथा को अधिक महत्व नहीं दिया है, क्योंकि वे भारतीय परिवार के समक्ष एक सजीव आदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः उन्होंने सीता के माता और पिता का भी चरित्रांकन किया है।

सुनयना का व्यक्तित्व सीता की माता, राम की सास और जनक की पाटमहिषी के अनुरूप सौम्य, गंभीर और विवेक से युक्त है। धनुषयज्ञ के अवसर पर पुत्री के भाग्य से अधिक वे राम के गौरव और यश के विषय में शंकित होती हुई अपनी राम-भक्ति प्रकट करती है।[1] सीता की विदाई के अवसर पर वे भारतीय माता की करुणा का प्रतिनिधित्व करती है।[2] परन्तु उनकी विशेष रूप से स्मरणीय झाँकी चित्रकूट में दो रनिवासों के मिलाप के अवसर पर दिखलाई पड़ती है।[3] राम-जननी कौशल्या और सीता-जननी सुनयना के इस मिलाप में कवि ने दो भारतीय कुलज्येष्ठाओं की गम्भीर छवि को अंकित किया है और साथ ही दो समधिनों के मिलाप का दृश्य उपस्थित करके अपनी सौम्य पारिवारिक भावना के विस्तार की प्रवृत्ति भी प्रकट की है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानस के चित्रकूट-प्रसंग में भारतीय जीवन का शील अपने सभी पक्षों के साथ प्रकाशित हुआ है, जिससे मानस की कथा में इस घटना का महत्व विशेष रूप से बढ़ गया है।[4]

वा० रामायण के बालकाण्ड में जनक की तो चर्चा है परन्तु सुनयना की नही। इससे रामकथा के उपेक्षित प्रसंगों और पात्रों की खोज करके उनका विस्तार करने की प्रवृत्ति में तुलसी की प्रतिभा और मौलिकता लक्षित होती है। उनकी भक्ति भावना के कारण भी ऐसा हुआ है। राम की भक्ति के विस्तार में सहायक पात्रों को तो उन्होंने विशेष रूप से खोज कर अपनी कथा के चरित-समुदाय में स्थान दिया है।

निष्कर्ष—

ये गौण स्त्री पात्र इस बात के सूचक है कि रामकथा और उसके पात्रों के समाज में वाह्य दृष्टि से अधिक परिवर्तन न करते हुए भी तुलसी ने उनमें ऐसे सूक्ष्म परिवर्तन, संयोजन और संशोधन किये है जिनसे उनकी मौलिक प्रतिभा सूचित होती है और पुरातन रामकथा मे नवीन कान्ति आ गई है तथा वह भक्ति-भावना के अधिक अनुकूल बन गई है।

---

१. मा० १.२५६।
२. वही, ३३६।
३ मा० २ २८१ २८५
४ रा० शुक्ल, गो० तुलसीदास, पृ० ६२

स्फुट पात्र

अध्याय की प्रस्तावना मे दिये गये वर्गीकरण के अनुसार मुख्य और गौण पुरुष तथा स्त्री पात्रों के पश्चात् एक वर्ग स्फुट पात्रों का भी दिखलाई पड़ता है जिनका 'चरित्रचित्रण' दोनों ही कवियों ने नहीं किया है अथवा किसी एक काव्य मे सयोग से उनके शील की कोई रेखा मात्र झलक गई है। महाकाव्य के पात्रो की व्यापक परिधि पर दृष्टि डालने के विचार से इस वर्गीकरण का आश्रय लिया गया है। इन स्फुट पात्रों को भी पुनः चार प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—कथानिष्ठ, उल्लिखित, पौराणिक और प्रकृति के मानवीकरण।

कथानिष्ठ—

दोनों काव्यों में अनेक पात्र ऐसे है जो कथाक्रम के लिए तो आवश्यक प्रतीत होते हैं, परन्तु जिनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन आवश्यक नही माना गया है। रामपक्ष से सम्बन्धित ऐसे पात्र ये हैं—शतानन्द, जयन्त, अत्रि, शरभग, सुतीक्ष्ण, कबंध, नल, नील सुषेण, गरुड़ और मातलि तथा स्त्री पात्रो मे अहल्या। रावण-पक्ष से सम्बन्धित पात्रो में अक्षयकुमार, महोदर, कुंभ, निकुभ, विरूपाक्ष, नरान्तक, दूषण, त्रिशिरा, मय दानव, कालनेमि, शुक, सारण, शार्दूल आदि पुरुष पात्र और सुरसा, छाया ग्राहिणी तथा लंकिनी आदि स्त्री पात्र। इनमे से कुछ पर तुलना की दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

शतानन्द का सम्बन्ध दोनों काव्यों के केवल बालकाण्ड से है। जनक के इस पुरोहित को पारिवारिक दृष्टि से तुलसी ने स्वयंवर और विवाह के अवसर पर प्रस्तुत किया है। जयन्त का सम्बन्ध वा० रामायण के प्रक्षिप्तांश से है, परन्तु तुलसी ने इन्द्र के अनुरूप उसके पुत्र की निम्न वृत्ति और राम के बाण का प्रताप दिखलाने के लिये इस चरित्र को कथाक्रम में स्थान दिया है। अत्रि आदि ऋषियों का समावेश भक्तितत्त्व के विचार से किया गया है। वे वनवासयात्रा के विश्रामस्थल हैं। कबन्ध, विराध आदि राम की यात्रा के विघ्न और उनकी भावी वीरता तथा पौरुष के पूर्वाभास है। ये पात्र कथाक्रम में एक ही निश्चित स्थल पर दिखलाई पड़ते है।

नल और नील में तुलसी ने परिवर्तन किया है। वा० रामायण मे नल एक शिल्पी है (६.२२) और नील एक वीर योधा (६.५८), परन्तु मानस मे वे युग्म भ्राता है और शिल्पी होने के साथ (मा० ५.६०) योधा भी हैं। युद्ध में भी दोनों साथ ही रहते है (मा० ६.६८)।

सुषेण में भी तुलसी ने हनुमन्नाटक के आधार पर विशेष परिवर्तन किया है। वा० रामायण में वह सुग्रीव का श्वसुर तथा वनस्पतियों के गुणों से परिचित एक वानर-वैद्य है (६.९२ तथा १०२ सर्ग) जब कि मानस में लंका का वैद्य (मा०६.५५)। हनुमान का गौरव और राम का प्रताप प्रदर्शित करने के लिये तुलसी ने यह नवीन चयन तथा संशोधन किया है

गरुड़ का उपयोग मानस में दोहरा किया गया है अर्थात् काव्य की कथा के लिये भी और शैली के लिये भी। दोनों ही काव्यों में वे नागपाश से राम-लक्ष्मण को मुक्त करने के लिये आते है (रा० ६.५० तथा मा० ६.७४), परन्तु मानस मे वे इस घटना से मोह-ग्रस्त होकर आर्त श्रोता के रूप में कागभुशुण्डि से रामकथा भी भी सुनते हैं (७.६४)। इस प्रकार मानस के गरुड़ उस की संवाद-शैली के अंग है और उनसे मानस का पाठक राम-कथा के श्रोता-रूप में ही अधिक परिचित है।

मातलि इन्द्र का सारथी है जो राम की सेवा में रथ लेकर आता है। वा० रामायण (६.१११) और अध्यात्म रामायण (६.११) दोनों में वही राम को ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके रावण-वध करने का परामर्श देता है, जबकि मानस मे वह केवल उनका रथ-संचालन करता है। मानसकार ने उसका कार्य भक्तराज विभीषण को प्रदान किया है (६.१०२)।

रावण पक्ष के पात्रों का समाज तुलसी ने पर्याप्त रूप से संक्षिप्त और सीमित बनाया है। जहां वाल्मीकि ने अनेक राक्षसों के विचारों और वीरत्व का प्रसार किया है जैसे महोदर (६.६४), मकराक्ष (६.७९), धूम्राक्ष (६.५२), वज्रदंष्ट्र (६.५४), अकंपन (६.५६) अतिकाय (६.७१) आदि का, वहां तुलसी ने उनमें से कुछ के नाम मात्र दे दिये है जैसे महोदर, अकंपन, अतिकाय आदि (६.६२)। इनमें से कुछ का सम्बन्ध वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशों से है, परन्तु उनके द्वारा रावण के विशाल कुटुम्ब का बोध अवश्य होता है। वा० रामायण से अक्षयकुमार को और अध्यात्म रामायण से कालनेमि को तुलसी ने हनुमान की वीरता को प्रकाशित करने के निमित्त चुन लिया है। रावण के चर शुक, सारण और शार्दूल में से शुक को राम की भक्ति में दीक्षित करने के लिये ग्रहण कर लिया है (५।५४-५७)।

ये सभी पात्र कथाक्रम में एक निश्चित स्थल पर दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु इनके उपरोक्त विवेचन से यह प्रकट है कि अपने उद्देश्य के अनुसार तुलसी ने इन सामान्य पात्रों में भी उलटफेर की है और कथाशिल्प वाली व्यास-समास्त पद्धति इन पात्रों के भी विस्तार और सक्षेप में अपनाई है।

उल्लिखित पात्र—

कथानिष्ठ पात्रों से भिन्न एक वर्ग ऐसे पात्रों का भी है जिनका अन्तर्कथाओ या प्रकरी कथाओं में उल्लेख हुआ है जैसे श्रवण कुमार (रा० २.६३, मा० २.१५५), दुंदुभि राक्षस (रा० ४.११, मा० ४.७) और मतंग ऋषि (रा० ३.७ , मा० ४.६)। ये भी कथाक्रम में एक निश्चित स्थान पर ही दिखलाई पड़ते है और दोनों काव्यो की एक ही परम्परा को सूचित करते हैं। इनमें से कुछ का तुलसी ने नामोल्लेख तक नहीं किया है, जैसे मतग का ("इहाँ साप बस आवत नाहीं"—४.६ में मतंग ऋषि का ही सकेत है

पौराणिक पात्र—

दोनो काव्यों में, विशेषतः मानस में, नारद, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, कागभुशुंडी, पार्वती, सरस्वती आदि पौराणिक देव-पात्र भी है जिन्होंने वा० रामायण की कथा में तो विशेष भाग नही लिया है, परन्तु मानस मे वे न केवल कथा में भाग लेते है वरन् उनकी कुछ चारित्रिक विशेषताये भी प्रकट की गई हैं। वा० रामायण में नारद केवल बालकांड के प्रारभिक सम्वाद मे दिखलाई पड़ते है, (सर्ग १) परन्तु मानस मे राम के प्रिय भक्त के रूप में दो बार आने के अतिरिक्त (१.१२५ तथा ३.४१) अन्य अवसरों पर भी उनका उल्लेख हुआ है (१.२२९ तथा ६.६३) और भविष्य-वाणी तथा सम्वाद-सचार उनका विशेष कार्य है। ब्रह्मा का पृथ्वी पर अवरोहण राम की स्तुति के निमित्त हुआ है (मा० ६.१११), अवतार-योजना से भी उनका सम्बध है (मा० १.१८४-१८६)। शिव का मानस मे विशेष महत्व है। वे मुख्य वक्ता है (१.३० तथा १.३५), राम के परम भक्त और स्वयं उपास्य भी हैं (मा० ६.१०२), रामचरित से पहले उन्ही के चरित की योजना की गई है (मा० १.४८-१०३)। शिव को इतना महत्व शैव-वैष्णव भक्ति के समन्वय के विचार से दिया गया है। इन्द्र का उल्लेख वा० रामायण मे, अधिकांशतः उपमान रूप में, गौरव के साथ किया गया है (रा० ३.५), परन्तु मानस मे उन्हें कुचाली देवताओं के नायक के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है (२.२६५, २९६, ३०१)। इस प्रकार मानस में वे वैदिक गौरव से च्युत एक तिरस्कृत पौराणिक देवता है।

शिव और याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त, मानस-कथा के तीसरे वक्ता हैं काग-भुशुण्डि, जिनका समावेश निम्न जातियों में रामभक्ति का प्रसार करने के लिये किया गया हैं। उनके नाम से भुशुंडी-रामायण भी प्रसिद्ध है। संभवतया वे किसी आदिवासी या आर्येतर अथवा समाज बहिष्कृत जाति के ज्ञानी ऋषि हैं।

पार्वती की कुछ कथा वा० रामायण के बालकाण्ड (सर्ग ३५-३७) में है परन्तु मानस में उनका चरित्र-विस्तार एक पतिव्रता (१.९०), एक रामभक्त (१.११०) और पौराणिक देवी के रूप मे भी किया गया है जिनकी प्रतिमा भक्तों के लिये सजीव भी हो उठती है (१.२३६)। क्वारी कन्यायें उन्हीं के आशीर्वाद से योग्य वर प्राप्त करती है, जैसे मानस मे सीता ने किया है (१.२३६)।

सरस्वती को भी मानस-कथा के अलौकिक अंश में देवताओं के साथ भाग लेना पड़ा है, परन्तु मानसकार ने बुद्धि की देवी की सुबुद्धि की रक्षा की है। वे रावण-वध के लिए देवताओं को सहयोग देती हैं (मा० २.१२), परन्तु भरत जैसे धर्मात्माओं की बुद्धि पलटने के लिए नहीं (वही, २९५)।

मानस में इन पौराणिक पात्रों की भीड अधिक है क्योकि उसमें पौराणिक तत्व भी अधिक हैं। इनके समाज में राम के व्यक्तित्व पर भी पौराणिक रंग चढ़ गया है जसा कि हम राम के चरित्र विश्लेषण में दिखला चुके हैं कि उनके व्यक्तित्व

का एक पक्ष 'सुरत्व' भी है, मानस की कथा से इन पौराणिक पात्रों का निकट सम्बन्ध है। वे पृथ्वी के तमाशों के अनिमन्त्रित दर्शक हैं।[1]

प्रकृति के मानवीकरण—

आगे प्रकृति चित्रण से सम्बन्धित अध्याय में इस विषय पर कुछ अधिक विचार किया जायेगा, परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति से उद्भूत पौराणिक कथाओं और पात्रों की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। वा० रामायण मे भी उनकी चर्चा पूज्य देवता के रूप में या मानवीय स्तर पर हुई है। गंगा, समुद्र और मैनाक ऐसे ही पात्र हैं। दोनों काव्यों मे सीता द्वारा गंगा माता की मनौती की गई है, मानस में वे सीता को आशीर्वाद भी देती हैं (२.१०३)। समुद्र भी दोनों काव्यों मे प्रत्यक्ष प्रकट हुआ है (रा० ६.२२ तथा मा० ५.५८) और मैनाक जड़ पर्वत हो कर भी वार्तालाप करता है (रा० ५.१ तथा मा० ५.१)।

इन पात्रों के समावेश से प्रकट है कि दोनों काव्यों में चरित्रचित्रण की अस्वाभाविक अथवा असाहित्यिक पद्धतियाँ भी हैं। मानस तक आते-आते इन पात्रों को भक्ति परक राम-कथा में और अधिक सम्मान तथा स्थान मिल गया है।

निष्कर्ष—

स्फुट पात्रों के ये चारों वर्ग दोनों काव्यों में मिलते हैं। इनमें से अधिकांश की उपस्थिति कथा के एक निश्चित बिन्दु पर ही दिखलाई पड़ती है। वा० रामायण के आकार के अनुपात से स्फुट पात्रों का उसमे आधिक्य है। उसमें कथानिष्ठ पात्रों की संख्या अधिक है और मानस मे पौराणिक की। स्थायी भाव की पुष्टि मे जिस प्रकार संचारी भाव सहयोग देते है इसी प्रकार ये संचारी पात्र मुख्य पात्रों के व्यक्तित्व-विधान मे सहायक हुए हैं।

मूक पात्र

रामकथा के पात्रों के दो मूलभूत वर्गों—व्यक्तिगत और समष्टिगत मे से व्यक्तिगत पात्रों में एक वर्ग "मूक पात्रों" का भी दृष्टिगोचर होता है। वा० रामायण और मानस के प्रक्षिप्त प्रकरणों में कुछ ऐसे मूक पात्रों को वाणी मिली है। राम कथा के मूक पात्रों की चर्चा कुछ विद्वानों ने की है। सम्भवतया यह चर्चा लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला को लेकर आरम्भ हुई थी और उसकी प्रथम चर्चा कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की थी।[2] द्विवेदी जी के "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" लेख ने वर्तमान हिन्दी कवि श्री मैथिलिशरण को "साकेत" महाकाव्य की रचना के लिये प्रेरित किया, जिसमें उर्मिला को विशेष स्तान दिया गया।[3] मांडवी

---

१. मानस की रूसी भूमिका, अनुवाद पृ० १२४।

२ दे० साकेत ए[illegible] ले० डा० नगेन्द्र पृ० १ २

३ वही

भी उर्मिला के साथ आगे आई।[1] मेघनाद की पत्नी सुलोचना को भी मानस के प्रक्षिप्तांशों में स्थान मिला।[2] लवकुश के भी चरित्र का विस्तार किया गया।[3]

तुलना की दृष्टि से यह दर्शनीय है कि ये पात्र दोनों ही काव्यो में मूक है। वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशों में भी लवकुश तक के चरित्र का विस्तार नही किया जा सका है। राम कथा अपने मूलरूप में एक विकसनशील महाकाव्य रही है जिसकी कथा और पात्र अनन्त काल तक विस्तृत होते रहते यदि उसे लिखित रूप में नियन्त्रित न कर लिया जाता, परन्तु तब कथा की अन्विति नष्ट हो जाती। मानस में इसी दृष्टि से कथासंघटन और पात्र-संघटन किया गया है। वा० रामायण के अनेक पात्र छोड दिये गये है और निजी दृष्टिकोण के आधार पर कुछ नवीन जोड़ भी दिये गये हैं। राम कथा के मूक पात्रो पर उत्तम खण्डकाव्यो की रचना हो सकती है। रामकथा से सम्बन्धित महाकाव्य में अन्विति के विचार से उन्हें स्थान दे पाना कठिन ही है, फिर भी प्रतिभासम्पन्न महाकवि के लिये कुछ असम्भव नहीं है।

समष्टिगत चरित्रचित्रण

यद्यपि चरित्रचित्रण व्यक्ति का ही होता है अर्थात् मनोवैज्ञानिक स्थितियो का प्रकाशन और नैतिक आदर्शों का संकेत व्यक्ति के आश्रय से ही किया जा सकता है, परन्तु महाकाव्यों मे जाति, वर्ग, समाजों, सभाओं या समुदायो की भी चारित्रिक विशेषतायें सामूहिक रूप मे दिखलाई पड़नी हैं। दोनों काव्यों में इस प्रकार के समुदाय-गत चरित्र-चित्रण के उदाहरण प्राप्त होते है। मानस के आधार पर इस प्रकार के चरित्रचित्रण को भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना-पद्धति में स्थान दिया है।[4] यद्यपि इस प्रकार का अध्ययन सामाजिक और ऐतिहासिक क्षेत्र की वस्तु है, परन्तु एक सीमा तक उसका सम्बन्ध साहित्य से भी है। अतः इस दृष्टि से भी दोनों कवियो के चरित्रचित्रण की कुछ विशेषताये जान लेनी आवश्यक है।

समष्टिगत चरित्रचित्रण को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—जातिगत, समाजगत और परिवारगत। दोनों काव्यों में अनेक सभ्य, असभ्य और अर्ध सभ्य जातियों के कुलशील का परिचय दिया गया है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे नाग-रिक और ग्रामीण जनता, प्रजा, ऋषि-गण, सैनिक आदि वर्गों की सामूहिक प्रवृत्तियो का चित्रण किया गया है। पारिवारिक क्षेत्र में पिता, माता, पुत्र, भ्राता, वधू, सास, श्वसुर, समधी, गुरु, पुरोहित, दास, दासी आदि के शील का निरूपण किया गया है। हम देखेंगे कि समष्टिगत चरित्रचित्रण के क्षेत्र में भी दोनों कवियों में वही भेद दिख-लाई पड़ता है जो व्यक्तिगत चरित्रचित्रण में, अर्थात् वाल्मीकि का दृष्टिकोण राष्ट्रीय

---

१. साकेत के अतिरिक्त श्री बल्देव उपाध्याय के 'साकेत सन्त' काव्य में, जिसमें भरत को नायक बनाया गया है!

२ ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत मानस-टीका।

३ श्री ० मिश्र कृत मानस-टीका का काण्ड ८ तथा केशवदासकी रामचन्द्रिका

४ गो० तुलसीदास पृ० १४६

और राजनैतिक है तथा तुलसी का धार्मिक और भक्ति परक। वाल्मीकि का चित्रण ऐतिहासिक और यथार्थ परक है तथा तुलसी का आदर्शात्मक, पौराणिक और साम्प्रदायिक।

(अ) जातिगत चरित्रचित्रण

जाति की दृष्टि से आर्य, राक्षस, वानर और देवगण के शीलस्वभाव का चित्रण दोनों ही काव्यों मे मिलता है। वा० रामायण में ऐतिहासिक तत्व अधिक है, अतः इन जातियों की सभ्यता और संस्कृति का यथार्थपरक चित्र सामने आता है। विद्वानों का विचार है कि देवगण, आर्य, वानर और राक्षस, इन चार जातियो का इतिहास वा० रामायण में सुरक्षित है।[1] देवगण और आर्य जाति के एक दल ने राक्षसों के विरुद्ध सगठित हो कर युद्ध किया था, जिसमें चतुराई से वानर-संघ को भी मिला लिया गया था।[2] मानस में इन जातियों के चरित्र पर पौराणिकता का घना आवरण पड़ जाने के कारण उनके ऐतिहासिक यथार्थ का दर्शन कम हो पाता है। इसके अतिरिक्त जहाँ वाल्मीकि ने इन सब सभ्य, असभ्य और अर्ध-सभ्य जातियो को एक आर्य संस्कृति में इक्ष्वाकु संस्कृति के प्रतिनिधित्व से, दीक्षित करने का प्रयत्न किया है वहाँ तुलसी ने इन सबको भक्ति के व्यापक आन्दोलन से प्रभावित होते हुए दिखलाया है। वा० रामायण में हम इन जातियों को दो मूलभूत वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, आर्य और अनार्य, परन्तु मानस में इन दो वर्गों के नाम 'सन्त' और 'असन्त' हैं। इस प्रकार दोनों कवियों के राष्ट्रीय और नैतिक दृष्टिकोण का प्रभाव उनके समष्टिगत चरितचित्रण पर भी पड़ा है।

आर्य जाति—

वा० रामायण में आर्य जाति का प्रतिनिधि है इक्ष्वाकु वंश, और मानस मे सूर्यवंश या रघुवंश। सीता के सम्बन्ध से मानस में चंद्रवंशीय निमि वंश की संस्कृति भी मिथिलासमाज प्रदर्शित हुई है, जो कि वा० रामायण में नहीं है। प्रचलित वा० रामायण के बाल-काण्ड में जनक और उनके कुल का परिचय अवश्य है। आर्य जाति के ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग की ही विशेषतायें दोनों काव्यों में प्रकट की गई है। ब्राह्मणो में एक वर्ग पुरोहितों का है जैसे अयोध्या में वशिष्ठ और मिथिला में शतानन्द और दूसरा वर्ग ऋषियों का है जैसे विश्वामित्र, अगस्त्य, भारद्वाज, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण आदि। इन ऋषियों में से कुछ ब्राह्मणेतर भी हैं, जैसे विश्वामित्र। दोनों कवियो मे अन्तर यह है कि वाल्मीकि ने ऋषियों की यज्ञ-प्रधान संस्कृति का विशेष परिचय दिया है, जबकि मानस में ब्राह्मण-समाज के विषय में ही अधिक कहा गया है। क्षत्रियों की भी जैसी व्यापक संगठन की भावना वा० रामायण में दिखलाई पड़ती है वैसी मानस

---

१. दे० सी० वा० वैद्य (रिडिल, अध्याय ४), सातवलेकर (बालकांड, पृ० ३६१), तथा शा० ना० व्यास (रामायण कालीन समाज- अध्याय २)।

२ सातवलेकर, पृ० ३७०–७२

मे नही ।[1]

वाल्मीकि ने अधिकाँशतः इक्ष्वाकु वंश का परिचय दिया है, जब कि तुलसी ने रघुवंश का। इससे वाल्मीकि का ऐतिहासिक दृष्टि-विस्तार प्रकट है। तुलसी ने रघुवश की तीन मुख्य जातीय विशेषताये प्रकट की हैं—परनारी पर दृष्टिपात न करना,[2] रण में पीठ न दिखलाना[3] और प्रतिज्ञापालन।[4] ये विशेषतायें दोनों के ही अवध-समाज मे है, परन्तु तुलसी ने इन्हें विशेष बल देकर प्रकट किया है क्योंकि राम के व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए रघुवंश का शील-परिचय आवश्यक था। वाल्मीकि ने इक्ष्वाकु वश की सन्तान को संसार के नैतिक प्रहरी के रूप में प्रकट किया है।[5] शरणागत-पालन का आदर्श दोनों ने ही प्रकट किया है, परन्तु तुलसी ने ब्राह्मण और गाय की रक्षा को उसमें और जोड़ दिया है।[6] इससे प्रकट होता है कि इस प्रकार परवर्ती संस्कृति के तत्व महाकाव्य की पुरातन कथा में प्रविष्ट होते चले जाते है। पारिवारिक क्षेत्र मे पातिव्रत और राजनैतिक क्षेत्र में धर्मराज्य का जैसा आदर्श आर्यजाति के प्रतिनिधि रघुवंशियों में है वैसा राक्षसों और वानरों में नहीं। अपहरण या परस्त्री के वरण की प्रथा भी उनमें नहीं दिखलाई गई है, दशरथ के तीनों विवाह विधिवत् हुए थे।

वा० रामायण मे राम का स्वागत सर्वत्र—ऋषि समाज में, निपादराज के द्वारा, गृद्ध के द्वारा, शबरी के द्वारा,—इक्ष्वाकु वंश के महात्मा पुरुष के रूप में हुआ है, जब कि मानस में भगवान के रूप में। इससे प्रकट है कि तुलसी ने सूर्यवश या रघु-वश के जातीय चरित्र का प्रकाशन राष्ट्रीय दृष्टि से नहीं, केवल साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से किया है। यही बात हम अन्य जातियों के चरित्र-निरूपण में भी देखते हैं।

मानस में रघुवंश और निमिवंश के आदर्श यद्यपि एक जैसे ही हैं, फिर भी रघुवंश की संस्कृति धर्मप्रधान (नैतिक दृष्टि से कर्मो को करना) प्रतीत होती है और निमिवंश की ज्ञान-प्रधान। रघुवंश में यज्ञादिक की प्रधानता है, परन्तु निमिवंश मे अध्यात्म साधना और वैराग्य आदि की। यह अन्तर जनक और दशरथ, तथा सुनयना और कौशल्या के चरित्र द्वारा देखा जा सकता है। प्रण-पालन इन दोनों ही क्षत्रिय-कुलों की जातीय विशेषता है।[7] आदि काव्य मे निमि वशीय संस्कृति का उल्लेख नहीं था और प्रचलित रामायण में भी तिरहुत-समाज का जो परिचय दिया गया है उसमे वह आध्यात्मिक तत्व नहीं है जो मानस में है।

१. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहावपि ॥ (४.१८.६)।

२. मा० १.२३१।

३. वही तथा १.२८४।

४. मा० २.२८.४।

५. रा० ४.१८।

६. सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥ (१.२७३)।

७ दे० जनक का प्रण (बा० १ २५२)

राक्षस जाति—

यह एक वर्णसंकर जाति थी जिसमें मातृपक्ष की ओर से राक्षस रक्त और पितृपक्ष की ओर से ब्राह्मण रक्त था [१]। अत: एक ओर से ये नरमांसभक्षी और मदिरा सेवी थे और दूसरी ओर से श्रुतिमार्ग के अनुयायी, वेद पाठी यज्ञादि कर्म करने वाले भी। विद्वानों का विचार है कि उन्हें भारत की मूल द्रविड़ जातियां माना जा सकता है।[२] इनके और आर्य लोगों के तप तथा यज्ञों में अन्तर यह था कि ये भौतिक सुख समृद्धि के लिये यज्ञादिक करते थे और आर्य लोग आत्मिक उत्थान के लिये। युद्ध-काल में मेघनाद और रावण के यज्ञों तथा प्राप्त वरदानों से यह प्रकट होता है। यह जाति कामरूपधारी और माया-प्रवीण थी, जैसा कि रावण और शूर्पणखा के वेशपरिवर्तन तथा इन्द्रजित के मायाकृत्यों से प्रकट होता है। आर्य लोगों से इनका नैतिक स्तर अत्यन्त निम्न था। इनकी पारिवारिक व्यवस्था और राज्यव्यवस्था भोग, स्वार्थ और आतंक पर आधारित थी। आर्यों का राज्यविस्तार सर्वोदय वाद पर आधारित था, परन्तु राक्षसों की मनोवृत्ति साम्राज्य वादी थी स्त्री का समादर इनकी संस्कृति मे भी था, जैसा कि शूर्पणखा और मन्दोदरी के प्रति रावणादि के व्यवहार से प्रकट है। सीता को भी रावण ने भय दिखलाया है, पर उसके शरीर पर हाथ नहीं लगाया है[३]। रावण की अन्य स्त्रियों के बारे में भी कहा गया है कि उसने उनका विधिवत् वरण किया था[४]। एक सीमा तक ये लोग राजकीय मर्यादाओं का भी पालन करते थे जैसा कि हनुमान और अंगद के प्रसंग मे दूत की अवध्यता से प्रकट है। आर्यों के समान ही इनमें प्रेतकर्म और मृतक संस्कार होता था।

दोनों कवियो द्वारा इनके चित्रण में दो मुख्य अन्तर दिखलाई पड़ते हैं। एक तो तुलसी ने इनके चित्रण मे अत्युक्ति अधिक की है और इन्हें सर्वथा अतिमानवीय माना है, जैसा कि रावण के दश शिर और वीस भुजा के वर्णन से प्रकट है, और दूसरे इनके प्रति तुलसी ने घृणा भी अधिक प्रकट की है। वाल्मीकि में भी ये दोनों बातें है, परन्तु कम। तुलसी ने निकृष्टतम मनुष्य के अवगुण राक्षसों में ही पुंजीभूत दिखलाये हैं,[५] विभीषण को भी उन्होंने नही छोड़ा है।[६] इनमें से अनेक राक्षस तपोभ्रष्ट ऋषि-मुनि गधर्व आदि थे, ऐसे सकेत प्रचलित वा० रामायण में भी है,[७] परन्तु तुलसी ने तो उन सभी को एक शापग्रस्त जाति मान कर पूर्ण पौराणिक रूप दे दिया है।[८] इन सभी का उद्धार तुलसी ने राम की भक्ति के द्वारा किया है जब कि वाल्मीकि ने आर्यजाति के प्रतिनिधि महापुरुष के चरित्र के प्रति श्रद्धा और आदर द्वारा।

---

१. रा० ७.२-३ और ९-१० सर्ग तथा मा० १.दो० १७६।
२. सी० वी० वैद्य, रिडिल, पृ० ९४।
३. "न त्वां स्पर्दयामि मैथिलि" (रा० ५.२०.६)तथा एक बार बिलोकु मम ओरा" (मा० ५.९)।
४. रा० ५९.६९ तथा मा० १ दो० १८२।
५- परद्रोही- परदाररत, पर धन पर अपवाद। (७ ३९)।
६ मा० १ २१ ७ रा० ३ ४ (विराध प्रसग और ३ ७१ कबन्ध प्रसग)
८ मा० १ दो० १७६

वानर जाति—

वा० रामायण के अनुसार वानर जाति के भी वास्तविक मानव जाति होने के प्रमाण मिलते है, जब कि मानस में इस जाति का भी अस्तित्व अधिकांशतः काल्पनिकता और पौराणिकता से आच्छादित है। इस जाति में आर्यों के से नैतिक आदर्श और राक्षसों जैसी भौतिक समृद्धि नहीं थी, फिर भी कथाक्रम में इनके उच्च आचरण और विचारों के संकेत प्राप्त होते है।

दोनों कवियों ने उनके कामरूपधारी होने के विषय में कहा है,[1] उनके कपित्व अर्थात् चापल्य और उच्छृंखलता का चित्रण किया है,[2] उनके अपार बल, शक्ति, मल्लविद्या, उछल-कूद, मार-काट, तोड़-फोड, द्रुम-शिला-नख-दंत-लात-मुष्टिका-थप्पड आदि से युद्ध करने, लम्बी दौड़ और लम्बी छलांग भरने, भार उठाने, भार जमाने आदि शारीरिक बल सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन दोनों कवियों ने किया है जिससे उनकी प्रकृति-प्रदत्त शक्ति और एक वनेचर जाति होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। अन्तर यह है कि तुलसी ने उनके अधिकांश गुणों और शक्तियों को रामभक्ति से प्रेरित माना है। वाल्मीकि ने उन्हें अधिकांश ऐतिहासिक स्तर पर देखा है, उनके सुन्दर राजभवन, वस्त्र, संगीत-प्रेम आदि की भी चर्चा की है। उनकी विविध जातियों और विशाल संगठन का वर्णन किया है।[3] उनकी वनस्पति विषयक जानकारी का भी चमत्कार दिखलाया है।[4] तुलसी ने इस विवरण का स्पर्श न करते हुए पौराणिक शैली का आश्रय लिया है (पदुम अठारह जूथप बन्दर—५.५५)। सुग्रीव की राजकीय वाटिका 'मधुवन', तथा तारा के संभाषण से अवश्य उनकी सभ्यता का कुछ आभास होता है। हनुमान की वाग्मिता और बुद्धिमत्ता की चर्चा भी दोनों ने की है, परन्तु वाल्मीकि ने उसे उच्चतर और स्पष्टतर सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्तर पर प्रकट किया है। अंगद के विद्रोह और उसका हनुमान द्वारा नियंत्रण दिखलाते हुए वाल्मीकि ने उनके राजनैतिक जीवन की भी झलक दिखलाने का प्रयत्न किया है।[5]

वानरों की पूछ के विषय मे दोनों ही कवियों ने स्पष्टीकरण नहीं किया है कि यह उनके शरीर का अंग थी, अथवा ऊपर से धारण किया हुआ जातीय चिह्न जैसा कि कुछ विद्वानों का विचार है।[6] पूंछ हिला कर प्रसन्नता प्रकट करने से तो यह उनके शरीर का ही अंग प्रतीत होती है, परन्तु पूछ जलने पर भी शरीर न जलने

---

१. उदा० हनुमान का लंका-प्रवेश।

२. दे० अशोकवाटिका और मधुवन प्रसंग (सुन्दरकाण्ड)

३. रा० ४.३७-४५ सर्ग।

४. वा० रा० में सुषेण-प्रसंग।

५. रा० ४.५४-५५ सर्ग।

६. वानर-टोटम को मानने वाली यह जाति भी अवश्य अपने देवता के चिह्न स्वरूप अपने शरीर में पूछ लगाती होगी (रा० राघव तु० का कथाशिल्प पृ० २३३)।

७ रा० ५।०५४ तथा ५ ५७ ४२

और पूछ के बुझाये जाने से यह पृथक भी प्रतीत होती है। तुलसी ने डोरी पकड कर नचाये जाने का उल्लेख करके उनके साधारण वानर होने का भी संकेत किया है।[1] वाल्मीकि ने भी वानरों के चित्रण में परस्पर विरोधी या असंगत बातों का आश्रय लिया है।[2] तुलसी ने इस पूछ का अधिक अत्युक्ति पूर्ण चित्र उपस्थित करते हुए इसे एक और विशेष चमत्कारिक तथा दूसरी ओर अधिक अस्वाभाविक भी बना दिया है।

दोनों ही कवियों ने वानरों के स्वभाव में एक ओर उनकी चपलता और दूसरी ओर भावुकता, और उसमे भी विशेष रूप से उनकी सचाई, ईमानदारी तथा स्वामिभक्ति को विशेष महत्व दिया है। तुलसी ने भक्ति के दृष्टिकोण से इस स्वामिभक्ति को विशेष रूप से चुन लिया है,[3] और इसे दास्य या दैन्य भाव की भक्ति के समाश्रित कर दिया है। एक ओर इस जाति की कामुकता[4] और दूसरी ओर इसकी स्वामिभक्ति जैसे यथार्थ और आदर्शात्मक गुणों का सामंजस्य तुलसी ने इस प्रकार किया है कि वह पशु जाति और अर्धसभ्य मानव जाति दोनों का ही प्रतिनिधित्व करती है।

देव जाति—

मानस की रचना के समय देव जाति काल्पनिक और पौराणिक मानी जाने लगी थी, परन्तु वा० रामायण में उनकी ऐतिहासिकता के अवशिष्ट चिह्न दिखलाई पड़ते है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि देवगण वस्तुतः आर्य जाति के पूर्वज ही थे।[5] वाल्मीकि ने इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है (अहल्या-प्रसग जैसे प्रक्षिप्त प्रकरणों को छोड कर) और राम की वीरता तथा शोभा और शील को तुलना इन्द्र, अग्नि विष्णु आदि देवताओं से की है। देवगण के पृथ्वी पर विचरण के सकेत भी मिलते है (रा० ३.५)। मानस मे भी शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि को राम की स्तुति के लिये पृथ्वी पर आते हुए दिखलाया गया है (दे० ६.१११, ११३ तथा ११५)। शिव और ब्रह्मा को छोड़ कर मानसकार ने सारी देवजाति की निन्दा की है, विशेष कर इन्द्र की (२.२९५-९६)। ऐसा प्रतीत होता है कि मानस के भी ये देवगण प्राचीन कर्मकांड प्रधान वैदिक धर्म और संस्कृति के अवशिष्ट चिह्न है।[6] प्राचीन कर्मकांड-प्रधान वैदिक धर्म और भक्ति प्रधान वैष्णव धर्म मे विरोध था, जिसके सामंजस्य का प्रयत्न तुलसी ने किया है, फिर भी उन्होंने

१. मा० ६.२८.८।
२. रा० का० समाज, शा० ना० व्यास, पृ० ७०।
३. दे० ६.१३ (च) तथा २४ (अंगद स्वामिभक्त नव जातो)।
४. दे० सुग्रीव की उक्ति (मा० ४.२१.३)।
५. सा० वैद्य. रिडिल—"Idealized ancestors of Aryans"- पृ० ७८।
६ श्रीकृष्ण लाल पृ० ८५

देवताओं को पूर्णतया भक्तिभाव मे लीन न दिखला कर अधिकांशत: स्वार्थी और भोगवादी ही चित्रित किया है। राम के द्वारा इन्द्र के पुत्र जयन्त की आंख फुडवा कर उन्होंने देवताओ के आनंदभाव और उच्छृंखलता को दण्डित किया है।[१] "देवगण आनदवादी और आत्मवादी थे। भक्ति के लिए जिस दैन्यभाव की अनिवार्य आवश्यकता है, वह देवताओं में नहीं था। इसीलिये राम के परब्रह्मत्व का ज्ञान प्राप्त करके भी वे पूर्ण भक्त नही बन पाते और उनके संशय की भावना विश्वास में परिणत नही हो पाती। यही कारण है कि भक्त कवि तुलसीदास ने जी खोल कर देवताओ की भर्त्सना की है और उन्हे स्वार्थी, कुटिल, कुचाली, खल आदि कहा है"।[२] इससे प्रकट है कि देवजाति के शील-निरूपण में दोनो कवियों में विशेष मतभेद है। वाल्मीकि ने मुख्यतया देवताओं की शक्ति का आभास दिया है और तुलसी ने उनके निम्न स्तर के शील का। आदिकाव्य मे वे उत्तर वैदिक कालीन सम्मान से युक्त है, जबकि मानस में पुराणों की गाथा के आधार पर तथा कवि के भक्त विषयक दृष्टिकोण के कारण वे निन्दित हैं।

गृद्ध जाति—

यद्यपि जटायु के पंख, चोंच आदि अवयवों और गृद्धों के प्राकृतिक गुण तथा दूर तक देखने की शक्ति का वर्णन दोनों ही काव्यो मे किया गया है फिर भी जटायु किसी आदिवासी जाति का राजा ही प्रतीत होता है।[३] दशरथ से उसकी मित्रता के उल्लेख से भी यह स्पष्ट है[४]। आर्यों के समान यह जाति भी मृतक कर्म, तर्पण आदि करती थी[५]। वानरों के समान इनमें भी सचाई, स्वामिभक्ति और सर्वस्व-बलिदान की भावना थी, जैसा कि जटायु और सम्पाति के व्यवहार से प्रकट है। कोमल पारिवारिक भावनायें भी इनमें थी, जैसा कि सम्पाति के भ्रातृप्रेम से प्रकट है[६] और इससे सिद्ध होता है कि इनके जगली पाशव संस्कार समाप्त हो रहे थे। जटायु और सम्पाति की सूर्य तक उड कर जाने की कहानी से ऐसा प्रतीत होता है कि गृद्ध जाति आदिम घुमंत जातियो की प्रतिनिधि है।[७]

निषाद, शबर, कोल, किरात आदि—

इन जातियो का व्यक्तित्व मानस में भी सर्वथा स्पष्ट है अर्थात् उन्हें अर्धसभ्य जगली जातियों के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिनमें राम की भक्ति के द्वारा उच्च सस्कारो का सचार हुआ है। वा० रामायण में निषादराज का राम के प्रति सम्मान

१. वही।
२. वही, तथा उदा० के लिये दे० मा० २.१२, २१७-१८, २६५, २६४-६५, दो० ३०१, ३०२।
३. रा० राघव, तु० का कथाशिल्प, पृ० १०५।
४. रा० ३.१४ तथा मा० ३.२६ (सीते पुत्रि) तथा दो० ३१।
५. दे० किष्किंधाकाण्ड में सम्पाति द्वारा जटायु का तर्पण।
६ वही
७ व्यास रामायणकालीन समाज पृ० १७-१८

और स्नेह मात्र है और शबरी की कुछ भक्ति भी है, परन्तु मानस में निषादराज गुह से भिन्न एक साधारण केवट और नवधा भक्ति का पाठ ग्रहण करने वाली शबरी के रूपों में इन जंगली जातियों को ऊपर उठाया गया है। राम के चित्रकूट निवास ने वहां के कोल किरातों की कायापलट कर दी है।

इस प्रकार दोनों कवियों के जातिगत चित्रण द्वारा भारतवर्ष के अतीत कालीन समाजों की झांकी प्राप्त होती है। बाल्मीकि के समय में यह अतीत समीपतर था, अत: वा० रामायण में मानस की अपेक्षा इन जातियों में ऐतिहासिक यथार्थ के दर्शन हो जाते है। मानस के समय यह अतीत पुराण बन चुका था और काल्पनिकता के आवरण से घिर गया था। दोनों ही कवियों ने इन जातियों के शील को उच्चतर शील से प्रभावित होते हुए अर्थात् अपने सांस्कृतिक उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील दिखलाया है। मानसकार ने जिस प्रकार व्यक्तिगत चरित्रों को, उसी प्रकार समष्टिगत जातियो को भी, राम की भक्ति में दीक्षित किया है।

(आ) समाजगत चरित्रचित्रण

दोनो कवियों द्वारा निरूपित विविध समाजों के अन्तर्गत ऋषियों के धार्मिक समाज, अयोध्या की प्रजा, तथा पुरवासियों के शील पर विचार किया जा सकता है। मानस की कथा में मिथिला के नागरिक समाज और शृंगवेरपुर के ग्रामीण समाज की भी पर्याप्त झलक प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त दोनों कवियों के नारी सम्बन्धी विचारों की तुलना भी इसी प्रकरण में की जा सकती थी, क्योंकि तुलसी की इस दिशा में विशेष आलोचना की गई है, परन्तु विस्तार-भय और किंचित अप्रासंगिकता के भी विचार से उस विषय पर प्रबन्ध के अन्त में एक पृथक परिशिष्ट दिया जा रहा है।

ऋषि समाज—

वा० रामायण के ऋषियों की संस्कृति तप और यज्ञ प्रधान दिखलाई पडती है और आर्य जाति के राजनैतिक प्रभुत्व-विस्तार में भी उनका विशेष सहयोग दिखलाई पडता है, जबकि मानस में उनकी वैराग्य वृत्ति अधिक बढ़ी हुई है और वे राम रूप ब्रह्म की ही अध्यात्म-साधना में लीन दिखलाई पड़ते है। वाल्मीकि रामायण मे शरभग और सुतीक्ष्ण अपने तप के फल राम को प्रदान करना चाहते है, तथा शरभंग और अगस्त्य उन्हें शस्त्रास्त्र भी प्रदान करते हैं, जब कि मानस में ये सभी ऋषि राम से अविरल भक्ति का वर प्राप्त करते है। इससे स्पष्ट है कि मानस के ऋषियो की संस्कृति आध्यात्मिक और भक्तिपरक है तथा वा० रामायण की याज्ञिक, धार्मिक और राजनीति परक।

अयोध्या की प्रजा, पुरवासी और साधारण जनता—

दोनों ही कवियों ने राम के प्रति अयोध्या की प्रजा की असीम राजभक्ति का मार्मिक वर्णन किया है[1] परन्तु मानसकार ने इसे अपने स्वभावानुसार भगवद्भक्ति का

[1] रा० ४ ४१ स और ४८ वाँ स० तथा मा० २ ८४

रूप दे दिया है। मानस के रामराज्य में बालक शुक-सारिकाओं को राम-नाम का पाठ पढाते हुए दिखलाई पड़ते हैं।[1]

भीड़ के उत्साह और जनता के द्वारा राजनैतिक तथा अन्य घटनाओ की आलोचना किये जाने के चित्र भी दोनों कवियों ने अंकित किये हैं जिन से जनसमूह के मनोविज्ञान (मॉब साइकालोजी) का पता चलता हे। जन समुदाय के उत्साह के चित्रण मे दोनों कवियों की समानता दर्शनीय है, दोनों ने ही उसकी तुलना समुद्र से की है—

(अ) जनौघैस्तैर्विसर्पद्भि. शुश्रुवे तत्र निस्वनः।
पर्वसूदीर्ण वेगस्य सागरस्येव निस्वनः॥ (२.६.२७)

(आ) राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।
बढयो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥ [७.३ (ग)]

इस क्षेत्र में यह दर्शनीय है कि तुलसी ने लोक-मनोवृत्ति का चित्रण वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक यथार्थ और आकर्षक रूप में किया है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि, जैसा हम अनेक स्थलों पर दिखला चुके है, तुलसी का सम्बन्ध लोक के साथ अधिक घनिष्ठ था और मानस की रचना में भी उनका लोक-प्रचार का उद्देश्य वाल्मीकि की अपेक्षा सक्रिय था। कुछ चित्र देखिये :—

नगर व्यापि गई बात सुतीछी।
छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥ (२.४६)

जनता में सम्वाद-संचार की कैसी नैसर्गिक शक्ति होती है, उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। राम के वनगमन के समाचार से उत्पन्न भय, आतंक, विस्मय, विक्षोभ और विषाद से तरंगित जन-मानस के ये चित्र देखिये :—

का सुनाइ विधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥
एक कहहि भल भूप न कीन्हा। वरु विचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा।

× × × ×

एक धरम परिमिति पहिचाने। नृपहि दोस नहि देहिं सयाने॥
एक भरत कर समत कहही। एक उदासभायं सुनि रहहीं॥
कान मूंद कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा॥ (२.४)

अन्तिम पंक्ति में जनसमुदाय की मुद्रा कितनी सजीव है! समस्त उदाहरण मे सक्रिय जनमानस के दर्शन होते हैं। स्पष्ट है कि तुलसीदास ने समष्टि के स्वभाव-चित्रण का यह सफल प्रयोग किया है। वाल्मीकि में भी ऐसे उदाहरण है (२ ६.१५-२५) परन्तु उनमें मानस जैसी सचित्रता और सजीवता नही है।

मानस में मिथिला के नागरिक समाज और शृंगवेरपुर के ग्रामीण समाज का चित्रण भक्ति के दृष्टिकोण से किया गया है, अर्थात् राम की रूपमाधुरी और

मिथिला की नरनारियाँ झरोखों से और बालक गण गलियों में राम-लक्ष्मण को देख कर भक्ति-भावना की बाढ़ में बहते दिखलाई पड़ते है, जैसा कि आज भी किसी नगर में किसी महान नेता या प्रसिद्ध व्यक्ति के आगमन पर दिखलाई पड़ता है। शृंगवेरपुर के नारी-समाज के मुख से राम के वनवास की घटना पर जनता की टिप्पणी का यह प्रतिनिधि चित्र देखिये :—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठये वन बालक ऐसे ॥ (२.८६.२)

इस से प्रकट होता है कि तुलसी ने जनसमुदायों, जनता और प्रजा के विविध मनोविकारों यथा उत्साह, भय, शंका, हर्ष, विषाद आदि का वाल्मीकि की अपेक्षा व्यापक रूप में चित्रण किया है, परन्तु इन सभी मनोभावों की सरिताओं को भक्ति के सागर में लीन होते हुए भी दिखलाया है।

(इ) पारिवारिक तथा लघु वर्गों का चित्रण

वा० रामायण में पारिवारिक तथा लघु वर्गों के चित्र बहुत कम हैं और उतने आकर्षक भी नहीं हैं जितने कि मानस में। आदि काव्य मे राष्ट्र और राज्य को अधिक महत्व दिया गया है और मानस में परिवार को, इसीलिये मानस वा० रामायण की अपेक्षा उत्कृष्टतर कौटुम्बिक महाकाव्य है।

यद्यपि आदिकाव्य में भी माता, पिता, पुत्र, भ्राता, सखा आदि के नातों का माधुर्य और कर्तव्य झलकता है, परन्तु मानस में इन नातों की संख्या का भी विस्तार है और उनकी परिधि मे प्रवाहित होने वाली ममता का भी। उस में कन्या, वधू, सास, ससुर, कुल-पुरोहित, कुलज्येष्ठा, पड़ोसिन, बाल-सखा, दास-दासी, यहाँ तक कि पालित पशु-पक्षी की भी ममता के मधुर चित्र अंकित किये गये है।

दशरथ-परिवार का जैसा भरा-पुरा चित्र मानस में दिखलाई पड़ता है वैसा वा० रामायण में नहीं। राम के जन्म से उनका आगन भर उठता है, चारों भाइयों की क्रीडा के चित्र राजभवन की दीवारों पर अंकित हो जाते है. जनक-जननी का मन रहस उठता है, पालने पर लोरी और प्रभातियाँ गूंजती हैं, धूल भरे बालक को गोद में बैठा कर गृहपति भोजन करता है, गुरु की अनुमति से सारे कार्य किये जाते हैं, नववधुओं का परिछन होता है, उत्सुक पडोसिनें पालकी उघार-उघार कर देखती है (१.३४८), चार जोड़ियों को देख कर कुलपिता हर्ष से फूला नहीं समाता, 'भूसुर-भीर' और याचक आशिष देते हुए विदा होते है—यह है एक आदर्श हिन्दू परिवार का चरित्र और उसकी सुखद झांकी !! निम्नलिखित चित्र में केवल दशरथ की नहीं, वरन् भारतीय गृहपति और गृहस्थ की ही रमणीय झाँकी देखिये :—

जहं रनिवास तहां पगु धारे। सहित वधूटिन्ह कुंवर निहारे।
लिए गोद कर मोद समेता। को कहि सकइ भयउ सुख जेता ॥
वधू सप्रेम गोद बैठारी। बार बार हियं हरषि दुलारी ॥
कहेउ भूप जिमि भयउ विवाहू सुनि सुनि हरष होत सब काहू

× × × ×

अचइ पान सब काहूँ पाए। स्रग सुगंध भूषित छबि छाये॥

× × × ×

वधू लरकिनी परघर आई। राखेहु नयन पलक की नाई॥

लरिका श्रमित उनींद बस सयन करावहु जाइ।

अस कहि गे विश्राम गृहं राम चरन चितु लाइ॥ (१.३५५)

सुन्दर वधुन्ह सासु लै सोई। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई॥ (१ ३५८)

इसी प्रकार के पारिवारिक दृश्य मिथिला में और निषाद-नगरी श्रृंगवेरपुर मे भी हैं। राम को देख कर मिथिला की नारियों का "जोग जानकिहि यह बरु अहई" कहना और राज-जामाता या नगर-जामाता की पहुनाई की अभिलाषा करना भी भारतीय पारिवारिक जीवन का एक प्रतिनिधि चित्र है। सीता की बिदाई का दृश्य भी ऐसा ही है (१.३३८)। श्रृंगवेरपुर का निषाद परिवार सहित राम का चरणामृत लेता है (२.१०१)। एक बूढे की सम्मति से भरत से लोहा लेने की योजना समाप्त हो जाती है (२.१९२)। वन में वृद्ध दम्पति अत्रि-अनसूया की वानप्रस्थ कुटी बाल-कोलाहल से रहित एक प्रशान्त परिवार का चित्र उपस्थित करती है।

चित्रकूट के समाज में जब अवध और मिथिला के रनिवास का मिलाप होता है तब भारतीय शिष्टाचार का और दो समधिनें जब अपने पुत्र और जामाता के सुख-दुख पर निस्स्वार्थ दृष्टि से विचार करती हैं तब भारतीय कुलमर्यादा का चित्र सामने आता है। वनवास के समय राम अपने दास-दासियों तक को गुरु को सौंप कर जाते है (२.८०)। सुमन्त्र के लौटते समय रथ के घोड़े भी हिनहिना उठते है (२ दो० ९९)। जानकी की विदाई के समय पालित शुक-सारिका भी अधीर हो उठते हैं (१ ३३८)। इस प्रकार की अनेक छोटी-बड़ी पारिवारिक झाकियाँ मानस की कथा के बीच गूथ दी गई है। ये चित्र भारतीय आदर्श परिवार के शील के द्योतक है, इनमे व्यक्ति का नही परन्तु एक समुदाय का चरित्र दिखलाई पड़ता है। वा० रामायण मे ऐसे चित्रों का अभाव है।

मानसकार ने प्रायः इन पारिवारिक चित्रों में राम के शील का प्रसार भी दिखलाया है, अर्थात् या तो राम के सान्निध्य से उनमे सौम्यता आ गई है अथवा उनकी सुशीलता का अर्थ हो गया है राम-भक्ति। कन्या जानकी की विदाई या वधू सीता के स्वागत का चित्र तो किसी भी उच्च, मध्य या निम्न भारतीय परिवार का प्रतिनिधि चित्र कहा जा सकता है।

वा० रामायण में राम के वन-प्रस्थान से पूर्व वशिष्ठ और सुमंत्र कैकेयी की भर्त्सना करते हैं, सीता को वल्कल पहनते देख सारा कुटुम्ब हाहाकार कर उठता है। इस चित्र में कुछ पारिवारिक झलक है, परन्तु रावण की राजसभाओं और अन्तःपुर तथा रणांगण के जैसे भव्य चित्र उसमें है वैसे पारिवारिक चित्र नहीं हैं। दूसरी ओर मानस में भी परिवार से विशालतर परिधियों के चित्र वा० के समान विशद

और भव्य नहीं हैं। इसमे भी दोनो काव्यो के लक्ष्य की कुछ भिन्नता प्रकट होती है। बाल्मीकि का लक्ष्य सर्वथा सामान्य जनता नहीं है वरन् उनका लक्ष्य है अपेक्षाकृत शिक्षित जनता, जब कि तुलसी ने अधिकांशतः सामान्य जनता को दृष्टि मे रक्खा है। यद्यपि उनका प्रभाव शिक्षित जनता पर भी कम नही है।

तुलसी ने पारिवारिक परिधि के आस पास के क्षेत्रों का भी चित्रण भक्तिपरक दृष्टि से ही किया है, जैसे कुटुम्ब, पड़ौसी, सखा, पथिक आदि का। राम के वन-प्रस्थान के समय रघुकुल के कुटुम्ब और पास-पड़ोस की कुल वृद्धायें भी आकर जुड़ जाती है और कैकेयी को सीख देती हैं तथा उसके न मानने पर बड़बड़ाती हुई चली जाती है (२.४६--५१)। राम के यौवराज्य पर उनके बाल-सखा बधाई देने आते हैं (२.२४)। मार्ग में पथिक राम के साथ लगे चलते है और अपरिचित भी पथिक उन्हे परिचित से लगते हैं। सीता से ग्राम-वधुये सख्यत्व स्थापित कर लेती हैं। (२-११६-११७)

पारिवारिक शील-निरूपण की ओर मानसकार की विशेष दृष्टि थी तथा वह रामकथा के द्वारा भारतीय परिवार का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठाना चाहता था, इस बात का प्रमाण जानकी-मगल तथा पार्वती-मगल काव्यों की रचना से भी मिलता है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने "नारि-सिखावनु" को भी विशेष महत्व दिया है अर्थात् पुरुष के अहकार का दमन स्त्री की विनम्र शिक्षा ही कर सकती है, जैसा कि बालि-प्रसग में तारा-शिक्षा और रावण-प्रसग में पाँच बार मन्दोदरी-शिक्षा की आवृत्ति से प्रकट है। एक ओर उन्होंने "तरुणी" के सान्निध्य को पुरुष के पतन का संकेत समझा है तो दूसरी ओर 'प्रौढ़ा' की शिक्षा को पुरुष के नैतिक आत्मिक उत्कर्ष का साधन भी माना है।

रामकथा में परिवारों के उत्कर्षापकर्ष के रहस्य निहित थे, जिनका तुलसी ने विकास किया है। अयोध्या का विनाश माता की कुमति से, लंका का ज्येष्ठ पुत्र और पिता की कुमति से, तथा किष्किधा का ज्येष्ठ भ्राता की कुमति से होता हुआ दिखलाई पडता है। इसी प्रकार पुनः अयोध्या का उत्कर्ष पुत्र की सुमति से, लंका का अनुज की सुमति से और किष्किंधा का माता (तारा) की सुमति से होता हुआ दिखलाई पड़ता है। परिवार का संघटन और विघटन सुमति और कुमति से होता है, इस बात का प्रत्यक्षीकरण मानस में अधिक विशदता के साथ कराया गया है।

इस प्रकार मानस में छोटे-बड़े विविध समुदायो की सौम्य मनोवृत्तियों का चित्रण किया गया है, और ये सब मनोवृत्तियाँ मिल कर उसके अन्तर्गत भक्ति के व्यापक वातावरण के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करती है।

निष्कर्ष—

समष्टिगत चरित्रचित्रण के अन्तर्गत भी हमने वाल्मीकि और तुलसी की प्रवृत्तियों में प्राय वही भेद पाया जो व्यक्तिगत चरित्रचित्रण मे तुलसी ने जाति समाज और परिवार सभी छोटे बड़े समुदायों को नीति मर्यादा और भक्ति के द्वारा

नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया है और इन सभी का व्यक्तित्व राम के आधीन बनाया है। उनकी दृष्टि में आर्यजाति का अर्थ है 'राम की भक्ति में दीक्षित' जाति, इसीलिए उन्होंने जातिगत वर्गों को 'सन्त' और 'असन्त' नाम के दो विभागों में बांट दिया है। मानस में अयोध्या, मिथिला और शृंगवेरपुर का समाज सन्तों का है, लंका का समाज अधिकांशतः असन्तों का और किष्किंधा का समाज संत-असंत का मध्यवर्ती है। वा० रामायण में तीन वर्ग है—(१) आर्य संस्कृति में दीक्षित इक्ष्वाकु वंश और उनके ही पूर्वज देवगण, (२) अनार्य संस्कृति के प्रतिनिधि राक्षस गण, और (३) आर्य संस्कृति के प्रति श्रद्धालु तथा सचेष्ट वानर-गृद्ध-कोल किरात आदि। वाल्मीकि ने इन जातियो का निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से किया है, यद्यपि उसमें (विशेषतः प्रचलित वाल्मीकि रामायण में) पौराणिक कल्पना भी पर्य्याप्त रूप से आ गई है और तुलसी ने इनका निरूपण पौराणिक तथा भक्ति सम्प्रदाय की दृष्टि से किया है, यद्यपि उनमे यत्रतत्र ऐतिहासिक संकेत भी मिल जाते हैं। यह अन्तर देवगण के चित्रण में विशेष रूप से देखा जा सकता है, जिनका वा० रामायण मे सम्मान है परन्तु मानस में भक्ति और दैन्य के अभाव तथा भोगलिप्सा और अहंकार के आधिक्य के कारण तिरस्कार।

जातियों के अनंतर समाजों का चित्रण भी वाल्मीकि ने राजनैतिक दृष्टि से किया है और तुलसी ने आध्यात्मिक दृष्टि से। यह अन्तर ऋषि-समाज के चित्रण मे देखा जा सकता है जो वा० रामायण में आर्यो के अभियान में सहायक है, परन्तु मानस मे ब्रह्म की उपासना में लीन।

पारिवारिक तथा लघु समुदायों के शील-निरूपण की ओर तुलसी ने विशेष ध्यान दिया है। इससे दोनों महाकाव्यों की आकृति और प्रकृति, दोनो का ही, भेद स्पप्ट हो जाता है। वा० रामायण के विशाल आकार में वृहत् समुदायों को विशेष स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से राष्ट्रीय महाकाव्य है। मानस के लघु आकार में लघु समुदायों के शील-निरूपण को विशेष स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से कौटुम्बिक महाकाव्य है। राप्ट्रीय क्रान्ति के लिये पहले परिवार और व्यक्ति के चरित्र मे ही क्रान्ति करनी आवश्यक होती है, इसीलिये तुलसी ने दूसरे छोर या छोटी इकाई से अपना सांस्कृतिक अभियान आरम्भ किया है।

सारांश

प्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय में दोनों काव्यों के प्रायः सभी पात्रों पर दृष्टिपात किया गया है जिससे हम रामकथा के पात्र-समाज की अनन्तता और विशालता का आभास प्राप्त कर सकें और रामकथा से उनका सम्बन्ध समझ सकें। इसके द्वारा हम दोनों कवियों की पात्र-कल्पना को भी, उनके कथाशिल्प के समान, स्पष्ट रूप में समझ सके है। इतने विशाल पात्र-समाज का परिचय केवल वर्गीकरण द्वारा ही सम्भव था। प्रमुख पुरुष और स्त्री पात्रो के सविस्तार चरित्र विश्लेषण द्वारा हमने दोनों कवियो के

साथ ही, प्राचीन और नूतन कसौटियों पर भी, यथा नायक, उपनायक, प्रतिनायक, पताकानायक, खलनायक, धीरोदात्त, धीरोद्धत आदि शास्त्रीय, तथा टाइप, वर्गबद्ध, प्रवृत्तिप्रमुख, व्यक्तित्व प्रधान आदि नवीन मनोवैज्ञानिक, और यथार्थवाद तथा आदर्शवाद आदि के भी मानदण्डों से उन्हें समझने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार दोनों कवियों के पात्र-निरूपण और चरित्रचित्रण के विषय में हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं —

१. कथावस्तु एक ही होने के कारण दोनों काव्यों में पात्रों की संख्या में, तथा उनके कार्यों, मनोवृत्तियों और आचरण में भी, पर्याप्त समानता है। फिर भी, चरित्रचित्रण के क्षेत्र में तुलसी की मौलिकता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। मानस के पात्रों पर तुलसी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उनका चरित्र-विधान उनके रचयिता कवि के उद्देश्य के अनुसार हुआ है, जिस कारण उनमें वा० रामायण के पात्रों की अपेक्षा नवीनता लक्षित होती है। कथाविधान के समान पात्रविधान के विषय में भी तुलसी ने अपना दृष्टिकोण मानस की प्रस्तावना में बतला दिया है।

२. कथाशिल्प के समान तुलसी ने चरित्रशिल्प में भी संक्षेप, विस्तार, वृद्धि, विपर्यय, भाव-परिवर्तन आदि प्रक्रियाओं का प्रयोग किया है। कुछ पात्रों के चरित्र उन्होंने संक्षिप्त कर दिये हैं जैसे रावणबन्धु खर तथा तारा और सुग्रीव के चरित्र। कुछ पात्रों को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया है, जिनमें से अधिकांश वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशों से सम्बन्धित हैं जैसे अनेक ऋषि, वानर और राक्षस तथा अयोमुखी नाम की राक्षसी। कुछ पात्रों का केवल नामोल्लेख किया है जैसे महोदर, अकंपन अतिकाय आदि। कुछ पात्रों के नाम तक न देकर केवल कार्य का ही उल्लेख कर दिया है जैसे स्वयंप्रभा का, और कहीं-कहीं दो पृथक पात्रों को मिला कर एक अथवा युग्म बना दिया है जैसे नल और नील तथा सरमा और त्रिजटा।

इसी प्रकार कुछ पात्रों के चरित्र का विस्तार अर्थात् उनके कार्यों में वृद्धि और आदर्शों या भावनाओं का उत्कर्ष किया है जैसे भरत, अंगद और हनुमान का। नवीन कथांशों के आधार पर कुछ नवीन पात्रों का भी समावेश हुआ है जैसे सुनयना और गुह के सेवक निषाद का। जनक का चरित्र भी नवीन ही है क्योंकि वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशों में भी उसका यथेष्ट विकास नहीं हुआ था। इसी प्रकार अहल्या, वशिष्ठ, परशुराम, विश्वामित्र, जयन्त आदि भी नवीन प्रतीत होते हैं। कुछ पात्रों की स्थिति में परिवर्तन कर दिया गया है जैसे वा० रामायण के वानर सुषेण को लंका का राक्षस वैद्य बताया है। इन्द्र-सारथी मातलि का कार्य विभीषण से कराया है। वा० रामायण में उसके आकार-विस्तार के अनुसार कथानिष्ठ पात्रों की संख्या अधिक है, तो मानस में पौराणिक शैली के कारण पौराणिक पात्रों की जैसे शिव, पार्वती, याज्ञवल्क्य, काग-भुशुंडि, नारद आदि। समष्टिगत चरित्र-चित्रण में तुलसी ने कौटुम्बिक और लघुसमुदायों का विकास किया है

३ में कथित 'राम कवन' उद्देश्य के अनुसार तुलसी ने कथा के

समान ही, पात्रों की सृष्टि भी 'राम' तत्व को समझाने के लिये की है। इसीलिये मानस के सभी पात्रों का व्यक्तित्व राम के आधीन है। महाकाव्य में नायक का व्यक्तित्व प्रभुत्वपूर्ण अवश्य होता है फिर भी अन्य पात्रों का व्यक्तित्व-वैशिष्ट्य एक सीमा तक बना रहता है, जो कि मानस में नहीं है। परब्रह्म राम के प्रति मानस के सभी 'जीव' रूप पात्रों ने अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर दिया है, यहाँ तक कि उनकी शक्ति स्वरूपा होने के कारण सीता का भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है।

४. तुलसी की भक्तिभावना का प्रभाव उनकी चरित्र-सृष्टि पर निम्नलिखित रूप में दिखलाई पड़ता है :---

(क) सभी पात्रों का व्यक्तित्व राम के आधीन है, अर्थात् उन्होंने राम के लिये शरीर धारण किया है और उनके गुणों में राम का प्रताप तथा अवगुणों में राम की विमुखता प्रकट होती है।

(ख) भक्ति की दृष्टि से ही पात्रों की संख्या में वृद्धि तथा उनके चरित्र का उत्कर्ष या अपकर्ष किया गया है जैसे व्यक्तिगत पात्रों में निषाद की वृद्धि और हनुमान, भरत तथा अंगद का उत्कर्ष एवं सुग्रीव का अपकर्ष। राम और सीता के प्रति भक्ति-भाव के विस्तार के लिये उनसे सम्बन्धित सुनयना-जनक की कल्पना तथा चरित्र-विस्तार किया गया है। ऋषि-समाज राम का भक्त होने के कारण वन्दनीय है, मिथिला और शृंगवेरपुर के समाज के प्रति भी हमें इसीलिये श्रद्धा है। वानर समाज की महिमा हमारी दृष्टि में उनकी राम-भक्ति के कारण ही बढ़ी हुई है। देवताओं का हमारी दृष्टि में, मानस के आधार पर, सम्मान कम हो गया है क्योंकि उनमें दैन्य का अभाव और भोग तथा ऐश्वर्य्य की प्रवृत्ति है। शिव का विशेष सम्मान इसलिये है कि वे राम के परम भक्त हैं। राक्षस इसीलिये निन्दनीय है कि वे राम के विरोधी है। उनमें से भी, जो राम के विरोधी नहीं हैं उनके प्रति सद्भावना उत्पन्न की गई है और जो विरोधी है उनके प्रति घृणा।

(ग) काम और भक्ति का बैर है। इसलिये विभीषण और सुग्रीव को, जिन्होंने अपनी अग्रजाओं को पत्नी बना लिया, भक्त होकर भी अधिक सम्मान नहीं मिला है। उनसे बढ़ कर सम्मान निषादराज गुह के चाकर केवट और भीलनी शबरी का है। भक्तराज नारद को भी काम-वासना का दण्ड मिला है। हनुमान का राम-प्रेम सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि वे काम से दूर हैं। इसलिए उनका सम्मान लक्ष्मण और भरत से भी बढकर है। वे दास्य-भक्ति के आदर्श पात्र हैं।

(घ) सभी पात्रों को उचित और अनुचित रीति से भक्ति में दीक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। रावण-पक्ष में राम-भक्तों की संख्या में वृद्धि की गई है—पुत्र प्रहस्त, पत्नी मंदोदरी और दूत शुक की। रावण-वध पर मंदोदरी-विलाप के अन्तर्गत उसके चरित्र का पातिव्रत की दृष्टि से अपकर्ष हुआ है जिसे राम की भक्ति भी वस्तुतः ऊपर नहीं उठा सकी है ऋषियों को ब्रह्म राम का भक्त बनाया गया है सारी सभ्य और असभ्य जातियाँ तथा वर्ग भक्ति में दीक्षित किए गये हैं इस प्रकार काव्य में

साम्प्रदायिकता का प्रवेश और कला का ह्रास हुआ है। इसलिये रावण का चरित्र प्रति-नायकत्व के गौरव से शून्य दिखलाई पड़ता है और अन्य पात्रों का व्यक्तित्व उभर नही पाया है। सभी पात्र भक्ति-सागर की तरंगे बन गये हैं।

(ङ) कथा-प्रवाह मे तृण के समान बह कर आने वाले लघु या तुच्छ पात्रो को भी भक्ति का छींटा दे कर महत्व प्रदान किया गया है। स्वयंप्रभा का मानस मे, सक्षिप्तता के कारण, नाम नहीं दिया है फिर भी भक्ति के कारण उसका कार्य स्मरणीय बना दिया गया है।

(च) भक्ति में ऊंचे होने के कारण कुछ पात्र स्वयं भी राम के समान जनता की भक्ति के आलंबन बना दिये गये हैं जैसे हनुमान, भरत. सुमित्रा, शबरी, निषाद और देवाधिदेव शिव। राम-भक्ति का विस्तार और शैव-वैष्णव सप्रदायों का साम-जस्य करने के लिए मानस में शिव को विशेष महत्व दिया गया है। इसका सम्बन्ध न तो कथा से है और न कवि-कला से, केवल भक्ति-भावना और कवि के उद्देश्य से है।

(छ) भक्त पात्रों की प्रशसा और अभक्तों की निन्दा स्वयं कवि ने अपने मुख से की है। चरित्र-चित्रण की यह पद्धति भी सांप्रदायिक है।

(ज) भक्ति-भावना और पौराणिक शैली के कारण पौराणिक पात्रो की अधिकता है और चरित्र चित्रण में भी पौराणिकता का तत्व अधिक है।

५. भक्ति का तत्व वा० रामायण के चरित्रचित्रण में भी दिखलाई पड़ता है। उसमें भी सुमित्रा, विभीषण, शबरी, हनुमान, जटायु, भरत, आदि पात्रों में भक्ति भावना स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। वा० रामायण के राम भी धर्मविग्रह और शरणागत-वत्सल है। विभीषण-शरणागति में भक्ति भाव स्पष्ट है। इससे प्रकट है कि दोनो ही काव्य धर्मग्रन्थ और भक्तिग्रन्थ की कोटि मे आते है। वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशों में अवतारवाद, भक्तितत्व और अलौकिक तत्त्व और भी अधिक आ गया है, जिससे परवर्ती भक्तिपरक राम-साहित्य के लिए ठोस भूमिका तैयार हो गई है। उसके भी ऋषि-समाज, वानर और राक्षसों में भक्ति भावना दिखलाई पड़ती है।

६. दोनों ही कवि चरित्रचित्रण में आदर्शवादी हैं अर्थात् उनका दृष्टिकोण नैतिक और उपदेशात्मक है, दोनों का काव्यानायक के प्रति पक्षपात है, दोनों ने काव्य नायक और उससे सम्बन्धित पात्रों के गुणों में अत्युक्ति की है, परन्तु अन्तर यह है कि तुलसी ने काव्यनायक के प्रति अधिक आग्रह पूर्वक भक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, प्रतिनायक की निन्दा की है औरघृणा का प्रचार किया है। वाल्मीकि की शैली समवेदनात्मक और सांकेतिक है और तुलसी की उपदेशात्मक। अलौकिकता का तत्व आदिकाव्य में भी है परन्तु मानस में अधिकांश वातावरण अलौकिक ही है। राम का समस्त क्रियाकलाप लीला तत्व के अंतर्गत है। मानस का समस्त पात्र विधान अवतार वाद की पृष्ठभूमि पर हुआ है। पौराणिक तत्व आदिकाव्य में भी दृष्टिगोचर होते है, परन्तु मानस में उनका विशेष आधिक्य है

७ तुलसी ने भी तत्वों का सवथा परित्याग नहीं किया है उनके

राम मानव-आचरण भी करते हैं। मंथरा और कैकेयी का मनोवैज्ञानिक और मनोद्वन्द्वात्मक चित्रण करने में उन्होंने विशेष कुशलता प्रदर्शित की है। लक्ष्मण के चरित्र मे यथार्थता है। मेघनाद का भक्ति में दीक्षित न किया जाना भी यथार्थवादी तत्त्व है। वाल्मीकि में यथार्थवादी तत्व ऐतिहासिकता और स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक चित्रण के रूप में अधिक है। जहां वाल्मीकि ने शूर्पणखा-विरूपण और बालि-वध जैसे कृत्यो को यथार्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है वहां तुलसी ने ब्रह्म राम के द्वारा लोकहित की दृष्टि से किये जाते हुए दिखलाया है। वाल्मीकि की कथा और चरित्र-विधान में ऐतिहासिक तथा राजनैतिक दृष्टि प्रधान है और तुलसी में आध्यात्मिक।

दोनों ही काव्यों में उत्तम पात्र भी सर्वथा दोष रहित नहीं है, जैसा कि राम और सीता के चरित्र में भी हम देख चुके है, और अधम पात्र सर्वथा गुण रहित नहीं है जैसा कि रावण-चरित्र में दिखलाया गया है। मानस मे भी रावण की सहिष्णुता और पत्नी के प्रति दाक्षिण्य हमें प्रभावित करता है। अन्तर यह है कि तुलसी राम के मानव-आचरण अर्थात् उनकी सहज दुर्बलताओं और विपदाओ को लीला मात्र बतला कर अपने काव्य में अलौकिकता और भक्ति का वातावरण उत्पन्न कर देते है, जब कि वाल्मीकि उन्हें पुरुषोत्तम की ही मानवीय दुर्बलताये बतलाते हैं। इसी प्रकार वे निम्न पात्रों में प्रगट होने वाली उच्च भावनाओं को भी सृष्टि की सहज समन्वयात्मकता के रूप में प्रगट करते है। दोनों कवियों के पात्रों मेंसत्, रज, तम, तीनों ही गुणों की वृत्तियां है, केवल उनके अनुपात में अन्तर है।

८. दोनों ही काव्यों के पात्रों में जटिलता है, अर्थात उनके विषय में एकपक्षीय मत निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस जटिलता के तीन कारण है—(१) राम कथा से सम्बंधित साहित्य में लोकतत्त्व और शास्त्र तत्त्व का सामंजस्य होना (२) यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य, तथा (३) नवीन विचारों के निकष पर पुरातन पात्रों की परीक्षा की जाना। रामकथा और उसके पात्रों के संघटन में भावुकता की प्रधानता है, उनकी परीक्षा विशुद्ध बुद्धिवाद के आधार पर नहीं की जा सकती।

९. दोनों ही काव्यों के पात्रों की परीक्षा किसी एक कसौटी पर नहीं की जा सकती। केवल भावात्मकता की कसौटी पर रखकर उन्हें कोरी काल्पनिक सृष्टियां नहीं कहा जा सकता, उनकी पृष्ठभूमि में इतिहास है और मानवीय जीवन की वास्तविकता तथा यथार्थता भी है। इसी प्रकार लौकिकता को कसौटी पर रखने पर उन्हें सर्वसामान्य नियमो और आचरण के आधार पर नहीं समझा जा सकता। इस तथ्य की पुष्टि में एक विद्वान का यह कथन उद्धृत किया गया है "महापुरुषों के चरित्र परीक्षण में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वे 'महापुरुष' थे। साधारण पुरुषों में जो नियम लागू होते है वे उनमे नहीं हो सकते" (कल्याण, रामायणांक जुलाई १९३०, पृ० १४१, पर डा० गंगानाथ झा की सम्मति)। शास्त्रीय कसौटी पर उन्हे धीरोदात्त, धीरोद्धत, या फिर उत्तम, मध्यम अधम या दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य या फिर आधुनिक शास्त्रीय कसौटी पर 'टाइप' वर्ग प्रवृत्ति प्रमुख आदि शीर्षको द्वारा नहीं समझा क्योंकि वे महाकवियों की निबन्ध सृष्टियां हैं उनकी रचना में इन सभी विचारो का विविध समाजो और

युगों की संस्कृतियों का, तथा नूतन और पुरातन का सम्मिश्रण है।

१० नाटक की कथावस्तु सीमित और संतुलित होती है, इसलिये उसके पात्रों का वर्गीकरण स्थिर रूप में किया जा सकता है, परन्तु महाकाव्य के लिये यह कठिन है। इन दोनों महाकाव्यों में नायक, नायिका और प्रतिनायक तो एक-एक हैं परन्तु शेष मुख्य पात्रों में से भी कुछ का विशिष्ट पद नामकरण की अपेक्षा रखता है। कैकेयी, मंथरा, तथा शूर्पणखा को 'खलनायिका' नहीं कहा जा सकता। इन सब के कार्यों के सम्मिश्रण से एक 'खलनायक' का स्वरूप अवश्य सामने सामने लाया जा सकता है। मारीच को भी एक सीमा तक इनमें सम्मिलित किया जा सकता है। सुग्रीव को 'पताकानायक' और विभीषण को 'प्रकरी नायक' कहा जा सकता है, परन्तु मेघनाद, लक्ष्मण और हनुमान की भी विशिष्टता समझने के लिये किसी पद-नाम की आवश्यकता अनुभव की जाती है। मेघनाद को उपप्रतिनायक, लक्ष्मण को उपनायक और हनुमान को उप-पताकानायक कहा जा सकता है। फिर भी दशरथ, भरत, अंगद और कुंभकरण शेष रह जाते हैं। स्त्री पात्रों में केवल सीता को 'नायिका' कहा जा सकता है, यद्यपि नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में 'नायिका' के निर्दिष्ट अर्थ के अनुसार वे कुछ भिन्नता रखती हैं। परन्तु, मन्दोदरी को 'प्रतिनायिका' और कौशल्या आदि को 'उपनायिका' नहीं कह सकते। इस प्रकार महाकाव्यों में एक ही पद के अंतर्गत अनेक पात्र लक्षित होते हैं। उदा० लिये 'उपनायक' पद के अंतर्गत लक्ष्मण के साथ भरत को और 'प्रतिनायक' के अंतर्गत रावण के साथ मेघनाद को अथवा 'उपप्रतिनायक' के अन्तर्गत मेघनाद के साथ कुंभकरण को भी लिया जा सकता है। फिर भी ये सीमायें महाकाव्य के लिये संकीर्ण और अनुपयुक्त है। इन नाट्यशास्त्रीय आधारों पर महाकाव्य के पात्रों का वर्गीकरण भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि उसकी कथावस्तु अनेक स्वतंत्रकथाओं के योग से संघटित होती है और वह नाटक के समान सुसंघटित हो भी नहीं सकती। महाकाव्य के पात्रों का वर्गीकरण तो नवीन ही शास्त्रीय प्रयास की अपेक्षा रखता है।

४

प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन

महाकाव्य के महान आकार और विशाल पृष्ठभूमि में एक ओर सृष्टि की महिमा का बोध नायक के उदात्त चरित्र के रूप में होता है, तो दूसरी ओर उसकी व्यापकता का चित्र प्रकृति के नाना दृश्यों और पदार्थों तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सम्पदाओं और उत्सवादिक के रूप मे दिखलाई पड़ता है। नायक का जीवन जिस प्रकार विविध पात्रों और परिस्थितियों के बीच अपना मार्ग निर्धारित करता हुआ अग्रसर होता है, उसी प्रकार वह प्रकृति के विभिन्न दृश्यों, स्थलों और ऋतुओं तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न उत्सवों और पर्वों एवं भौतिक सम्पदाओं के बीच से गुजरता है। अतः उसके जीवन के समग्र चित्रण के लिये इन प्राकृतिक दृश्यों एव स्थलों तथा भौतिक पदार्थों का वर्णन भी अत्यावश्यक होता है। इसी को साहित्य-शास्त्रीय भाषा में महाकाव्य के अन्तर्गत 'प्रकृतिचित्रण' और 'वस्तुवर्णन' कहते है। लक्षण ग्रंथों में प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन को महाकाव्य के एक ही तत्त्व के अंतर्गत गिना गया है,[1] परन्तु विषयतत्त्व की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। प्रकृतिचित्रण में कवि की सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना उसी स्तर पर प्रकाशित होती है जिस स्तर पर उदात्त मानव-प्रकृति के चित्रण में। इसीलिये प्रकृतिचित्रण को आज का समालोचक दो भागो मे विभाजित करता है—आभ्यन्तर प्रकृतिचित्रण और बाह्य प्रकृतिचित्रण। प्रथम से उनका आशय मानवस्वभाव के निरूपण से होता है और द्वितीय से प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण से।[2] प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण मे वह केवल उनकी बाह्य आकृति का ही चित्रण नही करता वरन् उन दृश्यों के हृदय में प्रवेश कर प्रकृति के सूक्ष्मतम जीवन, सम्वेदन और क्रियाकलाओं को भी झाँकी लेने का प्रयत्न करता है। वस्तुवर्णन सर्वथा स्थूल चित्रण से ही सम्बन्धित होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत भौतिक सम्पदाओ का ही वर्णन होता है। आगे इन दोनों आधारों पर, अर्थात् प्रकृति चित्रण और वस्तुवर्णन की दृष्टि से, हम दोनो कवियों की सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण शक्ति और चित्रण-कुशलता की परीक्षा करेंगे। इन दोनों तत्त्वों का सामंजस्य-सूत्र है जीवन को विशदता, पर्य्यवेक्षण को शक्ति और चित्रण की कुशलता। अतः दोनों को एक ही अध्याय के अंतर्गत रखना उचित समझा गया है।

---

१. दे० काव्यादर्श (दण्डी) १.१६-१७, काव्यालंकार (रुद्रट) १६.१३-१५, तथा साहित्यदर्पण (विश्वनाथ कविराज) के ये श्लोक:—

सन्ध्या सूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः। प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवन सागराः॥
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह परिच्छेद ६, श्लो० ३२२ ३२४)

(अ) प्रकृति चित्रण

प्रकृति चित्रण का काव्य की वर्ण्य वस्तु और काव्य-शैली दोनों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। काव्य का समारंभ ही वस्तुतः प्रकृति के प्रांगण से हुआ है, मानव-जीवन का सन्निवेश तो काव्य-जगत में प्रकृति के बाद ही हुआ है। सृष्टि रूपी तरु पर प्रकृति और मानव-जीवन एक साथ ही खिलने वाले दो पुष्प हैं जो परस्पर सुवासित होते हैं। प्रकृति में मानवीय जीवन के व्यापार और मानवजीवन मे प्रकृति का सौन्दर्य लक्षित होता है। भारतीय साहित्य के आदिस्तम्भ वेद प्रकृति के ही पुनीत गान हैं जिनमें मनुष्य ने प्रकृति के जीवन में अपनी ही भावनाओं और साधनाओं की अनुभूति की है। धीरे-धीरे काव्य में मानव-जीवन का गान प्रधानरूप ग्रहण करने लगा और प्रकृति-चित्रण उसके आश्रित हो गया। वैदिक साहित्य-प्रकृति-पूजन का साहित्य है तो आदि काव्य रामायण मानव-पूजन का। उसमे मनुष्य की महिमा और उदात्तता का दर्शन करके उसका गौरव-गान इस भव्यता और तन्मयता के साथ किया गया है कि वह मानवातीत बन गया है, 'भगवान' बन गया है। वैदिक साहित्य से आध्यात्मिक वाङ्मय की परम्परा प्रवर्तित हुई जिसे आगे चल कर 'दर्शन' कहा गया और लौकिक साहित्य अर्थात् आदिकाव्य से रागात्मक वाङ्मय की परम्परा प्रवर्तित हुई जिसे शुद्ध साहित्य, लौकिक साहित्य अथवा मानवजीवन-परक साहित्य कहा गया। इस काव्य में भावनाओं का आलंबन प्रकृति न होकर मानव या महा-मानव था, अतः इसमें दर्शन का विशिष्ट रागात्मक स्वरूप 'वीरपूजा' या 'भक्ति' के नाम से दिखलाई पड़ा। आदिकाव्य में भावना का प्रधान आलंबन मनुष्य है, लेकिन उसे प्रकृति से पृथक् करके देखने पर उसकी सारी श्री और शौर्य फीका पड़ जाता है। प्राकृतिक परिस्थितियों में ही उस महामानव की महानता अर्थात् रूप, गुण और कर्म की श्रेष्ठता का विकास होता हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार आदिकाव्य से ही मानव और प्रकृति को परस्पर साथ रख कर काव्य रचना की परम्परा चली आ रही है। काव्य-तुला में एक ओर प्रकृति विराजमान है तो दूसरी ओर मानव।

रामायण और रामचरितमानस दोनों ही महाकाव्य है। महान मानव की जीवन-गाथा दोनों ही काव्यों में उदात्त शैली में गाई गई हैं, परन्तु जहां तक प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है दोनों में बहुत अन्तर है। मानस में प्रकृति को अत्यन्त गौण स्थान मिला है क्योंकि उसके रचयिता के काव्य-सम्बन्धी विचारों और जीवन एवं जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण मे वाल्मीकि मे भिन्नता थी। उसकी परिस्थितियां और उसके संस्कार, उसका युग और समाज, वाल्मीकि से भिन्न था। अतः उसने अपने काव्य मे प्रकृति का सन्निवेश बहुत कुछ भिन्न पद्धति से किया है।

वाल्मीकि एक ऋषि थे और तुलसी एक सन्त एवं भक्त। एक के जीवन और काव्य-रचना पर तपोवन का प्रभाव है, दूसरे पर नागरिक जीवन का। रामायण की रचना तमसा के तट पर, चित्रकूट के शिखरों की छाया में, सर-सरिता-वन-पर्वत से घिरे आश्रम मे ऋतुओं और प्रहरो से अलंकृत और विहगों के

से कूजित प्रकृति के मुक्त प्रांगण में हुई थी, जब कि मानस की रचना अवधपुरी में, काशी के मठ-मन्दिरों में, और कभी कभी असी नदी के तट पर भी बैठ कर हुई थी। रामायणकार के समय में ऋचाओं की गूँज स्पष्ट स्वरों में अवशिष्ट थी, प्रकृति के प्रति भय-विस्मय-विनय और प्रीति के संस्कार अभी सजीव थे, प्रकृति वरदात्री थी और साथ ही अब मानवजीवन के शृंगार अर्थात् अलंकरण में भी सहयोगिनी बनने लगी थी। अतः आदि कवि ने जहां प्रकृति के भव्य और विराट् दृश्य प्रस्तुत किये हैं, वहां उसने प्रकृति के जीवन में गहराई से झांक कर उसमें मानव जीवन के समस्त क्रियाकलापों का, उसके हास और अश्रु, आशा और निराशा, उल्लास और विषाद आदि का भी दर्शन किया है। उसने प्रकृति और मानव को सहोदर के रूप में देखा है, वे परस्पर प्रीति में पगे हुए हैं। प्राकृतिक विभूतियों के दर्शन से मानव उल्लसित हो कर नाचता हुआ दृष्टिगोचर होता है और दूसरी ओर मानवीय विपदाओं पर प्रकृति आंसू गिराती हुई दिखलाई पड़ती है। राम-सीता के वनवास में चित्रकूट और मन्दाकिनी आनंदोल्लास के स्रोत प्रवाहित करते हैं और वे अपने को अयोध्या से कहीं अधिक सुखी अनुभव करने लगते हैं, तो दूसरी ओर सीता के हरण पर सारी प्रकृति, विशेषत पंचवटी और वेत्रवती, असहायता पूर्वक आंसू भी बहाती है।

मानव और प्रकृति के जीवन को इस प्रकार एकसूत्रता में गूँथने के अतिरिक्त आदि कवि ने मानवीय सौन्दर्य के निरूपण के लिये प्रकृति के अपार-अगाध कोष से नाना रत्नाभरण भी बटोरने आरंभ कर दिये हैं। नायक-नायिका के नखशिख इन प्राकृतिक आभरणों (उपमानों) से जगमगा उठे हैं। आदिकाव्य में प्रकृति-चित्रण की जैसी बहुलता, विविधता और व्यापकता तथा सजीवता है, वह मानस में देखने को नहीं मिलती।

तुलसी की परिस्थितियां, उनका युग और इन सबसे विनिर्मित उनका निजी दृष्टिकोण प्रकृति के विषय में बहुत भिन्न था। 'प्राकृतजन' के गुणगान को सरस्वती का अपमान मानने वाला, राम-गुण-गान को ही वाणी का एक मात्र लक्ष्य और साधना समझने वाला, समस्त जग को 'सीयराममय' जानने वाला कवि अपने काव्य में प्रकृति को स्वतन्त्र स्थान कैसे दे सकता था? मानस में प्रकृति-चित्रण का अभाव नहीं है, तुलसीदास की काव्य-शैली के विधान में उसका प्रचुर सहयोग है, परन्तु उसका स्थान गौण है क्योंकि कवि को राम के यशोगान से अपनी गिरा को पावन बनाना था। उसे कदाचित भय था कि प्रकृति का अधिक समावेश होने से वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायेगा और नास्तिकों की श्रेणी में आ जायेगा। चित्रकूट से उसे प्रेम है, पर केवल 'रामपद अङ्कित अवनि' होने के कारण। गङ्गा और यमुना की लहरों का सौन्दर्य उसे स्वतन्त्र रूप में आकृष्ट नहीं करता, केवल विष्णु से सम्बन्धित और तीर्थों के वातावरण से भक्ति का उद्दीपन होने के कारण ही वह इनके प्रति आकृष्ट होता है। सागर का विराट् दृश्य उसे विस्मयाभिभूत नहीं करता, वरन् सेतुबंध के नाते ही वह उसका पूज्य है। उसका ध्यान लहरों की ओर न जा कर सेतुबंध के समय प

भगवद्दर्शन के लिये आये हुए जलचरों की ओर आकृष्ट होता है।[१] आकाश में सूर्य-चन्द्र और नक्षत्रों की सजीव शोभा देखने की अपेक्षा[२] वह देवताओं के 'ऊँचनिवास', मँडराते हुए विमान और जयकार के साथ पुष्पवर्षा ही अधिक देखता है। ऋतुओं की शोभा और शृंगार भी उसके लिये स्वतन्त्र महत्व नहीं रखते। तुलसीदास को केवल महाकाव्य के नियम-निर्वाह के लिये, कथा के अनुरोध से और काव्यशैली के विधान मे उपमानादि के रूप में प्रकृति के सहयोग की अनिवार्यता के कारण तथा राम की सेविका होने के कारण या राम की छवि से प्रतिबिम्बित होने के कारण ही प्रकृति का समावेश अपनी रचना में करना पडा है। अन्यथा, उनके काव्य में प्रकृति का स्वतन्त्र गौरव नहीं है। प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे उन्होंने नही देखा है। उनके काव्य को पढकर किसी प्रकृति-प्रेरित उल्लास का अनुभव नहीं होता, प्रकृति-परक काव्य मानस में प्राय: दुर्लभ ही है।

काव्य में प्रकृति-चित्रण के विविध प्रकार दिखलाई पड़ते है और दोनों ही काव्यो में वे सभी प्रकार, किसी न किसी रूप में, अल्पाधिक मात्रा मे, देखे जा सकते है। इस क्षेत्र में दोनों कवियों की भावना एवं प्रतिभा की तुलना की दृष्टि से दोनो काव्यों में चार प्रकार के प्रकृतिवर्णन पर विचार किया जा सकता है—(१) महाकाव्य के निर्देशानुसार प्रकृति वर्णन, (२) काव्यशैली के विचार से प्रकृति का अलकाराश्रित वर्णन, (३) प्रकृति का रसाश्रित निरूपण और (४) कवि का निजी भावनाश्रित प्रकृति वर्णन।

(१) महाकाव्य की दृष्टि से प्रकृति वर्णन

शास्त्रीय नियमों के अनुसार महाकाव्य मे नगर-वन-पर्वत-सर सरिता-सागर, दिन और रात के प्रहर तथा विविध ऋतुओं का वर्णन होना चाहिये।[३] महाकाव्य किसी महान कथा पर आधारित होता है, कथा की घटनाये विविध स्थलों और विविध अवसरों पर घटित होती है, अत: नायक के जीवन का इनसे सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य में मानवजीवन की विशाल चित्रपटी प्रस्तुत करने के लिये भी, जीवन और जगत की सम्पूर्णता या व्यापकता का दर्शन कराने के लिये, प्रकृति के विविध स्वरूपों और क्रियाकलापों का समावेश होना आवश्यक है। इनके सन्निवेश से महाकाव्य की शैली में भी अभीष्ट उदात्तता का संचार होता है। एक ओर हम मानवीय महत्कर्मों को देखते है और दूसरी ओर उन महत्कर्मों के रंग॰

१. देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृन्दा।
मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला।।
मा० ६.४।

२. जैसा कि वाल्मीकि के निम्नांकित चित्र में है:—
ग्रहनक्षत्रतारागणचन्द्रार्क विभूषिते।
वितानं जीवलोकस्यविमले ब्रह्मनिर्मिते।।

३ देखिये (अ) दण्डी काव्यादर्श १ १६ (आ) कार १६

मच-स्वरूप वन, पर्वत, सागर और सरिताओं को, विराट् आकाश को तथा ऋतुओ के चक्र को देखते है। इस प्रकार महाकाव्य के प्रकृति चित्रण में हम जीवन की महानता का व्यापक रूप में दर्शन करते है।

रामकथा में राम-वनवास की घटना अनायास ही कवियों को व्यापक रूप से प्रकृतिचित्रण का अवसर प्रदान करती है। गंगा-यमुना-तमसा; चित्रकूट-ऋष्यमूक, प्रस्रवण-सुवेल; दण्डक-पंचवटी, विशाल सागर और विराट् आकाश आदि प्राकृतिक स्थल एवं दृश्य, वर्षा-शरद्-हेमन्त आदि ऋतुएं, निशा-प्रभात-मध्याह्न आदि प्रहर, राम-कथा के अनिवार्य अंग हैं। इस प्रकार के कुछ प्राकृतिक वर्णन रामकथा में रूढिबद्ध हैं और रामायण से रामचरितमानस तक अनिवार्य रूप से कवि की रचना मे स्थान पाते आये हैं, कुछ रामायण के साथ अथवा मध्यवर्ती साहित्य मे पीछे ही छूट गये हैं और मानस तक नहीं आ पाये हैं अथवा सक्षिप्त हो गये है या भिन्न रूप मे उपस्थित किये गये है, और कुछ प्राकृतिक चित्र मानस की कथा में नये भी जुड़ गये हैं। आशय यह कि राम कथा के विस्तार, संक्षेप और परिवर्तन का प्रभाव इन प्राकृतिक वर्णनो पर भी पड़ा है।

वास्तव में महाकाव्य में प्रकृति के समावेश का सिद्धान्त रामायण की शैली को देखकर ही निर्धारित हुआ है। दण्डी के काव्यादर्श, रुद्रट के काव्यालंकार और विश्व-नाथ के साहित्यदर्पण में महाकाव्य में प्रकृतिचित्रण के जो रूप गिनाये गये है वे सभी वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते है परन्तु मानस में वे सभी नहीं मिलते, उनमें से कुछ ही है। दण्डी के अनुसार नगर, अर्णव, शैल, चन्द्र और सूर्योदय, उद्यान-क्रीड़ा और सलिल-क्रीड़ा, तथा मधुपान और रत्योत्सव का वर्णन होना चाहिये। रुद्रट ने भी प्राय इन्ही की आवृत्ति की है, उसने स्कन्धावार-निवेश और युवकों की क्रीड़ा को और जोड दिया है, जो वस्तुतः 'वस्तु वर्णन' के विषय हैं। विश्वनाथ ने सबका समाहार करते हुए 'मन्त्रपुत्रोदयादयः' (६.३२२) को भी सम्मिलित कर लिया है। ये विषय भी वस्तु वर्णन के अन्तर्गत आने चाहिये। इनके आचार्यों के महाकाव्य गत प्रकृतिवर्णन-विषयक विचार निम्नलिखित हैं। इनके आधार पर वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस के प्रकृति-वर्णन की समीक्षा की जा सकती है :—

१. नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥ (काव्यादर्श १.१६)

२. अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि।
स्कन्धावारनिवेशं क्रीड़ा यूनां यथायथं तेषु।
रव्यस्तमयं संध्यां संतमसमयोदयं शशिनः॥
रजनी च तत्र यूनां समाजसंगीतपानशृंगारान्। (काव्यालंकार १६)

३. संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः॥ (साहित्यदर्पण ६.३२२)

इन विवरणों से पता चलता है कि महाकाव्य के और विशाल प्रांगण

मे विराट् प्रकृति के असीम और असख्य चित्रों के समावेश की कितनी गुंजायश है।

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति का ऐसा ही व्यापक समावेश, भूगोल-खगोल सहित, हुआ है। उसमें मधुवन के बानरो की उद्यानक्रीड़ा (सुन्दरकाण्ड), मन्दाकिनी मे राम की सीता के साथ जलक्रीड़ा (अयोध्याकाण्ड) और अन्तःपुर में रावण का मधुपान और रत्योत्सव (सुन्दरकाण्ड) आदि दृश्य इन अलकारिको की शास्त्रीय परिभाषा का स्पष्टतया पथनिर्देश करते हुए दिखलाई पड़ते है। रामचरित मानस मे न तो इन शास्त्रीय निर्देशो का प्रभाव दिखलाई पड़ता है और न ही प्रकृति की इतनी व्यापक छवि का चित्रण।

सर्वप्रथम इन्ही लक्षणो के आधार पर हम दोनो काव्यो के प्रकृति-चित्रण की तुलना करेंगे।

(क) जनपद या नगर-वर्णन

रामकथा से पाँच जनपदों या बस्तियो का सम्बन्ध है—अयोध्या, मिथिला, शृंगवेरपुर, किष्किंधा और लंका का। 'अयोध्या' नायक की, 'मिथिला' नायिका की 'शृंगवेरपुर' प्रथम सखा गुह की, 'किष्किंधा' द्वितीय परन्तु मुख्य सखा अथवा पताका-नायक सुग्रीव की और 'लंका' प्रतिनायक रावण की जन्मभूमि है। अतः दोनों कवियो को इन नगरियों का अल्पाधिक वर्णन करना, कथा के नाते, अनिवार्य ही था। इनमे से अयोध्या और मिथिला थल-भूमि के सुसम्पन्न एवं सुन्दर नगर हैं, किष्किन्धा पहाड़ो के आंचल में बसी हुई बस्ती है, शृंगवेरपुर ग्राम है और लंका द्वीप है। इस प्रकार एक श्रेष्ठ महाकाव्य की दृष्टि से इनमे विविधता भी है। इनके भौगोलिक वातावरण के रूप में प्रकृति-चित्रण और नागरिक अलकरण के रूप में वस्तु-वर्णन, ये दोनो ही किये गये हैं।

अयोध्या—

भारत की अत्यन्त प्राचीन और योधाओं के लिये अजेय, 'अयोध्या' नगरी परम वीर और महापुरुष राम की जन्मभूमि होने के कारण और भी अधिक यशस्विनी बन गई है। दोनो कवियों ने इसका भौतिक और भावात्मक दोनों ही प्रकार का वर्णन किया है।

भौतिक वर्णन से आशय इस नगरी की भौगोलिक सीमाओ और इसकी ऐश्वर्य-सम्पदा के वर्णन से है। भौगोलिक सीमाओ को बतलाते समय दोनों कवियो ने इसकी प्राकृतिक स्थितियों का उल्लेख किया है। नगर के समीप बहने वाली सरयू तथा राज्य की सीमाओं के समीप प्रवाहित तमसा नदी का उल्लेख कथानक की दृष्टि से आवश्यक था। कैकय प्रदेश से लौटने पर भरत के अयोध्या-प्रवेश के समय भी इस की प्राकृतिक सीमाओं का उल्लेख दोनों काव्यों मे किया गया है। मानस की अपेक्षा वा० रामायण में भौगोलिक विवरण अधिक है। दोनों कवियों ने तमसा के अतिरिक्त और भी नदियों का किया है जो राम को अयोध्या राज्य से निकलते समय

पार करनी पड़ी थीं।[1] आदिकाव्य से प्राचीन भारतीय भौगोलिक स्थितियों के विषय मे विशेष जानकारी प्राप्त होती है। अयोध्या के धन-धान्य और ऐश्वर्य्य सम्पत्ति का वर्णन भी वाल्मीकि ने अधिक किया है, जिससे प्रकट है कि प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन दोनों ही तत्वों का विस्तार आदिकाव्य में अधिक है।

अयोध्या के माहात्म्य का वर्णन भी दोनों ही कवियों ने किया है, परन्तु इस क्षेत्र मे भक्त तुलसी स्वाभाविकतया कवि वाल्मीकि से आगे बढ़े हुए हैं। उन्होने मानस के प्रारम्भ में इस पावन पुरी की वन्दना की है[2] और अन्त में स्वय राम के श्री मुख से इसकी महिमा का बखान कराया है।[3]

अयोध्या के प्रति भक्ति-भाव दोनों ही कवियों में है परन्तु आदिकाव्य की देशभक्ति मानस में आकर देवभक्ति में परिणत हो गई है। वाल्मीकि के राम अपनी मातृभूमि के नाते उसे 'पुरिश्रेष्ठे'[4] कहते हैं, परन्तु तुलसी के राम उसका महत्व बढाते हुए उसे 'मम धामदा पुरी सुख रासी'[5] कहते हैं। इससे पुन: यह प्रकट हो जाता है कि भक्ति भावना के विविध तत्वों का आविर्भाव आदिकाव्य मे हो चुका था जिनका विकास ही मानस में हुआ है। मानस में अयोध्या की सरिता 'सरयू' भी 'कवि कलुष नसावनि'[6] बन गई है और इसके तटों पर वेद-पुराण की चर्चा होती है।[7] इस काव्य मे अयोध्या के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण भी वस्तुत: भक्ति-भावना के ही उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। उसकी अमराइयाँ आध्यात्मिक और नैतिक चर्चा के लिये उसी प्रकार उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करती हैं जिस प्रकार सरयू के तट पौराणिक चर्चा के लिये। धार्मिक दृष्टि के कारण वा० रामायण की अपेक्षा मानस में अयोध्या और सरयू का वर्णन अधिक भी किया गया है।

मिथिला—

मानस के मिथिला-वर्णन में अयोध्या-वर्णन से भिन्न प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। तुलसीदास ने उसके निवासियों के नैतिक जीवन की झाँकी दिखाने की अपेक्षा 'पुर रम्यता' (१.२१२.५) अर्थात् सरोवरों और वाटिकाओ, नगर के बाहर की अमराइयों और राजोपवनों तथा अलंकृत पण्यों का सुन्दर परन्तु संक्षिप्त वर्णन किया है। सूर्योदय और चन्द्रोदय के प्रहरों का वर्णन भी इस नगरी के उपलक्ष में किया गया

१. तुलसी ने तमसा के अतिरिक्त गोमती और सई (स्यन्दिका) का उल्लेख किया है (मा० २.१८८,१८९) और वाल्मीकि ने वेदश्रुति नदी का नाम भी दिया है (रा० २.४९.१०-१२)।
२. मा० १.१६.१।
३. मा० ७.४.२—७।
४. रा० २.५०.२।
५. मा० ७.४.७।
६ १ १६ १
७ ७ २६ २

है[1] क्योकि कवि को यहाँ राम और सीता के प्रथमानुराग का दृश्य अर्थात् पुष्पवाटिका की रसविभोर नाटकीय घटना उपस्थित करनी थी। अत: संयोग शृंगार के विभाव-विधान की प्रेरणा से मिथिला का रसात्मक प्राकृतिक वैभव कवि की आँखों मे छलक उठा है। इन दो नगरियों के वर्णन में कवि के दो प्रकार के चित्र देखे जा सकते है, अयोध्या का चित्र भक्ति प्रेरित है और मिथिला का कला-प्रेरित। इसी प्रकार सर्वत्र तुलसी ने भक्ति-भागीरथी के बीच-बीच की खाड़ियों में काव्य की पंकज-पुष्करिणिया सजा रखी है। मिथिला के 'भूपबागु' का चित्र तुलसी के काव्योचित प्रकृति वर्णन का एक सुन्दर चित्र कहा जा सकता है। मिथिला के राजोपवन के उक्त वर्णन में भी कवि "जहं वसन्त रितु रही लुमाई" (१.२२७.३) से आरम्भ करके "परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत" (१. दो० २२७) मे अन्त करता हुआ अपने वास्तविक उद्देश्य को ही पकड़ लेता है अर्थात् उसकी दृष्टि मे इस दृश्य की सार्थकता और महत्व राम को सुख देने के कारण ही है, कवि या पाठक को रमणीयता प्रदान करने के निमित्त नही।

वाल्मीकि रामायण में मिथिला का वर्णन नहीं किया गया है। यह भी एक पुष्ट प्रमाण है कि बालकाण्ड वाल्मीकि की रचना नहीं है। यदि बालकाण्ड आदिकवि की रचना होता तो अयोध्या, किष्किन्धा और लंका का इतना ऐश्वर्य पूर्ण वर्णन करने वाला कवि मिथिला को इस प्रकार अछूता न छोड देता।

शृंगवेरपुर—

भागीरथी के तट पर बसी इस निषाद-नगरी की चर्चा दोनों काव्यों मे हुई है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में उसका वर्णन न होकर उल्लेख मात्र है, जबकि मानस मे यहां के निवासियों का वर्णन भी है। राम की वनयात्रा की महत्वपूर्ण मंजिल या विश्राम-प्रयाणक के रूप में इस नगर का विशेष महत्व है। दोनों ही काव्यों के पाठक इस नगरी के बाहर स्थित उस 'इंगुदी' (रा० २.५०.२८) या शिशुपा (मा० २.८९ ४) तरु को, जिसके नीचे राम-लक्ष्मण और सीता ने एक दिन विश्राम किया था, जहा पड़े हुए 'दुइ चारिक कनक बिन्दु' (मा० २.१९९.३) देखकर भरत की आंखो मे आसू भर आये थे, भुला नही सकते।[2] रामकथा में राम का यह विश्राम-तरु वाल्मीकि से तुलसी तक अविच्छिन्न यात्रा करके अमर हो गया है। महापुरुषों की जीवनी से सम्बद्ध होकर प्रकृति के सामान्य दृश्य और पदार्थ भी किस प्रकार गौरवान्वित,

---

१. राम के पूर्वराग-निरूपण के लिये चन्द्रोदय का (१. दो० २३७ तथा चौ० २३८) और रंग-भूमि-प्रवेश के समय सूर्योदय का (१. दो० २३८ तथा चौ० २३९) वर्णन है।

२. रामकथा की सूक्ष्मतम रूढियों का यह एक आकर्षक उदाहरण है। वाल्मीकि रामायण में भी यह विशेष वृक्ष कथा के उन्हीं स्थलों पर दिखलाई पड़ता है जहां कि वह मानस में है। पहले राम वहां विश्राम करते है फिर भरत उस वृक्ष के नीचे सीता के आभरण-चिह्न देखकर स्मृति-विह्वल होते हैं—दे० रा० २ ८८ ४ तत्र-तत्र हि दृश्यन्ते सक्ता कनकबिन्दव

स्पृहणीय एवं अविस्मरणीय बन जाया करते है, इसका एक नमूना यह साधारण वृक्ष उपस्थित करता है।

तुलसी ने शृंगवेरपुर के नर-नारियों का अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन किया है। वाल्मीकि रामायण का शृंगवेरपुर भुलाया जा सकता है परन्तु मानस का नही, क्योंकि यह राम-सखा की ही नहीं, भक्तराज निषाद की नगरी है। इसके अतिरिक्त गंगा तट ने भी इसे पवित्रता प्रदान कर रक्खी थी। अत. भक्त तुलसी के लिये तो यह तीर्थ ही बन गया था।

किष्किंधा—

वाल्मीकि रामायण में भी इस वानर-राजधानी का संक्षिप्त ही वर्णन है (किष्किंधा काण्ड में), फिर भी उससे वानर-सभ्यता और संस्कृति की अच्छी झलक मिल जाती है। मानस मे इसका वर्णन और भी कम है। दोनों ही काव्यों में किष्किंधा के चारों ओर की प्रकृति का भी, प्रस्रवण और ऋष्यमूक पर्वत तथा पम्पा सरोवर का, वर्णन किया गया है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

लंका—

शत्रुपुरी लंका का,—रावण की इतिहास-प्रसिद्ध स्वर्ण नगरी का,—वर्णन दोनों ही कवियों ने किया है क्योंकि उसका सम्बन्ध रामायण की मुख्यतम घटना से है। रामायण के कवि ने इस नगरी का अयोध्या से कही अधिक विशद और आकर्षक वर्णन किया है क्योंकि जनता अयोध्या के प्रति केवल श्रद्धा से आकृष्ट होती है परन्तु लंका के प्रति विस्मय और कौतूहल से। इसके अतिरिक्त राम की वीरता की कहानी भी लंका के स्वर्ण द्वारों पर ही लिखी गई थी, राम का 'रामत्व' अर्थात वीरत्व लंका में ही पूर्णरूप से प्रकट हुआ था, अत: आदिकाव्य में लंका का सविस्तार वर्णन किया गया है। मानस में उसका केवल संक्षिप्त वर्णन दिखलाई पड़ता है।

दोनों ही कवियों ने लंका का वर्णन विशेष रूप से हनुमान के दूत-रूप में लंका-प्रवेश के अवसर पर (सुन्दरकाण्ड में) किया हैं। सीता की खोज लाने और सन्देश का आदान-प्रदान कर दो विरही जनों को सान्त्वना देने के अतिरिक्त सामरिक दृष्टि से चतुर हनुमान ने इस नगरी का विशेष रूप से निरीक्षण किया था। वाल्मीकि ने लंका के बाहरी सघन वन का, नगरी को घेरने वाली 'पद्मोत्पलालकृता' परिखा का, 'कांचन-प्राकार' का, 'ध्वजमालिनी अट्टालिकाओं' का, चित्रकूट पर स्थित 'पाण्डुर भवनों' का, प्राकारो पर रक्खी 'शतघ्नियों' का, चित्रात्मक वर्णन किया है।[1] ऐसे वर्णनों में उनकी राजनीतिक दृष्टि का भी विस्तार दिखलाई पड़ता है। पुर-प्रवेश के अनन्तर वाल्मीकि ने लंका के राजकीय गृहों का, विशेष कर वैभव और विलास की बाढ़ में बढ़ते हुए के [illegible] अन्तःपुर का शक्तिशाली रक्षा-योजना का पुष्पक-विमान

---

१ रा० ५ २

का, और अन्त मे अशोक वाटिका का पर्याप्त विस्तार और कलात्मक दृष्टि से वर्णन किया है ।[१] प्राकृतिक उपादानों को लेकर धरती-पुत्रों ने अपने परिश्रम से ऐश्वर्य की जो भव्यसृष्टियाँ की हैं उनका दर्शन इस लंकावर्णन मे मिलता है । इसे शुद्ध प्रकृति-वर्णन की अपेक्षा ऐश्वर्यपरक प्रकृति-वर्णन या वस्तुवर्णन भी कह सकते हैं । परन्तु इसमे भी प्रकृति अपने कृत्रिम रूप में दिखलाई पड़ती है, अत: इसे मानव विरचित या शिल्पिक प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

रामायण के लगभग दस सर्गो में वर्णित लंकापुरी मानस के तीन हरिगीतिका छन्दो में ही सिमिट गई है ।[२] रामायण की शैली के अनुकरण पर सस्कृत के महाकाव्यो में इस प्रकार के सुविस्तृत वस्तु वर्णन बहुत किये गये हैं, परन्तु तुलसी ने कथा के प्रवाह और चरित्रयोजना को महत्व देते हुए ऐसे वर्णनों को सर्वत्र संक्षिप्त कर दिया है । महाकाव्य-शैली का विस्तृत वर्णन उन्होंने राम-विवाह में किया है जिसका सम्बन्ध वस्तु-वर्णन से है । वाल्मीकि रामायण की कथा के विराम यदि नागरिक और नैसर्गिक प्राकृतिक वर्णनो में दिखलाई पड़ते है तो मानस की कथा के विराम आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों में । रामायण के प्राकृतिक विराम रमणीय है, तो मानस के आध्यात्मिक विराम मननीय ।

इस प्रकार दोनों कवियों ने महाकाव्य के शास्त्रीय नियमो के अनुसार रामकथा की इन पंच नगरियों का वर्णन किया है जिसके अलंकरण में प्राकृतिक उपदानों का मानवीय कुशलकरों द्वारा पुनर्विधान दिखलाई पड़ता है । वाल्मीकि ने ये वर्णन आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से किये है तथा सौंदर्य और कला के प्रति उनकी दृष्टि खूब खुली हुई है, परन्तु तुलसी ने इन वर्णनों में मानवीय कौशल के दर्शन की अपेक्षा राम के प्रताप की ही झाकी देखने और दिखाने तथा भक्ति भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है । न तो उनका मन ईश्वरकृत प्रकृति में रमा है और न ही मानवकृत प्रकृति मे ।

(ख) वन-वाटिका और पर्वत

रामकथा से मुख्यरूप में तीन वनों—चित्रकूट का वन, दण्डक-पञ्चवटी वन और किष्किधा तथा लका की मध्यवर्ती दक्षिण वन-शृङ्खला,—का सम्बन्ध है । उपवनों और वाटिकाओं में मिथिला की राजवाटिका या 'पुष्पवाटिका'; लंका की 'अशोकवाटिका' और किष्किधा का 'मधुवन' उल्लेखनीय हैं । पर्वतों में रामगिरि चित्रकूट, किष्किधा का प्रस्रवण, हनुमान के उत्प्लवन का सागर-तटवर्ती महेन्द्राचल, और लंका के सुबेल, अरिष्ट और त्रिकूट गिरि उल्लेखनीय हैं । दक्षिण-टोली के वानरों का मार्ग निर्देश करने वाली स्वयंप्रभा की विचित्र गुफा भी भुलाई नहीं जा सकती ।

१- रा० ५ सर्ग ५-८ तथा १४

२ मा० ५ ३

चित्रकूट का वन—

चित्रकूट के शिखरों, वन, वृक्षों, वनस्पतियों, निर्झरों तथा समीपवर्तिनी मन्दाकिनी का वर्णन वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने किया है। परन्तु तुलसी का हृदय चित्रकूट की शोभा में न रमकर उसमें आभासित होने वाली राम की चरण-रज में ही रमा है। न तो उन्होंने मानस में उसके 'धातु रंगमंगे शृङ्गों' का वर्णन (जैसा कि गीतावली में है), न उसके वृक्ष-लता-फल-फूलादि का परिगणनात्मक वर्णन, और न ही राम-सीता के उल्लास का यथेष्ट वर्णन (जैसा कि वा० रामायण में हैं) किया है। वा० रामायण के चित्रकूट को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, उसके दृश्य-गन्ध-समीर हमारे नेत्र-घ्राण-त्वक् को तृप्त कर देते है, परन्तु मानस का चित्रकूट भौतिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि आध्यात्मिक या भक्तिभाव की दृष्टि से। वा० रामायण का चित्रकूट सदैव सुन्दर था, परन्तु मानस के चित्रकूट को राम के आगमन पर ही विशेष गौरव प्राप्त हुआ, जैसा कि निम्नलिखित वर्णन से प्रकट होता है—

जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयउ बनु मंगलदायक॥
* * *
करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥
* * *
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते॥
बिधि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥
* * *
परसि चरन रज अचर सुखारी। भए परम पद के अधिकारी।
महिमा कहिअ कवन बिधि तासू। सुख सागर जहं कीन्ह निवासू॥
(मा० २.१३५-१३६)

मानस में चित्रकूट का गौरव राम के आधीन है और रामपद-अङ्कित हो जाने पर अब उसका गौरव इतना बढ गया है कि अवर्णनीय हो गया है। जिस प्रकार चरित्र चित्रण में तुलसीदास की यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखलाई पड़ती है कि सारे पात्रो का व्यक्तित्व राम के आधीन है, उसी प्रकार प्रकृति चित्रण में किसी भी सुन्दर दृश्य या आकर्षक पदार्थ का स्वतन्त्र महत्व नहीं है, क्योंकि उसे गौरव प्रदान करने या छीन लेने का एक मात्र अधिकार राम को है। इस प्रकार तुलसी की दास्य भाव की भक्ति का प्रभाव प्रकृति चित्रण पर भी पड़ा है। वाल्मीकि रामायण में कवि ने राम और सीता के मन्दाकिनी-विहार का अत्यन्त रसात्मक वर्णन किया है[1] परन्तु तुलसीदास ने उस सारी कलात्मक चेष्टा को एक चौपाई में मसोस कर रख दिया है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥
सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैटे फटिक सिला पर सुन्दर॥
मा० ३ १

१ ...

परन्तु इतने संक्षिप्त वर्णन से रसविधान नहीं हो सकता। गीतावली में कवि ने इसकी कुछ पूर्ति की है—

निज कर राजीव नयन पल्लवदल-रचित सयन,
प्यास परस्पर पियूष प्रेम पान की।
सिय अंग लिखे धातुराग, सुमननि भूषन-विभाग,
तिलक-करनि का कहौं कलानिधान की॥
(अयो० ४४)

चित्रकूट का जैसा सरस कलात्मक वर्णन तुलसीदास ने गीतावली में किया है उससे पता चलता है कि यदि वे प्रकृति-चित्रण में प्रवृत्त होते तो श्रेष्ठ शब्द-चित्रकार बन सकते थे, उदा० के लिये यह एक ही पंक्ति देखिये—

झरना झर झिंग झिंग झिंग जल तरंगिनी॥ (अयो० ४३)

शुद्ध प्राकृतिक चित्रण के मार्ग में बाधा डालने वाली तुलसी की एक अन्य प्रवृत्ति भी है, और वह है उनके पाण्डित्य की प्रवृत्ति। वे प्रायः सांगरूपकों का सहारा लेकर प्रकृति के सहज रमणीय दृश्यों की प्रासादिकता भंग कर देते हैं। उदाहरण के लिये जहां वाल्मीकि मन्दाकिनी में नवदम्पति का विहार चित्रित करके काव्यरस की वृद्धि करते हैं, वहां तुलसी इस सरिता को 'पातक पोतक डाकिनी'[1] बतलाकर और चित्रकूट को पापशावकों के निमित्त अचल अहेरी बनाते हुए नदी की धारा को उसकी कमान की प्रत्यंचा बना डालते हैं।[2]

अपने प्राकृतिक चित्रों को रूपकों में उलझाने के अतिरिक्त वे प्रायः अतिशयोक्ति, अत्युक्ति या अनिर्वचनीयता की शरण लेकर भी छुट्टी ले लेते हैं, यथा—

कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन।
सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं॥
(अयो० १३६)

परन्तु वाल्मीकि रमणीय प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए प्राकृतिक माधुरी का यथेष्ट रसपान स्वयं भी करते हैं और पाठकों को भी कराते हैं।

चित्रकूट के प्रति जैसी सात्विक और आध्यात्मिक भावना तुलसीदास की है उसकी कुछ झलक वाल्मीकि में भी दिखलाई पड़ती है। प्रस्तुत अध्ययन में अनेक स्थलों पर यह दिखाया गया है कि भक्ति के तत्व रामायण (मूल रामायण) में भी पूर्णरूप से विकसित हो चुके थे। चित्रकूट को राम के सम्बन्ध से जो गौरव वाल्मीकि रामायण में प्राप्त हुआ है वह उसी भक्ति भावना का द्योतक है। प्राकृतिक दृश्यों में मन को विश्राम देने की शक्ति होती है, हृदय को पवित्र और प्रफुल्ल कर देने का गुण होता है। सुन्दर, सुशीतल, सुगंधित एवं सुरम्य दृश्यों को देखकर मन स्वतः

१. मा०२-१३२-६
२ मा० २ १३१

सात्विक भावनाओ से भर उठता है। चित्रकूट के विषय में भरद्वाज राम से यही कहने हैं—

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः॥ (२.५४.३०)

प्रकृति की पावनीशक्ति का अनुभव तुलसी और बाल्मीकि दोनों ही करते है, परन्तु तुलसी प्रकृति की इस शक्ति को राम की चरण-प्रदत्त मानते हैं जब कि वाल्मीकि स्वतन्त्र भी मानते है। चित्रकूट राम के निवास से पूर्व भी अपनी प्राकृतिक विभूति के कारण एक पावन तीर्थ और तपोभूमि था और राम के निवास के बाद तो इसका गौरव और भी बढ़ गया। यह रामगिरि कहलाने लगा। किंवदन्ती है कि यही तुलसीदास को भगवान राम के दर्शन हुए थे[1]।

चित्रकूट तुलसी की जन्मभूमि (राजा पुर) के निकट पड़ता है, इसलिये भी इस पर्वत से उन्हें विशेष अनुराग दिखलाई पडता है। राम और भरत के मिलाप के प्रसग से तो यह रामभक्तों का महातीर्थ ही बन गया है—

चित्रकूट सुचिथल तीरथ बन। खगमृग सुरसरि निर्झर गिरि गन।
प्रभु पद अंकित अवनि विसेषी। आयसु होइ त आवौ देखी॥ (२.३०८)

दण्डकवन और दक्षिणापथ—

राम के बनवास के कष्टो, संघर्षों और संकटों का, विपत्तियों से घिरे हुए नके जीवन का, उनके पराक्रम, शौर्य और निर्भीकता का, यथार्थ अनुभव वाल्मीकि मायण मे ही किया जा सकता है, जहा कवि ने वनों की सघनता, हिंस्र पशुओं की भयकरता और राक्षसो के उत्पात का प्रत्यक्ष वर्णन किया है।[2] तुलसी ने कानन की भयंकरता का उल्लेख मात्र किया है,[3] वर्णन नही। वाल्मीकि रामायण के नायक को बन में वास्तविक तप करना पड़ता है, परन्तु मानस में तो इसका अवसर ही नही आता। निम्नलिखित अर्धाली देखिये—

सरिता वन गिरि अवघट बाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा
(मा० ३.७.४)

तपस्वी राम के लिए आवश्यक आश्रम-जीवन और तपोभूमि का पर्याप्त वातावरण मानस में नही बनाया गया है। उसमे अत्रि-अगस्त्य आदि के आश्रमों का उल्लेख मात्र है जब कि रामायण में उनकी यज्ञवेदियों, स्नान के अनन्तर सुखाये हुए ऋषियो के कौपीनों, मृगयूथपों के द्वारा पीकर गंदला किये हुए मन्दाकिनी-जल आदि का

१. इस सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसत, तिलक देत रघुबीर॥

२. रा० ३.२

३. मा० २.६२ और ६४ तथा २.६६

भी प्रत्यक्षवत् वर्णन किया गया है[१]। वाल्मीकि रामायण में राम के साथ पाठक भी वन में रहने या वन की झांकी पाने का अनुभव करता है परन्तु मानस में ऐसा नही लगता। रामायण का कवि दण्डकवन में राम के प्रवेश करते समय और दक्षिणापथ मे वानरटोली के प्रवेश करते समय दोनों वन-शृंखलाओं की भयंकर निविडता का वर्णन करता है, जिसका कुछ आभास मानसकार ने अयोध्याकाण्ड मे राम-सीता के सम्वाद के अवसर पर दिया है, परन्तु उक्त दोनों अवसरों पर परिस्थिति के अनुकूल वन के चित्रण करने का अवसर तुलसीदास बचा गये हैं। उनकी प्रकृतिकचित्रण-पद्धति में न तो संस्कृत के महाकाव्यों जैसे विस्तृत तथा अलंकृत वर्णन के लिए अवकाश है, न वाल्मीकि के समान वनस्पति-जगत के जीवन को निरखने और परखने की सुविधा है और न ही नायक-नायिका की रसात्मक मनोभूमि के लिए प्राकृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की कला। वा० रामायण में राम और लक्ष्मण पञ्चवटी में पहुंचने पर हेमन्त ऋतु का स्वागत करते हुए तपोवन-श्री का वर्णन करते है[२] जब कि मानस में वे इस वातावरण का उपयोग 'ईश्वर-जीव' भेद निरूपण करने और "गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई", जैसी दार्शनिक चर्चा के लिये करते हैं।[३] तुलसी की काव्यपद्धति में प्रकृति के रम्यरूपों और ऋतुओं के उपहारों की कितनी उपेक्षा हुई है, यह इस उदाहरण से स्पष्ट है।

उपवन और वाटिका—

साहित्यिक दृष्टि से मानस के पुष्पवाटिका[४] और अशोक वाटिका[५] के वर्णन उल्लेखनीय है। इनका उपयोग कवि ने नायक-नायिका के हृदय में संयोग और वियोगकालीन रतिभाव की प्रतिष्ठा करके शृंगार रस का प्रसारण करने के लिए किया है। वा० रामायण में पुष्पवाटिका प्रसंग नहीं है। उसमें अशोकवाटिका का वर्णन मानस की अपेक्षा प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से कही अधिक रमणीय हैं। तुलसी ने अशोक के नूतन किसलय और फूलों से लदे वृक्षों की ओर इशारा किया है लेकिन वाल्मीकि ने रावण के शिल्प-प्रेम और कलात्मक अभिरुचि का भी पूरा परिचय दिया है। अशोक-वाटिका के वर्णन में (५.१४) वाल्मीकि की वही चिरपरिचित परिगणनात्मक शैली अर्थात् साल-अशोक-चम्पक-उद्दालक- नाग-आम्र आदि वृक्षों की, कोकिल-मयूर-भ्रमर आदि पक्षियों और पतंगो की, वापियों तथा हंस-सारस आदि जल-पक्षियों की सूची दिखलाई पडती है। इसके साथ ही उन्होने इस वाटिका के प्रति रावण का विशेष प्रेम प्रकट करते हुए वहां की कृत्रिम दीर्घिका और काञ्चन शिंशुपा का, जिसके नीचे सीता का निवास था, वर्णन किया है। इस प्रकार वे नैसर्गिक

---

१. रा० ३.१६
२ रा० ३.१६
३. मा० ३.१५
४. मा० १.२२८
५ मा० ५.१

और कृत्रिम प्रकृति का मिलाप कराते हुए दिखलाई पड़ते है। तुलसी ने अशोकवाटिका का यत्किंचित् प्राकृतिक वर्णन मुख्यतया कथात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही किया है जब कि वाल्मीकि ने वहा के मनोमुग्धकर वातावरण का चित्रण महाकाव्य मे अपेक्षित वस्तुवर्णन और प्रकृतिचित्रण के अनुरूप किया है।

वानर-राज सुग्रीव के मधुवन का उल्लेख दोनों काव्यो मे है और इसे भी तुलसी को केवल कथा की दृष्टि से लाना पड़ा है क्योंकि लका से कृतकार्य लौटने पर हनुमान और अन्य वानरों का उल्लास प्रकट करना आवश्यक था। परन्तु प्रकृति के बीच उल्लास और क्रीड़ा (पिकनिक) का चित्र वाल्मीकि रामायण के मधुवन वर्णन मे ही मिलता है। मधुवन मे पिंगलवर्ण वानरों द्वारा पक्वफलों का मधुपान और उन्मुक्त विहार प्रकृति के प्रांगण में उन्मत्त जीवनोत्सव का एक स्फूर्तिकारी चित्र उपस्थित करता है[1] जैसा एक भी उदाहरण मानस मे नही मिलता। रामायण की इसी उद्यानक्रीड़ा को लक्ष्य कर दण्डी ने महाकाव्य के लिये अपेक्षित प्रकृतिवर्णन मे उसका समावेश किया होगा—'उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवः' (काव्यादर्श, १.१६)। महाकाव्य की शास्त्रीय आवश्यकता, उसकी अपेक्षित निश्चिन्त गति और उदात्त शैली के लिये बीच-बीच मे जिस प्रकार के विरामदायक रमणीय प्राकृतिक चित्र होने चाहिये वे मानस में दुर्लभ है।

पर्वत—

दोनों काव्यों मे पर्वतों में चित्रकूट, प्रस्रवण, महेन्द्राचल, सुवेल और चित्रकूट का वर्णन या उल्लेख मुख्य रूप से किया गया है। मानस में हिमालय का उल्लेख भी है परन्तु पर्वत के रूप मे न होकर व्यक्ति हिमाचल के रूप में हुआ है और उसकी कथा शिव-पार्वती के प्रसंग में दी गई है।

चित्रकूट का विवेचन ऊपर वन-वर्णन के प्रसग मे किया जा चुका है। उसी प्रसग में यह दिखलाया जा चुका है कि तुलसी ने कथा और भक्ति भाव की दृष्टि से ही प्रकृति के सारे दृश्यों का निरूपण किया है जब कि वाल्मीकि ने चित्रकूट गिरि के नयनाभिराम शृंगों के चित्र भी प्रस्तुत किये है। तुलसी ने चित्रकूट के वन और उसकी सरिता मन्दाकिनी का वर्णन तो कुछ किया भी है परन्तु पर्वतीय चित्र के लिये अपेक्षित उसके शिखरों को वे भूल ही गये है। मानस मे वस्तुतः पर्वत का एक भी पूर्ण और यथेष्ट चित्र नही दिखलाई पड़ता। पर्वत की विराटता का अनुभव तुलसी नही करते. देखिये ऋष्यमूक की उन्होंने कैसी उपेक्षा की है—

आगे चले बहुरि रघुराया। ऋष्यमूक पर्वत नियराया॥ (४.१)

यदि इस पर्वत का वे संश्लिष्ट चित्रण करना करना चाहते तो बतलाते कि दूर से

---

१. वाल्मीकि की शालीनता से बेमेल होने के कारण और त्रिष्टुप छन्दों के प्रयोग के भी कारण योरोपीय विद्वानों ने इसे प्रक्षिप्तांश माना है (दे० रामकथा० बुल्के पृ० ३६७), फिर भी इससे वा० के वातावरण (स्पिरिट) का तो बोध होता ही है।

शिखर कैसे प्रतीत होते है, उनके समीप पहुंचने पर कैसा अनुभव होता है, इत्यादि महेन्द्राचल का, जिस पर से हनुमान सागरोल्लंघन के लिए कूदे थे, नाम तक तुलसी ने नही लिया है। उसको भी एक पंक्ति में निपटा दिया है—

सिंधु तीर एक भूधर सुन्दर। कौतुक कूदि चढ़ेऊ ता ऊपर ।।

(सुन्दर० १)

और लंका से हनुमान के लौटते समय भी कूदने के लिये उन्हें किसी उत्तुंग पर्वत-शिखर पर खड़े होना पड़ा होगा, यह तुलसी के ध्यान तक में नहीं आया, जब कि वाल्मीकि ने उस अवसर पर भी महेन्द्राचल के समान अरिष्ट पर्वत का वर्णन किया है।[1] वास्तव में महाकाव्य के लिए जैसे और जितने प्रकृति-वर्णन की आवश्यकता होती है वह मानस में पूरी नही हुई है।

पर्वतों के शिखर, कन्दरा, वृक्ष, निर्झर, वनस्पति, विविध जीव-समुदाय आदि का चित्र वाल्मीकि के महेन्द्राचल[2], प्रस्रवण[3] और अरिष्ट[4] के वर्णनों में ही देखने को मिल सकता है। उन जड़ दृश्यों के साथ भी हमारा उतना ही तादात्म्य हो जाता है जितना कथा के पात्रों के साथ क्योंकि वाल्मीकि तो प्रकृति के जीवन में प्रवेश करते है और उसके तार हमारे जीवन के साथ जोड़ देते है। हनुमान की उछलने की तैयारी के समय महेन्द्राचल का मचमचाना, उसमें रहने वाले सर्पो का क्रुद्ध होकर शिलाओं को काटने लगना, उछलने के साथ ही असंख्य पुष्पवृक्षों से झरे हुए अपार फूलों की घनी बौछार का हनुमान के शरीर को ढक लेना आदि ऐसे चित्र है जिनमें मन तल्लीन हो जाता है।[5] इससे कथानक की रोचकता और अलंकरण में भी वृद्धि होती है। महाकाव्य में प्रकृति-वर्णन और ऋतुवर्णन आदि का शास्त्रीय निर्देश मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही नियत किया गया था, परन्तु इस बात को उपदेशक कवि तुलसीदास ने महत्व नही दिया है। मानवीय जीवन के साथ प्रकृति का जो सहयोग है उसे तुलसीदास ने अनुभूति पूर्वक समझने की चेष्टा ही नही की है।

(ग) सर-सरिता और सागर

पम्पा सरोवर—

रामकथा से सम्बन्धित केवल एक ही मुख्य सरोवर 'पम्पा' है जहां राम, शबरी से बिदा लेने के बाद और सुग्रीव से मिलने से पूर्व, कुछ देर के लिये रुकते है। दोनों कवियों ने इस सरोवर का वर्णन किया है।

वाल्मीकि ने जिस प्रकार वन-वर्णन में वनस्पति-जगत और पक्षियों एवं कीट-पतंगों आदि के जीवन में प्रवेश किया है, और प्रकृति की वाह्य आकृति तथा

---

१. ५.५६.८—३२।

२. ४.६७ तथा ५.१।

३. ४.२७।

४ ५ ५६ ६—२०।

५ ५ १

आन्तरिक संवेदनों के चित्र प्रस्तुत किये है, जिस प्रकार पर्वत-वर्णन मे उन्होंने पर्वत का सजीव बनाने वाले निर्भरों, लतावृक्षो, पक्षियो और सर्पादि का वर्णन किया है, उसी प्रकार पम्पा सरोवर के निर्मल जल, उसमें प्रस्फुटित कमल, उसके तट पर घूमने वाले मृग-सर्प आदि, तथा लता-वृक्षों का वर्णन किया है जिससे पम्पा सर का मानस-साक्षात्कार किया जा सकता है।[1] इस वर्णनात्मक अंश के अतिरिक्त उन्होंने उद्दीपन विभाव की दृष्टि मे भी उसकी वसन्तश्री का निरूपण किया है जो राम के विरह को उत्प्रेरित करती है।[2] राम वनस्पति जगत और पशु-पक्षि-जगत के उल्लास से अपने विषाद की तुलना करते हुए और अधिक पीड़ित हो उठते हैं। वाल्मीकि की सूक्ष्मकल्पनाओ के नमूने भी इस स्थल पर दिखलाई पड़ते है और उनकी शैली मे अलकारिकता स्फीत हो उठी है। पम्पातटवर्ती वृक्षावली का परिगणनात्मक वर्णन भी उन्होने किया है (४.१.७६-८३)। कही कहीं वृक्षादिक की लम्बी सूची खटकती भी है और ऐसी परिगणनात्मक शैली की वाल्मीकि ने बार-बार आवृत्ति की है, क्योकि ये प्रकृति-परिवार के सदस्य उनके नित्य सहचर थे।

मानस का यह चित्र वाल्मीकि रामायण के समकक्ष रक्खा जा सकता है। तुलसी ने भी इस अवसर पर प्रकृति की शोभा को खुली आँखों से निरखने का प्रयत्न किया है, प्रकृति के प्रति उनकी सम्वेदनशीलता इस प्रकरण मे दिखलाई पड़ती है (अरण्य० ४०)। परन्तु उन्होने वाल्मीकि के समान इस शोभा को राम के विरहोद्दीपन की साधक नहीं बनाया है वरन् उनके प्रतप्त हृदय को विश्राम और शान्ति देने का साधन बनाया है :—

> देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जनु कीन्ह परम सुख पावा।।
> देखी सुन्दर तरुवर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया।।
>
> (अरण्य० ४१)

स्पष्ट है कि उनकी भक्तिभावना यहाँ भी कार्य कर रही है। पम्पा की शोभा की ओर उनकी दृष्टि अपने आराध्य की आवश्यकता का अनुभव करते हुए गई है और उनका विरहोद्दीपन कराने की अपेक्षा उन्होंने उनकी चित्तशान्ति का ही वर्णन किया है। अप्रस्तुत रूप मे नीति और दर्शन की चर्चा उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार यहा भी की है (अरण्य० ३९)। इस वर्णन में पम्पा की नैसर्गिक शोभा और प्रकृति के सुखदायक शीतल संस्पर्श का भी अनुभव होता है, यथेष्ट प्राकृतिक पदार्थों के उल्लेख से वातावरण में सजीवता और साकारता भी आ गई है, और साथ ही प्रकृतिगत सात्विकता और मानवजीवन गत सात्विकता को एक तुला पर रखने में भी कवि को अनुपम सफलता मिली है। तुलसीदास सहृदयतापूर्वक प्राकृतिक शोभा के प्रति जागरूक थे, प्रकृति ने उनकी कल्पना और भावना को अनुरंजित किया है, केवल

---

१. रा० ४.१।

२- अयं वसन्त' सौमित्रे नानाविहगनादित: ।
सीतया मम ४ १ २२)

अपने काव्य सम्बन्धी विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने प्रकृति की उपेक्षा की है और उसे अपने काव्य में यथेष्ट स्थान प्रदान नहीं किया है।

अरण्यकाण्ड मे जहाँ वाल्मीकि ने राम-लक्ष्मण-सम्वाद में हेमन्त का वर्णन किया है, वहाँ तुलसीदास ने दोनों भाइयों में दार्शनिक वार्ता कराई है। उसी प्रकार यहाँ पम्पा की सुरम्य तटी पर, अप्रस्तुत रूप में ही सही, दर्शन, भक्ति आदि की चर्चा से तृप्त होकर उन्होने इसके लिये नारद जी को बुला लिया है और यह प्राकृतिक रंगमच राम तथा नारद के मध्य धर्म और नीति की चर्चा के लिये उपयुक्त समझा गया है। अत. कहा जा सकता है कि यहाँ प्राकृतिक सुषमा जो आनन्द दे रही है वह तो अतिरिक्त लाभ (बाई प्राडक्ट) है। कथा के माध्यम से, प्राकृतिक चित्रों के माध्यम से, अलकारो के माध्यम से. सभी प्रकार मे उन्होंने मानस मे 'रामकथन' को ही समझाने का प्रयास किया है।

सरितायें—

सरिताओं में मानसकार ने गंगा, यमुना, तमसा, सई, सरयू, मन्दाकिनी और गोदावरी का उल्लेख किया है। घटनाक्रम से सम्बन्धित होने के कारण कथा मे इनकी चर्चा के बिना काम भी नहीं चल सकता था, परन्तु किसी भी नदी का सुन्दर और संश्लिष्ट चित्रण उन्होंने प्रस्तुत या प्रत्यक्ष रूप मे नहीं किया है। अप्रस्तुत रूप मे रूपक के आधार पर कैकेयी के कोप की सरिता[1] और चित्रकूट मे आए हुए जनक-समाज की करुणा-सरिता[2] का साक्षात चित्रात्मक वर्णन उन्होंने अवश्य किया है। प्रकृति को अप्रस्तुत रूप में तुलसीदास ने जितना स्थान दिया है उतना ही प्रस्तुत रूप मे भी दिया होता तो उनके काव्य में प्रकृतिचित्रण की कमी का इतना अनुभव न होता। गंगा का उल्लेख उन्होंने केवल पौराणिक दृष्टि से और राम की यात्रा से सम्बन्धित होने के कारण किया है, इसी प्रकार यमुना-तमसा-सई आदि का। हाँ, मन्दाकिनी की ओर वे चित्रकूट के सम्बन्ध से वास्तविक रूप मे कुछ आकृष्ट हुए है परन्तु रूपक में उलझ कर रह गये हैं या उसकी रम्यता की अपेक्षा 'पातक पोतक डाकिनि' (२.१३२) के रूप में उसकी धार्मिक उपादेयता ही देखने-दिखाने में लग गये हैं। वा० रामायण में गोदावरी सीता की सखी बन जाती है, उत्तर रामचरित मे तो 'वेत्रवती' का सख्य भाव और भी सजीव है, परन्तु मानस मे सीता-हरण हो जाता है और गोदावरी के कानो मे भनक तक नहीं पडती। मानस की इस निर्जीव गोदावरी से रामायण की सजीव गोदावरी की, जिसकी धार रावण को आते देख अपनी सखी के अनिष्ट की आशका और आततायी के आतक से मन्द पड़ गई है,[3] जिसे सीता चलते-चलते पुकारती है[4]—तुलना करने पर दोनो कवियो के प्रकृतिविषयक दृष्टिकोण और चित्रण

१. मा० २.३४.१-४।

२. मा० २.२७५ दो०।

३. स्तिमितं गन्तुमारेभेभयाद गोदावरी नदी—रा० ३.४६.८।

४. रा० ३.४६.३२

के स्तर का अन्तर सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। वाल्मीकि रामायण में ये सरिता, सागर, पर्वत और वनस्पतियां घटनाओं मे भाग लेती हुई प्रतीत होती हैं, परन्तु मानस मे प्रकृति जड ही रही है, कहीं भी सजीव नही बन सकी है। विरह में राम के द्वारा 'खग-मृग-मधुकर स्रे नी' को सम्बोधित करवा कर जड-चेतन का भेद भुला देने वाली उन्मादमयी अवस्था का परिचय देते हुए गो० तुलसीदास एक काव्यरीति का पालन तो करवा देते है परन्तु प्रकृति और मानव की समकक्षता का अनुभव वे नही कर सके है।

मानस मे गगा का महत्व राम को पार उतार कर बड़भागिनी बनने के कारण, सरयू का अयोध्या तट पर प्रवाहित होने के कारण और मन्दाकिनि का रामगिरि के समीप होने के कारण है, जब कि वाल्मीकि रामायण में गंगा का सुरम्य प्राकृतिक चित्र दिखलाई पड़ता है। अयोध्यातट पर सरयू का कलनाद सुनाई पडता है, यमुना को राम और लक्ष्मण अपने हाथ से बाँस का बेड़ा बना कर पार करते है,[1] राम के बनमार्ग की अन्यान्य नदियां,—स्यन्दिका, वेदश्रुति, गोमती,—आदि भी यात्रा-पथ पर क्षणिक चिह्न अवश्य बना जाती है,[2] गोदावरी के दक्षिण की अनेक नदियो की टोली भी रम्य रमणियों के समान अपने आंचल का छोर फहरा जाती है—कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताम्रपर्णी इत्यादि। इस प्रकार प्राचीन भारत की सरित्-सम्पदा का व्यापक दर्शन रामायण में होता है, उसमें नदियों के नामों की सख्या ही अधिक नही है अपितु उनके रूप और हृदय का परिचय भी अधिक दिया गया है। तमसा तो राम के एक विश्राम की कहानी के अतिरिक्त क्रौंच-कथा और शोक-श्लोक के रूप मे काव्य-देवी के रहस्यमय आविर्भाव की कौतुक-कथा भी कहती है। क्या हम मानस की सरिताओं के साथ इस प्रकार तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं ? नहीं।

सागर—

सागर का वर्णन भी मानस मे तुलसी की अपने प्रति अन्यमनस्कता की गाथा ही सुनाता है। वाल्मीकि को आकाश और सागर[3] के भव्य-विराट् चित्र बार-बार आकृष्ट करते है, मानों इनके रूप में विराट् पुरुष की पलकों के भीतर झांक लेने, परम पुरुष के निमेष को निहार लेने, का प्रयत्न वे करते हैं। समुद्र की लहरें आकाश को छूती है और आकाश का तरल तारकदल लहरों पर उतर कर थिरकता है। ये है महाकाव्य के अनुकूल भव्य और अनन्त प्राकृतिक दृश्य! मानस महाकाव्य है, अन्य कारणों से, परन्तु जहां तक प्राकृतिक चित्रण का प्रश्न है उसमें एक भी चित्र महाकाव्य के विशाल मंच के उपयुक्त दिखलाई नहीं पड़ता।

वाल्मीकि रामायण में हनुमत्प्लवन के समय सागर मानो उठ कर खडा

१. रा० २.५५.१४-१६।

२. रा० २.४९.१०-१२

३. रा० ५.१

हो गया है। उसमें सागर-वर्णन दो अवसरों पर चित्रात्मक शैली में किया गया है, हनुमत्प्लवन के अवसर पर और सेतु द्वारा पयोधि पार करने के समय। मानस में भी कथा के नाते ये दोनों अवसर उपस्थित हुए है, परन्तु उनमें कथा की आवश्यकता ही पूरी हुई है प्रकृति का चित्रण नहीं हुआ है। रामायण मे कपि-केशरी के सागरोल्लंघन के समय महेन्द्राचल की अतोल वानस्पतिक पुष्प-सम्पदा से आच्छादित जलधि मानो पुष्प-शय्या ही बन जाता है अथवा नक्षत्रों से समाकुल आकाशवत् प्रतीत होने लगता है। हनुमान के नीचे का समुद्र-भाग मानो इस महामल्ल के महाभार से खलबला उठता है जो उसकी लहरों को धकेलता हुआ अदम्य प्राकृतिक शक्ति के समान आगे बढ़ा जा रहा है (५.१.६९)। हनुमान के वेग और मेघों से उत्पन्न वायु का महा-निनाद ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्माण्ड के चीरे जाने का शब्द रोदसी में भर उठा हो, और आकाश और भूमि को बीच से चीरते हुए पवनपुत्र मानो अपने वेग से उठाई हुई लहरों को गिनते से चले जा रहे हों (वही, ७२)। उस समय समुद्र एक सम्पुट के समान ही (द्रोणीकृत इवार्णवः) प्रतीत होता था (वही, ८०)। कभी बादलो मे छिपते और कभी उन्हे चीर कर बाहर निकलते हुए हनुमान देवगंधर्व-चारणों का साधुवाद सुनते जा रहे थे। सूर्य ने अपना ताप कम कर दिया था, पवन ने अपनीगति मद कर दो थी, और निखिल प्रकृति मानो आशीर्वाद की वर्षा ही कर रही थी।

(घ) आकाश, दिनरात, प्रहर तथा ऋतुएँ

आकाश—

महाकाव्य की भव्यता के विधान मे अनन्त क्षितिजव्यापी, मेघ-चित्रों से अंकित, भास्कर से ज्योतित, और निशाकर की चन्द्रिका से चर्चित, तारा-समाकुल आकाश या धरती की 'छत' का विशेष हाथ है। वाल्मीकि ने प्रायः आकाश और सागर को एक पलक में, एक साथ, देखा है:—

सागर चाम्बरप्रख्यमम्बर सागरोपमम्।
सागरं चाम्बरं चेति निर्विशेषमदृश्यत ॥ (६.४.१२०)

तुलसी मे न सागर की विराटता के चित्र है और आकाश की।

दिन-रात और प्रहर—

प्रभात और सायंकाल के दृश्य दोनो ही काव्यों में हैं। वाल्मीकि रामायण मे उनकी संख्या भी अधिक है और उनका सौन्दर्यात्मक वर्णन भी। इसी प्रकार सन्ध्या की अद्भुत शान्ति इन पंक्तियों में अनुभव होती है:—

निस्पन्दास्तरवस्सर्वे निलीना मृगपक्षिणः।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनंदन ॥ (बाल० ३४.१५)

सन्ध्या की विश्रामपूर्णता का एक और चित्र देखिए :—

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पकजैः।
विकसन्त्या च गतोऽस्त भ्रायते रवि किष्किधा०)

विहगों का नीड़-गमन, पंकजों का निमीलन, और मालती का विकास सूर्यास्त के सूचक है। कवि ने प्रहरो के चित्रण में प्रकृति की दिनचर्या, उसकी सक्रियता आदि का चित्रण कर उसमें सजीवता उत्पन्न की है। रंग-विरंगे मेघों से सन्ध्या की चित्रमयता और रंगों के प्रति ऋषि वाल्मीकि का आकर्षण इस संक्षिप्त चित्र मे देखिये :—

ततोऽस्तमगमत्सूर्यः सन्ध्यया प्रतिरंजितः। (६.३८.१८)

'प्रतिरंजितः' मे कवि का सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण और प्राकृतिक शोभा के प्रति उसका ऐन्द्रिय उल्लास सूचित है।

दोनों कवियों के प्रकृतिचित्रण की तुलना करने पर यह विचित्र विषमता दिखलाई पड़ती है कि एक ओर वनवासी ऋषि वाल्मीकि ने प्रकृति के ऐसे राजस चित्र उपस्थित किये हैं जो किसी राजकवि के लिये भी असंभव और कल्पनातीत थे और दूसरी ओर नगरवासी कवि तुलसीदास ने विलास और विभूति से ऐसी तटस्थता दिखलाई है मानो वे जीवन भर सन्यासी रहे हों। नाना पुराण निगमागम से जितना सार लेकर उन्होंने मानस का भण्डार भरा है यदि उससे आधा-चौथाई भी प्रकृति के मुक्त क्षेत्र से लेकर भरते तो उनका काव्य कलात्मकता की दृष्टि से भी उतना ही ऊँचा उठ जाता जितना नैतिकता और धार्मिकता की दृष्टि से उठा हुआ है।

वाल्मीकि ने भी प्रकृति में ईश्वर की विभूति देखी है, जो मानव के उपभोग के लिये बिखरी पड़ी है, परन्तु तुलसी ने उसमें केवल राम की विभूति और उनका प्रताप ही देखा है जिसकी हम पूजा कर सकते हैं, उपभोग नहीं। इसीलिये पूजार्ह प्रभात के वर्णन ही उन्होंने अधिक किये है। सूर्योदय केवल राम के भक्तों के लिये भगवद्भक्ति का पाठ पढ़ाने आता है :—

कवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह दिखाया॥
(१.२३९.५)

उसकी अपनी स्वतन्त्र प्राकृतिक शोभा नही है। कथात्मक दृष्टि से इसकी यह उपयोगिता हुई कि राम का प्रताप देखकर राजा लोग निरुत्साहित हो गये और धनुर्भङ्ग का श्रेय राम को प्राप्त होने की सभावना प्रकट हो गई। इसी प्रकार राम के वन-प्रस्थान के प्रभात का उल्लेख करते हुए कवि कहता है:—

उदय होहु जनि रवि रघुकुल गुर। अवध विलोकि सूल होइहि उर॥
(२.३७.३)

कथा-प्रसंग की दृष्टि से ही वह उगते हुए सूर्य की ओर निहारता है। उत्तरकाण्ड मे कवि ने सूर्योदय को उपमान बनाकर राम के प्रताप का वर्णन किया है और 'राम-प्रताप-दिनेसा' का रूपक बांधा है (७.३१)। आशय यह कि सूर्योदय के सहारे सूर्य-वश का प्रताप वर्णन करन का अवसर गोस्वामी जी को मिलता रहा है इसीलिये उन्होंने उसका समावेश अपन काव्य में किया है प्राकृतिक चित्रण के लिये नहीं

दिन और रात के प्रहरों में अधिकांशत: साय-प्रभात का ही वर्णन हुआ है। वाल्मीकि ने हनुमान के अंत:पुर-दर्शन का वर्णन निशीथकाल के सन्नाटे में किया है जिससे कथा में साहसिक-सिहरन (रोमांटिक एडवेंचर) अनुभव होती है। तुलसीदास ने राम के जन्म के समय मध्याह्न का उल्लेख किया है, जिससे वसन्त की सुहानी दोपहरी का सुखद स्पर्श अनुभव होता है :—

मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन मन चाऊ॥
(बाल० १९१)

यहां भी प्रकृति में सुखदता का कारण राम के जन्म की वेला है न कि वसन्त की निजी सुखदता।

ऋतु-वर्णन—

कालिदास का 'ऋतु संहार' कदाचित् षट्‌ऋतु-वर्णन की परम्परा का प्रथम ग्रंथ है, यद्यपि उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। विद्वानों का विचार है कि यह परम्परा कालिदास को आदि काव्य से ही मिली।[1] आदिकवि ने वसन्त, वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुओं के अत्यन्त सुन्दर और सुविस्तृत वर्णन किये हैं और तुलसी ने भी वसन्त, वर्षा और शरद के वर्णन किये है, निदाघ और शिशिर जैसी तीव्र ऋतुओं की दोनों ही कवियो ने उपेक्षा की है।

वसन्त ऋतु तुलसी को विशेष प्रिय है, इसलिये नहीं कि वह कवियों की प्रिय ऋतु है वरन् इसलिये कि राम-जन्म की ऋतु है—'नौमी तिथि मधुमास पुनीता।'[2] इसी ऋतु मे (और राम-जन्म की ही तिथि पर) उन्होंने अपनी यह महती रचना आरम्भ की थी।[3] राम के राज्य में तो यही ऋतु सदैव रहती थी (उत्तर० २३.१)। राम और सीता का पूर्वराग इसी ऋतु मे पल्लवित हुआ और विवाह हुआ।[4] राम के विरहवर्णन के अवसर पर भी इसी ऋतु को काम-कटक के रूप मे सामने लाया गया है। इसका विस्तृत वर्णन इसी अवसर पर हुआ है परन्तु वसन्त की सारी शोभा रूपक के रौप्यपिंजर में छटपटाती सी लगती है। इसके बाद किष्किंधाकाण्ड मे वर्षा के वर्णन में एक ही पंक्ति, 'घन घमंड गरजत नभ घोरा—प्रिया हीन डरपत मन मोरा.' उद्दीपन विभाव की दृष्टि मे कही गई है, शेष वर्णन नीति-कथन की दृष्टि से किया गया है। इस नीतिपरक वर्षा-वर्णन में वर्षा का प्राकृतिक उल्लास और धर्मचर्चा का आध्यात्मिक रस एक साथ अनुभव नहीं किये जा सकते। शरद ऋतु के भी यही बात है। एक स्थल पर छहों ऋतुओं का अप्रस्तुत रूप मे उल्लेख

---

१. स्टडीज इन रामायण, भाग १, पृ० १३२।
२. मा० १.१९१.१।
३. नौमी भौम बार मधुमासा १.३४.६।
४ भूप बाग बर देखेउ जाई। जहं बसंत रितु रही लोभाई मा० १ २२७ ३
५ मा० ३ ३७ तथा ३८

तुलसीदास ने एक साथ ही कर डाला है और नारी के शरीर को उन्होंने छहों ऋतुओं का भण्डार बना दिया है।[1] दूसरी ओर वाल्मीकि ने ऋतु-वर्णन में प्रत्येक ऋतु के प्राकृतिक दृश्यों के परिवर्तन, वनस्पतियों और अनाज के खेतों की नई शोभा, मनुष्यों की दिनचर्या में होने वाली हेरफेर, पशु-पक्षियों आदि की क्रीडाओं और क्रियाओं में अन्तर, तन और मन पर विभिन्न प्रभावों आदि का अंकन किया है। वसन्त ऋतु फूलों की है और शरद ऋतु कमलों की, वर्षा के बादल और हेमन्त की धूप सुहानी लगती है, वसन्त में वनश्री का उत्कर्ष होता है, लता-वृक्षों का गौरव बढ़ जाता है और शरद में सरोवर-श्री का उत्कर्ष होता है, पुष्करिणियाँ गर्व से झूम उठती है, वर्षा मयूरों को आनन्द देती है तो शरद बकों और हंसों को। इस प्रकार के सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण वाल्मीकि ने किये है, तुलसी ने नही। ऋतुओं की विभूति प्रकृति के मुक्त प्रांगण मे, वनो, आश्रमों और खेतों में दिखलाई पड़ती है, मठों और मन्दिरों में नहीं, और सम्प्रदाय विशेष की सीमाओं से घिरे तीर्थ-स्थानों में भी नहीं। अतः आश्रमवासी ऋषि ने प्रत्यक्ष दर्शन और स्वानुभूति के आधार पर ऋतुओं की रंगशाला के रंगीन, गत्यात्मक, जीवन की स्फूर्ति से भरपूर, और समस्त इन्द्रियों का स्पर्श कर आंदोलित एवं सक्रिय बनाने वाले चित्र अंकित किये है। वर्षा के शीतल सरस समीर के प्रति प्रतप्त मानव हृदय की ललक का एक चित्र देखिये :—

मेघोदर विनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकिगन्धिनः ॥ (४.२८-८)

वायु को अंजलि से पी लेने की कल्पना कितनी अनोखी, कितनी वास्तविक और कैसी ऐन्द्रयिक आकुलता को व्यक्त करने वाली है !

वा० रामायण में उक्त चार ऋतुओं में से हेमन्त वर्णन विशुद्ध प्राकृतिक निरूपण की दृष्टि से किया गया है, जिसमें राम के वनवासी जीवन की, विशेषकर हेमन्त-कालीन कष्टप्रद तपस्वी जीवन की, झांकी प्राप्त होती है। शेष तीन ऋतुओं में कवि ने प्रकृति की पीठिका पर विरही राम की मनस्थिति के सूक्ष्म चित्र अंकित किये है। वसन्त ऋतु 'प्रचुर मन्मथः कालः', (४.१.१०) है और विरही राम उसके दृश्यों को "मम मन्मथवर्धनाः" कहते है। जो दृश्य पहले आनन्ददायी थे वे अब नेत्र-कण्टक बन गये है :—

यानिस्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया बिना ॥ ४.१.७०

वर्षाकाल में मयूर-मयूरी, हरिण-हरिणी, कारण्डव-कारण्डवी और शरत्काल मे हंस-हंसी अथवा चकवा-चकवी के युग्म देखकर राम भी विरहविह्वल हो उठते हैं। इस समय उन्हें समस्त प्रकृति ही कामपीड़ित दिखलाई पड़ती है, आकाश भी कामातुर प्रतीत होता है (कामातुरमिवाम्बरम्—४.२८.६)। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों में उन्हें

1 मा० १४४

सीता की प्रतिच्छवि दिखलाई पड़ती है, कमल उसके नेत्रों का और हंस उसके कण्ठ का स्मरण कराते हैं। वर्षाकाल में उन्हे पृथ्वी सीता की तरह आँसू गिराती हुई दिखलाई पड़ती है (४.२८.७) और काले मेघों में दमकती दामिनी उन्हें रावण के अङ्क मे छटपटाती हुई वैदेही का स्मरण करा देती है—

नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी ॥ (४.२८.१२)

वाल्मीकि के ये ऋतु-वर्णन सङ्गीतमय चित्र से प्रतीत होते हैं, मानों कि प्रकृति के मंच पर नवीन ऋतु के प्रवेश के साथ पट-परिवर्तन सा होता है और नया राग छिड जाता है। कवि की भावुकता के साथ उसके काव्य में अलंकरण और संगीतमयता की वृद्धि भी इन नाटकीय संगीतमय चित्रों में दिखलाई पड़ती है। उसकी कल्पना ऐसे अवसरों पर विशेष प्रखर और चंचल दिखलाई पडती है, दृश्यों का चित्रण करते समय अनुप्रासों की मुक्तामाल बन जाती है, उपमा-दीपक-रूपकों के रत्न जगमगा उठते है और न केवल राम मन्मथ-पीड़ित होते हैं परन्तु यह आश्रम वासी ऋषि भी अतीव भावुक बन उठता है। शरद्ऋतु का यह चित्र देखिये—

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसंगम सव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ (४.३०.२८)

ऐसे स्थलो की अतिशय अलंकरणशीलता और अतीव भावप्रवणता देखते हुए इनकी प्रामाणिकता मे संदेह किया जा सकता है परन्तु वाल्मीकि की यथार्थवादी दृष्टि को देखते हुए उन्हे सर्वथा संदिग्ध नहीं मानना चाहिये। ऐसे उदाहरण और भी हैं।[1] अतः सर्वथा प्रामाणिक अंशों के आधार पर भी वाल्मीकि का सरस प्रकृति-वर्णन और ऋतुओं के आगम पर उनके कवि हृदय की सहज थिरकन का अनुभव किया जा सकता है।

दोनो ही कवियों ने ऋतुचक्र में से ग्रीष्म और शिशिर को छोड़ दिया है क्योंकि इनमें अधिक ताप और अधिक शीत से प्राकृतिक शोभा नष्टप्राय हो जाती है और कवि के लिये कुछ वर्णनीय नहीं रह जाता। आदिकाव्य मे अङ्कित ये ऋतुचित्र आज तक भारतीय काव्य की ऋतुवर्णन परम्परा के उदाहरण बने हुए हैं। रामचरितमानस का कवि भी इन रमणीय ऋतुओं के आन्तरिक स्पर्श से अछूता नही रहा है,—'घनघमंड-गर्जन' बिरही राम का भयवर्धन करता है (४.१४.१), सुहाना वसन्त भी मन में भय उपजाता है (३.३७), सुन्दर खगगन अपनी गिरा से चलते पथिकों को मानो पुकार-पुकार लेते है (३.४०),—परन्तु उस कवि ने अलकृत साहित्य या लौकिक संस्कृत साहित्य की प्रकृतिवर्णन-परम्परा को कम अपना कर, अधिकांशतः नीतिसाहित्य में पल्लवित हुई प्रकृति-वर्णन की परम्परा को ही अपनाया है, जिसके अनुसार प्रकृति मानव में ऐन्द्रिय स्फुरण, रोमांच-पुलक आदि नहीं जगाती वरन् उसे मनन-चिन्तन और भजन की ओर प्रवृत्त करती है। उसमें श्रीमद्भागवत और नीतिशतक का अनुकरण है. कालिदास

१ अन्य ४, ३०, ४६ (सन्ध्या-अभिसारिणी) तथा ५ १ (रावण का अन्त पुर)

भवभूति और माघ का नहीं।

कथानक की समानता की दृष्टि से यह बात दर्शनीय है कि दोनो काव्यो मे किष्किधाकाण्ड ही ऋतुवर्णन का काण्ड है। वाल्मीकि ने वसन्त, वर्षा और शरद का तथा तुलसी ने वर्षा और शरद का वर्णन इसी काण्ड में किया है। इससे दोनों काव्यो मे कथायोजना का सादृश्य प्रकट होता है।

वाल्मीकि रामायण मे प्रकृति के विराट् और विशाल, सूक्ष्म और सुकुमार, कोमल और कठोर, स्निग्ध और कर्कश, नैसर्गिक और कृत्रिम, सहज और चमत्कारिक, सभी प्रकार के चित्र देखने को मिलते है। उसके बाद ये चित्र इतनी सख्या और इतने विस्तार के साथ किसी परवर्ती रचना में दिखलाई नहीं पड़ते। यही कारण है कि अन्य अनेक दृष्टियों के समान प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से भी 'महाकाव्य' शब्द केवल रामायण और महाभारत के लिये ही सीमित हो गया है। वा० रामायण में प्रत्येक काव्यतत्व महाकाव्य की महिमा से मंडित है—क्या छन्द-विधान, क्या अलंकार, क्या घटनाचक्र, क्या चरित्रचित्रण और क्या प्रकृति-चित्रण। महाकाव्य की ऐसी विराट् चेतना मानस में नहीं है, उसका प्रकृति-चित्रण तो महाकाव्य की दृष्टि से बहुत साधारण है।

लक्षण ग्रन्थों में निर्दिष्ट महाकाव्योचित प्रकृति-वर्णन के सभी प्रकार वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्टतया अनुभव होता है कि रामायण के प्रकृति चित्रण को देखकर ही साहित्यशास्त्रियों ने वे नियम निर्धारित किये होंगे। मानस मे भी इन निर्देशों की पूर्ति तो हुई है, परन्तु उसके प्रकृति चित्रण में रमणीयता कम है और उपदेश अधिक।

(२) प्रकृति का अलंकाराश्रित चित्रण

कवि अपने वर्ण्य विषय के अलंकरण के लिये भी प्रकृति का आश्रय लेते है। यो तो रामायण और मानस का वर्ण्य विषय रामकथा होने के कारण उसमें जितना प्रकृति-वर्णन है वह रामकथा की सौन्दर्यवृद्धि के विचार से अलंकाराश्रित ही माना जा सकता है, परन्तु यहां हमारा आशय उपमान या अप्रस्तुत विधान के रूप में प्रकृति के प्रयोग से है, जो कि प्रधानतया सादृश्य मूलक अलंकारों में किया जाता है। रामायण और मानस के अलंकारों पर विचार करते समय, विशेष कर उपमा और रूपक के प्रसंग में, इसकी कुछ चर्चा आगे भी की जायेगी, परन्तु यहां दोनों कवियो के प्रकृति-पर्य्यवेक्षण की तुलना के लिये भी इस पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

दोनों कवियों ने प्रस्तुत विषय के प्रभावशाली मार्मिक वर्णन के लिये उपमानो का चयन लोक-जीवन, समाज, प्रकृति, शास्त्र, वेद, पुराण, राजनीति, ज्योतिष, दर्शन, सगीत गणित वैद्यक मार्केट और भी न जाने कितने क्षेत्रो से किया है इन अप्रस्तुत विषयों में प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है प्रकृति से चयन किये गये उपमानों में

से कुछ तो दोनों में समान हैं जैसे कमल, चन्द्रमा, सागर, सरिता आदि, और कुछ दोनों की पृथक रुचि और देशकाल के भेद के परिचायक है। तुलसी के प्रकृति-पर्य्यवेक्षण का पता इन उपमानों से ही चलता है और उन्होंने प्रस्तुत रूप में प्रकृति वर्णन की कमी बहुत कुछ अप्रस्तुत रूप में पूरी कर दी है। सरिता-संगम से अकुलाता हुआ समुद्र[1], बाढ़ में उफनती नदी[2], कांपते हुए पीपल-पात[3] और करुण स्वर करती हुई कुररी[4] आदि के द्वारा उन्होंने जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और मनस्थितियों का चित्रात्मक परिचय कराया है। उनके उपमा और रूपक प्रकृति की सम्पदा से भरे पडे हैं, जिसे लक्ष्य करते हुए ही डा० ग्रियर्सन ने कहा है—

"ही ड्रा हिज सिमिलीज डायरेक्ट फ्राम दि बुक आफ नेचर।"[5]

प्रस्तुत-विधान अर्थात् उपमान-योजना मे कवि प्रकृति-पर्य्यवेक्षण का सहयोग दो रूपों में लेता है—मानव-आकृति के चित्रण में और मानव-प्रकृति अर्थात् उसके स्वभाव और मानसिक दशाओं के वर्णन मे। इन्ही दो वर्गो के आधार पर हम दोनों कवियो के अलंकाराश्रित प्रकृति-वर्णन पर विचार करेंगे।

(क) मानव-आकृति के चित्रण में प्रकृति का सहयोग

प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों के सहयोग से स्त्री-पुरुष के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन प्राचीनतम साहित्य से होता आया है। इसका प्रारम्भिक विकसित रूप आदि काव्य मे दिखलाई पडता है। इसी के आधार पर नख-शिख निरूपण की परम्परा का विकास हुआ। नखशिख निरूपण की यह प्रवृत्ति वाल्मीकि से ही आरम्भ हो चुकी थी और मानसकार को चिरप्रचलित काव्य परम्परा के रूप मे प्राप्त हुई है।

कमल और चन्द्रमा

कमल और चन्द्रमा इस देश के सबसे पुरातन और सबसे अधिक लोकप्रिय उपमान है। कमल इस देश का आद्य अर्चना-प्रसून और राष्ट्रीय पुष्प है और चन्द्रमा तो मानवमात्र के आनन्दमय कौतूहल का सनातन आलम्बन है ही। भारतवर्ष में उसका सौंदर्य पूर्णिमा और शरद ऋतु मे विशेष आह्लादवर्धक होता है। "पद्मपत्रनिभेक्षण" और "चन्द्रमुख" वाल्मीकि रामायण से आज तक अत्यन्त लोकप्रिय अलंकारिक प्रयोग बने हुए है। समस्त भारतीय साहित्य में ये उपमान रूढ हो गये हैं। इन दोनों ही

१. आश्रम उदधि मिली जब जाई।
मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई॥ मा० २ २७६.६
२. अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी।
मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ मा० २.३४.१
३. अस मन गुनइ राउ नहिं बोला।
पीपर पात सरिस मनु डोला॥ मा० २.४५.३
४. लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।
बिलपति अति कुररी की नाइँ मा० ३ ११ ३
५ माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आफ हिन्दुस्तान पृ० ४६

कवियों ने भी इन्हीं दोनों उपमानों को सबसे अधिक महत्व दिया है।[1] चन्द्रमा का राम की आकृति और प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनमें चन्द्रमा की शोभा और शीतलता दोनो ही है। "राम" के साथ "चन्द्र" शब्द की योजना इसी कारण हुई है, अर्थात् पहले "चन्द्र" राम का उपमान था, बाद में वह उपमेय के साथ जुड़ कर एक ही नाम बन गया।[2] कमल यद्यपि वा० रामायण में भी बहुप्रयुक्त उपमान है, परन्तु पौराणिक युग में सरस्वती, लक्ष्मी, ब्रह्मा और विष्णु के साथ इसका घनिष्ट सम्बन्ध[3] हो जाने के कारण मानस तथा भक्तिकालीन साहित्य में इसका प्रयोग बहुत अधिक बढ़ गया।

इन दोनों उपमानों का प्रयोग अधिकांशत: मुखमंडल का सौन्दर्य बतलाने के लिये किया गया है। तुलसी ने अपने काव्य मे विशेषत: राम और सीता के लिये ही इनका प्रयोग किया है। वाल्मीकि ने रावण की स्त्रियों के मुख के लिये भी कमल की उपमा दी है (सुन्दर० ९.३९)। उनके काव्य में अन्य अवसरों पर भी चन्द्र और कमल का आश्रय लिया गया है, जैसे "कमलपत्राक्षी पूर्णेन्दु सदृशानना" (५.१०.४८), परन्तु तुलसी की भक्तिभावना ने इन्हें अधिकतर राम और सीता के लिये ही सुरक्षित रक्खा है। राक्षस-पक्ष में उन्हें एक भी 'चन्द्रमुखी' या 'कमलनयनी' दिखलाई नहीं पड़ी है। तुलसी का पक्षपात और उनकी भक्तिभावना उनकी काव्यशैली में कितनी गहराई तक बैठी हुई है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है। कमल का तो उन्होंने राम के साथ इतना तादात्म्य कर दिया है कि उनके शरीर के किसी भी अवयव की कल्पना वे जितनी सुलभता से कमल को सामने रखकर कर सकते हैं उतनी किसी अन्य पदार्थ को रख कर नहीं। उनकी यह प्रवृत्ति विनयपत्रिका के निम्नलिखित पद में देखिये, जिसमें शरीर के समस्त अवयवों की तुलना केवल कमल से की गई है :—

नवकंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुणम्। (पद ४५, वि० हरि टीका)

१. भारतीय कवि की इस प्रवृत्ति के विषय में निम्नलिखित विचार देखिये—

"He is never tired of describing the lotus which is the National flower of India When he sees a beautiful woman's face his imagination runs atonce to the moon or the Lotus."—Studies in Ramayana. P. 130.

कमल को राष्ट्रीय पुष्प की उपाधि से विभूषित करना भी उचित ही है। यह सर्वविदित है कि १८५७ की क्रान्ति में कमल और रोटी के द्वारा सर्वत्र क्रान्ति का संकेत प्रसारित किया गया था। भारतीय साहित्य में इसके अलंकारिक प्रयोग की व्यापकता भी इसकी राष्ट्रीयता का प्रमाण है। अशोक स्तम्भ और आज की हमारी राजमुद्रा में भी कमल का अधिष्ठान उसके राष्ट्रीय गौरव का सूचक है।

२. रामकथा, बुल्के पृ० १३।

३. कमल लक्ष्मी का निवासस्थान माना जाता है और विष्णु की नाभि के कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी जाती है सरस्वती का सम्बन्ध ब्रह्मा से होने के कारण कमल से भी उसका सम्बन्ध स्वत सिद्ध है

इसी को काव्यरूढि कहते हैं। वा० रामायण में भी कमल को उपमान रूप में एक ही स्थान पर बार बार प्रयुक्त किया गया है—

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिश्वासमुत्तमम् ।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ (२.६१.८)

इस प्रकार वा० रामायण में भी कमल एक बहुप्रयुक्त उपमान अवश्य है, परन्तु परवर्ती काव्य मे वह रूढ हो गया है जिसका विशेष प्रमाण मानस में प्राप्त होता है।

मानवीय आकृति के उपमान रूप में प्रयुक्त अन्य प्राकृतिक पदार्थ—

नखशिख-निरूपण का सम्बन्ध यद्यपि बाद में नायिका-भेद के साथ सीमित हो गया परन्तु वा० रामायण में भी यह प्रवृत्ति अनुपलब्ध नही है, और मानस में परम्परा से प्राप्त है ही। सीता की वेणी के लिये वाल्मीकि ने बार-बार नागिन की उपमा दी है और यह उपमान तभी से रूढ़ हो गया है (दे० ५.२५.६ तथा ५.१५.२५)। 'नारी' सीता की ही नहीं, 'नर' राम की भी नखशिख-छवि का वर्णन दोनों कवियों ने किया है और उसके लिये प्राकृतिक उपमानो का प्रयोग किया है। तुलसी ने राम का नखशिख वर्णन काव्यशास्त्रीय पद्धति पर किया है और उसके लिये प्राय. रूढ या साप्रदायिक उपमानों का ही प्रयोग किया है जैसे शरीर की श्यामता के लिये नीलाम्वुज, नील वारिद या केकीकठ, मुख के लिये शरद-विधु, नेत्रों के लिये नवल राजीव, कानो के लिये सीपी, कुण्डल के लिये मकर, कठ के लिये शख इत्यादि।[1] नखशिख-वर्णन के लिये ऐसे उपमान सीधे प्रकृति से गृहीत न होकर पोथियों से ही गृहीत हुए हैं और बीच-बीच में "रेख कुलिस ध्वज अकुस" से चित्रित चरण की चर्चा पौराणिकता का पुट देती हुई यह सिद्ध कर देती है कि नखशिखनिरूपण के समय तुलसी की दृष्टि प्रकृति के प्रागण से हटकर पोथियों और पुराणो की चहारदीवारी में भी भटकने लगती है। नीलिमा के प्रति अत्यधिक आग्रह भी साप्रदायिकता का स्पष्ट प्रमाण है—

नील सरोरुह, नीलमणि, नीलनीरधर स्याम ॥ (बाल० १४६)

सीताहरण के समय भी रूपकातिशयोक्ति की माला में रूढ़ उपमानों के मनके पिरो दिये गये हैं—

खंजन, सुक, कपोत मृगमीना। मधुप, निकर, कोकिला-प्रबीना ॥
कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरदससि, अहिभामिनी ॥
बरुन पास, मनोजधनु, हंसा। गज, केहरि, निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल, कनक कदलि.................................... (अरण्य० ३०)

वा० रामायण मे राम भी इसी प्रकार प्रकृति में सीता का दर्शन करते हैं।[2] वाल्मीकि के उपमान सीधे प्रकृति से आये हैं, इनमें बासीपन नहीं है। सुन्दरकाण्ड मे हनुमान के द्वारा देखे गये सोते हुए रावण की मुद्रा और शरीर का यह चित्र

१ दे० बाल० १४७ और १९९
२ २.६० १२ २५ तथा ३६ —५

देखिये—

माषराशिप्रतीकाशं नि:श्वसन्तं भुजंगवत् ।
गांगे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुंजरम् ।। (५.१०.२८)

धवल आस्तरण पर पड़ी हुई विशाल काया के लिये गंगा के निर्मल नीर में लोटते हुए कुंजर की, और स्थूल कृष्ण-काया के लिए उर्दों के ढेर की उपमायें कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति के साथ उसके प्रतिपल के साहचर्य को प्रकट करती हैं ।

महाकाव्य की आवश्यकता के अनुरूप प्रकृतिवर्णन मे वाल्मीकि के सामने जिस प्रकार सारा भूगोल, खगोल और दिग्मंडल नाच उठता है उसी प्रकार पात्रो की रूपाकृति और मुद्राओं के चित्रण मे भी । तुलसी की दृष्टि अलंकाराश्रित प्रकृति-वर्णन मे भी उतनी व्यापक नही है जितनी कि वाल्मीकि की । उनका नखशिख निरूपण तो बहुत कुछ परम्परागत है परन्तु उसके बाहर जब विभिन्न अवसरों पर स्फुट रूप मे उन्होंने कहीं-कही अपने पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं, मुद्राओं और स्थितियों का वर्णन किया है तब उनमें अवश्य उनका प्रकृति-निरीक्षण झलकता है । उदाहरण के लिये—

(अ) घायल बीर बिराजत कैसे । कुसुमित किंसुक के तरु जैसे ।। (६.५४)
(आ) सबल जुगल दल समबल जोधा । कौतुक करत लरत करि क्रोधा ।।
प्रावृट् सरद पयोद घनेरे । लरत मनहुं मारुत के प्रेरे ।। (६.४६)
(इ) लता भवन ते प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाय ।। (१.२३२)

क्षतविक्षत वानरों के लम्बे-चौड़े शरीरों के लिये फूलों से लदे हुए टेसू के वृक्षों की, और लता-जाल के लिये मेघोंकी उपमाये रूप-साहृश्य के सुन्दर उदाहरण है और कवि के प्राकृतिक निरीक्षण को प्रकट करते हैं ।

इस प्रकार के रमणीय और स्वाभाविक प्राकृतिक उपमान तुलसी में पर्याप्त है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने प्रकृति-पर्य्यवेक्षण का वास्तविक उपयोग अप्रस्तुत विधान में किया है । प्रस्तुत रूप मे तो उन्होने प्रकृति की अवहेलना ही की है ।

(ख) मानव स्वभाव के चित्रण में प्रकृति का सहयोग—

वाल्मीकि के प्राकृतिक उपमान मानव-आकृति और प्रकृति दोनों के ही चित्रण मे नैसर्गिक, नवीन, विविध और विपुल हैं । तुलसी के उपमान भी, आकृति के चित्रण मे परम्परागत होते हुए भी, मानवीय दशाओं एव मनस्थितियों के चित्रण में नवीन सजीव, स्फूर्तिदायक और प्रकृति के साथ कवि की निकटता के सूचक हैं । मन की क्षुब्ध और हर्षोत्फुल्ल दोनों ही दशाओं के लिये, दोनों कवियों ने, तरंगित सागर अथवा आवर्तमयी सरिता की उपमा दी है ।[1]

---

१ दे० रामायण, (२.५६.२८–३१ तथा ६.७१.१२) और मानस (२.२०५ तथा २.४)

(अ) जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ (रा० २.६.२७)

(आ) राका ससि रघुपति पुर सिन्धु देखि हरषान ।
बढ़्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान ॥ (मा० ७.३)

गाम्भीर्य, विशालता और सकुलता के लिये सागर ही सर्वोच्च साहश्य प्रस्तुत करता है। इस विषय मे भी हम तुलसी की रूढ़िबद्धता को देख सकते है। जहा वाल्मीकि शोक के लिए पर्वत आदि के उपमानत्व की भी परीक्षा कर लेते है,[1] वहाँ तुलसी ने शोक के लिये 'सरिता' या 'सिन्धु' को ही एकमात्र उपमान नियत कर रक्खा है और गांभीर्य तथा विशालता के लिये उन्हें सागर के अतिरिक्त कुछ और नही मिलता। सागर को उपमान रूप में वे शोक के अतिरिक्त (शोक समुद्र २.२७६), "करुणा" और "अनुराग" (२ २८६), "महिमा" और "बुद्धि" (भरत महामहिमा जलरासी), और शील आदि के लिए भी लाए हैं। "नारिचरित" के लिये भी उन्होंने जलनिधि कहा है (२.२७)। आशय यह कि तुलसी ने सागर का दर्शन परम्परा की आंखों से ही किया है अथवा विशाल सरिताओ को देखकर उसकी कल्पना मात्र कर ली है, परन्तु वाल्मीकि उसके प्रत्यक्षदर्शी प्रतीत होते है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में उन्होने सागर के अत्यन्त भव्य चित्र प्रस्तुत किये है। सरिता की उपमा रणभूमि, सेना और रक्तप्रवाह के लिये दोनो ने दी है।[2] सागर की अपेक्षा तुलसी सरिता के सूक्ष्मदर्शी चित्रकार कहे जा सकते है। बाढ़ मे बढ़ी हुई सरिता के चित्र उन्होने प्रायः प्रस्तुत किये हैं, जैसे कोपमयी कैकेयी के लिये "रोषतरंगिनी" (२.३४.१) की और विषादपूर्ण जनक-समाज के लिये करुना-सरित (२.२७५ दो०) की उपमाये। दोनों उदाहरणों में भाव का आवेग प्रस्तुत करने के लिये ये उपमान अत्यन्त उपयुक्त हैं।

सरिताओ के प्रति दोनों कवियों का यह अनुराग मानव सस्कृति के विकास मे सरिताओं के महान योगदान का सूचक है। सृष्टि के प्रथम प्रभात से लेकर आज तक अनेकानेक सास्कृतिक उत्थान-पतन की घटनायें, जीवन-मरण और परिणय-विछोह के उत्सव और अवसाद, यज्ञ और पूजन इन्ही सरिताओ के तटों पर घटित होते रहे है।

वाल्मीकि ने नदी का सौन्दर्य अधिकाशतः यथार्थ रूप में अर्थात् प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से अकित किया है, परन्तु तुलसी ने गंगा, सरयू, यमुना, मन्दाकिनी आदि सभी नदियो को तीर्थ रूप मे देखते हुए उनकी पौराणिक महिमा गाई है। गगा की पौराणिक महिमा "विष्णु पादच्युता" वाल्मीकि रामायण में भी है (२.५०.२५), जिससे प्राचीन काल से ही तीर्थ रूप मे नदियो की महिमा प्रकट होती है, परन्तु तुलसी ने राम के प्रसग से अन्य नदियों को भी तीर्थ बना दिया है। प्रयागराज को तो वे बार-बार सामने लाते है। संतों का समाज भी प्रयागराज है, और जनक का मन

१. "आक्रान्तो दुःखशैलेन"—२ ८५.२०।
२ वा० रा० में युद्धभूमिमयी नदी ६ ५८ २६ और शोणितापगा' ६ ६५ १५ तथा मानस में रुधिर-सरित (६ ८७)

भी।[1]

तुलसी की भक्तिभावना का प्रभाव उनके प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों के प्रकृतिवर्णन पर पड़ा है परन्तु काव्यदृष्टि सदैव ही भक्ति के आधीन नहीं रही है। कभी-कभी उससे मुक्त होकर भी तुलसी प्रकृति के प्रति अपनी जागरूकता, कथाक्रम में अनेक अवसरों पर, प्रकट करते रहे हैं।

प्राकृतिक उपमानों में कवि का रुचि-भेद और देशकाल के प्रभाव से पड़ने वाला अन्तर भी दर्शनीय है। भय या चिन्ता की स्थिति में मन की अस्थिरता या कम्पन के लिये दोनों ने दो भिन्न उपमान चुने हैं। भयभीत सीता के लिये वा० रामायण में कदली की उपमा देखिये :—

(अ) सीता प्राविपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥ (३.२.१५)

× × ×

ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणं राक्षसाधिपम्।
प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा ॥ (५.१९.२)

× × ×

सा वेपमाना पतिता प्रवाते कदली यथा (२.२५.८)

तुलसी ने मन की अनिश्चयात्मक स्थिति की तुलना पीपल-पात से की है—

अस मन गुनई राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मन डोला ॥
(२.४५.४)

तुलसी के प्राकृतिक उपमान चार भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—स्वानुभूति प्रेरित या प्रत्यक्षीकृत प्राकृतिक उपमान, पौराणिक प्राकृतिक उपमान, परम्परागत प्राकृतिक उपमान और कविसमयसिद्ध प्राकृतिक उपमान।

१. स्वानुभूति प्रेरित उपमान—

नव रसाल बन विहरन सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला ॥ (२.६३)

प्रत्यक्षीकृत उपमानों का विशेष उदाहरण ऐसे पदार्थों में देखा जा सकता है जो प्रादेशिक होने के कारण तुलसी की दृष्टि में विशेष रूप से आये हैं जैसे—

इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं। (१.२७३ ३)

अथवा

डावर कमठ कि मदर लेही (२.१३९.७)

कुम्हड़े की बतिया या कच्चे फल का अंकुर और बरसाती गड्ढे में पड़े हुए कच्छप को देखे बिना ऐसी उपमा ध्यान में नहीं आ सकती। बाल्मीकि ने क्षुब्ध मन के लिये सर्पों से भरे सरोवर की उपमा प्रायः दी है, जिससे प्रकट होता है कि वैसे सरोवर उन्होंने अपने आसपास देखे होंगे।

---

२ मा० १ २ ७ [illegible]० २ तथा २ २८६

२. पौराणिक प्राकृतिक उपमान—

पौराणिक प्राकृतिक उपमानो मे 'कल्पतरु' और 'कल्पबेल' का उल्लेख किया जा सकता है, जिनका मानस में अनेक बार प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त क्षीरसागर मे भी ऐसा ही उदाहरण है। वाल्मीकि रामायण में इन्द्र के नन्दनवन, ऐरावत और ध्वज, कुबेर के चैत्ररथ वन आदि पौराणिक उपमान है पर या तो वे उत्तरकाण्ड में है अथवा वे इन्द्र से सम्बन्धित है और पौराणिक की अपेक्षा वैदिक प्रभाव के सूचक है। करुणदशा के लिये रामायणकार ने अनेक बार किन्नरी का उदाहरण दिया है[1]। यह भी पौराणिक उपमान कहा जा सकता है।

३. परम्परागत प्राकृतिक उपमान—

परम्परागत प्राकृतिक उपमान कुछ तो वाल्मीकि रामायण से मानस तक एक जैसे चले आये है जैसे चन्द्र, कमल, समुद्र, सरिता आदि और कुछ लौकिक सस्कृत तथा प्राकृत आदि के साहित्य से परवर्ती साहित्य में आये है, जैसे नेत्रों के लिये खजन कंठ के लिये कपोत, दातो के लिये कुंदकली और दाड़िम, इत्यादि।[2]

४. कवि समय सिद्ध प्राकृतिक उपमान—

कविसमयों अथवा कवि प्रसिद्धियो (पोयटिक कन्वेन्शस) का आविर्भाव भी रामायण मे हो चुका था, परन्तु मानस तक आते-आते उनकी संख्या मे काफी वृद्धि हो गई है। हंस-हंसी या कारण्डव-कारण्डवी युग्मरूप में ही देखे जाते हैं, वाल्मीकि रामायण में इसी रूप में उनका उल्लेख है।[3] बाद में यह कविप्रसिद्धि जैसी बन गई। वे प्राकृतिक उपमान जो सामान्यतया प्रतिदिन के जीवन मे नहीं दिखलाई पड़ते, या जिनसे लोक अपरिचित होता है, तथा जिनका सम्बन्ध वृक्ष, पशु-पक्षियों आदि के अन्तरग जीवन से होता है, वे काव्य-जगत् में एक प्रकार रूढ़ विश्वास बन जाते हैं, जिन्हें 'कवि प्रसिद्धि' या 'कविसमय' कहा जाता है। ये प्राचीन कवियों के प्रकृति-निरीक्षण, अध्ययन, परिभ्रमण आदि के प्रसाद स्वरूप काव्यक्षेत्र में प्रविष्ट होते है और बाद मे देशकाल के कारण उनका व्यक्तिक्रम हो जाने पर भी कविजन परम्परा से उन्हे स्वीकार करते रहते हैं।[4]

ये कविसमय आरंभ तो आदिकाव्य से ही हो गये है परन्तु इनकी वृद्धि और परम्परा उत्तर लौकिक साहित्य में दिखलाई पड़ती है और उनमें से अनेक मानस मे भी समाविष्ट हुए है, क्योंकि ये प्रकृति से अर्थात् वनस्पति, जलचर, नभचर, कीट, पतंग, पशुओं आदि के जीवन से, सम्बन्धित होते हैं। अत. उनका समावेश भी प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत किया जा सकता है।

---

१. रा० २.९.६५ तथा २.२०.५५।

२. मा० ३.३०।

३. 'मा निषाद' श्लोक स्वयं इसका उदाहरण है।

४ हिन्दी साहित्य की भूमिका परिशिष्ट ७ पृ० २ ६

मछली और जल अथवा सूर्य और कमल का सम्बन्ध एवं परस्पर आकर्षण तो प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है परन्तु चकोर और चन्द्रमा, मणि और फणि, का प्रेम कवि कल्पना सिद्ध है। मानस मे 'चन्द्रमा की किरण से विह्वल चकवा'[1] अथवा 'मणि बिना विकल फणि,'[2] अथवा 'दिन मे चकवा-चकवी का मिलाप और प्रसन्नता'[3] आदि ऐसी कवि-प्रसिद्धिया हैं जिनका आभास वाल्मीकि रामायण में नही मिलता।

(३) प्रकृति का रसाश्रित अथवा उद्दीपन रूप में चित्रण

महाकाव्य के शास्त्रीय निर्देशानुसार दोनों कवियों के प्रकृतिचित्रण के अन्तर्गत इस प्रकार के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं जहाँ रसपरिपाक या उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का चित्रण किया गया है, परन्तु इस विषय में दोनों कवियों की प्रवृत्तियों को स्पष्ट रूप में समझने के लिये पृथक विचार करना भी आवश्यक है। जिस प्रकार उपमान रूप में प्रकृति के समावेश को हम प्रकृति का अलंकारिक वर्णन कह सकते है उसी प्रकार उद्दीपन अर्थात् भावोद्दीपन के लिये किये गये प्रकृतिचित्रण को रसाश्रित प्रकृति वर्णन कह सकते हैं। जिस प्रकार कवि उपमान रूप में प्रकृति को ग्रहण करके अपनी काव्यशैली को चमत्कारपूर्ण बनाता है उसी प्रकार वह उद्दीपन रूप मे भी प्रकृति का सहयोग लेकर रस का प्रसार करता है। शृंगार के स्थायी भाव 'रति' के उद्दीपन मे वर्षा, शरद् और वसन्त का, बादल, चन्द्रमा और भ्रमर का, भय में अधकार और एकान्तता का, विशेष सहयोग होता है। अतः इनकी उपस्थिति के द्वारा कवि अपने पात्रों के मनोगत भावों का उत्कर्ष करता है जिससे रसविधान में उसे सहायता मिलती है।

वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों में प्रकृतिचित्रण के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कवि ने रस के अनुकूल वातावरण की सृष्टि के लिये ही प्रकृति का वर्णन किया है और उन प्राकृतिक दृश्यों से प्रभावित पात्रों के उद्गार प्रकट कराये है। संयोग-शृंगार की दृष्टि से किये गये प्रकृति-वर्णन में वा० रामायण का मन्दाकिनी-विहार (अयो० सर्ग ९५) और मानस का पुष्पवाटिका प्रसग (बाल० २२७) उद्धृत किया जा सकता है। सीताहरण के समय दोनों ही कवि सीता की छवि से सादृश्य रखने वाले प्राकृतिक पदार्थों से राम के द्वारा सीता के विषय मे प्रश्न कराते है।[4]

रसोद्भावन की दृष्टि से वाल्मीकि और तुलसी के ऋतुवर्णन मे बहुत अन्तर है। तुलसी ने केवल वसन्त का वर्णन विरहोद्दीपन की दृष्टि से किया है :—

> बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
> सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥ (३-३७)

१ मा० २ २६

२ मा० २ ४ ३

अन्य दो ऋतुओं, वर्षा और शरद, का वर्णन तुलसी ने विप्रलभ शृंगार की दृष्टि से नहीं किया है, वरन् ये दृश्य भक्ति रस के उद्बोधन में सहायक हुए है, क्योकि कवि को प्राकृतिक व्यापारो में धर्म, दर्शन, सदाचार, वैराग्य आदि की क्रियाये ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत वाल्मीकि ने वसन्त, वर्षा और शरद के वर्णन भी उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किये है।[1]

मानस में प्रकृति को भक्तिरस के उद्बोधन के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति उतनी ही व्यापक है जितनी कि वाल्मीकि रामायण में उसे शृंगार आदि रसो के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति। मानस मे पुष्पवाटिका और अशोकवाटिका के दृश्य अपने मूल स्रोतो (नाटकों) के प्रभाव के कारण शृंगार-रसोद्दीपक है, अन्यथा मुख्य रूप मे तुलसीदास ने प्रकृति को भक्तिरस का ही उद्दीपक बनाया है।

मानस के ये प्राकृतिक चित्र रमणीयता की अपेक्षा अपनी पवित्रता, प्रफुल्लता और सात्विकता से भक्ति की साधना के लिये उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं, अथवा फिर राम के प्रभाव को व्यक्त करते हुए उनके प्रति श्रद्धा और अनुराग को जाग्रत करते है और प्राय: स्वयं भी राम के अनुराग में सजीव प्राणियों के समान लिप्त होकर दर्शकों में भक्ति का उद्दीपन करते हैं। चित्रकूट का सारा निरूपण इस प्रकार किया गया है कि समस्त वनस्थली भक्तिभावना में डूबी दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार ऋतुओं की शोभा और विविध प्राकृतिक व्यापार नीति का पाठ पढ़ाते हैं और भक्त को ध्यान और संयम के उपकरण जुटाते हैं।

अन्तःकरण की शुद्धि में प्रकृति के प्रभाव को आदिकाल से ही अनुभव किया जाता रहा है। वा० रामायण के चित्रकूट-वर्णन का उल्लेख करते हुए हम उसका सकेत कर चुके है, परन्तु मानसकार ने विशेष कुशलता और प्रयास के साथ प्रकृति-चित्रण को भक्ति रस के परिपाक में सहायक बनाया है। जिस प्रकार आरण्यक और उपनिषदों की रचना प्रकृति के पुनीत प्रांगण में बैठकर हुई थी और मानो प्रकृति ने ऋषियो के हृदय में प्रवेश कर अपनी लेखनी से दार्शनिक सूत्र लिख दिये थे, उसी प्रकार तुलसीदास ने मानस में स्थान-स्थान पर भक्ति-चर्चा और उसके रसमय संचार के लिये प्राकृतिक वातावरण को प्रस्तुत किया है।

उद्दीपन रूप में प्रकृतिचित्रण केवल शृंगार रस के लिये ही नहीं होता, अन्य रसो के लिये भी होता है। शकुन-अपशकुनों का सम्बन्ध भी बहुत कुछ प्रकृति के साथ होता है और दोनो ही कवियो ने उनकी चर्चा रस-संचार के लिये की है। भयानक रस के उद्दीपन के लिये दोनो कवियो ने प्राय: अपशकुनों का वर्णन किया है और मांगलिक अवसरो के लिये शुभ शकुनों का। अपशकुन अधिकांशत: प्रकृति के प्रकोप या प्राकृतिक व्यापारों में विपर्यय को सूचित करते हैं, जैसे कि सूर्य के चारो ओर काला घेरा बन जाना, या ग्रहण का समय न होने पर भी राहु द्वारा सूर्य का ग्रसा जाना, कंक-गोमायु-गृद्ध आदि का उच्च स्वरों में बोलने लगना, लाल रंग के

[1] रा ६ तथा ९ औ ३४ सर्ग

बादलों से आकाश का रक्तरंजित प्रतीत होना, पुच्छल तारा दिखलाई पड़ना, कमलों का सूखना, मछलियों और पक्षियों का छिपना, मैना का चीं-चीं करना, अंधड़ का उठना आदि।[1] ऐसे वर्णन कवियों के कल्पना-प्रसून भी होते हैं और वे मानव जीवन के साथ प्रकृति के सहयोग को भी प्रकट करते हैं। इस रूप में भी प्रकृति को निरखने और परखने की परम्परा हमारे जीवन और साहित्य दोनों में ही बनी हुई है। कल्याणकारी अवसरों पर प्रकृति रमणीय संकेत करती हुई प्रतीत होती है और अकल्याणकारी अवसरों पर वही भयानक संकेत करती है। मानस में दशरथ के बरात लेकर मिथिला-प्रस्थान के समय शुभ शकुनों के रूप में प्राकृतिक उल्लास प्रकट किया गया है। निम्नांकित चित्र देखिये :—

> चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहु सकल मंगल कहि देई।
> दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरस सब काहूं पावा।
> सानुकूल बह त्रिविध बयारी। सघट सबाल आव बरनारी।
> लोआ फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा।।
> मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई।
> छेमकरी कह छेम बिसेषी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी। (१.३०३)

(४) भावनाश्रित अथवा स्वानुभूतिपरक प्रकृति-चित्रण

इस प्रकार के वर्णन का आशय यह है कि कवि महाकाव्य के निर्देशों से मुक्त होकर अथवा उपमान या उद्दीपन के लिये उसका उपयोग न करके, स्वतः कुछ क्षण के लिये प्राकृतिक शोभा में लीन हो जाता है और अपने जीवन का प्रकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करता है। वह अपने जीवन के समान ही प्रकृति में भी मानवीय व्यापारों को घटित होते हुए देखता है, कभी प्राकृतिक दृश्यों के सुखानुभव को ही सृष्टि का सबसे बड़ा सुख समझता है और अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है, और कभी प्रकृति की विभूति को देखकर उसमें अन्तर्निहित किसी महत् एवं अज्ञेय सत्ता का आभास प्राप्त करके आनन्दमयी समाधि में लीन हो जाता है।

इस प्रकार का वर्णन वही कवि कर सकता है जिसका जीवन प्रकृति के रमणीय वातावरण के बीच व्यतीत हो रहा हो, जैसा कि वाल्मीकि का विशेष रूप में था और तुलसी का उनसे कुछ कम था। तुलसी भक्ति के पूर्वाग्रह से, एक विशिष्ट उद्देश्य से, बधे हुए थे। अतः उक्त प्रकार का प्रकृति वर्णन उनके काव्य में प्रायः नहीं मिलता, जबकि रामायण में प्रचुरता से प्राप्त होता है।

यह भावनाश्रित प्रकृतिवर्णन विविध रूपों में दिखलाई पड़ता है। इसका एकरूप तो यह है कि कवि प्रकृति को चेतनारहित मानता हुआ भी स्रष्टा के इस सुन्दर चित्र को देखकर विस्मय और आनन्द से भर उठता है और शब्दों में उसका संश्लिष्ट चित्रण करता है। वाल्मीकि रामायण ऐसे चित्रों से भर-

१ रा० ३ २२ और ६ ६६

पूर है। वाल्मीकि ने सागर, सरिता, सरोवर, वन, पर्वत आदि के ऐसे अत्यन्त रमणीय और संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं जिनमें ऐसा प्रतीत होता है मानो वह स्रष्टा की कारीगरी पर रीझ कर थिरक उठा है। ऐसे वर्णनों पर पहले विचार किया जा चुका है।

दूसरे प्रकार का भावनाश्रित प्रकृतिवर्णन प्रकृति को सजीव सत्ता मानकर किया जाता है। कहीं तो कवि केवल अलंकारिक रूप में ही प्रकृति का मानवीकरण करता है अर्थात् प्रकृति की तुलना स्त्री और पुरुष से करता है जैसे निशा, सरिता, नगरी, वाटिका, ऋतु आदि को स्त्री रूप में और वन, पर्वत, सागर, आकाश आदि को पुरुष रूप में देखना, और कहीं वह उसे वस्तुतः मानवीय गुणों और अनुभूतियों से युक्त मानता है। तुलसी में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र भी बहुत कम हैं और प्रकृति में मानवीय जीवन के व्यापारों की कल्पना वाले चित्र भी। वाल्मीकि प्रकृति को मानव-जीवन के सन्निकट लाने में, जीवन और प्रकृति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव स्थापित करने में, जितने निपुण हैं तुलसी उतने नहीं। तुलसी की काव्यशैली में इस पद्धति की अधिक गुंजाइश ही नहीं है। वाल्मीकि ने पर्वत को सोते, जगते और गाते हुए देखा है।[1] स्वर्णिम पुष्प-गुच्छ से लदे कर्णिकार उन्हें स्वर्णाभरण और पीताम्बर धारण किये हुए मनुष्यों जैसे दिखलाई पड़ते है।[2]

इस प्रकार एक ओर उन्होंने कथा और पात्रों के निरूपण में प्रकृति से उपमायें दी हैं और दूसरी ओर प्रकृति के वर्णन में भी मानव-जीवन से उपमायें दी हैं। यही उनकी प्रकृति और मानव का अन्योन्याश्रित वर्णन करने की शैली है।

वाल्मीकि ने केवल प्रकृति की सजीवता की कल्पना ही अलंकारिक रूप में नहीं की है, अपितु वे उसे अनेक स्थलों पर सचमुच ही सजीव सत्ता मानते हुए प्रतीत होते हैं। प्रकृति का मानवीकरण जैसा वा० रामायण में मिलता है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिले। रामायण में प्रकृति मानवीय सुख-दुःख में भाग लेती है और हमें प्रायः उसकी पृथकता का भान ही नहीं होता। सीताहरण के लिए रावण के आगमन के समय प्रकृति में सन्नाटा छा जाता है, लतायें काँपने लगती हैं और गोदावरी का प्रवाह मन्द पड़ जाता है।[3] सीताहरण के पश्चात् हरिण दक्षिणाभिमुख पलायन करके राम को उसका पता देते हैं।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि पाठकों के समान ही प्रकृति भी राम और सीता के प्रति श्रद्धा, स्नेह और सहानुभूति तथा रावण के प्रति भय और घृणा के भावों से भरी हुई है। जड़ और चेतन की ऐसी एकसूत्रता का अनुभव संवेदनाशक्ति का उत्कर्ष प्रकट करता है और इससे काव्य में एक दार्शनिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है। दार्शनिकों के अनुसार चित् 'जीव' और अचित्

१. रा० ५.५६.११,१२।
२. ४.१.२१।
३ रा० ३,४६ ७८।
४ रा० ३ ६४ १७ १८

'प्रकृति' दोनों में जीवात्मा का प्रत्यक्ष और परोक्ष निवास है और कवि इस सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग करके दिखलाता है। रामायण की काव्य-पद्धति में प्रकृति-चित्रण इस दार्शनिक स्तर पर भी हुआ है, परन्तु उसमें दर्शन या तथाकथित 'रहस्यवाद' का सन्निवेश देखना उचित नहीं है।

तुलसी और वाल्मीकि दोनों ने अपनी भावनाओं का आरोप प्रकृति पर किया है, परन्तु वाल्मीकि ने स्वाभाविक ढंग से और तुलसी ने कुछ कृत्रिम ढंग से किया है। वाल्मीकि ने प्रकृति को मनुष्य रूप में देखा है, परन्तु तुलसी ने उसे राम का भक्त ही बना दिया है। भरत को राम का परम प्रिय अनुज एवं अतिथि जानकर प्रकृति का यह शिष्टाचार देखिये—

कुस कंटक कांकरी सुहाई।
कटुक कठोर कुवस्तु दुराई॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे।
बहुत समीर त्रिविध सुख लीन्हे॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं।
बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी।
सेवहिं सकल राम प्रिय जानी॥ (२-३११)

प्रकृति में देवत्व का आरोप भारतीय साहित्य की आदिम प्रवृत्ति है, जिसका अवशेष आज तक जनता के जीवन और इस देश के साहित्य में विद्यमान है। सामान्य जनता आज भी गंगा और यमुना को माता और हिमालय के शिखरों को पूज्य देवता मानती है, यद्यपि साहित्य में वैज्ञानिकता के प्रभाववश यह प्रवृत्ति अब कम हो रही है। वा० रामायण और मानस दोनों में ये प्राकृतिक पौराणिक प्रतीक हैं। वाल्मीकि ने गंगा को 'विष्णुपादच्युता' कहते हुए उसका चित्रण नारी के रूप में किया है।[1] दोनों ही काव्यों में सीता वनयात्रा से सकुशल लौट आने के लिए गंगा माता की मनौती करती है।[2] इसी प्रकार दोनों काव्यों में सागर और मैनाक का मानवीकरण भी पौराणिक ढंग का है[3] अर्थात् पुराणों में कुछ विशिष्ट प्राकृतिक पदार्थ देवता स्वरूप मान लिये गये थे और कवियों ने उसी रूप में उनके चित्रण की परम्परा का निर्वाह किया है। यह परम्परागत पौराणिक प्रकृतिचित्रण मानस में अधिक है। मानस में गंगा बोलकर सीता को आशीर्वाद देती है, परन्तु वा० रामायण में गंगा तो नहीं बोलतीं, मैनाक अवश्य बोलता है। यह भावनाश्रित प्रकृति वर्णन का एक परम्पराभुक्त रूप है और इसमें किसी कविकला का दर्शन नहीं होता। भावनाश्रित प्रकृति दर्शन में भी हम वाल्मीकि को तुलसी की अपेक्षा कहीं अधिक

१. रा० २.५०, २३-२६।
२. रा० २.५२, ८२-९१ तथा मा० २.१०३।
३. रा० ६.२२ तथा ५.१ और मा० ५.५८-५९ तथा ५.१।

श्रेष्ठ कवि मानते हैं। यह नहीं कि तुलसी में वह क्षमता या प्रतिभा नहीं थी, वरन् काव्य-सम्बन्धी उद्देश्य की भिन्नता के कारण उन्होंने इस प्रकार के प्रकृतिचित्रण को भी अपने काव्य में प्रश्रय नहीं दिया है। उनका जीवन एक ही भावना से अनुरंजित था और वह थी भक्तिभावना, जिससे उनकी प्रकृतिचित्रण की शैली भी अनुशासित है। उनके मानवपात्रों के समान प्राकृतिक पदार्थ भी राम के भक्त हैं। निखिल सृष्टि को 'सियारासमय' मानने वाले कवि का प्रकृतिचित्रण इसीलिये एक सीमित शैली का ही हो सकता था।

(आ) वस्तु वर्णन

इस अध्याय के आरम्भ में कहा जा चुका है कि लक्षण-ग्रंथों मे प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन को एक साथ ही गिना गया है। इन वर्णनों से महाकाव्य के धरातल का विस्तार होता है और जीवन की सर्वांगीणता का चित्र उपस्थित होता है। वाल्मीकि का प्रकृति-चित्रण जितना विविध और व्यापक है उतना ही वस्तु-वर्णन भी, परन्तु तुलसी के वस्तु-वर्णन पर भी उनकी भक्ति और वैराग्य-भावना का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि महाकाव्योचित दृष्टि से उन्होंने जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित सामग्री और पदार्थों का विवरण पर्याप्त मात्रा मे दिया है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का भी सन्निवेश किया है, फिर भी उनके भक्तिपरक दृष्टिकोण की छाप उनके वस्तु वर्णन पर भी उतनी ही गहरी अंकित हुई है जितनी कि उनके काव्य के अन्य विषयों पर।

नगर की शोभा-सम्पदा—

राम-कथा से सम्बन्धित पंच नगरियो—अयोध्या, मिथिला, शृङ्गवेरपुर, किष्किन्धा और लंका के विषय में प्रकृतिचित्रण के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। इनका वर्णन दोनों वर्गों के अन्तर्गत लिया जा सकता है, अर्थात् इनकी भौगोलिक स्थिति को प्रकृति-वर्णन और आर्थिक-सामाजिक स्थिति को वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत माना जा सकता है। अयोध्या के विषय में हम बतला चुके है कि तुलसी ने उसका वर्णन अधिकांशतः धार्मिक महत्व की दृष्टि से किया है। रामराज्य के वर्णन मे उन्होंने उसकी ऐश्वर्य-सम्पदा का भी सविस्तार वर्णन किया है[1] परन्तु वह वस्तुतः राम के प्रताप और महिमा को बतला कर उनके प्रति भक्ति को उद्दीप्त करने के लिये है। वाल्मीकि ने अयोध्या के प्रति भक्ति भाव की झलक देते हुए भी उसका निरूपण आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से अधिक किया है और वह एक सुसम्पन्न आदर्श राजधानी के रूप में दिखलाई पड़ती है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों की अयोध्या आदर्श राजधानी है परन्तु एक में आर्थिक दृष्टि की प्रधानता है और दूसरे में नैतिक-धार्मिक दृष्टि की, जैसा कि निम्नलिखित तुलनात्मक उद्धरणों से प्रकट होता है—

---

१ [illegible]

(अ) कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयू तीरे प्रभूत धन धान्यवान् ॥ (१.५.५)

अपनी आदर्श राजधानी की यह ऐश्वर्य-दीप्त प्रस्तावना उपस्थित करने के पश्चात् वाल्मीकि ने उसके द्वादश योजन विस्तार, सिंचित-पुष्पित-सुविभक्त राजमार्ग, कवाट-तोरण-आपण, शतघ्नीशतसंकुल ध्वजवती अट्टालिकाओं, नाटक-संघों, आम्र-उद्यानों, साल-मेखलाओं, दुर्ग-परिखाओं, वाजि-वारण-गो-उष्ट्र आदि पशुओं, रत्नखचित प्रासादो, शालि-तंडुल भरी मंडियों, इक्षुरस पूरित कूपोदको, दुंदुभि-मृदग-वीणा-पणव से निनादित संगीत गोष्टियो, मल्लशालाओं और शस्त्रागारों आदि का वर्णन किया है।[1] ऐसे संश्लिष्ट चित्र मानस में नहीं हैं। इस चित्र में आदि कवि ने उस "लोकविश्रुता" और "मनुनिर्मिता" नगरी का निरूपण आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, सभी दृष्टियो से करते हुए अतीत भारत की एक भव्य झांकी प्रस्तुत की है। अब मानस के निम्नलिखित चित्र से इसका मिलान कीजिये—

(आ) अवधपुरी वासिन्ह कर सुख सपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहि जहँ नृप राम बिराज ॥ (७. दो० २६)

तुलसीदास ने अयोध्या का वर्णन आरंभ में न करके उत्तरकाण्ड में रामराज्य के प्रसंग में किया है, जब कि वाल्मीकि ने प्रारम्भ में ही उसका सम्बन्ध मानवेन्द्र मनु से जोड़ते हुए रघुवंश की प्रतापमयी नगरी के रूप में वर्णन किया है। राम के नाम से सम्बन्धित करके तुलसी ने उस नगरी की परिपूर्णता और सहस शेष के द्वारा भी उसकी अवर्णनीयता प्रगट की है। तत्पश्चात् कवि ने उसकी आर्थिक विभूति का वर्णन परम्परागत रूप में और पौराणिक दृष्टि से करते हुए[2] उसे नैतिकता में सधे हुए और साधुता में पगे हुए, सर्वथा निर्दोष, भक्त नागरिकों की आध्यात्मिक नगरी बना दिया है, जहां के बालक तक उच्चतम भक्ति में दीक्षित और सुशिक्षित हैं—

सुक सारिका पढावहिं बालक।
कहहु राम रघुपति जनपालक ॥ (७.२८.७)

अवश्य, यह भी राज्य की आदर्श स्थिति है जहां का राजा इतना लोकप्रिय हो, परन्तु समस्त वर्णन भक्ति और पौराणिक वातावरण में रंगा हुआ है, इसका प्रमाण सरयू के तट देते हैं:—

तीर तीर देवन्ह के मंदिर।
चहुं दिसि तिन्ह के उपवन सुन्दर ॥

---

१. यह वर्णन मूल वाल्मीकि रामायण का ही अंश माना गया है, प्रक्षिप्तांश नहीं, अतः इससे आदि कवि और आदि महाकाव्य की वस्तु-वर्णन की प्रवृत्ति का ठीक अनुमान किया जा सकता है। प्रामाणिकता के लिये देखिये—
(१) ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर (मैकडानल) पृ० ३०४, तथा
(२) रामकथा (बुल्के) पृ० १४०।

२. बार बार मणि, जातरूप, बज्र (हीरा) और कांच की चकाचौंध तथा सूर्य और चन्द्रमा की दीनता दिखलाना—दे० ७, २७

कहुं कहुं सरिता तीर उदासी।
बसहिं ग्यान रत मुनि सन्यासी॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई।
वृन्द वृन्द बहु मुनिन्ह लगाई॥ ७.२९.३

इस नगरी को देख कर अघियों के अघ भाग सकते हैं (देखत पुरी अखिल अघ भागा) परन्तु काव्य रसिक को प्रत्यक्ष चित्र के दर्शन या नगर-भ्रमण का आनन्द नहीं मिल सकता। तुलसी का अधिकांश वस्तु-वर्णन उनकी ऐसी ही भक्ति भावना से प्रभावित है।

वाल्मीकि ने किष्किंधा[1] और लंका[2] का भी ऐसा ही ऐश्वर्य परक और आर्थिक दृष्टि-प्रधान वर्णन किया है। तुलसी के विषय में हम पिछले पृष्ठों में बतला चुके हैं कि लंका का वर्णन उन्होंने अवश्य कुछ भौतिक दृष्टि से किया है, परन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त है। मानस में वर्णित शृंगवेरपुर के निवासी भी भक्त हैं। मिथिला के वर्णन मे तुलसी ने कुछ कलात्मक रुचि प्रकट की है परन्तु उसके विषय में भी कह दिया है—

सिय निवास सुन्दर सदन सोभा किमि कहि जाति। (१, दो० २१३)

प्रायः तुलसी ने वस्तु-वर्णन के विस्तार से यह कह कर भी पीछा छुडाया है कि ये तो दिव्य पुरुषों से सम्बन्धित पदार्थ हैं, अतः इनका पूरा वर्णन असंभव है।[3]

सामाजिक और धार्मिक कृत्य—

पारिवारिक और गृहस्थ जीवन के चित्र मानस में वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर गार्हस्थ महाकाव्य है। उसमे जातकर्म-संस्कार, विवाह, देवी-देवता पूजन आदि का वर्णन यथोचित सामग्री सहित एव विस्तारपूर्वक किया गया है, विशेषकर विवाहों के विस्तृत वर्णन में तुलसी ने महाकाव्योचित वस्तुवर्णन-शैली का परिचय दिया है। विवाह गार्हस्थ जीवन और सामाजिक जीवन का मूलभूत उत्सव है। अतः तुलसी ने अकेले मानस में ही दो विवाहो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, एक तो शिव-पार्वती विवाह का दूसरा राम-जानकी विवाह का[4]। विवाह-वर्णन के प्रति तुलसी कितने आकृष्ट हैं इसका पता इससे भी चलता है कि उन्होंने दो स्वतन्त्र खण्ड काव्य इसी विषय पर लिखे हैं।[5]

विवाह-वर्णन में तुलसी ने रीति-रिवाज, पूजन-सामग्री, शिष्टाचार, बरात, जेवनार, दहेज आदि का ब्यौरेवार वर्णन किया है जिससे हिन्दू-गृहस्थ के जीवन का प्रत्यक्ष चित्र सामने आता है। मूल वाल्मीकि रामायण में विवाह का प्रसंग ही नही

१ ४.३३.४-२४।
२. ५.४-११ सर्ग।
३. १ दो० २८६।
४. १.९१-१०३ तथा १.२८७-३५२।
५ जानकी मंगल और पार्वती मंगल

था और बालकाण्ड में जितना वर्णन है[1] वह वाल्मीकि की वस्तु वर्णन की शैली के स्तर से अत्यन्त नीचा है। अतः वह विवाह-वर्णन वाल्मीकि-कृत नहीं है, यह स्पष्ट है। आरण्यवासी ऋषि से नगर के सुसज्जित विवाह-वर्णन की आशा भी नहीं की जा सकती।

यज्ञों का वर्णन भी दोनों कवियों ने किया है, परन्तु मानस में वर्णन न होकर उल्लेख या सार मात्र है[2]। वा० रामायण में भी पुत्रेष्टि यज्ञ और अश्वमेध प्रकरण प्रक्षिप्तांशों के अन्तर्गत है।[3] वाल्मीकि रामायण में यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति के चित्र तो प्रचुर है, अनेक स्थलों पर यज्ञ-चर्चा है, परन्तु मूल रचना मे किसी यज्ञ का कथांश न आने के कारण उसका विस्तृत वर्णन नहीं है। निकुम्भिला मे मेघनाद के यज्ञ का भी उन्होंने उल्लेख मात्र किया है, वर्णन नहीं (६.८६)। अप्रस्तुत अर्थात् उपमान रूप मे वाल्मीक ने याज्ञिक क्रियाओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है, जिसकी चर्चा इस अध्याय में भी पहले की जा चुकी है और आगे काव्य-कला के अलकार-प्रकरण मे भी की जायेगी। इस प्रकार के फुटकर प्रसंगों में वास्तु-शान्ति[4] और पिण्ड-दान[5] के प्रकरण उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है।

राज्याभिषेक—

राज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन भी दोनों कवियों ने दोनों स्थलों पर किया है अर्थात् वन-प्रस्थान से पूर्व और वन से लौटने के बाद, परन्तु वाल्मीकि के वर्णन मे चहल-पहल अधिक दिखलाई पड़ती है। जहां वाल्मीकि ने अभिषेक सम्बन्धी सामग्री का विशद वर्णन किया है[1] वहा तुलसी ने थोडी सी सामग्री गिनाकर, फिर 'वेद विदित' कह कर प्रसंग को संक्षिप्त कर दिया है।[3] राम के अयोध्या लौटने के समय भी वाल्मीकि ने विशाल शोभायात्रा (जलूस) का आयोजन किया है और राजसी सामग्री का प्रचुर विवरण दिया है,[6] परन्तु तुलसी ने इस दूसरे अवसर पर तो राज्याभिषेक की सारी सामग्री केवल "मंगल द्रव्य" कह कर सूचित कर दी है।[7]

राम-राज्य—

राम राज्य का विस्तृत और आकर्षक वर्णन दोनों कवियों ने किया है। वाल्मीकि रामायण में रामराज्य की मूल कल्पना देखी जा सकती है जिसका विस्तार

१. सर्ग ७३।
२. १.१८८.५
३. बाल० सर्ग १२-१४ और उत्तर० सर्ग ९२।
४. २.५६.२२-३० तथा ३.१५.२५।
५. २.१०२.१३-१४।
६ २ ३ ६ २०
७ २ ६०

मानस में दिखलाई पड़ता है। आदि कवि ने राम राज्य के अन्तर्गत दीर्घायु, नीरोगता, नैतिकता, संतति, समृद्धि, प्रकृति की अनुकूलता, सुसंस्कृति, चातुर्वर्ण्य की धर्मपरायणता आदि बातों का वर्णन किया है। ये ही रामराज्य के आधार है जिनका तुलसी ने विस्तार किया है। विस्तार में कुछ पुनरुक्ति भी है और विशदता भी, जैसे प्रजा के सुख-शान्ति को अधिक स्पष्ट करते हुए तुलसी कहते है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज नहिं काहुहिं व्यापा॥ (७.२१.१)

इसी प्रकार प्रजा की धर्मपरायणता में उन्होने निरहंकारिता, निर्वैरता, निश्छलता, कृतज्ञता आदि तत्व और जोड़ दिये है। रामराज्य की समृद्धि को भी तुलसी ने अत्युक्तिशैली के आधार पर, जो कि परम्परागत रूप में उन्हे पूर्ववर्ती साहित्य से प्राप्त हुई थी, चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। सब ऋतुओं में वसन्त का बना रहना, रत्नों की खानों का प्रकट होना, धेनुओं का अतोल दुग्ध प्रदान करना, आदि ऐसे ही परम्परागत वर्णन हैं। तुलना की दृष्टि से रामराज्य की समृद्धि को बतलाने के लिए तुलसी की निम्नलिखित कल्पना और माघ कवि की कल्पना को देखिये—

सागर निज मरजादां रहहीं।
डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥ (७.२३.६)

अपने प्रसिद्ध काव्य में महाकवि माघ ने भी द्वारिकाधीश की समृद्धि का वर्णन इसी प्रकार का किया है—

अम्भश्च्युत: कोमलरत्नराशीनपांनिधि: फेनपिनद्धभास:।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्प विस्तारयामास तरंगहस्तै:॥
(शिशुपाल वध, ३.२६)

द्वारिका के लिये तो यह वर्णन स्वाभाविक भी कहा जा सकता है (क्योंकि वह सागर के तट पर बसी हुई थी), परन्तु अयोध्या के विषय में तो यह वर्णन केवल परम्पराभुक्त है। रामराज्य की मूल कल्पना वाल्मीकि की है और तुलसी उसी से प्रभावित हुए हे, इसका प्रमाण निम्नलिखित तुलात्मक उद्धरणों से मिल जाता है—

(अ) नित्यपुष्पा नित्यफलास्तरव: स्कन्धविस्तृता:।
काले वर्षी च पर्जन्य: सुखस्पर्शश्च मारुत:॥ (६.१३१.१००)

(आ) लता विटप मांगे मधु चवहीं।
मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी।
शीतल अमल स्वादु सुखकारी॥
+ + +
बिधु महि पूर मयूखनन्हि रवि तप जेतनेहि काज।
मांगें बारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज॥ (७ २३)

तुलना का आधार है प्रकृति की अनुकूलता जिसकी मागे बारिद देहि जल"

और "काले वर्षी च पर्जन्यः" से प्रगट है। तुलसी ने परम्परागत साहित्य से प्राप्त कल्पनाओं के आधार पर उसी का विस्तार कर दिया है।

रामराज्य के वर्णन-विस्तार में तुलसी की भक्ति भावना तो प्रगट ही है परन्तु जैसा कि हम अन्य सभी प्रकरणों में देखते आये हैं, वाल्मीकि रामायण में भी इस भक्तिभावना के प्रारंभिक रूप के दर्शन हो जाते है—

(अ) रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः।
रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति॥ (६.१३१.९९)

(आ) जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं।
बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहिं।
सोभासील रूप गुनधामहिं॥ (७.३०.२)

अन्य वर्णन—

दोनों कवियों ने राक्षसों और बानरों के नामों तथा विविध जातियों और आकृतियों का तथा पशु, पक्षी, वाद्ययंत्र, शस्त्रास्त्र आदि पदार्थों का भी स्थल-स्थल पर विवरण प्रस्तुत किया है। इन विवरणों में भी जहां तुलसी पुराणों या महाकाव्यों की अत्युक्ति-शैली का आश्रय लेकर या राम की अलौकिकता के नाते संकेत और संक्षेप से काम चलाते हैं वहां वाल्मीकि प्रायः सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत करते है।

वा० रामायण मे राक्षसों और वानरों के बहुत से नाम और जातियां गिनाई गई हैं, परन्तु मानस में वे बहुत कम है। वानरों के विषय में तुलसी कहीं तो "पदुम अठारह जूथप बन्दर" कह कर उनका संख्यातीत होना सूचित करते हैं और कहीं इस प्रकार कह कर पीछा छुड़ाते है :—

वानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥ (४.२२.१)

परन्तु वाल्मीकि उनकी विविध जातियों, रूप, रंग, आकार, शील-स्वभाव, गुण आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।[1] पुनश्च तुलसी ने शस्त्रास्त्र भी संक्षेप में ही गिनाये हैं,[2] जब कि वाल्मीकि ने न केवल विविध शस्त्रास्त्रों का परिचय दिया है[3] अपितु कुछ शस्त्रास्त्रों के सूक्ष्म भेद तथा बाणों के विविध प्रकार भी बतलाये हैं।[4]

स्पष्ट है कि तुलसीदास की प्रवृत्ति भौतिक सम्पदाओं के वर्णन की ओर नहीं है, और यह उनके वैराग्य और भक्तिभावना के अनुकूल भी है, परन्तु वाल्मीकि के अपेक्षाकृत यथार्थवादी काव्य में स्थल-स्थल पर लौकिक ऐश्वर्य के वर्णन हैं। उन्होंने प्रतिदिन की आवश्यकताओं और जीवन के स्वाभाविक स्वरूप को ध्यान में रखा है।

---

१. ४.३९।
२. मा० ६.४० तथा ७३।
३ रा० ६ ५३ ८-९ तथा ६ ६६ २५ २६
४ ६ ४४ २३ २४ तथा ६ १०० ४१ ४५

उदाहरण के लिये, राम के वनप्रस्थान के समय लक्ष्मण फल-मूल एकत्र करने के लिये खन्ता और पिटक साथ लेकर चलते है।[१] सीता के साथ चौदह वर्ष के लिये वस्त्राभूषण है।[२] दोनों कुमारो के साथ पर्याप्त शस्त्रास्त्र है[३], नदियों को पार करते समय वे इनकी गठरी को सम्हाल कर रखते है,[४] इत्यादि। वाल्मीकि रामायण मे दशरथ अपने पुत्रों के साथ सारी सेना और सम्पदा भेज देना चाहते हैं,[५] परन्तु मानस में यह प्रसंग ही नहीं उठता। इससे वाल्मीकि की वस्तुवर्णन की प्रवृत्ति प्रकट हो जाती है। चाहे दशरथ का दरबार हो चाहे रावण का अन्तःपुर, चाहे वनवासियों का कुटीर हो और चाहे रणक्षेत्र, वाल्मीकि सर्वत्र जीवन सम्बन्धी वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के विवरण अत्यन्त संक्षिप्त है, उनमें महाकाव्योचित वस्तुवर्णन की शैली बहुत कम है। मानस के अपेक्षाकृत लघु आकार में विस्तृत वस्तुवर्णनों का अवकाश भी नही था और इस ओर तुलसी की प्रवृत्ति भी कम थी, फिर भी विवाह-वर्णन और तीर्थादि के वर्णन तथा कही-कहीं युद्ध-वर्णन आदि में उन्होंने इस महाकाव्य-रूढ़ि का परिपालन किया है। तुलसी ने संत-असंत लक्षण भी अनेक स्थलों पर दिये हैं।[६] यह भी एक प्रकार का वस्तु-वर्णन ही है, भक्ति के दृष्टिकोण से प्रभावित वस्तु-वर्णन। इसी प्रकार भक्ति के साधन और प्रकार भी उन्होंने अनेक स्थलों पर गिनाये हैं।[७] रथ का वर्णन दोनों ने किया है परन्तु उसमें उनका प्रवृत्ति-भेद स्पष्ट दिखलाई पडता है। वाल्मीकि ने युद्धोचित राजकीय रथ का वर्णन अनेक बार किया है[८] जबकि तुलसी ने धर्मरथ का रूपक प्रस्तुत किया है।[९] तुलसी के वस्तुवर्णन पर भी, इस प्रकार, उनके प्रकृतिचित्रण के समान उनकी भक्ति-भावना का प्रभाव स्पष्ट है। वाल्मीकि के वस्तुवर्णन में उनके युग और समाज की समृद्धि का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, लेकिन तुलसी का वस्तुवर्णन या तो परम्परागत अर्थात् महाकाव्य के नियम की पूर्ति के लिये है अथवा उनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होने के कारण अवास्तविक, काल्पनिक और विषयान्तर-युक्त है।

निष्कर्ष

(अ) प्रकृति चित्रण

१. राम कथा में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान है। मानवीय पात्रो के समान ही

---

१. २.३१.२५।
२. २.३९.१५
३. २.३१.२९-३३।
४. २.५५.१८।
५. २.३६.१-८।
६. १.२-३, ३.४५-४६।
७ २ १२८-१३१, ३ १६, ३ ३५-३६
८ ३ २२ १४ १६ तथा ६ १०८ १ ७
९ ६ ८०

कथा के विधान और विकास में तथा राम के जीवन में प्रकृति का विशिष्ट योगदान है। दण्डक वन और पंचवटी, चित्रकूट और ऋष्यमूक, गंगा-मंदाकिनी और गोदावरी, अशोकवाटिका और मधुवन, सागर और सुवेल आदि के बिना हम राम-कथा को समझ ही नहीं सकते। ये प्राकृतिक दृश्य और वस्तुएँ कथा के अविभाज्य अंग है, अतः दोनो काव्यों में इनका वर्णन अनिवार्य था। वा० रामायण में पात्र-बाहुल्य और कथा-विस्तार के समान ही इन प्राकृतिक पदार्थों का भी बाहुल्य और विस्तार है, जब कि मानस मे उनकी संख्या और विस्तार दोनों ही कम हैं। इसका एक कारण मानस के कलेवर की सक्षिप्तता है और दूसरा कारण कवि का काव्यविषयक दृष्टिकोण भी है, जिसके अनुसार उसने 'प्राकृत जन' और 'प्रकृति' दोनों को ही गौण रखा है और उन्हें भक्ति की साधना मे लीन दिखलाया है।

२. प्रकृति का स्थान गौण रखते हुए भी मानसकार ने महाकाव्य की शास्त्रीय आवश्यकताओं की यथेष्ट पूर्ति की है। वा० रामायण तो इस दृष्टि से काव्य की पथ-प्रदर्शक ही है। अतः महाकाव्योचित प्रकृतिवर्णन की जैसी सर्वांगीणता और उदात्तता रामायण में है वह मानस में नहीं है। वा० रामायण के समान उसमें सागर, आकाश और पर्वत के विराट् चित्र तथा वनराजि की विशालता नहीं दिखलाई पड़ती।

३. तुलसी ने प्रकृति को जान-बूझ कर गौण स्थान दिया है, फिर भी कहीं-कहीं उनका सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण भी प्रकट होता है, विशेषकर उनके अप्रस्तुत विधान मे। वाल्मीकि का प्रकृति-पर्यवेक्षण अधिक व्यापक है। आदिकाव्य द्वारा प्रवर्तित प्रकृतिवर्णन की परम्परा न केवल आजतक के साहित्य में सुरक्षित है, अपितु जैसा व्यापक और विविधतापूर्ण प्रकृति वर्णन उसमे है वह उसके बाद की किसी काव्यकृति मे नहीं मिलता। मानस तो इस दृष्टि से उसकी तुलना में रक्खा ही नहीं जा सकता।

४. प्रस्तुत रूप में प्रकृति वर्णन के अभाव की कुछ पूर्ति मानसकार ने अप्रस्तुत विधान के रूप में की है अर्थात् उसका आलंकारिक प्रकृति वर्णन अधिक कलात्मक एव उत्कृष्ट है। कथा की परिस्थितियों और पात्रों की मनस्थितियों का प्रत्यक्षीकरण कराने के लिये उसने अत्यन्त स्वाभाविक और आकर्षक प्राकृतिक चित्र प्रस्तुत किये हैं।

५. भक्ति की परम्परा का आरम्भ जिस प्रकार कथानक और चरित्र दोनो में ही वा० रामायण से देखा जा सकता है उसी प्रकार प्रकृतिचित्रण में भी, मानसकार के समान, राम के सम्बन्ध से प्रकृति के प्रति भक्तिभावना का संकेत वा० रामायण के चित्रकूट-वर्णन और गगा के वर्णन में मिलता है। राम के प्रभाव से प्रकृति में पुनीतता का संचार चित्रकूट के वर्णन में, और प्रकृति के हृदय में राम तथा सीता की भक्ति का संकेत वा० रामायण की प्रकृति के मानवीकरण की शैली में दिखलाई पड़ता है।

६. वाल्मीकि का जीवन प्रकृति के बीच व्यतीत हुआ था। अतः उन्होंने प्रकृति को मानवीय जीवन के समकक्ष रख कर देखा है। दूसरी ओर भक्त तुलसी ने प्राकृत जन के समान प्रकृति को भी भक्ति में दीक्षित किया है, अतः पंचभूत परब्रह्म की सेवा

में लीन दिखलाई पडते हैं ।

(आ) वस्तु वर्णन

वाल्मीकि के काव्य में यथार्थवाद अर्थात् लौकिक जीवन का दर्शन विस्तार के साथ होता है, अतः उन्होंने कथानक के अंतर्गत भौतिक पदार्थों के विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किये हैं जैसे राजकीय ऐश्वर्य, शस्त्रास्त्र, वनसम्पदा, वेशभूषा, राक्षस-वानर जातियाँ इत्यादि । तुलसी के काव्य में ये वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त हैं। पौराणिक अत्युक्ति का आश्रय लेकर और राम के अलौकिक प्रभाव की ओर संकेत करते हुए वे प्रायः इन वर्णनों के विस्तार को संक्षिप्त कर देते है । शिव और राम के विवाह का उन्होंने अवश्य सविस्तार वर्णन किया है । इससे एक तो महाकाव्योचित वस्तुवर्णन का नमूना भी प्रस्तुत हो गया है और दूसरे मानस को पारिवारिक महाकाव्य के रूप में लोक-प्रिय बनाने में भी सहायता मिली है । यथार्थवादी या परम्परागत वस्तुवर्णन की अपेक्षा तुलसी ने संत-असंत लक्षण, भक्ति के साधन और नीति के तत्व विस्तारपूर्वक बतलाये है । इस प्रकार प्रकृति चित्रण के समान उनका वस्तु वर्णन भी भक्ति भावना से प्रभावित है ।

५

रस-विवेचन

रस-सिद्धान्त भारतीय साहित्य की आधारशिला है। इस देश में 'रस' और 'साहित्य' एक प्रकार से पर्य्यायवाची बन गये हैं। साहित्य में रस को यह महत्ता कब से प्राप्त हुई यह कहना कठिन है। वैदिक साहित्य में 'रस' का उल्लेख अवश्य है[1] परन्तु साहित्यशास्त्रीय अर्थ में इसका प्रयोग संभवतया भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से ही आरम्भ हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य नन्दिकेश्वर का नाम भी लिया जाता है परन्तु उनके समय और साहित्य का ठीक पता नहीं चला है[2]। वा० रामायण के भी प्रामाणिक अंशों में 'रस' शब्द का प्रयोग साहित्य शास्त्रीय अर्थ मे नहीं मिलता, संगीत और व्याकरण के अतिरिक्त किसी भी साहित्य सम्बन्धी तत्व की चर्चा आदि कवि ने नही की हैं। बालकाण्ड मे अवश्य आठ रसों का उल्लेख हुआ है[3] जो नाट्यशास्त्र मे गिनाये हुए ही आठ रस हैं, शान्त रस इनमें नही है। रामायण के अध्ययन के बाद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बाल्मीकि को साहित्यशास्त्रीय रस का बोध अवश्य हो चुका था और उनकी रचना में 'रस' का निर्वाह अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप मे हुआ है। बालकाण्ड यद्यपि रामायण के रचना काल का परवर्ती और अप्रामाणिक अंश माना जाता है परन्तु ये समस्त संदिग्ध अंशमूल रचना के पूरक और परिशिष्ट ही तो है, अत: आठ रसों का उल्लेख किसी योग्य कथावाचक या गायक ने, जिनके द्वारा रामायणी कथा का विस्तार किया गया है, मूल कृति के अनुशीलन के बाद ही किया होगा। राम कथा में जीवन की जितनी विविध स्थितियाँ हैं उन्हे देखते हुए भी आदि काव्य में समस्त रसों का समावेश होना स्वाभाविक है।

रस का विशेप सम्बन्ध प्रारम्भ में नाटक से ही माना जाता रहा और नाटक सम्बन्धी अनेक तत्त्वो का उल्लेख वा० रामायण में होने से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदि कवि रस की महत्ता समझते थे। बालकाण्ड में नाट्यसंघो का उल्लेख हुआ है[4] तथा अयोध्याकाण्ड मे 'शैलूप' (अभिनेता) शब्द आया है[5]। अन्यत्र गीत-

---

१. "दधानः कलशे रसम्" (ऋग्वेद, ९.६३.१३) में सोमरस के अर्थ में, तथा 'रसो वै स' (तैत्तिरेय उप० ११.७.१) में आनन्द के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. दि नम्बर आव रसाज, वी० राघवन, एडयार, मद्रास, १९४०, पृ० ८।

३. वा० रा० १.४.९।

४ वा० रा० १ ५ १२

५ वा० रा० २ ३०.८ राम-साता सम्वाद में)

वाद्य और नृत्य की चर्चा हुई है[1]। ये नाटकीय उपकरण रामायण में रस की सत्ता के ज्ञापक हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—'रामायणे हि करुणा रस; स्वयादिकविना सूत्रित.[2]।' रामायण कालीन समाज और संस्कृति का अध्ययन करने वाले विद्वानों का भी विचार है कि वाल्मीकि के समय में रस-सिद्धान्त स्वीकृत एवं परिपुष्ट हो चुका था[3]। अस्तु, यह निश्चित है कि आदिकाव्य और महाकाव्य रामायण रसों का आकर-ग्रन्थ है, खान है। उसी के विभिन्न कथाप्रसंगों के आधार पर भिन्न-भिन्न रसों को प्रधानता देने वाले नाटक लिखे गये तथा रघुवश, कुमार संभव, मेघदूत जैसे रसप्रवण काव्य भी उससे प्रभावित है।

रामचरितमानस तो सभी दृष्टियों से शास्त्र सम्मत रचना है। उसमें जिस प्रकार धर्मशास्त्रो का निचोड़ है उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के भी सभी तत्त्व हैं—'भाव भेद रस भेद अपारा'[4]। सस्कृत के अनेकानेक नाटकों और काव्यों के मधुकोष मानस मे रस की घनीभूत धाराओं का प्रवाहित होना स्वाभाविक ही है। तुलसीदास ने तो लक्षण ग्रन्थो की तरह भी रसों का नामोल्लेख किया है—

आय गयउ हनुमान जिमि करुणा महँ वीर रस—(लंका० ६१)

नाट्यशास्त्र के आठ रसों के अतिरिक्त मानस में वात्सल्य, शान्त, भक्ति आदि नवीन रसों का प्रसार भी व्यापक रूप से देखने को मिलता है।

दोनों ही रचनाओं में रस-व्यंजना सर्वथा सहज और स्वाभाविक रूप में, बिना पाडित्य-प्रदर्शन या कृत्रिमता के, हुई है और दोनों ही कवि ऐसे रससिद्ध कवीश्वर हैं जिनकी वाणी शास्त्रों में परिगणित तत्त्वों से बहुत आगे रहती हैं। रामकथा जैसे महान विषय और वाल्मीकि तथा तुलसी जैसे महान कवियों के काव्य में साहित्यशास्त्र के नौ, दस या ग्यारह ही क्यों, न जाने कितने रसों का भाण्डार है जिनका विश्लेषण दीर्घकाल तक होता रहेगा। महाकाव्य में सब रस होने चाहियें[5] इस नियम के पालन के कारण नहीं, वरन् स्वमेव भावों की उदारता, आवेश की तीव्रता एवं अनुभूतियो की विविधता के कारण सब रसों की सरितायें इन महाकाव्यों में प्रवाहित हुई हैं। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न रसों के विवेचन द्वारा दोनों कवियों की रस-सम्बन्धी धारणा, रस विशेष में दोनों की रुचि एवं निपुणता, और दोनो काव्यों के प्रधान रस पर विचार करना है।

शृंगार रस

रामकथा में राम और सीता का आदर्श प्रेम कथा का मुख्य आधार है। सीता

---

१. वा० रा० २.६१.४७, तथा ५.६.४२ ४३।

२. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत।

३. रामायण-कालीन संस्कृति, व्यास, पृ० १६५।

४. बाल० ६।

५ "सर्वरसा क्रियन्ते —— न सर्वाणि" रुद्रट क [illegible] १८ अध्याय १६। संभवतय रुद्रट ने ही सर्वप्रथम महाकाव्य म सब रसों क सन्निवेश का निर्देश किया ह

का राम के साथ वनगमन और राम का सीता के लिए महायुद्ध, दोनों के पारस्परिक प्रेम के उज्ज्वल प्रमाण हैं। कुछ राज्याश्रित कवियों ने विलास के वासनात्मक चित्र उपस्थित करके यद्यपि शृंगार रस के उच्च पद को ठेस पहुँचाई परन्तु यह रस सदैव से रसराज रहा है। जीवन मे रीति या प्रेम सबसे अधिक व्यापक भाव है और महाकाव्य में जीवन का विशद चित्र उपस्थित होने के कारण शृंगार रस का विशेष महत्व होना स्वाभाविक ही है। महाकाव्य की मुख्य घटना प्रेम और युद्ध से सम्बन्धित होती है और सोन्दर्य शौर्य का प्रेरक बनता है, जैसा कि रामायण में सीता को वीर्यशुल्का कहे जाने से प्रकट होता है[1]। अतः शृंगाररस का उज्ज्वलतम और परिपूर्ण स्वरूप महापुरुष के महान जीवन पर आधारित महाकाव्य मे ही देखा जा सकता है। रस के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने शृंगार रस की जैसी आदर्श कल्पना की थी[2] वह वा० रामायण और रामचरितमानस दोनों में चरितार्थ हुई है। दोनों ही काव्यों में दाम्पत्य जीवन का महान आदर्श प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्य होने के नाते जीवन के विविध स्वरूपों के आधार पर उनमें शृगार के उत्तम, मध्यम और निम्न सभी प्रकार के चित्र दिखाई पड़ते हैं। तुलसी के समय का समाज वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल बन चुका था। जनसंख्या और सभ्यता के विकास के साथ मनोभावों की भी वृद्धि होती चलती है, इस कारण, और संस्कृत साहित्य तथा रीति ग्रन्थों के प्रभाव से भी, तुलसी की रचना मे शृगार रस की स्थितियाँ वा० रामायण की अपेक्षा अधिक हैं। शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्ष के अतिरिक्त पूर्वराग की भी स्थिति रामचरितमानस में है जो कि वा० रामायण में नही है। कहने का आशय यह है कि सामान्य रूप से रसों का क्षेत्र रामचरितमानस में विस्तृत है। अतः शृंगार रस की भी कुछ नई स्थितियाँ उसमें दिखाई पड़ती हैं। दोनों ही काव्यों में शृंगार के विप्रलम्भ पक्ष का ही विस्तार अधिक हुआ है। संयोग पक्ष दोनों में ही सीमित तथा धर्म भावना द्वारा नियंत्रित है। कदाचित् राम-सीता के प्रेम को दृष्टि में रखते हुए ही आचार्य विश्वनाथ ने यह नियम निर्धारित किया था—'उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते। शृगार के तीसरे पक्ष 'अयोग' अर्थात् पूर्वराग की योजना सर्वप्रथम अभिज्ञान-शाकुन्तलम् मे दिखाई पड़ती है और रामकथा में इसका सन्निवेश अत्यन्त रमणीयता के साथ जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नाटक में किया गया है, जिससे तुलसी विशेष रूप में प्रभावित हुए है। शृंगार रस के इन तीनों पक्षों को दोनों काव्यों में देखना है।

---

१. वीयशुल्केति में कन्या स्थापितैयमयोनिजा, रा० १. ६६. १७

२. "यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते"—नाट्य-शास्त्र, अध्याय ६।

अयोग शृंगार अथवा पूर्वराग[1]

शृंगार रस का यह पक्ष वा० रामायण मे नहीं है। यद्यपि बालकाण्ड में स्वयंवर का प्रसंग है परन्तु राम और सीता के पूर्व परिचय की कथा नहीं है। प्रचलित वा० रामायण का स्वरूप ईसा की दूसरी शताब्दी तक स्थिर हो चुका था[2]। संभवतया उस समय तक अभिज्ञान शाकुन्तलम् की रचना नहीं हुई थी अन्यथा उसी पद्धति पर राम-सीता के पूर्व-परिचय और अनुराग का प्रसंग भी रामायणी कथा के गायक उसमें जोड़ने का प्रयत्न अवश्य करते।[3] वा० रामायण में राम-सीता का प्रेम सम्बन्ध विवाह के बाद ही आरम्भ होता है परन्तु रामचरितमानस में इसकी पावन रमणीय झाकी विवाह से पूर्व भी मिलती है। तुलसीदास इस कथा-विकास के लिए विशेष रूप से 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव के ऋणी हैं[4]।

रामचरितमानस के पुष्पवाटिका प्रसंग (बाल० २२७-२३८) मे शृंगार रस का अत्यन्त रमणीय, और आधुनिक शब्दावली में 'रोमांटिक', स्वरूप देखने को मिलता है। प्रबन्धकाव्यों में अनेक कथानक-रूढ़ियो का समावेश होता है। किसी निर्जन स्थान मे वन-वाटिका, तपोवन, तीर्थ अथवा मदिर के समीप नायक-नायिका का परिचय अथवा भेंट की एक कथानक रूढि है।[5] मानस में इस कथांश का नाटकीय पद्धति पर समावेश किया गया है।

उक्त पुष्पवाटिका प्रसग में शृंगार रस का पूर्ण विस्तार एव चरम परिपाक हुआ है। किशोर युगल राम और सीता आलम्बन हैं वसन्त ऋतु की शोभा से युक्त वाटिका का वातावरण उद्दीपन है (बाल० २२७), राम और सीता की चेष्टाये अनुभाव हैं—

१. भये विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल
(बाल० २३०)

---

१. विवाह के पूर्व के अनुराग को वियोग से पृथक करने के लिये सुविधा की दृष्टि से 'अयोग' शब्द का व्यवहार होने लगा है,—दे० सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १०. धनंजय ने भी अयोग शृंगार माना था, दशरूपक—४.५०.

२. रामकथा, बुल्के, पृ० ३५।

३. कालिदास के समय-निर्णय में यह बात सहायक हो सकती है। कुछ भारतीय विद्वान् कालिदास का समय ईस्वी सन् से पहले मानते रहे हैं। यदि तब तक अभिज्ञान शाकुन्तलम् की रचना हो चुकी होती तो रामायणी कथा के [illegible] गायक जिन्होंने अनेक [illegible] और [illegible] प्रसगों की वृद्धि की बालकाण्ड की कथा में राम-सीता के पूर्वराग का प्रसग जोड़ सकते

२. थके नयन रघुपति छवि देखें । पलकन्हि हूं परिहरी निमेषें ॥
(बाल० २३२)

तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्प, स्वरभंग आदि सात्विक भाव और हर्ष, व्रीडा, उत्कण्ठा आदि समस्त शृंगार सम्बन्धी संचारी भाव भी इस पूरे प्रसंग में व्यंजित हुए हैं। हिन्दी के कुछ लक्षण एवं आलोचना-ग्रंथों में मानस का यह प्रसंग शृंगार रस के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।[1] इससे सिद्ध होता है कि तुलसीदास रससिद्ध आचार्य थे और उनके 'मानस' में शृंगार रस के आदर्श उदाहरण प्राप्त होते हैं।

तुलसी-साहित्य में शृंगार रस के स्थायी भाव 'रति' का स्वरूप क्या है, यह यहाँ विचारणीय है। 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्'[2] अर्थात् मन के अनुकूल अर्थ में उसके प्रेमार्द्र या द्रवीभूत होने को रति कहते है। इसमें मन की वृत्ति घोर ऐन्द्रयिकता से लेकर उच्च से उच्च अवस्था अर्थात् आध्यात्मिक या ईश्वरोन्मुख प्रेम दशा तक पहुँच जाती है। मानस के उक्त प्रकरण में रति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी स्थितियाँ मिलती हैं। उपरोक्त संचारी भाव मानसिक स्थितियो के द्योतक है। यद्यपि यहाँ राम और सीता का शारीरिक मिलन नहीं है, और वह दोनों काव्यों में कहीं नहीं दिखलाया गया है, फिर भी वैसी ही तृप्ति मानसिक स्थितियों के रूप में प्रकट की गई है—

१. लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥
(बाल० २३२)

२. प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्ही ॥
(बाल० २३५)

सीता के पलकों में राम का बन्द होना और राम के हृदय में सीता का विराजित होना, यही शिष्ट शृंगार में शारीरिक मिलन की पराकाष्ठा है। कालिदास के कुमार संभव या देव और बिहारी की कृतियों में जैसी शारीरिक चेष्टाएँ चित्रित हैं वैसी न मानस में मिलेंगी और न वा० रामायण में। वस्तुतः रामकथा में, विशेषकर राम और सीता के आचरण में, तामस शृंगार का सन्निवेश प्रायः सभी कवियों ने नहीं किया है।

रति के शारीरिक और मानसिक पक्ष की अपेक्षा, उक्त प्रकरण में तथा अन्यत्र भी, मानस में नैतिक और आध्यात्मिक पक्ष की ही प्रधानता रही है। राम और सीता की यह प्रीति 'पुरातन' अर्थात युग-युग की है (बाल०२२९)। भारतीय आदर्श विचारधारा एवं दर्शनों के अनुसार आदर्श दम्पत्ति का सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर में चलता है। महात्मा बुद्ध की जातक कथाओं में भी अनेक पूर्व जन्मों में भी बुद्ध और यशोधरा

१ सिद्धान्त और , गुलाब राय पृ० १०२ ३

२ साहित्य दर्पण ३ १७६

के पति-पत्नी के रूप में रहने की कथायें है। सीता को भी नारद ने यह बात पहले से बतला दी थी कि राम उनके पूर्व पति हैं (बाल०२२६) और राम भी अनुभव करते हैं कि सीता के प्रति उनके मन के अनायास आकृष्ट होने में कुछ विशेष ही कारण होना चाहिये (बाल०२३१)। वे अपनी भावनाओं को अपने अनुज से नहीं छिपाते और अपने गुरु से भी प्रकट कर देते हैं—

राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ॥ (बाल०२३७)

सीता को भी भगवती गौरी का आशीर्वाद प्राप्त होता है (बाल०२३६)। यह समस्त वातावरण तुलसी-साहित्य में शृंगार रसकी आध्यात्मिकता और नैतिकता का द्योतक है। मानस में तो राम को 'ब्रह्म' और सीता को 'शक्ति' कहा ही गया है (अयो०१२६ तथा अन्य अनेक स्थलों पर), प्रचलित वा० रामायण में भी उन्हें 'प्रजापति,' 'विष्णु' आदि और सीता को 'लक्ष्मी' कहा गया है (युद्ध० १२०, २८)। इससे सिद्ध होता है कि राम और सीता का प्रेम-सम्बन्ध रीति-ग्रंथों में निरूपित नायक-नायिकाओं के सम्बन्ध से भिन्न है। रामायण काल से ही राम और सीता भारतीय दाम्पत्य जीवन के आदर्श युगल हैं। इससे भी पूर्व वैदिक काल से ही भारतीय साहित्य की शृंगार-भावना नीति और धर्म के नियमों द्वारा अनुशासित रही है और वाल्मीकि तथा तुलसी की काव्य-कृतियों में उसी परम्परा का पोषण-परिवर्धन हुआ है।

उपरोक्त विवेचन का अभिप्राय वाल्मीकि और तुलसी की शृंगार भावना की मौलिक एकता की ओर ध्यान आकृष्ट करना है। यद्यपि शृंगार रस का यह अपेक्षाकृत नवीन पक्ष 'पूर्वराग', जो कि परवर्ती साहित्य में स्फुरित हुआ, वाल्मीकि रामायण में नहीं है, परन्तु यह अन्तर रस-विस्तार का है मूलभावना का नहीं। शृंगार रस की मूलभावना दोनों में एक ही है, जैसा कि हम आगे के विवेचन में भी देखेंगे।

संयोग शृंगार

नायक-नायिका की परस्पर प्रत्यक्ष स्थिति में जो शारीरिक और मानसिक चेष्टायें होतीं हैं उनका निरूपण संयोग शृंगार के अंतर्गत किया जाता है। इसे शृंगार रस का शारीरिक, स्थूल या ऐन्द्रिय पक्ष भी कह सकते हैं। दोनों काव्यों में इस प्रकार के वर्णन अत्यन्त सीमित, संक्षिप्त और सांकेतिक हैं और काव्य-नायक राम तथा सीता के व्यवहार में ये अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ही दिखलाई पड़ते हैं।

राम और सीता के प्रेम-व्यवहार का वर्णन राज-महलों में न हो कर तपोवन के सुरम्य-सात्विक वातावरण में हुआ है। प्रबन्धसौष्ठव की दृष्टि से दोनों ही कवियों के लिये इसका अवकाश अयोध्या के राज महलों में न था और परिस्थिति के विचार से वन में भी संयोग शृंगार की मर्यादा आवश्यक थी। 'संभोग' शब्द का तो प्रयोग ही इन पूज्य पात्रों के विषय में नहीं किया जा सकता, फिर भी ऐन्द्रिय और स्थूल पक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है। महाकाव्य में सभी रस और जीवन की सभी परिस्थितियों के सन्निवेश की आवश्यकता की दृष्टि से यह प्रसंग भी आवश्यक था।

दोनों ही कवियों ने राम और सीता के चित्रकूट तथा मंदाकिनी विहार का संकेत

अथवा संक्षिप्त वर्णन किया है। वा० रामायण में भरत के चित्रकूट पहुँचने से पूर्व राम को सीता से चित्रकूट और मंदाकिनी की शोभा का वर्णन करते हुए दिखलाया गया है (अयो० सर्ग ९४,९५)। राम और सीता एक सुन्दर शिलातल पर बैठ कर बन की शोभा देख रहे हैं, अयोध्या के राजमहलों का सुख उसके आगे तुच्छ है। मंदाकिनी का वर्णन करते करते राम सीता के जल-विहार का प्रस्ताव करते है—

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनी नदीम् ।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥ (२.९५.१४)

प्रचलित वाल्मीकि रामायण के कुछ सस्करणो में इसी के साथ एक प्रक्षिप्त सर्ग भी मिलता है[1] जिसमें अधिक विस्तृत रूप में दम्पति के विलास-विहार का वर्णन किया गया है और जिसका उदाहरण तुलसी के मानस में नही परन्तु गीतावली मे मिलता है।[2] मानस मे राम और सीता को चित्रकूट की पर्णशाला में शृंगार-देव मदन और रति के समान निवास करते हुए कहा गया है (अयो० १३३)। सीता का सुख असीम है—

छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी ॥ (अयो० १४०)

और इस साँकेतिक वर्णन को अधिक स्पष्ट करते हुए तुलसी जिस सीमा तक पहुँच सकते हैं, वह यह है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये ॥
सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर ॥ (अरण्य० १)

वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है लेकिन सदर्भ और व्यजना द्वारा शृंगार रस की पूरी सामग्री प्राप्त हो जाती है। राम आश्रय हैं, सीता आलम्बन। वन की विजनता और वसंत श्री उद्दीपन है, रमणीय स्फटिक शिला का भी सहयोग है। पुष्प-चयन और आभूषण पहिराना अनुभाव है जिनसे 'रोमांच' और 'पुलक' तथा 'हर्ष' और 'व्रीड़ा' की कल्पना सहज ही की जा सकती है। 'सादर' द्वारा इस संयोग-शृंगार की सात्त्विकता भी प्रकट है।[3]

दोनों काव्यों में संयोग-शृंगार का एक और उत्कृष्ट एवं अत्यन्त मार्मिक चित्र उस समय मिलता है जब राम खरदूषण और उसकी सेना का बध करके लौटते है और सीता सुन्दरी का दृष्टि-प्रसाद उनके समस्त श्रम और क्लान्ति को दूर कर देता है—

(अ) तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ।
बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे ॥ (३.३०.३९)

---

१. दे० रामायण, बम्बई संस्करण, तिलक टीका की पादटिप्पणी में दिया गया प्रक्षिप्त सर्ग और सातवलेकर संस्करण (स्वाध्याय मंडल प.डी, सूरत) में सर्ग ९६।

२. गीतावली, गोरखपुर, अयो० काण्ड, पद ४४, चरण ४।

३. अंग्रेज़ी कवि कीट्स रोमांटिक कवियों में अत्यन्त श्रेष्ठ माने जाते हैं। उनकी एक लिरिकल बैलड ला बैल डेम सेन्स मर्सी में नाइट वनसुन्दरी को पुष्पाभरण पहिनाता है। ऐसी ही रोमांस की थिरकन मानस के उक्त प्रकरण में है

(आ) सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥
(३.२१.२)

रामायण में सीता आलिंगन करती है, पर मानस में दृष्टि के सम्पुट से ही हृदय का सारा अनुराग उँडेल देती है। एक का आलिंगन शारीरिक चेष्टा-जन्य होकर भी पूर्ण सात्विक है और दूसरे का दृष्टि-प्रसाद होकर भी ऐन्द्रियिक स्पन्दनों का सूचक है। राम और सीता के संयोग-शृंगार की यही पराकाष्ठा दोनों काव्यों में है। उक्त शृंगार-वर्णन को शैथिल्यित शृंगार (शिवलरस लव[1]) कह सकते हैं।

सीता-हरण के पश्चात् राम के विरह-वर्णन में सीता के नखशिख-उल्लेख द्वारा भी संयोग शृंगार सूक्ष्म रूप में वर्णित हुआ—

(अ) शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी। (३.६६.१३)

× × ×

ककुभ. ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम्। (३.६६.१५)

(आ) श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥ (३.३०)

दोनों कवियों ने राम के मुख से सीता के स्तनों और जंघा का उल्लेख कराया है, परन्तु इसमें अन्तर द्रष्टव्य है। रामायण में यह उल्लेख प्रस्तुत रूप में है—'स्तन' और 'उरु', परन्तु मानस में अप्रस्तुत रूप में—'श्रीफल' और कनक कदलि'। इस प्रकार तुलसी की भक्तिभावना ने रामायण-काल से ही चले आते हुए मर्यादित शृंगार-वर्णन को और भी अधिक मर्यादित कर दिया है।

दोनों कवियों ने संयोग-शृंगार वर्णन की पूर्ति प्रकारान्तर से करने का प्रयत्न किया है। राम और सीता के अतिरिक्त अन्य पात्रों में उन्होंने इसकी पूर्ति की है, परन्तु तुलसी ने वहाँ भी अपनी लेखनी पर अधिक नियन्त्रण रक्खा है। वाल्मीकि ने प्रकृति-वर्णन में भी संयोग शृंगार को स्थान दिया है परन्तु तुलसी का प्रकृति-वर्णन तो सर्वथा भिन्न प्रकार का ही है, उसमें रस के स्थान पर उपदेश है। तुलसी ने इसके लिए वनप्रस्थान के समय राम-सीता सम्वाद में और वन-मार्ग पर अवसर प्राप्त किया है। वन प्रस्थान से पूर्व यह सम्वाद रामायण में तो राम के राज महल में हुआ है परन्तु मानस में कौशल्या माता की उपस्थिति में, जिससे दम्पति के सम्वाद में स्वतः मर्यादा आगई है। रामायण के इस सम्वाद में सीता का दर्प और स्वाभिमान गूंजता है (अयो० सर्ग ३०) परन्तु मानस के सम्वाद में दम्पति का प्रेम-रस छलका पड़ता है। निम्नलिखित कतिपय उद्धरणों से प्रकट होगा कि तुलसी ने तरुण दम्पति के यथार्थ मनोभावों को पूर्णतया व्यक्त करते हुए भी प्रेम का आदर्श रूप ही उपस्थित किया है—

राम—हंसगवनि तुम नहिं बन जोगू। सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू ॥

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवनपयोधि मराली ॥

नव रसाल बन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥

1 विचार और विवेचन नगेन्द्र, पृ० ४४

रहहु भवन अस हृदय बिचारी । चंदबदनि दुखु कानन भारी ।। (अयो०६३)

\+ + +

सीता—प्रान नाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ।।
जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ।।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद बिमल बिधु बदनु निहारें ।।
कुस किसलय साथरी सुहाई । प्रभु संग मंजु मनोज तुराई ।।

\+ + +

पाय पखारि बैठ तरु छाहीं । करिहउं बाउ मुदित मन माहीं ।।
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें । कहं दुख समउ प्रानपति पेखें ।।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ।।
बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयार न मोही ।।
(अयो० ६५ तथा ६७)

उपर्युक्त उद्धरण मे पति का प्रेम पत्नी के प्रति कोमलतम, संगीतमय मृदु सम्बोधनों मे ही छलक कर रह गया है जब कि पत्नी की दरस-परस की अभिलापायें भी खुल कर व्यक्त हुई है। अतः यह कहना कि तुलसी की पहुँच संयोग या संभोग शृंगार तक नही हुई है या उन्होंने उसकी सर्वथा उपेक्षा की है, निरर्थक है। वनमार्ग पर जाते समय कुलवधू सीता के मर्यादित प्रेम-प्रकाशन की एक झांकी और देखिये। ग्रामबधुओ को सीता अपने पति का परिचय जिस प्रकार देती हैं उसमें शृंगार रस की पूरी सामग्री विद्यमान है—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी । पिय तन चितइ भौंह कर बांकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि निज पति कहेउ तिन्हहि सियं सयननि ।।
(अयो० ११७)

राम और सीता के इस प्रकार के मर्यादित शृगार वर्णन के अतिरिक्त अन्य पात्रो के विषय में दोनों कवियों ने स्थूल शृंगार का वर्णन भी किया है। इस प्रकार के उदाहरण दशरथ और कैकयी के प्रेम में तथा तथा रावण के अन्त.पुर के वर्णन मे मिलते है। दोनों ही काव्यों में दशरथ राम के राज्याभिषेक का निर्णय करने के बाद सध्या समय कैकेयी के भवन में रति की कामना से प्रवेश करते है। वाल्मीकि ने इसे स्पष्ट लिख दिया है (२.१०.१७), परन्तु तुलसी ने दशरथ के व्यवहार और वार्ता से (२.२५ तथा २६) ध्वनित किया है। वाल्मीकि ने रावण के अंत.पुर का भी अत्यन्त विलासपूर्ण वर्णन किया है जिसमें तामस शृंगार खुलकर प्रकट हुआ है (५.१०.३९-४९) परन्तु तुलसी ने रावण को बारम्बार 'कामी लंपट' 'लोलुप' 'स्वान' आदि कहकर भी उसकी कामुकता का चित्रांकन नहीं किया है। रावण की बिलास-लीला का संकेत उन्होंने अवश्य सगीत के प्रकरण में किया है सका० १३ परन्तु अंत-पुर की क्रीड़ाओं का वर्णन कहीं नहीं किया है।

मानस के उपर्युक्त वर्णनों में शृंगार रस की पूरी सामग्री होते हुए भी तुलसी की मर्यादा-पद्धति दर्शनीय है। राम-सीता के सम्वाद में माता की उपस्थिति के कारण दोनों अपने उद्‌गार प्रकट करने के साथ ही सङ्कुचित भी हैं,[१] दशरथ के कामुक उदगार परिस्थिति के कारण शृंगार की अपेक्षा करुणा और विषाद का ही सृजन कर रहे हैं[२] और रावण की विलास-लीला राम के एक बाण से ही धराशायी हो जाती है[३]। आशय यह कि तुलसी की भक्ति भावना ने तो राम और सीता के प्रेम व्यवहार को अत्यन्त मर्यादित रूप में प्रदर्शित किया है और उनकी वैराग्य भावना ने अन्य पात्रों के प्रेमाचरण की भी निस्सारता एवं उपहास्यता प्रकट की है। कहीं भी मुक्त मांसल "शृंगं हि मन्मथोद्‌भेदः" (साहित्यदर्पण) शृंगार का वर्णन मानस में नहीं मिलता, परन्तु वाल्मीकि रामायण मे ऐसे भी उदाहरण मिल जाते है। उनके प्रकृति-चित्रण से एक उदाहरण लीजिए—

> दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
> नवसंगमसव्रीड़ा जघनानीव योषितः॥ (४.३०.२८)

संयोग शृंगार के उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त दोनों काव्यों में राम और लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा के (अरण्यकाण्ड) और सीता के प्रति रावण के (सुन्दरकाण्ड) लालसामय उद्‌गारों में शारीरिक भूख का नग्न प्रदर्शन हुआ है परन्तु वहाँ रस न होकर रसाभास है क्योंकि विभावादि का अनौचित्य है[४] कुरूपा और वृद्धा राक्षसी के लिये सुरूप तरुण मुनिकुमार अनुपयुक्त आलंबन है, सीता की उपस्थिति के कारण भी स्पष्ट प्रणय-प्रस्ताव अनुचित है और कभी राम के तथा कभी लक्ष्मण के पास शूर्पणखा की लोलुप दौड़ के कारण स्थिति हास्यास्पद बन गई है। रावण ने जिस प्रकार कायरतापूर्वक सीता का अपहरण किया था उसे देखते हुए वह प्रणय-निवेदन का अधिकारी नहीं था और फिर सीता को मार डालने की धमकी[५] से शृंगार का विरोधी रौद्र रस भी आ गया है। एक ही आलंबन के प्रति रति और क्रोध एक ही समय में नहीं हो सकता, अत उक्त स्थितियां शृगार के रसाभास की उदाहरण कही जा सकती हैं और दोनों ही काव्यों में यह स्थिति एक समान है।

वियोग शृंगार

सीताहरण के पश्चात् राम के विलाप में (अरण्य काण्ड) और अशोक वाटिका मे निवास करती हुई सीता के विलाप में (सुन्दरकाण्ड) वियोग या विप्रलभ शृंगार का प्रसार हुआ है। विरह-वर्णन में एक विशिष्ट मानसिक स्थिति अर्थात् उन्माद की दशा

---

१. मा० २.६१.१ तथा २.६४.५।
२. वही चौ० २६ तथा २७।
३. मा० ६.१३।
४ विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता कवेरिति (अभिनव गुप्त)
५ रा० ५ २२ तथा मा० ५ १०

का चित्रण करने की परम्परा वा० रामायण से आरम्भ होती हुई दिखलायी पड़ती है जो परवर्ती साहित्य में रूढ़ हो गयी और आज तक उसका अनुसरण किया जा रहा है। तीव्र विरह में नायक या नायिका अपनी स्थिति को भूलकर जड़ पदार्थों एवं पशु पक्षियों से भी चेतन तथा सजातीय प्राणियों के समान व्यवहार तथा वार्तालाप करने लगते हैं। इस मनस्थिति का अत्यन्त मार्मिक और व्यापक चित्रण करने वाला 'मेघदूत' संसार के अमर काव्यों में से है। रामायण में इस मनस्थिति का निरूपण अधिक विस्तार के साथ हुआ है (३.६० तथा ६२) परन्तु मानस में संक्षिप्त रूप में ही किया गया है, यद्यपि उसमे मार्मिकता का अभाव नहीं है (३.३०)।

विरह-वर्णन की एक दूसरी प्रवृत्ति भी अर्थात् प्रकृति के द्वारा विरहोद्दीपन, रामायण से ही आरम्भ हो गई थी। इसकी भी परम्परा आज तक चली आ रही है, परन्तु तुलसीदास ने इस परम्परा का अपने काव्य में यथेष्ट रूप से निर्वाह नहीं किया। दोनो कवियों ने वसंत, वर्षा और शरद ऋतुओं की पृष्ठभूमि पर राम के विरह का प्रसार किया है।[1] परंतु वाल्मीकि के वर्णन मे स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और कलात्मकता है जब कि तुलसी ने इन अवसरों पर राम के विरहोद्‌गार प्रकट करने के स्थान पर उनसे उपदेश ही दिलाये है। जहाँ वाल्मीकि के राम को ऋतुओं की शोभा सीता की सुन्दरता का स्मरण करा कर उनके सुखद सहवास के अभाव से पीड़ित करती है और रसशास्त्रीय दृष्टि से 'विषाद' 'चिन्ता' 'ग्लानि' 'शंका' 'उग्रता' आदि संचारी भावों तथा 'स्मरण' 'प्रलाप' 'उन्माद' आदि विविध अवस्थाओं का सन्निवेश इन वर्णनों में हुआ है, वहाँ तुलसी ने सीता के वियोग में राम के केवल एक ही भाव **'भय'** का वर्णन किया है—

१. देखहु तात बसंत सुहावा। प्रिया हीन मोहि भय उपजावा॥
(अरण्य६ ३७)

२. घन घमंड गरजत नभ घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
(किष्किधा० १४)

इन दो पंक्तियों में प्रकृति द्वारा उद्दीप्त विरह-वर्णन की पद्धति का निर्वाह तुलसी दास ने अवश्य कर दिया है परन्तु यहाँ रस-प्रसार बिल्कुल भी नहीं हुआ है।

राम के विरह-वर्णन के अंतर्गत एक मार्मिक उदाहरण मानस से अवश्य प्रस्तुत किया जा सकता है। सीता का हरण कांचन मृग के कारण हुआ था। राम उस समय तो अपनी प्रिया के प्रेम के कारण मृग के पीछे दौड़ गये थे परंतु बाद में वे अपनी अज्ञता पर पछताते हैं—

हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
तुम आनंद करहु मृग जाये। कांचन मृग खोजन ए आये॥ (३.३७)

इस आत्मनिंदा में राम का क्षोभ और ग्लानि कितनी मार्मिक है जिससे उनकी गंभीर मनोव्यथा प्रकट होती है। परंतु यह विषाद की स्थिति मात्र है जिसमें केवल संचारी भाव है, रस का पूर्ण प्रसार नहीं है। इससे प्रकट होता है कि तुलसीदास को

१ वा० रा० ४ १, ४ २८ अय ३० और मा० ३ ३९ तथा ४ १४ १७

कुछ कारणों से राम का विरह्-वर्णन अभीष्ट नहीं है, और इसकी पुष्टि निम्नलिखित पक्तियों से भी हो जाती है—

१. रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिन्ता कीन्हि विसेखी ।।

\+ + +

एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा विरही अति कामी ।।
पूरन काम राम सुख रामी। मनुज चरित कर अज अविनासी ।। (३.३०)

२. गुनातीत सचराचर स्वामी । राम उमा सब अंतरजामी ।।
कामिन्ह के दीनता दिखाई। धीरन्ह कें मन बिरति दृढ़ाई ।। (३.३९)

पहले उदाहरण से प्रकट है कि राम का विरह वास्तविक नहीं अभिनय मात्र है और दूसरे उद्धरण में तुलसी यह घोषित करते हैं कि वे राम के विरह का चित्रण समझदारों के लिए वैराग्य का उपदेश देने के लिए कर रहे है क्योंकि वे पहले ही राम से कहलवा चुके हैं—

राखिअ नारि जदपि उर माही। जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं ।। (३.३७)

और राम के विरह-वर्णन प्रसंग का उपसंहार भी इसी प्रकार करते हैं—

दीप सिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग
भजहि राम तजि काममद करसि सदा सतसंग। (३.४६)

और आगे लक्ष्मण-शक्ति के प्रसग मे वे इसी बात को दोहराते है—

नारि हानि विसेप क्षति नाही ।। (६,६०)

इस प्रकार के विरह वर्णन की तुलना वा० रामायण से करने पर स्पष्ट विदित होता है कि तुलसी ने राम के विरह-वर्णन को बचाने का अथवा अपने काव्य मे से हटाने का पूरा प्रयत्न किया है। वा० रामायण की कुछ पंक्तियां देखिये—

१. स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम ।। (३.६२.१६)
२, अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्न चिरादिव ।। (४.१.३३)
३. त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।।
न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वरः ।। (३.६४.६३)

सीता के बिना राम के लिए स्वर्ग-सुख भी तुच्छ हैं, शोक की अग्नि उन्हे जला डालने को उद्यत है, मारे क्रोध के वे समस्त सृष्टि के ही संहार पर तुल जाते हैं, उन्हे आज कैकेयी के कृत्य की क्रूरता का अनुभव होता है[1]। अपने श्वसुर जनक को मुह दिखलाने योग्य भी वे नही रहे,[2] सारी प्रकृति उन्हें उपहास करती दिखलाई पड़ती है, संयोगी पशु-पक्षियों तक को देखकर उन्हें ईर्ष्या होती हैं—ऐसी-ऐसी विरह की विभिन्न मनस्थितियाँ मानस के राम में दुर्लभ हैं, क्योकि उनका मानव-आचरण गौण है और दिव्य आचरण ही प्रधान है।

मानस में राम की अपेक्षा सीता का विरह-वर्णन अधिक स्वाभाविक, मार्मिक

१ रा० ३ ६२ ११
२ रा० ३.६२ १ १८

और विशद रूप मे वर्णन हुआ है। स्वयंवर के समय भी सीता की अधीरता अधिक है,[1] वनवास के समय भी उनके उद्‌गार अधिक स्वाभाविक, मार्मिक और प्रसंगानुकूल है,[2] हरण के समय भी उनकी वाणी मे कपिला गाय की सी करुणा है[3] और अशोक वाटिका में निवास करती हुए भी वे अधिक दीनता और अधीरता प्रकट करती है[4]। तुलसी ने राम के परब्रह्मत्व और नरत्व दोनों के ही कारण उनका विरह-वर्णन विरल और कृत्रिम रूप में किया है जब कि वाल्मीकि ने राम और सीता दोनों का विरह-वर्णन वास्तविकता और विस्तार के साथ किया है। तुलसी का विप्रलंभ श्रृंगार निरूपण परब्रह्मवाद और आध्यात्मिकता के कारण कला की दृष्टि से प्रायः निष्प्राण और निर्जीव हो गया है। इसमे तीन कारण दिखलाई पड़ते हैं—वैयक्तिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक। वैयक्तिक कारण जनश्रुति पर आधारित रत्नावली वाली घटना हो सकती है। कदाचित् वे नारी को जीवन भर क्षमा नहीं कर सके[5] और उसके विरह मे रुदन को पुरुष की आत्महीनता समझते रहे। स्त्री के प्रति उनकी मनोग्रंथि ही उनके स्त्री-विषयक वैराग्य और काम-निन्दा में परिणत हो गई थी। आध्यात्मिक कारणवश जिस प्रकार वे परब्रह्म राम की बालक्रीडा[6], क्रोध[7], उत्साह और संग्राम[8] आदि को उनका अभिनय या लीला मानते थे उसी प्रकार उनके रतिभाव को भी, परंतु उनका यह लीलापक्ष तुलसी ने संयोग पक्ष में न दिखाकर वियोग पक्ष में ही दिखलाया है। राम का सयोग श्रृंगार मर्यादा पुरुषोत्तम का है परन्तु उनका वियोग तो केवल भ्रम है और परब्रह्म की लीला है। राजनैतिक कारण वश उन्हे स्त्री की निन्दा और अवमानना करते हुए पुरुप जाति को उन पर अधिक नियन्त्रण के लिए प्रेरित करना था, स्त्री के प्रति उनकी आसक्ति को कम करके वैराग्य या उद्योग का पाठ पढ़ाना था, क्योंकि मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दू जाति के पराजित और अपमानित होने में वे स्त्री जाति को अवश्य उत्तरदायी मानते रहे होंगे। राजपूतों की शक्ति के ह्रास के दो मुख्य कारण थे, पारस्परिक ईर्ष्या-स्पर्धा और स्त्रियों का अपहरण। दूसरी ओर मुसलमानों ने केवल भूमि, राज्य और धन से ही सन्तोष नहीं किया, स्त्रियो का भी अपहरण एवं क्रय किया। मानस मे राक्षसों के विरोध के रूप मे उभी यावनी सत्ता का प्रच्छन्न विरोध है।[9] अतः हिन्दू जाति को सशक्त बनाने के लिए भी उन्होंने कदाचित राजनैतिक कारण से स्त्री का 'कामिनी' के रूप मे महत्त्व

---

१. मा० १.२५८।
२. मा० २.६५-६७।
३. मा० ३.२९।
४. मा० ५.१२।
५ विचार और विश्लेषण नगेन्द्र पृ० ५०
६ मा० १ दो० ११९

कम करने का प्रयत्न किया था। लक्ष्मण-शक्ति पर विलाप करते हुए उन्होंने राम से कहलवाया है—

जैहउ अवध कौन मुहुँ लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥ (६.६१)

पुरुष के प्राणों की अपेक्षा नारी के प्राणों का कोई मूल्य नहीं था, अतः तुलसी के लिये नारी के विरह में पुरुष का रुदन अभीष्ट न था।

मानस में राम का इस प्रकार का विरह विप्रलंभ-शृंगार का उदाहरण न होकर तुलसी की साम्प्रदायिक दृष्टि का प्रमाण बन गया है और उसमें रसानुभूति की अपेक्षा भक्ति का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है। भगवान राम का सच्चा रुदन भक्त की श्रद्धा पर आघात पहुँचाता, अतः उसे लीला बतलाकर राम को ऐसी दुर्बलताओं से रहित बतलाया गया है और भक्तों की श्रद्धा की रक्षा की गई है। इसी लिये अध्यात्म रामायण में छाया-सीता की कल्पना की गई थी[1], जिसका अनुसरण तुलसी ने किया है। सीताहरण से पूर्व राम ने उन्हें अपनी योजना बतलाते हुए अग्नि में निवास करने का परामर्श दिया था[2], अतः यह वास्तविक सीता का हरण न होकर छाया-सीता का हरण था। लक्ष्मण भी इस भेद को नहीं समझते थे[3]। ऐसी स्थिति में सीता के लिये राम का सच्चा रुदन ही अस्वाभाविक होता, क्योंकि वास्तविक सीता तो अग्नि में सुरक्षित थी। यह मानस के राम के विरह की आध्यात्मिक व्याख्या हुई। इसी को थोड़ा कलात्मक और मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न भी तुलसीदास ने किया है। हनुमान के द्वारा सीता के लिये संदेश में उन्होंने कहलवाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं। (मा० ५.१५)

मन की एकता, दो आत्माओं के मिलन अथवा पारस्परिक तादात्म्य के बाद विरह का प्रश्न ही नहीं उठता वरन् वह विरह ही चिरमिलन बन जाता है। इस रूप में भी राम के कृत्रिम विरह की एक व्याख्या की जा सकती है, जिससे तुलसी के काव्य का कलात्मक गौरव सुरक्षित रह जाता है। तुलसी की भक्ति-भावना और सांप्रदायिक दृष्टि ने उनकी समस्त काव्य-दृष्टि को इसी प्रकार रंग दिया है। इसी भक्ति भावना के कारण उन्होंने सीता से अधिक राम की सुन्दरता का वर्णन किया है जिसे देखकर राक्षस तक उन पर मुग्ध हो जाते हैं। खर और दूषण राम को देखकर कहते हैं—

हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥ (३. १९)

राम की सुन्दरता, सुशीलता और शक्ति का पूर्ण उत्कर्ष दिखाकर तुलसी ने

---

१. अ० रा० ३.७।
२. मा० ३-२४।
३. वही

अपने काव्यनायक को भक्ति का आलंबन बनाया है। विरह को मर्यादा पुरुषोत्तम की दुर्बलता समझते हुए उसका वर्णन उन्होंने कम किया है और उसे भी 'मायावपु' की लीला ही बतलाया है।

वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही आदर्शवादी कवि हैं परन्तु तुलसी आदर्शवादी के साथ सम्प्रदायवादी भी हैं। दोनों कवियों ने शृंगार रस के अन्तर्गत दाम्पत्य जीवन का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है, परन्तु तुलसी ने न केवल आदर्शवाद का विस्तार किया अपितु प्रायः काव्य को कला के क्षेत्र से निकालकर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में सीमित कर दिया है। धर्म-भावना और नीति-तत्व वाल्मीकि में भी है। वाल्मीकि के राम के विलाप में भी स्थान-स्थान पर ऐसा लगता है जैसे राम का प्रेम ही नहीं, उनका धर्म भी आहत होकर रो रहा है[1]। उन्हे सीता-हरण में अपनी कायरता दिखलाई पडती है, वे अपने परिजन और प्रजाजन को मुँह दिखलाने में सकुचित होते है, परन्तु यह सब स्वाभाविक है। काव्यकला का उल्लंघन इसमें नहीं है। भक्ति भावना के आधिक्य के कारण कुछ विद्वान मानस मे काव्य शास्त्रीय रस न मानकर रसाभास ही मानते हैं[2]। इस पर आगे विचार किया जायेगा, परन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वाल्मीकि और तुलसी की समस्त काव्यकला मे भक्ति भावना के कारण एक मूलभूत अन्तर हो गया है और इसी का प्रभाव उनकी रस-दृष्टि पर भी पड़ा है। वा० रामायण में सब रस स्वतन्त्र हैं, साहित्यशास्त्र के अनुरूप हैं, जब कि मानस में सभी रस भक्ति के आधीन हैं, तुलसी के दार्शनिक विचारों से अनुशासित हैं।

वीर रस

रामकथा मूल रूप में एक वीर-आख्यान था जिसे सर्वप्रथम इक्ष्वाकुवंश के चारणों ने अपने जातीय नेता को अमर बनाने के लिये गाया था।[3] उसी अस्फुट आख्यान काव्य के आधार पर वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना की[4]। अतः उसमें कथा की मूल भावना बहुत अंशों तक सुरक्षित है, अर्थात् वह केवल एक वीर पुरुष के वीर कृत्यों की काव्यमयी गाथा है जिसकी मुख्य घटना है राम-रावण युद्ध। अन्य सभी घटनाएँ इसी मुख्य घटना की ओर उन्मुख है। मानस की स्थिति इसमे भिन्न है। मानस के राम की वीरता असाधारण और अद्भुत ही नहीं, अलौकिक एवं अचिन्त्य भी है। वे परब्रह्म के अवतार हैं। उन्होंने पृथ्वी का भार

---

१. विचार और विवेचन, नगेन्द्र पृ० ४२।
२. मानस दर्शन, श्रीकृष्ण लाल, पृ० १६४।
३. इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्॥ (वा० रा० १, ५, ३)
यह श्लोक यद्यपि बालकाण्ड में है परन्तु जाकोबी ने इसे मूल रामायण का ही प्रारम्भिक अंश मानी है (दे० रामकथा, बुल्के पृ० १४०)
४ वही पृ० १२

उतारने के लिए, 'विप्र, धेनु, सुर, सन्त हित'[1], तथा भक्तों की रक्षा और प्रसन्नता के लिये, संक्षेप में अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये, अवतार लिया है[2]। रावण का वध मानस की भी राम कथा की मुख्य घटना है, परन्तु वह साधन रूप मे है, साध्य रूप में नहीं। उसका साध्य तो है भक्तों को राम की विविध लीलाओं द्वारा सुख प्रदान करना और धर्म की स्थापना करना। वा० रामायण में भी अन्त में राम-राज्य के रूप में धर्म की स्थापना होती हुई दिखाई पड़ती है, परन्तु रावण का वध इसके लिये नहीं किया गया था। उसका उद्देश्य था सीता का उद्धार, अपमान का बदला और अपनी कुल-प्रतिष्ठा की रक्षा[3]। इस प्रकार रामायण के राम की वीरता वैयक्तिक ही ठहरती है, जबकि मानस के राम की वीरता का सम्बंध सम्पूर्ण संसार से है। भगवान के रूप में वे समस्त ससार की रक्षा और सुख-विधान का प्रयत्न करते हैं और जितना बड़ा उनका लक्ष्य है उतनी ही बड़ी उनकी शक्ति भी है। वे चाहते तो अयोध्या में बैठे-बैठे ही रावण का वध कर सकते थे। जिनका बाण इन्द्र के पुत्र जयन्त का पीछा तीनों लोकों में कर सकता था[4] और मारीच को सौ योजन दूर फेंक सकता था[5] उनके लिए यह भी सम्भव था। परन्तु मानस के राम स्वेच्छा से वन मे आते है और वा० रामायण के समान इक्ष्वाकु वंश के प्रतिनिधि होने के नाते[6] अथवा साम्राज्य-विस्तार के लिये[7], अथवा सीता के उद्धार के लिये, अथवा दक्षिण में आर्य संस्कृति का प्रसार करने के लिये[8] युद्ध नहीं करते वरन् वे केवल भक्तों को अपनी लीला का सुख प्रदान करने के लिये रावण का वध और दूसरे महत्कार्य करते है।

---

१. मा० १, दो० १९२।
२. वही, १२१।
३. वा० रा० ६.११८.१४-१६।
४. मा० ३.२।
५. मा० १. २१०।
६. दे० वा० रामायण में राम के द्वारा बालि को दिया गया उत्तर—४.१८.६-१०।
७. इक्ष्वाकुवंश वालों का युद्ध राक्षसों के साथ पहले से चला आ रहा था। राम के पूर्वज अनरण्य का रावण के साथ युद्ध हुआ था (दे० उत्तरकांड सर्ग १९) कैकेयी के साथ दशरथ शम्बरासुर से युद्ध करने के लिये दण्डकारण्य में पहले भी आ चुके थे (दे० २,९,१२) विश्वामित्र उत्तर दिशा में राक्षसों की चौकी समाप्त कराते है और अगस्त्य उन्हें शस्त्रास्त्र प्रदान करते है (अरण्य सर्ग १२)—इन बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि राम का वन-गमन प्रच्छन्न रूप से सामाज्य विस्तार की योजना थी (दे० बालि वध का राजनीतिक कारण, ले० श्री राजेन्द्रनाथ विद्याभूषण, कल्याण, जुलाई १९३०)। रामायण में ऐतिहासिक और राजनैतिक तत्व की प्रमुखता देखते हुए ऐसे अनुमान अस्वाभाविक नहीं लगते। राम के विषय में महान्राष्ट्र विवर्धन: (१.५.९) राज्य शारदतम् (२.१००.७), पृथ्वीमन्वपालयत (६.१३१.९३) आदि विशेषण और राम का बालि से 'इक्ष्वाकूणामियं भूमि:' (४.१८.६) कहना, इसी बात की पुष्टि करते हैं।
८. लासेन और वेवर का मत है कि रामकथा आर्य संस्कृति के दक्षिण में विस्तार किये जाने का ऐतिहासिक रूपक है, दे० हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर मेकडानल पृ० ३११।

वा० रामायण के राम के समान उनकी वीरता वैयक्तिक नहीं वरन् अधिक व्यापक है। उनका लक्ष्य सीता का उद्धार नहीं वरन् रावण के रूप में आसुरी सत्ता से पीड़ित लोक का उद्धार करना है। इस प्रकार मानस मे वीर रस के आलम्बन का स्वरूप परिवर्तित हो गया है।

जब किसी महापुरुष का महत्कार्य लोक-रक्षा के निमित्त होता है तब उसमे वीरता से अधिक लोक-प्रेम या विश्व-प्रेम की भावना दिखाई पड़ती है। अतः मानस के राम लोकप्रेम या विश्वप्रेम के आश्रय है और उनका आलंबन है दुखी एवं पीडित संसार। जब मानस का मूल भाव यह प्रेम ठहरता है तब उसमें वह रस प्रधान माना जायेगा जिसका स्थायी भाव विश्वप्रेम हो। इस विश्वप्रेम को लोक-वत्सलता कह सकते है जो भक्ति का प्रेरक है। इसी बात को लक्ष्य करते हुये एक विद्वान का कथन है—'वाल्मीकि रामायण में तो राम का चरित्र महान अकुतोभय वीर का ही चरित्र है पर मानस के राम में उनकी विनम्रता, भक्तवत्सलता और मर्यादा के कारण उनका वीर-रूप कुछ दबा सा है।'[1]

वाल्मीकि रामायण के राम एक वीर नायक है। उनकी वीरता एकांगी नही है, उसमें बर्बर भुजबल का प्राधान्य नहीं है, वरन् कर्त्तव्य की रक्षा के लिये सत्वरस, अथवा आत्मबल का प्राधान्य है। राम की वीरता केवल समर-शौर्य में सीमित नही थी वरन् वीरता के सूक्ष्म आत्मिक गुणों से संगठित थी। उसके अवयव थे त्याग, साहस, क्षमा, औदार्य, सहिष्णुता और अपार प्रेम-शक्ति।

लक्षण ग्रथों में वीरता चार प्रकार की मानी गई है—युद्धवीरता, दानवीरता, धर्मवीरता और दयावीरता।[2] रावण-विजेता राम मुख्य रूप से तो युद्धवीर ही है, परन्तु विभीषण को लंका-दान कर देने में उनकी दानवीरता प्रकट होती है। वन-प्रस्थान के समय वे अपनी समस्त बहुमूल्य संपत्ति द्विजों और दास-दासियों को दान कर देते है।[3] पिता की आज्ञा के कारण वन में जाना उनकी 'धर्मवीरता' है। वा० रामायण में उन्हे धर्म विग्रह[4] और 'धर्मभृतावर'[5] कहा गया है। इसके साथ ही उनमे दयावीरता भी है जो कि जटायु आदि के प्रसंग में दिखाई पड़ती है और मानस मे तो यह विशेष रूप से दिखाई पडती है क्योंकि राम अपने शत्रुओं तक पर दया करते है। अन्तर की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वा० रामायण में राम का चित्रण युद्धवीर के रूप में अधिक हुआ है और मानस में धर्मवीर के रूप में। वा० रामायण के राम की धर्मवीरता ही विकसित होती हुई आगे चलकर राम को भगवान बनाने मे सहायक हुई और वीरत्व के प्रेरक राम भक्ति के प्रेरक बन गये।

राम के चरित्र-चित्रण मे यह कहा जा चुका है कि जहाँ वा० रामायण के

---

१. महाकाव्य० शंभूनाथ सिंह, पृ० ५५४।

२. दशरूपक, धनंजय, ४, ७२ तथा काव्यदर्पण रा० द० मिश्र, पृ० २४६।

३. वा० रा० अयो० सर्ग ३१ और ३२

५ वा० रा० ३ ३७ १३

६ वा० रा० ३ ७ ७

राम में शक्ति का प्राधान्य है वहां मानस के राम में शील गुण अर्थात् साधुप्रकृति का। मानस के राम को न तो अपनी विजय का हर्ष है और न पराजय का क्षोभ। वे चाहते तो मेघनाद के नागपाश को तोड़ सकते थे, परन्तु वे स्वेच्छा से उसमें बंध जाते है।[1] मानस में न तो राम विजेता हैं और न रावण विजेतव्य, क्योंकि राम मोक्ष प्रदान करने के लिये वध करते है और रावण तामस देह से भजन को असंभव जान कर युद्ध के बहाने मोक्ष का वरण करता है।[2] राम के द्वारा कुम्भकर्ण का वध होने पर तुलसीदास लिखते हैं—

निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन निज धाम।
गिरिजा ते नर मदमति जे न भजहिं श्रीराम ।। (लंका० दो० ७१)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मानस में वीर रस भक्ति-रस के आधीन है। यह वीर रस करुणा की क्रोड़ में जन्म लेता है और फिर उसी में समा जाता है। उदाहरण के लिये वन में जाते समय मुनियों का अस्थि-समूह देखकर राम के नेत्रों में अश्रु छलक आते हैं और तब वे रावण-वध की प्रतिज्ञा करते है—

अस्थि-समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अतिदाया ।।
निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुवीर नयन जल छाये ।।
निसिचर हीन करहु महि भुजि उठाय पन कीन्ह।
सकल मुनिन के आश्रमन्हि जाय जाय सुखदीन्ह ।। (मा० ३.९)

इसी प्रकार रावण से युद्ध करते समय वे बहुत देर तक तो उसे कौतुक पूर्वक खेल खिलाते हैं और जब देवताओं को बहुत अधिक भयभीत देखते हैं तब विभीषण से उसका रहस्य जानकर वध करते है। लक्ष्मण-शक्ति के समय हनुमान के संजीवनी ले आने पर तुलसीदास लिखते हैं :—

"जिमि करुनामहं वीर रस' (६.६१)

मानो इसी सूत्र का परिपालन उन्होंने अपने वीर रस में भी किया है अर्थात् उसकी पृष्ठभूमि में करुण रस ही रक्खा है। यों तो वीरता-पूर्ण कृत्यों में अद्भुत रस का समावेश स्वाभाविक रुप से हो ही जाता है और अद्भुत रस की उत्पत्ति भी वीर रस से मानी गई है[3] परन्तु मानस में दूसरे ढंग से वीर रस के साथ अद्भुत रस जुडा हुआ है। मायापति होने के नाते राम अद्भुत अकथ्य लीलाओं के सूत्रधार है। उनका एक ही बाण महाप्रलय मचा देता है। क्षण भर में राक्षसों की माया को काट डालता है, और सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उनके बाण लौटकर उनके निषग में आ जाते है—

छन महुं प्रभु के सायकन्हि काटे विकट पिसाच।
पुनि रघुवीर निषंग महुं प्रविसे सब नाराच ।। (लंका दो० ६८)

---

१. मा० लंका० ७३।
२ मा० ३ ३
३ वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति- (काव्य दर्पण रामदहिन मिश्र पृ० २१५ टिप्पणी)

इस प्रकार मानस का कवि एक साथ ही राम की करुणा या वत्सलता तथा उनकी चमत्कारिक शक्ति दिखलाकर उनके प्रति कृतज्ञता, विस्मय और भय के भाव उत्पन्न करता है। ये ही भक्ति के मूल तत्त्व हैं।

मानस में शुद्ध वीर रस का उदाहरण भी अन्य रसों के समान नहीं मिलेगा, फिर भी उसकी झलक लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में देखी जा सकती है। लक्ष्मण में वास्तविक रणोत्साह है। मेघनाद के साथ उनकी जोट संतुलित है, उनकी विजय पूर्व निश्चित नहीं है, प्राण-संकट के बाद उन्हें कठिन श्रम से विजय मिलती है। इस प्रकार राम-रावण के अवास्तविक युद्ध के समक्ष लक्ष्मण-मेघनाद के वास्तविक युद्ध का चित्र प्रस्तुत करके शुद्ध साहित्यिक वीर रस का नमूना भी उपस्थित किया गया है। निम्नलिखित चित्र देखिये—

आयसु मांगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ॥
छतज नयन उर बाहु विशाला। हिमगिरि निभ तनु कछु इक लाला॥
× × ×
लछमन मेघनाद द्वौ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा॥
एकहि एक सकहिं नहीं जीती। निसिचर छलबल करहि अनीती॥
क्रोधवन्त तब भयहु अनन्ता। भजेहु रथ सारथी तुरन्ता॥
(मा० लंका० ५२ तथा ५३)

इस उद्धरण में 'क्षतज नयन' के रूप में लक्ष्मण की वीर मुद्रा द्वारा विभाव विधान, क्रोध के रूप में अमर्ष, उग्रता आदि संचारी भाव, परस्पर भिड़न्त और रथ-सारथी भंजन के रूप में अनुभाव-योजना, उत्साह स्थायी की सम्पुष्टि करते हैं। परन्तु आगे चलकर जब इसी प्रकरण में निम्नलिखित पंक्तियाँ जुड़ जाती हैं—

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाय।
जगदाधार सेष किमि उठे चले खिसिआय॥
सुन गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू॥
सक संग्राम जीति को ताही। सेवहि सुर नर अग जग जाही॥
यह कौतूहल जानइ सोई। जापर कृपा राम कै होई॥ (लंका ५४-५५)

तब वीर रस की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को ठेस पहुंचती है क्योंकि हम देखते कि लक्ष्मण और मेघनाद का कोई मुकाबला नहीं है, और इस प्रकार भाव का साधारणीकरण नहीं हो पाता। अन्य योद्धाओं के पराक्रम में भी तुलसीदास या तो उनका देवत्व अथवा देव-सम्बन्ध घोषित करते हैं अथवा यह प्रकट करते हैं कि वे ऐसा पराक्रम राम के सेवक होने के कारण तथा राम के कृपाबल से प्रेरित और राम मन्त्र से अभिमन्त्रित होने के कारण दिखा सके, अपनी निजी शक्ति के कारण नहीं, जैसा कि निम्नलिखित चौपाइयों से प्रकट होता है

राम प्रताप प्रबल कपि जूथा। मर्दहिं निसिचर सुभट बरूथा॥ (लंका० ४२)

× × ×

बुधिबल निसिचर मरइ न मार्‌यो। तब मारुत-सुत प्रभु संभार्‌यो॥ (लंका ६५)

जब राम के सैनिक सायंकाल को लौटते हैं तब राम अपनी एक चितवन से उनका सारा श्रम हरण कर लेते है (दे० लंका० ४६, २ तथा ४८,२)।

इस प्रकार तुलसीदास के रसविधान में वा० रामायण से अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मूल रामायण में अलौकिकत्व की भावना बहुत कम थी, प्रचलित रामायण मे उसकी वृद्धि हुई, परन्तु मानस में आकर तो सारा वातावरण ही अलौकिक हो गया है। तुलसी के समान राम के वीरोचित कर्मो के अवसर पर वाल्मीकि ऐसा नही कहते कि यह तो उनकी लीला है, बाये हाथ के खेल हैं,[1] वरन् उन्हें नागपाश मे बंधकर निराश होते हुए और शर-जाल में तड़पते हुए भी दिखलाते हैं[2]।

दोनों काव्यों में राम के चरित्र और वीररस की स्थिति में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी कुछ सामंजस्य सूत्र दिखलाई पड़ते है। दोनों ही काव्यों में राम का चरित्र मुख्य रूप से धर्मवीर का ही सिद्ध होता है। युद्ध-प्रेम न तो रामायण के राम की प्रवृत्ति है और न मानस के राम की। दोनो काव्यों के वीर रस में इस देश के वीरत्व की मूलभूत भावना "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" दृष्टिगोचर होती है। उसमे देशगत समानता है और कालगत भेद। देशगत समानता है वीरता का प्रयोग अर्थात् युद्ध का धर्म के लिये किया जाना, परन्तु कालगत भेद है रामायण में जातीय वीर के रूप में राम का उपस्थित होना और मानस में लोकोद्धारक के रूप में।

समानता की दृष्टि से दोनो काव्यों में राम के बाण का गौरव देखिये—

(अ) यथाराघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः।
गच्छेत्तद्गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम्॥ (सुन्दर० १, ३९)

(आ) जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेऊ हनुमाना॥
(सुन्दर० १.८)

दोनों काव्यों में राम का बाण अमोघता का प्रतीक और गति का उपमान है। दोनों ही काव्यों में राम की वीरता के स्थूल उपकरणों में उनके बाण की ही सबसे अधिक महिमा कही गई है परन्तु मानस में राम की वीरता और सूक्ष्म हो गई है जैसा कि निम्नलिखित धर्मरथ के रूपक से प्रकट है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित धोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥

---

१. उमा करत रघुपति कर लीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥
भृकुटि संग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥ (लंका० ६६)

२ वा० रा० युद्ध सर्ग ४५ ५० तथा सर्ग ७३

अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुर पूजा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहं न कतहुं रिपु ताकें ॥
दोहा—महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो वीर ॥
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ॥ (लंका० ८०)

इस प्रकार वा० रामायण और रामचरित मानस दोनों में वीरत्व की मूल-भावना धर्मपरक है परन्तु मानस मे इसी धार्मिकता की वृद्धि के साथ वह वीर रस भगवद्विषयक रति का उत्प्रेरक बन कर भक्ति रस में समा गया है, जब कि रामायण में वह स्वतन्त्र और प्रधान रस के रूप में दिखलाई पड़ता है।

करुण रस

वा० रामायण के 'शोक से श्लोकोद्भव' के प्रसंग को लेकर कुछ लोग उसमें करुण रस की प्रधानता मानते हैं और सीता-वनवास के आधार पर ग्रंथ की परिसमाप्ति करुण में ही देखते हैं[1], परन्तु बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के प्रक्षिप्त होने के कारण यह विचार निराधार ही ठहरता है। वाल्मीकि वस्तुतः आशावादी कवि थे और रामायण आह्लाद एवं विजय का काव्य है। करुण रस के मार्मिक स्थल उसमें हैं परन्तु वह उसका प्रधान रस नहीं है। मानस मे कथाप्रसंगों पर आधारित करुण रस के अतिरिक्त भक्ति के अवयव के रूप में भी करुणाभाव का महत्व है क्योंकि भगवान राम करुणायतन हैं और वात्सल्य, विनय तथा करुणा उनके शील के प्रधान तत्व हैं। इस प्रकार मानस में कथाश्रित करुण रस के अतिरिक्त, कवि की भावना और काव्य-नायक राम के विशिष्ट शील-स्वभाव के कारण, करुणाभाव की धारा आद्यन्त प्रवाहित होती हुई दिखलाई पड़ती है। देव-भूमि-विप्र-आदि पर करुणा करके ही राम अवतार लेते हैं, मुनियों का अस्थिसमूह देखने पर करुणा-विगलित होकर राक्षस-विनाश की प्रतिज्ञा करते है और युद्धभूमि में शत्रुओं का वध करते हुए भी उन पर दया की भावना रखते है। इससे पूर्व वीर रस के विवेचन में कहा जा चुका है कि मानस में वीररस करुणा के क्रोड से उत्पन्न होता है। इस प्रकार करुणा का भाव मानस में अधिक व्यापक रूप मे दिखलाया गया है परन्तु करुण रस उसमें प्रधान नहीं है। वह भी भक्ति के ही आश्रित है।

रामकथा में दशरथ-मरण और लक्ष्मण-शक्ति करुण रस के मुख्य स्थल हैं। राम के वनगमन के प्रसंग में करुण रस का संचारी भाव 'विषाद' अति विस्तृत होकर शोक की सीमाओं का स्पर्श अवश्य करता है, परन्तु वह स्वतन्त्र रूप से करुण रस का प्रसंग न होकर भावी प्रसंग अर्थात दशरथ की मृत्यु के रूप में उपस्थित होने वाले करुण रस की पृष्ठ भूमि के रूप में ही है। इसी प्रकार सीताहरण विप्रलंभ शृंगार का

१. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, चतुर्थ उद्योत तथा 'स्टडीज इन रामायण' में के० आर० शास्त्री का विचार—"The other Rasas are found in the poem yet its dominant Rasa is Karun Rasa पृ० १२५, भाग

प्रसग है और उसमे भी विषाद तथा अन्य सहयोगी संचारी भावों का आधिक्य होने के कारण करुण रस की भ्रांति होती हैं, पर वह वस्तुत: करुण रस का उदाहरण नहीं है। अशोक वाटिका में सीता के निवास का प्रसंग भी विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत है, यद्यपि उसमें भी सीता की विषादपूर्ण दशा कारुण्य उत्पन्न करती है। साथ ही भय के प्रसार के कारण और शंका, चिन्ता आदि संचारियों के कारण भयानक रस की भी झलक उत्पन्न होती है, परन्तु ये सब क्षणिक संचारी अवस्थायें हैं। अत उक्त प्रकरणों को करुण रस में नही गिना जा सकता।

वा० रामायण में मेघनाद, रावण और बालि की मृत्यु पर करुण रस का परिपाक हुआ है परन्तु मानस में ऐसा नहीं हुआ है। तुलसीदास को इन राम-विरोधियों से कोई सहानुभूति नहीं है। इस प्रकार उनकी भक्तिभावना ने वा० रामायण के अनेक प्रसंगों की मार्मिकता समाप्त कर दी है। रामायण में तारा-विलाप (किष्किन्धा-काण्ड) करुण रस का श्रेष्ठ उदाहरण है, परन्तु मानस में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता।

दोनों काव्यों में दशरथ-मरण का प्रसग शुद्ध करुण रस का उदाहरण है। इसकी प्रस्तावना राम-वन-गमन से आरम्भ हो जाती है। अन्य रसों के समान इस करुण रस को भी तुलसी ने भक्ति के रंग में रंग दिया है। मानस में इसका चित्र देखिए :—

कौसल्या नृपु देखि मलाना। रवि कुल रवि अंथयउ जियं जाना॥

× × ×

धरि धीरज उठ बैठ भुआलू। कहु सुमंत्र कहं राम कृपालू॥

× × ×

हा जानकी लषन हा रघुवर। हा पित हित चित चातक जलधर॥

राम राम हा राम कहि राम राम कहि राम
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥

जिअन मरन फल दशरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥

× × ×

सौक विकलु सब रोवहिं रानी। रूपु सीलु बलु तेजु बखानी॥ (२.१५४-१५६)

"नृपु" आलम्बन है, "कौसल्या" आश्रय, 'मलाना' और 'अथयउ' से आसन्न मृत्यु सूचित है, 'मलाना' आलंबनगत चेष्टा या स्थिति होने के कारण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत है। इसी प्रकार मरणोन्मुख क्लान्त दशरथ की अन्य चेष्टायें 'धरि धीरज उठ बैठ' तथा अन्य मार्मिक वचन भी शोकोद्दीपन का कार्य करते हैं और रानियों का विलाप तथा रूप-तेज-बल का बखान अनुभाव हैं। रस-परिपाक की सामग्री पूरी है परन्तु बीच में एक पंक्ति है—'जिअन मरन फल दसरथ पावा' जिससे विक्षेप और होता है क्योंकि हम यह विचारने के लिए रुकते हैं कि दशरथ को जीवन-मरण का ऐसा अद्वितीय फल क्या मिल गया और इस मृत्यु से उनका अमल

यश अनेक ब्रह्माण्डों में क्यों छा गया ? क्या प्रत्येक पिता अपने पुत्र के विछोह में प्राण देकर ऐसा ही यश पा सकता हैं ? तभी पूर्वपरिचित ध्वनि आती है कि राम तो परब्रह्म है और दशरथ पिता नहीं वरन् वात्सल्य के माध्यम से भक्ति की साधना करने वाले भक्त हैं।

रामायण में इस अवसर पर करुण रस का अत्यन्त विशद और मार्मिक चित्रण है। अंधमुनि के शाप की कथा सुनाने के बाद, दशरथ कौशल्या को बतलाते हैं कि उनकी आंखों ने देखना बन्द कर दिया है, वे केवल स्पर्श के माध्यम से बातचीत करते हैं, उनकी स्मरण-शक्ति क्षीण हो चली है—

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ।। (२.६४.६६)

यमदूत त्वरा कर रहे हैं, शब्द-स्पर्श-रूप-रस सब की संज्ञा समाप्त हो चली है दीपक का तेल चुक रहा है, और उनकी मृत्यु हो जाती है, जबकि कौशल्या पहले ही अचेत पडी हुई या सोई हुई थी। प्रातःकाल नित्य के समान वाद्य-संगीत और विरुदगान के साथ दशरथ को जगाने की तैयारियां की जाती हैं और तब उनके निश्चेष्ट ठंडे शरीर को देखकर पता चलता है कि उनकी मृत्यु पहले ही रात्रि में किसी समय हो चुकी है। रस-विधान की ऐसी व्यापक पृष्ठभूमि मानस में नहीं मिलती। जिस रस की व्यापक पृष्ठभूमि मानसाकार ने तैयार की वह तो भक्ति रस ही है, अन्य रसों को वह छलकाता भर है परन्तु समरस प्रवाह भक्ति का ही बहाता है। इसी भावना से आगे-पीछे की घटनायें रंग उठती है।

लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में हम मानस में राम की सारी धीरता-वीरता छूटती देखते हैं जिसमें वह 'पिता बचन मनतहु नहिं ओहू' तक कह डालते हैं (लंका ६१), और हम राम के दुःख में समभागी बनकर वास्तविक शोक में निमग्न होकर करुण रस का आस्वादन करते हैं, परन्तु वहां भी तुलसी ने राम के विलाप की कृत्रिमता जतला कर रस-मग्नता को भंग कर दिया है—

उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल देखाई।। (लंका ६१)

दूसरी ओर वा० रामायण मे करुण रस की सम्पूर्ण सामग्री के साथ इसी स्थल को देखिए—

लज्जतीव हि में वीर्यं भ्रंश्यतीव कराद्धनुः।
सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता।
अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव।
चिन्ता मे वर्धते तीव्रा मुमूर्षा चोपजायते।।
(वा० रा० ६.१०.१०२-७)

'लज्जतीव' में 'स्वशब्द वाच्यत्व' दोष न होकर वस्तुतः 'ग्लानि' की व्यंजना है क्योंकि 'लज्जा' शोक के साथ संचारी न होकर रति के साथ होता है और प्रकरण से भी ग्लानि सूचित होती है धनुष का हाथ से फिसलना वाणों का ढीला पड़ना, और गात्रों का अवसाद' अनुभाव है अश्रु और मुमूर्षा' (या साहित्य शास्त्रीय शब्दों

मे 'प्रलय') सात्विक भाव हैं। मानस मे भी ये रस-उपकरण है, यद्यपि संक्षिप्त हैं, और कुछ उक्तियो में तो अत्यधिक सादृश्य या शब्दानुवाद भी है—

(अ) देशे-देशे कलत्राणि देशे-देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥ (वा०रा ६.१०२.१२)

(आ) सुत-बित नारि भवन परिपारा . होहिं जाहि जग बारहि बारा॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
(मा० ६.६१)

इससे प्रकट है कि मानसकार साहित्यिक रस के पूरे वातावरण का विधान तो करना है परन्तु एकाध पंक्ति द्वारा उस रस को संचारी जैसा बनाकर भक्ति-सागर की ओर प्रवाहित कर देता है, जैसा उपरोक्त 'उमा एक अखड रघुराई' (लंका० ६१) से प्रकट है।

हास्य रस

भारतीय साहित्य में प्रायः हास्य रस का अभाव रहा है। यह बात योरोपीय साहित्य से उसकी तुलना करने पर और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वाल्मीकि से तुलसी के समय तक के साहित्य का अनुशीलन करने पर जब हम यही बात देखते है तब इसी निश्चय पर पहुंचते है कि इसका कारण जीवन के प्रति हमारा गंभीर दृष्टि-कोण है। हास्य के तत्वों का विवेचन करते हुए हम आगे देखेंगे कि हास्य का मूल आधार है असंगति, अनौचित्य या विकृति और ये तीनों ही यहां के परम्परागत जीवन के मेल में नहीं है। भारतीय संस्कृति और साहित्य पर यहां के दर्शन का, विशेष रूप से अद्वैत दर्शन का, गंभीर प्रभाव रहा है। गीता, उपनिषद और बादरायण के ब्रह्म-सूत्र यहां की सांस्कृतिक जीवन-यात्रा में प्रस्थान-त्रयी माने गये हैं। ये तीनों ही मुख्यत अद्वैत-दर्शन के प्रस्तारक हैं। अतः अद्वैत या अभेद के साथ असंगति का, जो हास्य का मूल तत्व माना गया है, मेल नही बैठ सकता। यही बात अनौचित्य और विकृति के विषय में भी है। हमारा जीवन और साहित्य प्रारम्भ से ही आदर्शवादी और मर्यादावादी रहा है, नियम-संयम-शुचिता-ऋजुता आदि को उसमें प्राधान्य मिला है तथा अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म और मोक्ष को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। ऐसी स्थिति में यहाँ हास्य का अभाव होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नाट्यशास्त्र में कथित आठ रसों में भी हास्य को गौण स्थान मिला है अर्थात् उसे शृंगार रस के आधीन या उससे उद्भूत माना गया है।[1] दशरूपकों में 'भाण' और 'प्रहसन' तथा नाटक और प्रकरण आदि में विदूषक की उपस्थिति से इतना प्रकट है कि हास्य, विनोद और मनोरंजन को भी यहाँ के आचार्यों और कवियों ने महत्व दिया था परन्तु उसका विकास नहीं हुआ, केवल रूढ़ और परिपाटीबद्ध हास्य ही यहाँ चलता रहा। इसके अतिरिक्त हास्य अर्थात् विनोद और परिहास के साथ व्यंग्य, उपहास, उपदेश, उपालंभ आदि का भी यहां के साहित्य में सम्मिश्रण सा रहा है।

१ शृंगाराद्धि भवेद्धास्य   — नाट्यशास्त्र

अतः शुद्ध हास्य जिसमें "स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भास" अथवा "स्वस्थ मन का सहज उच्छलन"[1] दिखलाई पड़े, हमारे साहित्य में बहुत कम है। आधुनिक जीवन-पद्धति मे पाश्चात्य सम्पर्क और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से परिवर्तन होने के कारण साहित्य मे भी इस अभाव की पूर्ति हो रही है।

वाल्मीकि और तुलसी के साहित्य में हास्य की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन करने से पूर्व हास्य के स्वरूप, प्रकार और क्षेत्र पर विचार कर लेना आवश्यक है।

आचार्यो ने हास्य के आधार विकृत आकार, वचन, वेश, चेष्टा आदि माने हैं और इसके दो विभाग किये हैं---आत्मस्थ और परस्थ।[2] जब कोई पात्र स्वय हंसता है तो वहाँ आत्मस्थ और जब दूसरे को हसाता है तो वहाँ परस्थ हास्य होता है, अथवा हास्य के विषय को देखने से जो हास्य होता है वह आत्मस्थ और दूसरे को हंसता हुआ देख कर जो हास्य होता है वह परस्थ माना जाता है।[3] आत्मस्थ और परस्थ हास्य के इन दो प्रकार के विवेचनों के अतिरिक्त हम यह भी अर्थ कर सकते हैं कि जब हम सहयोगी बनकर हंसते है अर्थात् समवेदनात्मक रूप में हास्य का आनन्द लेते है और किसी को उपहास का लक्ष्य नहीं बनाते तो वह आत्मस्थ हास्य होता है और जब असहयोगी बनकर हसते है अर्थात् दूसरे पर हसते है तथा इस प्रकार स्वय तो आनन्द लेते हैं[4] पर दूसरे को नहीं लेने देते या उसका पीडन करते हैं तो वह परस्थ हास्य होता है। इसी अन्तर को परिहास और उपहास कह सकते हैं। परिहास में 'विनोद' और पारस्परिकता होती है तथा इसकी शैली में 'विदग्धता' रहती है। ऐसी स्थिति में सहृदयता का भी अधिक होना स्वाभाविक है। अंग्रेजी में यही 'ह्यूमर' और 'विट्' हैं। उपहास मे व्यग (सटायर) और वक्रोक्ति (आयरनी) का आश्रय लिया जाता है। उसमें सहृदयता कम, प्रायः बिल्कुल नहीं, और खीझ, वैमनस्य या चिड़चिड़ाहट अथवा प्रतिशोध-भावना अधिक रहती है। इस प्रकार व्यग्य सोद्देश्य होता है और उपहास के द्वारा प्रतिकार या खीझ का परिशमन उसका अभिप्राय होता है। यह खीझ एक व्यक्ति के प्रति ही नहीं वरन् एक दल, सम्प्रदाय, देश या पूरे ससार के प्रति भी हो सकता है। अनेक बार कवि लोग मानवमात्र की ही निन्दा कर बैठते हैं, जाति-विशेष या धर्मविशेष पर छींटे उछालते है और किसी एक व्यक्ति से चिढ़ जाने, अपमानित होने या अप्रसन्न कर दिये जाने पर उसकी पूरी जाति की ही खबर ले डालते हैं। ऐसी स्थिति में व्यग्य अत्यधिक वैयक्तिक होकर उसका स्तर अत्यन्त निम्न बन जाता है और स्वय उसका उत्पादक कलाकार आक्षेप एवं कटु आलोचना का भागी बनता है। उपालभ का सम्बन्ध हास्य और व्यंग्य दोनों से दिख-

---

१. विचार और विवेचन, नगेन्द्र पृ० ७२ तथा ७३।

२. विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा, दशरूपक, ४.७५।

३. काव्य दर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ० २७० पर नाट्यशास्त्र और रसगंगाधर के आधार पर किये गये दो अर्थ।

४ Laughing with and aughing at दि नम्बर आफ रसात बी० राम्मन पृ० १५०

लाई पड़ता है परन्तु वह मूल रूप में श्रृंगार से सम्बन्धित है, अतः हास्य की संयोजक श्रृंखलाओं में से एक है। जहाँ अपने प्रिय जन को विदग्धतापूर्वक मृदु उपालंभ दिया जायेगा वहाँ हास्य या विनोद की स्थिति रहेगी और वह परिहास-मिश्रित उपालभ होगा परन्तु जहा ईर्ष्या, अमर्ष, शंका, स्पर्धा आदि के कारण वक्रोक्ति, कटूक्ति आदि का आश्रय लिया जायेगा वहा व्यंग्य की स्थिति होगी और वह उपहास-परक उपालभ होगा। हिन्दी में सूर का भ्रमर गीत और तुलसी की विनयपत्रिका सरस उपालभ-काव्य हैं। रामचरितमानस मे भी उपालभ के नमूने है। हास, परिहास, विनोद, व्यंग्य, वक्रोक्ति, विदग्धता, उपालंभ आदि के अतिरिक्त भारतीय साहित्य मे व्याजोक्ति, व्याज स्तुति, व्याज निन्दा, पर्यायोक्ति आदि अलकारों के रूप मे भी हास्य-योजना के उपाय दिखलाई पड़ते है।

ऊपर कहा गया है कि व्यग्य जब अत्यधिक वैयक्तिक होता है तब वह निन्दनीय बन जाता है, परन्तु यदि उसमें व्यक्तिगत प्रतिकार की भावना न रहकर व्यापक रूप में सुधार की भावना आ जाती है तब व्यंग्य उपदेशात्मक बन जाता है। अनेक भारतीय कवियों ने व्यग्य के माध्यम से धर्मोपदेश देने का प्रयत्न किया है और तुलसीदास इस शैली के विशिष्ट आचार्य हैं।

आधुनिक समीक्षा-शैली में पाश्चात्य साहित्य और उसके समीक्षा-शास्त्र का विशेष समावेश होने के कारण भेदोपभेदो का और भी अधिक विस्तार हुआ है। अत. व्यग्य के साथ वक्रोक्ति (आयरनी) के अतिरिक्त कटूक्ति (सरकाज़्म) कटाक्ष (स्नर) और सद्योत्तर (रिपार्टी) को भी लिया जा सकता है। कटूक्ति मे प्रतिकार प्रबल और प्रत्यक्ष होता है और कटाक्ष में कुछ दबा हुआ, सद्योत्तर का सम्बन्ध प्रत्युत्पन्नमतित्व (रेडी विट्) से होता है। अत. वह कभी विदग्धता के साथ हास-परिहास की सीमा मे रह सकता है और कभी वक्रोक्ति के साथ व्यग्य और उपहास की ओर भी जा सकता है। 'जोक' और 'फन' ह्यूमर (विनोद) के ही अग है।

भारतीय साहित्य शास्त्र मे हास्य ६ प्रकार का माना गया है—स्मित, हसित (स्माइल), विहसित और अवहसित (लाफ), तथा अपहसित और अतिहसित (लाफ्टर)[१]। सस्कृतनाटको में इन सभी के नमूने मिलते है। 'भाण' और 'प्रहसन' में अपहसित और अतिहसित का आधिक्य रहता है।[२] उच्चतर रूपको अर्थात् नाटक और प्रकरण मे भी विदूषक का वेश, वाणी और चेष्टायें प्रायः अपहसित और अतिहसित की सीमाओं तक पहुचा देती है परन्तु राज-सभा या अन्त.पुर की मर्यादा के कारण इस पर नियन्त्रण भी रहता है। वैसे भी भारतीय स्वभाव की सौम्यता और गम्भीरता के कारण यहाँ के साहित्य मे स्मित और हसित हास्य का ही, जिसे हिन्दी के आलोचकों ने शिष्ट हास्य या 'बड़े लोगों का हास्य'[३] कहा है, प्राधान्य रहा है।

१. नाट्य शास्त्र, अध्याय ६ तथा दश.रूपक ४.७६-७७।

२. दोनों के विषय मे लिखा है कि छहो प्रकार का हास्य इनमें आ जाता है—रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु' (दशरूपक ३.५६)।

३ [illegible] तुलसीदास शुक्ल पृ० १ ६

वाल्मीकि और तुलसी के काव्य में हास्य रस का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये यह विस्तृत पृष्ठभूमि अनिवार्य थी, विशेषकर इस लिये भी कि इन दोनो कवियों में तो हास्य का और भी अधिक अभाव माना गया है क्योंकि दोनो की रचनायें धर्मप्रधान हैं। हम देखेंगे कि उपरोक्त सभी प्रकार और स्थितियाँ दोनों के काव्यों में प्राप्त होती है। दोनों काव्यों मे हास्य सम्बन्धी विशिष्ट शब्दावली भी है[1] और हास्य रस का इससे भी व्यापक स्वरूप समझाने के लिये उनमें बहुत कुछ सामग्री है, क्योंकि दोनों ही महाकाव्य है। जीवन के जिस विशाल पट पर महाकाव्य का चित्राङ्कन किया जाता है उसमें हास्य की भी असंख्य-अकल्पनीय स्थितियों का होना स्वाभाविक है, विशेषत: रामायण और मानस जैसे महाकाव्यों मे, जोकि अनेक नाटकों और काव्यों के उपजीव्य बने हैं।

अब उपरोक्त स्थितियों, तत्वों और प्रकारों के आधार पर हम दोनो काव्यो मे हास्य का रस का स्वरूप समझने का प्रयत्न करेंगे। विवेचन के लिये हास्य रस के तीन विभाग किये जा सकते है—शुद्ध हास्य, मिश्रित हास्य-व्यंग्य और शुद्ध व्यंग्य। इनमें भी शुद्ध-व्यंग्य के दो विभाग—वाल्मीकि और तुलसी की पृथक् प्रवृत्तियों को समझने के लिये—करने होंगे। ये दो हैं—वैयक्तिक व्यंग्य और अवैयक्तिक व्यंग्य। अवैयक्तिक व्यंग्य के भी दो विभाग होंगे—कलापरक और उपदेश परक।

(अ) शुद्ध हास्य

दोनों काव्यों में शुद्ध हास्य के अनेक उदाहरण खोजे जा सकते है जिनमे अमिश्रित हास्य और विनोद[2] स्पष्ट रूप मे झलकता दिखलाई पड़ता है। दोनों काव्यो से ऐसे दो-दो उदाहरण दिये जा रहे हैं, परन्तु वे भिन्न स्थलों के हैं, क्योंकि जिन समान स्थलों पर हास्य दोनों में दिखलाई पडता है वह प्राय: व्यंग्य मिश्रित ही है।

वा० रामायण मे त्रिजट (अयो० सर्ग ३२) और मधुवन (सुन्दर सर्ग ६१,६२) तथा रामचरितमानस में शिव की बरात (बाल० ९२-९४) और निषाद द्वारा पद-प्रक्षालन (अयो० १००) के प्रसंग शुद्ध हास्य के उत्तम उदाहरण हैं। तुलसी के तो काव्यनायक राम ही परम कौतुकी हैं—'परम कौतुकी कृपा निकेता' (६ ११७)। अत मानस में शुद्ध हास्य भी होना ही चाहिये।

वा० रामायण में त्रिजट प्रसंग में एक दरिद्र बूढा ब्राह्मण त्रिजट (आलबन) अपनी तरुणी भार्या के आदेश से; फटे चीथड़े पहने हुए 'शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्' (त्रिकृत

---

१. वाल्मीकि ने अरण्य काण्ड के शूर्पणखा-प्रकरण में 'श्लक्ष्णया वाचा' तथा 'परिहास' जैसे शब्द का प्रयोग किया है (दे० सर्ग १८), त्रिजट-प्रसंग में भी 'परिहास समन्वितम्' (दे० २. ३२) आया है। तुलसी ने भी 'कूट' 'विंग्य' (देखिये नारद-मोह और शिव-विवाह प्रकरण) तथ 'अवरेव' अर्थात् वक्रोक्ति (बाल० ३७) और स्वयं 'वक्रोक्ति' शब्द का भी (लंका दो० २३—३) प्रयोग किया है।

२. हास्य और विनोद को प्राय: पर्यायवाची मान लिया गया है और 'हास' तथा हास्य में भ्रम उत्पन्न होने के कारण 'हास्य' रस का स्थायी भाव 'विनोद' मान लेने का सुझाव दिया गया है—दे० क . . रा० द० मिश्र पृ० २६९

वेशभूषा और अगभंगी), वन-यात्रा के लिये प्रस्तुत राम के पास दान लेने के लिये पहुँचता है और राम उसे देखते ही 'परिहास समन्वितम्' (अनुभाव, स्मितहास्य) उससे कहते है कि तुम्हारी लाठी जितनी दूर जा गिरेगी उतनी गाये मैं तुम्हे दूँगा। इसे सुनते ही बूढा अपने चीथड़े से कमर को लपेट कर सारे बल से लाठी घुमाता हुआ उसे सरयू के पार फंक देता है (चेष्टायें-उद्दीपन) और राम उसे वहाँ तक की गाये देते हुए आलिगन पूर्वक कहते है—

मन्युर्न खलु कर्त्तव्य. परिहासो ह्यं मम। (२.३२.४०)

'परिहास' शब्द के प्रयोग से प्रकट है कि कवि यहाँ हास्य रस का विधान कर रहा है। असंगति की स्थितियाँ दो है। एक तो ब्राह्मण और फिर तपोनिष्ठ का तरुणी भार्या के आदेश से दान माँगने के लिये जाना, क्योकि सामाजिक आदर्श के अनुसार उस उञ्छवृत्ति को सन्तोषव्रती होना चाहिये था। दूसरी असंगति है, उस दीन-दुर्बल वृद्ध का इतनी दूर लाठी घुमाकर फेंकना। इसमें चमत्कार अर्थात् अद्भुत कृत्य दिखलाई पडता है, पर हैयह हास्य ही क्योंकि ध्वन्यार्थ तथा प्रसंग के अनुसार उसमें तरुणी भार्या के आदेश-प्रेरित लोभ ने ही तो इतनी शक्ति भर दी थी। उसके कृत्य को देखकर स्वभावतः मुख से ही विनोद-वाक्य निकलेगा 'बड़े छुपे रुस्तम हो'। हर्ष, चपलता आदि संचारी भी यहाँ राम के पुलक-पूर्ण आलिगन आदि से ध्वनित होते है।

यहाँ हास्य सोद्देश्य नही है, बहुत दृष्टि गड़ाने पर लोभ-वृत्ति पर हल्का सा.. सहृदय, व्यग्य प्रतीत होता है। वस्तुतः इसमे व्यंग्य जैसी वस्तु नही है। परन्तु राम का एक वाक्य विचारणीय है—

धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्॥ (२.३२. २)

क्या यहां दानवीर राम के प्रति अतिशय श्रद्धा जागृत नही होती, जो कि भक्ति का मूल तत्त्व है? राम के पूर्व व्यवहार—दान, आलिगन और क्षमायाचना आदि—से उद्दीप्त श्रद्धा उपर्युक्त उक्ति के आधार से भक्ति में परिणत होती हुई प्रतीत होती है। यह बात तुलसी के रस-विधान से वाल्मीकि की सादृश्य परक तुलना करने में आगे ध्यान मे रखनी होगी।

वा० रामायण के इस प्रसंग की तुलना मानस के नारद-मोह प्रसंग से एक सीमा तक की जा सकती है। दोनों मे आलंबन एक जैसा ही है। एक मे बूढा ब्राह्मण तरुणी भार्या के आदेश से तपस्या छोड़कर धन-याचना के लिए निकला है और दूसरे मे एक वैसा ही तपस्वी किशोरी कन्या से विवाह के लिए निकला है। बुढ़ापे की लोभ-वृत्ति और काम-वृत्ति दोनों ही असंगति की स्थितियाँ है। मानस के प्रकरण में हास्य की सामग्री अधिक है। यद्यपि है वह व्यंग्य प्रधान। नारद का वानर वेश है (विकृत वेश) परन्तु उन्हें भ्रम है कि वे विष्णु के समान सुन्दर हैं (असंगति), इस कारण वे बार-बार 'उकसते' और अकुलाते हैं (विकृत चेष्टायें और 'अंगभंगी—उद्दीपन) तथा शिव के गण उन्हें देख-देखकर मुस्कराते हुए कहते है—'रीझिहि राजकुअरि छवि देखी' अनुभाव) और अन्त मे नारद हाथ मलते रह जाते हैं शिव-

के गणों की अटपटी वाणी और 'कूट' वचनों मे वे चकराते रहे थे परन्तु कुछ समझ नहीं पा रहे थे (असंगति), पर अब तो उनमे स्पष्ट रूप मे कह दिया गया—

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥ (बाल० १३४)

यहाँ हास्य का चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) होता है। सम्पूर्ण प्रकरण काव्यान्तर्गत एक प्रहसन है[1]। चरमबिन्दु पर पहुँचकर व्यंग्य मिश्रित हास्य के कारण इसमें भय और करुणा का संचार हो गया है, जबकि शुद्ध हास्य में कोमलता और कृपालुता, समवेदना और महानुभूति होनी चाहिए।[2] अतः यहाँ शुद्ध हास्य नही वरन् व्यग मिश्रित हास्य है। यही मानस का रामायण से अन्तर है, जिस पर आगे अधिक विचार किया जायेगा। नारद जी क्रोध में उबलते हुए जब विष्णु की खोज में चल पड़ते हैं तब हास्य "विहसित", और "अवहसित" की भी सीमा से आगे निकलकर "अपहसित" बनने लगता है, विशेषकर उस स्थिति में कि विष्णु खड़े मुस्कराते हैं और नारद बढ़-बढ़ कर गाली दिये जाते है। अन्त में विष्णु अपनी माया-यवनिका हटा लेते हैं, वहाँ न रमा रहती है न राजकुमारी, और नारद क्षमा मांगते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से यहाँ रसाभास है क्योंकि हास-विनोद के साथ 'भय' और 'क्रोध' जैसे विपरीत और विरोधी भाव हैं। इसके अतिरिक्त नारद के स्थान पर हमारे आलंबन क्षमा-शील उदार विष्णु भगवान बन जाते है और प्रकरण की परि-समाप्ति भक्ति रस में होती है। यदि कवि नारद के क्षमा मांगने पर ही प्रकरण समाप्त कर देता तब भी हास्य रस की रक्षा हो जाती क्योंकि नारद की प्रारम्भिक कामा-कुलता, बीच की क्रोधाकुलता और अन्त की क्षमायाचना हास्य की सीमाओं के अन्त-र्गत हो सकती थीं, परन्तु तुलसीदास के प्रत्यक्ष उपदेश ने (१, १३८, ५-८) प्रकरण को बल पूर्वक भक्ति या भक्ति-रस की ओर मोड़ दिया है। इस भक्ति-रस पर तो अन्त में ही विचार किया जाना है, परन्तु यहाँ देखने की बात यह है कि पूर्ण रूप से साहित्यिक रस का परिपाक करके ही वे उसे भक्ति-रस की ओर बढ़ाते हैं।

यह प्रकरण हास्य के आलंबन की तुलना की दृष्टि से ही चुना गया था जिसमे आंशिक सादृश्य ही हम देख सके। बाल्मीकि और तुलसी के व्यंग-मिश्रित हास्य के सादृश्यपरक उदाहरण हम आगे देखेंगे।

बा० रामायण में शुद्ध हास्य का दूसरा उदाहरण मधुवन-प्रसंग में मिलता है, जबकि कृतकार्य हनुमान लंका से लौटकर वानर-साथियों के साथ मधुवन में क्रीड़ा करते है (सुन्दर० सर्ग ६१, ६२)। इसमें उच्छृंखल हास्य अर्थात् 'अपहसित' आदि की भी स्थितियाँ है और अन्य कारणो के साथ ही, इस कारण भी इसे विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। उनका कथन है कि इसमें जो हास्य रस का प्राधान्य पाया जाता है वह भी

---

१. 'पाखण्डि विप्र प्रभृति' जिसमे आलंबन होते है, दे० दशरूपक, धनंजय, ३.५। वहाँ नारद की वैसी ही स्थिति है।

२. "The best humour is that which is flavoured through out with tenderness and kindness क न दर्पण रस विन शिव पृ० २६ पर उद्धृत

मूल रचना के अनुकूल नहीं है'।[1] यदि इसे बाल्मीकि-कृत रचना का ही अंश माना जाये तब तो यही कहना होगा कि ऋषि ने कहीं-कहीं तपोवन का सौम्य उत्तरीय उतारकर रख दिया है। परन्तु ऐसा नहीं है। वाल्मीकि ने मर्यादा-पूर्वक 'स्वस्थ जीवन के सहज उच्छलन' को हास्य की अनेक श्रेणियों और स्तरों में व्यक्त किया है। उनमें शुद्ध हास्य का अभाव नहीं है, परन्तु उन्मुक्त-उच्छृंखल हास्य अवश्य नहीं है।

अब रामचरितमानस से शुद्ध हास्य के व्यंजक दो उदाहरण लिए जा सकते है—शिव की बरात और निषाद द्वारा पद-प्रक्षालन। लंकाकाण्ड के अन्त में वस्त्राभूषणों की वर्षा का प्रसंग भी ऐसा ही है।

राम के बाद शिव तुलसी के द्वितीय प्रियतम आराध्य हैं और अति प्रिय होने के नाते भक्त अपने आराध्य से कभी-कभी खुलकर विनोद भी कर लेता है। अत तुलसी ने विवाह के अवसर पर भगवान शिव से विनोद किया है। एक तो अवसर का औचित्य है और दूसरे यह विनोद उन्होंने शिव के प्रिय सखा विष्णु के द्वारा कराया है, अतः मर्यादा भी बनी रही है। शिव की भूतों इत्यादि से भरी अटपटी बरात और अपना सुन्दर समाज देखकर विष्णु अलग-अलग टोलियाँ बनाकर चलने को कहते है और उनकी बाते सुनकर देवगण तथा स्वयं शिव मुस्कराते हैं। निम्नांकित चित्र देखिए—

विष्णु कहा अस 'विहसि' तब बोलि सकल दिसिराज।
विलग-विलग होइ चलहु सब निज-निज सहित समाज॥
बर अनुहारि बरात न भाई। हंसी करेहहु पर पुर जाई॥
विष्नु बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने॥
मन ही मन महेश मुसुकाहीं। हरि के 'विंग्य बचन' नहि जाहीं॥
(मा० बाल० ९२-९३)

स्मित-हसित से आगे, प्रसंगानुसार अवसर पाकर, कवि ने 'विहसित' हास्य की सीमाओं मे प्रवेश किया है। शिव-विवाह का समस्त प्रकरण मधुर हास्य का सरस उदाहरण है। शिव और उनकी टोली के सदस्यो के विकृत वेश और चेष्टायें—'कोउ मुख हीन, विपुल भूख काहू' और 'परम तरंगी भूत सब' (बाल० ९३), उन्हें देखकर विष्णु आदि के विनोद-वचन, हास-परिहास तथा उभयपक्षों द्वारा विनोद का आनन्द लिए जाने मे आत्मस्थ, समवेदनात्मक या सहृदय एवं शुद्ध हास्य दिखलाई पड़ता है। इसमें स्वस्थ जीवन का उच्छलन तो है परन्तु उन्माद या उच्छृंखला नही। विष्णु के 'विंग्य वचन' मे हृदय का उल्लास मर्यादा के तटों के बीच उमड़ता दिखलाई पड़ रहा है। 'बर अनुहारि बरात न भाई' तुलसी की व्यंजना-बद्ध, ध्वन्यार्थगर्भित और अलंकृत शैली का

१. बुल्के, पृ० ३६७। डा० बुल्के ने जाकोबी के कथनानुसार इस प्रसंग को हास्य रस की प्रधानता के कारण प्रक्षिप्त तो माना है परन्तु उनका यह आशय नहीं है कि वा० रामायण में हास्य है ही नहीं। वह है तो परन्तु प्रधान या उत्कट रूप में नहीं है, जैसा कि मधुवन प्रसंग में दिखाई पड़ता है

सुन्दर उदाहरण है, जिसके आश्रय से उन्होंने हृदय का उल्लास और मन का चांचल्य उड़ेल दिया है।[1]

इस प्रसंग में कुछ बातें द्रष्टव्य हैं। एक तो 'विग्य' शब्द का प्रयोग जिसमे तुलसी ने 'व्यग्य' को 'विनोद' का पर्याय मान लिया है। वक्रोक्ति और कटूक्ति मूलक व्यग्य उनके साहित्य में प्रचुर है, रावण के दरबार में अंगद ने इनका प्रयोग किया है (दे० लंका० दो० २३-ङ), परन्तु उन्होंने प्राय: व्यंग्य और विनोद को समकक्ष ही समझ लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय इतिहास के प्रतिनिधि ग्रन्थ रामचरितमानस में शुद्ध हास्य की पृथक् सत्ता नहीं हैं वरन् हास्य और व्यंग्य सम्मिश्रित है। दूसरी द्रष्टव्य बात यह है कि तुलसी ने व्याज-स्तुति अलकार का आश्रय लेकर शिव के प्रति अपनी भक्ति-भावना भी दर्शाई है, जिससे सिद्ध है कि उनकी रस-पद्धति के अनुसार यहाँ हास्य-रस भी भक्ति-रस के आंचल में ही क्रीड़ा कर रहा है। आगे के प्रसंगों में भी हमें ऐसा ही दिखलाई पड़ता है।

मानस में शुद्ध हास्य-विनोद का दूसरा उदाहरण निषाद द्वारा भगवान राम के पद-प्रक्षालन के प्रसंग में मिलता है। यहाँ भी कवि ने व्याज-स्तुति का आश्रय लिया है। निषाद का यह भय कि 'पग धूरि' में 'मानुपकरनि मूरि' है और उसकी काठ की नाव भी स्त्री बन जायेगी असंगति-पूर्ण विचार है, परन्तु निन्दा में लिपटी स्तुति देखकर राम मुस्करा उठते है। निषाद का भक्ति-विह्वल आचरण ही हास्य की दृष्टि से 'विकृत वेश' और 'विकृत चेष्टा' है क्योंकि प्राय: अतिशय भाव-विह्वल व्यक्ति हास्य का आलंवन बन जाता है। 'राम' आश्रय हैं, 'मुस्कराना' अनुभाव है, परन्तु दोनों ही मुस्करा रहे है, एक भीतर ही भीतर, दूसरा बाहर भी। अत: यह अत्यन्त सहृदयता पूर्ण आत्मस्थ हास्य है—"Flavoured throughout with tenderness and kindness"—कोमल और मृदुल, जिसमें उभय पक्ष (आश्रय और आलम्बन) विदग्ध विनोद से विभोर है।

मानस का एक और भी प्रसंग शुद्ध हास्य की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करता है। लंकाकाण्ड में युद्ध की समाप्ति पर विभीषण आकाश से बहुमूल्य वस्त्रों और मणियों की वर्षा करते हैं। उस समय का यह विनोदपूर्ण दृश्य देखिये—

नभ पर जाइ विभीषण तब ही। बरषि दिए मनि अंबर सबही॥
जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देही॥
हँसे राम श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता॥ (लंका० ११७)

बन्दर की चेष्टायें सदैव लोक-मनोरंजक रही है, दोनों काव्यों में अनेक अवसरों पर बानर-चेष्टाओं के चित्रण द्वारा हास्योद्भावना की गई है। मणियों को मीठी खाद्य वस्तु समझकर मुख में रखना और फिर उगल देना हास्योत्पादक चेष्टा है जिसे

१- "Laughter is an overflow of surplus nervous energy" (काव्य दर्पण रामदहिन मिश्र पृ० २६७ पर उद्धृत) इसके अनुसार तुलसी ने भी मन की स्वस्थता के लिये तन की अतिरिक्त चेतना को हास्य में प्रवाहित किया है परन्तु मर्यादापरक

देखकर यह लोकोक्ति स्मरण हो आती है "बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद' अर्थात् मणियो का मूल्य बन्दर क्या समझे ? यहाँ भी कौतुकी राम आश्रय हैं। जिस प्रकार मदारी स्वय हँसता है और दूसरों को हँसाता है उसी प्रकार राम करते है। देखिये—

कृपा सिन्धु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक विनोद ॥ (वही)

इस विनोद को कौतुकी कृपासिन्धु के शील का अवयव बना कर कवि ने कितनी सहजता से हास्य और भक्ति-रस का मिलाप करा दिया है !

(आ) मिश्रित हास्य-व्यंग्य

प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि भारतीय साहित्य में शुद्ध हास्य कम और व्यग्य-मिश्रित हास्य अथवा व्यंग्य ही अधिक मिलता है। दोनों कवियो, वाल्मीकि और तुलसी मे, यही बात देखकर इस बात की पुष्टि हो जाती है, परन्तु एक अन्तर स्पष्ट है कि वाल्मीकि में व्यग्य अधिक प्रकट नहीं होता जबकि तुलसी मे हो जाता है क्योंकि उनकी सुधार-भावना प्रबल है। इसके अतिरिक्त राम के विरोधी पात्रों के प्रति वे अधिक कटु हो उठते हैं जबकि वाल्मीकि संयम बनाये रखते है। सुधार-भावना भी यद्यपि दोनों ही में है, परन्तु तुलसी में प्रत्यक्ष है जबकि वाल्मीकि मे प्रच्छन्न। दोनों की काव्य-शैली में सर्वत्र यही समानता और यही अन्तर हम देखते आये हैं।

इस श्रेणी के हास्य के उदाहरण दोनों काव्यों मे समान कथा-स्थलों से दिये जा सकते है क्योंकि दोनों कवियों में हास्य के साथ व्यंग का मिश्रण नायक के प्रति पक्षपात और नैतिक भावना एवं आदर्शवाद के कारण हुआ है। इस विवेचन के लिए दो स्थल पर्याप्त होंगे—मंथरा-कैकेयी सम्वाद और शूर्पणखा-प्रसंग।

मंथरा-कैकेयी सम्वाद

मंथरा अपनी विकृत आकृति के कारण हास्य रस की आदर्श आलंबन है। संस्कृत नाटकों में वामनक, कुब्जक, षण्ढ, चेट, चेटी, विट, धूर्त आदि हास्योत्पादक पात्र होते है तथा भाण और प्रहसन में तो ऐसे पात्रों की प्रधानता ही होती है।[१]

दोनों काव्यों के इस प्रसंग में अन्तर दर्शनीय है। वाल्मीकि मंथरा के साथ खूब विनोद करते हैं परन्तु तुलसो प्रारंभ से ही उसे गाली देने लगते हैं—'कुबुद्धि' 'कुजाती' 'मदमति', 'कारि सांपिनि' इत्यादि (दे० २. १३)। दोनों काव्यों में कैकेयी उससे विनोद करती है, जैसे मानस मे—

हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें। दीन्ह लपन सिख अस मन मोरें॥ (२.१३)

परन्तु बा० रामायण में इस विनोद का अधिक प्रसार किया गया है। कैकेयी वस्तुतः उसकी प्रशंसा करने लगती है और इस प्रकार हास्य की सामग्री द्विगुणित हो जाती है अर्थात् न केवल मंथरा वरन् कैकेयी भी हास्य का आलंबन बन जाती है। कैकेयी के मुख से मंथरा के रूप-गुण की प्रशंसा मे निकले हुए निम्नलिखित शब्द देखिये—

१ २५४

विमलेन्दु समं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामशोभितम् ।।
अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे ।
आसन्याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ।। (रा० २.९.४३-४५)

कुब्जा के लिये 'चन्द्रमुखी' और 'राजहंसी' शब्दों का प्रयोग किया गया है ! अगति का कैसा सरस विधान आदि कविने किया है, जबकि गोस्वामी तुलसीदास इस हास्योचित परिस्थिति की कल्पना नहीं कर पाते । उनकी कुब्जा कुरूप है—करि कुरूप विधि परबस कीन्हा ।स्पष्ट है कि वाल्मीकि स्वयं परिस्थिति का आनन्द ले रहे है और हास-विनोद का आस्वादन करते हुए स्वय उसके 'आश्रय' बन रहे हैं । यहां हमारा तादात्म्य कवि के साथ हो रहा है, जबकि मानस में कवि के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं हो रहा है । कवि उस पर निरन्तर कटु व्यंग्य करता जा रहा है जब कि पाठक चाहता है कि वह किञ्चित स्वस्थ मन होकर, भक्ति के कारण मथरा पर दांत न पीस कर, थोड़ा विनोद भी करे । शैक्सपीयर की यह विशेपता बतलाई जाती है कि वह गहन से गहन परिस्थितियों मे भी हंस सकता है, उसका दृष्टिकोण इतना प्रकृतिस्थ और स्वस्थ एवं दृढ है कि न तो शोक की सघनता और न हर्ष की उत्फुल्लता ही उसको चंचल कर सकती है"[1] । हमारे आदि कवि में भी यह विशेषता है । तुलसीदास मंथरा के कृत्य से विक्षुब्ध है, परन्तु वाल्मीकि विनोद की लहरों में डूबते उतराते हैं । वे उस कुबड़ी को कुबड़ी शिरोमणि 'कुब्जानामुत्तमा' बतलाते हैं । विनोद की पराकाष्ठा देखिये कि उसकी जघाओं की प्रशंसा एक बार नहीं बारम्बार करते हैं (दे० २, ९, ४२ से ४४), उसे 'परिपूर्ण जघना', 'निर्मृष्ट जघना', 'भृगमुपन्यस्थ जङ्घा' आदि कहते हैं ।

मंथरा की विकृत आकृति के अन्तर्गत भावालम्बन का मुख्य अवयव है उसका कूबड़ जिसकी तुलसी चर्चा तक नहीं करते परन्तु वाल्मीकि अच्छी तरह बखान करते है—

त्वं पद्ममिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ।।
तवेद स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ।
मतय: क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।। (रा० २. ९.४१ और ४६)

कूबड़ के लिये पवन से झुकाये हुये 'कमल पत्र' और 'रथघोण' की उपमा कोई परम विनोदी ही दे सकता है और हमारे आदि कवि में बिनोद का प्राचुर्य है, यहाँ तक कि इस अतिशय हास्य के कारण इन पक्तियो की प्रामाणिकता म भी सन्देह होने लगता है

मानस में इस प्रसंग के अन्तर्गत विनोद का पुट तो है, क्योंकि कुबरी हास्य का अनिवार्य आलंबन है, परन्तु प्रधानता व्यंग्य की है। मानस की मथरा की चेष्टाओ पर स्मित हास भी प्रस्फुटित होता है परन्तु साथ ही अमर्ष भी संचारित होता है—

पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावहुँ तोरी॥
काने खोरे कुबरे कुटिल कुचालि जानि।
तिय विसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि॥ (मा० २ १४)

इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी की विनोद भावना का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आगे चलकर हम शूर्पणखा-प्रसंग में भी ठीक यही बात पायेंगे। वाल्मीकि मे स्वस्थ, स्वच्छन्द हास-विनोद है परन्तु तुलसी में नही है। जहाँ है भी वह भक्ति के आश्रित है अर्थात् 'कौतुकौकृपानिधि' के कृपापात्र ही उसका संचार करते हैं। अन्यथा जो राम के विरोधी हैं उन समस्त पात्रों के प्रति तुलसीदास व्यंग, आक्षेप और कटूवित करते हुए ही दिखलाई पड़ते हैं। वाल्मीकि के हास में परिहास का प्राधान्य है और तुलमी के हास मे उपहास का।

हमने वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का अन्तर समझने के साथ ही एक परम्परा में रचित दो कृतियों में समानता की अनिवार्यता की दृष्टि से भी उनकी तुलना की है। अतः उपरोक्त प्रसग में जहाँ हम वाल्मीकि और तुलसी की विनोदवृत्ति मे इतना अन्तर देखते है वहाँ इतनी समानता भी अनुभव करते हैं कि मौलिक प्रवृत्ति एक है। यह अन्तर परिणाम का है, गुण का नही। तुलसी ने विनोद कम, व्यंग अधिक किया है और बाल्मीकि ने बिनोद अधिक, व्यग कम किमा है। व्यंग्य दोनों मे है, क्योंकि मन्थरा के साथ सहानुभुति दोनों की नही है, किसी की नहीं हो सकती। वाल्मीकि मानवता के नाते, काव्य-न्याय (पोयटिक जस्टिस) के नाते उसकी भर्त्सना करते हैं परन्तु तुलसी भक्त होने के नाते अर्थात् अपने आराध्य भगवान के पक्षपाती होने के नाते। तुलसी ने बार-बार उसे कुबुद्धि, कुजाती कहा है परन्तु वाल्मीकि भी उसे 'पाप दर्शिनी' कहने मे नहीं चूके है—

सा दह्यमाना कोपेन मंथरा पापदर्शिनी॥ (२. ७. १३)

कथा-सादृश्य और भावना-सादृश्य के कारण भी दोनों कवियों ने उसके कुकृत्य के दण्ड-स्वरूप लक्ष्मणानुज शत्रुघ्न से उस के कूबड़ पर लात लगवाई है और उसे चोटी पकड़ कर घसिटवाया भी है।[1] आगे हमें शूर्पणखा-प्रसग में भी ऐसा ही अन्तर और इतनी ही समानता दिखलाई पड़ती है।

शूर्पणखा-प्रसंग

दोनों कवियों की मूलभूत प्रवृत्ति का अन्तर और सादृश्य हम देख चुके है। यहाँ भी अन्तर यह है कि वाल्मीकि अपनी स्वस्थ प्रवृत्ति के अनुसार शूर्पणखा से विनोद करते हैं, जब कि तुलसी अपनी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के कारण कटु व्यंग्य-पूर्ण उपहास करते हैं, और सादृश्य के विचार से दोनों ने ही उसकी उपहासपूर्ण दुर्गति

---

१ रा० २ ७८ और मा० २ ६३

करवाई है क्योंकि वे ऐसे असंगत प्रस्ताव को अत्यन्त हेय समझते हैं।

विनोदी वाल्मीकि ने हास्योद्भावना के लिये राम और शूर्पणखा के सौन्दर्य को आमने-सामने रखकर तुलना की है और इस प्रकार वे स्वयं परिस्थिति में रस लेते हुए प्रतीत होते हैं। प्रणयिनी और प्रणयपात्र के विषम सौन्दर्यों का यह चित्र देखिये—

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी सुकेशं ताम्रमूर्धजा॥
प्रतिरूप विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी॥ (३. १७. १०-११)

एक सुन्दर, सुकुमार, सलोनी मुखमुद्रा वाले सुडौल कटिप्रदेश वाले, दीर्घ नेत्रों वाले, काले केशों वाले, प्रियदर्शन, मधुर-भाषी किशोर तरुण से एक कुरूपा, कठोर मुखमुद्रा वाली, बड़े पेट की, भद्दी आँखों वाली, लाल केशधारिणी, बीभत्सदर्शना और विकराल स्वर वाली परिणतवय वृद्धा का प्रणय-प्रस्ताव ! कितनी असंगति और वैचित्र्य है, कदाचित् ही कभी ऐसी घटना रोमानी जगत में घटित हुई हो ! कवि वाल्मीकि यहाँ भी विनोद-सरिता में तैरते दिखलाई पड़ते हैं, जैसा कि एक विद्वान का कथन है—

"The poet himself apparently eryoys this scene. He is amused at the contrast between the two, heightened by the fact that she makes love to Ram. What a fine pair to make love !"[१]

असंगति, विकृति, अनौचित्य, सभी दृष्टियों से हास्य की परिस्थिति को पहिचान कर कवि ने रस-प्रसार किया है और राम केवल मानस में ही नहीं, रामायण में भी कौतुकी हैं जिस कारण वे भी इस वैषम्य का आनन्द लेते हुए "श्लक्ष्ण वाणी" मे शूर्पणखा से वार्तालाप आरम्भ करते हैं। उन्होंने लक्ष्मण को 'अकृतदार' (३.१८ ३) बतला कर शूर्पणखा को उकसाया भी, जिससे वे अपने अनुज की भी विचित्र स्थिति को देखते हुए दोहरा आनन्द ले सकें। उनके इस कृत्य को लेकर कुछ लोगों ने उन पर असत्य-भाषण का आक्षेप किया परन्तु यहाँ राम की विनोद-वृत्ति सुस्पष्ट है, जैसा कि उपरोक्त विद्वान ने पुनः कहा है—

"No defence. What do commentators gain by it ? × × × No need to save him by saying that he equivocated. × × × He neither lied, nor equivocated, he was only joking. × × × He makes up his mind to have a little pleasure, make fun of that Stupid woman"[२]

यहाँ कवि का काव्यनायक के साथ तादात्म्य है। लक्ष्मण भी उससे सस्मित वार्ता करते हैं (३. १८. ८) परन्तु अपने भाई से परिहास का बदला लेने के लिये, स्वय को सेवक बतला कर और उसे दासी-जीवन की विडम्बना समझा कर

१ लेकचर्स आन वी० एस० शास्त्री पृ० ०-८१।
२ वही पृ० ८१, ८३ और ८७

पुन अपने अग्रज के पास ही लौटा देते हैं। भ्रातृ-युगल में परस्पर परिहास की स्थिति है परन्तु दोनों भाई और उनके साथ कवि महोदय, ये तीनों मिलकर अकेली शूर्पणखा का उपहास कर रहे है। यहाँ 'लाफिंग विथ्' (मिल कर हँसना) की स्थिति नहीं है वरन् 'लाफिंग ऐट' (लक्ष्य पर हँसना) की स्थिति है। इसके अतिरिक्त शूर्पणखा 'परिहासाविचक्षणा' (३. १८. १३) भी है, वह अन्त तक नहीं समझ पाती कि उसे मूर्ख बनाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में, वा० रामायण के इस प्रसंग मे भी, हास्य के साथ कारुण्य का संचार होता दिखलाई पडता है। एक ओर है तीन पुरुष (राम, लक्ष्मण और कवि) तथा दूसरी ओर है अकेली स्त्री। परन्तु यह कथा की विवशता है। वाल्मीकि इसे बदल नहीं सकते थे। परम्परा के अनुरोध से उन्हे शत्रु-स्वसा शूर्पणखा का उपहास करना ही था और नैतिकता एवं न्याय की दृष्टि से स्वैरिणी स्त्री पर व्यंग्य भी करना ही था। व्यंग्य सुधार का माध्यम भी होता हे। शूर्पणखा व्यंग्य को नही समझ सकी, परन्तु पाठक समझते हैं और अनुभव करते है कि यह अनुचित था तथा शूर्पणखा उपहास और दण्ड के योग्य ही थी।

वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने एक ही कार्य किया है, दोनो की एक मनोवृत्ति है, परन्तु कला में भेद है। वाल्मीकि की मनोवृत्ति कला के आवरण में छिपी हे, परन्तु तुलसी में तो सब कुछ स्पष्ट है। वे तो आरम्भ ही व्यंग्य, उपहास और लांछना से करते हैं—

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥

(३. १७)

शूर्पणखा के माध्यम से सारी ही स्त्रीजाति की काम-विषयक दुर्बलता पर यह आक्षेप अत्यन्त अन्याय पूर्ण और अशोभन है। इससे स्त्रियों के प्रति तुलसी का वैयक्तिक विद्वेष और अवांछनीय अनुदरता प्रकट होती है, जिसकी सभी विद्वानो ने निन्दा की है और इसे कला के स्तर से बहुत नीची वस्तु माना है।[१]

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि का हास्य व्यग्यमिश्रित होकर भी अवैयक्तिकता के कारण कलात्मक है और तुलसी का हास्य रहित व्यग्य कहीं-कही वैयक्तिकता के कारण काव्यशून्य होकर उनकी मनोग्रथि और साप्रदायिकता (स्त्री-बहिष्कार) का सूचक भी बन जाता है।

शुद्ध व्यंग्य

शुद्ध व्यंग्य के उदाहरण वाल्मीकि में नहीं हैं, तुलसी में बहुत है। कारण

१. 'तुलसीदास', मा० प्र० गुप्त पृ० ३०७ से ३०९ तथा 'विचार और विश्लेषण', डा० नगेन्द्र पृ० ४७। डा० नगेन्द्र इसे रत्नावली वाली घटना की प्रतिक्रिया मानते है और डा० गुप्त भी इससे कुछ सहमत प्रतीत होते हैं

स्पष्ट है। तुलसी के काव्य पर वैयक्तिकता का दबाव बहुत अधिक है, जब कि वाल्मीकि के काव्य पर बहुत कम। तुलसी का व्यक्तिगत जीवन उनके काव्य में अधिक देखा जा सकता है, उनके राग-द्वेष उसमें अधिक स्पष्टता के साथ प्रतिबिम्बित हुए है। इसीलिये कुछ पात्रों के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा है, कुछ के प्रति सामान्य भावना है और कुछ के प्रति घृणा है। यह घृणा कहीं-कहीं असामान्य, विद्वेषपूर्ण और उत्कट हो गई है। वाल्मीकि में ऐसा नहीं है। उनके राग-द्वेष संतुलित है, राम-पक्ष के प्रति उनकी श्रद्धा है और राक्षस-पक्ष के प्रति अश्रद्धा। राक्षसों के प्रति उनकी घृणा भी व्यक्त हुई है, परन्तु उत्कट रूप मे नहीं। समाज के पोषक और शोषक, विधायक और विनाशक, तत्वों के प्रति श्रद्धा और घृणा, सत्कार और तिरस्कार, का अधिकार सभी का होता है। यह मनुष्य की सहज नैतिक प्रवृत्ति है जो कि वाल्मीकि के काव्य में दिखलाई पड़ती है। इसीलिये उनमें वैयक्तिक व्यंग्य अर्थात् विनोद रहित व्यंग्य बहुत कम है, अधिकांशतः हास्य उसका सहयोगी रहा है। तुलसी में इसके विपरीत स्थिति है। उनके काव्य में शुद्ध विनोद अत्यल्प, विनोद सहित व्यग्य सामान्य और शुद्ध व्यग्य अर्थात् व्यक्तिगत व्यंग्य—निजी व्यक्तित्व, युग के वातावरण और भक्ति-भावना के कारण—बहुत अधिक है। यह शुद्ध व्यग्य उनके उत्कट तिरस्कार या घृणा के रूप में अर्थात् राम-विरोधी पात्रों के अपमान के रूप मे दिखलाई पड़ता है।

हास्य रस की सामग्री तुलसी के सम्वादों में सबसे अधिक है और इसीलिये रामचरित मानस के ये अंश विशेष लोकप्रिय हुए है। इनमें यद्यपि हास्य के साथ ही व्यग्य है, परन्तु कवि का पक्षपात इनमें स्पष्ट प्रकट होता है। वह एक पक्ष को जिता कर दूसरे को हराने का प्रयत्न करता है अर्थात् उसे उपहासास्पद बनाता है। इस लिये इनमें शुद्ध व्यंग्य ही मानना चाहिये। यों तो हास्य के बिना व्यग्य होता ही नही, अन्यथा वह गाली या वाग्युद्ध बन जायेगा। अतः जहाँ कवि एक पक्ष के साथ मिलकर दूसरे को उपहासास्पद बनाने का प्रयत्न करे वहाँ शुद्ध व्यंग्य ही कहना उचित प्रतीत होता है।

अंगद-रावण सम्वाद इस प्रवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। अंगद जिस ढग से रावण की सभा में प्रवेश करता है उसी से प्रकट है कि वह विजेता है और वाग्युद्ध मे रावण को मुँह की खानी पड़ेगी। वास्तव में मानस की रामकथा का समस्त वातावरण रावण की भावी पराजय से प्रभावित है। इसी का प्रभाव उसके हास्य रस पर भी पड़ा है। अंगद के रावण-सभा में प्रवेश के इस चित्र को देखिये—

> प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बंकुरा बालि सुत बंका ॥
>
> \+ \+ \+
>
> भयउ कोलाहल नगर मंझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी ॥
>
> बिनु पूछ मग देहिं दिखाई जेहि बिलोकि सोइ जाइ सुखाई
>
> \+ \+ \+

गयउ सभाँ मन नेकु न मुरा। बालितनय अतिबल बांकुरा ॥
उठे सभासद कपि कहुं देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी ॥
(मा० लंका० १८-१६)

समस्त राक्षस हनुमान द्वारा लंका-दहन के पश्चात् वानरों से भयभीत हो गये थे, अतः अब अंगद के आगमन पर वे उनके मार्ग से हटकर आप से आप मार्ग बतलाने लगे और रावण की राजसभा में प्रवेश करने पर उनके अभ्यर्थनार्थ उठ खड़े हुए। यह परिस्थिति रावण को चिढ़ाने के लिये उत्पन्न की गई है। रावण को तुलसीदास ने इतना प्रतापहीन बना दिया है कि कहीं-कहीं तो उसके प्रति दया उत्पन्न होने लगती है। जहाँ व्यग्य का पात्र व्यंग्य की कटुता से दयनीय बन जाये वहाँ हास्य समाप्त हो जाता है।

अंगद-रावण सम्वाद मे तुलसीदास ने प्रारम्भ से ही रावण का पल्ला इतना हल्का कर दिया है कि कलात्मक हास्य का आनन्दानुभव न होकर सांप्रदायिक व्यग्य की ही अनुभूति होती है। अंगद रावण को सलाह देते हैं कि वह दांतों में तिनका दबाकर त्राहि-त्राहि करता हुआ राम की शरण में जाये। स्वाभाविक था कि इस पर रावण का खून खौल उठा और तब अंगद उसका भरपूर अपमान करने लगे। दूत की शिष्टता और रावण जैसे राजा के दरबार की मर्यादा को भुलाकर वे उसे 'शठ', 'खल' आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं, कहते है कि वह डूब क्यों नहीं मरा[1] और उसकी तुलना गधे से करते हैं।[2] अन्त में पग-स्थापन का प्रसंग उपस्थित करके तुलसीदास रावण को सर्वथा निरस्त्र और हतप्रभ कर देते हैं—

गहत चरन कह बालिकुमारा। मम पद गहें न तोर उबारा ॥
गहसि न राम चरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई ॥
(लंका० ३५)

इससे पूर्व वे अंगद के कटकटा कर भुजा पटकने से रावण के मुकुट गिरवा चुके थे (लंका० ३२)। गाली दिलवाने और मुकुट गिरवाने से भी सन्तोष होता न देखकर उन्होंने इस प्रकार भरी सभा में उस प्रतापी वीर का ऐसा निर्मम, सहृदयता-शून्य अपमान कराया। इसमे हास्य कहाँ है? यह तो कठोर उपहास है और उपहास भी नहीं वरन् यह तो प्रतिपक्षी को बलपूर्वक पराजित करने का हठ है। तुलसीदास ने रावण को बार-बार अपने बल, बुद्धि नीति आदि का बखान करते हुए और डींगे मारते हुए दिखलाया है जिससे कि पाठक को स्वयं उससे चिढ़ हो जाये, उसकी ओर से सहानुभूति हट जाये। इस प्रकार की कृत्रिम परिस्थितियों से पाठक को अपने पक्ष मे करने की प्रवृत्ति सांप्रदायिक मनोवृत्ति की परिचायक है जिसके कारण तुलसी का हास्य रस भी दूषित हो गया है।

अगंद-रावण के सम्वाद के अतिरिक्त अन्यत्र भी यही बात दिखलाई पड़ती है।

१. मा० लंका० २२।
२ वही २६

लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद में भी हास्य की परिस्थितियां कृत्रिम रूप में उत्पन्न दिखलाई पडती है। कवि लक्ष्मण की उक्तियों से बार-बार परशुराम को उत्तेजित कराकर उन्हे हास्यास्पद स्थिति में लाने का प्रयत्न करता है। एक कुमार के द्वारा परशुराम जैसे वयोवृद्ध का ऐसा उपहास अशोभनीय प्रतीत होता है जो कि न तो रघुवंश-कुमार लक्ष्मण की मर्यादा के अनुकूल है और न भृगुवंश-मणि परशुराम की मर्यादा के। कवि ने राम के विरोधी परशुराम के विरुद्ध जनता की भावना को उभार कर उन्हें विदूषक जैसा बना दिया है। राम के प्रति भक्ति को प्रेरित करने का यह ढंग निष्पक्ष नहीं, संकीर्ण है। सर्वत्र राम और शिव को एक स्तर पर रखने का प्रयत्न करके भी तुलसीदास ने यहाँ प्रकट कर दिया कि उनकी दृष्टि में राम के आगे शिव कितने तुच्छ है, जिनके भक्त की खिल्ली उन्होंने भरी सभा में उड़ाई है।

ऐसे प्रसंग हास्य के नहीं व्यंग्य के ही उदाहरण माने जायेगे जिनमें कवि अपनी भावनाओं के प्रतिपक्षी पात्रों पर खुल कर छींटें उछालता है और उन्हे प्रत्यक्ष रूप में अपमानित करता है। यहाँ हास नहीं उपहास, तिरस्कार, प्रतिकार और प्रतिहिंसा है जो कि सच्चे कलाकार के लिए अवांछनीय है।

वा० रामायण से भी शुद्ध व्यंग्य के कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं, फिर भी उनमें तुलसी जैसा प्रत्यक्ष पक्षपात और प्रतिपक्षियों का तिरस्कार या अपमान नही मिलेगा। दोनों कवियों ने राक्षसों के डींग मारने पर उनका उपहास किया है परन्तु वाल्मीकि ने ऐसे अवसरों पर भी पूर्ण सहृदयता प्रकट की है।[1] वे तुलसी के समान राक्षसों के व्यवहार और वार्ता पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी न करके पाठकों पर ही उसकी आन्तरिक प्रतिक्रिया होने के लिए छोड़ देते है जैसे कि उक्त प्रसंग में बज्रहनु आदि की वातों पर हम मन ही मन व्यंग्य करते हैं अर्थात् उनकी डींग की निस्सारता समझते हैं।

वाल्मीकि ने राक्षस पात्रों के नामकरण में भी अपनी व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति प्रकट की है। रामकथा के अधिकांश पात्रों के नाम साभिप्राय है परन्तु अनेक राक्षस और राक्षसियों के व्यंग्यामक नाम भी वाल्मीकि ने गढे है, जैसे एकाक्षी, एककर्णा, कर्णप्रावरणा, गोकर्णी, हस्तिकर्णी, लम्बकर्णी, अकर्णिका, हस्तिपादी, अश्वपादी, गोपादी, पादचूलिका, सिंहमुखी, गौमुखी, शूकरमुखी इत्यादि।[2] इस प्रकार कुरूपता की सारी कल्पना राक्षसियों के वर्णन में प्रकट कर दी है। स्पष्ट है कि राक्षस-पक्ष के सौन्दर्य, सस्कृति और शक्ति पर उन्होंने व्यंग्य किया है।

राक्षसों के प्रति वाल्मीकि और तुलसी दोनों के व्यग्यों को वैयक्तिक कह सकते है क्योंकि इससे काव्य नायक के प्रति उनका पक्षपात और प्रतिपक्षी का विरोध प्रकट होता है परन्तु अन्तर यह है कि तुलसी अपनी ओर से टिप्पणी करके पक्षपात प्रकट कर देते हैं और व्यंग्य समाप्त हो जाता है, जैसे रावण के अहकार पर टिप्पणी करते

१ रा० ६ ८
२ रा० ५ २२

हुए वे कहते हैं—

उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना[१] ॥

वाल्मीकि इस प्रकार की टिप्पणी नही करते। अतः उनका व्यंग्य वैयक्तिक अर्थात् पक्षपात-प्रेरित होकर भी अवैयक्तिक ही प्रतीत होता है। शूर्पणखा और मंथरा के प्रसगों मे भी हम ऐसा ही अनुभव करते है।

अपने व्यग्यों में दोनों कवियों ने अवैयक्तिकता का प्रयत्न भी किया है परन्तु वाल्मीकि कलाकार की तटस्थता बनाये रखते हैं जबकि तुलसी सुधारक के अनुरूप उपदेश देते हैं। वाल्मीकि मानवीय दुर्बलताओ को भी सहज और स्वाभाविक मानते हुए सम्पूर्ण मानवप्रकृति का रसास्वादन करते है, जबकि तुलसी उन दुर्बलताओ के प्रति असहनशील है। यही कारण है कि वाल्मीकि के काव्य में हास्य की निर्मल छटा मिल जाती है जबकि तुलसी की रचना मे वह व्यंग्य के बादलो मे ही छिपी दिखलाई पडती है।

रौद्ररस

रौद्र रस दोनों काव्यों में गौण है। जिस महाकाव्य के नायक करुणानिधान राम हैं उसके लिए यह स्वाभाविक ही है। दोनों काव्यों में रौद्र रस का सांगोपाग विकास भी कही-कहीं हुआ है परन्तु अधिकाशतः वह आलम्बन के अनौचित्य या कथा की संक्षिप्तता अथवा द्रुतवेग के कारण अपुष्ट दशा में रह गया है, अथवा मित्र रस वीर तथा भयानक का सहयोगी बनकर उपस्थित हुआ है।

कथा में रौद्र रस का एक मुख्य एवं उल्लेखनीय स्थल राम के, और विशेष कर लक्ष्मण के, कृतघ्न सुग्रीव के प्रति क्रुद्ध होने के अवसर का है। शरद ऋतु के आ जाने पर भी जब राम सुग्रीव की ओर से सीतान्वेषण का कोई प्रयत्न नहीं देखते तब वे लक्ष्मण से सुग्रीव के लिए यह क्रोध भरा संदेश कहते हैं—

घोर ज्यातलनिर्घोषं क्रुद्धस्य मम संयुगे।
निर्घोषमिव वज्रस्य पुनः संश्रोतुमिच्छसि ॥ (४.३०.७५)
न च संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ॥ (४.३०.८१)

राम का यह क्रोध विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत है। अतः इसमें रौद्र रस की वह वास्तविकता और उग्रता दृष्टिगोचर नहीं होती जो लक्ष्मण के निम्नलिखित चित्र मे दिखलाई पड़ती है—

कामक्रोधसमुत्थेन भ्रातुः कोपाग्निना वृतः।
प्रभंजन इवाप्रीतः प्रययौ लक्ष्मणस्ततः ॥
सालतालाश्वकर्णाश्च तरसा पातयन् बहून्।
पर्यस्यन् गिरिकूटानि द्रुमानन्यांश्च वेगितः।

१ मा० ६ ४०

शिलाश्च शकलीकुर्वन् पद्भ्यां गज इवाशुगः ॥
दूरमेकपदं त्यक्त्वा ययौ कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ (४.३१,१३-१५)

यद्यपि वा० रामायण की कथा में भी राम सुग्रीव का अनिष्ट नहीं करना चाहते हैं और लक्ष्मण को भी वे यथार्थता बतलाकर किष्किंधा भेजते हैं, फिर भी रौद्र रस के परिपाक में यहा कोई कमी नही है, विशेषकर लक्ष्मण की चेष्टाओं मे क्रुद्ध जन के अनुभावों की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है। इसी चित्र का मिलान मानस से कीजिये—

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहं काली ॥
जासु कृपां छूटहिं मद मोहा। ता कहु उमा कि सपनेहुं कोहा ॥ (४.१८)

तुलसीदास के विचार से राम में क्रोध जैसी तमोगुणी वृत्ति का दिखाना मानो अपराध है, अतः वे उस क्रोध की अवास्तविकता प्रकट करना आवश्यक मानते है। दूसरी बात यह भी है कि जिसकी भृकुटी-विलास से सृष्टि संचालित होती है उसे क्रोध करने की आवश्यकता ही क्या है? भक्तवत्सल भगवान होने के नाते राम का क्रोध कहीं भी करुणा से खाली नहीं है। उनका क्रोध भी करुणा के क्रोड़ से ही उत्पन्न होता है जैसा कि वीर रस के विषय मे हम देख चुके है।

मानस के काव्यनायक राम को क्रोध आता ही बहुत कम है। वह भी कृत्रिम अर्थात् पुत्र के प्रति पिता की प्रच्छन्न वत्सलता के रूप में होता है, और वह ठहरता क्षण भर को ही है। रामायण के राम जैसा कालाग्नि सदृश क्रोध, जिसमें वह कभी सीता के विरह से पीड़ित होकर सारी सृष्टि को भस्मसात् कर डालने को उद्यत होते है और कभी मेघनाद की माया से कुपित हो समस्त निशिचर कुल को ही नष्ट करने लगते हैं, मानस के राम में दिखलाई नही पड़ता। क्रोध ही नहीं, सारे ही मनोविकारों से वे परब्रह्म होने के नाते अतीत हैं,[1] वे निर्विकार हैं और मानुष वपु में केवल मनोविकारों का अभिनय मात्र करते हैं। उनमें यदि कोई मनोविकार है तो वह आत्मा का सहज स्वभाव स्वरूप करुणा है, अखिल सृष्टि का और शत्रु-मित्र सब का समभाव से प्रेम है। इसी आधार पर तुलसी के विशिष्ट समालोचक आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने सृष्टि के समस्त भावों मे से दो मूल बीज भाव माने हैं—प्रेम और करुणा, और उनमे से भी प्रधानता करुणा की बतलाई है।[2]

लक्ष्मण अवश्य ऐसे पात्र हैं जिनके हिस्से में क्रोध विशेष रूप से दोनों ही काव्यों में पड़ा है, मानो कि वे राम के क्रोध के अभाव की पूर्ति कर देते हैं। राम के यौवराज्य में विघ्न पड़ने पर, भरत को चित्रकूट आता हुआ देखकर, सुग्रीव की कृतघ्नता समझकर और समुद्र की धृष्टता देखकर वे क्रोध से उबल पडते है, बौखला उठते है। वे रौद्रावतार परशुराम से भी भयभीत न होकर उनके क्रोध से खिलवाड़ करते हैं। स्वयंबर-सभा में जनक को "वीरविहीन मही मैं जानी" कहकर

१ म श्रीकृष्ण लाल

रघुवंश का भी अपमान करते हुए समझकर वे लाल-ताल हो उठते है—

माथे लषन कुटिल भइ भौंहें । रद पट फरकत नयन रिसौंहें ।[1]

उनके रोष की 'पावक' प्रबल है जिसमें स्वयंवर में समागत सारा कुटिल राज-समाज भस्मासात् हो सकता है । राम के कारण उनका क्रोध जब-तब दबा रहता है लेकिन धनुर्भंग के बाद असंतुष्ट राजाओं की बड़बड़ाहट देखकर वे खूंख्वार शेर ही बन बैठते हैं—

अरुन नयन भ्रकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप ।
मनहु मत्त गजगन निरखि सिंघ किसोरहि चोप ।। (१.२६७)

क्रुद्ध व्यक्ति की मुद्राओं के अनेक सुन्दर शब्दचित्र मानस में मिलेगे परन्तु राम को तो अपनी भौंहों तक की वक्राकृति दर्पण में देखकर खेद होता है क्योंकि कहीं उनके भक्तजन भ्रम से उन्हें क्रुद्ध समझकर हताश न हो जायें—

मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष ।
तुलसी से सठ सेवकन्हि लखि जनि परहि सरोष ।। (दोहावली १८७)

लक्ष्मण के अतिरिक्त परशुराम की—

जेहि सुभायं चितवहि हितु जानी । सो जानइ जनु आठ खुटानी ।।
(बाल० २६९)

और रावण की राजसभा में उसके मुख से राम की निन्दा सुनने पर अंगद की यह रुद्राकृति देखिये—

कटकटान कपिकुंजर भारी । दुहुं भुजदंड तमकि महि मारी
डोलत धरनि सभासद खसे । चले भाजि भय मारुत ग्रसे ।। (लंका० ३२)

राम में तो क्रोध की झलक मिल भी जाती है परन्तु रावण-द्वेषी गोस्वामी तुलसीदास ने प्रबल प्रतापी रावण के क्रोध की शोभा को तो सर्वथा ही नष्ट कर दिया है । उन्होंने उसका क्रोध अत्यन्त क्लीव रूप में प्रस्तुत किया है जिससे कोई भी तो भयभीत नहीं होता, छोटे-छोटे वानर तक उसके क्रोध की खिल्ली उड़ाते दिखलाई पड़ते हैं । दूसरी ओर वाल्मीकि में हम देखते हैं कि रावण का क्रोध प्रतिनायक के गौरव के अनुरूप है । मेघनाद के बध से विक्षुब्ध रावण की यह प्रभावशाली रुद्र मूर्ति देखिये—

रावणस्य महाघोरे दीप्ते नेत्रे बभूवतुः ।
घोरं प्रकृत्या रूपं तत्तस्यक्रोधाग्निमूर्छितम् ।।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव दुरासदम् ।
तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नस्रबिन्दवः ।।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ।
दन्तान् विदशतस्तस्य श्रूयते दशनस्वनः ।।

1 मा० १ २५२

यन्त्रस्यावेष्ट्यमानस्य महतौ दानवैरिव ।
कालाग्निरिव संक्रुद्धो यां यां दिशमवैक्षत ॥ (६.९३.२२-२५)

भावावेग में कवि की शैली अनायास ही अलंकृत हो उठती है। क्रुद्ध रावण के कटकटाते दांतों का शब्द दानवी बल से घुमाये जाते हुए कोल्हूँ के शब्द जैसा प्रतीत होता है। वा० रामायण के नायक राम का ही नहीं अपितु प्रतिनायक रावण का क्रोध भी कालाग्नि सदृश है। चरित्रचित्रण में ऐसी निष्पक्षता तुलसीदास में नहीं मिलेगी। वाल्मीकि में कलाकार की तटस्थता, निष्पक्षता और औदार्य है परन्तु तुलसीदास युग और व्यक्तित्व के पूर्वाग्रहों से बद्ध हैं। उनकी कला मतवाद और सिद्धान्तवाद से अनुशासित भी है।

यद्यपि तुलसी की रचना जीवन की अनेकानेक परिस्थितियों का सन्निवेश करने के कारण सर्वांगीणता में वा० रामायण से आगे बढ़ी हुई दिखलाई पड़ती है, लेकिन समस्त मनोविकारों का जिस निर्द्वन्द्व भाव से चित्रण वाल्मीकि करते हैं तुलसी नही करते। वे अपनी मनोभावना की तुला पर तोलकर अपने पात्रों को मनोविकार बाँटते हैं, उनके व्यक्तित्व को स्वच्छन्द नहीं छोड़ते। उनकी कला उनके व्यक्तित्व के बोझ से अत्यधिक दबी हुई है। वाल्मीकि के पात्र उनके महाकाव्य के वन में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करते है, उनकी भावाभिव्यक्तियों पर अनावश्यक अंकुश नही है। वाल्मीकि की कविता के राज्य में सुस्निग्ध लोकतंत्र है, पात्रों की प्रजा पर और भावो की सस्थाओं पर कवि का अनावश्यक नियन्त्रण या हस्तक्षेप नहीं है। तुलसी की कविता के राज्य में सीमित लोकतंत्र है, उनके पात्र मनमानी सांस नहीं ले सकते, उनके मनोविकारों पर कवि का पहरा है, भावनाओं के फूल उन्मुक्तता पूर्वक नही खिलने पाते। एक की कविता स्वच्छन्द पहाड़ी नदी है, निर्बाध फूलता-फलता वन है। दूसरे की कविता तटों में सिमटती मैदानी नदी है, नियन्त्रण में विकसित होता हुआ नागरिक उपवन है।

भयानक रस

भयानक रस के उदाहरण दोनों काव्यों में हैं परन्तु दोनो में ही भयानक रस अद्‌भुत या करुण रस के आधीन दिखलाई पड़ता है। कथा में भयानक रस का सम्बन्ध विशेष कर राक्षसों की आकृति और कर्मों से है। राम-पक्ष के सदस्यो के कर्म प्रायः अद्‌भुत रस की सृष्टि करते हैं तो रावण-पक्ष के सदस्य और उनके कर्म भयानक रस का उद्‌भावन करते हैं। हनुमान का सागर-लंघन, द्रोणाचल-आनयन, अथवा राम का सेतुबंधन, धनुष भंजन आदि विस्मय का संचार करते हैं, क्योंकि राम-पक्ष से किसी अनिष्ट की आशंका नहीं है दूसरी ओर रावणपक्ष के मायावी कर्म माया सीता[१] और राम के की रचना[१] और उनके मायायुद्ध भय का सचार

कुम्भकरण को देखकर भयभीत होते है।[1] रस की अनुभूति और रस विशेष का प्राधान्य श्रोता, पाठक या दर्शक के संस्कारों और पूर्वाग्रहों पर निर्भर होता है[2]। कुम्भकरण का वेश वानरों के लिए और हनुमान का वेश राक्षस-राक्षसियों के लिए भयोत्पादक है। कवि और पाठक का पक्षपात रामपक्ष के साथ होने के कारण हनुमान और उनके कृत्य अद्भुत रस के आलंबन और उद्दीपन बनते हैं परन्तु कुम्भकरण और उसके कृत्य भयानक रस के। वा० रामायण की अपेक्षा मानस में ऐसी स्थितियाँ बहुत अधिक हैं क्योंकि तुलसीदास अपनी काव्यरचना में वाल्मीकि की अपेक्षा बहुत अधिक पूर्वाग्रहग्रस्त और साम्प्रदायिक सीमा में आवद्ध थे। वाल्मीकि भी राम का सत् और रावण का असत् पक्ष समझते थे परन्तु रावण और उसके दल की अच्छाइयो की ओर से उन्होंने बिल्कुल ही आंखें नहीं मूँद ली थीं।

लंकादहन का प्रसंग वा० रामायण में प्रक्षिप्त माना गया है[3] और मानस मे भी उसे विशुद्ध भयानक रस का उदाहरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह हनुमान के क्रीड़ा-कौतुक से उत्पन्न होने वाले हास्य के आधीन है[4]। रावण के साथ पाठक की सहानुभूति न होने से इस प्रसंग में भयानक रस का अनुभव नहीं होता। मानस मे इसका वर्णन तुलसीदास ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है इस लिये भी भयानक रस का परिपाक नही हुआ है, जैसा कि कवि की अन्य रचना कवितावली (सुन्दरकाण्ड) मे हुआ है। अतः तुलना करने के लिये एक अन्य प्रसंग उपस्थित किया जा सकता है जहाँ दोनों ही कवियों ने भयानक रस की उद्भावना की है। यह प्रसंग राम के वन-गमन के समय की अयोध्या की स्थिति है। यद्यपि इस प्रकरण में शोक और विषाद के भाव की प्रधानता है परन्तु भय का भाव भी संचारी से अधिक है क्योंकि वह पर्याप्त देर तक ठहरा हुआ दिखलाई पड़ता है और शोक के साथ-साथ चलता हुआ कभी उससे भी अधिक तीव्र हो गया है। उस परिस्थिति का विवेचन करने पर भय की व्यापकता का कारण भी समझ में आता है। अकस्मात् एक रात में अभिषेक से वन-गमन की उलट-फेर देखकर भवितव्यता की दुर्निवारता और निष्ठुरता एवं अनिश्चय की स्थिति से अयोध्यावासी सिहर उठे थे और आशंकित थे कि कहीं इससे भी बड़ी दुर्घटना, "दुर्भाग्य और दुर्घटना अकेली नहीं आती," इस नियम के अनुसार, न आ पड़े। स्वयं राम को भी आशंका थी कि कहीं केकैयी दशरथ और कौशल्या का घोर अनिष्ट न कर डाले (रा० २. २३. ७)। इसके अतिरिक्त भावी दुर्घटनाओं के पूर्वाभास के नियम के अनुसार दशरथ की मृत्यु की छाया भी अज्ञात रूप में अयोध्या पर मंडराने लगी थी। दशरथ जैसे शक्तिशाली राजा की शक्ति का पराभव, कैकेयी के रूप में नारी की पैशाचिक निष्ठुरता और राम जैसे सच्चरित्र और सुकुमार किशोर

१. रा० ६.२६।
२. काव्य दर्पण, पृ० ६४।
३. रामकथा, बुल्के, पृ० ३६६।
४ गो० तुलसीदास तुलसी की भावुकता) रा० शुक्ल पृ० १०१
५ M sfortune never comes alone

राजकुमार को अपने अनुज और नवविवाहिता राजवधू के साथ वन जाते हुये देखकर सारी अयोध्या की जनता का सिहर उठना स्वाभाविक था।

यूनानी नाट्याचार्यों के विषादान्त नाटकों से सम्बन्धित भय और करुणा के स्फुरण एवं रेचन का सिद्धान्त[1] (कैथार्सिस) उक्त प्रकरण में अत्यन्त कलात्मक और रसात्मक ढंग से प्रयुक्त हुआ दिखलाई पड़ता है। मानव स्वभाव सर्वत्र एक समान है और उस पर आधारित साहित्यिक तथा अन्य शास्त्रीय नियमों मे भी मूलभूत एकता होना स्वाभाविक ही है। जो बात यूनानी नाट्य साहित्य में सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत की गई है वही बात इस भारतीय राम कथा के उक्त प्रकरण मे दिखलाई पड़ती है। अयोध्याकाण्ड में राम के वनगमन का दृश्य समस्त राम-काव्यों में भय और करुणा की सिहरन का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने मानव-जीवन मे घटित होने वाली ऐसी अप्रत्याशित घटनाओं की भयावहता का अनुभव करते हुए उक्त प्रकरण के आधार पर भयानक रस का सफलता पूर्वक विधान किया है।

वाल्मीकि ने इस अवसर पर अपशकुनों के द्वारा वातावरण की भयंकरता के रूप में भयानक रस के विभावपक्ष को पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है जैसे—क्रूर ग्रहो का चन्द्रमा के निकट जाकर थर-थर कांपना, धूम्रकेतुओं का प्रकट होना, भयकर भीमकाय कृष्ण मेघों का आंधी के साथ उठना, दशों दिशाओं में अन्धकार छाजाना, भूकम्प का आना इत्यादि[2]। साथ ही अनुभावो के रूप में उन्होंने अयोध्या-वासियो की विषण्णता, दिनचर्या के परित्याग, घर के चूल्हों और वेदियों के अग्निहोत्रों के बुझे पडे रहने, हाथियों के झूले गिरा देने, गौओं के बछड़ो को दूध न पिलाने, माताओ के पुत्रो को देखकर भी उदास बने रहने (२. ४१. ७-१०) और नगर के श्मशानवत बन जाने (२. ४२. २२-२५) आदि का वर्णन किया है। ये अनुभाव करुण रस के है क्योंकि इनसे विषाद की व्यंजना होती है परन्तु शोक किसी भयानक घटना का ही परिणाम हुआ करता है। राम के राज्याभिषेक के वनवास में परिवर्तित हो जाने की घटना से भयानकतर घटना और क्या हो सकती है? अतः राम के अयोध्यात्याग के प्रकरण में भयानक रस ही मानना उचित प्रतीत होता है। आगे दशरथ की मृत्यु होने पर यही करुण रस में परिणत हो जाता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि दशरथ-मरण से उद्दीप्त होकर भयानक रस की और अधिक वृद्धि हो जाती है। वस्तुतः यहाँ भयानक रस ही मानना उचित है क्योंकि प्रधानता शोक की न होकर जिस प्रकार से उस शोक का आगम हुआ है उस परिस्थिति की है और वह परिस्थिति क्रूरतम भवितव्यता की है, भय की है।

मानस में कवि ने दशरथ के कैकेयी-भवन में प्रवेश से ही भय के वातावरण का समारम्भ कर दिया है भयवश अगहुड़ परइ न पाऊ "कैकेयी की 'कुवेषता' में उन्हे

1 Tragedy is an imitation of an act on exciting terror and pity

उसका भावी 'अनअहिवातु' अर्थात् वैधव्य झलकता दिखलाई पड़ता है, उसके वचनो मे उन्हें अपने काल के रूप में कैकेयी पर छाये हुए पिशाच की लीला दिखलाई पडती है, वे उसके अप्रत्याशित प्रस्ताव को सुनकर वैसे ही सहम उठते हैं जैसे चकवे को चन्द्रमा की किरण ने छू लिया हो, जैसे चिड़िया पर बाज झपट पड़ा हो, ताड़ पर बिजली गिर पड़ी हो। उनके मनोरथ रूपी कल्पवृक्ष को हथिनी ने उखाड़ फेंका था, उन्हें विश्वास नही होता कि यह सब सत्य है या परिहास, और कैकेयी के कोप की बाढ में वे किनारे के वृक्ष के समान निस्सहाय गिर पड़ते हैं। यहाँ भय के आलंबन है दशरथ, क्योंकि "सकउ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी' कहने वाले शक्तिशाली सम्राट की ऐसी परवशता और निस्सहायता देखकर भय का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कैकेयी की क्रूरता और उसके बचन उद्दीपन हैं क्योंकि उसके आचरण से भय की भावना और अधिक उद्दीप्त होती है। यदि कैकेयी इस अवसर पर जरा सी भी मृदुता दिखा देती तो भयानक रस बाधित हो जाता। सवेरा होता है, सुमत्र आते है और भय के भाव के 'आश्रय' (शास्त्रीय शब्दावली में) बनते हैं। सुमत्र की स्थिति में भयानक रस की पूर्ण अवतारणा देखिये—

गए सुमंत्र तब राउर पाहीं। देखि भयावन जात डेराहीं ॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपत्ति बिषाद बसेरा ॥
पूछें कोउ न ऊतरु देई। गए जेहिं भवन भूप कैकेई ॥
कह जयजीव बैठ सिरु नाई। देखि भूपगति गयउ सुखाई ॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ ॥
सचिव सभीत सकइ नहि पूंछी। बोली असुभ भरी सुभ छूछी ॥
परी न राजइ नीद निसि हेतु जान जगदीश।
रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न परमु महीसु ॥ (२. ३८)

भय की तीव्रता अप्रत्याशित और अकस्मात् आ पड़ने वाली घटनाओं में बढ जाती है, जैसे यदि हम सरकस में शेर देखने जायें तो उतना भय नहीं लगेगा अथवा कौतुक के कारण भय लगेगा ही नहीं जितना कि किसी वन में यात्रा करते समय या रेलगाड़ी के समीप से ही किसी सिंह के गुजर जाने पर लगेगा। राम के वनगमन की घटना ऐसी ही थी। कहाँ अभिषेक की योजना, और कहाँ वनवास की घटना !!

उक्त अवतरण में सुमंत्र के 'आश्रय' से भयानक रस का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया है। यही स्थिति कौशल्या, सुमित्रा, पुरजन और आगे चलकर भरत की भी दिखलाई पड़ती है। नगरवासी इस प्रकार सहम उठते हैं जैसे दावाग्नि को देख कर बेलि-बिटप, कौशल्या इस प्रकार सूख जाती हैं जैसे वर्षा का जल पड़ते ही जवास या सिंह का नाद सुनकर मृगी, अथवा वर्षा का फेन खाकर मछली। सुमित्रा की भी यही दशा होती है। वह भी सहम उठती है जैसे दावाग्नि देखकर हरिणी, और जब भरत कैकेय प्रदेश से लौटते हुए अयोध्या में प्रवेश करते हैं तब उन्हें वहाँ श्मशान का सा अनुभव होता है तुलसी ने भी उसी प्रकार अपशकुनों द्वारा भय का

वातावरण उपस्थित किया है जैसा कि रामायण में मिलता है—

रटहिं कुभांति कुखेत करारा ॥

× × ×

खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला ॥

श्री हत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावन लागा ॥

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहं दिसि लागि दवारी ॥

(अयो० १५८-१५९)

भरत को तो सारा परिवार ऐसा लगता है जैसे पाले से पिटा हुआ कमलो का वन और कैकेयी इतनी प्रसन्न जैसे जंगल मे आग लगाकर भीलनी। कैकेयी की यह प्रसन्नता भय की भावना में और भी उद्दीपन का कार्य करती है। सारे समाचार सुनकर भरत ऐसे सहम उठते है जैसे सिंह-गर्जन सुनकर हाथी, ऐसे कराह उठते हैं जैसे पके फोड़े को अंगारा छू गया हो।

कलात्मक दृष्टि से और शास्त्रीय दृष्टि से इस स्थल पर रस-प्रसार करने मे जितनी सफलता तुलसी दास को मिली है उतनी बाल्मीकि को नहीं। निस्सन्देह बाल्मीकि अत्यंत भावप्रवण और रसप्रवण कवि हैं परन्तु साहित्यशास्त्र की जितनी सामग्री तुलसीदास प्रस्तुत करते हैं, सांगोपांगता का जितना ध्यान वे रखते है, शास्त्रीय दृष्टि से रस और अलंकार के स्वरूप को जिस प्रकार काट-छांट और नाप-तोल करके वे प्रस्तुत करते हैं और फिर भी अपनी कला को चमत्कारिकता और काव्य लक्षणों के बंधन में नहीं बँधने देते,—इतना साहित्यिक प्राचुर्य बाल्मीकि की काव्यशैली में नहीं प्राप्त होता। उसमें सहजता अधिक है और तुलसी की शैली मे अपेक्षाकृत पांडित्य-प्रकाशन है। मानस से उद्धृत अवतरण में जितनी प्रचुर और सुसम्पन्न विभाव, अनुभाव और भाव-योजना है और उसके आधार पर जितना पृथुल-रस परिपाक है उतना वा० रामायण में नहीं है। तुलसीदास ने अवसरोपयोगी अलकारों को, प्रकृति से परिगृहीत अप्रस्तुत विधान के द्वारा, रस-सृष्टि में नियुक्त करते हुए रस और अलंकार तत्वों को अन्योन्याश्रयी ढंग से उपस्थित किया है अर्थात् उनकी उत्प्रेक्षायें रस-परिपाक में वृद्धि कर रहीं है और रस उन उत्प्रेक्षाओं के सौन्दर्य, कल्पना और भावमयता को उत्कृष्टता प्रदान कर रहा है क्योंकि वे भयानक रस के ही सर्वथा अनुकूल है जैसे चिड़िया पर बाज का झपटना, हाथी का सिंह-गर्जन सुनकर सहमना, मृगी का अचानक दावाग्नि देखकर तड़पना, आदि।

वा० रामायण और रामचरितमानस से भयानक रस का यह एक ही प्रसंग तुलना के विचार से चुना गया विस्तार भय से और प्रसंग नहीं लिये गये हैं। इस प्रसग को भी करुणा तथा मानने के विषय में मत भेद हो सकता है

मे उन्होने हास्य, भयानक और वीभत्स तीनों का ही सम्मिश्रण माना है।[१]

महाकाव्य में भी नाटक के समान प्रधानता एक ही रस की होती है। उसमे एक अगी रस होता है और शेष रस अग स्वरूप रहते हैं[२], जिनमे से घटनाओं के आधार पर कुछ मुख्यता प्राप्त कर लेते हैं और कुछ अत्यन्त गौण बन जाते है। वीर, शृंगार, करुण और अद्भुत क्रमशः राम कथा के प्रमुख रस माने जा सकते है। भयानक रस अपने अनुरूप घटनाओं के अवसर पर उभर कर आया अवश्य है[३] परन्तु अधिक दूर न चल कर करुण, अद्भुत, वीभत्स आदि मे विलीन हो गया है। इस प्रकार के कुछ कथा-प्रसंगों का उल्लेख मात्र यहाँ किया जा सकता है। दण्डक-वन में प्रवेश के समय वाल्मीकि ने भय का संचार किया है[४] परन्तु वहाँ भयानक रस नही है। इसी प्रकार सीताहरण से पूर्व रावण के भय से उन्होने पचवटी की सारी प्रकृति को आतंकित दिखलाया है, वहाँ भी केवल आंतक का एक चित्र मात्र है।[५] माया-सीता[६] के वध और राम के माया-शीश के प्रसंग[७] भयानक रस के उदाहरण माने जा सकते है, परन्तु रस की सामग्री अर्थात् तदनुकूल विभाव-अनुभाव आदि इन प्रसगो में नियोजित नही हुए है। घटना का संक्षिप्त उल्लेख है। सुरसा और छाया-ग्राहिणी के प्रसग (सुन्दरकाण्ड) भी दोनों काव्यों में हनुमान के बलविक्रम के आधीन होकर भयानक रस का संचार नहीं कर सके है। राक्षसो के युद्धों के समय तथा मायायुद्ध और अपशकुनों में भयानक रस का किंचिन् आभास अवश्य दिया गया है परन्तु शीघ्र ही वह वीररस के स्थायी भाव उत्साह की तरंग मे विलीन हो गया है। इसके उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं। इस प्रकार वीररस-प्रधान काव्य मे वीरता का विरोधी 'भय' भाव कही ठहरता ही नहीं दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिये मानस की कथा में युद्ध के समय जब रावण अन्तर्धान होकर पुन. अनेक रूपों मे प्रकट होता है तब राम की सेना में महान् भय छा जाता है—

देखे कपिन्ह अमित दस सीसा। जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा॥
भागे बानर धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा॥
दहं दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन। गर्जहिं घोर कठोर भयावन॥
डरे सकल सुर चले पराई। जय कै आस तजहु अब भाई॥

(मा० लंका० ९६)

यहाँ रावण के अनेक रूपो का दृश्य 'आलबन' है, भाग-दौड़ और 'त्राहि' शब्द अनुभाव

१. गो० तुलसीदास, पृ० १०९-१०।
२. काव्यदर्पण, रा० द० मिश्र, पृ० ८३।
३. साहसिक कथाओं (एडवैंचरस स्टोरीज) में भय और विस्मय (आ एंड वन्डर) साथ-साथ चलते हैं।
४. रा० २.११९ तथा ३.।
५. रा० ३. ६ ७-८।
६ रा० ६ ८१
७ रा० ६ ३१ और ३

है रावण-रूपों का प्रधावन और गर्जन उद्दीपन है, 'शंका', 'चिन्ता' आदि संचारी है। इस प्रकार भयानक रस की पूरी सामग्री है। परन्तु आगे चलकर वीराश्रित भक्ति रस में उसकी विलीनता भी देखिये—

प्रभु छन महुं माया सब काटी। जिमि रवि उएं जाहिं तम फाटी॥
रावन एकु देखि सुर हरषे। फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे॥
(मा० लंका० ९७)

वाल्मीकि रामायण में अपशकुनों द्वारा भयानक रस के विधान का यह चित्र देखिये—

ताम्राः पीताः सिताः श्वेताः पतिताः सूर्यरश्मयः।
दृश्यन्ते रावणस्यांगे पर्वतस्येव धातवः॥
गृध्रैरनुगताश्चास्य वमन्त्यो ज्वलनं मुखैः।
प्रणेदुर्मुखमीक्षन्त्यः संरब्धमशिवं शिवाः॥

× × ×

एवंप्रकारा बहवः समुत्पाता भयावहाः।
रावणस्य विनाशाय दारुणाः सम्प्रजज्ञिरे॥
रामस्यापि निमित्तानि सौम्यानि च शुभानि च।
बभूवुर्जयशंसीनि प्रादुर्भूतानि सर्वशः॥ (रा० युद्ध० १०८)

रावण के लिये जो अपशकुन थे राम के लिये वही शुभशकुन हो गये। इस प्रकार भयानक रस रणोत्साह और विजय के उल्लास में विलीन होता हुआ दिखलाई पड़ रहा है। मानस में भी इसी घटना के अवसर पर भयानक रस इसी प्रकार वीर और भक्ति के आश्रित हो गया है। (दे० लंका० १०२)।

वीभत्स रस

'वीभत्स' यद्यपि एक गौण रस है और कुछ लोग इसे रस-श्रेणी में रखना भी नहीं चाहते,[1] फिर भी वीभत्स रस के चित्र दोनों में हैं। इस रस के आलंबन श्मशान, शव, चर्बी, रक्त, मांस, रुधिर, मल-मूत्र आदि होते हैं। युद्ध-प्रधान रामकथा मे इनका होना स्वाभाविक ही है। वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा मानस में इस रस का प्रसार अधिक हुआ है।

तुलसी ने जानबूझ कर अपने काव्य को साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भी सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये सभी रसो का सन्निवेश किया है। इसका प्रमाण मानस में नियोजित वीभत्स रस के उदाहरणों से भी मिलता है। दोनो ही कवियों ने युद्ध-वर्णन में इसका समावेश किया है। युद्धभूमि में रक्त-सरिता का चित्र उपस्थित करते हुए उन्होने मृत योधाओं के छिन्न अंगो, आंतड़ियों, कपालों आदि को उसमें बहता हुआ दिखलाया है परन्तु तुलसी ने इसके साथ ही उस रणसरिता में किलोल करती और रक्त-मांस-मज्जा को उत्तम सत्तू और सुस्वादु भोजन के समान भक्षण करने वाली योगिनियों का चित्र

1 काव्य दर्पण पृ० २७१

भी उपस्थित किया है—(लंका० ८१ और ८८)। वाल्मीकि ने भी 'यकृतप्लीहा', 'अन्त्र', 'भिन्नकाय शिरअंग अवयव' तथा 'मेदफेन' और साथ ही 'गृध्र-कंक' (६.५८.३१) आदि का भी उल्लेख किया है परन्तु सत्तू के समान मंथन और भक्षण आदि की बात कह कर वीभत्स रस के सांगोपांग प्रसार की चिन्ता नहीं की है। वा० रामायण के भी उक्त चित्र में रस-सामग्री पूरी मिल जायेगी परन्तु कवि उसे लाने के लिये उतना प्रयत्नशील नहीं दिखलाई पड़ेगा जितना कि तुलसीदास दिखलाई पड़ते हैं। कवितावली मे तुलसीदास ने लकादहन का वर्णन करते हुए पिघलते सोने की बूंदिया और जले हुये राक्षसों की पकवान की ढेरी लगाकर हनुमान का आतिथ्य सत्कार किया है (दे० कवितावली सुन्दरकाण्ड)। इस प्रकार राक्षस-समाज की दुर्दशा और वीभत्सता के चित्र मे वे स्वय आनन्दानुभव करते दिखलाई पड़ते हैं।

वाल्मीकि रामायण में राक्षस और राक्षसियों की आकृतियों के वर्णन (३.१७) और उनके रक्त-मांस के भोजन (३.२४.४७) में वीभत्स रस का संचार हुआ है। ऐसे स्थलों पर भयानक रस भी माना जा सकता है।

तुलना के विचार से यही कहा जा सकता है कि मानस में वीभत्स रस की सामग्री शास्त्रीय दृष्टि से अधिक पूर्ण है और प्रयत्नपूर्वक उसे परिपूर्ण बनाया गया है जब कि वा० रामायण में ऐसा अनुभव नही होता, जैसा कि हम आगे दिये गये उद्धरणों की तुलना करके देखेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रामायण को वाल्मीकि ने साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं की है, यद्यपि वह सहज रूप में सर्वांगपूर्ण बन गई है, जब कि तुलसी ने यह चेष्टा की है फिर भी उनकी रचना लक्षण ग्रन्थों के निर्देशों में बंधी हुई नहीं है।

दोनों काव्यों मे युद्धभूमि में वीभत्स रस के ये चित्र देखिये—

(अ) यकृत्प्लीहमहापङ्का विनिकीर्णान्त्रशैवलाम्।
भिन्नकायशिरोमीनाभंगावयवशाद्वलाम्॥
गृध्रहंसगणाकीर्णा कंकसारससेविताम्।
मेदःफेनसमाकीर्णामार्तस्तनितनिःस्वनाम्॥ (६.५८.३०-३१)

(आ) मज्जहि भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं॥
एक कहहि ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई॥
कंहरत भट घायल तट गिरे। जह तह मनहुं अर्धजल परे॥
खैंचहिं गीध आंत तट भए। जनु बंसी खेलत चित दए॥
बहु भट बहहि चढे खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माही॥
(६.८८)

वा० रामायण मे वीभत्स रस स्पष्टतया वीर रस के आश्रित है परन्तु मानस में वह अपेक्षाकृत स्वतन्त्र है। तुलसीदास ने स्वतन्त्र रूप से भूत-पिशाच आदि की क्रीड़ा के रूप में रस के स्तर पर ही उसकी योजना की है

अद्भुत रस

काव्य में अद्भुत रस का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जिस प्रकार 'शृंगार' और 'करुण' को रसराज या 'एकमेव रसत्व' की महत्ता प्राप्त हुई है उसी प्रकार कुछ लोगों ने अदभुत रस को ही सर्वप्रधान या एकमात्र रस माना है।[1] प्रबन्धकाव्य और नाटकों में ऐतिहासिक आख्यानों के अतिरिक्त लोककथाओं का भी आधार होता है जिनमें विचित्र घटनाओं, पदार्थों और पात्रो का भंडार भरा रहता है और उनके आधार पर अदभुत रस की सृष्टि होती है। रामकथा में इतिहास और जनश्रुति दोनों ही तत्त्वों का सम्मिश्रण है. उसमें सत्य और कल्पना का विचित्र मेल हो गया है। अत. उसमें अदभुत रस के भी अनेक और विविध प्रसंग हैं। आगे चलकर राम-कथा के उत्तरोत्तर विकास के साथ पुराणों के प्रभाव और अवतारवाद के कारण उसमें अलौकिकता एवं रहस्य (मिस्ट्री) के रूप में अदभुत-तत्त्व की और भी अधिक वृद्धि हुई और मूल रामायण की अपेक्षा प्रचलित रामायण का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया।[2] मूलरामायण में अदभुत रस शारीरिक और मानसिक तथा शस्त्रास्त्र कौशल से समन्वित वीरता के लोकोत्तर कृत्यों के रूप में विद्यमान था, प्रचलित रामायण में पौराणिक प्रभाव से दिव्य और अलौकिक तत्त्वों के रूप में अदभुत रस की वृद्धि हुई और फिर परवर्ती धार्मिक साहित्य में परब्रह्म की माया, लीला, रहस्य आदि के रूप में अदभुत रस का और अधिक प्रसार हुआ। मानस में लौकिक, अलौकिक और रहस्य या अज्ञेय तीनों ही रूपों में अदभुत रस का विस्तार दिखलाई पड़ता है।

अदभुत रस के प्रसंगों का विवेचन करने से पूर्व उसके प्रमुख तत्त्वों पर, जो कि रामकथा में प्राप्त होते हैं, दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। अदभुत रस का स्थायी भाव है विस्मय अथवा आश्चर्य जो कि लोकोत्तर, अलौकिक तथा अतिप्राकृत व्यक्तियों, कार्यों या पदार्थो को देखने पर होता है। लोकोत्तर और अलौकिक यहाँ पर्य्यायवाची रूप में प्रयुक्त नहीं हुये हैं।[3] लोकोत्तर से आशय इस लोक के ही असाधारण पदार्थो या कार्यों से लिया गया है और अलौकिक का प्रयोग असंभव या मात्र कल्पित वस्तुओं और घटनाओं के लिये किया गया है। लौकिक पदार्थो के ही अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन में लोकोत्तरता का समावेश हो जाता है—'लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ·····लोकोत्तरेण चैवातिशय':. (लोचन, पृ० २०८), परन्तु 'अलौकिक' दृश्य के आधार पर अदृश्य की कल्पना को कहते हैं। अतिप्राकृत इन दोनों के मध्य

---

१. विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण के विचार का प्रस्तार करते हुए अदभुत रस को सर्वप्रधान माना है—रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यदभुतो रसः। तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणः स्वयम्—साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद।

२. "नवीन सामग्री में कृत्रिमता, अदभुत रस की प्रबलता तथा अलौकिक घटनाओं का बाहुल्य पाया जाता है"—रामकथा, बुल्के, ४७०।

३. दे० काव्यदर्पण, पृ० १८७। इन शब्दो के आशय के विषय में मतभेद है। अंग्रेजी में भी 'आ', 'वन्डर', 'सरप्राइज', 'सुपरनेचुरल' 'प्रेटरनेचुरल' आदि शब्दों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है

की वस्तु है अर्थात् जो साधारणतया संभव न हो और जिनमें प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन दिखलाई पड़े। विस्मय और आश्चर्य में भी भेद होता है। विस्मय की अपेक्षा आश्चर्य में कुछ उग्रता होती है। यद्यपि ये दोनों एकार्थवाची हैं तथापि आश्चर्य मे ऐसा ज्ञात होता है जैसे हृदयपर एक धक्का सा लगा और क्षण भर से वह भाव जाता रहा, जबकि विस्मय हृदय की एक स्थायी वृत्ति सी प्रतीत होती है।[1] अदभुत रस के साथ अतिशयोक्ति अलंकार का स्वाभाविक सम्बन्ध रहा है और जिस प्रकार रसों में अदभुत को उसी प्रकार अलंकारों में भी कुछ लोगों ने अतिशयोक्ति को सर्वोत्तम माना है।[2]

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने वीर रस से अदभुत की उत्पत्ति मानी है।[3] इसका आशय यही है कि वीरतापूर्ण कर्म, चाहे वे शरीर-बल के द्योतक हों और चाहे मानसिक बल अर्थात् साहस और संकल्प-शक्ति के द्योतक हों, अथवा विविध-शस्त्रास्त्र के प्रयोग की निपुणता और व्यायाम-विद्या से सम्बन्धित हों, लोकहृदय को चमत्कृत करते हैं। उनमें असाधारणता और लोकोत्तरता दृष्टिगोचर होती है और इस चमत्कार के दर्शन से हृदय का प्रसार होता है।[4] ऐसे ही कर्मों का जब विशेष अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है, यहाँ तक कि उनमे प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन दिखलाई पड़ता है, तब वे अतिप्राकृत कहे जा सकते है। मूल वा० रामायण मे अदभुत रस की यही सीमा है। इसके आगे जहाँ मानवीय कर्मो में दिव्यता का समावेश होने लगता है, कल्पना बहुत अधिक बढ़ जाती है, वहीं अलौकिकता का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। इसी अन्तर को लक्ष्य करते हुए अदभुत के दो विभाग किये जाते हैं—दिव्य और आनन्दज। पहले का सम्बन्ध अलौकिकता से होता है पर दूसरे का लौकिकता अर्थात् लौकिक नियमानुसार घटित होने वाली विचित्र घटनाओं से।[5] प्रचलित रामायण और रामचरितमानस में अदभुत रस का प्रसार इसी रूप मे हुआ है।

रामकथा में नर, वानर और राक्षसों की वीरता के अनेकानेक अनोखे कृत्य है, अतः अदभुत रस प्रायः वीर के आश्रित है। वीररस के अतिरिक्त भयानक और कभी-कभी हास्य तथा वीभत्स से भी अदभुत रस का सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। अदभुत घटनाओं को देखकर सदैव आनन्दज विस्मय (वण्डर) ही नहीं वरन् कभी-कभी भयोत्पादक आश्चर्य (औ) भी हो सकता है और कभी वैचित्र्य के कारण हास्य या जुगुप्सा भी हो सकती है[6]। वा० रामायण और रामचरितमानस दोनों में अदभुत रस

१. काव्य दर्पण पृ० २५५।
२. दे० भामह और दण्डी के विचारों का विवेचन, 'दि नम्बर आव रसाज'. वी० राघवन, पृ० १७२।
३. वीराच्चैवादभुतोत्पत्तिः—नाट्य शास्त्र।
४. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः—साहित्यदर्पण, तृ० परिच्छेद। (श्लो० ३ के बाद की टिप्पणी)।
५. दि नम्बर आव रसाज, वी० राघवन्, पृ० १५१।
६ दापेक्षणानि गद जुगुप्सा विस्मयोद् भा माहित्य दपण ७०

की ऐसी स्थितियाँ भी दिखलाई पड़ती है अर्थात् अदभुत रस अंगी रूप में भी आया है और अंग रूप में भी। प्रचलित रामायण से भी आगे अदभुत रस का प्रसार मानस में माया तत्त्व के कारण हुआ है क्योंकि परब्रह्म राम अपनी माया शक्ति के द्वारा अदभुत कृत्य करते हैं। रामकथा में अदभुत रस का इतना अधिक प्रस्तार हुआ कि अदभुत रामायण जैसी रचनायें भी की गई अर्थात् रामकथा और अदभुत-तत्त्व को एक ही मान लिया गया अथवा उसमें अदभुत की ही प्रधानता देखी जाने लगी। मानस के नायक परब्रह्म राम के सभी कर्म अलौकिक और अचिन्त्य हैं, अतः उसमें एक प्रकार से अदभुत रस का ही साम्राज्य कहा जा सकता है। उसमें अदभुत का सम्बन्ध अज्ञेयता या रहस्य (मिस्ट्री) से हो गया है जो कि न तो मूल रामायण में था और न प्रचलित रामायण में।

वा० रामायण और रामचरितमानस से कुछ प्रसंग नीचे दिये जा रहे हैं। इनमें कहीं अदभुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है और कहीं केवल विस्मय का भाव मात्र स्फुरित हुआ है। ये प्रसंग निम्नलिखित हैं—

राम-जन्म, विश्वामित्र की यज्ञरक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुर्भंग, राम के वन-प्रेषण में देव-सहयोग, भरद्वाज द्वारा भरत की पहुनाई, जयन्त-प्रसंग, खर-दूषण बध, मारीच प्रसंग, छाया-सीता, बालि-वध, सागर-लंघन, द्रोणाचल-आनयन, राक्षसों के माया-युद्ध और वानरों के वीर कृत्य तथा सीता की अग्नि-परीक्षा। इन प्रसंगों के आधार पर हम उपर्युक्त प्रस्तावना के अनुसार यह परीक्षा करेंगे कि दोनों काव्यों में अदभुत रस का स्वरूप क्या है और मूल रामायण से प्रचलित रामायण तथा उसके बाद रामचरितमानस में उसका कितना विकास और वृद्धि हुई है।

राम-जन्म

मूल-रामायण में इसका उल्लेख तक नहीं था और उसका आरम्भ यौवराज्य प्रसंग में हुआ था। प्रचलित रामायण में पुत्रेष्टि यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं की उपस्थिति, अवतार चर्चा, दिव्य पायस आदि के प्रसंग है जो कि अलौकिक हैं तथा पौराणिक कल्पना की देन है।[1] परवर्ती धार्मिक साहित्य[2] में इन्हीं पौराणिक तत्त्वों की वृद्धि होती गई और मानस में राम-जन्म का सम्पूर्ण प्रसंग अदभुत रस में रंगा हुआ दिखलाई पड़ता है।

मानस में राम-जन्म के समय प्रकृति की अनुकूलता विस्मय की भूमिका स्थापित करती है, 'नाग-मुनि-देवा' गगन-मंडल से पुष्प-वर्षा और स्तुति-पाठ करने लगते हैं, प्रसूता जननी अदभुत रूप देकर स्तुति करने लगती है—

> ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहे
> मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहे।

(मा० बाल० १९२)

---

१ रा० बाल० सर्ग १४, १५ १८

२ दे० बुल्के अध्याय १०

इससे अधिक अदभुत कृत्य और क्या हो सकता है कि रोम-रोम में ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला एक नारी के उदर के उत्पन्न हो! यह रहस्य-परक, दिव्यता सम्बन्धी अदभुत रस है। इस अदभुत शिशु को देखने के लिये सूर्य का रथ रुक जाता है—

मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होइ॥

(मा० बाल०, दो० १५५)

इस बालक की अनुपम शोभा, उसके चरणांकित चिन्ह आदि भी विस्मय का उद्दीपन करते हैं।[1] और आगे चलकर, यही बालक जब माता के द्वारा चढ़ाये गये भगवान के नैवेद्य को जीमने लगता है तब ती भय मिश्रित आश्चर्य (आॅ) की पराकाष्ठा ही हो जाती है—

इहां उहां दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर की आन विसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हंसि दीन्ह मधुर मुस्कानी॥
देखरावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्माण्ड॥ (बाल० २०१)

यह एक प्रसंग ही मानस के अदभुत रस की वाल्मीकि रामायण (मूल और प्रचलित दोनों) के अदभुत रस से पृथकता प्रकट करने के लिये पर्याप्त है। मूल रामायण मे आलंबन मनुष्य ही है परन्तु उसके कृत्य असाधारण हैं जो अदभुत रस के उद्‌भावक है, प्रचलित रामायण में आलंबन दिव्य है और फिर भी उसके कृत्य सर्वथा असभव नही हैं, परन्तु मानस में आलम्बन और उसके कृत्य सर्वथा अलौकिक और असम्भव है, अज्ञेय तथा अचिन्त्य है तथा उनकी व्याख्या केवल भक्ति-सिद्धान्त के आधार पर हो सकती है अर्थात् उनका तार्किक विवेचन नहीं किया जा सकता। उन्हें समझने के लिये श्रद्धापूर्वक विश्वास करना ही आवश्यक है।

अहल्या-उद्धार

यह प्रसंग भी वा० रामायण में बाद में जोड़ा गया था परन्तु मानस में इसे रामभक्ति का प्रेरक बनाने के लिये और भी अधिक चमत्कारिक रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा अनेक बार इसकी चर्चा हुई है।[2] यह भी दिव्यता-आश्रित अर्थात् अलौकिक रस का उदाहरण है और इस प्रकार भक्ति रस का अंग बन गया है।

धनुर्भंग

धनुर्भंग का प्रसंग प्रचलित रामायण में चमत्कारशून्य है परन्तु मानस मे विशेष चमत्कार से युक्त है, फिर भी वह दिव्यता-परक नहीं बनाया गया है वरन् उसमें राम की शक्ति, स्फूर्ति आदि का ही चमत्कारिक बोध कराया गया है—

गुरुहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाय धनु लीन्हा॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ॥

---

१ मा० १ १९६

२ दे० मा० १ दो० २०५ तथा २ १ ०

लेत चढ़ावत, खैंचत, गाढे। काहु न लखा देख सबु ठाडें ॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा ॥
(बाल० २६१)

शास्त्रीय रस निष्पत्ति की दृष्टि से देखने पर इसमें सुकुमार राम के हाथों में महा-धनुष का उत्तोलन एक चमत्कारिक कृत्य है। राम आलंबन है। जनक, सुनयना, परिजन, सभासद आदि आश्रय हैं। राम की सुकुमारता और धनुष की विशालता उद्दीपन है। जिस स्फूर्ति से पलक मारते धनुर्भंग का कार्य होता है यह भी उद्दीपन विभाव का अंश है और चंड ध्वनि सुनकर कानों पर हाथ रखना तथा जयकार आदि अनुभाव हैं। यहाँ वीर रस के स्थायीभाव उत्साह की प्रधानता नहीं, विस्मय की ही प्रधानता है।

यौवराज्य से वनवास

मानस में राम के वन-प्रस्थान के प्रसंग में दिव्यता-सम्बन्धी अदभुत रस का आश्रय लिया गया है अर्थात् राजभिषेक के स्थान पर बनवास की आकस्मिक घटना देव-सहयोग से घटित होती है। वा० रामायण में यह प्रसंग भाग्य, भावी या नियति के चमत्कार और मानव-प्रकृति की अस्थिरता के उदाहरण के रूप में घटित होता है परन्तु मानस में भगवान की लीला के रूप में।

भरद्वाज कृत भरतातिथ्य का प्रसंग

वाल्मीकि रामायण में यह प्रसंग एक ऋषि की योग-सिद्धि और ऋद्धि-सिद्धियों पर अधिकार का चमत्कारिक चित्र है। बात की बात मे ऋषि-आश्रम राज-निवास में परिणत हो जाता है और सारा अवध-समाज विस्मय से अवाक् खड़ा रह जाता है—

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम।
दृष्ट्वातिथ्यं कृतं तादृगभरतस्य महर्षिणा ॥ (२. ९१. ८१)

मानस में यह घटना केवल इतिवृत्तात्मक है रसात्मक नहीं, परन्तु वा० रामायण में इसे अद्भुत रस का उत्तम उदाहरण माना जायेगा। उक्त उद्धरण में अदभुत रस की पूरी सामग्री है। यह अंश मूल रामायण का ही है, इसकी गणना प्रक्षिप्तांशों में नहीं की गई है।[1] अतः इस उदाहरण से प्रकट है कि रामकथा में चमत्कारिक अर्थात् असंभव कृत्यों का समावेश मूल वाल्मीकि रामायण से ही पर्याप्त रूप में आरंभ हो चुका था।

जयन्त प्रसंग

मूल रामायण में यह प्रसंग नहीं है। मानस में राम का जयन्त के पीछे अभिमन्त्रित इषीकास्त्र छोड़ना, उसका त्रैलोक्य भर में भागे-भागे फिरना और अन्त में राम

१ दे० बुल्के पृ० ३१० ३११

को शरण में जाकर क्षमा प्राप्त करना भी अद्भुत रस का प्रसंग है[1] परन्तु यह भक्ति रस के आधीन है क्योंकि इसके द्वारा राम के बाण की शक्ति और उनके प्रताप की योजना हुई है।

खरदूषण-वध

खरदूषण को चौदह सहस्र सेना सहित निमिष भर में नष्ट कर देना वीर रस की अपेक्षा अद्भुत रस का ही उदाहरण कहा जायेगा। विशेषकर मानस में, यह प्रसग अद्भुत रस में परिणत हो गया है क्योंकि राम की माया से राक्षस लोग एक दूसरे को राम समझते हुए परस्पर कट मरते है। यह वीरता नहीं 'मायानाथ' का 'कौतुक' है।[2] अतः वीर रस और अद्भुत रस दोनों की धारायें भक्ति में मिलती दिखलाई पड रही है। अन्यत्र राक्षसो के महायुद्ध में भी प्रायः वीर रस के स्थान पर अद्भुत रस का प्रसार हुआ है।

मारीच-प्रसंग

कचन मृग का प्रसंग राम कथा में अद्भुतत्त्व का सर्वोत्तम उदाहरण है। उसका नाम भी 'मायामृग' है और मारीच माया का आचार्य है। रामायण में विशेपकर उसका वर्णन विस्मयोत्पादक है। इस अद्भुत मृग का यह चित्र देखिये—

> प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमाराजयः।
> शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः कनकबिन्दुभिः॥
> पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम्।
> जिह्वां मुखान्निःसरतीं मेघादिव शतह्रदाम्॥
> मसारगल्लर्कमुख. शंखमुक्तानिभोदरः।
> कस्य नामाभिरूपोऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः॥
> कस्य रूपमिद दृष्ट्वा जाम्बूनदमयं प्रभो।
> न नारत्नमय दिव्यं न मनोविस्मयं व्रजेत् (३. ४३. २६-२९)

मानस में यह चित्र अत्यन्त संक्षिप्त है अतः रस का प्रसार संभव नहीं हो सका है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में पूरी रस-सामग्री विद्यमान है। चित्रविचित्र काचन मृग आलंबन है, उसका विचित्र वेष और क्रियायें उद्दीपन हैं, राम और सीता आश्रय है तथा उनके वचन 'अहो' इत्यादि अनुभाव हैं। परन्तु एक रस-बाधा भी है कि लक्ष्मण जानते है कि यह माया मृग है। अदभुत वस्तु की वास्तविकता प्रकट हो जाने से रसाभास हो जाता है क्योंकि उसके स्थायीभाव 'विस्मय' की ही सत्ता समाप्त हो जाती है। मानस में राम स्वयं सारा रहस्य जानते हैं और वे वाल्मीकि रामायण के राम के समान अपनी प्रिय पत्नी की इच्छापूर्ति के लिये तत्पर नहीं होते वरन् सुर-काज को ही सम्भालने की तैयारी करते हैं—

---

[1] मा० अरण्य० १ और २

[2] देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरयो २०)

तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काजु सवारन ॥
× × ×
निगम नेति सिव ध्यान न पावा । मायामृग पाछे सो धावा ॥ (अरण्य० २७)

मानस में इस प्रसंग के अन्तर्गत अदभुत रस भक्ति रस के आधीन है और वा० रामायण में रसाभास या भावोदय[1] मात्र है । यह हम पहले ही कह चुके है कि दोनो काव्यों की सभी विचित्र घटनाओं या पदार्थों मे अद्भुत रस नही है, वरन अनेक स्थलो पर भाव या रसाभास मात्र है । श्री सी० वी० वैद्य ने इस प्रसंग को भी प्रक्षिप्त ही माना है और उनके विचार से अद्भुत रस की लोकप्रियता के कारण इसे बाद मे स्थान दिया गया है ।[2] इससे प्रकट होता है कि मूलरचना से लेकर कितने सूक्ष्म रूप से अद्भुत रस की उत्तरोत्तर वृद्धि राम कथा में हुई है ।

छायासीता

छायासीता का प्रसंग केवल मानस में है (३.२४), परन्तु अग्निपरीक्षा का प्रसग प्रचलित रामायण मे भी है (६.११६)। यह प्रसंग अतिप्राकृत या दिव्यतापरक अद्भुत रस का उदाहरण माना जा सकता है ।

अन्य प्रसंग

इन प्रसगो के अतिरिक्त दोनों काव्यो में राम के द्वारा सप्त तालवृक्षों का एक ही वाण से भेदन और अंगुष्ठ-प्रहार से दुंदुभि राक्षस के विशाल अस्थि-स्तूप का दस योजन पर फेंका जाना मानवीय शक्ति की अद्भुतता के कृत्य हैं । ये वीरता-आश्रित अद्भुत रस के उदाहरण हैं । हनुमान के सागर-लंघन और द्रोणाचल-आनयन के कार्य इससे भी अधिक आश्चर्यजनक हैं परन्तु इनके वर्णन में भी वा० रामायण और मानस मे वही अन्तर है जो उपरोक्त घटनाओं में है । वा० रामायण में वे वस्तुत: अद्भुत रस की घटनाये हैं । सागर-लंघन के वर्णन में वाल्मीकि मानो प्रकृति की यवनिका हटा कर मच पर एक अद्भुत दृश्य उपस्थित कर देते है जिसे देखने के लिये गन्धर्व और विद्याधर तथा उनकी स्त्रियाँ 'विस्मिता-सस्मिता' आकाश मार्ग में उपस्थित हो जाती है और हनुमान 'विकिरन्निव रोदसी' तथा 'द्रोणीकृत इवार्णव:' देवगन्धर्व-चारण की पुष्पवर्षा से आच्छादित होकर उड़ते चले जाते हैं ।[3] कवि ने 'अद्भुत', 'विस्मय' आदि शब्दों का भी बारम्बार प्रयोग किया है जिसमें शास्त्रीय दृष्टि से 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष भी माना जा सकता है, परन्तु यह सूक्ष्म विवेचन परवर्ती साहित्यशास्त्र के लिये है जिन पर आदि काव्य की परख नही की जानी चाहिये । वा० रामायण की अपेक्षा

---

१. रसाभास इस लिये माना जा सकता है कि आलंबन अनुपयुक्त या अवास्तविक है अर्थात् मृग न होकर राक्षस है और भावोदय इसलिये कह सकते है कि विभानुभाव मृग की अवास्तविकता के कारण प्रबल नहीं हो पाते और केवल भाव अंकुरित होकर रह जाता है

२ रामकथा बुल्के पृ० २३१

मानस मे ऐसी घटनाओं में रस की निष्पत्ति किस प्रकार बाधित हो जाती है उसके लिये निम्नलिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहि भयउ पर्वताकारा ॥ (४.३०)

* * *

बार बार रघुवीर संभारी । तरकेउ पवन तनय बल भारी ॥ (५.१)

* * *

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ॥ (५.३)

यहाँ हनुमान का अद्भुत कार्य इस लिये अद्भुत नहीं रह जाता कि वह राम के प्रताप का सहज स्वरूप है अर्थात् राम के प्रताप को समझने वालों के लिये इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं रह जाती।

इन उदाहरणों से प्रकट है कि वा० रामायण में अदभुत रस के विषय लौकोत्तर और कहीं-कहीं अतिप्राकृत कृत्य भी हैं परन्तु मानस में वे ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति और माया के लीलाखण्ड है।

मायातत्त्व के आश्रित अद्भुत रस की परम्परा का आरम्भ भी वा० रामायण मे देखा जा सकता है। उसमें भी राक्षसों के युद्ध मायामय हैं जिनमें वे युद्ध करते-करते छिप जाते हैं। मेघनाद इन माया युद्धों में विशेष निपुण है (दे० ६.८०)। इसी प्रकार बनावटी सीता का वध (६.८१) और सीता के आगे राम के कटे हुए मायामय शीश का रक्खा जाना (६. ६१) जैसे प्रसंग भी वाल्मीकि रामायण में अलौकिकता विषयक अद्भुत रस के उदाहरण हैं।

उपरोक्त प्रसंगों में कहीं अद्भुत रस का प्राधान्य है और भयानक या वीभत्स अंगभूत हैं, और कहीं भयानक या वीभत्स का प्राधान्य हो गया है तथा विस्मय संचारी मात्र बनकर आया है। ऐसे स्थलों में से अधिकांश प्रक्षिप्त भी माने गये हैं, फिर भी मूल रामायण को अप्राकृत, अतिप्राकृत, असाधारण और अलौकिक घटनाओं से रहित नहीं माना जा सकता। प्रक्षेपकारों ने अद्भुत प्रसंगों की वृद्धि की है, उनकी आवृत्ति हुई है और कुछ नये प्रसंग भी जोड़ दिये गये है, परन्तु यह प्रेरणा वा० रामायण के उन मौलिक प्रसंगों से ही मिली थी जिनमें अद्भुत रस के बीज विद्यमान थे। उदाहरण के लिये राम के मायाशीश का वृत्तान्त प्रचलित रामायण में मौलिक रामायण के माया-सीता वृत्तान्त के आधार पर कल्पित करके जोड़ा गया है।[1] माया सीता की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है[2] और उसका सूत्रपात वा० रामायण में देखा सकता है।[3]

मानसकार को अद्भुत तत्त्व के मिश्रण की दो पूर्ववर्ती परम्परायें प्राप्त हुई है, एक तो कथा में कौतूहल-वृद्धि की और दूसरी राम के अलौकिक रूप और कार्यों की। दूसरी परम्परा का उसने भक्ति के कारण विशेष विकास किया क्योंकि 'माया' राम की

१. रामकथा, बुल्के, पृष्ठ ३८०।

२ वही पृ० ३४७

३ वह पृ० ७६

शक्ति है, जिस शक्ति का बोध राम के चमत्कारपूर्ण चित्रों और अद्भुत कृत्यों के द्वारा ही हो सकता है। इसीलिए तुलसीदास ने राम के अद्भुत विश्वरूप का और उनके अलौकिक कृत्यों का वर्णन बार-बार किया है। रावण के समक्ष मन्दोदरी राम के जिस रूप का परिचय देती हैं "पद पाताल सीस अजधामा"[1], उसकी कल्पनामात्र पाठक को एक विराट् विस्मय से भर देती है परन्तु इसके आलंबन भगवान राम हैं, इस कारण रस की परिणति अद्भुत में सीमित न रहकर भक्ति में होती है।

मानस में अद्भुततत्व कितना अधिक बढ़ गया है इसके कुछ और उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पुष्पवाटिका प्रकरण में पार्वती की मूर्ति की माला खिसकती हैं और वे मुस्कराती हैं तथा मानवी-वाणी में बोलकर सीता को आशीर्वाद देती हैं[2]। आकाशवाणी तो अनेक बार हुई है। आकाश से जयजयकार और पुष्प वर्षा के प्रसंग वाल्मीकि रामायण में भी हैं,[3] इन्द्र का रथ शरभंग के आश्रम मे दिखलाई पड़ता है,[4] पुष्पकविमान[5] भी कम अद्भुत नहीं है, भरद्वाज की योग-सिद्धि, जिसके द्वारा उन्होंने भरत की पहुनाई की थी, का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार आदि रामायण से ही रामकथा में लौकिक और अलौकिक धरातल पर अद्भुत रस की सृष्टि होती आई है और कथा में सत्य एवं कल्पना का विचित्र तथा अविच्छेद्य सम्मिश्रण हो गया है।

घटनाओं के अतिरिक्त अनेकानेक पात्र और पदार्थ भी कौतूहल तथा विस्मय के प्रेरक हैं जो कहीं अद्भुत रस के परिपाक में सहायक होते हैं, कहीं भयानक और वीभत्स के, और कहीं रस की सृष्टि न करके केवल विस्मय के भाव का ही स्फुरण करके रह जाते हैं। कुम्भकरण एक ऐसा ही पात्र है। उसकी आकृति, उसका भोजन और उसकी छः महीने की नींद तथा एक दिन का जागरण अतीव विस्मय की वस्तु हैं। सुरसा, मैनाक और छायाग्राहिणी भी ऐसे ही पात्र है। पदार्थों में पुष्पक के अतिरिक्त विविध शस्त्रास्त्र तथा नागपाश आदि भी ऐसे ही हैं। लक्ष्मण को जीवन-दान देने वाली संजीवनी औषधियाँ जो अपने को छिपा लेना भी जानती है,[6] जिनके सूघने मात्र से ही घाव भर जाते हैं और मरणासन्न व्यक्ति बात की बात में पूर्ण स्वस्थ और पहले से अधिक द्युतिमान होकर खड़ा हो जाता है,[7] कम विस्मयकारी नहीं है।

वा० रामायण और मानस में उपरोक्त प्रसंगों के आधार पर 'अद्भुत' तत्व के अनेक प्रकार देखे गये। यह अद्भुत तत्व वीरतापूर्ण कार्यों के रूप में, अद्भुत आकृतियों और विचित्र पदार्थों के रूप में, अलौकिक और अतिप्राकृत दृश्यों तथा घटनाओं के रूप मे

---

१. मा० लंका०, १५।
२. मा० बाल० २३६।
३. रा० ६.१११।
४ रा० ३ ५।
५ रा० सुन्दर० सर्ग ७-९
६ रा० ६ ७४ ६४।

और भगवान की अतर्क्य एवं अचिन्त्य लीलाओं के रूप में भी दिखलाई पड़ता है। कहीं इनमें अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है, कहीं केवल विस्मय का भाव स्फुरित होकर रह गया है, कहीं अद्भुत रस वीर या भयानक का अंग बनकर आया है और कहीं भक्तिरस का प्रेरक बन कर भी आया है। वाल्मीकि रामायण में अद्भुत रस प्रायः वीर रस का अंगभूत दिखलाई पड़ता है जिससे नाट्यशास्त्र के 'वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः' सिद्धान्त की पुष्टि होती है और मानस में वह अन्य सभी रसों के समान भक्तिरस के आधीन है।

वात्सल्य रस

वत्सलता का भाव उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव संस्कृति का प्रथम चरण। यद्यपि साहित्यशास्त्र में वात्सल्य रस को मान्यता बहुत बाद में मिली परन्तु वत्सलता के मार्मिक चित्र और अनूठी उपमायें ऋग्वेद में भी प्राप्त होती हैं। उसमे माता और सन्तान के प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हुई है। बच्चों का माता का आंचल पकड़ कर घूमना,[1] दूध पीते हुए बालक को थपथपा कर माता का स्नेह प्रकट करना,[2] स्तनों में दूध आने पर माता का बच्चे के लिए व्यग्र हो उठना[3] आदि चित्र ऋग्वेद में प्राप्त होते है। माता की गोद में बैठे हुए[4] अथवा मचलते हुए[5] अथवा उसके आंचल से प्रेमपूर्वक ढके हुए[6] शिशु की कल्पनायें भी, जो कि वात्सल्य रस की पोषक है, ऋग्वेद मे मिलती है। इससे वत्सलता के रमणीय भाव का साहित्य मे अत्यन्त प्राचीन काल से स्थापन सिद्ध हो जाता है। सूर्या सूक्त में पुत्री के विदाई के चित्र में भी वात्सल्य रस की झलक देखी जा सकती है[7]।

'वात्सल्य' एक पूर्ण प्रौढ़ और व्यापक भावना है। जनसमुदाय की वृद्धि के साथ समाज की और समाज की वृद्धि के साथ साहित्य की वृद्धि होने पर भावनाओं का स्वरूप भी निखरता और प्रौढ होता चलता है। इसी नियम से वात्सल्य भावना ने भी जीवन और साहित्य में धीरे-धीरे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। यह भी एक उत्कट और व्यापक भावना है। इसके मूल में आत्मविस्तार और स्ववश-रक्षण की आकांक्षा विद्यमान रहती है। माता-पिता के हृदय में इसका विशेष रूप से आविर्भाव होता है और उनमें से भी माता के हृदय में, क्योंकि गर्भावस्था से ही यह माता के हृदय में अंकुरित होता हुआ दुग्ध के रूप में शरीर से फूट पड़ता है। इस भावना के साथ सौंदर्य भावना, कोमलता, आशा, आत्माभिमान आदि अनेक भाव मिले रहते है जिनसे वात्सल्य रस पूर्ण परिपुष्ट हो उठता है। प्रधान रूप से तो शिशु के प्रति

---

१. ऋक् १.१४०.६।
२. ऋक् २.३५.१३; १०.११४.४।
३. ऋक् ३.३३.१०।
४. आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु—ऋक ७.४३.३।
५. गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति—ऋक् १०.२७.१६।
६ मात पुत्र यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि १० १८ ११
७ ऋक १० ८५

माता-पिता के स्नेह को ही वात्सल्य का स्थायी माना जाता है परन्तु माता-पिता के अतिरिक्त अन्य परिजन, स्वजन, गुरु आदि का भी, केवल शिशु के प्रति ही नहीं वरन अपने से किसी भी छोटे के प्रति, जो स्नेह भाव होता है वह वात्सल्य की ही सृष्टि करता है। पुत्र के प्रति वात्सल्य अधिक दिखलाई पड़ता है परन्तु प्रारम्भ से ही अर्थात् वैदिक साहित्य में ही (जैसे कि उपरोक्त सूर्या सूक्त में), पुत्री के प्रति भी वात्सल्य के मार्मिक चित्र अंकित होते आये हैं।

रामकथा में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ आदि कवि वात्सल्य रस का संचार कर सकते थे फिर भी वा० रामायण में इस रस का यथेष्ट प्रसार नहीं दिखलाई पड़ता। वात्सल्य को रसों में स्थान बहुत बाद में मिला है,[1] लौकिक संस्कृत साहित्य तक में स्नेह भाव के प्रकाशन के तो अनेक उदाहरण हैं लेकिन रस के स्तर पर इसे अपनाने वाले कवि बहुत कम हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला की विदाई,[2] दुष्यन्त का शिशु भरत से मिलाप,[3] रघुवंश में दिलीप की शिशु के लिए इच्छा और फिर बालक रघु का दुलार,[4] उत्तर रामचरित में कुश को देखकर राम की दशा का वर्णन[5] आदि वात्सल्य रस के ही चित्र हैं। फिर भी कालिदास, भवभूति आदि कवि वात्सल्य रस को महत्व देते हुए या रस रूप में अंगीकार करते हुए प्रतीत नहीं होते। कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में भरत मुनि के संदर्भ के साथ केवल आठ ही रसों की चर्चा की है[6]।

हिंदी में सूरदास इस रस के आचार्य माने जाते हैं क्योंकि वल्लभसंप्रदाय में बालरूप भगवान की उपासना का विधान था। सूर का प्रभाव तुलसी पर भी पड़ा था, परन्तु उसके अतिरिक्त भी महाकाव्य में जीवन की सभी परिस्थितियों के सन्निवेश, नायक के सर्वांगीण जीवन का चित्रण, विशेष कर अपने आराध्य भगवान के जीवन की सभी पक्षों की झाँकी प्रस्तुत करने के विचार से तुलसी ने मानस में वात्सल्य रस को भी विशेष स्थान दिया है। भगवान राम के पिता दशरथ ने अपने पूर्वजन्म में तप करके, मनु के रूप में अपनी अर्धांगिनी शतरूपा रूपी कौशल्या के साथ, उन्हें पुत्र रूप में प्राप्त करके उनकी बाल लीलाओं का सुख भोगने का ही वरदान मांगा था[7] और उनके "धूसर धूर भरे तनु" को गोद में धर कर अपने को देवताओं की भी ईर्ष्या का

---

१. रुद्रट के "स्नेह प्रकृति प्रेयान" (काव्यालंकार) में इसका प्रारंभिक रूप देखा जा सकता है। फिर भोज ने दस रसों की गणना में इसे स्थान दिया, और साहित्यदर्पणकार ने इसे परिपूर्ण रस माना—"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः" (सा० द० ३ २५१)।

२. अंक ४।

३. वही, अंक ७।

४. सर्ग ३।

५. उत्तर० ६.२१,२२।

६ मुनिना भरतेन य प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त
य तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनः सलोकपालः विक्रमोर्वशीयम २ १८।

पात्र बनाया था[1]। ऐसे ही प्रिय पुत्र के लिए दशरथ ने अपने प्राणों तक का परित्याग करके मानव-संस्कृतिके इतिहास में वात्सल्य का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2]

रामकथा में वात्सल्य के व्यंजक अनेक स्थल हैं, जैसे—राम के जन्म पर दशरथ और उनकी रानियों का आह्लादित होना, केवल माता-पिता का ही नहीं अपितु परिजन-पुरजन का भी राजकुमारो की बालक्रीड़ायें देखकर प्रमुदित होना, वन-गमन के अवसर पर कैकेयी का भरत के प्रति, दशरथ और कौशल्या का राम के प्रति तथा सुमित्रा का लक्ष्मण से अधिक राम के प्रति स्नेहभाव और उसके कारण विकलता तथा कौशल्या का विलाप। इनके अतिरिक्त लक्ष्मणशक्ति पर राम के विलाप मे मेघनाद-वध पर रावण के शोक में भी वात्सल्य करुण रस के साथ संचारी रूप मे अथवा करुण रस का प्रेरक बनकर आया है। मरते समय वालि की आँखें जिस प्रकार अंगद को देख-देख कर बार-बार डबडबा आती हैं और वह उसे सुग्रीव तथा राम को सौंपता है उसमें वात्सल्य और करुण रस की धारायें कुछ दूर तक साथ-साथ बहती दिखलाई पड़ती हैं। कार्यक्रम के सादृश्य के कारण दोनों ही काव्यों मे यह स्थिति एक समान दिखलाई पड़ती है अर्थात् दोनों काव्यों में कथा के इस स्थल पर करुण रस के क्रोड़ में वात्सल्य एक शिशु के समान दुबका हुआ दिखलाई पड़ता है—

(अ) १. स ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालित:
तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति ॥
बालश्चाकृतबुद्धिश्च एकपुत्रश्च मे प्रिय:।
तारेयो राम भवता रक्षणीयो महाबल: ॥
(४.१८.५२-५३)

२. सुग्रीव का ध्यान अंगद की ओर आकृष्ट करते हुए वालि कहता है—

मम प्राणै: प्रियतर पुत्रं पुत्रमिवौरसम् ।
मयाहीनमहीनार्थं सर्वत: परिपालय ॥
त्वमेवास्य हि दाता च परित्राता च सर्वत: ।
भवेष्वभयदश्चैव यथाऽहं प्लवगेश्वर ॥ (४.२२.९-१०)

(आ) १. यह तनयमम सम बिनय बल कल्यान प्रद प्रभु लीजिये ।
गहि बाहं सुर नरनाह आपन दास अंगद कीजिये ॥ (४.१०)

और इसी का स्मरण दिलाते हुए अयोध्या से लौटाये जाने के समय अंगद ने राम से कहा था—

१. वा.ल० २०३।
२. "The instance of Dashrath's death due to separation from Ram is an ample proof for the existenee of Vatsalya as a major mood दि न-भर भात रन्ाज पृ० ११२

२. मरती बार नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारे कोंछे घाली ।। (७.१८)

मरने वाले पिता की मृत्यु में विषाद का अंश कम होकर अतीव शान्ति आ जाती है यदि उसे विश्वास हो जाता है कि उसका पुत्र उसके बाद भी पिता जैसे दुलार और संरक्षण से वंचित नही रहेगा ।

वा० रामायण में वात्सल्य रस स्वतंत्र रूप मे कहीं नही मिलता, वह अन्य रसों का अंगभूत बन कर ही यत्रतत्र दृष्टिगोचर होता है। लवकुश प्रसंग का उपयोग पूरी सफलता के साथ वात्सल्य रस के लिये किया जा सकता था परन्तु प्रचलित रामायण में जोड़े गये अंशों में भी, जिनमें रामकथा को और अधिक को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है, वात्सल्य रस का प्रसार दृष्टिगोचर नहीं होता है।

वात्सल्य रस के परिपाक के लिए उपयुक्त स्थल राम की बाल्यावस्था का वर्णन ही हो सकता था जिसका समावेश मानस में होने के कारण उसमें वात्सल्य रस है और वा० रामायण में न होने के कारण उसमें वात्सल्य रस नहीं है। मानस से इस प्रकार का एक ही उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

भोजन करत बोल जब राजा । नहि आवत तजि बाल समाजा ।।
कौसल्या जब बोलन आई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहि पराई ।।
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ।।
धूसर धूरि भरे तनु आये । भूपति बिहँसि गोद बैठाये ।।
भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ।। (बाल० २०३)

स्वभावोक्ति अलंकार की छटा से विभूषित यह वात्सल्य रस का एक सर्वांगपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है।

यह वात्सल्य भी मानस के अन्य रसों के समान भक्ति रस का अवलंब लेकर ही खड़ा हुआ है, यह उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है। यहाँ आलंबन एक सामान्य शिशु न होकर निगम और शिव के लिये अगम्य परब्रह्म है। ऐसे प्रसंगों के आधार पर विद्वानों का यह विचार कि मानस में रस न होकर रसाभास मात्र है[1] उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। रसाभास मानने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो मुख्य रस का बाध, जैसे कि उपरोक्त उद्धरण में आलंबन अलौकिक होने के कारण वात्सल्य रस बाधित प्रतीत होता है। दूसरे, भक्ति के प्राधान्य के कारण किसी भी रस की प्रतीति न होना, क्योंकि भक्ति को कुछ लोगों ने रस नहीं वरन् भाव मात्र माना है।[2] भक्ति 'रस' ही है भाव मात्र नहीं, इस पर आगे 'दोनों काव्यों का प्रधान रस' शीर्षक के अंतर्गत विचार करेंगे। यहाँ पहली स्थिति को देख लेना है अर्थात क्या वास्तव में वात्सल्य रस बाधित हुआ है ? विचार करने पर ऐसा प्रतीत नही होता। इसका विवेचन बौद्धिक दृष्टि से केवल शास्त्रीय पद्धति पर न करके भावात्मक दृष्टि से मनोवैज्ञानिक पद्धति पर भी किया

१ मानस-दर्शन श्रीकृष्ण लाल पृ० १६६
२ रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः भाव प्रोक्तः रस गंगाधर

जाना चाहिये। सामान्य पाठक अथवा भावप्रवण जनता जब इस कथांश को पढ़ती या सुनती है तब वह कुछ देर के लिये भूली रहती है कि राम परब्रह्म हैं। तुलसीदास के याद दिलाने पर भी वह इस बालक की क्रीड़ा और माता-पिता के आनन्द में इतनी तल्लीन हुई रहती है कि कवि की बात को सुनी-अनसुनी कर देती है और किंचित् काल के लिये वात्सल्य रस में निमग्न रह कर ही दूसरे विषय की ओर आकृष्ट होती है। रसानुभूति की स्थिति दीर्घ काल तक नहीं ठहरती, क्षणिक ही होती है, विशेष कर प्रबन्ध काव्य में, जहाँ कि प्रकरण के अनुसार निरंतर रस परिवर्तन होता चलता है। अतः उस क्षणिक वात्सल्यानुभूति में तुलसीदास के परब्रह्मत्व के संकेत करने पर भी भावप्रवण जनता विषयान्तर करके वात्सल्य के सघन रस को छोड़ना न चाहेगी। ऐसा वहीं होगा जहाँ तुलसीदास उस रस को अपरिपक्व छोड़कर ज्ञान-भक्ति तत्व का विवेचन करने लग जायेंगे। अनेक स्थलों पर ऐसा हुआ है जहाँ तुलसीदास कवि का आसन छोड़कर उपदेशक के आसन पर बैठ गये हैं, परन्तु उपरोक्त उद्धरण में ऐसा अनुभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि भक्ति रस की अनुभूति विशिष्ट सहृदय जन और तुलसी की विचार पद्धति से पूर्णतः परिचित जनों को ही होगी। साधारण जनता उसमें वात्सल्य का ही अनुभव करेगी। भक्ति रस तक पहुचने के लिये अथवा भक्ति के भाव का बौद्धिक ग्रहण करने के लिये भी यह आवश्यक नहीं कि वात्सल्य की अनुभूति हुई ही न हो क्योंकि यह हो सकता है कि वात्सल्य के आस्वादन के बाद ही पाठक दूसरे भाव या विचारक्षेत्र में प्रवेश करे। मानस की रस पद्धति की विशेषता ही यह है कि उसमें दसों रसों की स्वतन्त्र अनुभूति अपने अपने अनुकूल प्रकरणों में होती है, परन्तु प्रधान रस की इतनी पूर्णता और प्रभुत्व है कि समस्त रस अपनी पृथक प्रतीति कराते हुए भी उसी की ओर प्रेरित कर देते है। तुलसीदास की सफलता ही यह है कि समस्त शास्त्रीय रसों का परिपाक करते हुए उन्होंने उन सब को रसराज भक्ति के आधीन कर दिखाया है।

बालक राम के प्रति ही नहीं, प्रौढ़ राम के प्रति भी माता कौसल्या के वात्सल्य भाव का यह अत्यन्त मार्मिक चित्र देखिये—

> बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता॥
> गोद राखि पुनि हृदय लगाए। स्रवत प्रेम रस पयद सुहाए॥
> प्रेम प्रमोद न कछु कहि जाई। रंक धनद पदवी जनु पाई॥ (२. ५२)

वात्सल्य रस का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन इन पंक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। वा० रामायण में भी कौशल्या का वात्सल्य है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, परन्तु रस की पूरी सामग्री उसमें विकसित नहीं हुई है।

राम के प्रति दशरथ-कौसल्या के वात्सल्य के अतिरिक्त सीता के प्रति जनक-सुनयना के वात्सल्य का वर्णन भी तुलसीदास ने किया है। सीता की विदाई का दृश्य शकुन्तला की विदा का स्मरण दिलाता है। कवि ने इस प्रसंग में कौटुम्बिक वातावरण और कन्या-स्नेह का अत्यन्त भावमय चित्र उपस्थित किया है। पुत्र के समान पुत्री पर भी माता को गर्व होता है यह भाव चित्रकूट पहुँचने पर सीता के तप को देखकर व्यक्त

किये हुए जनक के उद्‌गार में देखिये—

पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। (२. २८७)

सास ससुर का बधू के प्रति स्नेह- दुलार भी वात्सल्य के अन्तर्गत ही होगा। मानस में सीता के प्रति दशरथ और कौशल्या का स्नेह देखिये—

विवाह से लौटने पर दशरथ कौसल्या से कहते हैं—

बधू लरकिनीं पर घर आई। राखेहु नयन पलक की नाई॥ (बाल० ३५५)

और कौशल्या ने सीता को कितने दुलार से रक्खा है उसका परिचय वनप्रस्थान के समय की इन पंक्तियों से मिलता है—

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियं न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जियन मूरि जिमि जोगवत रहउं। दीप बात नहि टारन कहउं॥

(अयो०५६)

पारिवारिक और कौटुम्बिक जीवन के जितने विपुल और भावमय चित्र मानस में हैं उतने बा० रामायण में नहीं। दोनों ही पारिवारिक महाकाव्य (एपिक आव दिहाउस होल्ड) कहे जाते हैं पर इस दृष्टि से मानस वा० रामायण से श्रेष्ठ है और इसदृष्टि से परिवार की आधार भूत भावना 'वात्सल्य' का अभाव रामायण में और भी खटकता है।

वात्सल्य रस को तुलसीदास ने केवल बालक और माता-पिताके बीच सीमित न रख कर अन्य सम्बन्धों में भी उसका प्रसार किया है। बालक राम परिजनों और पुरजनों के अतिरिक्त गुरु विश्वामित्र के भी स्नेह और गर्व के आलंबन हैं। जिस समय विश्वामित्र अहल्या-तारण और सुबाहु-ताड़का के बध के यश से अलकृत राम-लक्ष्मण को लिए हुए, लालायित नेत्रों के बीच, स्वयंबर सभा में प्रवेश करते हैं और जब राम सब की अभिलाषा के अनुकूल, परन्तु आशा के प्रतिकूल, धनुष को तोड़ देते है तब गौरवान्वित गुरु के हृदय में वात्सल्य का जो अनिवर्च स्रोत उमड़ उठता है वह देखते ही बनता है—

कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥
राम रूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥ (बाल०२६२)

सागरूपक के संश्लिष्ट विधान के साथ वात्सल्य का पूर्ण परिपाक कवि तुलसीदास की कलासिद्धि का सुस्पष्ट उदाहरण है जिसमें ज्ञान और भक्ति का कोई झमेला यहाँ दृष्टि-गोचर नहीं होता।

राम को बन भिजवाने में मूलतः कैकेई का वात्सल्य भाव ही कार्य करता है, जैसा कि आज के कवि द्वारा निरूपित कैकेयी की इस उक्ति से प्रकट होता है :—

वात्सल्य मात्र कुछ मूल्य नहीं क्या मेरा ?

(मैथिलीशरण, सांकेत, सर्ग ६)

परन्तु उस मूल भाव पर अन्यान्य भावों के इतने आवरण चढ़ गये हैं कि मूल भाव सर्वथा तिरोहित हो गया है

इसी प्रकार वा० रामायण मे कौशल्या जब राम के वियोग में तड़पती हुई कहती है कि मैंने अवश्य ही पूर्वजन्म में अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए उद्यत माताओं के स्तन काट डाले होंगे (२. ४३. १७), अथवा गायों के बछड़े उनसे छीन लिये होंगे (२. ३६. ४), तब इस उक्ति से मर्मविद्ध होकर हम शास्त्रीय आँख से देख नहीं पाते कि यहाँ कौन सा चमत्कार है, क्या नाम दिया जाये उसे ? यहाँ वात्सल्य रस की प्रधानता है, अथवा विषाद सचारी है, अथवा शोक स्थायी है ? मूलत: इस उक्ति का चमत्कार पुत्रवत्सला की आत्माभिव्यजना में ही है, यद्यपि उसकी परिणति दारुण शोक में होती दिखलाई पड़ती है। हिन्दी के आलोचना-शास्त्र की दृष्टि से इसे वात्सल्य रस का विप्रलंभपक्ष भी कहा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कौशल्या के विषाद में प्रिय जन के अनिष्ट की आशंका और दीर्घकालीन वियोग तथा भविष्य के अनिश्चय के कारण यहाँ करुण रस भी माना है।[1]

यह रामकथा की अतिशय भावसंकुलता का प्रमाण है। इस कथा में भावो की इतनी विविध स्थितियाँ हैं कि उनके लिये शास्त्रीय मानदण्ड सर्वथा अपूर्ण सिद्ध होते है। वा० रामायण में शास्त्रीय दृष्टि से सांगोपांग वात्सल्य रस के उदाहरण भले ही उपलब्ध न हों परन्तु जीवन के अगाध सागर की किसी भी भाव-लहर से आदि कवि का मानस अछूता रहा था ऐसा कहना इस महाकाव्य की महान चेतना और महती कला से अनभिज्ञता प्रकट करना है। अन्तर इतना है कि परवर्ती साहित्य मे शास्त्रीय नियम निर्धारित होते गये, लक्षण ग्रन्थ और लक्ष्य ग्रन्थ बने और उन्ही मानदण्डों पर सभी काव्यों की परख करने की परम्परा चल पड़ी। ये मानदण्ड मानस के लिये किसी सीमा तक उपयुक्त हैं क्योंकि मानसकार ने अपनी कला को शास्त्रो से बहुत ऊपर उठाकर भी शास्त्रीय नियमों के अनुसार समस्त उदाहरण प्रस्तुत कर देने मे कोई कसर नहीं छोड़ी है। उसने अपने समय की और उससे पूर्व की भी अनेकानेक प्रचलित काव्यपद्धतियों और परम्पराओं को अपने काव्य में स्थान दिया है। अत: अलकार, छन्द, रीति, वृत्ति, रस आदि का शास्त्रीय स्वरूप मानस में देखा जा सकता है परन्तु वा० रामायण इन बन्धनो से बहुत ऊपर है। वा० रामायण की कला वह दिव्य भास्कर है जिससे समस्त ग्रह-नक्षत्र अर्थात् सामान्य कवियों के काव्योपकरण अपने लिये ज्योति प्राप्त करते है, वह सागर है जिससे अनेकानेक कवियों की कल्पनाओ के मेघ बन कर उठे हैं। तुलसी की काव्यकला भी कम नहीं है, फिर भी वह एक मानसरोवर ही है जिसमें मुक्ताधवल मधुर अमृत जल तो है परन्तु वह तटों के बन्धन मे है, उसकी लहरों का प्रवाह पुरइनपातों ने जकड़ रखा है, उसकी उर्मियों पर कमलो का पहरा है, भौंरों का गुंजन है, मीनों का आवास है और भी अनेकानेक जलचरों का निवास है।[2] मानसकार की प्रतिभा आलंबन अर्थात् काव्य नायक राम की असीमता के कारण और भक्तिभाव की दिव्यता तथा गरिमा के प्रभाव से, असीम और अमेय

---

१. दे० गो० तुलसीदास. पृ० १०४।

२ दे० मानस की   में मानस-रूपक बाल० ३७)

अवश्य प्रतीत होती है, फिर भी वह रामायणकार की तुलना में सीमित है, शास्त्र-बन्धन में बंधी हुई है और सौद्देश्य, साभिप्राय एवं प्रचारात्मक भी होने के कारण प्राय: काव्यक्षेत्र से हट भी जाती है।

आशय यह कि वा० रामायण में साहित्य-शास्त्र के विवेचन के लिये पूरी सामग्री है फिर भी कवि की ओर से उसे शास्त्रसम्मत और सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न नहीं है। वह केवल लक्ष्य ग्रन्थ है। वात्सल्य रस की स्थितियाँ उसमें भी है, भले ही शास्त्रीय दृष्टि से रस का पूरा प्रसार न मिले। दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि महाकाव्य की भावधारा अत्यन्त संकुल अथवा सम्मिश्रित होती है और उसमे अनेक भाव एक साथ मिले जुले रहते है। गीत के समान उसमें एक ही भाव का विस्तार नहीं रहता, वह शीघ्र ही दूसरे में विलीन हो जाता है। अत: वा० रामायणमें वात्सल्य रस की झलक तो है पर वह करुण आदि मुख्य रसों के आश्रित है। कुछ लोगों ने करुण को ही वात्सल्य का स्थायी माना है, अत. करुण रस के साथ उसकी संकरता स्वाभाविक भी है।[१]

इसी प्रसग में वा० रामायण में प्राप्त भक्ति रस के कुछ विकीर्ण सूत्रों की ओर भी संकेत किया जा सकता है। लक्ष्मण को राम के साथ भेजने में सुमित्रा जो आत्म गौरव और उत्साह प्रदर्शित करती है, उसे किस भाव या रस के अन्तर्गत रखा जा सकता है? विचार करने पर सिद्ध होता है कि यह तुलसीदास जैसी ही रस-विधान की पद्धति है अर्थात यहाँ वात्सल्य रस भक्ति का शरणागत हो गया है। वात्सल्य का एक रूप यह भी होता है कि माता और पिता व्यक्तिगत मोह को जीत कर पुत्र को किसी महान आदर्श के लिये वलिदान कर देते हैं।[२] राम का वनगमन पिता की आज्ञापालन के रूप में एक महान आदर्श था जिसमें सहयोग देने पर सुमित्रा लक्ष्मण को भी यश मिलने की संभावना देखती थी। अग्रज के यश में अनुज भागी बनेगा, और अग्रज पितृभक्ति का आदर्श प्रस्तुत करेगा तो अनुज अग्रज-भक्ति का,—ये विचार सुमित्रा के मन में थे। अत: वह लक्ष्मण से कहती है—

> सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्त: सुहृज्जने।
> रामे प्रमादं मा कार्षी: पुत्र भ्रातरि गच्छति।।
> व्यसनी वा समृद्धौ वा गतिरेष तवानघ।
> एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्।।
>
> —   —   ...
>
> रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
> अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्।।   (२. ४०. ५, ६, ९)

पिता की आज्ञा का पालन और इसके लिये राज्य-त्याग तथा वनगमन एक महान

---

१ अन्ये तु करुणा स्थायी ... त्शमोऽपिच ... म्पू (... पृ० २८८ से उद्धृत
२ 'वात्सल्य में आशा ... आदि अनेक भाव रहते हैं' ... देख पृ० २८८

आदर्श है परन्तु मातृप्रेम के वशीभूत अग्रज का अनुसरण और कष्ट-सहन कोई विशेष आदर्श नही माना जा सकता। फिर भी लक्ष्मण के इस कार्य को सुमित्रा एक महान आदर्श के रूप में देखती है क्योंकि अग्रज साधारण जन नहीं वरन पुरुषोत्तम राम है। पुरुषोत्तम राम की सेवा मे सुमित्रा लक्ष्मण का और अपना जन्म धन्य समझती है। उसका वात्सल्य या उत्तम पुत्र की यशस्विनी माता बनने की आकांक्षा लक्ष्मण को राम की सेवा मे नियोजित करती है। इस प्रकार वात्सल्य और भक्ति-भाव दोनो ही सुमित्रा के इस कार्य में दिखलाई पड़ते हैं। "राम दशरथं विद्धि" एक प्रकार से भक्ति-परक उद्‌गार ही है।

मूल वा० रामायण में भक्ति-भावना के आविर्भाव के अनेक सूत्र प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख अनेक स्थलो पर किया जा चुका है। सुमित्रा का यह आरचण भी उसी का प्रमाण है। सुमित्रा की यही भावना विकसित होती हुई आगे चलकर वैष्णव-भक्ति के रंग में रंग गई। मानस में वह एक वैष्णव माता के रूप में कहती हैं—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ (मा० २.७५)

इस प्रकार मानस मे वात्सल्य, भक्ति आदि जिन नवीन रसों का प्रसार दिखलाई पडता है उनका उद्‌भव वा० रामायण मे भी देखा जा सकता है।

साहित्यदर्पणकार के विचार से वात्सल्य रस की कल्पना भरत मुनि के भी मन में थी, यद्यपि वे इसे रसों में स्थान नहीं दे सके थे। उक्त ग्रंथ में वात्सल्य रस की चर्चा जिस संदर्भ के साथ हुई है वह देखने योग्य है—

"अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः"[१]

टीकाकार ने 'मुनीन्द्र' का अर्थ 'भरत मुनि' किया है।[२] वा० रामायण और नाट्य-शास्त्र के रचनाकाल और उनके प्रणेताओं के समय पूर्णतया निश्चित नहीं है फिर भी दोनों ईसवी सन् से पूर्व ही हुए, यह तो निश्चित ही है। अतः हो सकता है कि भरत मुनि की कल्पना में रामायणी कथा में स्थित वात्सल्य रस की स्थितियाँ रही हों, और यह भी हो सकता है कि वाल्मीकि ऋषि के कानों में नाट्यशास्त्र की कुछ भनक पडी हो।

उपरोक्त विवेचन से प्रकट है कि वा० रामायण में वत्सलता का भाव अनेक स्थलों पर प्रकट हुआ है, उसमें वात्सल्य रस का स्फुरण अवश्य हुआ है परन्तु प्रसार नही। दूसरी ओर रामचरितमानस में वात्सल्य रस का सांगोपांग प्रसार हुआ है और वह भी तुलसीदास की भक्ति-भावना का एक अंग है।

शान्त रस

यद्यपि नाटयशास्त्र के आठ रसों में शान्त रस की गणना नही की गई है फिर

---

१ साहित्यदर्पण ३.२५०

२ टीका डा० सत्यव्रत सिंह बनारस १९५७ पृ० २६९।

भी अनेक विद्वानों का विचार है कि भरत मुनि शान्त रस को स्वीकार करते थे।[१] आनन्दवर्धन ने नाट्य शास्त्र में भी शान्त रस की स्वीकृति मानी जाती है और स्वय भी शान्तरस को मान्यता दी है।[२] कुछ लोग महाभारत मे शान्तरस की प्रधानता मानते हैं[३]। बौद्ध और जैन धर्म तथा साहित्य के प्रभाव से भी शान्त रस का प्राचीन काल से माना जाना सिद्ध होता है।[४] आनन्दवर्धन[५], मम्मट और विश्वनाथ[६] ने शान्त रस को नव रसो मे विधिवत मान्यता दी है। उनसे भी पहले उद्भट इसे मान्यता दे चुके थे।[७] यद्यपि इसके स्थायी भाव तृष्णाक्षय, सुख[८], शम[९], आदि[१०] भी माने गये है परन्तु भरत से पण्डित राज जगन्नाथ तक अधिकांश आचार्यो ने निर्वेद को ही इसका स्थायी भाव माना है और निर्वेद के बाद 'शम' का स्थान है।[११] निर्वेद भी दो प्रकार का माना गया है, तत्वज्ञान से उत्पन्न और इष्ट-वियोग से उत्पन्न, परन्तु वस्तुतः तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही इसका स्थायी होता है।[१२] तत्वज्ञान की प्राप्ति और शम के अभ्यास में प्रकृति, तपोवन आदि का भी विशेष सहयोग होता है। अतः शान्त रस के उद्भावन मे ज्ञान-चर्चा तथा वैराग्य के अतिरिक्त प्रकृति के शान्त एवं शीतल दृश्यों का वर्णन भी उद्दीपन विभाव का कार्य करता है (दे० सा० दर्पण, ३.२४५)। दोनों कवियों में शान्त रस की तुलना दो दृष्टियों से की जा सकती है—प्रकृति विषयक शान्त रस और धर्म-वैराग्य विषयक शान्त रस।

---

१. नाट्यशास्त्र के जिन अंशो में शान्त रस को स्वीकार किया गया है, वे अप्रामाणिक माने जाते हैं परन्तु 'निर्वेद', 'शम' आदि भावो का विवेचन प्रामाणिक अंशों मे हुआ है। इन तथा अन्य आधारों पर भी नाट्यशास्त्र में शान्त रस की स्वीकृति मानी गई है—दे० दि नम्बर आव रसाज, अध्याय २।

२. वही, पृ० १८।

३. Anand vardhan ponits out that the Rase of the great Epie Mahabharat is Shanta"—वही पृ० १७ तथा काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ० ८३।

४. दि नम्बर आव रसाज, पृ० २२-२३।

५. निर्वेदस्थायिभावस्थः शान्तोऽपि नवमो रसः—(काव्यप्रकाश, ४।३५)।

६. सा० दर्पण, ३.२४५।

७. काव्यदर्पण, पृ० २०६।

८. अभिनव, लोचन।

९. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ ३.२४५।

१०. शम और निर्वेद के अतिरिक्त शान्त रस के अन्य स्थायी भाव इस प्रकार माने गये है—सम्यग्ज्ञान, सर्वचित्तवृत्तिप्रशम, निर्विशेष चित्तवृत्ति, धृति, उत्साह, जुगुप्सा, रति, आत्मज्ञान, तत्वज्ञान आदि। इनसे इस रस की आध्यात्मिकता अर्थात् दार्शनिकता की ओर झुकाव प्रकट होता है—दे० दि नंबर आवरसाज, अध्याय ४।

११. काव्यदर्पण, रा० द० मिश्र, पृ० २७८।

१२. वही

प्रकृति विषयक शान्त रस

प्रकृति विषयक शान्त रस में वस्तुतः 'शम' भाव की ही प्रधानता होती है[1] क्योंकि रमणीय और शीतल प्राकृतिक दृश्यों को देखकर इच्छाओं और भावनाओं के संघर्षों से सताई हुई इंद्रियों को विश्राम और शान्ति का अनुभव होता है। वाल्मीकि और तुलसी के दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि ऋषि का प्रकृति वर्णन अधिकांशतः रागात्मक है जब कि भक्त का प्रकृति-वर्णन विरागात्मक, यद्यपि राम के प्रति अनुराग जागृत करने के कारण उसमे सन्यासियों वाला वैराग्य नहीं है।

प्रकृति के रमणीय रूपों को प्रस्तुत करते हुये वाल्मीकि ने अधिकाँशतः हार्दिक उल्लास, ऐन्द्रिय आनन्द और सुखोपभोग की भावना ही प्रकट की है। उनके प्रकृति-चित्रण मे कही-कहीं शान्त रस की झलक इस रूप में मिलती है कि कुछ प्राकृतिक दृश्यों को देखकर मन संसार को छोड़कर उन्हीं में रमा रहना चाहता है, उन पवित्र दृश्यों से मन में सात्विक विचारों का संचार होता है। चित्रकूट के निम्नलिखित वर्णन में इसी प्रकार के शान्त रस की झलक उत्पन्न हुई है—

यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते ।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ।। (२.५४.३०)

शान्त रस का धर्म-भावना मे घनिष्ट सम्बन्ध है। पाप से निवृत्ति और पुण्य मे प्रवृत्ति, तथा विश्वकल्याण के प्रेरक पवित्र सात्विक कर्मों और ब्रह्म-जिज्ञासा मे लीन करने के लिये प्रकृति के पुनीत स्थलों (जिन्हें सामान्य जनता 'तीर्थ' कहती है) और रमणीय दृश्यों का कितना महत्व रहा है, यह हम अनादिकाल से अनुभव करते आये है।[2] वेद, आरण्यक और उपनिषद् तथा अन्य धार्मिक-दार्शनिक वाङ्मय की रचना ऐसे ही पुनीत रमणीय प्राकृतिक दृश्यों के बीच हुई है। रामकथा में चित्रकूट, गंगा, मंदाकिनी तथा अन्यान्य गिरि-कान्तार और सर-सरिता परम्परागत रूप में शान्त रस के प्रेरक रहे है। इस दृष्टि से चित्रकूट की महिमा दोनों कवियों ने गाई है।

वा० रामायण में चित्रकूट, तपोवनों और ऋषि-आश्रमों के वर्णन तो प्रचुर है परन्तु तुलसी की अपेक्षा उनमें अन्तर यह है कि उनका वर्णन अधिकांशतः कलात्मक दृष्टि से, मानव पर प्रकृति का सुख-दुखात्मक अर्थात् प्रवृत्तिमूलक प्रभाव अंकित करने के लिये किया गया है, धार्मिक-दार्शनिक प्रेरणा जगाने के लिये नही। तुलसी की

---

१. आचार्य विश्वनाथ ने प्राकृतिक दृश्यों को भी शम का उद्दीपक माना है, देखिये—

पुण्याश्रम हरिक्षेत्र तीर्थ रम्यवनादयः ।
महापुरुष संगाद्यास्तस्यो द्दीपनरूपिणः ।। (सा० दर्पण,३.२४५)

२. भरत मुनि ने भी शम, निर्वेद आदि भावों के लिये प्रकृति की महत्ता स्वीकार की है—
"Bharat could have hardly lost sight of the Rishis, the forests, the tapas etc. × × × Aspects of Shant rasa and its attendant Conditions दिनकर आफ रसाज, पृ० १७

काव्य-विषयक प्रवृत्ति ही भिन्न थी। उनकी प्रवृत्ति मूलतः दार्शनिक-धार्मिक और उनकी शैली अधिकांशत. प्रचारात्मक थी, इसीलिये उन्होने प्रकृति का वर्णन भी धार्मिक, नैतिक और राम के प्रति अनुरागात्मक होते हुए भी, वैराग्यमूलक दृष्टि से किया है। अतः वात्सल्य, अद्भुत आदि रसों के समान शान्त रस का प्रसार भी साहित्य-शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी के काव्य में अधिक हुआ है।

वा० रामायण से चित्रकूट वर्णन का जो उद्धरण ऊपर दिया गया है वैसे सकेत उस में बहुत कम और संक्षिप्त है। उन्होंने मुख्य रूप से चित्रकूट और मंदाकिनी को नवदपति सीता-राम के बिहार की दृष्टि से देखा है[1] जबकि तुलसीदास ने इन प्राकृतिक स्थलों को तीर्थ-स्थल मानते हुए उन्हे पावन पुराण कथा के श्रवण-कथन का रंगमंच बनाया है[2]। वा० रामायण से एक और उदाहरण लिया जा सकता है। अरण्य काण्ड में हेमन्त ऋतु का वर्णन[3] किष्किन्धा के वर्षा और शरद् के वर्णनों से भिन्न है। वाल्मीकि ने हेमन्त-वर्णन में राम-लक्ष्मण और सीता के वास्तविक वनवासी जीवन की झलक दिखाई है। इस अवसर पर उन्होने आश्रम के प्रशान्त वातावरण का[4], हेमन्त की अतिशीतता का[5] और तप तथा क्लेशमय वनवासी जीवन का वर्णन किया है परन्तु इसके साथ ही उन्होंने धूप के प्रिय लगने[6] और नवान्न के पकने का वर्णन[7] भी किया है, और कहीं-कही शृंगार भावना का पुट[8] भी दिया है। उन्होने प्रकृति को लौकिक सुख-समृद्धि की दृष्टि से देखा है—

अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः ॥ (३.४)

सम्पूर्ण चित्र में लौकिक या प्रवृत्तिमूलक भावों की प्रधानता है। यह प्रकृति का विशुद्ध शान्त रस प्रधान चित्र नही है। इसमें शम नही है, निर्वेद नहीं है वरन् ऐन्द्रिय उल्लास है। अतः साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से इसमें शान्त रस संदिग्ध है।

दूसरी ओर तुलसी का प्रकृति-वर्णन शान्त रस के उद्दीपन विभाव के ही रूप मे हुआ है। प्रकृति के प्रशांत, पुनीत वातावरण में एक प्रकार के सतोगुणी जीवन का आभास मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है कि निखिल सृष्टि परोपकार, ध्यान, समाधि आदि में लीन है। तुलसीदास ने अपने सभी प्राकृतिक वर्णन इसी रूप में किये है। सीता-हरण के बाद जब राम पंपा सरोवर पर पहुँचते हैं तब वहाँ की बसन्त-कालीन शोभा देखकर उनके विरही मन को वाछनीय शान्ति मिलती है। इसी अवसर

१. दे० रा० २.९४.१८ तथा २.९५.१४।
२. दे० मा० २.१०५ में "तीरथरराज" का वर्णन तथा चित्रकूट-निवास के समय "कहहि पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनसिय अति सुखमानी" (२.१४१)।
३. रा० ३.१६।
४. रा० ३.१६.११.।
५ रा० ३ १६ १५
६ वही १६ १०

पर नारद के आगमन से यह पुनीत प्राकृतिक वातावरण ज्ञान और भक्ति के लिये उपयुक्त मंच प्रस्तुत करता है। इस संवाद में 'शम' की प्रतिध्वनि निम्नलिखित दोहे मे सुनिये—

दीपसिखा सम जुवतितन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काममद करहि सदा सतसंग ॥ (३. ४६-ख)

नारद को भी 'जुवति तन' ने नैराश्य प्रदान किया था और राम को भी। अतः उक्त उद्धरण में युवती का निस्सार शरीर ही आलंबन है, पंपा सरोवर का शीतल सात्विक वातावरण उद्दीपन है, राम और नारद आश्रय है, सत्संग और काम-मद का परित्याग और भजन अनुभाव है। जिस प्रकार तुलसी ने यहाँ पंपासर के वासंती वातावरण को वैराग्य का प्रेरक बनाया है इसी प्रकार उनके वर्षा[1] और शरद[2] के वर्णन भी सत्संग की महिमा और धर्म आदि की महत्ता बतलाते हैं। उसके विपरीत वाल्मीकि ने वर्षा और शरद के वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से किये हैं, जैसा कि हम उनके प्रकृति वर्णन और शृंगार रस निरूपण मे भी दिखा चुके हैं। वा० रामायण में सीता-हरण से पूर्व चित्रकूट और मंदाकिनी नवदंपति के अनुराग और विहार के प्रेरक है और सीताहरण के पश्चात् गोदावरी तथा पंचवटी राम के विरह के उद्दीपक हैं। इससे स्पष्ट है कि मानस में शांत रस की शास्त्रीय सामग्री वा० रामायण की अपेक्षा बहुत अधिक है।

धर्म-वैराग्य विषयक शान्त रस

यह दूसरे प्रकार का शान्त रस तो वा० रामायण में और भी कम तथा मानस मे और भी अधिक है। तुलना के लिये एक ऐसे स्थल को ले सकते है जहाँ वाल्मीकि शान्त रस का उद्भावन करते-करते रह जाते हैं जबकि तुलसी उसका पूर्ण प्रसार करते है। यह स्थल पंचवटी में राम, लक्ष्मण और सीता के निवास की पहली झाकी से सम्बन्ध रखता है। चित्रकूट की सभा के बाद राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन मे एक प्रकार की नीरवता छा जाती है, और अनेक कारणों से वे चित्रकूट को छोड कर पंचवटी में आकर रहने लगते है। पंचवटी में बसने से पूर्व वे अनेक ऋषि-मुनियो से भेंट करते हैं। दोनों काव्यों मे अत्रि-अनसूया, सुतीक्ष्ण, शरभंग, अगस्त्य आदि ऋषियों से राम के मिलन का वर्णन किया गया है, परन्तु मानस में यह मिलन शान्त रस के उद्दीपन विभाव के रूप में नियोजित किया हुआ दिखलाई पड़ता है जबकि वा० रामायण में ऐसा अनुभव नहीं होता। इसके बाद की स्थिति में भी इसी बात की पुष्टि होती है। वाल्मीकि इस बात का केवल संकेत करके रह जाते हैं कि पंचवटी मे राम सीता और लक्ष्मण को पुराण आदि की कथाएं सुनाया करते थे[3] परन्तु तुलसीदास ने पंचवटी के वातावरण को भी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार शान्त रस के

१. मा० ४.१४-१५।
२ वही १६-१७।
३ लक्ष्मणेन सह भ्राता चकार विविधाः कथाः (३ ७ ३)

उद्दीपन विभाव के रूप में ग्रहण किया है और वहाँ राम और लक्ष्मण के बीच दार्शनिक चर्चा होती है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥ (३. १५)

यह दार्शनिक चर्चा काफी लम्बी है (३. १४, ५-दो० १६)। ऐसा ही उदाहरण मानस के अयोध्याकाण्ड में लक्ष्मण-निषाद संवाद में मिलता है[1]। ऐसा ही एक उदाहरण ऊपर राम-नारद संवाद के प्रसंग में दिया जा चुका है। इसी प्रकार राम के राज्याभिषेक के बाद उत्तरकाण्ड में भी राम और भ्राताओं तथा राम और पुरवासियों के बीच दार्शनिक वार्ताएं हुई हैं[2]। नगर के बाहर अमराइयों के शमोद्दीपक वातावरण मे भगवान राम अपने अमृत-वचन प्रसारित करते हैं। इन प्रसंगों को विद्वानों ने मानस-गीतायें कहा है और सम्पूर्ण काव्य में इस प्रकार की बाईस गीताओं की गणना की है।[3] इन गीताओं के रूप में दार्शनिकता के संचार से मानस मे शान्त रस का वातावरण व्यापक हो उठा है।

तुलसीदास के वस्तुविधान की यह एक विशेष पद्धति है कि उन्होंने कथा के बीच-बीच इसी प्रकार शान्त रस की योजना की है। कोलाहल और संघर्ष पूर्ण घटनाओं के बाद विश्राम के रूप में वे विराग-वार्ताओं की योजना करते हैं। इस प्रवृत्ति को हम मानस के आदि से अन्त तक देख सकते हैं। राम कथा के आरंभ से पूर्व सती-दाह और उमा-विवाह के कोलाहल के बाद विशाल वट-विटप के नीचे गूढ तत्व की चर्चा के साथ मानस की कथा का आरम्भ होता है। तत्पश्चात् पुत्र-जन्म, विवाह, अभिषेक योजना और वन-गमन के प्रसंगों में कथा अबाध वेग से चलती हैं, परन्तु वन-मार्ग में तुलसीदास निषाद के विषाद के बहाने 'मोहनिसा सब सोवनि हारा' जैसी दार्शनिक चर्चा का अवसर निकाल लेते हैं। पुनः दशरथ के दाह-कर्म के बाद वशिष्ठ-गीता[4] में ऐसा ही होता है। अरण्य काण्ड के दो प्रकरण ऊपर दिये जा चुके हैं। आगे किष्किन्धाकाण्ड में बालि-वध के बाद राम तारा को ज्ञान देकर माया को दूर करते हैं।[5] घमासान युद्ध के बीच धर्मरथ का रूपक[6] भी ऐसा ही प्रकरण है, और उत्तरकाण्ड का तो मुख्य विषय ही यह है। इस प्रकार मानस की कथा के आरम्भ, मध्य और अन्त में इन दार्शनिक वार्ताओं की शृंखला देखकर यदि मानस को शांतरस प्रधान काव्य कहा जाये तो यह अधिक अनुपयुक्त भी नहीं होगा, परन्तु मानस का यह शान्त रस निर्वेद प्रधान या वैराग्य मूलक नहीं है वरन् राम के प्रति अनुराग मूलक है। इस प्रकार तुलसी दास के अन्य रसों के समान यह शान्त रस भी भक्ति रस के सागर में विलीन हो गया है।

---

१. मा० २.६३।

२. मा० ७.२६,३७-४१,४३-४६।

३- तुलसी दर्शन- पृ० ३२।

४ मा० २ १७२ १७३

५ मा० ४ ११

दोनों कवियों में तुलना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वा० रामायण मे प्रकृति के प्रशान्त सात्विक वातावरण के रूप में शान्त रस का विभाव पक्ष तो कही कहीं प्रकट हुआ है परन्तु उसके अनुभाव एवम् संचारी आदि के अभाव के कारण उसका सम्यक् प्रसार नही दिखाई पड़ता। भक्त और संत कवि तुलसीदास ने कथा के बीच शांत रस की शृंखलाओं के लिये अवकाश खोज निकाला है, अतः मानस मे प्रकृतिपरक और धर्म-वैराग्य परक दोनों ही प्रकार का शान्त रस है, परन्तु उसका सगम अन्य रसों के समान भक्ति रस में ही हो गया है।

भक्ति रस

भक्ति रस साहित्यशास्त्र को गौड़ीय वैष्णव कवियों की देन है।[१] दशवीं शताब्दी से भक्ति का जो व्यापक आन्दोलन इस देश में आरम्भ हुआ उसका प्रभाव समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा और धीरे-धीरे साहित्य में एक नवीन रस के नामकरण की आवश्यकता अनुभव होने लगी। यद्यपि भक्ति भी एक प्रकार की रति है परन्तु उसका अन्तर्भाव शृंगार रस में नहीं किया जा सकता क्योंकि शृंगार मे आलबन लौकिक होता है जब कि भक्ति विषयक रति का आलबन असामान्य महामानव या 'भगवान' होता है। कुमार-संभव के आलबन शिव-पार्वती यद्यपि अलौकिक-पौराणिक पात्र हैं लेकिन कालिदास ने उनका चित्रण सहज-स्वाभाविक लौकिक स्तर पर किया है,[२] इसी प्रकार रघुवंश के राम-सीता के प्रति उनकी भक्तकवियो जैसी पूज्य भावना नही है अर्थात् ये पात्र कालिदास के आराध्य नहीं है। यही बात भवभूति के साथ है। उत्तररामचरित के राम और सीता हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, उन्हें 'भगवान' और 'भगवती' भी कहा गया है[३] परन्तु भक्तकवियो के समान उनका आराधन-पूजन नही किया गया है। भक्ति रस की सम्भावना वहीं उत्पन्न होती है जहां कवि अपने काव्यगत पात्रों की मानसिक स्थितियों के चित्रण तक ही अपनी कला को सीमित न रखकर, उनकी आकृति और प्रकृति के निरूपण में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न मानकर, उन पात्रों के साथ अपना एक विशिष्ट नाता भी अनुभव करने लगता है यहाँ तक कि उन्हें अपना पूज्य बनाकर उनमें लीन हो जाता है। तदाकारिता और तल्लीनता की भावना भक्ति में अधिक होती है[४]। इस प्रकार कवि की कला लौकिकता की परिधि से निकल कर दार्शनिकता और आध्यात्मिकता की परिधि में प्रवेश कर जाती है, पात्रों के चरित्र अनिर्वचनीय बन जाते है अर्थात् उन पर लौकिक ढंग से टीका-टिप्पणी नहीं की जा सकती है।

---

१. The elaboration of Bhakli Rasa is the special Contribution of the Rhetoricians of Bengal"—दि नंबर आव रसाज, पृ० १३०।

२. दे० कुमार संभव, सर्ग ८।

३. ये केवल आदर सूचक विशेषण है जो अन्य पात्रों के लिये भी प्रयुक्त हुए है।

४ अन्तःकरणस्य भगवदाकारताकर्षं भक्ति'—भगवद्भक्ति रसायन, मधुसूदन सरस्वती काशी १६२७, १ २

प्रश्न उठते है कि क्या इस प्रकार का चरित्रचित्रण स्वाभाविक होता है ? क्या उसके आधार पर अद्भुत भावनाओं का साधारणीकरण हो सकता है ? क्या उस रस को साहित्यशास्त्रीय रसों के समकक्ष रक्खा जा सकता है ? और फिर उसके स्थायी, अनुभाव, विभाव आदि क्या होगे ? इन प्रश्नों पर हम आगे विचार करेगे। परन्तु उससे पूर्व भारतीय साहित्य पर पुराणों के प्रभाव को जान लेना आवश्यक है।

हिन्दी के भक्ति-काव्य पर पुराणों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और श्रीमद्-भागवत का स्थान उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। राम और कृष्ण के प्रति जनता मे पहले से ही अत्यन्त श्रद्धा की भावना विद्यमान थी और इन महान व्यक्तित्वों का उपयोग चिरकाल से धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों के लिये होता आ रहा था। रामायण, महाभारत और सस्कृत के काव्य इन दो महापुरुषों को जातीय नायक के रूप में प्रतिष्ठित कर चुके थे और ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि धर्मों का प्रचार इनकी जीवन-कथा के माध्यम से हो चुका था। पुराणों ने एक ओर तो इनकी जीवन-कथाओं को अत्यन्त रोचक औपन्यासिक रूप में प्रस्तुत किया, दूसरी ओर उनके कृत्यो का अतिरंजित वर्णन करते हुए उन्हें भगवान का अवतार बताकर जनता की अन्ध श्रद्धा का विषय बना दिया। श्रद्धा और प्रेम के मिश्रण का नाम भक्ति है।[1] श्रद्धा इनके प्रति पहले से भरपूर थी। पुराणों ने उनके आकृतिगत सौन्दर्य का विकास करते हुए जनता के रागतत्व का उद्बोधन किया, साथ ही उन्हें केवल जनता के कल्याण के लिये अवतीर्ण होता हुआ बतलाकर और इस प्रकार जनता की स्वार्थबुद्धि को उकसा कर उस राग को और भी संवर्धित कर दिया। राम और कृष्ण पुराणो के द्वारा जनता के जीवन में पूर्णतया व्याप्त हो गये। उनका सौन्दर्य, शील-स्वभाव, और शक्ति जनता के आदर्श बन गये। भारतवर्ष के व्यक्तियों के, नगरों के, वस्त्रा-भूषणों के और अन्यान्य पदार्थों के नाम इस बात के साक्षी है कि भारतीय जीवन पर राम और कृष्ण का व्यापक प्रभुत्व है। पुराणों के अधूरे कार्य को साहित्य ने पूरा किया। कवियों ने राम और कृष्ण की पुराणों द्वारा प्रस्तुत जीवनी को साहित्यिक दृष्टि से सुव्यवस्थित किया, उसमें जनता के प्रतिदिन के जीवन के चित्रों को सन्नि-विष्ट किया और उसके अत्यन्त सन्निकट ला दिया। पुराणों में सांप्रदायिकता और अधश्रद्धा का वातावरण था, साहित्यकारों ने उसे रागात्मक विषय बनाकर व्यापक रूप में प्रस्तुत किया। इसीलिये रामचरित मानस को पौराणिक महाकाव्य कहा जाता है।[2] उस में पौराणिकता अर्थात श्रद्धातिरेक और उपदेशात्मकता है, परन्तु प्राधान्य साहित्यिकता का अर्थात् रागतत्व और रसतत्व का है। इसीलिये वह काव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भक्तिकाव्य की शैली में पौराणिक और साहि-त्यिक शैली का अर्थात् उपदेशात्मकता या धार्मिकता और रसात्मकता का सामंजस्य होता है और पुराणों की भक्तिभावना इन काव्यो में पहुचकर भक्ति रस बन जाती

१- चिन्तामणि, रा० शुक्ल- भाग १, पृ० ३२।

२ महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ४-५

है। भाव का परिपक्व स्वरूप ही रस है।[1] भाव जब व्यापक धरातल पर जीवन की नाना परिस्थितियों के आधार से सांगोपांग रूप में काव्य-कथा में प्रसारित और प्रकाशित होता है तब उसे रस कहते हैं। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' और यह आस्वादन अनिर्वचनीय है क्योंकि आस्वादक और आस्वाद्य का पूरा विवरण भाषा के द्वारा नहीं दिया जा सकता। आस्वादन की सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है, फिर भी आस्वाद्य का पूरा स्वरूप उसके द्वारा नहीं बतलाया जा सकता। रस के 'विभावानुभावव्यभिचारी' रस-बोध का आंशिक स्वरूप ही व्यक्त करते है, पूर्ण स्वरूप नहीं। रस वस्तुतः एक है या फिर रसो की सख्या अपरिसीम है।[2] आठ, नौ या दस स्थायीभाव रस के कुछ प्रमुख मार्गों का ही निर्देश करते हैं, उसके पूर्ण साम्राज्य का नहीं। यही कारण है कि साहित्यशास्त्र में आगे-चलकर शान्त रस को भी मान्यता मिली, फिर वात्सल्य को और अब भक्ति को भी। इसके आगे और भी रस माने जा सकते है तथा माने भी गये हैं।[3] मानव-समाज और संस्कृति के विकास के साथ भावों की सख्या का बढ़ना भी स्वाभाविक है और उनकी स्थिति का भी। लज्जा, व्रीडा, सकोच, ग्लानि, आत्मग्लानि आदि मनोविकार जिस प्रकार मूल स्रोत से निकलकर पृथक-पृथक हो गये उसी प्रकार शम या निर्वेद और स्नेह के भाव पहले किसी अन्य भाव के आश्रित रहे, बाद में अधिक और व्यापक अभ्यास के बाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रकट करने लगे। जिस प्रकार अपत्य विषयक रति (वात्सल्य) दाम्पत्य रति से भिन्न है और उसके लिए 'स्नेह' संज्ञा प्रयुक्त होती है, उसी प्रकार आचार्य विषयक रति, देश विषयक रति और राज-विषयक रति देवविषयक रति से भिन्न है। आचार्य विषयक रति के लिए अभी पृथक नामकरण नहीं है अतः वह कभी वात्सल्य में और कभी भक्तिरस में, जिसका मूल आधार श्रद्धा है, गिनी जा सकती है। इसी प्रकार देश विषयक रति को 'देशभक्ति' और राजविषयक रति को 'राजभक्ति' कहकर काम चलाया जाता है, परन्तु इनके लिए 'राष्ट्रीय भावना' भी कहा जाता है और रस के विचार से इनमें उत्साह भाव की प्रधानता देखकर इनका समावेश वीररस मे भी किया जाता है।[4] कालान्तर में इनके लिए पृथक रस का नामकरण किया जा सकता है। इसी प्रकार पुराणों में जब देव विषयक रति का प्रसार हुआ और साहित्य में उसका विशद और व्यापक स्वरूप सामने आया तब उसके लिए पृथक नामकरण की आवश्यकता हुई और उसे 'भक्ति रस' कहा गया।

भक्ति रस का मौलिक सम्बन्ध शृंगार से ही हैं परन्तु शृंगार का प्रयोग एक सीमित अर्थ में, अर्थात दाम्पत्य रति के अर्थ में, भी होता है। इसीलिये शृंगार से उसे पृथक करने की आवश्यकता हुई। देवविषयक शृंगार रस को बंगाल के वैष्णव-साहि-

१. काव्यदर्पण, पृ० २११।
२. दि नम्बर आव रसाज, अध्याय १० तथा काव्यदर्पण, पृ० २११।
३. वही- अध्याय ६ तथा काव्यदर्पण पृ० २१०-११।
४ काव्यदर्पण पृ० ६२

त्य में उज्ज्वल रस या भक्ति रस का नाम प्राप्त हुआ।[1] अलौकिक आलंबन प्राप्त कर के रति अलौकिक एवं अत्युज्ज्वल बन जाती है। राधा-कृष्ण, सीता-राम, पार्वती-शिव जब तक लौकिक पात्रों के रूप में देखे जाते हैं तब तक उनके भाव और कार्य सामान्य मानव के भाव और कार्य ही प्रतीत होते हैं और उनके प्रति भय, विस्मय और श्रद्धा-मिश्रित प्रीति का अनुभव नहीं होता। भक्ति से सम्बन्धित रति में इन तीनों का अर्थात् भय, विस्मय और श्रद्धा का सम्मिश्रण रहता है। इसीलिये भक्ति विषयक श्रृंगार सामान्य श्रृंगार से अधिक व्यापक रस हो जाता है। उसमें प्राय: सभी रस समाविष्ट हो जाते हैं।[2] श्रृंगार तो उसके मूल में ही है। भक्त भी सयोग और वियोग का अनुभव करता है। करुणा भगवान का विशिष्ट गुण है। आलम्बन की अलौकिकता के कारण अदभुत रस, सर्वशक्तिमत्ता के कारण वीर, रौद्र और भयानक रस निर्गुणता और निर्लिप्तता के कारण शान्त रस, लोक-पालन और संसार की शिशुवत रक्षा के कारण वात्सल्य रस आदि भी इसके आश्रित हो जाते हैं। आचार्यों ने भक्ति रस के पांच विभाग किये हैं—शान्त, दास्य, मधुर, वत्सल और सख्य, जो उसकी व्यापकता के निर्देशक हैं।[3] यही कारण है कि मानस में सभी रसों की स्थिति भक्ति रस के आश्रित दिखलाई पड़ती है, जिस कारण कुछ विद्वान उस कृति में कोई रस ही न मानकर रसाभास पात्र मानते हैं।[4]

साहित्यशास्त्रीय ढंग पर भक्ति को रस माना जा सकता है या नहीं, अब इस पर विचार करना है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस के जो पांच विभाग किये हैं उनमे से तीन तो शास्त्रानुमोदित स्वतन्त्र रस हैं ही। 'शान्त' रस इनमें कथित है, 'मधुर' दाम्पत्य श्रृंगार का पर्याय है जिसमें स्वकीया-परकीया और संयोग-वियोग दोनों पक्ष सम्मिलित हैं तथा 'वात्सल्य' रस भी स्पष्ट ही है। सख्य और दास्य दोनों दाम्पत्य से भिन्न प्रकार की रति के ही स्वरूप हैं। आशय यह है कि भक्ति रस का विधान और नामकरण करते समय वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में साहित्यशास्त्रीय रस अवश्य था।[5] इसी बात को लक्ष्य करते हुए पं० रामदहिन मिश्र लिखते है—"रामायण और भागवत की कथाओं ने भक्ति रस से भारत को प्लावित कर दिया है। श्री मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी ने इसको साहित्यशास्त्र का रूप दिया" (काव्यदर्पण, पृ० २८३)।

विंचेस्टर ने ऐसे पाँच तत्व माने जाते हैं जो किसी भाव को तीव्रता प्रदान

१. दि नम्बर आव रसाज, पृ० १३०।
२. कान्तादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम। रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखस्पर्शित्वकारणात् ।। परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः। खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ।। भगवद्भक्ति रसायन, मधुसूदन सरस्वती, २.७७.७८।
३. दि नम्बर आव रसाज पृ० १३०।
४. मानसदर्शन, श्रीकृष्ण लाल, पृ० १६६।
५. आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' में भक्ति को शास्त्रीय स्तर पर स्वतंत्र रस मानते हुए उसका सांगोपांग विवेचन किया है, दे० पृ० ४

करके उसे रस-अवस्था तक पहुँचा देते हैं।[1] ये पाँचों तत्व मानस में प्रकाशित भक्ति भाव में पूर्ण रूप से दिखलाई पड़ते हैं। पहला तत्व है उस मनोवेग या भावना की योग्यता और न्याय्यता वा औचित्य (प्रोपरायटी)। मानस में भक्ति का जो व्यापक और लोकसग्रही रूप प्रदर्शित किया गया है उससे उसकी 'प्रोपरायटी' के विषय मे सदेह ही क्या हो सकता है। दूसरा तत्व है उस भावना की तीव्रता (पावर)। तुलसी की भक्ति में जो आवेग-आवेश (पैशन) और ओजस्विता है वह मानस की लोकप्रियता से प्रकट ही है। मानस की भक्ति में रुलाने और हंसाने दोनों की क्षमता है। तीसरा तत्व है स्थिरता या चिरकालिता (स्टयडीन्यस)। मानस में आद्यन्त भक्ति के निर्वाह से उसकी स्थिरता भी प्रकट है। चौथा है भावना की विविधता (वैरायटी) और व्यापकता (रेंज)। मानस में जिस प्रकार सभी रस भक्ति के आंचल में क्रीडा करते है उससे भक्ति भाव की विविधता और व्यापकता भी स्पष्ट है। पंचम और अन्तिम तत्व है भावना की श्रेष्ठता (क्वालिटी)। यह भी मानस के भक्ति भाव की दार्शनिक गरिमा और उसकी लोकोपकारिता से प्रकट है। इस प्रकार मानस के भक्ति भाव मे रसावस्था तक पहुँचने की पूरी योग्यता है। वह रसों का रस है, रसराज है।

भक्ति रस का स्थायी भाव क्या है, इस विषय में मतभेद है। इसे श्रृंगार रस का ही उदात्त या उज्ज्वल रूप मानने पर इसका स्थायी भाव 'भगवद्रति' ठहरता है, परन्तु मधुसूदन सरस्वती ने 'चित्त' अर्थात भगवदाकारता को इसका स्थायी भाव माना है।[2] वस्तुतः भगवद-रति और भगवदाकारता में कोई भेद नही है।[3] बहुत समय तक भक्ति-रस को शांत रस के आधीन माना गया और इस लिये उसका स्थायी भाव भी निर्वेद माना गया, परन्तु शांत रस के प्रकरण में दिखलाया जा चुका है कि तुलसी की भक्ति राम के प्रति अनुरागमूलक है। अतः उसका स्थायीभाव निर्वेद नही हो सकता। पं० रामचन्द्र शुक्ल भक्ति का स्थायीभाव दैन्य मानते हुए प्रतीत होते हैं।[4] यहां उसी पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। भक्ति के स्थायी भाव को समझ लेने पर ही वा० रामायण और मानस में भक्ति रस की स्थिति पर तुलनात्मक विचार किया जा सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचारानुसार भक्ति-विषयक दैन्य या दीनता उस साधारण दीनता से भिन्न है जिसका आशय मानसिक दुर्बलता, स्वार्थ के लिये याचना, चाटुकारी आदि से लिया जाता है।[5] भक्ति से सम्बन्धित दीनता किसी लौकिक व्यक्ति के आगे स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रदर्शित नही की जाती। वह दीनता एक परोक्ष सत्ता के आगे, जिसमें भक्त संसार से कही अधिक महानता, सुन्दरता, क्षमा, करुणा, स्नेह आदि का अनुभव या कल्पना करता

१. काव्यदर्पण, पृ० १३६।
२. 'मधुसूदन होल्डस दि चित्त······भगवदाकारता ऐज दि स्थायिन्'—दि नम्बर आव रसाज, पृ० १३५।
३ वही। तुलसी की उक्ति "जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई" (२ १२७) का भी यही आशय है
४ विनयपत्रिका वियोगी हरिकृत टीका की भूमिका
५ वही पृ० ४

हैं, प्रकट की जाती है और उसका लक्ष्य सूक्ष्म आवश्यकताओं की, मनोमय कोष से आगे की, आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। विचारणीय यह है कि क्या दीनता कोई स्थायी भाव है अर्थात् क्या यह संसार के सभी प्राणियों में, सभी दशाओं में, व्यापक रूप में रहती है ? वस्तुतः इसी के आधार पर भगवान की कल्पना की गई है। मनुष्य को दृश्य जगत से संतोष नहीं होता और वह उसे पूरा देख भी नहीं पाता। अत उसका यह कल्पना करना स्वाभाविक है कि जो कुछ उसने देखा है उससे भी अधिक सुन्दर, उदार और बलवान अवश्य होना चाहिये। इस कल्पित सत्ता के आगे वह मस्तक नवाता है और उसे सबसे अधिक प्यार भी करता है क्योंकि इसे वह सबसे अधिक सुन्दर और सुशील मानता है। इस कल्पना से उसे आनन्द और आश्वासन मिलता है और उसकी वृत्तियों का नियंत्रण होता है, उसके अहंकार का दमन होता है। संसार के सबसे अधिक सुन्दर, उदार और बलवान व्यक्ति का सर्वसम्मत चुनाव असम्भव है और हो जाने पर भी मनमें से इस भावना का निकल पाना असम्भव है कि इससे बढ़कर भी दूसरा कोई हो सकता है। दृश्य के असन्तोष को अदृश्य मे, वर्तमान के असन्तोष को अतीत और भविष्य में तथा सत्य के असन्तोष को स्वप्न मे पूरा करके मनुष्य एक अतीव सन्तोष का अनुभव करता है। यही मनुष्य की दीनता है। वह अपनी जाति में अपनी पूर्णता नही देखता, इसीलिए अपने से अधिक की कल्पना करके उसके आगे अपने अहंकार का विसर्जन करता है। सूर और तुलसी के विनय के पदों में यही भावना है। भक्त उस परम महत्व के समक्ष अपने को पहुँचा हुआ मानकर अपनी चरम निकृष्टता और दीनता का अनुभव करने लगता है। भक्त मे यह भाव स्थायी हो जाता है, सतत अभ्यास और आचरण से विनय उसके स्वभाव का अंग बन जाती है। परन्तु इसके साथ ही उसमें एक निर्भीकता आ जाती है क्योकि उस परम महत्व की कल्पना के बाद वह दृश्य जगत के किसी प्राणी से भयभीत होना छोड देता है। जहाँ भक्त में यह दैन्य सतत् स्वभाव का अंग बन जाता है वहाँ अन्य प्राणियों में भी यह न्यूनाधिक, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में सदैव रहता है। ससार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा जो अपनी सुन्दरता, सुशीलता या शक्तिमत्ता से पूर्णतया सन्तुष्ट हो। वह उसका और भी अधिक विकास करना चाहता है और कभी पूर्णता का अनुभव नहीं कर पाता। यही उसका दैन्य है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कितना महान और शक्तिशाली क्यों न हो, अपने एकान्त में या समाज में यह स्वीकार करता है कि वह अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर नहीं पहुँच सका है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति अपने एकान्त में या समाज में अपनी पूर्णता से हताश होकर प्रायः सिसक उठता है और किसी महत्तम सत्ता के आगे आत्म समर्पण करके शान्ति का अनुभव करता है। अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने के अहंकार के कारण एक प्रकार की बेचैनी सी होने लगती है जिससे घबराकर मनुष्य किसी अन्य सर्वश्रेष्ठ की कल्पना करने को विवश हो जाता है भक्ति विषयक दैन्य या दीनता की मनोवैज्ञानिक यही है इससे प्रकट है कि वह एक स्थायी भाव माना जा सकता

है। भक्त कवियों की रचना के अनुशीलन के परिणाम स्वरूप उसे स्थायी भाव माना जाना चाहिए। यदि निर्वेद या शम स्थायी भाव माना जा सकता है तो दैन्य या दीनता भी। तुलसी की विनयपत्रिका के प्रचार और लोकप्रियता का रहस्य यही है कि मानव समाज उसमें अपनी एक स्थायी भावना का प्रतिबिम्ब देखता है। किसी भी भाव में मनुष्य निरन्तर नही डूबा रहता। ये स्थायी भाव प्रसुप्तावस्था में रहते है और अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त करके प्रबुद्ध और उद्दीप्त होते हैं। दीनता भी ऐसा ही एक भाव है जो व्यक्ति के अहकार को चोट लगने पर, अपने से श्रेष्ठ का दर्शन करने पर, अपनी निराशाओं और विफलताओं में उद्बुद्ध और उद्दीप्त हुआ करता है। भक्त कवियों ने इसके द्वारा समाज का कल्याण किया अथवा अकल्याण यह पृथक प्रश्न है, पर इस दीनता के भाव का प्रशिक्षण और अभ्यास उन्होने अवश्य कराया है और भक्ति-साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा इस भाव के स्वरूप-विवेचन के बिना पूरी नही होती।

यह दीनता का भाव अकस्मात् भक्ति-कविता में प्रकट नही हो गया था। इसकी परम्परा भी उतनी ही पुरानी है जितनी साहित्य मे निरूपित अन्य भावों की। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के वरुण सूक्तों मे क्षमायाचना और रक्षा की प्रार्थना के रूप मे,[1] उपनिषदों में समर्पण भावना अर्थात् किसी में लीन होकर आत्मसत्ता के विसर्जन की भावना के रूप में, और पुराणो में अवतार से भीत, विस्मित और अनुरक्त होकर उसके सतत् ध्यान के रूप में, इसी दीनता का क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। भक्तकवियों ने इसे एक साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है। गीता के "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज" का व्यावहारिक रूप वा० रामायण के विभीषण-चरित्र में दिखलाई पड़ता है, जब कि वह रावण राज का अनुज, स्वर्णपुरी का निवासी, अपनी सारी शक्ति और अपने देश तथा परिवार के प्रति अपने प्रत्यक्ष कर्त्तव्यों को तिलांजलि देकर पूर्ण दैन्य के साथ राम की शरण मे आ गिरता है और तब दीनता को अपने वक्ष मे समेटने वाली महती शक्ति उद्घोष कर उठती है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥ (रा० ६.१८.३३)

इस दीनता के अन्य विशिष्ट या धर्मशास्त्रीय नाम 'प्रपत्ति' 'शरणागति' आदि है। इसी आधार पर वैष्णव धर्म को प्रपत्तिशास्त्र कहा गया है और उससे सम्बन्धित साहित्य को भक्ति-साहित्य। कुछ विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में वा० रामायण में भी भक्ति रस माना है और आदर्श भक्तों के रूप में विभीषण, शबरी तथा हनुमान के उदाहरण दिये हैं।[2] प्रामाणिक-अप्रामाणिक अंशों के विवाद के कारण उसमें अवतार-

---

1. Varuna is gracious to the penitet. × × ×. He spares the suppliant. × × ×. There is in fact nohymn to Varuna in which the prayer for forgiveness of guilt does not occur"—वैदिक मायथोलाजी ए० ए० मैक्डानल स्ट्रासवर्ग १८९७ प० २६ २७

२ स्वधीना न पृ० १२५

वाद माना जाये या न माना जाये परन्तु भक्ति उसमें है। वा० रामायण की मूल चेतना समझने में प्रामाणिक-अप्रामाणिक उलझनों के होते हुये भी कोई भ्रांति नहीं हो सकती।

किसी महानतम की खोज का प्रश्न ,उस महानतम का स्वरूप-विवेचन और निर्धारण, तथा उसका स्तुतिगान अपनी उस दीनता का ही प्रकाशन है जिसे प्रकट कर देने मे अथवा स्वीकार कर लेने मे ही महान आनन्द की अनुभूति होती है। तुलसी के समय तक, और विशेष कर तुलसी के साहित्य में, यह दीनता का भाव, अनेक संचारी भावों जैसे आत्मग्लानि, वितर्क, विचारणा, शंका, विवोध आदि और अनेक अनुभावो जैसे प्रार्थना, याचना, पुकार, गिड़गिड़ाना आदि से पुष्ट और सुव्यंजित होकर व्यापक रूप में प्रकट हुआ है। रामायण और मानस दोनों में भक्ति रस है। अन्तर यही है कि जिस प्रकार रामायण में अन्य अनेक रस अपुष्ट या अल्प परिणाम में ही प्रकाशित हुए हैं उसी प्रकार यह रस भी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हुआ है। जबकि मानस मे वह पूर्णतया अभिव्यक्त हुआ है। दैन्य के आलम्बन अर्थात् महिमावान शक्तिशाली पात्र और दीनता के आश्रय अर्थात् त्रस्त प्राणी दोनों ही काव्यों में है, अतः भक्तिरस भी दोनों में है।

उपरोक्त विवेचन में हमने भक्ति के स्थायी भाव के रूप में 'रति' और 'दैन्य' की परीक्षा की। 'रति' के साथ 'भगवद्‌विषयक' जोड़ देने पर उसे भी भक्ति का स्थायीभाव माना जा सकता है और 'दैन्य' शब्द का कुछ भिन्न और व्यापक अर्थ लेने पर वह भी भक्ति का स्थायी भाव निश्चित किया जा सकता है। सूक्ष्मतापूर्वक देखने पर 'रति' मे 'दैन्य' की भावना रहती है क्योंकि 'रति' भाव रखने वाला रति के पात्र के प्रति अत्यधिक विनम्र और आधीन रहता है। वह अपनी पूर्णता और तृप्ति के लिये उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करता है। प्रेम में पूर्ण समर्पण की भावना होती है और यह समर्पण वात्सल्य, सख्य, दाम्पत्य और दास्य सभी सम्बन्धों मे हो सकता है। सेवक का स्वामी के प्रति आत्म समर्पण भी स्त्री के प्रति पुरुष के आत्मसमर्पण से कम मधुर नहीं होता। इसी बात को ध्यान में रखकर तुलसीदास ने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥ (मा० ७. १३०-ख)

कबीरदास ने भी दास्य और दैन्य मे इसी मधुरता का अनुभव किया था—

कबिरा कूता राम का मुतिया मेरो नांव।
गले राम कै जेबड़ी जित खैंचो तित जांव॥

तुलसीदास ने दास्य भाव की भक्ति के स्थायी भाव के रूप मे 'दैन्य' का जैसा विशद विस्तार किया है उससे इस भाव की भी योग्यता (प्रोपरायटी), तीव्रता (पावर), स्थिरता (स्ट्यडीन्यस), विविधता (वैरायटी) और उदात्तता (क्वालिटी) प्रकट होती है। अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निरूपित 'दैन्य' या 'महत्वस्वीकृति' को भी भक्ति का स्थायी भाव माना जा सकता है आचार्य शुक्ल जी ने यह भी कहा है कि महत्व

को स्वीकार करने का अर्थ है उसमें लीन होना अथवा उसे प्राप्त करना। इस प्रकार यह दैन्य या महत्व स्वीकृति का भाव पूर्वकथित मधुसूदन सरस्वती के 'भगवदाकारता' के भाव के समकक्ष ही ठहरता है।

वा० रामायण और रामचरितमानस दोनों में ही उक्त दोनों भाव व्यापक रूप में दिखलाई पड़ते हैं, निस्सन्देह मानस में वे अधिक व्यापक हैं। वा० रामायण के राम भी सर्वप्रिय हैं, परन्तु मानस के राम तो शत्रुओं के भी प्रिय हैं। शरणागति के रूप में दैन्य भाव भी दोनों में है, दोनों के हनुमान सेवक-भाव के आदर्श हैं, परन्तु मानस में यह आदर्श अधिक व्यापक है। इसीलिये भक्ति भाव मानस में रस के स्तर तक पहुँचा हुआ दिखलाई पड़ता है। मानस में भक्ति रस की स्थिति किस प्रकार रामायण से भिन्न है इस पर आगे के प्रकरण में, दोनों काव्यों के प्रधान रस का विवेचन करते हुए, विचार किया जायेगा।

वाल्मीकि रामायण और मानस का प्रधान रस

प्रत्येक महाकाव्य और नाटक में एक ही रस प्रधान होता है और अन्य रस उसके अंगभूत होते है। एक प्रकार से वह प्रधान रस स्थायी होता है और शेष सचारी[1]। रसोत्पत्ति में स्थायी-संचारी के सम्बन्ध के समान ही प्रबन्धकाव्यों में मुख्य और अमुख्य रसों का सम्बन्ध होता है। इससे पूर्व वा० रामायण और मानस के रसो का विवेचन करते हुए हम प्राय: यह स्पष्ट करते आये हैं कि किस प्रकार वा० रामायण में शृंगार, करुण, अद्भुत, वीभत्स आदि वीर रस के आधीन प्रतीत होते हैं और मानस में सभी रम भक्ति रस के आधीन। हमें उस विचार की आवृत्ति करते हुए तथा अन्य दृष्टियो से भी दोनों काव्यों के मुख्य रस का निर्णय करना है।

वा० रामायण में प्रधान रस कौनसा है, इस विषय में कुछ मतभेद है। उत्तरकाण्ड की घटनाओं में उसका अंत मानने पर करुण रस की प्रधानता प्रकट होती है, परन्तु उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त है। इसलिये वा० रामायण का अन्त शोक पूर्ण नहीं माना जा सकता। क्रौंचबध का प्रसग भी संदिग्ध ही है और केवल उसके आधार पर करुण रस की प्रधानता नहीं मानी जा सकती। अतः ध्वन्यालोककार के इस विचार के अनुसार कि "रामायणे हि करुणा रस:स्वयमादिकविना सूत्रित:' करुण को रामायण का प्रधान रम नहीं माना जा सकता। रवि बाबू ने वा० रामायण मे शान्त रस को प्रधान माना है[2] परन्तु वहाँ उनका आशय शास्त्रीय दृष्टि से निरूपित

---

१. प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एकोरसोऽङ्गीकर्तव्यः तेषामुत्कर्षमिच्छता॥
बहूनां समवेनाना रूपं यस्य भवेद्बहु:।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥—ध्वन्यालोक

२. "रामायण मे बाहुबल को नही, जिगीषा को नही, राष्ट्रगौरव को नही, केवल शान्त रसास्पद गृहस्थ धर्म को ही, करुणा के अश्रुजल से अभिषिक्त कर, महान शौर्य वीर्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद) पृ ७

शान्त रस से नही वरन् सम्पूर्ण ग्रंथ के पारायण से जो जीवनोपयोगी नैतिक शान्ति प्राप्त होती है उससे है। वास्तव में वा० रामायण का मुख्य रस वीर ही है जिसका आधार राम का चरित्र और रावण-वध की घटना है। बालकाण्ड मे कहा गया है कि प्रारंभ में कवि ने इस काव्य का नाम 'पौलस्त्यवध' रक्खा था,[1] इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। अयोध्याकाण्ड की घटनाओं में भी राम की वीरता (धर्म वीरता) कर्त्तव्य पालन के रूप में प्रकट होती है। कुल मिलाकर कथा के पात्र भी वीरत्व प्रधान चरित्र वाले है। अन्य रस भी वा० रामायण में उत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं, विशेषत: करुण और शृंगार, परन्तु व्यापकता और प्रभाव की दृष्टि से प्रधानता वीर रस की ही सिद्ध होती है। शृंगार रस के विवेचन में हम देख चुके है कि राम का विरह अपनी तीव्रता में कालाग्नि सदृश क्रोध में परिणत हो जाता है और उनके हृदय में युद्ध का उत्साह लहरें मारने लगता है। करुण रस तो बहुत कुछ विप्रलम्भ शृंगार के साथ मिला हुआ रहता ही है। शरणागत विभीषण की रक्षा मे राम की करुणा और वीरता दोनों है। इसी प्रकार अन्य रस भी वा० रामायण मे वीर रस के आधीन हैं। भारतीय महाकाव्य का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानो ने युग और वातावरण के आधार पर रामायण और महाभारत को वीर युग का प्रतिनिधि महाकाव्य माना है।[2] रामायण में ऐतिहासिक तत्व की प्रचुरता भी यही प्रकट करती है कि उसमें वीर रस की प्रधानता है क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से वह इक्ष्वाकुवंश की विजयपताका, अथवा आर्यजाति की यशोगाथा, अथवा देश के एक भाग की संस्कृति का दूसरे भाग की संस्कृति पर अभियान माना गया है।[3] किष्किन्धा-काण्ड में राम बालि की भर्त्सना करते हुए स्वयं को इक्ष्वाकुवंश के प्रतिनिधि के नाते समस्त भूमण्डल का नैतिक प्रहरी बतलाते है।[4] इससे भी राम की और उस युग की वीरत्व की भावना प्रकट होती है। राक्षसों के साथ इक्ष्वाकुवंश का युद्ध कई पीढी पूर्व से चला आ रहा था जिसका उल्लेख भी वा० रामायण में किया गया है[5]। इस युद्ध के अन्तिम विजेता रामायण के नायक राम ही हैं। इन आधारों पर वाल्मीकि रामायण में वीर रस यी प्रधानता प्रकट होती है। अनेक विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण में वीर रस की प्रधानता मानी है जैसा कि हम इससे पहले बतला चुके है।[6] इतना ही नही, रामायण द्वारा प्रवर्तित राम कथा की परम्परा में ही कथा का प्रधान रस 'वीर' प्रतिष्ठित हो चुका था। मानस में भी यदि आधिकारिक कथा की दृष्टि से देखा जाये तो वीर रस ही प्रधान है, परन्तु कवि ने अपने उद्देश्य के आधार पर उसमे वीर रस को कुछ गौण सा बना दिया है।[7] इसीलिये वा० रामायण और मानस मे

---

१. पौलस्त्यबधमित्येव चकार चरितव्रत:—१. ४. ७।

२. महाकाव्य० पृष्ठ १५४। ३. दे० इसी अध्याय में वीररस का विवेचन, पृष्ठ ३८०-३८१।

४ रा० ४ १८ ६—६।

५ रा० ७ ६ ६ दे० इसी अध्याय में वीररस का विवेचन पृ० ३८१

७ महाकाव्य० पृ० ५५४

प्रधान रस की स्थिति भिन्न है। वा० रामायण में तो वीर रस स्पष्ट रूप से प्रधान रस है परन्तु मानस में प्रधान रस का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। उस पर अब विचार करना है।

मानस के विषय में प्रधान रस का प्रश्न विवादग्रस्त है। "कुछ लोग उसे वीर-रस प्रधान, कुछ शान्तरस प्रधान और अधिकतर विद्वान भक्ति रस प्रधान काव्य मानते है ?"[1] इस विषय मे विशेष अध्ययन करने वालों ने पर्याप्त विवेचन करके निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।[2] वीर रस के पक्ष में निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये गये हैं—

१—आधिकारिक कथा की दृष्टि से उसमें वीररस की प्रधानता है क्योकि उसके नायक को प्रतिनायक के बध के बाद महान राज्य का फल प्राप्त होता है और इस फल की प्राप्ति के लिये वह असीम साहस, धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता, त्याग और वीरता का प्रदर्शन करता है।

२—यदि प्रथम और सप्तम सोपान की अवान्तर कथाओं तथा पूरे काव्य मे बिखरे हुए स्तोत्रों, उपदेशों और तत्व-विवेचनों को हटाकर देखा जाय तो 'मानस' पूर्णतया वीर रस का महाकाव्य प्रतीत होता है और राम युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और कर्मवीर इन चारों रूपों में दिखाई पड़ते हैं।

परन्तु इस विद्वान द्वारा अन्त में वीर रस को प्रधान नहीं माना गया है, साथ ही शान्त रस की प्रधानता का भी खण्डन किया गया है।

शान्त रस की प्रधानता के विचार का खण्डन करते हुए उक्त लेखक का कथन है—

'समग्र प्रभाव की दृष्टि से मानस का प्रधान रस वीर तो नहीं ही है, शान्त भी नहीं है। शान्त रस में स्थायी भाव शम या निर्वेद होता है और उसका फल मुक्ति की प्राप्ति होती है। रति या आकर्षण चाहे वह अलौकिक ही क्यों न हो, शान्ति रस के स्थायी भाव निर्वेद का विरोधी है। वस्तुतः शान्त रस अद्वैत वादी दर्शन या अन्य निर्वेदमूलक दर्शनों की वस्तु है। भक्तिमार्ग में, चाहे वह वात्सल्य, सख्य, माधुर्य या दास्य किसी भाव की उपासना का मार्ग हो, ब्रह्म के प्रति आकर्षण या रति का होना अनिवार्य है'''अतः मानस में जो प्रधान रस है वह अलौकिक शृंगार रस ही है।"[3]

लेखक का आशय यह है कि मानसकार की भावना वैराग्यमूलक नहीं वरन् राम के प्रति अनुराग मूलक है। अतः उसमें निर्वेद प्रधान शान्त रस नही माना जा सकता।

भक्ति रस के पक्ष में इसी विद्वान का विचार है—"रामचरितमानस की आधिकारिक कथा में वीररस अंगी रस है पर ग्रंथ का पर्यवसान वीररस में नहीं बल्कि भक्ति रस मे हुआ है। प्रथम सोपान के पूर्वार्ध में भी भक्ति रस ही प्रधान है और

१ महाकाव्य० पृ० ५५६
२ वही पृ० ५५४—५८
३ वही, पृ० ५५६

आधिकारिक कथा के मध्य में भी भक्ति रस का स्थान वीररस के बाद ही है। अत. समग्ररूप में भक्ति रस की प्रधानता है।"[1]

इससे पूर्व, इसी अध्याय में, यह दिखलाया जा चुका है कि मानस में सभी रसों का प्रयोग हुआ है। स्वयं कवि ने प्रस्तावना के मानस-रूपक में कहा है 'नवरस जलचर जीव तड़ागा', परन्तु ये सभी रस अंग-रूप में ही हैं। वे सब अपने उत्कर्ष पर पहुँचते ही संचारी बनकर भक्ति रस में विलीन हो जाते हैं। अंगीरूप में अर्थात् सब रसों के शासक के रूप में और समग्र प्रभाव एवं कवि के उद्देश्य की सिद्धि के विचार से उसमें भक्ति रस ही प्रधान है।

भक्ति रस को साहित्यिक दृष्टि से भी,—केवल साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से ही नहीं,—रस माना जा सकता है, यह इससे पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। इस देश की भूमि के लिये यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि यहाँ भक्ति को व्यापक रस के रूप में स्वीकार किया जाता।[2] डा० श्याम सुन्दर दास ने भी 'भारतीय साहित्य की विशेषतायें' शीर्षक निबंध में 'धार्मिक भावों की प्रचुरता' को इसकी विशेषता बतलाते हुए एक प्रकार से इसी बात को स्वीकार किया है।

साहित्य शास्त्र की दृष्टि से मानस की यह अपूर्णता कही जा सकती है कि उसमें आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य के नियमानुनार शृंगार, वीर या शान्त रस को प्रधान नहीं रक्खा गया है। इसके विषय में हम प्रारंभ से ही देखते आए है कि तुलसी की प्रतिभा एक सीमा तक शास्त्रों का अनुगमन करती हुई भी स्वतंत्र रही है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वे केवल महान कवि, भक्त और सन्त के रूप में ही सम्मानित नही है वरन् एक काव्याचार्य के रूप में भी उनकी प्रतिष्ठा है। मानस अकेला ही साहित्यशास्त्र का एक व्यावहारिक कोष है जिसमें अनेकानेक काव्य और कला विषयक मान्यताओं का अभ्यास और सिद्धि की गई है और उसमें सभी काव्यतत्व प्राप्त होते है जिनकी परिगणना स्वयं कवि ने ग्रंथ की प्रस्तावना में की है। जिस प्रकार तुलसीदास ने भाषा, छन्द, अलंकार और प्रकृति-चित्रण में अपनी स्वतंत्र प्रकृति और सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है, उसी प्रकार रस के क्षेत्र में भी। अवधी का प्रयोग अनेक कवियों ने किया है परन्तु तुलसी के नाम के साथ उसका सम्बन्ध विशेष रूप से जुड़ गया है। तुलसी की अवधी उनकी निजी है। इसी प्रकार उनका रूपक एक निजी अलंकार है। प्रकृति चित्रण की भी उनकी अपनी विशिष्ट शैली है। मानस का रस भी निजी रस है। हिन्दी में भक्ति रस की उद्भावना, प्रयोग और सिद्धि का श्रेय तुलसीदास को ही मिला है। उनके प्रमुख समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विनय पत्रिका की प्रस्तावना में स्पष्ट ही लिखा है "भक्ति रस का परिपाक जैसा इस ग्रथ मे दिखलाई पड़ता है अन्यत्र नहीं मिलता।"[3] विनय पत्रिका में इस

---

१. महाकाव्य० पृ० ५५७।

२. "It is natural that in this land this sentiment of devotion shou d have been accepted as a Rasa डि नम्बर भाव रसाभ पृ० १२१

३ दे० वियोगी हरि कृत टीका की

भक्ति रस के आश्रय स्वयं तुलसीदास और आलंबन राम हैं। मानस में सभी पात्र इसके आश्रय हैं और राम आलंबन हैं। सभी पात्र किसी न किसी रूप में राम के भक्त हैं, यह बात मानस के पात्रों के विषय में पहले दिखलाई जा चुकी है। इसके अतिरिक्त हम इससे पूर्व यह भी दिखला चुके है कि मानसकार पहले प्रत्येक शास्त्रीय रस को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं और फिर उस चरम बिन्दु (क्लाइमेक्स) पर पहुँचे हुए रस को भक्ति रस में निमज्जित कर देते है। लौकिक कौर अलौकिक के सम्मिलन की यह अद्भुत कला रसविधान के क्षेत्र में भी तुलसी की अद्भुत समन्वय-सिद्धि की घोषणा करती है।

तुलसीदास ने अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप एवं अपने देश की नवीन सास्कृतिक आध्यत्मिक सम्पत्ति का उपयोग करते हुए तथा अपने महाकाव्य को पूर्वागत परम्परा से कुछ हटाते हुए नवीन साँचे में ढ़ालने का प्रयत्न किया है। इसीलिये उन्होने किसी शास्त्र कथित रस को प्रधान न मानकर भक्ति रस को प्रधानता दी है। साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से कुछ विद्वानों ने मानस में कोई रस माना ही नही है। एक विद्वान का विचार है कि "मानसकार की कवित्वशक्ति के सम्बन्ध में संशय के लिये कहीं भी स्थान नही है परन्तु रामचरितमानस में उन्होंने काव्य का विषय ही कुछ ऐसा चुना, उनका उद्देश्य ही कुछ ऐसा था कि वे शुद्ध काव्यरस और अलंकारों के निरूपण मे प्रवृत्त न हो सकते थे। अस्तु, प्रतिपाद्य विषय और उद्देश्य के अनुरूप ही मानस में रस की निष्पत्ति नहीं हो सकी है, वरन् रस के स्थान पर रसाभास ही मिलते हैं"[1]।

यदि यह अभाव है तो यह अभाव मानस का ही नही भक्ति काल के सारे साहित्य का है। शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों ने इस देश में एक महान विचारात्मक क्रान्ति का सूत्रपात किया जिसका प्रभाव यहाँ के साहित्य और संस्कृति पर गहराई के साथ पडा। वही विचारात्मक क्रान्ति शकराचार्य के परवर्ती रामानुज, रामानन्द, बल्लभाचार्य आदि आचार्यों द्वारा अग्रसर हुई जिन्होंने बुद्धि और हृदय का समन्वय करते हुए सामान्य जनता में भी उस क्रान्ति को प्रसारित करने के लिये अद्वैतवाद की भावपरक या रागात्मक व्याख्या की और भक्तिवाद को जन्मदिया। यह भक्तिवाद मध्यकालीन धर्मसाधना और काव्यसाधना की पृष्ठभूमि है। कबीर, दादू रैदास, चण्डीदास, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, मीरा, रसखान—सभी की काव्यवाणी साहित्यशास्त्रीय तत्वों से सहज रूप में सम्पन्न होती हुई भी उसी विशाल भक्ति की धारा से आप्लावित है। उस युग में समस्त भारतीय चिन्तन और कला इसी भक्तिभावना के आश्रित हो गई थी। अतः या तो हम यह कहें कि उस समय वास्तविक साहित्य की रचना ही रुक गई थी और केवल धार्मिक वाङमय का प्रणयन हो रहा था अथवा यह कहें कि उस समय हमारे देश की धार्मिक चेतना ने हमारे साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया और उस साहित्य का मूल्यांकन केवल लौकिक आधारों पर नहीं किया जा सकता। भक्तिकाल को हिन्दी काव्य का स्वर्णयुग कहा जाता है जिसका आशय यही है कि उसी

१ मानस दर्शन श्रीकृष्ण लाल, पृ० १६८

युग के काव्य में हम हिन्दी की मूल चेतना और हिन्दी के कवि की वाणी का सर्वोत्कृष्ट रूप प्राप्त कर सकते हैं। यदि तुलसीदास सच्चे कवि नहीं हैं, यदि मानस मे रसनिष्पत्ति नहीं हुई है, तब तो हिन्दी को काव्य-शून्य ही मानना चाहिये।

भक्ति रस की परम्परा वास्तव में अस्फुट रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। यदि ऐसा न होता तो वह मानस में इतने व्यापक और पुष्ट रूप में न दिखलाई पड़ती। वा० रामायण के विद्वानों ने भी न केवल उसमें भक्ति रस का उद्भावन देखा है वरन् उसमे भक्ति रस की प्रधानता भी मानी है। एक विद्वान ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—" we are in the Ramayana in a region where the karun Rasa reigns supreme and is finally transcended and etherialized into Shanta rasa and Bhakti Rasa"[1] इस लेखक के अनुसार रामायण में भी समस्त रस भक्ति रस के आश्रित हैं। सामान्यतया वा० रामायण मे भक्ति भावना का अभाव माना जाता है और साहित्यिक दृष्टि से उसका जैसा प्रसार और परिपाक मानस में हुआ है वैसा रामायण में है भी नहीं, परन्तु यह बात अवश्य विचारणीय है कि भारतीय साहित्य की परम्परा रामायण से आरम्भ हुई और परवर्ती साहित्य में जिन भावनाओं का विकास या पूर्ण उत्कर्ष हुआ उनका आदि रूप उसमें अवश्य देखा जा सकता है। वा० रामायण में भक्ति रस का प्राधान्य नही है, भक्ति रस का शास्त्रीय स्तर पर विवेचन उसमें नहीं किया जा सकता परन्तु यह निश्चित है कि वह ग्रन्थ भक्ति भावना से रहित नहीं है। यह भक्ति भावना तब वीर पूजा के रूप मे थी जो बाद में भगवद्पूजा के रूप में परिणत हो गई। वा० रामायण और रामचरितमानस दोनो में वीर रस और भक्ति रस है परन्तु वीर रस की जैसी स्थिति वाल्मीकि रामायण में है वैसी रामचरित मानस में नहीं है और भक्ति रस की जैसी स्थिति मानस में है वैसी रामायण में नहीं है। वा० रामायण में वीर रस ही प्रधान है, उसके नायक राम का चरित्र महान वीर का ही चरित्र है पर मानस के राम की विनम्रता, भक्तवत्सलता और मर्यादा ने उनकी वीरता को दूसरा ही रंग दे दिया है जिसके कारण उन्हे लोकरक्षक भगवान के रूप में ही देखा जा सकता है। दोनों कवियो के राम के चरित्र निरूपण में भी यह बात कही जा चुकी है कि वा० रामायण मे शक्ति गुण का प्राधान्य है और मानस में शील गुण का। शील का सम्बन्ध धर्म-वीरता से होता है। इसलिये वाल्मीकि रामायण का प्रभाव वीरनायक और वीररस का पड़ता है तथा मानस का भगवान और भक्ति रस का। एक ही कथा और नायक दो भिन्न युगों के दो महाकवियों की वाणी में किस प्रकार भिन्न प्रभाव डालने वाले

---

१. स्टडीज इन रामायण, पृ० १२५। रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचारानुसार वाल्मीकि रामायण मे शान्त रस की प्रधानता भी वस्तुत. भक्ति रस की ही प्रधानता की घोषणा है क्योंकि प्राय. इन दोनों रसों में भेद नहीं किया गया है। काव्य दर्पण कार का मत भी इससे पूर्व दिया जा चुका है जिसके अनुसार और(में शान्त रस ही प्रधान है, और यह मत सामान्य जनता की भावना का प्रतिनिधित्व करता है

बन गये हैं, यह बात हम दोनों कवियों की काव्यशैली के आधार पर प्रारंभ से ही देखते आये हैं और यही प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य भी है।

निष्कर्ष

१—दोनों काव्य समस्त काव्य-रसों के आगार है। वा० रामायण में कुछ रसों का स्वरूप तो पूर्णतया प्रस्फुटित है और कुछ का स्वरूप अस्फुट है, जिससे प्रकट है कि कवि किसी विशिष्ट साहित्यशास्त्र का अनुगामी नहीं था और न ही अधिकाधिक काव्य तत्वों की योजना के लिये प्रयत्नशील था। उसमें वीर, शृंगार, करुण और अद्‌भुत रस सांगोपांग दिखलाई पड़ते है, हास्य, रौद्र, वीभत्स और भयानक भी सामान्य रूप में मिलते है, परन्तु वात्सल्य का प्रायः अभाव है और रस के स्तर पर उसकी योजना बिल्कुल नहीं हुई है। शान्त रस और भक्ति रस का अभ्युदय उस समय की कवि कल्पना में नही हुआ था।

मानसकार ने साहित्यशास्त्रानुमोदित नवों रसों की योजना की है, जैसा कि उसके काव्य की प्रस्तावना से प्रकट होता है। इनमे नवाँ रस वात्सल्य और दसवाँ शान्त माना जा सकता है। शान्त से अधिक वात्सल्य योजना सांगोपांग रूप मे तथा अधिक विस्तार के साथ हुई है। शान्त रस भी उसमे है और कुछ के विचार से वही प्रधान रस है, परन्तु उसके स्थायी भाव निर्वेद या वैराग्य का स्वरूप भिन्न है। उसमें राम के प्रति अतीव अनुराग के रूप में ही वैराग्य है अर्थात् वैराग्य उस अनुराग का उद्दीपक है। भक्ति रस उसमें प्रधान है या अंगी रस है और अन्य रस इसके आधीन है।

मानस कार की रस पद्धति यह है कि वह दसों रसों की योजना उनके अनुकूल प्रकरणों में करता चलता है और उन्हें उत्कर्ष पर पहुँचा कर भक्ति रस में विलीन कर देता है।

२—एक ही स्थल पर अनेक रसों की सम्मिश्रित स्थिति अथवा स्थल विशेष पर रस विशेष की संदिग्ध स्थिति दोनों काव्यों में मिलती है। इसके दो कारण है। एक तो यह कि ये दोनों ही कवि शास्त्र-बन्धन से मुक्त हो कर काव्य रचना कर रहे थे। तुलसी मे यह बन्धन एक सीमा तक है, फिर भी उनकी प्रतिभा पूर्णतया स्वतंत्र है। दूसरा कारण यह है कि प्रबन्ध काव्य में कथा के बीच भावशबलता के रूप में ऐसे अनेक स्थल स्वाभाविक रूप में भी आ जाते हैं। साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के उदाहरण भी दोनों ही काव्यों मे खोजे जा सकते है परन्तु इस प्रबन्ध का उद्देश्य उस सीमा तक दोनों काव्यों का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने का नहीं है। अतः उस पर विचार नही किया गया है।

रस परिपाक के स्थान पर केवल भाव का आविर्भाव या भाव की अपरितुष्ट दशा के उदाहरण भी दोनों काव्यों से दिये जा सकते हैं, जैसे रावण का सीता के प्रति प्रेम एक पक्षीय होने से भाव की अपरिपुष्ट दशा का उदाहरण है। इससे यह भी प्रकट

होता है कि रामकथा की परम्परा के साथ ही उसकी कुछ साहित्यशास्त्रीय परम्परायें एवं साहित्य तत्व भी रूढ़ हो गये हैं।

३—दोनों ही कवि उत्कृष्ट कवि होने के अतिरिक्त काव्याचार्य भी माने जाते हैं। वाल्मीकि के काव्य ने परवर्ती संस्कृत साहित्य के लिये आकर ग्रंथ का कार्य किया और मानस भी समस्त काव्य-गुणों का कोष है। साथ ही उसके कवि ने अपनी समृद्ध काव्य वाणी के द्वारा कुछ नूतन साहित्यिक उपहार भी प्रदान किये है। भक्ति रस को साहित्य शास्त्रीय मान्यता प्रदान करना उसकी महत्वपूर्ण देन है।

४—कथा मे परिवर्तन होने के साथ ही मानस में रसात्मक स्थलों की वृद्धि या हेर फेर हुई है और रामकथा कुछ रसात्मक स्थलों से जगमगा उठी है।

५—दोनों काव्यों में भावविधान और रस विधान की इतनी विभिन्न स्थितियाँ है कि उनके लिये साहित्यशास्त्रीय मानदण्ड अपूर्ण हैं और यही दोनों काव्यों का महान महाकाव्यत्व है।

६—तुलसी की रचना युग के बन्धन मे बधी हुई अथवा युग की विशेष आवश्यकता की पूर्ति में संलग्न होने के कारण सौद्देश्य रचना है। अतः उसमें कहीं तो उच्चतम काव्यकला के दर्शन होते हैं और कही यह कविता सांप्रदायिक बनकर कला के क्षेत्र से बहुत दूर हट गई है। उनके बार बार यह स्मरण कराने से कि राम परब्रह्म है कवित्व का अत्यन्त ह्रास हुआ है और ऐसे स्थलों पर रसाभास हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे स्थलों पर यह प्रकट होता है कि वे अपने काव्य मे भक्ति भाव या भक्ति रस की व्यंजना के विषय में शंकित होने के कारण राम का परब्रह्मत्व घोषित करते हैं।

६

●●●

काव्य-शैली

काव्य-शैली के अंतर्गत विचारणीय विषय हैं—(१) भाषा, (२) छंद, (३) अलंकार, (४) सम्वाद, (५) महाकाव्यत्व और (६) तुलसी की कला के विशिष्ट तत्त्व अर्थात् उनकी मौलिकता।

(१) भाषा

भाषा भावों का वाहन है। भावों और विचारों की संप्रेषणीयता ही उसकी सफलता की कसौटी है। वाल्मीकि और तुलसी, दोनों का उद्देश्य अपने भावों और विचारों को जनता तक पहुँचाना था। साथ ही, विषय के अनुरूप उन्हें अपनी काव्य-शैली का गौरव भी बनाये रखना था। अतः एक ओर तो उनकी भाषा जन-सुलभ है, दूसरी ओर उनमें महाकाव्योचित पांडित्य और सरसता भी है। अपनी भाषा-शैली में दोनों कवियों ने लोकतत्व, शास्त्रतत्व और कलातत्व का सामंजस्य किया है।

लोकतत्व की दृष्टि से भाषा-परीक्षा—

लोकतत्व का आशय यह है कि उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा के समीप है। उसमें न तो व्याकरण का अत्यधिक बंधन है और न चमत्कार-प्रदर्शन का अनावश्यक प्रयत्न। साथ ही उसमें समकालीन प्रचलित बोलियों को भी थोड़ा बहुत स्थान दिया गया है। रामायण और महाभारत की भाषा को विद्वानों ने जन-भाषा ही सिद्ध किया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। उसमें शिष्ट और सामान्य संस्कृत के अतिरिक्त तत्कालीन बोलियों (प्राकृतों) का भी प्रभाव है। यद्यपि यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा है कि संस्कृत कभी बोल-चाल की भाषा थी या नहीं परन्तु स्वयं वाल्मीकि रामायण से इस बात के प्रमाण मिलते है कि जनता में उसका व्यापक प्रचार अवश्य था। कुछ अनुसंधाता तो इन आधारों पर यह भी मानने लगे हैं कि वह सर्वसामान्य की बोल-चाल की भाषा थी[1]। परन्तु सर्वसामान्य की संस्कृत और शिष्टों की संस्कृत में अन्तर अवश्य रहा होगा और इस प्रकार संस्कृत की भाषा-शैली के कई स्तर रहे होंगे[2]। रामायण के सुन्दर काण्ड में सीता के पास पहुँचने पर हनुमान को यह विचार

---

१. रामायण कालीन संस्कृति, व्यास, पृ० १६१।

२ याकोबी अनुवाद   ग्राफ   , पृ० ६५

करते हुए दिखलाया गया है कि वे उनसे द्विजातियों जैसी संस्कृत भाषा में बात करे अथवा साधारण मनुष्यों की सी संस्कृत में ।[1] इसका आशय यह हुआ कि जनसाधारण और सुशिक्षित जन की भाषा तो संस्कृत ही थी परन्तु उसमें अन्तर शुद्धता की न्यूनाधिकता के आधार पर होता था । द्विजातियों और शिक्षित जन की भाषा शुद्ध तथा परिष्कृत थी और सामान्य जन की अपरिष्कृत ("किञ्चिदपशब्दितम्") । रामायण के व्यापक प्रचार को देखते हुए भी यह सम्भावना की जा सकती है कि उस युग में संस्कृत भारतीय जनता के द्वारा बोली और समझी जाती होगी । यद्यपि लव-कुश का प्रसंग, जो कि बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में आया है, अप्रामाणिक माना जाता है परन्तु उसके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि वाल्मीकि के समय में ही नहीं वरन् उसके बाद तक भी, जब कि ये प्रक्षिप्तांश कथावाचकों ने मूल कृति में जोड़े, संस्कृत जनता में प्रचलित भाषा थी । यदि ऐसा न होता तो कथावाचक लोग लव-कुश द्वारा गा-गा कर रामायण के प्रचार किये जाने की कल्पना कैसे करते ? यह सम्भव है कि अशिक्षित या सामान्य शिक्षित अथवा कुछ प्रदेशों की जनता संस्कृत भाषा बोल न पाती हो अथवा अशुद्ध रूप में बोलती हो परन्तु अधिकांश जनता उसे समझती अवश्य थी[2], जैसा कि हम आज हिन्दी के विषय में देखते हैं । हिन्दी सबकी मातृभाषा नहीं है फिर भी वह इसी आधार पर राष्ट्र भाषा और राज भाषा बनाई गई है कि उसे समस्त भारतीय जनता समझ लेती है और अधिकांश जनता टूटी-फूटी बोल भी लेती है ।

इसके अतिरिक्त वा० रामायण की भाषा में संस्कृत के अतिरिक्त जन-सामान्य की भाषाओं जैसे पालि, और प्राकृत के चिह्न भी पाये जाते हैं । उसमें कुछ ऐसे प्रयोग हैं जो न वैदिक संस्कृत की दृष्टि से शुद्ध हैं और न लौकिक संस्कृत की दृष्टि से । कीलहार्न ने रामायण की भाषा में पालि की झलक देखी है[3], और हापकिन्स भी, जिन्होंने रामायण और महाभारत की भाषा का पर्याप्त अध्ययन किया है, ऐसा मानते है कि इन दोनों ही महाकाव्यों के शब्दविन्यास और ध्वनियों में यत्रतत्र प्राकृतों का प्रभाव पड़ा है[4] । रामायण का रचना-काल भगवान् बुद्ध के समय के आस-पास माना जाता है, इस विचार से भी उसमें पालि का पुट होना सम्भव है[5] । यद्यपि हापकिन्स का यह विचार है कि आर्य संस्कृत (प्रायः रामायण-महाभारत की संस्कृत को वैदिक और लौकिक से भिन्न इसी नाम से पुकारा जाता है) के जो व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग हैं वे स्वेच्छाचारिता पूर्ण नहीं है वरन् तत्कालीन किसी व्याकरण-पद्धति से अनुशासित है[6] । साथ ही उनका यह विचार भी है कि वा० रामायण के अनेक प्रयोगों पर

१. वा० रामायण, ५.३०, १७—१९ ।

२. रामायण कालीन संस्कृति, पृ० १६४ (शां० कु० ना० रा० व्यास) ।

३. दे० दि ग्रेट एपिक, पृ० २६२ की पाद टिप्पणी ।

४ दे० दि ग्रेट एपिक, पृ० २६३ की पाद-टिप्पणी

५ जाकोबी, बिबलियोग्राफी पृ० ६७ ६ दि ग्रेट एपिक, पृ० २६२

बोलियों का भी प्रभाव पड़ा है[1]।

रामायण की भाषा के कुछ विचारणीय प्रयोग निम्नलिखित है— (अ) 'ब्रूमि' (दे० रामायण २.१६.४, ३.१३.१७, ४.७.१४, ६.८.२१)। लौकिक संस्कृत में इसका रूप है 'ब्रवीमि' परन्तु अन्य दो वचनों में होता है 'ब्रूवः' 'ब्रूमः'। अतः सरलता और स्वाभाविकता की दृष्टि से एक वचन में 'ब्रूमि' ही उचित प्रतीत होता है। रामायणकालीन भाषा की यही सरलता और स्वाभाविकता लौकिक संस्कृत काल में समाप्त होने लगी। इसी प्रकार उसमें 'दद्मि' और 'कुर्मि' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं जिन्हें मानियर विलियम्स ने अपने कोष में केवल रामायण-महाभारत के प्रयोग बतलाया है (दे० पृ० ४७३ तथा ३०१, संस्करण १८६६)। ये प्रयोग वैदिक और लौकिक भाषा की दृष्टि से अशुद्ध हैं, परन्तु उनकी पारस्परिक समानता यह सूचित करती है कि वे एक नियम या पद्धति से अनुशासित भी है।

(आ) 'गेह' (७.६८.२०) तो बिल्कुल आधुनिक शब्द है (ब्रजभाषा और अवधी में प्रयुक्त) परन्तु यह वा० रामायण के उत्तर काण्ड में आया है जिसकी रचना परवर्ती लौकिक संस्कृत काल की मानी जाती है। जब बाद के परिनिष्ठित संस्कृत के समय में ऐसे प्रयोग सम्भव थे तब रामायण-काल में तो उनकी सम्भावना और भी अधिक की जा सकती है, जब कि पाणिनि का अनुशासन आरम्भ नहीं हुआ था। इनके अतिरिक्त भी, हापकिन्स का विचार है कि अनेक स्थलों पर व्याकरण का सर्वथा उल्लंघन कर दिया गया है[2]।

इस विवेचन से यह प्रकट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण की भाषा तत्कालीन जनता के निकट की भाषा है और उसकी लोकप्रियता और प्रचार के अनेक कारणों में से एक उसकी भाषा की यह सरलता और सुलभता भी है, यहाँ तक कि इस सरलता, स्वच्छन्दता और आडम्बरहीनता के कारण कुछ विद्वान तो उसे महाकाव्योचित भाषा भी नहीं मानते[3]। उनका ऐसा विचार निश्चित रूप से ही लौकिक संस्कृत के, विशेकर परवर्ती काल के, महाकाव्यों, जैसे भारवि, श्री हर्ष, माघ, आदि के काव्यों के आधार पर बना है, अन्यथा वा० रामायण भी शुद्धतम और उत्तम भाषा की दृष्टि से पीछे नहीं है, जैसा कि अगले अनुच्छेदों में विचार किया जायेगा। यहाँ आशय यह है कि रामायण की भाषा का प्रधान गुण और प्रमुख विशेषता उसकी सरलता ही है। वाल्मीकि के पश्चात् कालिदास में और कालिदास के बाद भारवि, श्रीहर्ष, और माघ में संस्कृत की शैली उत्तरोत्तर शास्त्र-सम्मत, जटिल, और

१. दे० वही पृ० २६१ तथा २६२।

२. Gross violations of grammar—दे० वही।

३. It is however not sufficiently dignified and sonorous, nor as correct as the language of Mahabharat"—रिडिल, सी, बी, वैध पृ० ३१। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शुद्धता के विचार से महाभारत की भाषा भी आदर्श नहीं मानी गई है—दे० दि ग्रेट एपिक अध्याय ४।

अलंकृत बनती गई। वा० रामायण की भाषा के वास्तविक स्वरूप के विषय में निम्न-लिखित विचार दृष्टव्य है—

'रामायण की भाषा मानुषी अथवा आर्ष संस्कृत है। उसमें पाणिनीय नियमों के विपरीत कई प्रयोग पाये जाते हैं। पाणिनि ने अपने व्याकरण में आर्ष प्रयोगों पर ध्यान नहीं दिया है, क्योंकि साहित्यिक संस्कृत ही उनका विवेच्य विषय था। रामायण तो भ्रमणशील गायकों (कुशीलवों) की जन-भाषा में रची गई है। सम्भव है, मौर्यकाल तक इस (संस्कृत) जनभाषा का स्वरूप भ्रष्ट होकर प्राकृतों के इतना निकट आगया कि रामायण की भाषा, जो किसी समय जनसामान्य के समझने की चीज थी, अशोक के समय में जाकर दुर्बोध बन गई। तब संस्कृत की लोकप्रियता घट गई और पालि-प्राकृत ने जनवाणी पर अधिकार जमा लिया।''[1]

वाल्मीकि और उनके युग की परिस्थितियों के विषय में निश्चय रूप से कुछ ज्ञात न होने के कारण यह निर्णय करना असम्भव ही है कि उनकी भाषा लोक-जीवन के कितना समीप थी। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसमे शिष्ट या ब्राह्मणों की संस्कृत, सामान्य या मानुषी संस्कृत, अपभ्रंश या वानरी संस्कृत और लोक प्रचलित बोलियों पालि तथा प्राकृत का भी पुट अवश्य है, जैसा कि हम इससे पूर्व दिखला चुके है। हनुमान की भाषा में शिष्ट और सामान्य संस्कृत का प्रयोग किये जाने का उल्लेख हो चुका है। वानरी या अपभ्रंश संस्कृत, जो इन दोनों से काफी भिन्न थी और जिसे दूसरे लोग नहीं समझ सकते थे, उसका संकेत भी रामायण में मिलता है। जब मधुवन के उत्पात की बात दधिमुख वानर ने सुग्रीव को सुनाई तो लक्ष्मण उसे नहीं समझ सके थे। अतः सुग्रीव ने बाद में लक्ष्मण को उसका आशय समझाया था (५,६३, ११-१४)। कुछ लोगों ने इसे ही वानरी संस्कृत या संस्कृत का दक्षिणी अपभ्रंश रूप कहा है[2]। वाल्मीकि ने स्वयं इसका प्रयोग किया है या नहीं यह अनुसंधान का विषय है, परन्तु उनके कुछ प्रयोग जिन्हें हापकिन्स ने "डायलेक्टिकल वैरियेशन्स" कहा है ऐसी भाषा के भी हो सकते हैं।

तुलसी की भाषा की स्थिति अधिक स्पष्ट है। रामचरितमानस की प्रस्तावना मे उन्होंने लोक भाषा को अपनाने का आदर्श प्रकट कर दिया है, जैसा कि "भाषानिबन्ध"[3] "भाषा भनिति"[4] "गिरा ग्राम्य"[5] आदि शब्दों से व्यक्त होता है। कितना विरोधाभास है कि "प्राकृतजन के गुन-गान"[6] को हेय समझने वाले भक्त कवि ने भाषा "प्राकृतजन" की अपनाई और उसे राम-नाम के यश से अंकित करके[7] व्यास आदि कवि-पुंगवों की पुनीत वाणी संस्कृत के समान ही पूज्य बना दिया। उस युग में जब कि राजभाषा फारसी थी और हिन्दी की बोलियों में ब्रजभाषा का प्राधान्य था तथा

---

१. रामायण कालीन संस्कृति, व्यास० पृ०१६४। २. दि ग्रेट एपिक, पृ० २६१।
३. बाल० मंगलाचरण, ७। ४. बाल० ९।
५ वही १० (ख) ६ वही ११
७ वही १०

पण्डित समाज में केवल संस्कृत ही पूजित होती थी, एक ग्राम्य बोली का उद्धार करके, उसमें हिन्दी के ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में भी श्रेष्ठ स्थान रखने वाले काव्य ग्रंथ की रचना कर देना, कवि तुलसीदास के भाषाधिपत्य का अनुपम प्रमाण है। तुलसी से पूर्व जायसी अवधी का प्रयोग कर चुके थे जिसमें ठेठ अवधी का ठाठ तो था परन्तु साहित्योत्कर्ष का अभाव था[1]। उस कमी को पूरा करके तुलसी ने अवधी को श्रेष्ठ साहित्यिक भाषाओं की श्रेणी में स्थान दिलाया। डा० ग्रियर्सन के शब्दों मे "अवधी के भाग्योदय पर मोहर लगा दी[2]।" उनसे पूर्व मैथिल-कोकिल विद्यापति भी "देसिल बयना"[3] में पदावली की रचना कर चुके थे परन्तु केवल एक मुक्तक रचना के आधार पर वे मैथिली को साहित्यिक मान्यता नहीं प्राप्त करा सके थे। कबीर के 'बहते नीर'[4] ने सांस्कृतिक क्रान्ति में तो सहयोग दिया परन्तु मसि-कागद से दूर रहने के कारण उनका साहित्यिक योगदान अप्रकट रूप में ही रहा। तुलसी से पूर्व वस्तुत· स्वयंभूदेव ने 'पउमचरिउ' के द्वारा, जिसमें काव्य सरिता के उभय उज्ज्वल तट देशी भाषा के हैं[5], देश-भाषा (वर्नाक्युलर) को अवश्य उच्चतम गौरव प्रदान किया था। इस दृष्टि से तुलसी उनके उत्तराधिकारी कहे जा सकते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि स्वयंभू की भाषा पुरानी अवधी या कौशली है[6]। मानस की रचना मे तुलसीदास अनेक प्रकार से इस अपभ्रंश के कवि-सम्राट के ऋणी है। हो सकता है कि लोक भाषा के साहित्योत्कर्ष मे वे उसी से प्रेरित हुए हों।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में लोकभाषाओं के उद्धार के जो प्रयत्न चल रहे थे उनमें तुलसीदास का विशेष योगदान था। उन्होंने लोक भाषा को मान्यता प्रदान करने के लिए राम-कथा का अत्यन्त सफल प्रयोग किया।

मानस की भाषा अवधी है, परन्तु अछूती अवधी नहीं। उसमें हिन्दी प्रान्त की, और उससे बाहर की भी, अनेक बोलियों का पुट है। वास्तव में तुलसीदास ने अवधी के माध्यम से अपने युग में राष्ट्रभाषा का एक आदर्श स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया था। मानस में अवधी भाषा के दोनों रूपों, पूर्वी और पश्चिमी अवधी का, प्रयोग तो हुआ ही है[7] परन्तु इनके अतिरिक्त अवधी की समीपवर्तिनी भोजपुरी, बघेली, छत्तीसगढ़ी और बुंदेलखंडी बोलियों का तथा हिन्दी की उपभाषाओ ब्रज और राजस्थानी का, यहाँ तक कि खड़ी बोली और साथ ही अन्य प्रान्तीय भाषाओ जैसे गुजराती, मराठी एवं बंगला के शब्दों का भी पुट प्राप्त होता है[8]। इससे तुलसीदास

---

१. तु० भाषा - श्रीवास्तव, पृष्ट २२१।
२. लिंग्विस्टिक सर्वे खण्ड ६, भाग १।
३. कीर्तिलता—प्रथम पल्लव, पृ० ६, सम्पादक डा० बा० रा० सक्सेना।
४. संस्कृत है कूपजल भाषा बहता नीर'—कबीर साहब का साखी ग्रन्थ, भाषा कौ अंग, साखी १, पृ० ३७९, प्रका० श्री बालक दास, बड़ौदा।
५. देसी-भाषा उभय तडुज्जल'-पउमचरिउ भाग १, १. २. ४ (काशी, १९५७)
६. हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका, पृ० ६।
७ गो० तुलसीदास रा० शुक्ल १९५३ पृ० १८४
८ दे० तुलसी की भाषा तृतीय अध्याय

की यह योजना सुस्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है कि वे लोकनायक राम के चरित्र को लेकर भावी राष्ट्रभाषा के स्वरूप-निर्माण का पथ प्रशस्त कर रहे थे। केवल हिन्दी क्षेत्र की समस्त भाषाओं और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का ही प्रतिनिधित्व मानस मे नहीं हुआ है अपितु अरबी और तुर्की के पुट सहित तत्कालीन राजभाषा फारसी के शब्दों का भी विपुल भाण्डार उसमें विद्यमान है, यथा—"जहान, कागज, गरीबनेवाज, बखशीश, रुख, गरदन, ख्वार, शोर, गुमान, हवाले" आदि[1], और ऐसे शब्दों का प्रयोग राम तक के मुख से करवाया गया है। यह एक दोष भी है, परन्तु भाषा-विषयक आदर्श की पूर्ति के लिए तुलसी ने इसे स्वीकार किया है। इससे तुलसी के विचारो की प्रगतिशीलता और कविरूप में उनका लोकनायकत्व स्पष्ट प्रकट होता है। वे भाषा के विधायक थे, उसके सम्राट थे, भाषा की क्रान्तिकारिणी शक्ति को खूब समझते थे और राष्ट्रीय संगठन में साहित्यकार के दायित्व को भली प्रकार अनुभव करते थे। महाकाव्य की भाषा का आदर्श, उसके परिष्कार, पांडित्य, सरसता और संगीतमयता, रीति, वृत्ति और शब्दशक्तियों के संयोजन में ही नही, इससे अधिक उसकी व्यापकता में है। वह महाकाव्य तभी बनेगा जबकि वह देश की समस्त जनता के हृदय को स्पर्श कर सके, तभी तो वह राष्ट्र की सम्पत्ति कहलायेगा।

लोक जीवन से सटी हुई भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्राचुर्य होता है। इस क्षेत्र में भी तुलसी वाल्मीकि से आगे है। मानस की भाषा की अद्भुत आकर्षण शक्ति का रहस्य इनमें छिपा हुआ है। वा० रामायण भले ही सूक्तियों मे मानस की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो परन्तु भाषा के लोकपक्ष के व्यंजक ये तत्त्व, लोकोक्तियाँ और मुहावरे, मानस में कहीं अधिक मिलेंगे। वाल्मीकि रामायण मे "विदीर्यमाणा हर्षेण" (२.७.१०) जैसे प्रयोगों में मुहावरेदारी तथा "चलं हि सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे" (२.७.१५) अथवा 'अहिरेव अहेःपादान्विजानाति न संशयः" (५.४.२९) अथवा "चला कि प्राणिनां मतिः" (२.४.२८) जैसे प्रयोगों में कुछ लोकोक्ति-शैली का आभास अवश्य मिलता है, फिर भी वाल्मीकि की भाषा 'सस्कृत' अर्थात् परिष्कृत ही है, तुलसी की भाषा के समान उसमें लोक-जीवन की स्वच्छन्दता नहीं है। इसीलिये लोकोक्तियों और मुहावरों का जैसा और जितना प्रयोग मानस में मिलता है वा० रामायण में नही है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से उभय-कवियों की भाषा-शैली में यह महत्त्वपूर्ण समानता और भेद स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की प्रवृत्ति अपनी भाषा को जनता के निकट लाने की थी, परन्तु तुलसी अपने युग और परिस्थितियों के कारण इस ओर अधिक प्रवृत्त हुए। वे चाहते तो संस्कृत में ही रचना कर सकते थे परन्तु एक वार साहस-

१. तुलसीदास की भाषा, दे० नं० श्रीवास्तव, पृ० २०७।

२ तुलसीदास की भाषा और मुहावरों में मणि-कांचन का संयोग है। एक नहीं सैकड़ों मुहावरों के प्रयोग हुए हैं पर मजाल नहीं कि कहीं वे रंचमात्र भी विरूप लगते हों —तु० युग-राज- [illegible]

पूर्वक "भाषा भनिति" और "गिरा ग्राम्य" को अपना लेने के बाद उन्होंने उसे पूरी तरह लोक का बाना पहिनाया और साथ ही उसे पूर्णतया साहित्यिक भी बनाया।

शास्त्रीय (व्याकरण) दृष्टि से भाषा परीक्षा—

साहित्यिक दृष्टि से दोनों की भाषा की तुलना करने से पूर्व शास्त्रीय दृष्टि से भी उसकी परख करना आवश्यक है। शास्त्रीय दृष्टि से आशय यहाँ व्याकरण शास्त्र से है। वाल्मीकि पाणिनि से पूर्व हुए या बाद में यह प्रश्न विवाद ग्रस्त है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि न तो पाणिनीय व्याकरण रामायण की भाषा को लक्ष्य करके लिखा गया है और न ही रामायण की भाषा पाणिनि को आधार बनाकर लिखी गई है। साथ ही इसका यह आशय भी नहीं है कि वाल्मीकि की भाषा व्याकरण से निर्बन्ध, लोक को अनियमित भाषा है। व्याकरण के बिना भाषा का उद्देश्य ही पूरा नहीं हो सकता, अतः जन-साधारण की भाषा भी एक सीमा तक अवश्य व्याकरण-बद्ध होती है और लिखित रूप में आने पर तो उसे व्याकरण का बंधन और भी अधिक स्वीकार करना पड़ता है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना मौखिक रूप में अवश्य की थी परन्तु स्वर-ताल-लय से युक्त रचना व्याकरण की सीमाओं का भी परित्याग नहीं कर सकती। रामायण में ब्राह्मण वर्ग, मुनिसमाज और शिक्षित लोगों की भाषा पूर्ण परिष्कृत और शास्त्र समन्वित है। द्विज श्रेष्ठ भरद्वाज की वाणी "शिक्षा स्वर समायुक्त" (२ ९१.२२) बतलाई गई है। राजदूत हनुमान के विषय में कहा गया है "नून व्याकरणं कृत्स्नं अनेन बहुधा श्रुतम्" (४.३.२९) और रावणानुज नीति-विशारद विभीषण 'वाक्यमग्राम्यपदवत् पुष्कलार्थम्' (६.३७.६) बोलते थे। ये प्रमाण इस बात के द्योतक है कि व्याकरण शास्त्र तो वाल्मीकि की दृष्टि में अवश्य था किन्तु वह पाणिनीय व्याकरण ही था यह नहीं कहा जा सकता। हापकिन्स का कथन है कि सभी कवियों के समान वाल्मीकि ने भी छन्द के लिए व्याकरण की अवहेलना की है परन्तु उसका सर्वथा परित्याग कहीं नहीं किया है।[1] उनके शिक्षित पात्र सर्वत्र व्याकरण-सम्मत भाषा ही बोलते हैं। व्याकरण-विहीन भाषा से कितनी कठिनाइयां पैदा होती है इस बात को वाल्मीकि ने स्वयं इस प्रकार अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया है—

> दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
> संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥ (५.१५.३९)

अर्थात् हनुमान ने सीता को उसी प्रकार कठिनाई से पहचाना जिस प्रकार व्याकरण-विहीन भाषा का अर्थ कठिनाई से समझा जा सकता है। जो कवि इस

---

१. Metre surpasses Sanskrit Grammar but not Sanskrit Grammar altogether दि ग्रेट एपिक पृ० २६२

प्रकार की उपमा का प्रयोग कर सकता है वह व्याकरण के प्रति कितना सावधान रहा होगा, यह सहज ही जाना जा सकता है। वस्तुतः रामायण शास्त्रीय संस्कृत का, जिसका प्रयोग आगे चलकर लौकिक साहित्य में हुआ, लक्ष्य ग्रन्थ है। जिस प्रकार उसने काव्यांगों का पथ लौकिक-साहित्य के लिए प्रशस्त किया उसी प्रकार व्याकरण सम्मत्, परिनिष्ठित, शास्त्रीय संस्कृत भाषा का भी।[1] रामायण की भाषा सरल है, जनसुलभ है, परन्तु वह एक श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थ, साथ ही धर्म ग्रन्थ की भाषा होने के कारण सहज ही पवित्र और परिष्कृत है। वह वैदिक और लौकिक संस्कृत की मध्यवर्तिनी भाषा का परिनिष्ठित व्याकरण-सम्मत स्वस्थ स्वरूप प्रस्तुत करती है।

तुलसी की स्थिति इस क्षेत्र में भी वाल्मीकि से भिन्न थी। वाल्मीकि को उत्तराधिकार में वैदिक संस्कृत प्राप्त हुई थी और अनेक बोलियों का झमेला उनके सामने नहीं था। संस्कृत सम्पूर्ण देश में बोली या समझी जाती थी। वह एक परिनिष्ठित शास्त्र-सम्मत भाषा थी जबकि अवधी एक बोली मात्र थी। तुलसी को अधिकांशतः ग्रामीण अवधी ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी जिसमें न तो ध्वनियो की एकरूपता थी और न शब्दों तथा वाक्यों की व्यवस्था थी। पण्डित समाज या शिष्ट वर्ग ने अभी अवधी को अपनाया ही नहीं था। ऐसी स्थिति में तुलसी की भाषा का शास्त्र-सम्मत न होना ही स्वाभाविक है। उनके समक्ष अपनी भाषा के सम्बन्ध में कोई भी मान्य व्याकरण सम्बन्धी नियम न था। इसके अतिरिक्त अवधी को व्यापक बनाने के लिए उन्हें उसमें अनेक बोलियों का भी समावेश करना पड़ा था जिस कारण व्याकरण की समस्या और भी कठिन थी।[2] फिर भी सर्वत्र लोक और वेद (शास्त्र) का समन्वय करने वाला और मर्यादावाद को अत्यधिक महत्त्व देने वाला कवि भाषा के क्षेत्र मे भी शास्त्र का परित्याग नहीं कर सकता था। वस्तुतः तुलसीदास की रचनाओं ने स्वयं अवधी को व्याकरण-सम्मत बनाया। इस विषय में तुलसी के अनन्य आलोचक प० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों को उद्धृत किया जा सकता है—"सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषता, जो हिन्दी के किसी और कवि में ऐसी नही पाई जाती। गोस्वामी जी के वाक्यो में कहीं शैथिल्य नहीं है। ऐसी गठी हुई भाषा किसी की नही है।"[3] ध्वनियो और शब्दों की अनेक रूपता तथा कुछ शब्दों की छन्द आदि के विचार से तोड़-मरोड़ भी मानस की भाषा में हुई है परन्तु वाक्य-विन्यास कहीं दुर्बोध नहीं हुआ है। विषय की गम्भीरता मे आशय समझने में कठिनाई हो सकती है, परन्तु जहाँ तक भाषा के बाह्य रूप का प्रश्न है वह काव्य शैली की सीमाओं को

१. जाकोबी : अनुवाद, बिब्लियोग्राफी, पृ०६८।

२. "अनेक बोलियों के समावेश के कारण तुलसी की भाषा की सामंजस्यपूर्ण व्याकरणिक मीमांसा कठिन है दे० सु० भाषा श्रीवास्तव पृ० १२

३ गो० तुलसीदास (१९३३) पृ० १८५

ध्यान में रखते हुए अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से अव्यवस्थित नहीं है। जिस प्रकार वा० रामायण में भारद्वाज, हनुमान आदि की वाणी पूर्ण परिष्कृत बतलाई गई है उसी प्रकार भरत-भारती के विषय में गोस्वामी जी का कथन है—

विरति विवेक नीति नय साली।
भरत भारती मंजु मराली।। (अयो० २९७)

मानस की भाषा को लक्ष्य बनाकर विद्वानों ने अवधी के व्यवस्थित व्याकरण की रचना का प्रयत्न किया है।[1] फिर भी भाषा के शास्त्रीय पक्ष के आधार पर मानस की भाषा को आदर्श नहीं माना जा सकता और इसके लिए तुलसीदास ने प्रस्तावना में ही 'गिरा ग्राम्य' कहकर अपनी सफाई दे दी है। तुलसीदास की प्रस्तावना का यही तो महत्व है कि उन्होंने अपने काव्य के सभी पक्षों के विषय में अपनी धारणायें और उद्देश्य सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिए हैं। अपनी गिरा की ग्राम्यता की और 'भनिति' की 'भदेसता' की शुद्धि उन्होंने वस्तु की श्रेष्ठता से कर दी है—"भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी" (बाल० १०)। अवधी के साथ तत्कालीन साहित्यिक भाषा व्रज और पंडित समाज की संस्कृत का मेल करके भी उन्होंने अपनी गिरा की ग्राम्यता को नागरिक जन के लिए परिष्कृत और अलंकृत बना दिया है।

संस्कृत के महाकाव्यों में पांडित्य के भार से लदी हुई और नागरिकता के गर्व से गर्वित भाषा के प्रयोग की परम्परा चली आ रही थी। महाकाव्य की शैली के विषय में शास्त्रीय विचार करने वाले आचार्य भामह ने महाकाव्य की भाषा में 'अग्राम्यत्व' एक आवश्यक लक्षण माना था, परन्तु तुलसी ने अपनी भावोदात्तता के बल पर उस निर्देश को चिनौती देकर महाकवि की महासत्त्वता का परिचय दिया है। मंगलाचरणों और स्तुतियों में तथा अन्यत्र भी, पात्र और परिस्थितियों के अनुरूप संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने साहित्याचार्यों की सर्वथा अवहेलना भी नहीं की है।

वस्तुतः तुलसीदास की भाषा के अध्ययन का महत्त्व उसकी आन्तरिक गरिमा के आधार पर किये जाने में ही है। वाल्मीकि ने प्राकृत चरित्र को संस्कृत भाषा में प्रस्तुत करके चमत्कार प्रदान किया, जब कि तुलसी ने दिव्य चरित के

---

१. दे० एडविन ग्रीव्स कृत नोट्स ऑन दि ग्रामर आव रामायन', विजयानन्द त्रिपाठी कृत 'मानस व्याकरण', डा० सूर्य कान्त शास्त्री की मानस-शब्दानुक्रमणिका तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित बुद्धचरित की ओर जायसी-ग्रंथावली की भूमिका, डा० दे०न० श्रीवास्तव का शोध प्रबन्ध 'तुलसीदास की भाषा', अध्याय २, केलाग का 'ए ग्रामर आव हिन्दी लैंग्वेज', द्वितीय संस्करण, डा० बाबू राम सक्सेना का 'इवाल्यूशन आव अवधी', पं० किशोरी दास बाजपेयी का हिन्दी-शब्दानुशासन, काशी, सम्वत् २०१४ (परिशिष्ट ग) तथा अन्य व्याकरण ग्रन्थ और मानस के विभिन्न संस्करणों की भूमिकायें

२ अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम् १ १९

आधार पर प्राकृत जन की भाषा को गौरवान्वित किया। भक्ति, नीति, दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि के गूढ़ तत्त्वों को जनसाधारण की सार्वदेशिक भाषा मे कहकर उन्होंने लोक और शास्त्र के बीच सेतु बांध दिया है। अकेले व्याकरण-शास्त्र के आधार पर तुलसी की भाषा के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन असमीचीन है, उसके और भी शास्त्रीय आधार हैं, और जहाँ तक व्याकरण-शास्त्र का प्रश्न है अवधी के व्याकरण के लिए तो मानस ही प्रमाण ग्रंथ है (दे० पिछला पृष्ठ तथा टिप्पणी)। हिन्दी के व्याकरण प्रारंभ में अँग्रेजी भाषा को आधार बनाकर, स्वयं अँग्रेजी विद्वानों द्वारा लिखे गये, और अब खड़ी बोली को आधार बनाकर लिखे जा रहे है। ऐसी स्थिति में मानस की भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन करने का कोई उपयुक्त आधार भी नही है। अतः मानस की भाषा स्वयं ही अवधी के व्यावरण की व्यवस्था का आधार प्रस्तुत करती है और इस आधार पर अवधी के विशद-वैज्ञानिक व्याकरण लिखे जाने की आवश्यकता है। वा० रामायण की भाषा के सम्बन्ध में भी अभी यह आवश्यकता बनी हुई है क्योंकि जितना विचार, भाषा-शास्त्र एवं व्याकरण की दृष्टि से, वैदिक और लौकिक सस्कृत पर किया गया है उतना महाकाव्यों की आर्ष-संस्कृत पर नहीं। उसपर केवल प्रासंगिक विचार ही हुआ है।

कलातत्त्व की (साहित्यशास्त्रीय) दृष्टि से भाषा-परीक्षा—

अब दोनों कवियों की भाषा की परीक्षा साहित्यिक दृष्टि से करनी है। साहित्यिक भाषा में भावावेग और भावगरिमा की प्रमुखता होती है जिससे उसमे कहीं-कहीं जटिलता और दुरूहता भी आ जाती है परन्तु उसका प्रभाव गहरा होता है। वह श्रोता या पाठक के मन में गूँजने लगती है। सामान्यतया भाषा की तीन शक्तियाँ मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कवि पात्र और परिस्थिति के अनुरूप इन तीनों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार रस-दृष्टि से भाषा के तीन गुण भी माने गये हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। इन गुणों के आधार पर यथेष्ट रस-व्यजना के लिये पदों की जो विशिष्ट रचना होती है, उसे रीति कहते है।[1] इसी रीति को मार्ग और वृत्ति भी कहा गया है। ये रीति और वृत्तियां भी तीन मानी गई है। तीन रीतियां है, वैदर्भी, गौड़ी और पाचाली तथा तीन वृत्तियां है उपनागरिका, परुषा और कोमला। वैदर्भी रीति का संयोग उपनागरिका वृत्ति के साथ होता है और उसमे माधुर्य गुण की प्रधानता होती है। इसका प्रयोग मुख्य रूप से शृंगार के लिये होता है। इसी प्रकार ओजगुण प्रधान गौड़ी रीति और परुशा वृत्ति का प्रयोग मुख्य रूप से वीर, रौद्र और भयानक रसों के लिये तथा प्रसाद गुण प्रधान पाँचाली रीति एव कोमलावृत्ति का प्रयोग शान्त, वात्सल्य आदि रसो के लिये होता है। यह गूढ़ शास्त्रीय विवेचन संस्कृत साहित्य में भामह और दण्डी से आरम्भ होकर विश्वनाथ के साहित्यदर्पण तक होता आया और बाद में भी इसमें कुछ वृद्धि एवं संशोधन होते रहे। संस्कृत तथा

१ विशिष्ट पदरचना रीति वामन काव्यलकार सूत्र १ २ ७

देशी भाषाओं के अनेक काव्य इन्हीं को लक्ष्य करके लिखे गये परन्तु जहाँ तक वाल्मीकि और तुलसी का प्रश्न है, उनके काव्य जिस प्रकार व्याकरण और पिंगल शास्त्र के कठोर बन्धन से मुक्त हैं उसी प्रकार साहित्य शास्त्र के इन गूढ़ तत्वों से भी परे हैं। इन दोनों महाकाव्यों में ये सभी गुण, और इन से कहीं अधिक, प्राप्त होते हैं परन्तु वे सभी सहज और स्वाभाविक रूप से कवि की वाणी में सन्निविष्ट हुए हैं। अन्तर के आवेगों ने उनकी वाणी को अनायास ही अलंकृत और समृद्ध बना दिया है।

वाल्मीकि रामायण मे संगीत के तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य काव्य तत्त्वों का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु मानस की प्रस्तावना में कवि ने "कवित-विवेक एक नहिं मोरे" कहते हुए भी अनेकानेक काव्य तत्वों की परिगणना की है जिससे स्पष्ट है कि उसने न केवल पुराणों से धर्म-तत्त्व संग्रहीत किया था अपितु संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के काव्यों और नाटकों से काव्य-तत्त्व भी प्राप्त किये थे। मानस की प्रस्तावना मे साहित्यिक दृष्टि से भाषा विषयक निम्नलिखित तत्त्वों की चर्चा हुई है—

१. आखर अरथ अलंकृति नाना (बाल० ६)।

२. अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा। (बाल० ३७)

३. धुनि अवरेब कवित गुन जाती। (बाल० ३६)

पहले उद्धरण में आखर और अरथ अलंकृति का अभिप्राय शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों से है। दूसरे उद्धरण में 'अनुपम अर्थ और सुन्दर भावों से युक्त भाषा' मे व्यंजना शक्ति की ओर संकेत है जो कि पराग के समान ध्वन्यार्थ को प्रवाहित करती है। तृतीय उद्धरण में स्पष्टतया ही ध्वनि, वक्रोक्ति ('अवरेब' या औरेब फारसी का शब्द है जिसका अर्थ है टेढ़ा या वक्र) और गुणों का उल्लेख किया गया है।

इनके अतिरिक्त और भी काव्य तत्वों का उल्लेख मानस में हुआ है। उसका मंगलाचरण ही 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' से हुआ है, फिर भी मानस की भाषा-शैली भाव-प्रधान ही है, वह काव्य-लक्षणों से भाराक्रान्त नहीं हुई है। वा० रामायण मे भी राम को शूर्पणखा से 'श्लक्ष्ण वाणी' में (३. १८. १) वार्ता करते हुए दिखलाया गया है जिसमें वक्रता और लक्षणा का प्राधान्य ही सूचित है, अन्यथा 'अकृतदार' (३.१८. ३) का वास्तविक अभिप्राय समझने मे 'परिहासाविचक्षणा' (३. १८. १३) शूर्पणखा भूल न करती।

आशय यह है कि दोनों कवियों की भाषा साहित्यिक दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन की अपेक्षा रखती है जिसके आधार पर साहित्य शास्त्र में न जाने कितने नवीन तत्वों और पारिभाषिक शब्दों की वृद्धि हो सकती है।

महाकाव्य में अभिधा का प्रयोग कथा तत्त्व के लिये किया जाता है अर्थात् कवि इतिवृत्त के लिये सीधी-सादी सरल भाषा का ही प्रयोग करता है। कथा के मार्मिक प्रसंगों तथा नाटकीय स्थलों पर वह लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का प्रयोग करता है सम्वादों का सौन्दर्य भी लक्षणा और के प्रयोग पर निर्भर होता है

वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही श्रेष्ठ महाकवि हैं। अत. उत्तम काव्य के अनुरूप लक्षणा और व्यंजना का अतुल भाण्डार उनके काव्य में है, परन्तु कवि से अधिक वे कथाकार है। उनका मुख्य उद्देश्य कथा कहना था, अतः उनकी भाषा मे परिमाण की दृष्टि से अभिधा शक्ति का प्रयोग ही अधिक हुआ है। इसी कारण उनकी रचना इतनी लोक प्रिय हुई है और जनता के जीवन में प्रविष्ट हो गई है। दोनों काव्यों में कथारंभ की यह अभिधात्मक, प्रसादमयी शैली देखिये—

१—कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥ (बाल० १. ५. ५-६)

२—अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ॥
धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदयं भगति मति सारंग पानी॥
कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरण पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत॥ (बाल० १८८)

गंगा का जल जिस प्रकार सर्व सुलभ होता है उसी प्रकार इन दोनों कवियो की भाषा भी सर्व सुलभ है, जैसा कि तुलसी ने स्वयं कहा है—

कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई। (मा० १.१४)

यदि उनकी रचना सरल न होती तो सब का भला कैसे करती ? इस दृष्टि से भाषा के लोकतत्व प्रकरण में (इसी अध्याय मे) पहले विचार किया जा चुका है। तुलसी के विषय मे इतना और कहना है कि कथा के साथ-साथ उपदेश तत्व को भी स्थान देने के कारण उन्होंने भाषा की अभिधाशक्ति से ही अधिक काम लिया है। दोनों कवियों के काव्य-कल्पतरु में अभिधा के मूल पर लक्षणा की शाखाओं में व्यंजना के पुष्प खिलते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

लक्षणा का प्रयोग सम्वादों में विशेष रूप से देखा जा सकता है। सूक्तियो और लोकोक्तियों की भाषा भी लाक्षणिक होती है। वा० रामायण के शूर्पणखा-प्रकरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शूर्पणखा के प्रति राम के 'स्मिति पूर्व' श्लक्ष्ण वचन लक्षणा शक्ति के चमत्कार से युक्त है। बाहर से उनमें आदर सत्कार है, भीतर व्यंग निहित है। वही शूर्पणखा जिसको राम 'सपत्नता का दुःख' नहीं देना चाहते, जो 'विशालाक्षि' है, 'बरवर्णिनि' है, बाद में 'विरूपा, असती, कराला, निर्णतोदरी' बन जाती है। जहाँ शूर्पणखा के रूप की प्रशसा की गई है वहा सीता का निम्नलिखित वर्णन स्पष्ट ही विपरीत लक्षणा (Irony) का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

१. विद्वानो का विचार है कि आदि रामायण अर्थात मूल वाल्मीकि रामायण का आरम्भ काण्ड के ६ठीं श्लोको में सुरक्षित है—देखिये जाकोबी का विचार कुल्के की राम कथा पृ० ४० पर उद्धृत तथा मैक्डानल की ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०४

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ।।
को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद् भावं विचक्षणः ।।[१]

सीता विरूपा हैं शूर्पणखा सुरूपा, सीता वृद्धा हैं शूर्पणखा तरुणी !! इसी प्रकार का उदाहरण मंथरा-केकैयी सम्वाद में मिलता है जहाँ कि केकैयी मंथरा को ससार की सब कुबड़ियों में श्रेष्ठ बताती है और उसके कूबड़ की तुलना पवन द्वारा झुकाये हुए कमल-पत्र से करती है जो 'रथघोणमिवायतम्' है, जिसमे राजनीतिक चालें और चालाकियाँ (माया) भरी हुई है और जिस पर वह हिरण्यमयी माला और सुवर्ण पत्र पहिनाने का वचन देती है ।[२] मथरा के लिये 'राजहंसी' और 'विमलेन्दुसम वक्त्र' और शूर्पणखा के लिये 'वरवर्णिनि' 'वरारोहे' आदि विशेषणों का प्रयोग अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि के उदाहरण है, अथवा इन्हें विपरीत लक्षणा (Irony) भी कह सकते हैं ।

भाषा की लक्षणा शक्ति का अलंकारों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है । प्रयोजनवती गौणी लक्षणा का सादृश्यमूलक अलंकारों, उपमा आदि से निकट सम्बन्ध होता है । इसके द्वारा उपमेय और उपमान में गुण, क्रिया आदि के साम्य से सामंजस्य स्थापित होता है । अतः उपमाओ पर उपमाओं का ढेर लगाने वाले कविश्रेष्ठ वाल्मीकि[३] की भाषा में लक्षणा शक्ति का प्राचुर्य होना स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार 'विदीर्यमाणा हर्षेण' (२.७.१०) अथवा 'दह्यमाना कोपेन' (२. ७. १३) आदि प्रयोगो मे भी लक्षणा शक्ति का ही चमत्कार माना जायेगा क्योंकि इनमें मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात है । इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण की अनेक सूक्तियों और लोकोक्तियों को लेकर भी उनकी भाषा मे निहित लक्षणा शक्ति का उद्घाटन किया जा सकता है ।

मानस की भाषा में अभिधाशक्ति के बराबर ही लक्षणा शक्ति का प्रयोग है क्योंकि उसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का बाहुल्य है तथा सम्वाद भी अधिक हैं । निम्नलिखित कुछ प्रयोगों के आधार पर इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है—

१—मनहुँ घाय महं माहुर देई । (अयो० ३५)
२—मोरे भरत राम दुइ आँखी । (अयो० ३१)
३—भामिनि भइहु दूध कहँ माखी । (अयो० १९)
४—पालव बैठि पेड़ एहि काटा । (अयो० ४७)
५—छाइ भवन पर पावक धरेऊ । (अयो० ४७)
६—भइ रघुबंश बेन बन आगी । (अयो० ४७)

---

१. वा० रा० ३. १८. ११-१२ ।
२ दे० वा० रा० अयो० सर्ग ९
३ 'Piling similies upon similies' सी० वी० वेद्य रिड्ल पृ० ६।

विषय-विस्तार के भय से इनका विवेचन नहीं किया जा रहा है। इन उदाहरणों मे मुहावरे हैं, लोकोक्तियाँ हैं, अलंकारिकता है और ये सब लाक्षणिक प्रयोगों पर निर्भर हैं। इस सम्बन्ध में तुलसी के एक समालोचक का यह कथन द्रष्टव्य है—

"गोस्वामी जी के काव्य में प्रयुक्त रमणीय मुहावरों और लोकोक्तियों मे व्यापक रूप से सर्वत्र रूढ़ि-लक्षणा और यत्र-तत्र प्रयोजन-लक्षणायें दृष्टिगत होती है।"[1] तुलसी के सम्वादों पर अगले अध्याय में विचार किया जायेगा। यहाँ उनके कुछ उद्धरण देना अनावश्यक हैं। इनके अतिरिक्त, एक दो अन्य प्रकार के उदाहरण और दिये जा सकते हैं—

-१ सुनि विलाप दुखहु दुख लागा।
धीरज हू कर धीरज भागा।। (अयो०१५१)
२-पावक मय ससि स्रवत न आगी।
मानहु मोहि जानि हत भागी ।। (सुन्दर० १२)

पहले उदाहरण में 'दुःख को भी दुःखी' बनाने में अमूर्त की मूर्तिमत्ता है जो कि लाक्षणिक प्रयोग है। दूसरे में चन्द्रमा में अग्नि की उपस्थिति और स्रव या चुवाने का धर्म शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा[2] का उदाहरण है।

अभिधा और लक्षणा दोनों शक्तियों का उत्कर्ष जब भाषा की व्यजना शक्ति मे सहयोग देता है तब कवि की कवित्व शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँचने का प्रयास करती हैं, इसी लिये ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य माना गया है। वस्तुतः काव्य शैली व्यंजना के कारण ही वाङ्मय की अन्य शाखाओं से अपने को पृथक् रखती हैं। शास्त्र आदि की भाषा में केवल अभिधा की आवश्यकता होती है। लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग न केवल उनके लिये अनावश्यक होता है वरन् उनका अधिक प्रयोग उनकी शैली को विफल भी कर देता है। काव्य में कवि को अभिधा और लक्षणा के सहारे व्यंजना तक पहुचना अनिवार्य होता है, तभी वह भावोद्बोधन और रसोद्बोधन कर सकता है। मानस और रामायण दोनों ही प्रत्येक दृष्टि से उत्कृष्ट महाकाव्य है। अतः उनमे व्यंजना का व्यापक प्रसार होना स्वाभाविक ही है।

वा० रामायण यद्यपि लौकिक संस्कृत साहित्य का मार्ग दर्शक काव्य ग्रंथ है, फिर भी साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से उस पर पर्याप्त विचार नहीं किया गया है, केवल प्रासगिक विचार ही यत्रतत्र किया गया है। संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में भी रामायण से उदाहरण नहीं दिये गये हैं। साहित्य शास्त्रीय तत्वों के आदि स्रोत के रूप में अथवा कविकुल गुरु कालिदास के शब्दों में "कवि प्रथम पद्धति" (रघुवंश, १५, ३३) के रूप

---

१. तु० और युग, राजपति दीक्षित, काशी, संवत २००६, पृ० ४२०। तु० और भाषा में, डा० श्रीवास्तव का भी यही विचार है, दे० पृ० २५३।

२ जिससे स दस्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्ष्या क बाध होत है दे० काव्य द ण रामदहिन मिश्र, पृ० २१

मे वा० रामायण विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा रखता है। व्यंजना के अनेक भे उन सब के आधार पर रामायण और रामचरित मानस का अध्ययन यहां असंभ अतः केवल कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं:—

१. न च संकुचितः पन्था येन बाली हतो गत :।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः ॥ (४. ३०. ८१)

२. तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ॥ (५. २१. ३)

३. रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण
रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं संजनयन्ति ते ॥

४. त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुंगवः ॥
स तेन निहतः सख्ये शरेणैकेन वानरः ॥ (५. ५१. १२)

५. नेयं जरयितुं शक्या सासुरैरसरैरपि ।
विषसंसृष्टमत्यर्थं भुक्तमन्नमिवौजसा ॥ (५. ५१. २४)

६. इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जित त्रिभुवनं त्वया ।
स्मरद्भिरिवतद्वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः ॥ (६. ११४. १८)

७. त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वसृक् ।
नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने ।
त्वां समासाद्य वैदेहि रूपयौवनशालिनीम् ।
कः पुमानतिवर्तेत साक्षादपि पितामहः ।
यद्यत्पश्यामि ते गात्रं शीतांशु सदृशानने ।
तस्मिंस्तस्मिन्पृथुश्रोणि चक्षुर्मम निबध्यते ॥ (५. २०. १३-१५)

८. क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा।
हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मद्गुकम्॥
इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा खादयस्व वा ।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ (३. ५६. २०, २१)

पहले उदाहरण में वक्ता के वैशिष्ट्य के द्वारा व्यंजना उत्पन्न हुई है। वालि बध राम ने सुग्रीव को राज्य दिलाने और सीता को प्राप्त करने के लिये किया सुग्रीव भी राज्य प्राप्त करके बालि जैसा ही बन गया, अतः उसे भी बालि के मा जाना ही चाहिये। 'बालि वाला मार्ग' अर्थात् 'बध' व्यंजनायुक्त शब्द है, मित्र कारण सीधा 'मृत्यु' या 'बध' नही कहा है। दूसरे उदाहरण मे सीता का तिन ओट करके बात करना रावण के प्रति सीता की उपेक्षा और रावण की तुच्छत व्यंजित करता है। इसी प्रकार की स्थिति इसी प्रसंग में मानस में भी है :—

तृण धरि ओट कहत बैदेही। (५.९)

कथा-सादृश्य और चरित्र-सादृश्य के कारण दोनों कवियों की रचना स्थल विशेषों पर भावसादृश्य का होना भी स्वाभाविक है और उन स्थलों पर ए प्रकार की का उदाहरण दोनों रचनाओ मे मिल जाता है उक्त र

रण के अतिरिक्त एक दूसरा उदाहरण लीजिये जिसमें शब्द भिन्न है परन्तु भाषा की व्यजना शक्ति के द्वारा रावण का शौर्य, सीता की निर्भीकता और रावण की तुच्छता एव कापुरुषता उसी प्रकार ध्वनित हो रही है। ऊपर रामायण से दिये गये उदाहरण म० ८ में सीता ने रावण को मद्गु और स्वयं को कमलवन में विहार करने वाली राजहंसी कहा है। इसी प्रकार रावण की तुच्छता मानस में प्रकट की गई है--

सुनु दसमख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा। (५. ९)

जिस पर तिलमिला कर रावण सीता को मारने के लिए उद्यत हो जाता है।

तीसरे उदाहरण में 'र' की चमत्कारिक आवृत्ति द्वारा 'राम' का प्रताप और शौर्य व्यंजित होता है जिससे मारीच अत्यधिक भयभीत था और रावण के मन मे भी उसी आतंक का संचार करना चाहता था। इसी प्रकार चौथे उदाहरण मे 'शरेणैकेन' में काकु द्वारा 'एक' शब्द पर जोर देकर राम के बाण की महत्ता प्रकट की गई है। मानस में भी बाण के 'एक' विशेषण पर जोर है—

सुनु सुग्रीव मारिहउं बालिहि एकहि बान ॥ (४.६)

पाँचवें उदाहरण में सीता के लिये 'विषसंसृष्टभुक्तम्' अर्थात् विष मिला हुआ अन्न कहा गया है। वक्ता हनुमान हैं और बोधव्य रावण, यहां बोधव्य की विशिष्टता है और प्रयोजनवती गौणी लक्षणा के द्वारा सीता का रावण के लिये विष तुल्य अर्थात् साक्षात मृत्यु का निमंत्रण जैसा होना व्यंजित किया गया है। इससे भी राम का पराक्रम, सीता की महत्ता और रावण की कापुरुषता ध्वनित होती है। उदाहरण ६ मे रावण का गौरव तथा अगौरव (हीनता) एक साथ ध्वनित होता है। रावण महान इन्द्रियजित् और तपस्वी था जिस कारण यह इतना महान बना परन्तु फिर इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण ही उसकी पराजय हुई। इन पंक्तियों में एक ओर मन्दोदरी का पति-गर्व और सौभाग्य तथा दूसरी ओर महान विषाद व्यक्त हुआ है। सातवें उदाहरण में रावण की कामुकता, विशेषतः अन्तिम श्लोक 'यद्यत्पश्यामि' मे, प्रकट करने के लिये विशिष्ट व्यंजक शब्दों का प्रयोग किया गया है। रावण काम के ताप से पीड़ित है और सीता 'शीतांशु-सदृश' आनन वाली है, 'पृथुश्रोणि' शब्द उत्कट लालसा का व्यंजक है, 'गात्रं' और 'चक्षुर्निबध्यते' में भी वही उत्कट लालसा है। ऐसा प्रतीत होता है कि रावण ने काल्पनिक रूप में सीता का सम्पूर्ण शरीर ही अधिकार में कर लिया है और सीता का अपनी अस्पृश्य पवित्रता का दम्भ करना व्यर्थ है। मानसकार ने रावण की कामुकता को भरपूर प्रकट करते हुए भी भक्ति-भावना के कारण सीता की मर्यादा की रक्षा की है। अतः मानस में इस स्थल की उक्तियों का व्यंगार्थ परिवर्तित हो गया है। निम्नलिखित उदाहरण में देखिये—

कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥
तब अनुचरीं करउं पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥ (५,९)

सुमुखि सयानी आदि शब्दों से रावण की लालसा तो प्रकट हो गई परन्तु

सीता की मर्यादा बनी रही। 'एक बार विलोकु मम ओरा' में प्रणय-याचना के साथ ही भक्ति भावना भी ध्वनित है।[१]

वा० रामायण में भी रावण ने सीता के लिये ऐसे लालसा युक्त शब्दो का प्रयोग करके उनका जो अपमान किया था उसका उत्तर सीता ने अत्यन्त शान्त भाव से देकर आत्म सम्मान की रक्षा की है। उपरोक्त उदाहरण सं० ८ के दूसरे श्लोक का व्यंग्यार्थ सीता की पवित्रता और रावण के सारे प्रयासों की व्यर्थता सूचित करता है। कामभावना की तुष्टि केवल शरीरोपयोग में नहीं होती, उसमें मन का पूर्ण सहयोग भी आवश्यक है। रावण सीता का निर्जीव शरीर ही देख पाया था। उसी निर्जीव शरीर के अवयवों में उसकी दृष्टि बंधी थी। अगर वह उसे खा भी डालता अर्थात् पूरा भी उपभोग कर लेता तब भी सीता की पवित्रता अक्षुण्ण थी। मन के बिना तन निर्जीव होता है। सीता का मन तो हरण के समय पीछे ही रह गया था, अब वह प्राण भी परित्याग करने वाली थी। रावण उस निष्प्राण शरीर को फिर चाहे बांधे, चाहे खाये। शव को समेटने वाला होता है चाण्डाल और खाने वाला कुत्ता और शृगाल।

तुलसीदास की 'उपजहि अनत अनत छवि लहही'[२] उक्ति के अनुसार उक्त श्लोक का यह भावार्थ युक्तिसंगत माना जा सकता है। बाल्मीकि ने जहाँ व्यंजना द्वारा रावण को चाण्डाल, कुत्ता और गीदड़ कहा, वहाँ तुलसी ने भक्ति के आवेश में उसे अभिधा द्वारा सीधे-सीधे ही कुत्ता[३], म्लेच्छ[४], और ससक[५] कह दिया है।

मानस की भाषा से व्यजना के उदाहरण देने की अपेक्षा इस विषय में कवि की कुछ प्रवृत्तियों का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। तुलसी गिरा-ग्राम्य को गौरव प्रदान करते हुए भी ध्वनि-काव्य को ही सर्वोत्तम मानते थे और बाणी का यह चरम आदर्श उन्होंने भक्तराज भरत को प्रदान किया है। भरत की भाषा में तुलसी ने चित्रकूट सभा के अवसर पर कहा है—

सुगम अगम मृदुमंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुर मुकर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी॥[६]

ये दो पंक्तियाँ भाषा की व्यंजना शक्ति और ध्वन्यात्मकता की परिभाषा प्रस्तुत करती हैं। 'रामायण की व्याकरण' के लेखक ग्रीव्स ने तुलसी की भाषा के विषय में कहा है—'गुसाई बजनिया हैं और भाषा बाजा'[७] अर्थात् भाषा पर उनका

---

१. मानस-पीयूष, अंजनीनन्दन शरण, सुन्दर काण्ड, पृ० ९९।
२. मानस, बाल० ११।
३. सो दससीस स्वान की नाईं (३.२८)।
४. जिमि म्लेच्छ बस कपिला गाई (३.२९)।
५. जिमि हरवधुहि छुद्र सस चाहा (३.२८)।
६ अयो० २९९।
७ तुलसी ग्रंथावली, भाग ३, पृ० ५८।

पूर्ण अधिकार है और उसमें से सूक्ष्मतम भावों की ध्वनि फूटती है। 'व्यंग' और 'कूट' आदि शब्दों का प्रयोग भी तुलसी ने किया है। शिव की बारात में जब विष्णु अपना-अपना दल अलग लेकर चलने को कहते है तब शिव के मुख से कवि ने कहलाया है—'हरि के बिंग्य वचन नहि जाहीं' (बाल० ९३)। इसी प्रकार 'नारद-मोह' प्रकरण में शिव के गण नारद से विनोद करते है कि इन्हें देखकर राज कुमारी अवश्य रीझ जायेगी, भगवान ने इन्हें अनौखी सुन्दरता दी है। वस्तुतः यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि है, परन्तु तुलसी ने इसे कूट कहा है—'करहिं कूट नारदहि सुनाई' (बाल० १३४)। मानस में व्यंग के पात्र प्रायः राम के विरोधी ही बनाये गये है, विशेषकर राम के दास न होकर जो काम के दास बने है उन पर तुलसी ने तीखे व्यग किये हैं; यहाँ तक कि जब राम सीता के विरह में विलाप करते हुए घूम रहे थे तब उन्होंने स्वयं उनसे आत्म-परिहास करवाया है—

> हमहि देखि मृग निकर पराहीं। मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं॥
> तुम आनंद करहु मृग जाए। कंचन मृग खोजन ए आए॥
> संग लाइ करिनी करि लेही। मानहुं मोहिं सिखावन देहीं॥
> सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहि लेखिअ॥
> राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती शास्त्र नृपति बस नाहीं॥
>
> (अरण्य० ३७)।

लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद में परशुराम को वास्तविक स्थिति का बोध कराने के लिये राम ने जो वचन कहे थे 'जो हम निदरहिं विप्र वदि' वे भी अत्यन्त गूढ़ थे, जिनसे कि परशुराम की मति के पटल उघड़ गये थे और उन्होंने राम के स्वरूप को पहचान लिया था—(दे० बाल० २८३-८४)। अंगद-रावण सम्वाद में अंगद ने वक्रोक्ति के धनुष पर वचन रूपी बाण रखकर रिपु का हृदय जला डाला था (दे० लंका० २३ ङ), उसकी युक्तियाँ सुनकर एक बार रावण अपनी झेंप छिपाने के लिये मुस्करा भी उठा था (दे० लंका० ३४)। इस प्रकार तुलसी की व्यंग-पटुता और वाग्विदग्धता उनकी सम्वाद-रचना में विशेष रूप से देखी जा सकती है।

व्यंजनावृत्ति का प्रयोग संक्षिप्तता के लिये, किसी अशोभनीय स्थिति को छिपाने के लिये, अथवा वक्ता या श्रोता के गौरव की रक्षा के लिये भी किया जाता है। तुलसी ने ऐसे अवसरों पर 'मरम वचन' मात्र शब्दों का प्रयोग करके सम्पूर्ण परिस्थिति को व्यंजित कर दिया है। उदाहरण के लिये दो स्थलों को ले सकते हैं। प्रथम स्थल वह है जब कि मारीच का कृत्रिम स्वर सुनने पर सीता लक्ष्मण को कुटी छोड़कर जाने के लिये प्रेरित करती हैं और लक्ष्मण की अतत्परता देखकर 'मरम वचन' का प्रयोग करती है (दे० अरण्य २८)। बाल्मीकि ने इस अवसर पर सीता की स्त्री-सुलभ दुर्बलता को न छिपाते हुए उनसे स्पष्ट शब्दों में लक्ष्मण के चरित्र पर आक्षेप करवाया है (दे० अरण्य सर्ग ४५)। तुलसी ने 'मरम-वचन' लिखकर घटना को संक्षिप्त करने के साथ ही वक्ता और बोधव्य दोनों के गौरव की रक्षा कर ली है ठीक

यही स्थिति लंका से सीता के लौटने के अवसर पर है। वा० रामायण में राम ने उनसे स्पष्ट रूप में अत्यन्त कटु वचन कहे हैं जिनसे राम और सीता दोनों की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचती है, (दे० युद्ध काण्ड, सर्ग ११८) परन्तु भक्त तुलसीदास ने 'कछुक दुर्बाद' मात्र कहकर काम चलाया है (दे० लंका १०८)।

रामकथा के पुनर्विधान में तुलसीदास को भाषा की व्यंजना शक्ति ने सबसे अधिक सहयोग प्रदान किया है। इसी के बल पर उन्होंने उसमें नवीन वातावरण उत्पन्न कर दिया है और पुरातन घटनायें एवं पात्र नवीन ही प्रतीत होने लगे हैं। वा० रामायण के कुछ मूक प्रसंगों में उन्होंने प्राण संचार किया है, उन्हें जीवन दिया है, मुख्यतया बालकाण्ड के प्रसंगों को, जैसे धनुष-यज्ञ का प्रसंग।

चित्रकूट-सभा के प्रकरण का भी उन्होंने पुनर्विधान किया है और निस्सन्देह मानस का यह स्थल वा० रामायण की अपेक्षा भावों की अनेकानेक प्रतिध्वनियों से गूँज उठा है। 'भरत-भारती' रूपी 'मंजु-मराली' ने मानस रूपी मानसरोवर के इस गम्भीरतम स्थल पर अपनी सर्व सुन्दर गति प्रकट की है। अत्यन्त सधी हुई भाषा के द्वारा उलझी हुई समस्या को सुलझाया गया है। वन-पथ पर राम, लक्ष्मण और सीता के गमन का चित्र, भोले भाले ग्रामवासियों के भावपूर्ण हृदय की झाँकी, अत्यन्त सरल परन्तु अत्यन्त ध्वन्यात्मक भाषा मे दी गई है। ग्राम वधुओं ने सीता से राम का परिचय पूछा और सीता ने बिना भाषा के ही उत्तर दे दिया—

सरद बदन बिधु अंचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति सीय कहेउ तिन्ह सैननि॥
(अयो० ११७)

मानस की भाषा की व्यंजना शक्ति और वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस ध्वनि, तीनों का ही यह एक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। व्यंजना अत्यन्त सूक्ष्म होती है, अतः सूक्ष्मतम व्यंजना स्थूल अक्षरों में न बंधकर सैनों और संकेतों का आश्रय लेती है। सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति के उपकरण भी उतने ही सूक्ष्म होते हैं, कलाओं की सापेक्षिक श्रेष्ठता और निम्नता के निर्णय का भी यही आधार है।[1] यह तो रही तुलसीदास की सूक्ष्मतम अक्षर रहित संकेतमयी भाषा की बात। ध्वनि के विचार से इसमें सीता का सौन्दर्य वस्तु ध्वनि है, 'लज्जा' भाव ध्वनि है, सैनों में कहने जैसे शारीरिक धर्म का आरोप लाक्षणिक प्रयोग है जिसे अंग्रेजी का 'पर्सोनिफिकेशन' कह सकते हैं। अतः इसे अलंकार-ध्वनि में लिया जा सकता है। राम के प्रति सीता के अतिशय परन्तु मर्यादित प्रेम की व्यंजना के कारण यहाँ रस ध्वनि के विचार से श्रृंगार है। सम्पूर्ण स्थल नाटकीय है। नाटक में अनुकृति की प्रधानता होती है। उसमे भाषा को अभिनय का सहयोग मिल जाता है जो कि तुलसी

१. "जिस कला का मूर्त आधार जितना ही कम रहता है, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जाती है—साहित्यालोचन श्याम सुन्दर दास संवत् २००६ पृ० १८।

को प्राप्त है। इस प्रकार नाटकीय शैली ने भी तुलसी की भाषा की व्यंजना में वृद्धि की है।

भक्ति परक स्थलों पर भी तुलसी की भाषा विशेष रूप से व्यंजना शक्ति से भर उठी है। उदाहरण के लिये निषादराज केवट के साथ एक दूसरे सेवक केवट की कल्पना करके उन्होंने भक्त की भावविह्वलता का अत्यन्त रसमय चित्र उपस्थित किया है—

चरन कमल रज कहुँ सब कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखनतन॥ (अयो० १००)

भावबेश के अवसर पर भाषा अटपटी हो जाती है, भाषा की तराजू भावों को तौल पाने में असमर्थ हो जाती है, यहाँ तक कि मुख से बचन ही निकलना बन्द हो जाते हैं। अहल्या की ऐसी स्थिति देखिये—

अति प्रेम अधीरा, पुलक सरीरा, मुख नहिं आवइ बचन कही। (बाल० २११)

मानस के भक्तों के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये हैं जिनसे प्रकट होता है कि भक्ति के गूढ़ भावों को व्यक्त करने के लिये मानुषी भाषा अपूर्ण है। मानस उसी अपूर्ण भाषा का आदर्श है, 'हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी' (बाल० प्रस्तावना, ९) परन्तु साथ ही वह 'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी' भी (अयो० २९४) है। राम और उनके भक्त ऐसे ही अद्भुत वाणी के स्वामी हैं और यह वाणी वर्णच्छटा रहित, मात्र उज्ज्वल वर्ण से प्रदीप्त, भक्तिभावना से विभोर वाणी है।

बाल्मीकि और तुलसी दोनों की ही भाषा की यह विशेषता है कि वह सरल होकर भी भाव की गहराई से गंभीर है, वर्णों के भार से दबी हुई नहीं। भाषा की इन तीन शक्तियों के अतिरिक्त तीनों गुणों और वृत्तियों एवं रीतियों का भी पूरा सम्भार इस कवि युग्म की काव्य-रचना में मिलेगा, परन्तु अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप में। इनके उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है, कथा प्रसंगों से ही उनका संकेत किया जाना पर्याप्त होगा। प्रसाद गुण के विषय में तो बहुत कुछ कहा जा चुका है। माधुर्य गुण निसन्देह वाल्मीकि में अधिक मिलेगा, इसके दो कारण हैं—एक तो तुलसी की श्रृंगार भावना अत्यन्त मर्यादित और नियंत्रित रही है और उसी के अनुसार माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति के अवसर भी कम हो गये हैं। संयोग श्रृंगार के जैसे सरस और विप्रलंभ के जैसे द्रावक चित्र वाल्मीकि रामायण मे है, मानस में नहीं हैं। मानस के पुष्प वाटिका, सीताहरण पर राम विलाप और अशोक वाटिका के प्रसंग अत्यन्त भावपूर्ण हैं, उनमें प्रकरण की भावमयता भी एक कारण है, साथ ही रीति या वृत्ति-विधान को भी उसका श्रेय है। रामायण की अपेक्षा मानस मे माधुर्य गुण के अभाव का दूसरा कारण संगीतत्व भी है। रामायण में संगीतत्व मानस की अपेक्षा अधिक है, भाषा के इसी गुण को वाल्मीकि ने सबसे अधिक महत्त्व दिया है यह वस्तुत संस्कृत भाषा का ही प्रधान गुण या मानव सम्यता

के उस शैशव काल में भाषा सहज संगीतमयी थी । यहाँ तक कि वैदिक और लौकिक संस्कृत का भी मुख्य अन्तर उसकी संगीतात्मकता में ही है। वैदिक संस्कृत लौकिक की अपेक्षा अधिक संगीतमयी है, उसमें व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों की प्रधानता है। इसीलिये वैदिक भाषा को लेकर व्याकरण के प्रारम्भिक प्रयास ध्वनितत्व से ही आरम्भ हुए थे। इस दृष्टि से प्रातिशाख्यों को व्याकरण-विकास का प्रथम-चरण कहें तो उपयुक्त होगा क्योंकि उनमें भाषा के प्रथम अवयव 'ध्वनि' या नाद को लेकर व्याकरण विषयक विवेचन आरम्भ हुआ है। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत मे और लौकिक संस्कृत से प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में और फिर देशी भाषाओं में यह नैसर्गिक संगीत उत्तरोत्तर कम होता गया। अतः वीणा ताल-लय समन्वित, शिक्षा-समायुक्त, कुशीलवों के कण्ठ से निस्सृत-प्रसारित वाल्मीकि रामायण की भाषा के माधुर्य गुण की तुलना निस्सन्देह मानस से नहीं की जा सकती। शृंगारपरक स्थलों पर तो मानसकार कुछ माधुर्य गुण. रामायण की तुलना में रखने योग्य, ले भी आया है परन्तु प्राकृतिक चित्रों की रमणीय झांकी प्रस्तुत करते समय वाल्मीकि की वीणा जैसे मधुर स्वर बरसाती है तुलसी के मानस में एक भी तरंग वैसी नहीं है। रामायण के प्रकृति चित्रण वाले स्थलों से सम्बन्धित कुछ श्लोक देखिये—

(अ) १. चंचच्चन्द्रकरस्पर्श हर्षोन्मीलित तारिका
अहो रागवती सन्ध्या जहातीदाम्बरम् । (४. ३०. ४६)

२. क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति ।
क्वचित्क्वचित्पर्वत संनिरुद्धं
रूपं यथा शान्त महार्णवस्य ॥ (४. २८. १७)

३. वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति ।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगाः ॥ (४. २८. २७)

४. वर्षाप्रवेगा विपुलाः प्रतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुद्दीर्णघोषाः ।
प्रनष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलैर्विप्रतिपन्नमार्गाः ॥ (४. २८. ४५)

५. षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम् ।
आविष्कृतं मेघमृदंगनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥ (४. २८. ३६)

और इनकी तुलना तुलसी के वर्षा-वर्णन से कीजिये—

(आ) मेघ नभ छाए गरजत लागत परम सुहाए

दामिनि दमक रहन घन माही। खल कै प्रीति जथा थिरनाहीं।।
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन संत सह जैसें।।
ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी के संपति जैसी।।
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा।।
(किष्किंधा-१३,१४)

प्रकृति के कोमल रूपों और वर्षा, शरद, वसन्त ऋतुओं का वर्णन करते समय हार्दिक उल्लास की प्रेरणा से भाषा स्वतः संगीतमयी हो उठती है और काव्य की दृष्टि से उसमें माधुर्य गुण का संचार और वैदर्भी रीति एवं उपनागरिका वृत्ति का विधान हो जाता है। ऐसे वर्णन प्राय: शृंगार-रस के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत होते हैं। उल्लिखित उद्धरण वर्षा-वर्णन और विप्रलंभ शृंगार से सम्बन्धित हैं। एक ओर समासबहुला संस्कृत भाषा है, दूसरी ओर व्यास प्रधान हिन्दी। एक में आनुप्रासिक छटा और संगीततत्व है, दूसरे उद्धरण में अनुप्रास के छींटों से माधुर्य का संचार हुआ है (दामिनी दमक', 'ससि संपन्न') वैदर्भी के अनुरूप वर्णयोजना (निसि तम घन खद्योत बिराजा') भी कहीं-कहीं है, परन्तु कुल मिलाकर इसमें प्रसाद गुण और कोमला वृत्ति ही है और हार्दिक उल्लास से प्रेरित संगीत न होकर नैतिक दृष्टि से संचालित उपदेश तत्व ही है।

मानस में माधुर्य की छटा पुष्पवाटिका, राम-विलाप और अशोक-वाटिका के प्रसगों में मिलती है। 'कंकनकिंकिनि नुपुर धुनि सुनि' (बाल० २३०) 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी' (अरण्य० ३०), 'चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संजातम्' (सुन्दर० १०), माधुर्यगुण और उपनागरिका वृत्ति के उत्तम उदाहरण है, परन्तु तुलसीदास जैसा सन्त कवि माधुर्यगुण का दूर तक प्रसार नहीं कर पाता। वह शीतल मधुर जल को शर्बत और आसव से कम नहीं मानता। अतः तुलसी की भाषा-शैली में माधुर्य गुण झलक पाता है, छलक नहीं पाता। प्रकरण के अनुकूल वे माधुर्य गुण लाते हैं, क्योंकि कथा के मूल तत्वों की रक्षा उन्हें करनी है परन्तु प्रसाद-गुण तुलसी की प्रकृति के जितना समीप है उतना न तो माधुर्य गुण और न ओज गुण। वाल्मीकि की भाषा भी पूर्ण प्रासादिक है परन्तु संस्कृत भाषा की सहजात संगीत-मयता और रामकथा का नैसर्गिक ओज वाल्मीकि रामायण को, शैली की दृष्टि से, रामचरितमानस से पृथक करता दिखलाई पड़ता है।

मानस की भाषा में माधुर्य गुण का विशेष सन्निवेश कोमल-मधुर कथा प्रसंगों के अतिरिक्त ऐसे स्थालों पर हुआ है जहां कवि ने संस्कृत की तत्सम-शब्दावली को अपनाया है जैसे उपरोक्त 'चन्द्रहास हरु मम परितापं' में और स्तुतियों में। स्तुतियों मे न केवल तत्सम-शब्दावली के कारण वरन् अन्यत्र भी, हरिगीतिका छंदों में विशेष-कर, माधुर्य गुण और उपनागरिका वृति की प्राप्ति होती है। इसका कारण यह है कि इन स्तुतियों में चाहे वे संस्कृत की तत्सम शब्दावली में हैं और चाहे हरिगीतिका छन्द में तुलसी का हार्दिक उल्लास है और भक्ति का घनीभूत है माधुर्य

गुण, उपनागरिका वृत्ति और वैदर्भी रीति का सम्बन्ध—जैसा कि कहा जा चुका है—शृंगार रस के साथ विशेष रूप से होता है और तुलसी का शृंगार वैष्णव भक्तों का "उज्ज्वल रस" भक्ति है। अतः मानस में माधुर्यगुण के सर्वोत्तम और सर्वाधिक उदाहरण उसके भक्ति परक स्थलों पर विशेष रूप से देखे जा सकते हैं। पूर्वोल्लिखित अयोध्याकाण्ड का निषाद-प्रसंग, अहल्याकृत स्तुति और अन्य प्रकरण इसके प्रमाण है।

तुलसी के समस्त काव्य-गुण उनकी भक्ति के आश्रित हैं और उनकी भक्ति एक उत्कृष्ट भावना है। अतः उनके काव्यगुण भी लोकतत्व, शास्त्रतत्व या कलातत्व किसी भी दृष्टि से कम या सामान्य स्तर के नहीं हैं।

ओज गुण भी वाल्मीकि रामायण में मानस की अपेक्षा अधिक है। इसके दो कारण है। एक तो, संस्कृत भाषा मे माधुर्य के साथ सहज ओजस्विता होती है और उसकी समासबहुलता भी इसमें सहायक होती है। दूसरे, काव्य-विषय के भी कारण ऐसा है। वा० रामायण मुख्य रूप से वीर-काव्य है और रामचरितमानस भक्ति काव्य। रस-विवेचन सम्बन्धी अध्याय में इस विषय पर विचार किया गया है। कथा और पात्रों की समानता के कारण दोनों काव्यों में विशिष्ट स्थलों पर ओज गुण का संचार हुआ है, जैसे निम्नलिखित उदाहरण में—

(अ) एकेनाहं प्रमोक्ष्यामि बाणमोक्षेण संयुगे। (४. १४. ११.)

(आ) सुनु सुग्रीव मारिहउं बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएं न उबरिहिं प्रान ।। (४. ६)

उक्त उद्धरणों में राम की बालि-बध की प्रतिज्ञा है, अतः युद्धवीर का उत्साह है। ह्रस्व वर्णों की आवृत्ति, (अ) में 'क्ष' और (आ) में 'ह्म' तथा 'द्र' से आवश्यक पारुष्य का संचार हुआ है और 'एक बाण' पर जोर देने के कारण भाव पक्ष के अन्तर्गत उत्साह और भी तीव्र हो गया है। ये लक्षण ओजगुण के अनुकूल हैं, फिर भी भाषागत ओजगुण रामायण में ही अधिक दिखलाई पड़ता है। संस्कृत का 'ण' हिन्दी के 'न' के रूप मे कोमल और सुकुमार बन जाता है, परुष मूर्धन्य ध्वनि के मधुर दंत्य अनुनासिक बन जाने पर ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

तुलसी के राम वीर से अधिक प्रणतपाल हैं, उनका प्रधान गुण करुणा है, जिस कारण वे शत्रु पर भी दया करते हैं और भगवान होने के नाते उसे मोक्ष भी दे देते हैं। ऐसी स्थिति में ओज गुण का प्रसाद गुण के आधीन रहना स्वाभाविक ही है।

मानस में ओज गुण या परुषावृत्ति प्रसंगों के अनुसार झलकती चलती है। उसमें भी आन्तरिक भावावेश तो होता है परन्तु वृत्ति विधान की चेष्टा नहीं दिखलाई पड़ती। जनक-सभा में लक्ष्मण का रोष, रावण के दरबार में अंगद का अमर्ष (कटकटान कपि कुंजर भारी। दुहुं भुजदण्ड तमक महि मारी) आदि प्रसंगों में वृत्ति विधान न होकर ओजगुण की एक हल्की लहर मात्र आती है। कहीं-कहीं अवश्य परुषावृत्ति का विधान भी दिखाई पड़ता है

१. मारहिं चपेटन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन्ह मींजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजहीं॥
(लंका० ८१)

२- बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परिन्ह खग्ग अलुज्झि जुज्झहि सुभट भटन्ह ढहावहीं॥
(लंका० ८८)

इन उदाहरणों मे 'ट' की आवृत्ति और द्वित्व वर्ण-प्रयोग की प्रवृत्ति बिल्कुल स्पष्ट है, 'ल्ल' और 'ज्झ' जैसे प्रयोग वृत्तिविधान के लिये ही है।

अलंकार और रस के प्रकरणों में भी भाषा से सम्बन्धित कुछ विशेषताओं का आनुषंगिक रूप से उल्लेख हुआ है, अतः इस विषय का अधिक विस्तार अनावश्यक है। चमत्कारिकता से सम्बन्धित अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ केवल एक एक उदाहरण दोनों कवियों की इस प्रवृत्ति का किंचित् आभास मात्र देने के लिये प्रस्तुत किया जा रहा है—

(अ) ताराभिरामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम्। (५. १. ५६)
(उदय हुए सुन्दर तारों से सज्जित आकाश मंडल)।

(आ) अयमय खाड न ऊखमय—(बाल० दो २७५)।

पहले उदाहरण में वाल्मीकि का 'र' की आवृत्ति द्वारा अनुप्रास-विधान प्रयास-जन्य है जिसमें सहजता समाप्त हो गई है, उच्चारण में जिह्वा का व्यायाम होता है और श्रुतिकटुत्व न सही तो उच्चारण-क्लेश अवश्य आ गया है।

दूसरे उदाहरण मे लोहे का खांड (तलवार) और ऊख का खांड (शक्कर) चमत्कारिक श्लिष्ट प्रयोग अवश्य है, परन्तु क्लिष्टत्व दोष से मुक्त नहीं है।

इस प्रकार दोनों कवियों में चमत्कार लाने की प्रवृत्ति, क्रीड़ा, कौतुक और आकर्षण पैदा करने का मोह भी यत्रतत्र लक्षित होता है परन्तु यह उनकी शैली की व्यापक प्रवृत्ति नहीं है।

अन्त में दोनों के भाषा-पांडित्य के विषय में भी कुछ कह देना आवश्यक है। दोनो का काव्य भाषा का पूरा शब्द-कोष है। महाकाव्य इस अर्थ में भी महाकाव्य होता है कि उसमें प्रयुक्त शब्दावली में एक भाषा का प्रायः पूरा शब्दकोष समा जाता है। वा० रामायण परवर्ती संस्कृत साहित्य के लिये भाषा की टकसाल कही जा सकती है जहाँ से शब्दो के सिक्के लेकर कवियों ने काव्य का बनिज किया है। विविध भावनाओं की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त जीवन और जगत के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रचुर शब्दावली का संग्रह दोनों ही काव्यों से किया जा सकता है—पारिवारिक जीवन दिनचर्या ऋतु, वनस्पति जगत वाणिज्य शिल्प गणित ज्योतिष युद्धशास्त्र आदि के कुछ ऐसे शब्द देखिये

(अ) गणित या संख्या सम्बन्धी—

अयुत (दस हजार), नियुत (एक लाख), प्रयुत (दस लाख), न्यर्बुद (एक अरब)।

ये चारों शब्द लगातार चार श्लोकों में प्रयुक्त हुए हैं जिससे प्रकट है कि कवि इनका नमूना प्रस्तुत कर रहा है (दे० ६. ३. २४-२७)।

(आ) इसी प्रकार युद्ध से सम्बन्धित कुछ शब्द देखिये—

इषूपलयन्त्राणि और शतघ्नी (एक प्रकार की तोपें)—दे० ६. ३. १२-१४ तथा परिखा (खाई) और संक्रम (पुल)—दे० ६. ३. १६।

ज्योतिष और शकुनापशकुन से भी सम्बन्धित प्रचुर शब्दावली रामायण में मिलेगी। लता, पुष्प और वृक्षों के असंख्य नाम उसमें मिलेंगे। आशय यह है कि प्राचीन ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक जीवन का संपन्न कोष रामायण से संग्रहीत किया जा सकता है।

मानस का शब्दकोष संग्रहीत किया जा रहा है। इस प्रकार के प्रयासों में तुलसी शब्दसागर[1] और इंडेक्स वर्बोरम आव राम चरित मानस[2] उल्लेखनीय हैं और कुछ अन्य विद्वान इस क्षेत्र में और भी अधिक अध्यवसाय पूर्ण कार्य कर रहे हैं[3]। तुलसी का शब्दकोष वा० रामायण से भी अधिक विस्तृत है क्योंकि उसमें लोकजीवन की भी बहुत सी शब्द-सम्पत्ति संचित है। पारिवारिक जीवन, संस्कार, त्योहार, शिष्टाचार, व्यवसाय, कला-कौशल, परम्परागत इतिहास आदि से संबन्धित विपुल शब्द-भण्डार मानस में संग्रहीत हुआ है।[4] दूसरी ओर संस्कृत के अनेक लुप्त होते हुए शब्दों को भी तुलसी ने मानस में यत्न पूर्वक समेट लिया है। निम्नलिखित दोहे में तुलसी की इसी प्रवृत्ति के साथ साथ, उनका भाषा-पांडित्य और चमत्कारिता भी लक्षित होती है:—

बांध्यो 'बननिधि' 'नीरनिधि' 'जलधि' 'सिंधु' 'बारीस'।
सत्य 'तोयनिधि' 'कंपती' 'उदधि' 'पयोधि' 'नदीस'॥ (लंका०, दो०५)

उक्त दोहे में रावण के दश मुख एक साथ बोल उठे हैं और प्रत्येक से सागर का एक नाम निकला है। इस प्रकार एक-एक शब्द के न जाने कितने-कितने पर्यायवाची मानस के शब्दकोष में प्राप्त होंगे। कमल, चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, नदी, बन, सागर पर्वत, बाण, तरकस, घर आदि पदार्थों तथा ब्रह्मा, शिव, पार्वती, राम, सीता, लक्ष्मण हनुमान, रावण आदि पात्रों के न जाने कितने पर्यायवाची मिलेंगे जिनसे कवि का भाषा-पांडित्य, प्रतिभा और चमत्कारिकता सभी कुछ प्रकट होगी। वस्तुत: यह अपने मे एक अनुसंधान का विषय है। बन्दर के लिये 'हरि, कपि, कीश, मर्कट, शाखामृग' आदि प्रचलित शब्दों के अतिरिक्त. 'बलीमुख' जैसे विस्मृत शब्द को भी उन्होंने

---

१. सम्पादक-भोला नाथ तिवारी। २. सम्पा० डा० सूर्यकान्त शास्त्री, ३. पं० विश्वनाथ प्रसाद काशी विश्वविद्यालय ४ इस प्रकार की कुछ शब्द सूची डा० देवकी नन्दन श्रीवास्तव ने तुलसीदास क भाषा' (संवत २०१४) में संग्रहीत की है दे पृ० ३१४-२५४

मानस में सुरक्षित रक्खा है (दे० लंकाकाण्ड ४७, ५ तथा ७०,२)। तुलसीदास के इस अपरिमित शब्द-संग्रह के विषय मे एक उदाहरण प्रस्तुत करने का लोभ-संवरण नहीं किया जा सकता। एक विद्वान का कथन है—

तुलसीदास जी की कविता की बदौलत लगभग नब्बे हजार सस्कृत शब्द देहात के अपढ़ आदमियों के घरों मे भी जा बैठे है जो शिक्षा-विभाग या विश्वविद्यालयो द्वारा भी वहाँ तक हरगिज नहीं पहुँच सकते थे। ये शब्द हिन्दू संस्कृति के मूल स्वरूप है, जो बौद्धमत और पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के अंधड़ में उखड़ गये थ, तुलसीदास ने उन्हें फिर जमा दिया। उसी तरह गावों के लगभग तीस-चालीस हजार शब्दों को सभ्य या शहराती समाज तक पहुँचा दिया, जिससे पढ़ी लिखी और देहात की अपढ़ जनता में विचारों की समानता स्थापित करदी। मौके-मौके पर अरबी-फारसी के शब्द भी डाल दिये गये हैं...। रामचरितमानस लोक-संग्रह का एक आदर्श बन गया है।"[१]

तुलसी के साहित्य में जो समन्वय की भावना चरम उत्कर्ष पर पहुंची हुई दिखलायी पड़ती है, यहाँ तक कि 'साहित्य' और 'समन्वय' पर्यायवाची बन गये है, उसका उदाहरण उनकी भाषा मे भी इतने व्यापक-विराट् रूप में दिखलाई पडता है। उनकी भाषा में भी यह लोक, शास्त्र और साहित्य की त्रिवेणी दिखलाई पडती है।

दोनों कवि भाषा शास्त्री और भाषा के जौहरी थे। उन्होंने अनेक दृष्टियों से शब्द-विधान किया है, भाषा की सेवा की है, साधना की है, उसके साथ क्रीड़ा भी की है, कोई चमत्कार छूटा नहीं है, फिर भी कृत्रिमता, चमत्कार-प्रदर्शन या पांडित्य के फेर में वे नहीं पड़े हैं। सहजता और सरलता के साथ, सरसता, सगीतमयता और भाव व्यंजकता, दूसरे शब्दों में साहित्यिकता, उनकी भाषा का प्रधान गुण है। एक शब्द में, दोनों की भाषा महाकाव्योचित भाषा है—जनजीवन के समीप, उच्चतम विचारों की वाहक और गहनतम भावों की व्यंजक। उसका मुख्य लक्ष्य है भाव-प्रकाशन और भावोद्बोधन और इसकी पूर्ति के लिए यदि व्याकरण की अवहेलना करदी गई है तो पाडित्य-प्रदर्शन और कलात्मक पच्चीकारी की भी। इस विषय मे प्राय: एक से ही मत दोनों कवियों की भाषा के विषय में प्रकट किये गये है—

"The language of valmiki is simple and easy. It is just as is suited for a lyric poem, being impassioned and full of alliterative sounds. It is not, however, sufficiently dignified and sonorous nor as correct as the language of Mahabharat. But the subtle thought and emotion which it clothes make you forget the inaccuracies that constantly occur."[२]

---

१. तुलसी और उनका काव्य, रा० न० त्रिपाठी, दिल्ली, (१९५३), पृ० २७७।

२ रिद्धिल सी० वी० वैद्य पृ० ९१

२. "तुलसीदास की अनुपम शैली का सौंदर्य उसकी ऋजुता, उसकी सुबोधता उसकी सरलता, उसकी चारुता, उसकी रमणीयता, उसके लालित्य और उसके प्रवाह मे है और ये गुण रामचरितमानस में चरमउत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। रामचरितमानस की लैली सरल तथा आडम्बर विहीन है। कवि इसे किसी ऐसी वस्तु से सजाने का प्रयास नहीं करता जो पाठक के ध्यान को काव्य की वस्तु से हटा सके। वह स्वाभाविक तथा स्वतः प्रवर्तित है।"[१]

अन्तर की दृष्टि से वाल्मीकि की भाषा अधिक परिष्कृत (संस्कृत), अधिक व्यवस्थित, अधिक ओजस्विनी, अधिक संगीतमयी है और तुलसी की भाषा वाल्मीकि की अपेक्षा सामान्य और कुछ ग्रामीण होती हुई भी भावव्यंजकता में उससे आगे है। इसका कारण है भाषा-विधान में तुलसी की स्वच्छन्दता। भावाभिव्यक्ति के विकास के लिये उन्होंने अनेक उपाय किये हैं—"शब्द गढ़ कर, धातुओं से क्रियायें बनाकर, विदेशी शब्दों को अवधी रूप देकर, और विभिन्न प्रान्तों की बोलियों के ठेट शब्दो का निस्संकोच प्रयोग करके, उन्होने भाषा में अत्यधिक अभिव्यंजना शक्ति भरदी है।[२]" यही कारण है कि मानस के द्वारा जनता के हृदय में रामकथा का जितना अधिक प्रवेश हुआ, जनजीवन में वह जितनी अधिक घुलमिल गई उतना वा० रामायण के द्वारा नहीं हुआ। इस प्रकार भाषाशास्त्र और भाषाशिल्पी के रूप मे तुलसी का महत्व समझा जा सकता है।

तुलसी की भाषा की भावाभिव्यंजकता ने उसकी सारी त्रुटियों की पूर्ति कर दी है और यह हिन्दी की शैली की आदर्श स्वरूप बन गई है। आज खडी बोली के श्रेष्ठ कवि भी तुलसी की भाषा के छीटों से अपनी भाषा को पवित्र करने मे गौरव का अनुभव करते हैं।[३] खड़ी बोली के कवियों में भाषा-विधान की दृष्टि से पडित सुमित्रानन्दन पंत का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है—"भाषा का इतना बड़ा विधायक हिन्दी में कोई नहीं है—हाँ, कभी कोई नहीं रहा।"[४] और पन्त के ही शब्दों में—

तुम वहन करसको जनमन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार।

× × ×

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार॥[५]

---

१. तुलसीदास, मा० प्र० गुप्त तृ० संस्करण, पृ० ३६१।

२. महाकाव्य, शंभुनाथ सिंह, काशी, पृ० ५५३।

३. खड़ी बोली के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बच्चन ने अभी हाल में गीता का अनुवाद अवधी में अत्यन्त सफलता पूर्वक किया है।

४ पन्त नगेन्द्र चतुर्थ संस्करण, पृ० ०

५ आधुनिक कवि २, प्रयाग सम्वत् २००३ पृ० १०२

'जन के मनोनभ में विहार' कर पाना ही भाषा की पूर्ण सिद्धि है। इस दृष्टि से तुलसी को वाल्मीकि की अपेक्षा भाषा-सिद्धि अधिक प्राप्त हुई है अथवा यह कह सकते हैं कि वाल्मीकि और कालिदास की वाणी की गूंज जब मन्द पड़ती दिखलाई पड़ी, गुफाओं और खण्डहरों, कुटियों-कोठरियों, कमरों और अलमारियों में बन्द रहने लगी, तब तुलसीदास ने नवीन स्रोतों से मानस के भाषा-भण्डार को भरकर—लोक, शास्त्र, और साहित्य—सभी से शब्द संग्रह, लोकोक्तियां, मुहावरे और विविध भाषा-पद्धतियाँ संग्रहीत करके एक अपूर्व भाषा-कोष तैयार कर दिया। रामचरित-मानस महाकाव्य के रूप में राष्ट्र-भाषा का एक अनुपम वृहद् शब्दकोष है। आज भी राष्ट्रभाषा विषयक समस्याओं के समाधान में वह अत्यन्त उपयोगी है।[1]

वा० रामायण और रामचरितमानस एक ही विषय के महाकाव्य हैं परन्तु दोनों का काव्य-रूप समकालीन परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न है, अतः दोनों की भाषा-शैली में उद्देश्यों की समानता होते हुए भी प्रयोगों की भिन्नता है।

(२) छन्द

उपयोगिता और परिभाषा

छन्द वेद के छः अंगों में से एक है। उसे वेद के चरण कहा गया है—"छन्दः पादौ तु वेदस्य।"[2] इससे काव्यांग के रूप में छन्द की प्राचीनता और अनिवार्यता, दोनों ही प्रकट होती है। मनुष्य के भावावेग प्रकट होते समय प्रायः छन्द का रूप ग्रहण कर लेते हैं, उनमें अनायास ही लय-ताल और प्रायः तुक भी आ जाती है।[3] क्रौंच के प्रसंग से आदि कवि के मुख से अनायास फूट पड़ने वाला सुव्यवस्थित श्लोक इसका प्रमाण है।[4] गायत्री छन्द के विषय में भी ऐसा ही कहा जाता है कि गायन की चेष्टा में अचानक छन्दमयी वाणी फूट पड़ी थी।[5] मन की सूक्ष्म, संवेदनमयी सुकोमल भावनाओं को लपेटने के लिए छन्द आवरण और आश्रय का कार्य करता है।[6] कवि की वाणी छन्द का आश्रय पा कर अजर और अमर हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो न तो वैदिक वाङ्मय हमारे पास सुरक्षित रहता और न ही वाल्मीकि

---

१. तुलसीदास की भाषा, श्रीवास्तव. पृ० ३६५।
२. पाणिनीय शिक्षा।
३. "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तर प्रदेश का सूक्ष्म आकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द में ही बहने लगता है"—सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, प्रवेश, पृ० २१।
४. 'मा निषाद'—रा० १. २. १५।
५ गायत्री हिन्दी छन्द प्रकाश रघुनन्दन शास्त्री पृ० ५
६ छदासि

रामायण एवं अन्य पुरातन ग्रंथ ।[1] चरणों से मनुष्य जिस प्रकार चलता है और समस्त संसार का भ्रमण कर सकता है, उसी प्रकार छन्द के सहारे कवि की वाणी विश्व मे प्रसारित होती है । छन्द को वेद का चरण कहने में कदाचित् यह भावमयी कल्पना भी कार्य कर रही हो ।

छन्द का संगीत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है । इसका प्रमाण भी स्वयं वाल्मीकि रामायण से मिलता है, जो गाने और पढ़ने में अत्यन्त मधुर, संगीत के तीन प्रमाण—द्रुत, मध्य और विलम्बित, से युक्त, सातों स्वरों में बंधी हुई और वीणा आदि पर गाने योग्य रचना मानी गई है ।[2] संगीत शास्त्र में गाने की दो विधायें होती हैं, एक लयात्मक और दूसरी स्वरात्मक । पहले वर्ग मे ताल होती है और दूसरे में राग । तालों का आधार लयात्मकता है, अतः उनका छन्दो से सीधा सम्बन्ध है ।[3] वा० रामायण के विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है कि कुशीलवो ने गा-गा कर उसका प्रचार किया था और मानस को हम आज भी कथा, कीर्तन और रामलीलाओं में वाद्ययंत्रों के साथ गाया जाता हुआ देखते है । महात्मा गांधी जैसे राष्ट्र नेता ने अपने प्रवचनों और संकीर्तनों में मानस के चौपाई छन्द को[4] स्थान देकर लोकहृदय पर छन्द और संगीत के प्रभाव को प्रकट किया है, साथ ही भावावेग और भजन के लिये छन्द की अनिवार्यता को घोषित किया है । कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने छन्द के महत्व और उसके संगीतत्व के विषय में ये भावपूर्ण शब्द कहे है—"छन्दबद्धशब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौह चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षणक्षेत्र (मैगनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते है, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है. उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती है उनके स्पर्श मे एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है ।"[5]

छन्द का मूल तत्व लय (रिद्म) है, जो उसे संगीत से जोड़ता है । वस्तुत लय ही संगीत की आत्मा है ।[6] छन्द में लय का संचार उपयुक्त यतियों के द्वारा होता है, इस पर हम आगे विचार करेंगे । इस प्रकार छन्द का अंतरंग है लय और बहिरंग है यति । यति पर लघु-गुरु की योजना होती है । यति से सम्बन्धित ही छन्द का दूसरा तत्व गति है जिसमे विशिष्ट वर्णक्रम अर्थात् अनुप्रास योजना का भी योग रहता

१. "The credit of preserving without serious corruptions the vedic texts may be largely due to the fact that they are in a fixed meterical form"—आन वैदिक मीटर, वाटे, पृ० १८२ ।

२. रा० १. ४. ८.

३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० ४६० ।

४. महात्मा गांधी का प्रिय संकीर्तन 'रघुपति राघव राजा राम' चौपाई छन्द का ही अनुकरण है ।

५. पल्लव, प्रवेश, पृ० २१ ।

६. "Rythm is the soul of metre" डा० जानकी नाथ सिंह आधु० हिन्दी काव्य में छंद योजना पृ० १६ की टिप्पणी

है। इनमें से अन्त्यानुप्रास का विशेष महत्व होता है जिसे बाद में तुक कहा गया। इस प्रकार छन्द के बाह्य तत्व चार है—यति, गति, अनुप्रास और तुक।

वैदिक कालसे लेकर आज तक का अधिकांश साहित्य छन्दात्मक है। आज गद्य का प्रचार हो जाने पर भी पद्यात्मक साहित्य ही अधिक लोकप्रिय है। भारतीय साहित्य और संस्कृत की अनेक विशेषताओं में से उसका छन्द-वैभव भी अपना महत्व रखता है। "जिस देश का आध्यात्मिक धरातल जितना ही ऊंचा और उदात्त होगा, उस का छन्दो-विस्तार उतना ही दी व्यापक होगा। भारत का आध्यात्मिक जागरण और साधना सर्वदेशोपरि रही है, अत: उसका छन्दो-वैभव अतुलनीय है।"[1]

छन्द का विकास क्रम

वैदिक, लौकिक संस्कृत और भाषा (अपभ्रंश तथा बोलियों) के साहित्य मे छन्द-विकास के तीन सोपान लक्षित होते है। वैदिक साहित्य मे अक्षर-छन्द की प्रधानता है, लौकिक मे वर्णवृत्त की और अपभ्रंश तथा हिन्दी आदि भाषाओं में मात्रिक की। "वैदिक छन्द स्वरतत्वप्रधान है। इनमे छन्द की गति ऊँची-नीची स्वरलहरियो (राइजिंग एण्ड फालिंग टोंस) पर अवलम्बित है। लौकिक संस्कृत के छन्द ध्वनितत्व प्रधान' हैं। इनमे लय का आधार छोटी बड़ी या ह्रस्व और दीर्घ ध्वनियाँ (शोर्ट एण्ड लांग साऊंड्स) है। परन्तु हिन्दी के छन्द प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों के समान कालतत्व (टाइम एलिमेंन्ट) को प्रधानता देते हैं, अर्थात् इनमें छन्द की लय के लिए ध्वनि की मौलिक ह्रस्वता या दीर्घता का विचार नहीं किया जाता, अपितु किसी ध्वनि के उच्चारण में जो काल लगता है उसके आधार पर उस ध्वनि की ह्रस्वता या दीर्घता का निर्णय होता है।"[2]

यों तो वैदिक साहित्य सभी छन्दों का मूल आधार है[3] और उनमे भी अनुष्टुप सर्वप्रधान है. जिसका विकास त्रिष्टुप, जगती और गायत्री में हुआ, परन्तु वैदिक छन्द-विधान अत्यन्त स्वच्छन्द था। इसमें केवल अक्षर-संख्या का ही नियम था और छन्द का सौन्दर्य, स्वरित, उदात्त और अनुदात्त के आधार पर उच्चारण कर्ता के कण्ठ पर ही निर्भर करता था। लौकिक साहित्य में वर्णवृत्तों को प्रधानता मिली जिनमें लघु-गुरु के क्रम का महत्त्व बढ़ गया और साथ ही मात्रिक छन्द भी प्रयोग मे आने लगे, मात्रिक छन्दों में मात्राओं को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ और तुक का भी गौरव बढ़ा। स्वयं वा० रामायण के प्रचलित संस्करणों में तीनों प्रकार के छन्द मिलते हैं।[4] जहाँ तक वाल्मीकि का प्रश्न है उन्होंने अनुष्टुप को ही अपनाया था और विद्वानों का विचार है कि यही सबसे अधिक प्राचीन अर्थात् छन्द-परिवार का

१. दे० आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० ७० ।
२. हिन्दी छन्द प्रकाश,—प्राक्कथन, पृ २ ।
३ हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, मेक्डानल- पृ० ५५ कथा २७३ ।
४ दि ग्रेट एपिक हापकिन्स पृ० १९१

आदिपुरुष है।[1] वा० रामायण में अन्य छन्दों के प्रयोग के विषय में मतभेद है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में अनेक छन्दों के प्रचलित होते हुए और त्रिष्टुप तथा जगती का उसमें व्यापक प्रयोग तथा अनुष्टुप के साथ उनकी सन्निकटता होते हुए, वाल्मीकि ने अन्य छंदो का स्पर्श भी न किया हो, यह बात अधिक तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होती। इतिवृत्त और प्रबन्ध-प्रवाह के लिए उन्होंने एक ही छन्द-प्रयोग की उपयोगिता अवश्य अनुभव की पर अनुष्टुप के साथ त्रिष्टुप और जगती का भी प्रयोग, सर्गों के अन्त में, उन्होंने अवश्य किया होगा।[2] उस पर हम आगे विचार करेंगे।

हिन्दी के छन्द

हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का व्यापक प्रभाव है फिर भी उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास भी हुआ है। हिन्दी का छन्दशास्त्र संस्कृत से प्रेरणा और अवलंब लेकर भी अपनी स्वतन्त्र पद्धति पर विकसित हुआ और हो रहा है। उसके काव्यरूपों पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव संस्कृत से भी अधिक पड़ा है। हिन्दी के अनेक छन्द सीधे प्राकृत और अपभ्रंश से लिये गये है। एक ओर प्रचलित वा० रामायण में छन्द-विकास के उपर्युक्त तीनों सोपान देखे जा सकते हैं तो दूसरी ओर रामचरित मानस में भी अक्षर-छन्द (अनुष्टुप), वर्णवृत्त (वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, शार्दूलविक्रीड़ित, भुजंग प्रयात, वसन्त तिलका, मालिनी आदि) और मात्रिक छन्द (दोहा, सोरठा, चौपाई, हरिगीतिका आदि) तीनों ही प्रकार के छन्द दिखलाई पडते है। छन्द के पूर्वकथित चार तत्वों, यति, गति, अनुप्रास और तुक में से, अनुप्रास और तुक हिन्दी छन्दो को संस्कृत के छन्दों से पृथक करने वाले मुख्य तत्व हैं।

वाल्मीकि और तुलसी का निजी छन्द

साहित्य के इतिहास में कुछ कवियों के नाम के साथ कुछ विशिष्ट छन्दों का सम्बन्ध हो गया है, जैसे कालिदास की मन्दाक्रान्ता, भवभूति की शिखरिणी, भारवि का वंशस्थ और वाल्मीकि का अनुष्टुप या श्लोक तथा तुलसी की चौपाई। वाल्मीकि को अनुष्टुप वैदिक साहित्य से उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ और तुलसी को चौपाई अपभ्रंश साहित्य से, परन्तु दोनों ने इन छन्दों पर अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की अमिट छाप लगाकर उन्हें अपना ही बना लिया है।

अनुष्टुप और चौपाई

अनुष्टुप और चौपाई दोनों ही अत्यन्त लोकप्रिय छन्द है। संस्कृत का अधिकांश साहित्य अनुष्टुप-बद्ध है। वैदिक ऋषि की आदि गीर्वाणी में जन्म लेकर, ऋग्वेद की

१- वही पृ० १६२।
२ वही पृ० २१३

लोरियाँ सुनता हुआ, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के पालने में झूलता हुआ और फिर महाकाव्य के विराट् प्रांगण में क्रीड़ा कर पुष्ट और प्रौढ़ बनता हुआ, रामायण और महाभारत में दिग्विजय करता हुआ, पुराणों और स्मृतियों की पुनीत वाणी से अभ्यर्चित तथा रघुवंश आदि अलंकृत काव्यों की रागिनियों से अभिनन्दित होकर अनुष्टुप छन्द-जगत् का सम्राट् बन बैठा है। इसका परिवार विशाल है, इसकी वंश-परम्परा सुदीर्घ है। आदि वैदिक ऋषि के मुख से प्रस्फुटित होने वाला छन्द भी यही था और आदि कवि वाल्मीकि के मुख से श्लोक बनकर भी यही निकला। वैदिक अनुष्टुप को आदि काव्य में शोक की व्यंजना करते हुए "मा निषाद" के रूप मे श्लोक की संज्ञा प्राप्त हुई, अनुष्टुप के स्थान पर तब से श्लोक शब्द ही चला आ रहा है। यह ऋग्वेद के तीन प्रधान छन्दों में से एक था। वहाँ त्रिष्टुप राजा, जगती मन्त्री, और अनुष्टुप अनुचर मात्र था। "संख्या के विचार से ऋग्वेद में सबसे अधिक प्रयोग त्रिष्टुप का, उसके बाद जगती का और उसके बाद अनुष्टुप का हुआ है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका प्रयोग बढ़ गया और वाल्मीकि और व्यास ने तो काव्य सिंहासन पर बैठाकर इसका महा अभिषेक ही कर दिया। महाभारत की अपेक्षा रामायण में ही श्लोक का गौरव अधिक है, उसकी अपेक्षा यह अधिक व्यवस्थित और मुख्य है।[2] कुछ लोगों का तो यह भी विचार है कि वैदिक अनुष्टुप वर्णक्रम से नियंत्रित होकर संस्कृत में श्लोक ही नहीं बना वरन् आगे चलकर यही गाथा और आर्या बना[3] तथा हिन्दी में पहुँचकर यही दोहा बन गया है जिसका विपरीत रूप सोरठा है।[4] यह एक पृथक खोज का विषय है परन्तु इससे अनुष्टुप के महत्व का आभास मिलता है। राम के नाम से सम्बन्धित होकर यह और भी पुनीत हो उठा। वैयाकरणों, दार्शनिकों और आलंकारिकों ने भी इसी का मात्रिक रूप आर्या, तथा कारिका के नाम से प्रयुक्त किया है।[5] यह श्रेय वाल्मीकि को ही है कि उन्होंने राम को लोकप्रिय अमर काव्यनायक और उनके कीर्तिगायक श्लोक को अमर छन्दनायक बना दिया। वैदिक युग का यह छन्द आज तक भारतीय भाषाओं में परिव्याप्त है।[6]

चौपाई छन्द भी काफी पुराना है और लोकप्रिय भी। इसका उदय प्राकृत भाषा में और विकास अपभ्रंश में हुआ। लोक के धरातल से ऊपर उठकर जैनियो के चरितकाव्यों मे प्रसारित और सिद्धों की वानी में प्रचारित होता हुआ फारस की मसनवी पद्धति से मिल कर पद्मावत के बारहमासे के रूप में अवध के ग्रामो मे

---

१. ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिट्रेचर (वैदिक पीरियड) सी० वी० वैद्य, पूना, १९३०, पृ०६९।

२. दि ग्रेट एपिक, हापकिन्स, पृ० २३७।

३ एच० डी० वैलकर हरितोषमाला—बम्बई १९४१ पृ० २४ २६

४ छन्द प्रकाश रघु० शास्त्री पृ० १

फैलता हुआ,[1] यह छन्द राजापुर के वासी और अयोध्या के निवासी तुलसी के कानों में पड़ा और उन्होंने उसके द्वारा अयोध्यापति राम को जनता के हृदय-आसन पर पुनरभिषिक्त किया। इस प्रकार अनुष्टुप और चौपाई का राम-नाम के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है।

वाल्मीकि रामायण का छन्द अनुष्टुप या श्लोक है और मानस का मुख्य छन्द चौपाई। मानस में यद्यपि अन्य छन्दों का भी प्रयोग है किन्तु सामान्यतया उसका एक छन्द चौपाई ही माना जाता है। इस प्रकार दोनों कवियों ने महाकाव्य के नियमानुसार सम्पूर्ण रचना में एक ही छन्द का प्रयोग किया है। तुलसी का छन्द विधान भी उनके अन्यान्य काव्यांगों के समान वाल्मीकि की अपेक्षा जटिल, पांडित्य-पूर्ण और प्रयत्नसाध्य है। जहाँ वाल्मीकि ने आद्यन्त अनुष्टुप का ही प्रयोग किया है, सर्गान्त में भी उनका छन्द-परिवर्तन अनिश्चित है (क्योंकि भिन्न छन्द अप्रामाणिक माने गये हैं) वहाँ तुलसी ने इतिवृत्त के बीच-बीच अन्य छन्दों का प्रयोग करने के अतिरिक्त भी स्वयं चौपाई को दोहा, सोरठा, और काण्डों के अन्त में अनिवार्यत. तथा बीच में भी, हरिगीतिका छन्द के साथ प्रयुक्त किया है। इस प्रकार मानस की चौपाई का अर्थ दोहा-सोरठा के साथ सोलह मात्राओं वाले दो या चार चरणों का योग है। मानस में प्रयुक्त चौपाई छन्द के तीन अर्थ किये जा सकते हैं—

१—सोलह-सोलह मात्राओं वाले चार चरणों का छन्द। यह चौपाई का शास्त्रीय अर्थ है, अर्थात "चार चरण वाला छन्द"। कहीं-कहीं यह १५ और १७ मात्राओं का भी हो गया है।

२—सोलह-सोलह मात्राओं वाले दो चरणों का छन्द। यह चौपाई का लोक प्रचलित अर्थ है, अर्थात सामान्य जनता मानस की एक पंक्ति (जिसे चौपाई का आधा या 'अर्धाली' कहते है) को भी चौपाई कहते है। अर्धाली को भी चौपाई मान लेने की परम्परा अपभ्रंश काव्य से चल पड़ी थी।[2]

३—सोलह मात्राओं के विराम से बत्तीस मात्राओं वाली आठ या कुछ कम-अधिक पंक्तियों अथवा अर्धालियों के साथ एक या अधिक दोहों, सोरठों अथवा दोहों-सोरठों का प्रयोग। मानस में महाकाव्य के नियमानुसार एक छन्द का प्रयोग इस रूप में माना जा सकता है क्योंकि उसमें सर्वत्र अर्धालियों के बाद दोहा-सोरठा है। यही पद्धति थोड़े से भेद के साथ, फारसी साहित्य के मनसवी ग्रन्थों और अपभ्रंश के चरित काव्यों में प्रचलित थी। अपभ्रंश में चौपाई (अर्धाली) की जगह पज्झटिका और दोहे के स्थान पर घत्ता होता था।

उक्त विवेचन से प्रकट होता है कि मानस में एक छन्द के प्रयोग का नियम कुछ जटिलता के साथ स्वीकार किया गया है और वा० रामायण की अपेक्षा उसका छन्द-विधान बहुत जटिल एवं काव्य-पांडित्य का द्योतक है।

१. जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, रा० च० शुक्ल।

२. हिन्दी का स्वरूप विकास पृ० ५५० की पादटिप्पणी १

प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से भी (महाकाव्य से पृथक) अनुष्टुप और चौपाई तुलनीय छन्द हैं। ये दोनों ही छन्द प्रबन्धकाव्य के लिये अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुए हैं।[1] कथा के लिये छोटे और सरल छन्द की आवश्यकता होती है जिससे उसका प्रवाह बना रहे। अनुष्टुप में आठ अक्षरों पर और चौपाई में सोलह मात्राओं पर यति या विराम होता है। पूरे अनुष्टुप में कुल बत्तीस अक्षर और चौपाई में अर्थात अर्धाली में बत्तीस मात्रायें होती हैं। इससे इन दोनों छन्दों के आकार की समानता भी स्पष्ट हो जाती है। न तो वे इतने दीर्घ हैं कि भाव उलझ जायें और न इतने सूक्ष्म कि भाव को आकार ग्रहण करने में कठिनाई पड़े। आशय यह कि ये दोनों छन्द प्रबन्धकाव्य की प्रासादिकता के अनुकूल हैं। वाल्मीकि और तुलसी की काव्य-शैली के प्रसादगुण में ये सहायक हुये हैं।

वाल्मीकि ने अनुष्टुप और तुलसी ने चौपाई के विविध प्रयोग किये हैं अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कथा की परिस्थिति के अनुसार उन्होंने छन्द के एक निश्चित नियम में न बंध कर उसका उल्लंघन भी किया है। अनुष्टुप या श्लोक का नियम वा० रामायण के आधार पर ही निर्धारित हुआ है जिसके अनुसार उसके प्रत्येक चरण का पांचवां अक्षर लघु, छठा दीर्घ और प्रथम-तृतीय चरण का सातवां दीर्घ तथा द्वितीय-चतुर्थ का सातवां लघु होना चाहिये।[2] वाल्मीकि रामायण के अधिकांश श्लोक इसी प्रकार के हैं परन्तु अनेक स्थलों पर इस नियम का उल्लंघन भी हुआ है, जैसे कि निम्नलिखित श्लोकों में—

१- रावणेन प्रणिहितं, तमेवहि विभीषणम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, क्षमं क्षमवतां वर ॥ (६.१७.२६)

२- त्वं हि सत्यव्रतः शूरो, धार्मिको दृढविक्रमः।
परीक्ष्यकारी स्मृतिमान्निसृष्टात्मा सुहृत्सु च ॥ (६.१०.३६)

उद्धरण (१) में प्रथम चरण के पंचम, षष्ठ और सप्तम तीनों ही लघु हैं तथा उद्धरण (२) में तृतीय चरण के पंचम और सप्तम। ये उद्धरण वा० रामायण के प्रामाणिक माने जाने वाले अंशों से ही दिये गये हैं और हापकिन्स का विचार है कि स्वयं वाल्मीकि ने आवश्यकता के अनुसार लघु-गुरु के स्थान-विषयक विविध प्रयोग किये होंगे जिन्हें विपुलता, पथ्या आदि जाति के श्लोक कहा गया है। उक्त विद्वान का यह विचार भी है कि विशिष्ट स्थितियों में विशिष्ट प्रकार के श्लोकों का प्रयोग किया गया है जैसे कि विपुला का प्रयोग पात्रों की नाम-सूची के स्थलों पर, आवेग-मय स्थलों पर और नीरसता या एकरसता (मानोटोनी) के निवारण के लिये।[3]

---

१. रामायण के अतिरिक्त महाभारत का छन्द भी अनुष्टुप है, कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में और अन्य सर्गों में इसका प्रयोग किया है और अन्य संस्कृत कवियों ने भी इसे, यद्यपि मुख्य रूप में नहीं, पर्याप्त मात्रा में अपनाया है। हिन्दी में रामकाव्य के अतिरिक्त कृष्णकाव्य को भी इसी छन्द में ढालने का प्रयत्न प० द्वारका प्रसाद मिश्र ने ' में किया है

तुलसी ने भी इसी प्रकार १५ और १७ मात्राओं की अर्धालियों का भी प्रयोग किया है और चौपाई के दीर्घान्त चरण का नियम भी तोड़ दिया है। केवल तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१. भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुकुति कौसला॥ (७.२२)

२. अगिनत रवि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन॥ (१.२०२)

३. बाजहिं बाजने विविध विधाना। पुर प्रमोद नहि जाइ बखाना॥ (२.११)

उद्धरण (१) में १५-१५ मात्रायें हैं और छन्द में उच्चारण विषयक छूट[1] दे कर भी १६-१६ सिद्ध नहीं की जा सकती। उद्धरण (२) में मात्रायें तो १६ ही हैं परन्तु दीर्घान्त नहीं हैं। तीसरे उद्धरण में १७ मात्रायें है और "बाजने", पर यति-भंग भी है, यदि 'बाजन' या 'बजने' पढ़ा जाये, तभी ठीक हो सकता है, परन्तु इतनी छूट उच्चारण-नियम के अनुसार भी नहीं दी जा सकती। तुलसी के आलोचकों का विचार है कि उन्होंने चौपाई से मिलते जुलते छन्दों को भी इसी में सम्मिलित कर लिया है जैसे उदाहरण (२) का वरिल्ल या डिल्ला छन्द[2] और इसी प्रकार अनुकूला, विद्युन्माला, नवमालिनी, चम्पकमाला आदि अन्य अनेक छन्द।[3] इससे वाल्मीकि के श्लोक के समान तुलसी का चौपाई विषयक छन्द-वैविध्य प्रकट होता है।

यद्यपि मानस का मुख्य छन्द चौपाई है परन्तु तुलसी ने ग्रन्थ का समारंभ अनुष्टुप से ही किया है।[4] इससे वेद और वाल्मीकि के प्रति उनकी श्रद्धा व्यक्त होती है।

अन्य छन्द

मानव में आठ प्रकार के मात्रिक और ग्यारह प्रकार के वर्णवृत्त प्रयुक्त हुए हैं[5] जबकि वाल्मीकि रामायण के विषय में विद्वान लोग एक मत नहीं है कि उसमें केवल अनुष्टुप या श्लोक का प्रयोग हुआ था अथवा अन्य छन्दों का भी, क्योंकि वह अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है। प्रचलित रामायण में तो अनेकानेक छन्दों का प्रयोग हुआ ही है, परन्तु इस समय यह निश्चित करना प्राय: असम्भव है कि उनमें से वाल्मीकि ने कितने प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया था[6]। इस पर हम आगे विचार करेंगे। दोनों काव्यों के विविध छन्द-प्रयोग पर दो वर्गों में विचार किया जा सकता है—

(अ) सर्गान्त के छन्द और (आ) अन्य छन्द।

---

१. आवश्यकतानुसार लघु को गुरु और गुरु को लघु करके पढ़ना, (दे० हिन्दी छंदप्रकाश, पृ० ३३)।

२. हिन्दी महाकाव्य, पृ० ५५०।

३. तुलसी साहित्य रत्नाकर, पृ० ३१३।

४. दे० मानस के बालकाण्ड का मंगलाचरण।

५. हिन्दी महाकाव्य० पृ० ५४६।

६. दि ग्रेट एपिक, हापकिन्स, पृ० २१३

(घ) सर्गान्त के छन्द

वा० रामायण के कुछ सर्गों के अन्त में अधिकांशतः त्रिष्टुप या जगती, अथवा दोनों का प्रयोग किया गया है। ये दोनों छन्द अनुष्टुप के विकास हैं, तीन अक्षरों की वृद्धि से त्रिष्टुप और चार की वृद्धि से जगती बन जाता है। अतः हो सकता है कि ये छन्द वाल्मीकि के हों। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन की परम्परा वाल्मीकि ने प्रवर्तित की या उनके बाद प्रवर्तित हुई, इसके विषय में तब तक कुछ कह सकना असम्भव है जब तक मूल और प्रक्षिप्त वाल्मीकि रामायण का प्रश्न हल नहीं होता। हॉप्किन्स का विचार है कि सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की परम्परा बहुत प्राचीन है[1] परन्तु यह श्रेय वाल्मीकि को दिया जाना चाहिये अथवा नहीं इस विषय में यह विद्वान अपना स्पष्ट मत नहीं दे सका है। प्रामाणिक और अप्रामाणिक सामग्री पर सबसे अधिक और वैज्ञानिक एवं पांडित्यपूर्ण विचार करने वाले विद्वान डा० जाकोबी भी इस विषय में निश्चित मत नहीं दे सके हैं।[2] और हाफकिन्स भी इस विषय में अनिश्चित हैं।[3] जहाँ सर्गान्त के अतिरिक्त पूरे सर्ग त्रिष्टुप या जगती में हैं अथवा सर्गों के बीच-बीच इन तथा अन्य छन्दों का प्रयोग किया गया है, उन्हे तो वे निश्चित रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि उनमे परवर्ती अलंकृत काल का आभास है और आवृत्ति-दोष तथा तारतम्य की विच्छिन्नता भी है परन्तु सर्गान्त के त्रिष्टुप और जगती के विषय में उनका निश्चित मत व्यक्त नहीं हुआ है। सर्ग-विधान और सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन की प्रणाली पर ऋग्वैदिक सूत्र-रचना के बाह्य आकार का भी प्रभाव देखना अनुपयुक्त न होगा। मैक्डानल ने इस बात को लक्षित किया है कि ऋग्वेद की रचना-पद्धति सामान्यतः इस प्रकार की है कि उसमें समस्त सूक्त एक छन्द मे होता है और अन्त में भिन्न छन्द का प्रयोग किया जाता है।[4] अतः हो सकता है कि

---

१. "One of its decadent uses was to furnish new tags for the end of chapters of shlokas. This was on old use but it is extended in the later Epic"—दि एपिक, पृ० २१२।

२. दे० बिब्लियो० पृ० ९५।

३. "Even if valmiki did not write these stanzas, which may be doubted, (p. 211) × × × shlokas and Trishtubhs are not often commingled save in a few later passages. (p. 214)."—दि ग्रेट एपिक। (ये परस्पर विरोधी मत दीखते हैं।)

४. "Speaking generally, a hymn of the Rgveda consists entirely of stanzas in the same metre. The regular and typical deviation from this rule is to conclude a hymn with a single stanza in a metre different from that of the rest, this being a natural method of distinctly marking its close"—ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर पृ० ५७

उसी ढंग पर इस उत्तर वैदिक कालीन कथा-काव्य के लिये ऋषि ने सर्ग-विधान और अन्त में छन्द-परिवर्तन की प्रणाली अपनाई हो। महाकाव्य के रूप-विकास में ऋग्वेद का अनेक प्रकार से योगदान रहा ही है, जिसे देखते हुए भी इस प्रकार का अनुमान लगाना अनुचित न होगा। हापकिन्स का संकेत कि सर्गान्त में छन्द परिवर्तन की प्रणाली बहुत प्राचीन है और जाकोबी का भी यह अनिश्चय कि सर्गान्त के त्रिष्टुप-जगती भी प्रक्षिप्त है अथवा नहीं, इसी दिशा में संकेत करते हुए प्रतीत होते हैं। यह भी संभव है कि स्वयं वालमीकि को यह परम्परा उस अस्फुट आख्यान काव्य से प्राप्त हुई हो जिसका परिष्कृत, संवर्धित और व्यवस्थित रूप वालमीकि रामायण है। भले ही वह अस्फुट आख्यान काव्य सर्ग-बद्ध न रहा हो (यद्यपि उन चारणों के काव्य-पाडित्य के विषय मे संदेह नही किया जाना चाहिये जिन्होंने राम-कथा को पहली बार वाणी का आकार प्रदान किया), फिर भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि कथा के आवश्यक विश्रामों, उतार-चढ़ाव और मोड़ों के लिये वे उपाय अवश्य करते होंगे और उनमें से सबसे उपयुक्त उपाय छन्द-परिवर्तन का ही हो सकता है। वाल्मीकि ने महाकाव्य की शास्त्रीय पद्धति के विधान मे कितना भाग लिया है, यह अभी तक अनुसंधान का विषय है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भी सीमाओं को देखते हुए उस पर यथेष्ट विचार किया जाना असम्भव है।

मानस में सर्ग नहीं हैं समस्त कथा प्रचलित वा० रामायण के समान सात काण्डों मे विभाजित है। इन सातों काण्डों के अन्त में व्यवस्थित रूप से, और एक ही प्रकार के छन्द से, छन्द-परिवर्तन किया गया है। प्रत्येक काण्ड का अन्त हरिगीतिका छन्द और उसके बाद एक या अधिक दोहों या सोरठों अथवा दोनों से किया गया है। उस ही हरिगीतिका छन्द की प्रथम यति में कवि ने पिछली अर्धाली के उत्तरार्ध की आवृत्ति की है।[१] यह उसका विशिष्ट ढंग है, जिसके द्वारा वह एक लहर सी उठाकर कथा के विराम की सूचना देता है अथवा नाटकीय ढंग से यवनिका-पात करता है। इस हरिगीतिका और बाद के दोहे-सोरठे में कवि रामकथा, राम-नाम अथवा उस काण्ड की कथा या चरित्र विशेष का माहात्म्य भी घोषित करता है। आशय यह कि उसके सर्गान्त की यह पद्धति नाटकीय होने के साथ-साथ उसकी काव्यशैली की उपदेशात्मकता के अनुरूप भी है। यह भी रामचरितमानस की शैली में पौराणिक शैली का पुट है।

वा० रामायण में भी उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त सभी काण्डो के अन्त मे छन्द-परिवर्तन हुआ है।

(आ) विविध छन्द

प्रचलित वा० रामायण में अक्षर-छन्द अनुष्टुप के अतिरिक्त अनेक प्रकार के

१ 'करन पुनीत हेतु निज बानी' 'और नव गिर पाव न करन कारन' बाल० ९९१।

वर्णवृत्त और मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग हुआ है।[1] इन सभी छन्दों में से त्रिष्टुप और उसके बाद जगती की संख्या सबसे अधिक है। त्रिष्टुप छन्दों में काव्य-सौन्दर्य भी विशेष रूप से निखरा हुआ दिखलाई पड़ता है और उनके लिए चुनाव भी विशेष रूप में भावपूर्ण, अद्भुत और मार्मिक प्रसगों का किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण (किष्किंधाकाण्ड में वर्षा और शरद के वर्णन तथा सुन्दरकाण्ड के ५ वें सर्ग में चन्द्रिका-वर्णन), पुष्पक विमान का वर्णन (सुन्दर० सर्ग ७-८) और सीता-विलाप (सुन्दर० सर्ग २८) का वर्णन त्रिष्टुप छन्दों में किया गया है। इनमें विषय की आवृत्ति है और अलंकरण का अतिरेक है,[2] अतः वाल्मीकि की काव्यशैली से इन्हें भिन्न मान कर प्रक्षिप्तांशों में स्थान दिया गया है। इनमें से कितने वाल्मीकि के हैं, यह निर्णय करना असभव है। इनमें से कुछ वाल्मीकि के हो सकते हैं, ऐसा मानने के कुछ कारण हैं। प्राकृतिक चित्रण वाल्मीकि की एक विशेषता है और प्रकृतिगत सौन्दर्य के दर्शन से भावविभोर होने पर कवि की अभिव्यक्ति में कुछ नवीनता का आ जाना स्वाभाविक है जिस कारण वह इतिवृत के लिए चुने गये अनुष्टुप या श्लोक से भिन्न छन्द का प्रयोग करने में प्रवृत्त हो सकता है। अन्य प्रकार के छन्द बहुत विकीर्ण हैं और उनके प्रयोग में कोई निश्चित पद्धति नहीं दिखलाई पड़ती, इसलिये उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना असंभव है।

तुलसी में छन्द-बाहुल्य बहुत अधिक है और इन विविध छन्दों के प्रयोग में उनकी कुछ निश्चित प्रवृत्तियों का भी बोध होता है। उनमें से इतनी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रकट होती है—

१—वर्णवृत्तों का प्रयोग सातों काण्डों के आरम्भिक मंगलाचरण और कुछ स्तुतियों में किया गया है, जिससे कवि की भक्ति-भावना, संस्कृत-निष्ठा और पांडित्य भी प्रकट होता है। बालकाण्ड अर्थात् ग्रंथारंभ में अनुष्टुप का प्रयोग उसकी वेद-भक्ति और वाल्मीकि के प्रति आभार भी व्यक्त करता है।

२—स्तुतियों मे जहाँ उसने वर्णवृत्तों का प्रयोग नही किया है वहाँ भी भाषा संस्कृतमयी रक्खी है और प्रायः हिन्दी के चौपाई छन्द को ही संस्कृत में ढालने का प्रयत्न किया है।[3] इसी प्रकार उसने हरिगीतिका, त्रिभंगी और चौपैया को भी कहीं-

१. दि ग्रेट एपिक, पृ०१६१। ग्रंथ के अध्याय ४ में हापकिन्स ने इस पर विस्तृत विचार किया है।

२. "Most of the descriptions donot probably belong to the original poem undoubtedly this is the case with the portions in Trishtubh and Jagati stanzas —याकोबी का विचार विंटरनिट्ज़ कृत,

कहीं इस प्रकार गीर्वाणी का बाना पहिनाया है कि उनके शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीड़ित आदि वर्णवृत्त होने का भ्रम हो जाता है।[1] ये तीनों दीर्घ छन्द, हरिगीतिका, चौपैया और त्रिभंगी, स्तुतियों के लिए ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि-मुनि, देवगण तथा अन्य भक्तों के द्वारा भगवान की स्तुति का प्रसंग आते ही तुलसीदास का हृदय उमड़ उठता है और वे कहीं संस्कृत के छन्द, कहीं हरिगीतिका, चौपैया या त्रिभंगी को संस्कृत की संगीतमयी धारा में ढालकर अपने काव्य-नायक और अपने आराध्य की स्तुति स्वयं करने में निमग्न होते हैं। संगीतात्मकता, अर्थात् लय, गति, अनुप्रास और श्रुति-माधुर्य की दृष्टि से तुलसी के इन छन्दों में विशेष कलात्मकता लक्षित होती है।

३—विषयानुरूप छन्दों के प्रयोग पर संस्कृत के कुछ आचार्यों ने विचार किया है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में बतलाया है कि किस विषय के लिये किन छन्दों का प्रयोग अधिक उपयुक्त रहता है।[2] रस के अनुकूल वृत्ति-विधान पर हम रस और भाषा के प्रकरण में विचार कर चुके हैं। इसी प्रकार विशिष्ट विषयों के लिए विशिष्ट छन्दों का प्रयोग भी होता है। वाल्मीकि के विषय में इस पर कुछ विचार ऊपर किया जा चुका है लेकिन तुलसी में इस प्रवृत्ति का प्रकाशन अधिक स्पष्ट रूप में हुआ है। उदाहरण के लिए, राम और शिव का ऐश्वर्य्य वर्णन करने के लिए उन्होंने शार्दूल-विक्रीडित का प्रयोग किया है,[3] युद्ध-वर्णन के लिए कहीं-कहीं तोमर का और कहीं हरिगीतिका का,[4] वस्तु-वर्णन जैसे विवाह, नगर-शोभा आदि के लिए भी उन्होंने हरिगीतिका छन्द को चुना है।[5] फिर भी इनमें कोई एक निश्चित नियम लक्षित नहीं होता जिसका आशय यह है कि तुलसी ने प्रयत्न तो किया है, परन्तु अधिक बन्धन में बँधना उन्हें स्वीकार नहीं है। उदाहरण के लिए त्रोटक छन्द का प्रयोग एक स्थल पर (७.१४) स्तुति के लिए किया गया है तो दूसरे स्थल पर (७.४२) वर्णनात्मक प्रसंग के लिए।

तुलसी ने एक स्थल पर शिव की स्तुति के लिए भुजगप्रयात का प्रयोग किया है।[6] हो सकता है कि शिव के साथ आभूषण के रूप में भुजंग का सम्बन्ध होने से

१. 'अविगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा'—१. १८६।

२. दे० सुवृत्ततिलक, तृतीय परिच्छेद।

३. दे० अयो० मंगला० १ 'वस्यांक' और लंका० २ ''शम्भेन्द्रम्'' में शिव की स्तुति और बा० १० ६, अरण्य० १-२, किष्किंधा० १-२ तथा सुन्दर० १, में राम की स्तुति। इन आठों श्लोकों में शार्दूलविक्रीड़ित का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि तुलसी ऐश्वर्य-वर्णन और [illegible] के लिये इसकी उपयुक्तता से परिचित थे।

४. तोमर की क्षिप्रगति और हरिगीतिका में चरणों की छप्पय-पद्धति जैसी पुनरावृत्ति का विधान वीररस के अनुकूल बैठता है।—दे० अरण्य काण्ड—२०।

५. हरिगीतिका की दीर्घता इसके लिये उपयुक्त रहती है। दे० बालकाण्ड में सीता-विवाह व [illegible] धन और [illegible] में [illegible]

६ नम मीशम [illegible] ७ १०

उन्हें यह प्रेरणा मिली हो। अत्रि द्वारा राम की स्तुति के लिए उन्होंने प्रमाणिका या नगस्वरूपिणी का प्रयोग किया है। इस छन्द की क्षिप्र गति और त्वरित विराम के द्वारा विशेष भावावेश का बोध होता है मानो कि स्तुतिकर्त्ता ताली बजाता हुआ नृत्य कर उठा हो।

संगीतत्व

संगीत के साथ छन्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। संगीत के विविध राग-रागिनियाँ भी प्रायः छन्दोबद्ध होते है जैसे सूरसागर और विनयपत्रिका के पद। वाल्मीकि काव्य के साथ संगीत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे, यह हम अनेक स्थलों पर दिखला चुके है।

बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में रामायण के संगीतगुण का उल्लेख हुआ है, राक्षस-राज के महलों में संगीत सुनाई पड़ता है (५.४. १०-१२) और वाल्मीकि के अप्रस्तुत-विधान में भी संगीत को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। उनके छन्द-विधान का भी विशेष गौरव उसके संगीतत्व में है, परन्तु वह शास्त्रीय रागाश्रित संगीत न हो कर सहज लयात्मक भावाश्रित संगीत है। वाल्मीकि रामायण के संगीतत्व की चर्चा सबने की है पर शास्त्रीय दृष्टि से उसका विवेचना किसी ने नहीं किया है। बाल-काण्ड तथा सुन्दरकाण्ड में उसके ताल और लय का तथा तीन स्वरों का-उल्लेख है।[1] श्री सी० बी० वैद्य उसे प्रधानतया वाद्य-यंत्र पर गेय (लिरिकल) रचना मानते है[2] और उनका कथन है कि वाल्मीकि ने अनुष्टुप को श्लोक में परिणत करते हुए उसमे एक सुनिश्चित लय का संचार किया था।[3] उनका विचार है कि अक्षरों के लघु-गुरु का क्रम नियत कर देने से यह संगीतत्व अर्थात् लयात्मकता आविर्भूत हुई थी। इनका आशय यह है कि उन्होंने वा० रामायण के संगीत को लय पर आधारित माना है। वस्तुतः लय ही वह तत्व है जो साहित्यक संगीत को शास्त्रीय संगीत के साथ जोड़ता है क्योंकि लय का सम्बंध ताल के साथ होता है। छन्द में लय यतियों के द्वारा उत्पन्न होती है। यति दो प्रकार की होती है, पूर्णांक और लयात्मक। पूर्णांक यति छन्द के चरण के अन्त में होती है और लयात्मक मध्य में। वैदिक छंदो मे पूर्णांक यति का ही नियम था, वाल्मीकि ने माध्यमिक यति के प्रयोग द्वारा लय के रूप में संगीतत्व की वृद्धि की जो कि लौकिक संस्कृत साहित्य में संवर्धित हुई और फिर प्राकृत और अपभ्रंश में मात्रिक छन्दों का उत्कर्ष होने पर उनमे पूर्णांक यति में अन्त्यानुप्रास या तुक का प्रयोग होने पर छन्दात्मक संगीत की और भी अधिक वृद्धि हुई। इस दृष्टि से तुलसी के छन्द वाल्मीकि की अपेक्षा काव्य-दृष्टि से अधिक संगीतात्मक हैं। उनमे तुक की वृद्धि हो जाने से पूर्णांक यति भी संगीतमयी हो गई है

१. वे० १.४. ८ तथा ५. ८. १०।

२. रिड्लि, पृ० ६९।

३. "A sort of rythm more refined than that of vedic metre was thus introduced वही, पृ० ३

और इस प्रकार श्लोकों की अपेक्षा उनमें लय का अधिक विस्तार दिखलाई पड़ता है। इस विषय का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानों का विचार है कि हिन्दी के मात्रिक छन्द संगीत के विभिन्न तालों और रागों के अधिक अनुकूल बैठते हैं।[1]

लक्षण ग्रंथो के अनुसार अनुष्टुप या श्लोक में प्रत्येक चरण का पांचवा वर्ण लघु और छठा दीर्घ होता है और सातवां वर्ण पहले-तीसरे में दीर्घ तथा दूसरे-चौथे मे लघु होता है।[2] यह नियम वा० रामायण के छन्दों के आधार पर ही निर्धारित किया गया प्रतीत होता है। निम्नलिखित दो श्लोक देखिये—

१—मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्, अगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकम्, अवधीः काममोहितम् ॥ (१.२. १५)

२—देशे देशे कलत्राणि, देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि, यत्र भ्राता सहोदरः॥ (६·१०२.१२)

वा० रामायण में (मूल और प्रक्षिप्त दोनों में) इस नियम के अपवाद भी है, जिन पर आगे विचार किया जायेगा, परन्तु तुकान्त प्रयोग उन्होंने नहीं किये हैं। जहाँ हैं भी वे प्राक्षिप्तांशों मे हैं और तुक की अपेक्षा उन्हें अनुप्रास ही मानना चाहिए। तुलसी का समस्त संगीत उनके अनुप्रासो में निहित दिखाई पड़ता है। चौपाई के अन्त्यानुप्रास ने उसे विशेष रूप से गेय बना दिया है। इसके अतिरिक्त उनके लम्बे छन्दो की माध्यमिक यतियों पर भी ऐसे ही अनुप्रास प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे उनकी दीर्घता से उत्पन्न आयास में कमी होने के अतिरिक्त प्रत्येक यति पर मधुर संगीत-मयी ध्वनि का संचार भी होता है। मानस की स्तुतियों में इस प्रकार का संगीत अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। बालकाण्ड में अहल्याकृत निम्नलिखित स्तुति देखिये—

परसद पद पावन, सोक नसावन, प्रकट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक, जन सुखदायक, सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम अधीरा, पुलक सरीरा, मुख नाहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी, चरनन्हि लागी, जुगल नयन जलधार बही॥

÷ ÷ ÷

मै नारि अपावन, प्रभु जग पावन, रावन रिपु जन सुखदाई।

÷ ÷ ÷

पदकमल परागा, रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना॥

उद्धृत छन्द चौपैया है जिसमें दसवीं, अट्ठारहवीं और तीसवीं मात्रा पर यति होती है। इसकी प्रत्येक यति अनुप्रासमयी है जिस पर पहुँचकर जिह्वा को विशेष सुख और स्वाद मिलता है। कहीं-कहीं इतने से भी संतुष्ट न होकर तुलसी अन्त्यानुप्रास के साथ-साथ वृत्थानुप्रास भी मिला देते हैं जिससे छन्द का माधुर्य और अधिक बढ़ जाता है। शास्त्रीय संगीत और छन्दात्मक संगीत का मुख्य अंतर इस बात मे है कि एक स्वरो

---

१ आधुनिक हिन्दी काव्य में छंदयोजना पृ० ४७५
२ श्रुतबोध, १०

पर आश्रित और राममूलक होने के कारण कण्ठ पर आश्रित होता है जबकि दूसरा अक्षरों पर आश्रित और ताल-लय मूलक होने के कारण जिह्वा पर आश्रित होता है। कण्ठ का महत्व दोनों में होता है परन्तु छंदात्मक संगीत में जिह्वा का भी पर्याप्त योगदान होता है और इसमें अनुप्रास विशेषरूप से महायक होते हैं।[१] तुलसी को तो अनुप्रासों का बादशाह कहा गया है ;[२] और इसी आधार पर उनमें संगीत-सम्पत्ति की भी प्रचुरता दिखलाई जा सकती है।

ऊपर उद्धृत अवतरणों जैसे अनुप्रासों का प्रयोग तुलसी ने प्राय: सभी लम्बे मात्रिक छन्दों, हरिगीतिका, चौपैया और त्रिभंगी में किया है, विशेष कर स्तुतियो से सम्बन्धित छन्दों में। स्तुतियों से सम्बन्धित अन्य छन्दों मे भी उन्होने अनुप्रास के बल पर संगीत-सुधा वहाई है। निम्नलिखित पंक्तियों मे देखिये—

जय राम रमा रमनं शमनं। भव ताप भयाकुल पाहि जनं ॥
अवधेस सुरेस रमेस विभो। सरनागत माँगत पाहि प्रभो ॥
(७. १४.)

२— निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं ॥
× × ×
तुषाराद्रि संकाश गौरं गभीरं। मनोभूत कोटिप्रभा श्रीशरीरं ॥
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारुगंगा। लसद्भालबालेन्दु कंठे भुजंगा ॥
(७. १०८)

३—सोऽयं भूतिविभूषण: सुरवर: सर्वाधिप: सर्वदा।
शर्व: सर्वगत: शिव: शशिनिभ: श्रीशंकर: पातुमाम् ॥ (२.मंगला०१)

इन अवतरणों में वर्णों की आवृत्ति का सौन्दर्य नेत्र और जिह्वा दोनों को ही अनुभव होता है। गंगा की लहरों की ध्वनि का अथवा जलतरंग के संगीत का, कवि ने वर्णमैत्री के आधार पर कितनी कुशलता से आभास दिया है। यहाँ हम तुलना के विचार से विनयपत्रिका की गंगास्तुति से एक अवतरण और प्रस्तुत कर रहे हैं जो तुलसी के यति सम्बन्धी अन्त्यानुप्रासों के संगीत का, जैसा कि उपर्युक्त अहल्याकृत स्तुति मे आस्वाद्य है, अत्यन्त सफल प्रयोग माना जा सकता है—

जय जय भगीरथनंदिनी, मुनिचयचकोरचंदिनी,
नरनागविबुधवन्दिनी, जय जह्नु बालिके।
× ×
पुरजन पूजोपहार, शोभित शशि धवल धार,
भंजन भवभार, भक्तकल्पथालिके।

इन पंक्तियों का पाठक पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी को भूल जाता है।

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० २३९।
२ गो० तुलसीदास, रा० शुक्ल, पृ० १९८

ऊपर दिये गये उद्धरण (३) मे विसर्गों की आवृत्ति द्वारा कवि ने श्वास-धार का अद्भुत प्रयोग किया है। तुलसी ने इस नाद-सौन्दर्य के लिये न तो संस्कृत की शुद्धता की चिन्ता की है और न ही छन्दशास्त्र की। इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी दोनों के छन्दों में उत्कृष्ट संगीत, सहज और काव्य के अनिवार्य उपादान के रूप में विद्यमान है।

आचार्यत्व

दोनों कवियों के छन्द-पांडित्य पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से हम उनकी छन्द-रचना सम्बन्धी मौलिकता, विविधता और छन्दोभंग इत्यादि विषयों पर विचार करेंगे।

यद्यपि दोनों ही कवियों को ये छन्द उत्तराधिकार में प्राप्त हुए परन्तु दोनों ने ही उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाई, यह बात प्रारंभ में भी कही जा चुकी है। एक प्रकार से वाल्मीकि श्लोक के और तुलसी चौपाई के आचार्य माने जाते हैं। वाल्मीकि ने वैदिक अनुष्टुप में लघु-गुरु का क्रम ही निर्धारित नहीं किया वरन् चार चरणों के स्थान पर उसे दो-दो यातियों के दो चरणों वाले श्लोक का रूप भी प्रदान किया।[१] रामायण के समय से ही श्लोक दो पंक्तियों वाले छन्द के रूप से चला है। 'श्लोक' संज्ञा भी उसे वाल्मीकि के समय से ही प्राप्त हुई प्रतीत होती है क्योंकि श्लोक का वास्तविक अर्थ है 'यश'[२] और वाल्मीकि पहले कवि थे जिन्होंने एक महापुरुष के यश का बखान इस छन्द में किया। तुलसी ने चौपाई के विविध प्रयोगों द्वारा अपने आचार्यत्व को प्रकट किया है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने चौपाई को संस्कृत में भी ढालने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसमें आचार्यत्व की स्पृहा लक्षित नहीं होती है।

अन्य छन्दों के सम्बन्ध में वाल्मीकि के विषय में प्रामाणिक-अप्रामाणिक के प्रश्न के कारण कुछ निश्चित रूप से कहने की कठिनाई पहले ही व्यक्त की जा चुकी है परन्तु प्रचलित रामायण में त्रिष्टुप-जगती के सम्मिश्रित प्रयोगों से उपजाति, इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि छन्दों का उद्भव प्रचुर रूप मे दिखलाई पड़ता है।[३] संभवत: वाल्मीकि ने ये प्रयोग नहीं किये हैं, अन्यथा वे इतने विकीर्ण रूप में दिखाई न पड़ते। उनकी कुछ व्यवस्था होती, और निश्चित

१. मैक्डानल ने अनुष्टुप के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में पारस्परिक निकटता लक्षित की है (सं० सा० का इतिहास, पृ० ५६) और सी० वी० वैध का कथन है कि वाल्मीकि ने उसे दो पंक्तियों वाले श्लोक का रूप दिया (रिडिल, पृ० ३)। हापकिन्स ने भी अनुष्टुप का श्लोक से अन्तर बतलाते हुए कहा है—"The shloka, therefore is a couplet—दि ग्रेट एपिक, पृ० १९४।

२ वे० मानियर विलियम्स कोष

३ दि ग्रेट एपिक अध्याय ४

स्थानों पर उसका प्रयोग होता । इस विषय में तुलसी का आचार्यत्व इस रूप में भी देखा जा सकता है कि उन्होंने एक साथ संस्कृत और हिन्दी के छन्दों का सफलता पूर्वक प्रयोग किया, इसमें एक सीमा तक व्यवस्था का भी निर्वाह किया और मात्रिक छन्दों की अपेक्षा वर्णवृत्तों के अधिक प्रकारों का प्रयोग किया । रामचरितमानस में मात्रिक छन्द केवल आठ प्रकार के हैं जब कि वर्णवृत्त ग्यारह प्रकार के । इनका विवरण, इस प्रकार है :—

(अ) मात्रिक छन्द

चौपाई, दोहा, सोरठा, हरगीतिका (लक्षण १६ + १२ × ४,—प्रत्येक काण्ड के अन्त में), त्रिभंगी (१० + ८ + ८ + ६ × ४, अन्त ग, स्तुतियों में, यथा—"परसत पग पावन"—१,२११), चौपैया (१० + ८ + १२ × ४,अन्त ग, यथा "भय प्रकट कृपाला, १,१६२) ४, तोमर (१२ × ४, आरम्भ में तगण या रगण 'तब चले बान कराल'—३,२०), डिल्ला (१६ मात्रा, अन्त में भगण—'मामभिरक्षय रघुकुल नायक,—६,११५) ।

(आ) वर्णवृत्त—

अनुष्टुप (बाल० मंगलाचरण), शार्दूलविक्रीड़ित (म स ज स त त ग—बाल० मंगला० ६ तथा अन्य मंगलाचरणों में भी), वंशस्थ (ज त ज र—अयो० मंगला० २), इन्द्रवज्रा (त त ज ग ग—अयो० मंगला० ३), वसन्ततिलका (त भ ज ज ग ग—सुन्दर० मंगला० २) मालिनी (न न म य य—वही, ३), स्रग्धरा (म र भ न य य य, लंका० मंगला० १) और रथोद्धता (र न र ल ग—उत्तर० मंगला० २,३) । इनके अतिरिक्त कथा-प्रबन्ध के बीच प्रयुक्त तीन प्रकार के वर्णवृत्त हैं—तोटक (स स स स—'जय राम रमारमनं', उत्तर० १४) प्रमाणिका या नगस्वरूपिणी (ज र ल ग—नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्, उत्तर० १०८) ।

वर्णवृत्तों के अधिक प्रकारों का और देववन्दना के लिए देववाणी का प्रयोग तुलसी के पांडित्य के साथ भक्ति भावना का भी द्योतक है । शार्दूल विक्रीडित का प्रयोग तुलसी ने सब से अधिक किया है जिसमें वे विशेष रूप से अभ्यस्त और आकृष्ट दिखलाई पड़ते हैं । यह छन्द वीर रस तथा भक्ति के लिये भी उपयुक्त

भाषा और छंद की शुद्धता में से छन्द की शुद्धता को महत्व दिया है और उसी के लिये भाषा की अवहेलना कर दी है।[१]

वाल्मीकि का छन्दोभंग केवल इस रूप में लक्षित होता है कि उन्होंने श्लोक में लघु-गुरु का कोई एक नियम दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया है, जैसा कि हम उनके अनुष्टुप पर विचार करते समय दिखला चुके है। पात्रों के नाम इत्यादि के स्थलों पर उन्हें लघु-गुरु के स्थान बदलने पड़े हैं।[२]

तुलसी ने भाषा और छन्द दोनों में स्वच्छन्दता रक्खी है। तुक मिलाने के लिए उन्होंने कहीं-कहीं भाषा को अत्यन्त विकृत भी कर दिया है और अनेक प्रकार के ग्रामीण प्रयोग भी किये हैं।[३] उन्होने सोलह मात्राओं का बन्धन अनेक स्थलों पर तोड दिया है और पन्द्रह तथा सत्रह मात्राओं की चौपाइयों का भी प्रयोग किया है। विद्वानों का विचार है कि उन्होंने चौपाई से मिलते-जुलते छन्दों को भी चौपाई मे ही समेट लिया है।[४] यदि ऐसा है तब तो यह उनकी सर्वत्र व्यापी समन्वय शैली का ही एक और नमूना माना जा सकता है, अन्यथा यही विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि उन्होने 'पिंगल की व्यवहार-सिद्ध पद्धतियों को ही अधिक अपनाया है, शास्त्रीय नियमों को नहीं।"[५] पन्द्रह और सत्रह मात्राओं के अनेक दोष उच्चारण-सौकर्य के द्वारा दूर हो जाते है क्योंकि पिंगल के व्यवहार में मात्रापूर्ति के लिये लघु को गुरु और गुरु को लघु करके पढ़ने की छूट होती है।[६] वेद के मंत्रों में तो लघु-गुरु का नियम ही नही था और सारा छन्द शास्त्र पाठकर्ता की कंठशिक्षा और साधना पर निर्भर था। तुलसी की अनेक चौपाइयों में पाया जाने वाला छन्द-दोष इस प्रकार निवारण हो जाता है और अन्य प्रकार के छन्दों के विषय मे भी यही बात है। इस विषय में यही मत समीचीन प्रतीत होता है—

"सच बात तो यह है कि तुलसी ने शब्द, संगीत लय और भावाभिव्यंजन को ही अधिक महत्व दिया है। पिंगलशास्त्र के नियमों की, यदि वह लोकविहित हो, उन्होंने अधिक चिन्ता नहीं की है।"[७]

१. "Metre surpasses sanskrit grammar × × × where grammar fails, the poet has recourse to patois (ग्रामीण प्रयोग)"—हापकिन्स, दि ग्रेट एपिक, पृ० २६२।

२. "Names are harder to manage, always receive a certain latitude of treat ment"—वही, पृ० २२३।

३. कूंजत् पिक मानहुं गज माते। ढेक महोख, ऊंट बिसराते' (बेसर का बहुवचन, ३.३८) तथा 'सो दस सीस स्वान की नाई। इत उत चितई चला भड़िहाई' (३. २८)।

४. हिन्दी महाकाव्य० पृ० ५५०।

५. वही

६. स्वयं तुलसी-सतसई ? में इस प्रकार निर्देश मिलता है—
दीरघ लघु करि रह पढव, जहं लह सुख विश्राम।
प्राकृत प्रकट प्रभाव यह; जनति शुभाशुभ नाम" (तु० सा० रत्नाकर पृ० २६१)

७ हिन्दी ०, पृ० ५५१

लघु-गुरु की स्वच्छन्दता के अतिरिक्त तुलसी के छन्द-विधान की यह अव्यवस्था भी कहीं कहीं खटकती है कि उन्होंने निश्चित अर्धालियों के बाद दोहों और सोरठों का कोई नियम नहीं रक्खा है। अयोध्याकाण्ड में तो इस व्यवस्था का निर्वाह है अर्थात्, कुछ अपवादों को छोड़कर, अधिकांशतः आठ अर्धालियों के बाद दोहा आया है और एक से अधिक दोहे या सोरठे का प्रयोग कहीं नहीं किया गया हैं। अन्य काण्डों में, विशेष कर बाल० और उत्तर० में, कोई नियम नहीं है अर्थात् १०, १२, २०, इस प्रकार अनिश्चित अर्धालियों के बाद अनिश्चित संख्या में दोहों-सोरठों का प्रयोग हुआ है। व्यवस्था की दृष्टि से तुलसी का छन्द-पांडित्य अयोध्याकाण्ड मे ही सबसे अधिक दिखलाई पड़ता है। उसमें प्रत्येक २५ चौपाइयों (दोहे सहित आठ अर्धाली) के बाद एक हरिगीतका का प्रयोग है। अन्य दृष्टियों से भी अयोध्याकाण्ड मानस का सर्वश्रेष्ठ अंश माना गया है। आशय यह कि तुलसी थोड़ा प्रयत्न करके अपने काव्य को छन्द की दृष्टि से सुव्यवस्थित बना सकते थे, जैसा कि अयोध्याकाण्ड की रचना से प्रकट होता है, परन्तु उन्होंने प्रस्तावना में ही इसके लिये क्षमा-याचना कर ली है—

कवि न होऊं नहिं वचन प्रबीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥ (बाल० ९)

इस प्रकार मानस के सभी काव्यागों में हम तुलसी के आचार्यत्व की परख कर सकते है, परन्तु स्वयं कवि ने किसी क्षेत्र मे आचार्यत्व की स्पृहा नहीं की है। वह तो सर्वत्र भक्त है।

तुलसी ने लोक और शास्त्र का सामंजस्य अपनी समस्त काव्यपद्धति में किया है, यह उनकी विशेषता है और इसका उल्लेख अनेक बार किया गया है। एक ओर हम देखते हैं कि उन्होंने "अपिमाषं मषं कुर्यात्" का निर्देश अस्वीकार कर दिया है तो दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि वाल्मीकि के परवर्ती काल में बने कुछ अन्य नियमों के प्रति विशेष श्रद्धा भी प्रकट की है, जिनमें पुनः उनकी पौराणिक-धार्मिक रुचि प्रकट होती है। परवर्ती काल में शुभाशुभ के विचार से काव्य के आरम्भ मे कही जगण, रगण, सगण और तगण का प्रयोग नही होना चाहिए क्योंकि ये गण अशुभ माने जाते हैं। तुलसी ने बड़ी निष्ठा के साथ इस नियम का पालन किया है। अन्य चार गण—म, न, भ, और य, गण शुभ माने जाते हैं। तुलसी ने प्रत्येक काण्ड का आरम्भ मगण से ही किया है (SSS) जो कि श्री का दाता है। यह नियम मात्रिक छन्दों को लेकर बनाया गया था।[1] इससे प्रकट होता है कि वे छन्दो के नियमों के विषय में सुविज्ञ थे परन्तु भाषाभनिति के विचार से उन्होंने अपने आप को काफी स्वच्छन्द भी रक्खा था। साथ ही, शुभाशुभ विचार की प्रवृत्ति से उनकी भक्ति भावना, धार्मिक भावना और पौराणिक निष्ठा भी प्रकट होती है।

वाल्मीकि और तुलसी के छन्द विधान की तुलना करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१ शुभाशुभ गण विचार दे० , मानु० पृ० ११६

—महाकाव्य में एक ही छन्द के प्रयोग का नियम दोनों ने माना है। मूल रामायण से यही सिद्ध होता है, और मानस में भी भिन्न छन्द दूर-दूर पर आये हैं जिससे कि उसमें मुख्य रूप से चौपाई छन्द का प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है।

२— मानस में काव्यशास्त्रीय तत्व वा० रामयण की अपेक्षा अधिक व्यवहार में लाये गए है, यह बात छन्द-विधान में भी देखने को मिलती है। उसका छन्द-विधान जटिल है, अर्थात् चौपाई के साथ दोहे-सोरठे का मेल अनिवार्य है और काण्ड के अन्त में हरिगीतिका का भी। तुलसी का काव्य-पांडित्य यहां भी विविध छन्दों के प्रयोग में दिखलाई पड़ता है।

३—वा० रामायण में काव्यशास्त्र का प्रभात दिखलाई पडता है तो मानस मे उनका मध्याह्न। जिस प्रकार मानस अलंकारों का भण्डार है उसी प्रकार उसमें छन्दबाहुल्य भी है और जिस प्रकार वाल्मीकि रामायण मे अलंकारशास्त्र अंकुरित अवस्था में है उसी प्रकार प्रचलित रामायण में एक पूरा छन्दशास्त्र ही तैयार होता दिखलाई पडता है।

४—तुलसी की भक्ति-भावना उनके छन्दविधान में भी स्पष्टतया लक्षित होती हैं। मात्रिक की अपेक्षा वर्णवृत्तों के अधिक प्रकार, प्रत्येक काण्ड के आरम्भ मे संस्कृत मे मंगलाचरण, म गण से समारम्भ और वैदिक अनुष्टुप से काव्य का आरम्भ उनकी शास्त्रनिष्ठा, संस्कृत-प्रेम और धार्मिक रुचि के प्रमाण हैं। उनकी स्तुतियों में छन्दविधान के साथ उच्चतम संगीतत्व का संयोग कवि की तीव्र भावना को प्रकट करता है।

५—इस शास्त्र-निष्ठा के साथ छन्द प्रयोग में स्वच्छन्दता उनकी लोक और शास्त्र के समन्वय की व्यापक भावना को प्रकट करती है।

(३) अलंकार

अलंकार और छन्द भाषा के विशिष्ट रमणीय अवयव है, अतः काव्यभाषा मे उन्हें विशेष गौरव प्राप्त है। भाव के अनुरूप भाषा का विधान होता है और मन की विभिन्न परिस्थितियों में अभिव्यक्त भाव तदनुरूप आकार-ग्रहण करने की चेष्टा में अनेकानेक छन्दों और अलंकारों को जन्म देते हैं[1]। उनसे अभिव्यक्ति में स्पष्टता और प्रभविष्णुता उत्पन्न होती है. भाषा का सौन्दर्य विकसित होता है और वक्ता तथा श्रोता दोनों का ही मनोविनोद भी होता है अथवा मानसिक सुख मिलता है। छन्द-शास्त्रियों ने विविध भावो और मनस्थितियों के पृथक्-पृथक् छन्द निश्चित किये हैं[2] इसी प्रकार मन के उल्लास और अवसाद, चांचल्य और चिन्तन के अनुकूल

१. आचार्य रा० शुक्ल ने प्रसंगतः अलंकारों के सम्बन्ध में, भाषा से इनका सम्बन्ध जोड़ते हुए, यह बात कही है (चिन्तामणि, भाग १. पृ० १८१), परन्तु छन्दों के विषय में भी यही बात हम सम्बन्धित प्रकरण में देख चुके है।

२ दे० सुवृत्त तिलक क्षमेन्द्र

अलकारों की सृष्टि भी होती है। अतः अलंकारों का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना कि भाषा का इतिहास। यदि वेद को मनुष्य की रमणीय वाणी का प्रारम्भिक सोपान मान कर चलें तो उसमें भी परवर्ती साहित्य के समान ही काव्य-शैली के अनेक अवयव देखे जा सकते है। छन्दों के विषय में हम देख चुके हैं कि वैदिक छन्द ही लौकिक साहित्य के छन्दों के जन्मदाता थे। उसी प्रकार अलंकारो का उद्भव हमें ऋग्वेद मे स्पष्ट दिखाई पडता है।[1] अपनी आंतरिक भावनाओं का सादृश्य प्रकृति में और प्राकृतिक सुषमा एवं क्रियाओं का सादृश्य अपने जीवन मे मानव ने, ऋषियों ने, उस आदियुग मे ही अनुभव कर लिया था जहाँ से भारतीय साहित्य और संस्कृति की गंगा प्रवाहित हुई है। उपमा, रूपक आदि साहश्य मूलक और यमक, वक्रोक्ति आदि शब्द वैचित्र्यमूलक अलकार अत्यन्त प्राचीन है और अलकार वाङमय के जनक है। अन्तर यही है कि 'अलंकार' शब्द की उत्पत्ति तथा अलंकार के रूप में उन वाणी-वैचित्र्यों का नामकरण और पहिचान उस काल मे नहीं हुई थी, वे प्रारम्भ में व्याकरण के अन्तर्गत ही रहे।[2] रूपों की उत्पत्ति के साथ, रूप-बाहुल्य से उत्पन्न भ्रमों के निवारण और सुविधा के लिए पृथक्-पृथक् नामों की आवश्यकता संवर्धनशील समाज में अनुभव होने लगती है। इसी नियम के अनुसार अलकारो के नाम भी उत्तरोत्तर बढते गए। भरत के नाट्य शास्त्र मे केवल चार अलंकारों का उल्लेख हुआ है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक (अध्याय १६, श्लोक ४०) भामह के काव्यालकार में एक पाँचवाँ अलंकार 'अनुप्रास' और जोड दिया गया है (२. ४)। इस प्रकार चार या पाँच अलंकार शनैः शनैः पंडितराज जगन्नाथ के समय तक १५० की संख्या तक पहुँच गए।[3]

आदिकवि वाल्मीकि भी कुछ मूलभूत अलंकारो से परिचित अवश्य थे। उनके अलंकार यद्यपि सदा सहज और शोभाकर हैं परन्तु यत्रतत्र प्रयत्न भी लक्षित होता है, यह हम देखेंगे। आदिकाव्य के रूप में रामायण काव्यशैली के समस्त अवयवों का—छन्द, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि—का आदि उत्स सर्वसम्मति रूप से स्वीकार किया जाता है। अतः उसमें कहीं-कहीं रचना-विषयक प्रयत्न का होना भी स्वाभाविक है। मानसकार के समय तक तो साहित्य के इतिहास मे अनेक स्वर्णयुग आकर चले गए थे और उसके समक्ष अपनी वाणी के मार्जन और अलकरण के लिये प्रचुर उपजीव्य और उपकरण विद्यमान थे। एक ओर उसने वेद,पुराण और शास्त्र से विचार-सामग्री संग्रहीत की, दूसरी ओर काव्यों और नाटकों से प्रचुर अलंकार सामग्री भी। मानस की काव्यशैली, उसके असंख्य अलंकारों के कोष, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश सभी पूर्ववर्ती साहित्यों का ऋणी है। देखना यह है कि रामायण से मानस तक कौन से अलंकार अविराम यात्रा करते हुए चले आये हैं, मानस

---

१ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० १२
२ [illegible] अलंकार [illegible] ६ [illegible]
३ [illegible] ४५

तक आ पहुँचने में उनमे क्या वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ है और रामकथा के अलंकरण मे उन्होंने किस प्रकार और कितना सहयोग दिया है।

रामायण और मानस का साथ-साथ अध्ययन करने पर यह बात शीघ्र ही प्रकट होने लगती है कि मानसकार अलंकारों के प्रति अपेक्षाकृत कहीं अधिक सचेष्ट है। न केवल मानस में अलंकारों के भेदोपभेद ही अधिक हैं अपितु अलकार विधान के प्रति कवि सावधान और प्रयत्नशील भी अधिक है। विवेचन करने पर रामायण में भी सारे ही अलंकार निर्धारित किए जा सकते है, परन्तु उसमें वे निगूढ़ है जबकि मानस में स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। रामायण में समस्त अलकारो का विवेचन अधिक प्रयत्नसाध्य है और समीक्षण के लिए विशेष पटुता की आवश्यकता है परन्तु मानस मे अलंकारों की पृष्ठभूमि और सुदृढ़ है। मानसकार के समक्ष लक्षण ग्रन्थ और उत्कृष्ट साहित्य था जबकि रामायणकार के विषय में ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। नाट्यशास्त्र की रचना तब तक हो चुकी थी या नहीं, इसे जानने के साधन भी हमारे पास नहीं हैं। कालिदास ने तो स्वयं वाल्मीकि रामायण को ही 'कवि प्रथमपद्धतिः' कहा है। रामायण की अपेक्षा अवश्य ही मानस लक्षण ग्रन्थो से अधिक प्रभावित और काव्यरीतियों का अनुयायी हैं, परन्तु दोनों कवियों की यह समान प्रवृत्ति भी स्पष्ट रूप से लक्षित होती है कि उन्होंने प्रधानता भाव को दी है, कला या चमत्कारिता को नहीं। दोनों के काव्य में बाह्यपक्ष अथवा कलापक्ष गौण और आन्तरिक पक्ष अथवा भावपक्ष प्रधान है। तुलसी में जो अलंकार-बाहुल्य दिखलाई पड़ता है वह भाषा के विकास का भी सूचक है, केवल कवि के पांडित्य-प्रकाशन या चमत्कार-प्रियता का ही नहीं। वर्ण्य विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य करके दोनो ही कवियों ने अपनी भावधारा की नैसर्गिक अभिव्यक्ति की है। तुलसी का समाज अधिक शिक्षित, अलंकृत, कृत्रिम और नागरिक था, जटिल था। अतः उनकी शैली में कृत्रिमता है, जटिलता है, फिर भी वह सहज है, अर्थात् भावों के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य है। रामचन्द्रिका के रचयिता केशवदास और रीतिकालीन कवियों की कृत्रिमता से वह भिन्न है। भाषा बोल चाल की (भाषा-मनिति) रखते हुए भी तुलसी ने अपनी 'विधुवदनी' कविता कामिनी को सभी अलंकारो से सज्जित किया है, परन्तु उन अलकारों से अधिक उनकी भी कविता कामिनी का नैसर्गिक सौन्दर्य और उसका आन्तरिक शील ही अधिक आकर्षक है।

रामायण की रचना पाणिनि, पिंगलाचार्य और भरत से पहले हुई या बाद में इस विवेचन को पृथक् रखकर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वाल्मीकि कुछ मूलभूत अलंकारों से अवश्य परिचित थे। भारतीय साहित्य का झुकाव आदिकाल से ही अलंकारिकता की ओर रहा है। रामायण की तुलना होमर के काव्य से करते हुए विदेशी विद्वानो ने इस बात की ओर लक्ष्य किया है कि उसमें पाश्चात्य साहित्य की अपेक्षा अधिक अलंकरण अतिरंजन और कृत्रिमता है साथ ही विचारो का मी उसमें अधिक है निम्नलिखित दो विद्वानों के विचार देखिये

Not withstanding the wilderness of exaggeration and hyperbole through which the reader of Indian Epics has occasionally to wander, there are on the whole range of world literature few more charming poems than the Ramayana. × × × × It must be admitted that in the Sanskrit poems there is a great redundance of epithets, too liberal a use of metaphor, Simile and hyperbole."—इंडियन विज़डम, मानियर विलियम्स—पृ० ३६३ तथा पृ० ४२२।

(आ) जर्मन कवि फ्रेडरिक रूपर्ट ने भी कहा है—

"Such fantastic grimaces, such formless fermenting verbiage as Ramayana offers thee, that has Homer certainly taught to despise, but yet such lofty thought and such deep feeling the Iliad does not show thee."—विन्तरनित्स द्वारा इंडियन लिट्रेचर भाग १, पृ० ५०० पर उद्धृत।

वाल्मीकि के परिचित अलंकारों मे रूपक, उपमा, यमक और अनुप्रास का उल्लेख, उदाहरण के लिये किया जा सकता है। अन्य अलंकारों का ज्ञान भी उन्हे रहा होगा, उक्त आधार पर यह भी कहा जा सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि भावावेग में सहसा प्रकाशित कुछ वाणी-वैचित्र्यों के प्रति वे आकृष्ट हुए होंगे, जिनका उन्होंने अभ्यास और आवृत्ति की होगी, और इस प्रकार अनेकानेक अलंकारों की नींव भी डाली होगी। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसी भी उक्तियाँ हैं जिनमें हम अलकार देखते है, वाल्मीकि का उनके वैचित्र्य की ओर ध्यान भी नहीं गया होगा। इस प्रकार रामायण मे अलंकारों की तीन स्थितियाँ देखी जाती हैं—(१) वाल्मीकि के पूर्ववर्ती अलंकार, (२) वाल्मीकि द्वारा कलात्मक प्रेरणा से निर्मित अलंकार और (३) वाल्मीकि को अज्ञात एवं अनभिज्ञात अलंकार जिनकी खोज, पहिचान और अभ्यास बाद में हुआ। पूर्ववर्ती अलंकारों में रूपक, उपमा और यमक तो निश्चित ही हैं जिनका अविरल प्रयोग ऋग्वेद मे मिलता है।[1] दीपक भी प्राचीन अलकार है (नाट्यशास्त्र)। निरुक्त में उपमा की व्याख्या और उनके भेदों के कथन[2] से यह भी प्रकट है कि अलंकारों का विवेचन भी रामायण काल में या उनसे पूर्व आरम्भ हो चुका था। पाणिनि के समय तक उपमा के चारों अंग निर्दिष्ट हो चुके थे।[3] इस प्रकार वैयाकरणों ने अलंकारिकों के लिये पथ प्रशस्त कर दिया था। अलकार शास्त्र से पूर्व अलंकार और अलंकार से पूर्वतर "उपमा" (सादृश्य) का प्रकल्प वेद तथा भाषा दोनों में प्रतिष्ठित हो चुका था।[4] हॉपकिन्स ने ठीक ही कहा है—

१. दे० हिन्दी का अलंकार साहित्य, पृ० १।
२. वही, पृ० ३।
३. वही पृ ४
४ वही पृ० ५

Rhetoric is older than rhetorics."[1] वाल्मीकि द्वारा विनिर्मित या प्रकल्पित अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध का अभिप्रेत नहीं है, परन्तु उनके एक विशिष्ट अलंकार की चर्चा यहाँ अवश्य की जा सकती है और वह है "स्वभावोक्ति"। रामायण के आलोचकों ने इसे उनका सिद्ध और प्रिय अलंकार माना है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। भामह के काव्यलंकार में, जिससे कि अलंकार शास्त्र का विधिवत विकास माना जाता है[2] स्वभावोक्ति की चर्चा हुई है।[3] इसके अतिरिक्त "लोकरावणः रावणः" जैसे प्रयोगों में, जिनकी रामायण में बहुलता है, और राक्षसों के अन्य सार्थक नामकरण के उदाहरणों में परिकर और परिकरांकुर स्पष्ट ही दिखलाई देता है। ऐसे प्रयोग रामायण में इतने अधिक है कि वाल्मीकि के द्वारा इन अलंकारों का विकास हुआ यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। सांगरूपकों की उन्होंने दक्षतापूर्वक योजना की थी, और इस रूप में उनकी परम्परा आदिकाव्य से ही प्रचलित हुई प्रतीत होती है। महाकाव्य की शैली का यह अनिवार्य अंग बन गया और न केवल भारतीय महाकाव्य में अपितु विदेशी महाकाव्यों में भी इसका प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। होमर की गुगुम्फित उपमायें (होमरिक सिमलीज) वस्तुतः सांग और परम्परित रूपक ही हैं।

रामायण के तीसरी श्रेणी के अलंकारों में अर्थात् जिनका प्रयोग वाल्मीकि ने किया है पर कदाचित् उनकी अलंकारिकता से वे स्वयं परिचित न थे, उपमेयोपमा सहोक्ति, अनन्वय, एकावली, और समासोक्ति का उल्लेख किया जा सकता है जिनका विवेचन हम आगे करेंगे। जिस प्रकार वाल्मीकि ने वैदिक अनुष्टुप का विकास किया उसी प्रकार पूर्ववर्ती तथा समकालीन साहित्य के आधार पर आलंकारिक प्रयोगों का भी विकास किया तथा रूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, यमक तथा अनुप्रास आदि को विशेष मान्यता दी।

मानसकार ने कुछ नवीन अलंकारों को जन्म दिया है अथवा नहीं, और उन वाग्वैचित्र्यों को क्या नाम दिया जा सकता है, यह तो पृथक खोज का विषय है। फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में यह संकेत किया जा सकता है कि उन्होंने किन अलंकारों पर अपनी विशेष छाप लगाई है। उदाहरण के लिये रूपक, और विशेषतः सांगरूपक, तुलसी का एक विशिष्ट अलंकार है। मानसकार के अप्रस्तुत-विधान में भी उसकी अलंकार-विषयक मौलिकता स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

महाकाव्य की कथा और चरित्र में ही महानता और उदात्तता नहीं होती अपितु उसकी शैली में भी एक विशिष्ट गरिमा होती है। वह जिस प्रकार परवर्ती काव्यों के लिये कथा और पात्र प्रदान करता है उसी प्रकार नाना शैलियां भी उसी से उद्भूत होती हैं। न केवल महाकाव्य की परिभाषा रामायण से उद्भूत हुई वरन् अप्रस्तुत विधान की अनेक शैलियां, अनेक अलंकार, काव्यरूढ़ियां और कवि समय उसी समय

१. दि ग्रेट एपिक, पृ० २०५।
२. हिन्दी का अलंकार साहित्य, पृ० ५।
३. 'स्वभावोक्ति [illegible]

से प्रवर्तित हुए जिनमें से कुछ पीछे छूट गये, कुछ परिवर्तित या संशोधित हो गये और कुछ तो मानस तक निर्विघ्न चले आए हैं। अतः दोनों कृतियों में महाकाव्योचित उदात्त शैली के अवयव स्वरूप अनेक अलंकार हैं जिनमें से कुछ मुख्य हैं, उनमें बहुत कुछ साहश्य है, अप्रस्तुत विधान में भी कहीं-कही आश्चर्यजनक समानता है और कुछ नवीनयुग और नवीन व्यक्तित्व के साथ मानस की काव्यशैली में ही प्रस्फुटित हुए हैं।

मानसकार ने ग्रंथ की प्रस्तावना में 'कवित-विवेक' के अन्तर्गत 'अलंकृति' का उल्लेख किया है[1] और मानसरूपक में 'उपमा'[2] की चर्चा की है, जिससे प्रकट है कि अलंकारो को वह उत्तम काव्य के लिये आवश्यक मानता है और असंख्य अलंकारों में से केवल उपमा की चर्चा द्वारा इस प्रमुख अलंकार का महत्व भी घोषित करता है।[3] रामायण-कार ने भी एकाध स्थल पर तो 'उपमा' शब्द मात्र का प्रयोग किया है[4], परन्तु अलंकार के रूप में भी उपमा का ही प्रयोग सबसे अधिक रामायण में दिखलाई पड़ता है। इसके बाद रूपक में भी रामायणकार की निपुणता और अभ्यास अधिक लक्षित होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक आदि के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। आशय यह कि अपने काव्यों के लिये दोनों ही कवियों ने अलंकारों की आवश्यकता अनुभव की है जो रामायण में प्रकट नहीं हुई है परन्तु मानस में प्रकट है। दोनों ने ही भाषा के समान, भाषा के इस अवयव को भी, भावों के अनुगत ही रखा है। दोनों काव्यों मे ऐसे उदाहरण प्रायः नहीं मिलते जहाँ कवि चमत्कार-प्रदर्शन के लिये रुकता हुआ दिखलाई पड़ता हो। दोनों ही काव्यों में अलंकृत शैली का अधिक प्रयोग कुछ विशिष्ट स्थलों पर दिखलाई पड़ता है जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य के चित्रण में, मनस्थितियों के निरूपण में और मार्मिक घटनाओं के उद्घाटन मे। इस प्रकार दोनों ही कवियों के अलंकार भावों के उत्कर्ष की व्यंजना में तथा वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक हुए हैं।[5] उनकी योजना से कथानक की शैली में रमणीयता और पात्रों के व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता में भी वृद्धि हुई है, साथ ही वे रसानुभूति के साधक भी बने हैं।

अलंकार प्राय; दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं,—अर्थालंकार और शब्दा-लंकार। जहाँ दोनों ही हों वहाँ उभयालंकार[6] और जहाँ अनेक अलंकार एक साथ हो

---

१. बाल० ६।

२. वही, ३७।

३. "जिसका अभिप्राय यह है कि वे सादृश्यमूलक अलंकार या उपमा को सौन्दर्य का सार मानते थे"। हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य पृ० १७६।

४ २ ६ ५७ तथा ६ १२१ ८

५ दे० प० रामचन्द्र शक्ल कृत की परिभाषा गो० तुलसीदास प० १६१ (अलकार

वहाँ संकर और संसृष्टि अलंकार कहे जाते है। संसृष्टि मे वे पृथक-पृथक प्रतीत होते है परन्तु संकर में सर्वथा घुलमिल जाते हैं।[1] इस प्रकार अलंकारों का अध्ययन पाँच वर्गों के आधार पर किया जा सकता है—अर्थालंकार, शब्दालंकार, उभयालंकार, सकर और संसृष्टि। अर्थालंकार इनमें मुख्य है और उनके भी अनेक वर्ग किये गये हैं—साद्दश्य मूलक, विरोध या वैधर्म्यमूलक, न्यायमूलक, श्रृंखलाबन्धमूलक इत्यादि।[2] इनमें भी सादृश्य मूलक अर्थालंकार ही मुख्य होते है और उनमे भी उपमा और रूपक का प्राधान्य होता है। कवि के अप्रस्तुत विधान का विस्तार और चातुर्य इन दो अलकारों से विशेषतया लक्षित होता है।

वाल्मीकि और तुलसी के अलंकारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये प्रस्तुत प्रबध में उपमा और रूपक को विशेष रूप से चुना गया है, कुछ अन्य अर्थालंकारों पर भी विचार किया गया है। साथ ही उनके अप्रस्तुत विधान की तुलना भी की गई है। अनुप्रास, यमक, श्लेष, संकर संसृष्टि आदि के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

उपमा

उपमा सबसे पहला मूलभूत अलंकार है और प्रायः सभी सादृश्यमूलक अलंकारो का उद्भव इससे हुआ है। इसके विषय में कहा गया है—

अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्व काव्यसम्पदम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

—काव्यमीमांसा, राजशेखर।

अतः यह स्वाभाविक है कि आदिकाव्य में भी इसी अलंकार की प्रधानता रही हो।[3] इससे उद्भूत अनेक अलंकारों का जैसे उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक आदि का भी प्रयोग उसमें मिलता है परन्तु उनका व्यक्तित्व पृथक नहीं हो पाया है अर्थात् ये अन्य अलंकार वा० रामायण में बहुत स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते हैं। रामचरितमानस मे न केवल उपमा के भेदोपभेद स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं वरन् उससे सम्बन्धित अनेकानेक अलकार भी पृथक-पृथक अपने स्वतंत्र आकर्षण के साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

उपमा अलंकार की योजना में कवि की दृष्टि की व्यापकता, उपमेय और उपमान मे साधर्म्य-स्थापना के द्वारा उसकी कल्पना-शक्ति और वस्तुओं के रूप-गुण-क्रिया आदि के प्रकाशन से भावोत्कर्ष में सफलता का ज्ञान होता है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी और प्रस्तुत का वर्णन करने के लिये वे जिन अप्रस्तुत पदार्थों को सामने लाये हैं वे संख्या में भी बहुत अधिक

१. वही पृ० २४९-२५० ।
२. काव्यदर्पण, पृ० ४३९ ।
३. "Valmiki is fond of piling similies one upon another"—रिखिल, सी० वी० वैद्य पृ० ६ तथा पोयट्री आव वाल्मीकि एस० वी० आयगर पृ० २०३ २०५

हैं और एकदेशीय न होकर जीवन तथा जगत के विभिन्न क्षेत्रों से चुने गये हैं। उनमे मुख्य स्थान है प्राकृतिक का। इसके अतिरिक्त दोनों कवियों ने वेद, पुराण, नीति, राजनीति, युद्ध, ज्योतिष, दर्शन, संगीत, शास्त्र, लोकजीवन, गणित, वैद्यक आदि क्षेत्रों से भी अपने उपमानों का संकलन किया है। इन क्षेत्रों से दोनों के युग-जीवन का भी बोध होता है।

प्राकृतिक क्षेत्र से चुने गये उपमानो में समानता भी है और भेद भी। समानता है देशगत एकता के कारण और भेद है कालगत भिन्नता के कारण। सौन्दर्य के लिये कमल और चन्द्रमा, शौर्य एवं शक्ति के लिये सिंह, शार्दूल, गज, अश्व तथा वृषभ, धैर्य के लिये हिमाचल, गांभीर्य के लिए सागर, विशालता के लिए आकाश, क्रोध और भय के लिये सर्प, कोमलता और निरीहता के लिये मृग इत्यादि, इस देश के प्रिय उपमान रहे हैं। देश की प्राकृतिक परिस्थितियों में अन्तर पड़ा है और उसी क्रम से नवीन दृश्य उत्पन्न होने के साथ प्रकृति के क्षेत्र में उपमानों का भाण्डार भी बढ़ता चला गया है।

दोनों कवियों में सागर, सरिता, वन, पर्वत और आकाश तथा कमल, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि के प्रति विशेष आकर्षण दिखलाई पड़ता है। महाकाव्य में विराट् भावना के लिये सागर, वन, पर्वत और आकाश के दृश्य बार-बार सामने लाये जाना स्वाभाविक भी है। वा० रामायण में प्रारंभ में ही काव्यनायक को गांभीर्य मे समुद्र के समान कहा गया है।[1] राम के सौंदर्य के लिये वाल्मीकि का मूल आधार चन्द्रमा है परन्तु तुलसीदास कमल के पीछे बहुत अधिक पड़े है।[2] इसका कारण भी है। पौराणिक साहित्य में कमल का सम्मान अलंकार-जगत में बहुत बढ़ गया था क्योंकि उसका सम्बन्ध विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा, और सरस्वती से अत्यन्त घनिष्ट था। राम की श्यामलता के कारण श्याम-कमल का महत्व और भी अधिक दिखलाई पड़ता है। वा० रामायण में भी राम को 'इन्दीवर श्याम' कहा गया है (२.१३.१०)। सागर के प्रति वाल्मीकि का अधिक आकर्षण है और इस विषय में विद्वानों की कल्पना[3] है कि उसका राम से घनिष्ट सम्बन्ध था। राम के पूर्वजों के पुरुषार्थ का चिन्ह होने के कारण[4] और सेतुबंध की चमत्कारिक घटना के कारण, जो कि राम की यशोगाथा का अमर स्तम्भ बना, सागर के प्रति आदि कवि का अधिक आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। सागर के प्रति तुलसी का आकर्षण भी कम नहीं है।

सागर और आकाश के सम्बन्ध में दोनों कवियों की एक ही जैसी उपमा दर्शनीय है। यों तो सागर अनेक गुणो और क्रियाओं का उपमान है, पर दोनों कवियों ने

---

१. रा० १. १. १७।

२. हिन्दी साहित्य, (सं० २००६), हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २४०।

३. स्टडीज इन रामायण, के० एस० रामास्वामी शास्त्री, प्रथम भाग, पृ० १३१।

४. समुद्रोल्लंघन के समय हनुमान को विश्राम देने के लिये मैनाक को ऊपर उठने की प्रेरणा सागर ने इसी सम्बन्ध के नाते दी थी—दे० ५ १ ८८ ९२

उसे विशाल जनसमुदाय का उपमान मानते हुए उसकी तरंगों की तुलना जनरव और जनता के उल्लास से की है—

(अ) कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात्पुनरागतौ ।
नन्दिष्यति पुरी हृष्टासमुद्र इव पर्वणि ॥ (२.४३.११)

—:— —:— —:—

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ (२.६.२६)

(आ) राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान ।
बढ़यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान ॥ (७.३ ग)

और इस उपमा की आवृत्ति अनेक स्थलों पर हुई है। यह बात देखने की है कि कथा के एक ही स्थल पर समान उपमान का प्रयोग किया गया है। रामायण मे कौशल्या ने राज्याभिषेक के अवसर पर सागर-तरंगों का उल्लेख किया है और मानस मे भी उसी अवसर पर वह चित्र उपस्थित किया गया है।

इसी प्रकार आकाश में मेघों को चीर कर निकलने वाले चन्द्रमा की ओर दोनो का ध्यान गया है—

(अ) हनूमान्मेघजालानि प्रकर्षन्मारुतो यथा ।
प्रविशन्नभ्रजालानि निष्क्रामंश्च पुनः पुनः ॥
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ।
पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमांजिष्ठकानि च ॥
(रा० ५.८१.८२)

(आ) लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुगबिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥
(मा० १, दो० २३२)

इन उपमाओं का साहश्य यह प्रकट करता है कि प्रकृति के साथ मानव के सनातन सम्बन्ध के कारण कुछ उपमान रूढ़ हो जाने पर भी अपनी रमणीयता बनाये रखते है। वा० रामायण के अनेक उपमान और अप्रस्तुत विधान मानस तक ढाई हजार वर्ष की यात्रा कर लेने पर भी उतने ही प्रफुल्ल और नवीन बने हुए है।

उपमाओं की अपार राशि दोनों महाकाव्यों मे अनेक स्थलों पर बिखरी पड़ी है। दोनों के कुछ विशिष्ट स्थलों को लेकर उनके अप्रस्तुत विधान और साधर्म्य-योजना का अध्ययन किया जा सकता है। रामायण में दो स्थल ऐसे हैं जिन्हें कवि की उपमा-सम्पत्ति की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, इनमें से एक है राम-रहित सूनी अयोध्या का वर्णन (अयो० सर्ग ११४) और दूसरा अशोकवन में एकाकिनी भयभीत सीता का चित्रण (सुन्दर० सर्ग १५ और १७)। मानस से भी इस प्रकार दो स्थल चुने जा सकते हैं। उपरोक्त स्थलों पर मानसकार ने वैसी उत्कृष्ट उपमा-योजना नहीं की है जैसी वाल्मीकि ने अत उससे भिन्न दो स्थल लिये जा सकते हैं

एक है मानस की प्रस्तावना में खल-वर्णन (बाल० चौ० ४) और दूसरा वर्षा-वर्णन (किष्किंधा० चौ० १४-१५)।

वाल्मीकि ने राम-रहित सूनी अयोध्या का वर्णन महाकाव्योचित अलंकृत शैली में करते हुए लिखा है—

भरत ने चित्रकूट से लौटकर अयोध्या में प्रवेश करते हुए देखा कि राम की नगरी राम के बिना ऐसी निर्जीव, निष्क्रिय, मलिन और शोभाहीन पड़ी हुई है जैसे राहु से ग्रस्त रोहिणी, निदाघ में सूखी और जलपक्षियों रहित नदी; घृत द्वारा प्रज्वलित परन्तु सहसा जल के छींटों से बुझी-बुझी सी अग्नि-शिखा, विध्वस्त गज-वाजि-रथ-ध्वजा और हतवीरा महासेना, वायुवेग से सहसा आन्दोलित किन्तु मरुतशान्ति से सहसा निस्वन सागर की लहर; यज्ञ की समाप्ति पर याज्ञिकों से रहित यज्ञशाला, सांड के वियोग में उत्कण्ठिता तरुणी गाय; प्रज्वलित मणियों से रहित मुक्तावली, दिन में गिरता हुआ पुण्यहीन नक्षत्र; बसन्त के अन्त में गुंजरित भ्रमरों से युक्त पुष्पिता परन्तु दावाग्नि से सहसा झुलसी लता; चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन तथा मेघों से आवृत्त सांय-सांय करती बरसाती रात; मृत मद्यपों और भग्न मद्यपात्रों से युक्त उजड़ी मद्यपान शाला; विध्वस्त और टूटे भाण्डों वाली जलरहित पौशाला, विशाल धनुष की तनी हुई परन्तु सहसा काट दी गई प्रत्यंचा, अथवा युद्ध-चतुर आरोही की शत्रु द्वारा गिरा दी गई किशोरी वडवा (अयो०, सर्ग ११४, श्लोक ३-२७)।

महाकाव्य मे अनेक स्थलों पर उपमाओं की ऐसी माला को देखकर ही और कदाचित् 'मुक्तावली' (दे० वही, श्लो० १०) शब्द के संकेत से, परवर्ती अलंकारिको ने मालोपमा नाम के अलंकार की कल्पना की होगी। वाल्मीकि को किसी उत्तराधिकार से मालोपमा मिली यह कहना असंभव है, परन्तु उन्होंने परवर्ती साहित्य को खूब, निखरी, उजली और ताजी उपमा-माला प्रदान की है यह तो स्पष्ट ही है। उनसे पूर्ववर्ती साहित्य में ही नहीं परवर्ती साहित्य में भी ऐसी अनुपम मालोपमा अनुपलब्ध है। उक्त उद्धरण में कल्पना का जैसा कोष, अप्रस्तुत क्षेत्र की जैसी विविधता और विस्तार, परिस्थिति का जैसा संश्लिष्ट चित्रण, वातावरण की जैसी साक्षात् सृष्टि, भावानुरूप शब्दों के चित्र और कौशलपूर्ण साधर्म्य-योजना दृष्टिगोचर होती है वह महाकाव्य की गौरवान्वित शैली के अनुरूप है, वह अन्य महाकाव्यों में भी कठिनाई से मिलेगी और वैसा एक भी उदाहरण रामचरितमानस में नहीं मिलता। मानस का कवि कल्पना के कोष, अप्रस्तुत की विविधता और विस्तार, संश्लिष्ट चित्रण और वातावरण की सृष्टि, भावानुरूप शब्दचित्र और कौशलपूर्ण साधर्म्य योजना में आदि कवि की महान कला से भले ही स्पर्धा करने का साहस न करे पर ये सब गुण उसके भी महाकाव्य में प्रयुक्त सादृश्य-मूलक अलंकारों में मिलेंगे। तुलसी का अलंकार शिल्प उपमा में नहीं रूपक में देखा

जा सकता है। रामायण की उपमा और मानस के रूपक इन दो महाकाव्यों के रत्न-शिखर हैं।

वाल्मीकि कृत उपर्युक्त उपमा की दो विशेषतायें ध्यान देने योग्य है। प्रथम तो यह कि कवि ने उपमा के सहारे राम के वनगमन की महान घटना में सन्निहित मार्मिकता को अत्यन्त सफलता के साथ प्रकट किया है। उस महानगरी का विषाद, सन्नाटा, नैराश्य, विभीषिका और दुर्भाग्य इन शब्दचित्रों के द्वारा आंखों के आगे आ जाता है। इसका सम्बन्ध कवि की भावुकता और कल्पना शक्ति से है अर्थात् उसने उस परिस्थिति का अपनी भावुकता से पूर्ण साक्षात्कार करके उसे कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कर दिया है। दूसरी विशेषता है इस बहुमूल्य उपमा-माला में प्रकाशित कवि का पांडित्य और लोकज्ञान जिसमें उसके युग-जीवन की स्वच्छ झलक मिलती है, साथ ही उसके व्यक्तित्व और अभिरुचियों का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इन पन्द्रह उपमानों में, जो गिनाये नहीं गये हैं वरन् संश्लिष्ट रूप मे चित्रित हुए हैं, कवि ने बिना आवृत्ति किये हुए लगभग बारह प्रकार के विषयों का सन्निवेश किया है जिनकी गणना इस प्रकार की जा सकती है—खगोल विद्या, ऋतु-विज्ञान, अग्निहोत्र, रणक्षेत्र भूगोल, पशु-जगत, रत्न-आपण, ज्योतिष, प्राकृतिक उत्पात, मद्यशाला, पौशाला और शस्त्रास्त्र। इन विषयों में प्रकृति, लोकजीवन, पशुजगत, शास्त्र, तपोवन, आपण और रण आदि की सजीव झांकियां मिलती हैं। महाकवि की संश्लिष्ट संगुंफित कला ने इस प्रकार प्रस्तुत विषय का धाराप्रवाह भंग किये बिना—क्योंकि इन उपमाओं का उपयोग परिस्थिति का मार्मिक चित्र उपस्थित करने के लिये किया गया है—संश्लिष्ट रूप में प्रकारान्तर से भाव और ज्ञान का सम्मिलन करा दिया है। एक ओर हम उस अयोध्या के वातावरण में डूब जाते है तो दूसरी ओर हमारा ज्ञान-विस्तार भी होता है।

वा० रामायण में मालोपमा का दूसरा चित्र 'अशोक वाटिका में सीता वर्णन' भी इतना ही मार्मिक और कवि कौशल-संयुक्त है (दे० सुन्दर० सर्ग १५ और १७)। परिस्थिति और वातावरण दोनों स्थलों पर प्रायः एक समान है। पहले में शून्य, विरह-विधुरा, जड़ नगरी का चेतन चित्र है और दूसरे मे एकाकिनी, भयभीत, विरहिणी सुन्दरी नारी का निस्पन्द बना देने वाला चित्र। करुणा और विषाद के विरल कवि वाल्मीकि की काव्यकला और उपमा के ये दोनों चित्र मूर्धन्य उदाहरण कहे जा सकते हैं। इस दूसरे चित्र में सीता के सम्बन्ध से सौन्दर्य, नखशिख-निरूपण और शृंगारिकता का भी सम्मिश्रण हो गया है परन्तु विप्रलंभ शृंगार होने के कारण वह विषाद और कारुण्य से परिपूर्ण है। कवि ने सीता की तुलना शुक्ल पक्ष के आरंभ की चन्द्ररेखा, धुएं से ढकी अग्निशिखा, पत्रहीनपद्मिनी, राहुपीड़ित-रोहिणी (दे० ५.१५.१९ २२); झुंड से बिछुड़ी और शिकारी कुत्तों से घिरी हिरणी (दे० वही, श्लोक २४); असंस्कृत और अर्थान्तर का संकेत करने वाली हीन वाणी (वही, श्लोक ३९ बोझ से लदी हुई नाव वही सर्ग १७ श्लोक ३ क्षीणपुण्य तारा

यूथभ्रष्ट और सिंह द्वारा पकड़ी हुई हथिनी, बिना बजाई मलिन वीणा और पंक दिग्धा मृणाली (दे० वही, श्लोक २०,२२,२३ तथा २६) से की है। इन उपमानो से भी एक ओर तो कवि का विविध ज्ञान और दूसरी ओर पात्र एवं परिस्थिति का साक्षात् सजीव चित्रण प्रकट होता है। सीता की सुकुमारता, सहजशोभा, विरहजन्य कृशता और मलिनता, भीरुता, असमर्थता और असहायता, वीर, क्षत्रिय की वीर पत्नी की दुर्दम्य तेजस्विता, आदि के सूचक उपमानों का संचय करते हुए कवि ने कथा-प्रकरण की पूर्ण अनुकूलता का ध्यान रखा है। प्रबन्धकार कवि का कथा की आवश्यकता के अनुरूप काव्य-सामग्री का प्रयोग करने का यह कौशल, सराहनीय है और इस विषय मे वाल्मीकि और तुलसी का काव्यशिल्प बहुत कुछ मेल रखता है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा। इस अप्रस्तुत योजना में प्रकरण की अनुकूलता के कौशल सम्बन्धी गुण पर ध्यान जाने के साथ इस बात को भी देखा जा सकता है कि वाल्मीकि द्वारा सामने लाये जाने वाले अप्रस्तुत विषयों मे बहुत से वे ही है जिनका प्रयोग पूर्वोद्धृत उपमा में किया गया है। अग्निहोत्र और ज्योतिष वाल्मीकि के प्रिय विषय प्रतीत होते है। इस प्रकरण मे ही कवि ने दो बार सीता की तुलना धूमावृत अग्निशिखा से की है[1] और दो ही बार राहु अथवा मंगल से ग्रस्त रोहिणी से। प्रकृति भी उनका अत्यन्त प्रिय विचरण क्षेत्र है जिससे उन्होंने पात्र और प्रकरण के अनुरूप विविध उपमान सग्रहीत किये है। वन के तपोमय जीवन के ही चित्र उन्होने उपस्थित नही किये है अपितु विघ्नमय भयानक जीवन के भी, जैसे, दावाग्नि, भौगोलिक और खगोलिक उत्पात तथा आखेट आदि के चित्र। अग्निहोत्र या यज्ञक्रिया, ज्योतिष और प्रकृति के अतिरिक्त वाल्मीकि ने शास्त्र, संगीत, पुराण आदि से भी उपमान संग्रहीत किये हैं जैसे मलिना सीता के लिये बिना बजी वीणा की उपमा। इसी प्रकार न पहिचानी जाने के कारण अर्थान्तर का सकेत करने वाली असंस्कृत वाणी की सूक्ष्म उपमा से वाल्मीकि का काव्य शास्त्र और भाषाशास्त्र विषयक सूक्ष्म ज्ञान प्रकाशित होता है।

वाल्मीकि द्वारा प्रयुक्त उपमान स्थूल भी हैं और सूक्ष्म भी फिर भी उनमे साधर्म्य का अभाव कहीं नहीं दिखाई पड़ता जैसे सीता के मलिन सौन्दर्य की तुलना असस्कृत वाणी से करने के द्वारा एक ओर तो सीता और वाणी का नैसर्गिक पावित्र्य व्यंजित होता है तो दूसरी ओर शृंगार और शैली सम्बन्धी परिष्कार के अभाव में उस नैसर्गिक सौंदर्य और पावित्र्य को बिगाड़ देने में मनुष्य की निष्ठुरता और अनाड़ी पन। ऐसी स्थति में सीता को पहचानने में हनुमान की बुद्धि का विभ्रम, अकुशल कवि द्वारा प्रयुक्त अर्थान्तर का संकेत करने वाली असंस्कृत वाणी के विषय मे किसी सहृदय के मति-भ्रम से सर्वथा तुलनीय हो कर कितना चमत्कारिक प्रतीत होता है। इस प्रकार वाल्मीकि की उपमा में साधर्म्य-योजना की स्वाभाविकता के साथ चमत्कारिकता का अद्भुत मेल हुआ है।

---

१ रा० ५ १५ २० तथा २२

२ रा० ५ १५ २२ तथा ५ ७ २८

इसी सम्बन्ध में उपमेय और उपमान में स्थूल और सूक्ष्म के भेद से जो उपमा के प्रकार प्रस्फुटित हो जाते है उनकी चर्चा कर लेना भी उपयुक्त होगा। इस आधार पर उपमायें चार प्रकार की दिखलाई पड़ती है—स्थूल उपमेय और स्थूल उपमान, सूक्ष्म उपमेय और सूक्ष्म उपमान, सूक्ष्म उपमेय और स्थूल उपमान तथा स्थूल उपमेय और सूक्ष्म उपमान।

संस्कृत के साहित्यशास्त्र में पूर्ण, माला, रसना आदि उपमा के जिन प्रकारो की चर्चा की गई है उनमें साधर्म्ययोजना की इस सूक्ष्म पद्धति पर विचार नहीं किया गया हैं, परन्तु यह वाल्मीकि रामायण में भी दिखलाई पड़ती है, मेघदूत में तो इसकी पराकाष्ठा ही है और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर आधुनिक भाषाओं तक के साहित्य मे इस प्रकार की सूक्ष्म साधर्म्य-योजना का प्रयोग दिखाई पड़ता है। मानस मे भी इसके अनेक उदाहरण हैं जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

रामायण में इसके उदाहरण उपर्युक्त उद्धरणों से भी दिये जा सकते है और इनसे वाहर भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं।

१. उपरोक्त उद्धरणों में स्थूल अर्थात् शरीरी उपमेय सीता के लिये स्थूल उपमान अर्थात् पत्रमग्ना पद्मिनी अथवा यूथभ्रष्टा हरिणी और करिणी से उपमा दी गई है।[1] रूप सादृश्य के विचार से पद्मिनी के पत्रों और सीता के वस्त्रों एव अलकारों में साधर्म्य-स्थापना है। सीता के शरीर पर वस्त्राभूषण अत्यन्त अल्प और मलिन होने के कारण न होने के ही बराबर थे। गुण सादृश्य के विचार से पद्मिनी और सीता के सौकुमार्य में साधर्म्य है। क्रिया सादृश्य के विचार से पद्मिनी का मुरझाना और सीता की खिन्नता एक समान भी है। इसी प्रकार यूथ भ्रष्टा हरिणी और करिणी में गुण और क्रिया का सादृश्य देखा जा सकता है। स्थूल उपमान मे सीता के लिये रति की उपमा (५. १५. ३०) पौराणिक उपमा का उदाहरण है।

२. सूक्ष्म उपमेय के लिये सूक्ष्म उपमान का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक मे देखा जा सकता है—

तस्य सन्दिदिहे बुद्धिर्मुहुः सीतां निरीक्ष्य तु।
आम्नायानाम योगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥ (५. १५. ३८)

इसमें बुद्धि (उपमेय) और विद्या (उपमान) दोनों ही सूक्ष्म हैं और उनकी क्रिया 'सन्देह' तथा 'शैथिल्य' भी उसी प्रकार सूक्ष्म धर्म है। साधर्म्य की पूर्णता का यह अत्युत्तम उदाहरण कहा जा सकता हैं।

(३) सूक्ष्म उपमेय के लिये स्थूल उपमान के उदाहरण शोक के लिये पर्वत (२ ८५. १६) सागर और वन आदि की उपमा में देखे जा सकते हैं।

(४) आभरण विहीन और मलिन वसना सीता को हनुमान अर्थान्तर-दोष पूर्ण असंस्कृत वाणी के समान कठिनाई से पहिचान सके (५. १५. ३६)। इसमे स्थूल सीता का उपमान (वाणी सूक्ष्म है इसी प्रकार सीता के लिये चन्द्रलेखा या

१ ५ १५. २१ और २४

चाँदनी की उपमा भी सूक्ष्म हैं (५. १५. २०)। इसी प्रकार धूम्रावृत अग्निशिखा उपमान भी हरिणी, पद्मिनी आदि की अपेक्षा सूक्ष्म है, वीणा भी उतनी स्थूल नहीं है।

कहीं-कहीं तो कवि ने सूक्ष्म उपमानों की भीड ही लगा दी है यथा उपरोक्त अशोक वाटिका-स्थित सीता के वर्णन में—

तां स्मृतीभिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव॥
सौपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुपामिव।
अमूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव॥ (५. १५. ३३-३४)

कवि किस प्रकार स्थूल उपमानों से उतरता-उतरता सूक्ष्म उपमानों तक आता है और सहृदय जन को पात्र और परिस्थिति की सूक्ष्म अन्तरात्मा मे प्रविष्ट कराकर क्षण भर के लिये ध्यानमग्न एवं अशरीरी बना डालता है, यह कला भी वाल्मीकि जैसे महाकवियों में देखी जा सकती है। उपरोक्त प्रकरण में ही कवि 'मन्मथस्य रति' की उपमा से आरम्भ करके निश्वास भरती 'भीरु भुजगेन्द्रवधू' और 'धूमससिक्ता शिखा' जैसे उपमानों में से होता हुआ 'सकलुष बुद्धि' जैसे सूक्ष्म उपमानों तक आया है।

वाल्मीकि की उपमाओं मे भावोत्कर्ष की क्षमता, पात्र और परिस्थिति का यथेष्ट प्रकाशन, रूप-गुण-क्रिया का तीव्र अनुभव करना, उपमेय और उपमान मे मे साधर्म्य का सामंजस्य आदि गुणों के अतिरिक्त गुण है उन उपमाओं की चित्रोपमता अर्थात् संश्लिष्ट योजना। वाल्मीकि की उपमाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनके विषय में उनके मर्मी समालोचकों का कथन है—Most of these similies make word-pictures × × × what we have in consequence is not so much a picture as a picture gallry × × × This is a description which has passed the stage of painting in words. It is stationery in words, solid as marble "[1]

वाल्मीकि की उपमाओं में वाचक शब्दों मे 'उपमा', 'सम', 'इव', 'यथा', 'निभ' 'सकाश' आदि का प्रयोग हुआ है। इससे स्पस्ट है कि उन्होंने उपमा अलकार को प्रत्येक दृष्टि से पूर्णता तक पहुँचा दिया था और यह उत्तराधिकार उन से ही कालिदास को प्राप्त हुआ—'उपमा कालिदासस्य'।

अब तुलसी की उपमाओं पर विचार करना है। मानस मे उपमा-प्रधान दो विशिष्ट स्थल चुने जा सकते है—(१) मानस-प्रस्तावना में खल-वर्णन (१. ४), और (२) वर्षावर्णन (४. १४-१५)।

प्रथम उदाहरण में खल-वन्दना करते हुए तुलसी ने कहा है कि दुष्ट लोग भगवान के यश-चन्द्र को निगलने के लिए राहु, दूसरों का काम विविध उपायों से

१ पयट्री म न वल्मीकि एम० वी० आयर, पृ० २०७

बिगाड़ने के लिये सहस्रबाहु, दूसरों की भलाई रूपी घृत को नष्ट करने के लिए मक्खी, दाहकता में अग्नि, क्रोध में यमराज और पाप एवं अवगुण रूपी धन की धनाढ्यता में कुबेर के समान होते है। सभी के लिये उनका उदय केतु के समान (अनिष्टकारी) होता है, कुंभकरण के समान उनका सोते रहना ही अच्छा है। वे दूसरों के अकार्य के लिये शरीर तक त्याग देते हैं जिस प्रकार ओले स्वय गल कर भी खेती का विनाश करते हैं। वे क्रुद्ध शेषनाग के समान होते हैं और पराये दोष वर्णन करने के लिये उनकी सहस्र जिह्वायें हो जाती हैं। वे राजा पृथु के समान प्रणम्य है क्योंकि पराये पापों को सुनने के लिये वे भी दस सहस्र कानों की इच्छा रखते हैं। वे देवराज इन्द्र के समान वन्दनीय है क्योंकि उन्हें 'सुरा नीकी' और हितकारी लगती है जिस प्रकार इन्द्र की 'सुरानीक' अर्थात देवसेना हितकारी होती है तथा जिन्हें अपने वचनों का वज्र अत्यन्त प्यारा है और पराये दोष देखने के लिये जिनकी हजार आँखें हो जाती हैं।

इस अवतरण में प्रधान रूप से उपमा अलकार है पर उसके साथ अनेक सहयोगी हैं जैसे रूपक और श्लेष। साधर्म्य की सिद्धि के लिये कवि को दूसरे अलंकारों को भी उपमा के साथ खींचना पड़ा है जैसे राहु बताने के लिये यश मे चन्द्रमा का और मक्खी बतलाने के लिये परहित में घृत का आरोप करना पडा है। इन्द्र से उपमा देने के लिये 'सुरानीक' जैसे श्लिष्ट शब्द का भी प्रयोग करना पड़ा है और आगे चलकर उपमा रूपक में विलीन हो गई है। पर-अकाज के लिये वे शरीर तक त्याग देते है (परिहरहीं) जैसे ओले खेती को गलाते हुए स्वयं भी गल जाते हैं, इसमें खल और हिम-उपल में उपमेय-उपमान भाव न हो कर दोनो के धर्म में एक ही भाव भिन्न शब्दों द्वारा कथित होने कारण के प्रतिवस्तूपमा अलंकार भी है। इस प्रकार न तो यह उदाहरण मालोपमा का कहा जा सकता है और न इसमे एक भी शुद्ध उपमा है। सम्पूर्ण चित्र संकर और संसृष्टि अलंकार पद्धति का उदाहरण कहा जा सकता है।

वाल्मीकि और तुलसी की अलंकार पद्धति मे यह मौलिक भेद दिखलाई पड़ता है कि जहां रामायण के अलकार स्पष्ट, निर्मल और स्वच्छन्द हैं वहाँ मानस के अलकार उलझे हुए, ससृष्ट और अस्पष्ट है। रामायण के अलंकारों में जैसी सहजता और प्रासादिकता है मानस में वैसी नही है, उसमे प्रयास है, कृत्रिमता है, पांडित्य है। मानस का अप्रस्तुत-क्षेत्र रामायण की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। उसमें नीति, पुराण, दर्शन, शास्त्रों आदि से भी उपमान लिये गये है। कवि का उद्देश्य उपदेश-दान के साथ ज्ञान-विस्तार भी प्रतीत होता है मानो वह रामकथा के बहाने ससार भर का ज्ञान अपने पाठक को पिला डालना चाहता है जिससे, उसके विचार से, रामकथा का महत्व और गौरव बढ़ सकता है। यह भेद दोनों काव्यों की शैली मे सामूहिक रूप से सर्वत्र दिखाई पड़ता है कि रामायण की शैली काव्यकला के

उच्चतम सोपानों पर आरोहण करती हुई भी सहज और स्वच्छन्द है जब कि मानस की काव्यशैली नीति-उपदेश और विद्वता की विज्ञप्ति के बन्धन में बंधती हुई अपेक्षाकृत कृत्रिम प्रतीत होती है। तुलसी ने भले ही भाषा-मनिति में रचना की है पर गिरा-ग्राम्य में गौरवका संचार करने के लिये वे केवल रामनाम की महत्ता पर निर्भर नही रह सके है वरन् उन्हें पुराण, निगम, आगम से पाडित्य भी माँगना पड़ा है।

किष्किधाकाण्ड के बर्षा और शरद-वर्णन में कवि ने उपमानों को नीति, दर्शन, भक्ति, राजनीति, समाज, शास्त्र आदि क्षेत्रों से चुना है। वाल्मीकि के अप्रस्तुत विधान में प्रकृति का मुख्य हाथ है परन्तु तुलसी तो जब प्रकृति को भी नीति के रंग म रंग देते है तब अप्रस्तुत रूप मे प्रकृति के रम्य, मोहक चित्रों को ला कर उपस्थित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति से विविध उपमान प्राप्त करने के लिये वाल्मीकि ने उसके विविध क्षेत्रों की ओर ध्यान दिया जैसे तपोवन, आखेट, रात-दिन के प्रहर, ऋतु-चक्र, भूगोल, खगोल आदि। परन्तु तुलसी की उपमाओं में प्राकृतिक क्षेत्र का वह सौन्दर्य नही है जो वाल्मीकि में हैं। डा० ग्रियर्सन का यह कथन—"ही ड्रू हिज सिमिलीज डायरेक्ट फ्राम नेचर"[1] तुलसी की उपमाओं से ही नही वरन् समस्त सादृश्य मूलक अलंकारों से सम्बंधित है। प्रकृति के साथ तुलसी का सम्बन्ध वाल्मीकि की अपेक्षा अवश्य कम था, यह हम देख चुके हैं। उनकी उपमाओं में इसलिए वैसी प्राकृतिक छटा प्राप्त करने की आशा भी नहीं करनी चाहिये। फिर भी तुलसी ने कही-कही सांगरूपकों में, पात्र एवं परिस्थिति के मार्मिक प्रकाशन के लिये, प्राकृतिक आधार पर सुन्दर अप्रस्तुतविधान किया है, जैसा कि हम आगे सांगरूपको पर विचार करते हुए देखेंगे।

तुलसी की उपमा और रूपक दोनों में ही साधर्म्य-सामजस्य भी बहुत कम मिलता है।[2] उनमें पुराण, दर्शन तथा नीतिशास्त्र का प्राधान्य होने के कारण क्लिष्ट कल्पना और दुरूहता दिखलाई पड़ती है। कुछ उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जा सकता है:—

१. उभय बीच सिय सोहत कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥ (मा०२.१२३)

× × ×

२. भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥(मा०२.१२३)

इन दोनों उदाहरणों में उपमान दार्शनिक क्षेत्र से लिये गये है। राम, लक्ष्मण और सीता को ब्रह्म, जीव और माया की उपमा तथा पृथ्वी पर गिरते ही मलिन हो जाने वाले वर्षा जल में जन्म लेते ही माया के सम्पर्क से मलिन हो जानेवाले जीव की उपमा में पडित जन अवश्य आनन्द ले सकते है, कलापिपासु सहृदय नही।

१. दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान विथ स्पेशल रिफरेंस टु तुलसदास, पृ ४६।

२. "यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के रूप और आकृति पर ही ध्यान दें तो उनका साम्य हमारे मन में अभीष्ट सौन्दर्य नही जगा पाता, कवि का यह उद्देश्य भी नहीं है, वह तो सूक्ष्म तन्तुओं के द्वारा मन में प्रभाव जगाना चाहता है सौन्दर्य मात्र नही, इसलिए उसकी अप्रस्तुतयोजना मौलिक और मस्तिष्कोद्भूत है हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य पृ० १८३

परन्तु जहां कवि ने गंभीर तत्व-विवेचन के प्रकरण में ऐसी उपमाओं का प्रयोग किया है वहां उनमें सहज सादृश्य दिखलाई पड़ता है, जैसे—

बरनत बरन प्रीत बिलगाती। ब्रह्मजीव इव सहज सघाती ॥ (१. २०)

'रा' और 'म' अक्षर तुलसी के समय तक धर्म-मंत्र और दार्शनिक प्रतीक जैसे बन गये थे, अतः उनके संयोग के लिये ब्रह्म-जीव के संयोग की उपमा उचित बैठती है। यहां कवि का वर्ण्य विषय भी एक प्रकार से दर्शन या धर्म है और अप्रस्तुत रूप मे भी वह दर्शन का ही तथ्य बतला रहा है।

एक उदाहरण धनुष-यज्ञ प्रकरण से भी ऐसा ही दिया जा सकता है जहां कवि धनुप की अचलता की तुलना सती के मन से करता है—

डगइ न संभु सरासन कैसें। कामी बचन सती मन जैसें ॥ (बा० २५१)

इसमें भी उपमान चमत्कारिक है पर सहज और स्वाभाविक नहीं है, विचार प्रसूत और सौद्देश्य है। जिस प्रकार कथा की रचना कवि ने उपदेश के लिये की, उसी प्रकार उसकी काव्यकला भी उपदेशोन्मुख है। उक्त प्रकरण में ध्यान धनुष की अचलता से हटकर सती के मन की ओर चला जाता है जिससे कथा-रस और काव्यरस क्षीण होकर विचार और मनन की आवश्यकता पड़ जाती है। इस प्रकार नीति और धर्म की भ्रकुटि के आगे कविता भाग खड़ी होती है। यही बात कथानक और चरित्रचित्रण में भी देखी जा चुकी है (अध्याय २ और ३)।

तुलसी की कुछ उपमाये इस अलंकार के सुन्दरतम उदाहरणों मे रक्खी जा सकती हैं और उत्प्रेक्षाये तो उनकी और भी अधिक सुन्दर बन पड़ी है। दोनों का एक-एक उदाहरण लिया जा सकता है—

१. सखिन्ह मध्य सिय सोहन कैसें। छबिगन मध्य महाछबि जैसे ॥

(बाल० २६४. १)

२. सुन्दरता कंह सुन्दर करई। छबिगृह दीप सिखा जनु बरई ॥

(बाल० २७०, ७)

प्रथम उदाहरण में स्थूल उपमेय के लिये सूक्ष्म उपमान की योजना अत्यन्त सफन हुई है क्योंकि उपमेय भी सीता नहीं वस्तुतः सीता की सुन्दरता है जो कि सूक्ष्म हे है और दूसरी ओर सूक्ष्म छवि का मानवी करण करके कवि ने उसे साकार बनाने का प्रयत्न किया है। आशय यह है कि यहां गुण (तेज) और क्रिया (प्रकाश-वितरण) के सादृश्य से भावोत्कर्ष में सफलता मिली है।

दूसरे उदाहरण में भी यही सूक्ष्मता है। पहले मे उपमा अलंकार है और दूसरे में उत्प्रेक्षा। देखा जाये तो वाचक शब्दों 'जैसे' और 'जनु' के अन्तर के अतिरिक्त दोनों अलंकार एक ही है

ऊपर दी गई दार्शनिक उपमाओं की सूक्ष्मता की अपेक्षा यह सूक्ष्मता काव्योचित है

तुलसी क विषय मे सामान्यत ऐसा समझा जाता है कि ये चमत्कारवादी

कवि नहीं वे परन्तु जहाँ वे भक्ति के सिद्धान्तों या तत्वों की चर्चा करते हैं वहा चमत्कार का आशय लिये बिना नही रहते। जहाँ भक्ति है वहा माया का आधिपत्य नही हो सकता इस बात को वे कैसे चमत्कारिक ढंग से कहते हैं—

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ।।

मानस की प्रस्तावना मे 'रा' और 'म' अक्षरों की महिमा उन्होंने बड़े चमत्कारिक ढग से वर्णन की है जिससे उनकी ऊहा और कल्पना शक्ति का परिचय मिलता है (दे० बाल० दो०—१९-दो० २०)।

कहीं-कहीं उनके पौराणिक उपमान बड़े हास्यास्पद हो गये है। जो कामदेव राम की शोभा का उपमान है वही उनके घोडे की शोभा का भी उपमान बना डाला गया है—

जेहि तुरंग पर राम बिराजे···बाजि वेपु काम बनावा। (बाल० ३१६)

कामदेव और घोड़ा, क्या साधर्म्य हुआ ? यह काम देव का नहीं, रामदेव का भी अपमान है क्योंकि इस प्रकार तो राम, काम, और घोड़ा तीनों ही एक श्रेणी मे आ गये।

प्राकृतिक उपमानों में तुलसी को 'कमल' का रोग है तो पौराणिक में 'काम' देव का। इन दो उपमानों का उनकी कविता में बहुत अधिक बाहुल्य है जिससे प्रकट होता है कि उपमानों के प्रयोग मे उन्होंने काव्यगत रूढ़ियों का बुरी तरह दुरुपयोग किया है।[1]

तुलसी में भावोत्कर्ष के सहायक अलंकारों का अभाव नहीं है परन्तु मानस मे चमत्कार परक अलकारोंके उदाहरण भी इतने अधिक है कि तुलसी को इस श्रेणीके कवियों में भी रखने मे हिचक नहीं होती। वाल्मीकि के अपेक्षाकृत आडम्बरहीन युग और मनोग्रंथि शून्य सरल व्यक्तित्व से तुलसी की तुलना अधिक दूर तक नहीं की जा सकती क्योंकि वाल्मीकि की अपेक्षा तुलसी का साहित्य अधिक रीतिवादी है।

रूपक

सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा के बाद रूपक का स्थान है। यह भी आदिम अलकारों में से एक है। ऋग्वेद में उपमा और रूपक[2] दोनों का ही प्रयोग हुआ है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार अलंकारों में से भी रूपक एक है। बा० रामायण मे भी रूपक का जितना साफ-सुथरा, व्यवस्थित प्रयोग हुआ है उससे पता चलता है कि तत्कालीन साहित्य में सावयव और निरवयव, दोनों ही प्रकार के रूपकों का पर्याप्त और सुष्ठु प्रयोग होता था। सावयव या साग रूपकों का प्रयोग महाकाव्य

---

१. हिन्दी साहित्य, ह० प्र० द्विवेदी, सं० २००६, पृ० २४०

२. संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिण :
वाचं पर्जन्यजिन्वता प्र मण्डूका अवादिषु : (ऋक्०, ७. ६. १०३. १)
इसमें ब्राह्मणों और मण्डूकों में अभेद सम्बन्ध है. मण्डूक में ब्राह्मणत्व का आरोप किया गया है अत यहां रूपक अलकार है

की शैली मे गरिमा और भव्यता उत्पन्न करने में सहयोग देता है, यह हम आगे देखेंगे।

रूपक वस्तुत: उपमा का ही विकास है। वामन ने तो सारे ही अर्थालंकारो का मूल उपमा को माना है।[1] दण्डी ने भी "उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते"[2] (उपमा ही भेद के दूर हो जाने अर्थात् उपमेय-उपमान में अभेद स्थापन हो जाने पर रूपक बन जाती है) कह कर, इन दोनों अलंकारों का निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया है। अंग्रेजी में भी 'मैटाफ़र' (रूपक) को 'इम्पलाइड' सिमिली (उपमा) कहा जाना दोनों अलंकारों की सन्निकटता का द्योतक है। उपमा में उपमेय और उपमान में सादृश्य कम देखा जाता है, रूपक में इतना अधिक देखा जाता है कि दोनों में अभेद-स्थापन हो जाता है। वाल्मीकि और तुलसी के रूपकों की तुलना करते समय भी हम यह देखेंगे कि रूपक अलंकार के बन्धान में उन्होंने प्राय: उपमा का सहयोग लिया है।

ऊपर कहा गया है कि महाकाव्यों में रूपक अलंकार का प्रयोग, उपमा के अतिरिक्त, सबसे अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है। इस बात की पुष्टि वा० रामायण और मानस के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी होती है। यद्यपि मानस में रूपक का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है, तुलसी को तो इस अलंकार का 'बादशाह'[3] ही कहा गया है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में भी रूपक के प्रयोग अत्यन्त सुन्दर, कला-पूर्ण और पांडित्यपूर्ण हुए हैं। न केवल भारतीय महाकाव्यों में, अपितु विदेशी महा-काव्यों में भी इस अलंकार का प्राधान्य है। प्रारंभ में हम 'होमरिक सिमिलीज' का उल्लेख कर चुके है। रामचरित मानस के प्रारंभ मे जिस प्रकार मानसरोवर का सावयव रूपक है उसी प्रकार अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध महाकाव्य पउमचरिउ में सरिता का रूपक है[4]। इससे सभी भाषाओं के महाकाव्यों में रूपक, विशेषकर सांग रूपक, का प्रयोग-प्राचुर्य प्रकट होता है।

तुलसी-साहित्य में सांगरूपक का सबसे अधिक प्रयोग होने के दो कारण है। एक तो, तत्कालीन साहित्य-शैली में रूपक की लोकप्रियता और दूसरा, उपदेशात्मक एवं पांडित्यपूर्ण शैली में रूपक का सहयोग। हिन्दी साहित्य का भक्ति-काल एक प्रकार से, अलंकार की दृष्टि से रूपक का युग था। सन्त, सूफी और भक्त-कवियों के काव्य पर एक दृष्टि मात्र डालने से उस समय के साहित्य में रूपक का साम्राज्य दिखलाई पड़ता है। इस काल के सभी कवि उपदेशक और सुधारक थे, इससे उप-देशात्मक शैली के लिये रूपक की उपयोगिता भी प्रकट होती है। हम देखेंगे कि तुलसी के साहित्य में सारे ही अलंकार रूपक या सांग रूपक के आधीन दिखलाई पड़ते हैं, जिस प्रकार उनके सभी पात्र राम के आधीन और सभी रस भक्ति रस के आधीन

---

१. तन्मूलं चोपमेति'—काव्यालंकार-सूत्र, २. ४. २।

२. काव्यादर्श, २. ६६।

३. दे० कवितावली ला० भगवान दीन कृत टीका, की प्रस्तावना, पृ० ३१ (द्वितीय संस्करण)।

४ 'पुनु रामकह-सरि (रामकथा रूपी सरिता) सोहन्ती—पउमचरिउ १ २।

उद्देश्य कितनी सूक्ष्मता और गहराई के साथ प्रविष्ट है।

रूपक के मुख्य रूप से तीन भेद होते है—निरंग, सांग और परम्परित। निरंग दिखलाई पड़ते है। इससे सिद्ध है कि तुलसी की काव्यशैली में उपदेशात्मकता का रूपक में केवल एक उपमेय में एक उपमान के अनेक अगों का आरोप होता है। परम्परित रूपक में एक आरोप दूसरे से सम्बन्धित या उसका कारण होता है, यद्यपि वह पहले का अवयव या अंग नहीं होता। जैसे, राम मे कामदेव का आरोप करने के बाद लक्ष्मण में बसन्त और सीता में रति का आरोप करना परम्परित रूपक है, परन्तु मुख में कमल का आरोप करने के बाद दन्तावलि मे परिमल या किंजल्क का और नेत्र-तारिका या केशों में भ्रमर का आरोप करना सागरूपक होगा। प्रायः सांग और परम्परित रूपक में भेद बहुत स्पष्ट नहीं होता। वाल्मीकि और तुलसी के रूपों की तुलना करते समय भी ऐसा ही अनुभव होता है। अतः मुख्य रूप से दोनों के सांग रूपकों की तुलना की गई है, उन्हीं में जहाँ परम्परित रूपक है उनका भी विवेचन किया गया है।

(अ) रामचरितमानस के कुछ विशिष्ट सांगरूपक निम्नलिखित हैं—

१. कौसल्या-प्राची[1], २. रामचरित और मानसरोवर[2], ३. स्वयंवर के मंच पर विराजित रघुबर-बालपतंग[3], ४. सकुरचापु-जहाजु[4], ५. रोप-तरगिनि कैकैयी[5], ६. जनक भूपमन-प्रयाग[6], ७. भरत मति-छोनी[7], ८. आश्रम-सागर[8], ९. भरतहिय-विमल आकाश[9], १०. भगतउर-व्याम[10], ११. काम-कटक[11], १२. शशि-केशरी[12], १३. विश्वरूप रघुवंश[13], १४. धर्मरथ[14], १५. रुधिरसरिता[15], १६. पुर-सिन्धु[16], १७. ज्ञान-दीप[17] और १८. भगति-चिन्तामनि[18]।

---

१. १. १६।
२. १. ३६-४३।
३. १ दो० २५४-२५५।
४. १, २६०, ४-८ तथा दो० २६१।
५. २. ३४।
६. २. २८६।
७. २. २९७।
८. २. २. २७५-२७६।
९. २. ३२५।
१०. ३. ४२-क।
११. ३. ३८।
१२. ६. १२।
१३. ६. दो० १४-दो० १५-का
१४. ६. ८०।
१५. ६. ८७-८८
१६ ७ ३-ग।
१७ ७ ११७-११८
१८ ७ १२०

(आ) वाल्मीकि रामायण के कुछ विशिष्ट सांगरूपक निम्नलिखित हैं—
१. दशरथ का शोक-सागर[1], २. भरत का शोक-सागर[2], ३. भरत का दुःखशैल[3], ४ शूर्पणखा का शोक-सागर[4], ५. लंकासुन्दरी[5], ६. लंकासुन्दरी[6], ७. राम-गरुड[7], ८ राम दिवाकर[8], ९. गगनार्णव[9], १०. सैन्य सागर[10], ११. सैन्यसरिता[11], १२. रणसरिता[12], १३. कालचक्रमिव राम चक्रम्[13] और १४. रामवृक्ष[14]।

दोनों महाकाव्यों के इन संकलित सांग और परम्परित रूपकों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. दोनों ही कवियों के सांगरूपकों के विधान में श्रम, चेष्टा, क्लिष्ट कल्पना, जटिलता, समासशैली, प्रसाद गुण का अभाव, दूरान्वय आदि दोष प्रकट है। पाडित्य, दूर की सूझ और कवि का धैर्य ही इन रूपकों के गुण कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से रामायण के भरत-दुःखशैल (२. ८५. १९-२०), गगनार्णव (५. ५७.१-३) और लंकाप्रमदा (५. ३. १८ तथा ५. २. २१) रूपक देखे जा सकते है। 'दु.खशैल' रूपक में दैन्य और पादपसंघ का, 'गगनार्णव' में पुनर्वसु और 'महामीन' का तथा 'भुजंग-यक्ष-गन्धर्व' में 'प्रबुद्धकमलोत्पल' का और इसी प्रकार 'लंका प्रमदा' रूपक में 'गोष्ठागार' में 'अवतंसों' का, 'यन्त्रागार' में स्तनों का, तथा इसी प्रकार के दूसरे रूपक में 'वप्र प्राकार' में 'जघनों' का यथेष्ट आरोप नहीं हो पाता है। इनकी अपेक्षा शोक-सागर रूपकों में अभेदस्थापना यथोचित साधर्म्य के कारण अधिक सफल हो सकी है और वस्तु का विम्ब चित्रात्मक रूप में सामने आता है।

तुलसी के मानस और ज्ञानदीप रूपक में तो ऐसे उदाहरण और भी अधिक है। 'छन्द-सोरठा सुन्दर दोहा' को ही कमल क्यों कहा गया, किसी अन्य काव्यतत्व को क्यों नहीं ? 'नव रस जप तप जोग-बिरागा' में 'जलचरत्व' कैसे सिद्ध होगा ?

---

१. २. ५९. २९-३१।
२. २. ७७. १३-१४।
३. २. ८५. १९-२०।
४. ३. २१. १२।
५. ५. ३. १८।
६. ५. २. २१।
७. ५. २१. २७-२८।
८. ५. ३७. १६।
९. ५. ५७. १-३।
१०. ६. ७. २१-२२।
११. ६. २४. ४३-४४।
१२. ६. ५८. २९-३१।
१३. ६. ९४. २९-३०।
१४. "रामवृक्षं रणे हन्मि सीता पुष्पफलप्रदम्। प्रशाखा यस्य सुग्रीवो जाम्बवान् कुमुदो नलः" (६ १००, ४)

खींचतान करने पर तो सब कुछ हो सकता है,—और विचार करने पर कुछ में साधर्म्य योजना बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक की गई दिखलाई भी पड़ती है, जैसे 'धुनि अवरेब' में 'मीन' की कल्पना, क्योंकि दोनों की गति वक्र होती है, परन्तु अनेक स्थलों पर कवि की कल्पना चरमरा कर टूटती हुई दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार के सांगरूपकों में उपमानों का खजाना खाली हो जाने पर कवि को पुनरावृत्ति भी करनी पड़ी है, विशेषकर तुलसीदास को।

२. रणक्षेत्र में रुधिर-सरिता के सांगरूपक दोनों ने प्रस्तुत किये है। रुधिर के प्रवाह-साधर्म्य के कारण दोनों ने ही युद्धभूमि और सरिता में साधर्म्य-स्थापन किया है पर जब वे रुधिर-प्रवाह के अतिरिक्त और भी अधिक अभेदस्थापना का प्रयत्न करने लगे हैं तब साधर्म्य के अभाव के साथ सहज कविकला क्षीण पड़ने लगी है और पांडित्य ही प्रधान हो उठा है।

३. इनके द्वारा घटनास्थल, परिस्थिति और पात्रों की भावसंकुल अथवा गंभीर आवेगमयी मनस्थितियों का विशद एवं चित्रात्मक अंकन हुआ है। रामायण में भरत और दशरथ के शोकावेग के लिये, जिसमें अनेक भावोर्मियों का उत्थान-पतन था, सागर का और मानस में कैकेयी के दुर्दम रोष-प्रवाह के लिये बाढ़भरी सरिता का रूपक मनस्थिति-प्रकाशन के उत्तम उदाहरण हैं। रण की परिस्थिति भी सरिता और सागर के सहयोग से प्रत्यक्षवत प्रकट हुई है।

अन्तर के विचार से :—

१. तुलसी की रूपक-शैली श्रमसाध्यता में वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ी हुई है। उसी अनुपात में उसमें पांडित्य-प्रदर्शन, क्लिष्ट कल्पना दूरान्वय और जटिलता भी बढ़ी हुई है। चरित-मानस और ज्ञान-दीप जैसे सुदीर्घ रूपक रामायण में नहीं है। वाल्मीकि के दीर्घतम रूपक भी तीन श्लोक से आगे नहीं बढ़े है, जब कि तुलसी के कुछ सांगरूपक कई-कई पृष्ठ तक चलते हैं, जैसे मानस-रूपक और ज्ञानदीप-रूपक।

२. तुलसी के रूपकों में उपदेशतत्व, जो कि उनकी समस्त काव्यशैली का प्रेरक है, की भी प्रबलता है जो कि वाल्मीकि में प्राय: बिलकुल नहीं दिखलाई पड़ती। चरित-मानस रूपक में रामकथा का महत्त्व, कवि का दृष्टिकोण और भक्ति तथा धर्म के तत्व, धर्म-रथ रूपक में धर्म के अवयव और ज्ञान-दीप रूपक में ज्ञान के अवयव बतलाये गये हैं।

३. चरित-मानस सांगरूपक तुलसी का एक विशिष्ट प्रयोग है और मानस की प्रसिद्धि के अनेक कारणों में से एक है। वा० रामायण में इस जोड़ का एक भी रूपक नहीं है। यह मानस-महाकाव्य का सिंहद्वार है। इसमें अनेक प्रकार की सामग्री है, इसमें रामकथा की संक्षिप्त रूप रेखा है काव्यतत्त्वों 'कबित-गुन-जाति' का उल्लेख है, 'लीला-सगुन' और 'भगति-निरूपण' अर्थात् कवि के निजी उद्देश्य की व्याख्या है, कथा का माहात्म्य-वर्णन है विषय कथारस का प्रभाव-सूचन है, चार वक्ता श्रोता रूपी

चार घाटों के रूप में काव्य की कुंजी और 'सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना' के रूप में काव्यशैली का ज्ञापन है। इस तोरणद्वार पर रोक कर कवि ने उस रामरजधानी का पूर्वाभास पाठक को करा दिया है जिसमें वह प्रवेश करने जा रहा है और जिसकी भव्यता का आभास इस द्वार से लगाया जा सकता है। रामचरितमानस के इस रूपक को धैर्यपूर्वक ठीक-ठीक समझ लेने वाला पाठक सुगमता से इस महाकाव्य के रहस्य को समझ सकता है। इस रूपक में अनेक दोष भी हैं, परन्तु साथ ही कवि का पांडित्य है, कला कौशल है और चित्रात्मकता भी है।

४—ज्ञान-दीप परम्परित रूपक है। यह भी तुलसी के काव्याचार्यत्व, कला पांडित्य और चमत्कारिकता का उदाहरण है। यह रूपक तुलसी के दार्शनिक विचारों की कुंजी है। "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" के द्वारा उन्होंने व्यावहारिक रूप में अपने विशिष्टाद्वैतवादी होने की स्पष्ट घोषणा की है। ईश्वर, जीव, माया, जगत्, ज्ञान, धर्म और भक्ति तत्वों का सूक्ष्म विवेचन इस रूपक में किया गया है। यह रूपक तुलसी की विचार-मंजूषा है। यह राम-कथा रूपी कोष-भवन का दूसरा कपाट है। आदि में चरित-मानस और अन्त में ज्ञान-दीप रूपी दो वृहद्‌रूपकों के रूप में कवि ने अपने काव्य-कोषभवन के दो मजबूत परन्तु सदलंकृत कपाट दृढ़ता से स्थापित कर दिये हैं जिनको उद्‌घाटित किये बिना उस कोष की झांकी पाना असंभव है।

इन दोनों रूपकों की व्यंजना भी अत्यंत पवित्र, सात्विक और कवि के उद्देश्य के सर्वथा अनुरूप है। एक ओर है पवित्र जल से भरा, पुरइन पातों के हिंडोलों में झूमते कमलों से (जो कि तुलसी का परम प्रिय उपमान है) लहराता, अमराइयों से घिरे पक्के घाटों और सुन्दर सप्तसोपानों वाला, अगम्य पर्वतों और दुर्गम वनों से घिरा हुआ मानसरोवर जिसमें से कलकलनाद के साथ भगवती भागीरथी, पावनी सरयू, सुहावन सोन सरितायें उछलती चली आ रही हैं। यह हुआ अर्चना के लिये आवश्यक अवगाहन का आदेश और भक्ति परक महाकाव्य की तदनुरूप प्रस्तावना। दूसरी ओर है अंधकार में ग्रस्त जीव की मुक्ति के लिये, श्रद्धारूपी धेनु से निर्मल मन रूपी अहीर के द्वारा दुहे गये धर्ममय पय को धृति और शम का जामन देकर बनाये गये दही से निकले हुये विमल वैराग्य के माखन के घृत से भरा, विज्ञानमय तेजराशि दीपक जिसमें 'सोऽहमस्मि' की अखंड दीप-शिखा लहरा रही है। यह है अर्चना के उपरान्त आध्यात्मिक आरती, ज्ञान-भक्ति परक महाकाव्य का यथोचित उपसंहार!! एक ओर है मानसरोवर, दूसरी ओर है दीपक। एक है सांगरूपक, दूसरा परंपरित, और दोनों ही तुलसी के काव्यपांडित्य के उत्तम निदर्शन हैं। हरि-चरित-मानसरोवर के तट पर ज्ञान-दीपक जलाकर भक्त तुलसीदास ने राम का कीर्तन किया था जिसे सुनने वालों ने श्रेष्ठ कविता भी कहकर उसका स्वागत किया।

ये दोनों रूपक महाकाव्य की गरिमामय उदात्त शैली के दो कीर्ति-स्तम्भ हैं और ऐसे प्रेम काव्य प्रयोगों द्वारा भक्तकवि तुलसीदास ने आदि कवि का ऋण

मूल में व्याज-वृद्धि करके उतार दिया है। इन सांगरूपकों के आगे पीछे सरल काव्य-प्रवाह की योजना करके कवि ने मानसिक श्रम को कम करके काव्य के रसास्वादन का संतुलन भी स्थापित कर दिया है।

५—अन्य रूपकों में भी अपनी विशेषतायें हैं। पुराणों के प्रति विशेष आकर्षण होने के कारण तुलसीदास ने राम-कथा के बीच-बीच में पौराणिक कथाओं के मनके भी पिरो दिये है। उक्त रूपकों से दो उदाहरण दिये जा सकते है। एक तो वाराह-पुराण से लिया गया वाराह भगवान द्वारा पृथ्वी के उद्धार का चित्र (संख्या ७) जिसमें केवल दो पंक्तियों में एक पूरा पौराणिक प्रसंग उपस्थित करते हुये कवि ने भरत की परिस्थिति का प्रकाशन भी कर दिया है। दूसरा चित्र मार्कण्डेय पुराण की घटना का है (संख्या ६) जिसमें कवि ने प्रयागराज में प्रलयकाल में बढते हुए वट पत्र पर शयन करने वाले बालमुकुन्द का चित्र प्रस्तुत करके जनक का सीता के प्रति अपूर्व वात्सल्य प्रकट किया है।

६—इन्ही रूपकों में तुलसी का सूक्ष्म प्रकृति-पर्य्यवेक्षण भी छिपा हुआ है। काव्य क्षेत्र में प्राकृत जन की उपेक्षा करने वाले इस भक्त कवि ने प्रकृति की भी उपेक्षा प्रस्तुत क्षेत्र में ही की है, अर्थात् उसने "रामपदरज-अंकित" प्रकृति को गौरव देने के अतिरिक्त शेष प्रकृति का सम्मान अवश्य नही किया है, परन्तु अप्रस्तुत (उपमान) क्षेत्र मे अवश्य उसने शेप प्रकृति को भी स्थान देने का प्रयत्न किया है। कैकेयी के क्रोधावेग की तुलना बाढ़ मे बढी नदी से (दे० संख्या ५) वही कर सकता है जिसने उसे देखा हो। इसी प्रकार जनक-समाजरूपी करुणासरित का रामाश्रयरूपी सागर की ओर संगम-प्रवाह भी आंखों देखा चित्र है। तुलसी ने, अर्थात् चित्रकूट गिरि के निवासी और मन्दाकिनी तट के वासी कवि ने, और असी नदी के तीर पर प्राण-परित्याग करने वाले साधु ने, नदियों और तीर्थों का प्राकृतिक चित्र अपने काव्य मे कुशलतापूर्वक तूलिकांकित किया है। उनका प्रकृतिपर्य्यवेक्षण उनके सांगरूपकों में, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में, प्रतीप और अतिशयोक्तियों में देखा जा सकता है। अरण्यकाण्ड में कानन-कटक रूपक (चौ० ३८) भी इसी प्रकार का उदाहरण है। उसमें वसन्त का वातावरण पूर्णता के साथ और प्रत्यक्षता के साथ अंकित किया गया है, साथ ही सैन्य-शिविर मण्डल का भी सजीव चित्र दे दिया गया है। महाकवि इसी प्रकार महाकाव्य मे विराट्‌विश्व का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने के लिये अप्रस्तुत रूप में संसार के सारे ही दृश्य संजोकर रख देने का प्रयत्न करते हैं और उस काव्य का पारायण समाप्त करते-करते ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त भूगोल-खगोल की यात्रा करके हम अभी पृथ्वी पर उतरे हों।

विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि अन्य अनेक अलंकार रूपकराज के कुक्षि मे टके हुए दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिये:—

१. मानस-रूपक में निम्नलिखित अन्य अलंकार है—

अ राम सीय जस सलिल सुधासम — उपमा

(आ) संबुक भेक सिवार समाना (उपमा)
(इ) महाघोर त्रयताप न जरई (विशेषोक्ति)
(ई) अस मानस मानस चख चाही (यमक)
(उ) बिचबिच कथा विचित्र विभागा
जनु सरि तीर तीर बन बागा ।। (उत्प्रेक्षा)

२. संकर चापु जहाज (१. २६०-२६१) मे—
'संशय', 'अज्ञान', 'अभिमान', 'गरब गरुआई'', 'कदराई', 'पछितावा' 'दुखदावा', आदि कर्ताओं का एक क्रिया 'चढ आई' मे सम्बन्ध जोडा गया है, अत दीपक अलंकार भी इसके साथ है।

३. धर्मरथ (६. ८०) में—
सारा रूपक सम्बन्धातिशयोक्ति के क्रोड से निकला है—'जेहि जय होइ सो स्यदन आना' मे असम्बन्ध में कवि ने सम्बन्ध-कल्पना की है।

इसी प्रकार ज्ञान-दीप रूपक (७. ११६-११७) मे भी 'जो' तथा 'एहि विधि आदि शब्दो द्वारा सम्भावना व्यक्त करते हुए सम्बन्धातिशयोक्ति की ही झलक दी है, अर्थात् "ये परिस्थितियाँ हों, जिनका सम्बन्ध साधारणतया दीपक की तैयारी स नही होता, तब वह दीपक जलाया जाये" ऐसा कहकर असम्बन्ध मे सम्बन्ध कल्पना की गई है।

इस प्रकार मानस के अलंकारों में रूपक का प्राधान्य और प्रभुत्व सिद्ध हो जाता है। रामायण में भी सुन्दर, सचित्र, संश्लिष्ट सागरूपक है परन्तु मानस म उनकी संख्या और विविधता अधिक है। रूपक महाकाव्य का वह विशेष अलंकार है जो मनस्थिति और परिस्थिति के प्रकाशन मे भी, पर्याप्त सहयोग प्रदान करता है। तुलसी को इस अलंकार के प्रति विशेष मोह है, मानस की शैली पर यह पुरइन-पत्रों की तरह छाया हुआ है, इसमें पाडित्य का प्राधान्य है, जिसके नीचे भाव प्रायः दब गये है।

वाल्मीकि और तुलसी के उपमा तथा रूपक की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो गई है कि वाल्मीकि की विशेष निपुणता और रुचि उपमा अलंकार मे है और तुलसी की रूपक में। साथ ही यह भी प्रकट हो जाता है कि यद्यपि तुलसी के अलकार-पांडित्य और अलकारों के प्रति आकर्षण वाल्मीकि की अपेक्षा अधिक है, परन्तु वाल्मीकि के प्राचीन युग मे भी भारतीय साहित्य अलकारिता से परिपूर्ण था।

स्वभावोक्ति

स्वाभावोक्ति अलंकार का जितना स्वाभाविक, विविध और प्रचुर प्रयोग वाल्मीकि ने किया है उतना कदाचित किसी दूसरे संस्कृत कवि ने नहीं किया है।[1]

१. "Swabhavokti (स्वभावोक्ति) is a figure of speech which valmiki alone uses with p f cLon —(रिद्धिल, पृ० ६०) सं० वी देव

वाल्मीकि को सहज स्वाभाविक शैली में इस अलकार को विशेष स्थान मिलना स्वाभाविक भी है। लौकिक संस्कृत कवियों के द्वारा उसका अल्प प्रयोग होने के कारण इसे बहुत मे आचार्यों ने अलंकार नहीं माना है, या अत्यन्त उपेक्षित रूप में स्वीकार किया है।[1] इसका कारण यही है कि इस अलंकार में शैलीगत चमत्कारिकता के लिये अधिक अवकाश नही है पर वाल्मीकि ने इसके जितने प्रयोग किये है उन्हे देखते हुए इस अलंकार के गौरव की ओर ध्यान आकृष्ट होता है और आश्चर्य है कि इसकी परम्परा आदिकाव्य से आगे अधिक नही बढ़ी। दण्डी ने तो इसे आद्य अलकार मान कर सारे अलकारों की उत्पत्ति इसी से बतलाई है।[2] उन्होंने कहा है कि जाति-क्रिया-गुण द्रव्य के स्वभावाख्यान का शास्त्रों मे साम्राज्य है तथा काव्यो मे भी वह अभीष्ट है :—

जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य-स्वाभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम्।। (काव्यादर्श, २।८२)

तुलसी ने भी मानस तथा अन्य ग्रथों में इसका प्रचुर प्रयोग किया है और अपने महाकाव्य मे जीवन की और भी अधिक दशाओ का सन्निवेश करने के कारण व स्वभावोक्ति को स्वतन्त्र अलंकार की प्रतिष्ठा प्रदान करने मे वाल्मीकि से भी आगे बढ़े हुए है।

वाल्मीकि और तुलसी के स्वभावोक्ति अलंकार का परीक्षण करने से पूर्व इसकी अलंकारिता पर किंचित विचार कर लेना आवश्यक है। सभी जानते है कि अलकारों के नामकरण बाद में हुए है और प्रयोग पहले। वा० रामायण, और एक सीमा तक मानस भी, ऐसे ग्रथ कहे जा सकते है जिनके अन्तर्गत विविध प्रयोगों को देखकर काव्यागों का निरूपण और नामकरण हुआ है। वा० रामायण तो लौकिक संस्कृत साहित्यशास्त्र का आधारभूत ग्रथ है ही, मानस के समीक्षकों ने भी अब उसे समस्त काव्यांगों का विश्वकोष सिद्ध कर दिया है। इन दोनों ही काव्यों में स्वभावोक्ति के इतने प्रयोग है कि इसे अलंकार अवश्य स्वीकार करना चाहिये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि अलंकार प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु नही होते बल्कि वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियां या कहने के खास-खास ढग ही होते है और स्वभावोक्ति मे मात्र वस्तुनिर्देश होता है, अत. स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि मे आ ही नही सकती। वस्तुनिर्देश परक होने के कारण उसका सम्बन्ध रस के विभाव और अनुभाव पक्षों से ही होता है। अतः यह अलंकार नही वरन् रसपद्धति का एक अंशमात्र है।[3] परन्तु, वाल्मीकि और तुलसी के प्रयोगों को देखते हुए और कालिदास के भी कुछ प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए इसे अलंकार मानना आवश्यक है, जो अपना अलंकारिक कार्य पूरा करता हुआ भी रस-विधान मे सहायक होता है। कालिदास ने दुष्यन्त से

१. भामह ने 'केचित प्रचक्षते' कहकर स्वभावोक्ति की अवहेलना की है—काव्यालंकार. २. ९३।
२. काव्यादर्श, २ २८
३. चिन्तामणि भाग १ पृ० २४६ ५०

पीछा किये जाते हुए आश्रम-मृग का अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन किया है,[1] जिसमें टीकाकारों ने भयानक रस माना है।[2] पर देखा जाय तो उसमें रसविधान उतना चमत्कारिक नहीं है जितना कि अलंकार-विशेष 'स्वभावोक्ति' का विधान। कालिदास अपने पाठक के हृदय में भयानक रस की सृष्टि करने के इच्छुक कदापि नहीं हैं वे तो आखेटक के द्वारा पिछियाये जाते हुए भोले और चपल मृग का सहज, सजीव चित्र तूलिकाशैली में प्रस्तुत कर देना चाहते हैं। यही बात रामायण में और मानस में राम के द्वारा पिछियाये जाते हुए हरिण की मुद्रा के चित्रण में है।[3] कवि अपने कहने के विशिष्ट ढंग के द्वारा भी पाठक का ध्यान उस ओर आकृष्ट कर रहा है अतः उसे अलंकार ही मानना चाहिये।

आचार्यों ने इस अलंकार की परिभाषायें इस प्रकार दी हैं—

१. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया रूप-वर्णनम् (मम्मट, काव्यप्रकाश)।

२. सूक्ष्म-वस्तु स्वभावयथावद्वर्णनम् स्वभावोक्तिः (रुय्यक, अलंकार सर्वस्व)।

३. नानावस्थं पदार्थानां साक्षाद्विवृण्वती। स्वभावोक्तिश्च जातिश्चैत्याद्या सालंकृतिर्यथा (दण्डी, काव्यादर्श)।

इन परिभाषाओं के आधार पर बालकों आदि की क्रियाओं या रूप का स्वाभाविक वर्णन, अथवा अन्य वस्तुओं का भी सूक्ष्मतापूर्वक किन्तु यथावद्वर्णन, अथवा विभिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों का चित्रात्मक निरूपण स्वभावोक्ति अलंकार कहलाता है। दोनों ही काव्यों में वानरों के प्रभाव का, भागते हरिण का, मनुष्य का, हर्षोन्मत्त जनता या उमड़ती हुई भीड़ का, सोते हुए स्त्री या पुरुष का, इत्यादि ऐसे वर्णन हैं जिनमें हम कवि की विशिष्ट शैली में आकृष्ट होते हैं। कहीं-कहीं ये रसप्रक्रिया में अन्तर्मुक्त हो गये हैं परन्तु अनेक स्थलों पर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा है, अर्थात् मात्र वर्णन शैली या कथन शैली (अर्थात् अलंकार-रूप) में ही वे पाठक को आकृष्ट करते हैं। मानस में तो यह सूची और भी अधिक लम्बी है। उसमें 'धूसर धूरि तन' बालक, चंचल कुमार, चिड़चिड़ाते वृद्ध, लजाती बधू, काम या क्रोध में कांपते स्त्री या पुरुष, विभिन्न भावापन्न स्वजन, परिजन तथा अपरिचित जन, स्रवित स्तन वाली मां, दुलार करते श्वसुर, कन्या को विदाई देते पिता-माता तथा अन्य परिजन, शिष्टाचार से विनत समधी आदि के चित्र एक ऐसी शैली में हैं जिसे न तो वस्तुवर्णन कहना उपयुक्त होगा, न प्रकृतिचित्रण, न विभावविधान और न कुछ और ही। उनमें से कुछ को इनके अन्तर्गत भी रक्खा जा सकता है पर अनेक स्थलों पर उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। अतः ऐसे वर्णनों को स्वभावोक्ति अलंकार मानकर, उभय महाकाव्यों में इस अलंकार के विशिष्ट प्रयोग को स्वीकार करना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि इस अलंकार का विशिष्ट प्रयोग प्रकृति चित्रण

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-अंक १, श्लोक ७।

२ अभि० जीवा० विद्यासागर पंचम संस्करण प ३

३ दे० वा० रा० ३ ४४ ५ ८ तथा मानस ३ २७ १

और रस के विभाव-विधान में भी सहायक होता है, फिर भी अनेक स्थलों पर वह स्वतन्त्र रूप में भी आकर्षक प्रतीत होता है।

दोनों ही काव्यों में लाँगूल उछालते, रूख उखाडते या दांत किटकिटाते वानर का मुड़-मुड़कर आखेटक को देखते चपल हरिण का, सोती हुई अवस्था में करवट बदलते या जंमाई लेने स्त्री-पुरुषों का अर्थात् मानव और मानेवतर जगत के प्राणियो तथा पदार्थो की विविध स्थितियों का, सूक्ष्म परन्तु यथावत् चित्रण किया गया है। मानस में ऐसे उदाहरण और भी अधिक है और यह भी उसकी लोक प्रियता का एक कारण कहा जा सकता है।

वानर के स्वभाव का निरूपण करने मे दोनो की शैली देखिये—

(अ) आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छ, ननन्द चिक्रीड़ जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ, निदर्शयन्स्वां प्रकृतिं कपीनां॥[1]

मन्दोदरी को सीता समझ कर हनुमान अपना आह्लाद वानर के ढंग से ही प्रकट कर रहे है, इसमे उनका वानरत्व प्रकट हो रहा है। इसकी चित्रत्मकता और स्वभाव की सहज अभिव्यक्ति मे ही इसकी अलंकारिकता है। "प्रकृति कपीनां" कह कर इसे स्पष्ट भी कर दिया गया है। यद्यपि ऐसा करने मे इसमें 'स्वशब्द वाच्यत्व' दोष भी आ गया है। अपने नवीन सखा राम-लक्ष्मण का तत्काल तोड़ी हुई साल शाखा का आसन बिछाकर सुग्रीव द्वारा स्वागत किया जाना भी कपिस्वभाव का सहज परन्तु रमणीय चित्र है।[2] हनुमान के लौटने पर मधुवन मे वानरों के उत्पात का तो पूरा एक सर्ग ही स्वाभावोक्ति अलंकार की सुन्दर माला है।[3] "कौचित" की आवृत्ति करते हुए कवि ने वानर-क्रियाओं के विविध चित्र प्रस्तुत किये है।

(आ) इसी प्रकार कपिस्वभाव का एक चित्र मानस में देखिए—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुन्दर फल रूखा॥

× × ×

खाएसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥[4]

यद्यपि इसमें अलकार प्रत्यक्ष नही है परन्तु ध्वनित रूप में स्वभावोक्ति ही है। वृक्षों पर फल देखते ही भूख लग जाना और केवल फल खाने के संन्तुष्ट न होकर वृक्षों को तोड़ना और झकझोरना और टोंकने वालों की खबर लेना, कवि-स्वभाव का साक्षात् उदाहरण है। दूसरों के लिए यह उत्पात हो परन्तु कपि का तो यह स्वभाव होता है। अतः हनुमान किसी प्रकार की क्षमायाचना न करके अपने कार्य की स्वाभाविकता ही रावण को बतलाते है—

१. रा० ५. १०. ५४।
२. रा० ४. ५. २०।
३. रा० ५ ६१
४. मा० ५ १७ तथा १८

खायउँ फल मोहि लागी भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ॥[1]

"कपि कें ममता पूछ पर" में भी वही कपि-सुभाव के निरूपण की ओर कवि का विशेष ध्यान लक्षित होता है। इसी प्रकार कपि-स्वभाव के और भी अनेक उदाहरण मानस में है जिनमें से एक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। युद्ध के पश्चात विभीषण के द्वारा वस्त्राभूषणों की वर्षा किये जाने पर वानरों का यह विनोदमय चित्र देखिये—

नभ पर जाइ बिभीषन तबही। बरषि दिए मनि अंबर सबही ॥
जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ॥
हँसे रामु श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता ॥[2]

स्वभावोक्ति अलंकार इसमें कितनी सफाई के साथ उतरा है।

इस प्रकार दोनों ही कवियों ने हनुमान के चरित्र-निरूपण में स्वभावोक्ति अलंकार का विशिष्ट प्रयोग किया है। ऐसा ही उदाहरण आखेटक राम और आखेट्य हरिण के चित्रण मे मिलता है, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

वा० रामायण मे स्वभावोक्ति के अन्य उदाहरण— क्रुद्ध सर्पों का दांतो से पर्वत काटने लगना (५.१.१९), क्रुद्ध रावण के नेत्रो से आँसू उसी प्रकार निकल पडना जिस प्रकार जलते दीपकों से चिनगारियों के साथ तेल की बूँदें (उपमा के साथ स्वभावोक्ति की संसृष्टि-६ ९.२२४), सोता हुआ रावण (५.१०.२८), पर्वत पर से उछलने को तैयार हनुमान की मल्लमुद्रा (५.१.३५,३६), रावण की सोती हुई स्त्रियाँ (५ १०), शीतल जल से सूँड सकोड़ता हाथी (३.१६.२१) इत्यादि।

मानस में इस अलंकार के उदाहरण बहुत अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने इसे अलंकार मानते हुए ही इस विशिष्ट शैली का प्रयोग अनेक स्थलों पर स्वाभाविक स्थितियाँ दिखलाने के लिए किया है। ऐसे चित्रों में कपि-स्वभाव से भी अधिक राम के 'बाल चित्रण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक चित्र देखिए—

भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुक-ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ॥
भोजन करत चपल चित इत-उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ॥ —(बाल० २०३)

इस उदाहरण में अवश्य वात्सल्य रस का भी विभाव विधान है परन्तु स्वभावोक्ति के प्रयोग से उस विधान मे और भी अधिक चमत्कारिकता आ गई है। वात्सल्य का विभाव अन्य रीति से भी हो सकता था पर कदाचित् उसमें यह दोहरा उद्देश्य सिद्ध न होता, 'ठुमुक-ठुमुक' शब्द बालक की स्वाभाविक क्रिया का कितना अधिक द्योतक है !

इसी प्रकार काग के पीछे पूआ ले कर दौड़ते हुए बालक राम (७.७७), हिन-

[1] मा० ५ २
[2] लंका० ११७ ६ ८

हिनाते और हुँकते हुए घोड़े (७.६६. दो०), युद्धक्षेत्र मे आतड़ियों को लेकर उड़ते और छीना-झपटी करते हुए गीध-कक (६.८८.), क्रोध में फुफकारे भरते और चिड़चिड़ाते वृद्ध मुनि परशुराम (१.२७७ तथा २७८), उन्हें चिढ़ाते हुए कुमार लक्ष्मण (१.२८० ७-८), गर्दन झुका कर मन ही मन मुस्कराते हुए शील के अवतार राम (१.२८१.४), रंगभूमि में बार-बार आगे खिसकते विवाहेच्छुक वृद्ध नारद मुनि (१ १३५.२), घोड़ों को नचाते जाते हुए छैल-छबीले वर (१.३१६.), दान-दक्षिणा से तृप्त होकर आशिष देते हुए नाऊ-बारी भाट (१. दो० ३१६), एक दूसरे की विनती करते समधी (१.३४०.), कन्या को बिदा देती हुई माता (१.३३४), और पिता (१ ३३५.), पुत्र को कलेजे मे लगाते ही स्तन बहाती हुई गाँ (२.५२.४), नवेली दुलहिन को पालकी का परदा उघार-उघार कर देखती हुई उत्सुक पौढ़ायें (१.२४८.८), जमाई लेते किशोर, (१. दो० ३५५.), साथ लगे हुए सहज स्नेही उत्सुक पथिक (२ ११४), आदि अनेक चित्र मानस मे स्वभावोक्ति अलंकार के विशद उदाहरण कहे जा सकते है।

व्यक्ति विशेष या पदार्थ विशेष की ही स्वाभाविक गुण-क्रिया आदि के वर्णन में नही, अपितु कहीं-कहीं समुदाय या जनसमाज के चित्रण में भी तुलसीदास ने स्वभावोक्ति का प्रयोग किया है। निम्नलिखित अर्धाली में भरत को राम-वनवास के लिए उत्तरदायी समझने वालों के विरुद्ध सात्विक वृत्ति वाली धर्मभीरु जनता के एक प्रतिनिधि का यह चित्र देखिए—

काननू मूंद कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा॥ (२.४८.)

कुमार-प्रकृति का कैसा सहज और आकर्षक परिचय राम-लक्ष्मण के विवाह के विषय में जनकपुर से आई हुई पाती के प्रति भरत-शत्रुघ्न की इस जिज्ञासा में प्राप्त होता है—

तात कहाँ ते पाती आई। (१.२९०.)

राम-कथा को अधिक से अधिक स्वाभाविक रूप मे चित्रित करने की इच्छा रखने वाले, और इस प्रकार उसे जनता के जीवन से सन्निकट रखने के इच्छुक, तुलसीदास के लिए इस अलंकार का इतना प्रचुर किन्तु सहज और अकृत्रिम प्रयोग स्वाभाविक ही था।

अत: स्वभावोक्ति अलंकार का स्वरूप रामायण और मानस में सर्वथा स्पष्ट और स्वतंत्र रूप से समझा जा सकता है और उस आधार पर उसे अलकारों में मुख्य स्थान दिया जा सकता है। आश्चर्य है कि तुलसी के इतने मर्मज्ञ समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने, जिनकी समस्त साहित्यिक मान्यताओं का आधार ही तुलसी-साहित्य और विशेषकर रामचरित मानस है, 'स्वभावोक्ति' को अलकारों की श्रेणी में स्थान नहीं दिया? रामचरित मानस की लोकप्रियता में अवश्य ही स्वभावोक्ति का व्यापक प्रयोग भी एक कारण है। स्वभावोक्ति अलंकार में एक सहज विनोद भी होता है।

वा० मे भी वह इतने विविध रूपों में प्रयुक्त हुआ है कि उस न केवल मन

कारों में स्थान दिया जाना चाहिए, वरन् उसका पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण भी अपेक्षित है।

अन्य अर्थालंकार

अलंकारों की संख्या बढ़ने पर रीति ग्रंथों में उनका वर्गीकरण कर दिया गया था, जैसे-सादृश्यमूलक, वैधर्म्यमूलक, शृंखलाबंध मूलक, गूढार्थ प्रतीतिमूलक इत्यादि। इन सभी वर्गों के उदाहरण आदिकाव्य में खोजे जा सकते हैं, क्योंकि वह कथन की अनेकानेक शैलियों का कोष है। मानस और रामायण में अलंकार-विवेचन की दृष्टि से अन्तर यही है कि रामायण में वे सहज रूप में हैं और इन अलंकारों का पारस्परिक अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है, जबकि मानसकार ने अपने समय तक विकसित साहित्य-शास्त्र का पूरा-पूरा लाभ उठाया है और अनेकानेक अलंकारों को पूर्ण काव्य-पांडित्य के साथ मानस में स्थान दिया है। जहाँ वा० रामायण में अलंकारों के विकास की कुछ परिस्थितियाँ मात्र दिखाई पड़ती हैं[1] वहाँ रामचरितमानस में पूरा सांगोपांग अलंकार शास्त्र ही दृष्टिगोचर होता है।

वाल्मीकि रामायण में उपमा और रूपक से थोड़ा-थोड़ा भेद रखने वाले अनेक अलंकार मिलते हैं जैसे—अनन्वय, उपमेयोपमा, अपन्हुति, भ्रान्तिमान इत्यादि। इसी प्रकार उसमें, शूर्पणखा-प्रकरण में, वैषम्यमूलक अलंकार 'विषम' का प्रयोग भी दिखलाई पड़ता है। इनके अतिरिक्त समासोक्ति, सहोक्ति, एकावली, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, दीपक, अर्थान्तरन्यास, परिकर आदि अलंकार भी उसमें मिलते हैं।[2] प्रचलित रामायण में छन्दों के समान ही अलंकारों की भी बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। अब हम कुछ मुख्य अलंकारों के आधार पर आदिकाव्य में अलंकारों की स्थिति पर विचार करेंगे और मानसकार के अलंकार-पांडित्य के साथ आदिकवि के अलंकार-पांडित्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

वामनाचार्य ने समस्त अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच माना है।[3] वा० रामायण से भी यह बात सिद्ध होती है कि अधिकांश सादृश्यमूलक अलंकारों के मूल में उपमा ही होती है, क्योंकि उसमें उपमा के सहयोगी अनेक अलंकार दिखलाई पड़ते हैं परन्तु उनका पारस्परिक भेद अधिक स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए उपमा और उत्प्रेक्षा को ले सकते हैं। वा० रामायण में अनेक स्थलों पर उपमा की अपेक्षा उत्प्रेक्षा अलंकार माना जा सकता है परन्तु 'इव' शब्द का प्रयोग होने के कारण सर्वत्र उपमा ही दिखलाई पड़ती हैं। सुन्दरकाण्ड का पहला सर्ग जिसमें हनुमान के सागर-उल्लंघन का वर्णन किया गया है वस्तुतः उत्प्रेक्षाओं के उदाहरणों से भरपूर है क्योंकि उसमें

१. काव्यदर्पण, रा० द० मिश्र, पृ० ४३६।
२. दस रामायण, जाकोबी, पृ० ११६-१२६। दे० आर० डा० वाडेकर का अनुवाद, विब्लियो-ग्राफी० गोरे पृ० ७०
३ काव्यालंकार सूत्र अध्याय उपमा प्रपञ्च

तुलना की अपेक्षा, उपमेय-उपमान में संभावना का भाव और कवि की कल्पना-शक्ति तथा चित्रण-कला ही विशेष रूप से लक्षित होती है,[1] फिर भी इनका प्रयोग उपमाओं के समान ही किया गया है। अब उपमा से संबंधित उपमेयोपमा और अनन्वय अलंकार के दो प्रयोग देखिये—

१—गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव । (६.११०.२३-२४)

२—त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्त्ता स विश्वसृक् ।
न हि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति शुभदर्शने ।। (५.२०.१३)

पहले प्रयोग मे उपमेय स्वयं अपना उपमान है, यह स्थिति स्पष्ट है। अत यहाँ उपमेयोपमा अलकार स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। दूसरे प्रयोग में शास्त्रीय दृष्टि से अनन्वय अलंकार स्पष्ट है, परन्तु इसमें सन्देह ही है कि वाल्मीकि इसकी अलंकारिता मे अवगत हैं। अब तुलना के लिए इसी प्रकार का एक प्रयोग मानस से ले सकते हैं—

सब उपमा कवि रहे जुठारी ।
केंहि पटतरौं विदेह-कुमारी ।। (मा० १. २३०)

इसमें अनन्वय अलंकार वा० रामायण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। दोनो ही कवियों ने सीता के रूप को अद्वितीय बतलाया है परन्तु आदिकवि की सहज उक्ति मे उतनी अलंकारिता नहीं है जितनी कि मानसकार की उक्ति में। अतः यह कहा जा सकता है कि रामायणकार इन दोनों अलकारों के सूक्ष्म भेद से परिचित नहीं है। मानसकार ने सीता के रूप-वर्णन में दोनों अलंकारों का बार-बार प्रयोग किया है, जिसमे इस अलंकार के विषय में उनका आचार्यत्व स्वयंसिद्ध है। दीपक अलंकार की चर्चा नाट्यशास्त्र में हुई है परन्तु मूल वा० रामायण में इसका विशेष प्रयोग दिखलाई नही पड़ता। प्रचलित रामायण में दीपक[2] के साफ-सुथरे प्रयोग दिखलाई पड़ते है और उससे सम्बंधित प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास तथा निदर्शना आदि के प्रयोग भी मिलते है। मूल रामायण में भी दीपक के ही सन्निकट रहने वाले प्रतिवस्तूपमा,[3] निदर्शना[4] और अर्थान्तरन्यास[5] के प्रयोगों को देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदिकवि ने दीपक अलंकार के विधान के प्रयत्न अवश्य किये हैं।

सहोक्ति भी दीपक की ही जाति का अलंकार हैं क्योंकि दीपक का मूल तत्व एक के साथ अनेक का सम्बन्ध होना है।[6] वाल्मीकि रामायण में इसका निम्नलिखित प्रयोग देखिये—

---

१. जहां वाल्मीकि ने संकाश, सम, तुल्य आदि वाचक शब्दो का प्रयोग किया है वहां तो उपमा ही है, परन्तु 'इव' जैसे वाचक शब्द के प्रयोग के स्थलों पर उत्प्रेक्षा भी प्रतीत होती है।

२. रा० ५. ५. २ तथा ४।

३ रा० ३ १८ ४ ३ ५५ २२ ४६ १

४ रा० ३ ४६ १८ १६ और २०

तस्य हस्ताद्धतस्याशु कार्मुकं तत् ससायकम् ।
निपपात सह प्राणैर्भ्रश्यमानस्य जीवितात् ।। (६. १११. ७१)

प्राणों के साथ साथ धनुष-बाण आदि गिर पड़े, इसमें 'निपपात' क्रिया के साथ एक से अधिक कर्ताओं का सम्बन्ध है और 'सह' शब्द का प्रयोग भी, जिससे प्रतीत होता है कि दोनों अलंकार मिले हुए हैं। डा० जाकोबी ने इसे सहोक्ति ही माना है।[1]

भ्रान्तिमान अलंकार के भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग रामायण मे है,[2] परन्तु उनके विषय में भी सन्देह है कि कवि ने उनका प्रयोग ज्ञात रूप से किया हो। एक स्थल पर आदिकवि ने समासोक्ति का बडा सुन्दर प्रयोग किया है, और वह प्रामाणिक माने जाने वाले स्थल में ही आया है[3], जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आदिकाव्य अलंकृत लौकिक संस्कृत काव्य का पथ-प्रदर्शक बन रहा था। निम्नलिखित उदाहरण मे अनुप्रास और श्लेष के साथ समासोक्ति का प्रयोग श्रेष्ठता के साथ किया गया है—

चंचच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारिका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ।। (रा० ४. ३०. ४६)

इसे शब्दालंकार और अर्थालंकार की संसृष्टि का आदर्श उदाहरण भी कह सकते है। इसमें 'च' की आवृत्ति मे अनुप्रास, 'तारिका' मे श्लेष और 'अम्बर' तथा 'सन्ध्या' (प्रस्तुत) के द्वारा 'उपपति' और 'अभिसारिका' (अप्रस्तुत) का बोध कराया गया है।

प्रबन्ध काव्यों में कहीं-कहीं घटना और वार्तालाप के कारण भी ऐसा वातावरण उपस्थित हो जाता है कि अलंकार लाना ही पड़ता है जैसे कि वा० रामायण के शूर्पणखा-प्रकरण मे विषम अलंकार[4] और मानस के शूर्पणखा-प्रकरण में 'सूक्ष्म'[5] तथा अशोकवाटिका- प्रकरण मे भ्रान्तिमान[6] अलंकार अनायास ही आगया है। यदि वाल्मीकि ने भी जयदेव कवि के समान मुद्रिका प्रसंग की कल्पना की होती तो उन्हे भी उसी प्रकार भ्रांतिमान अलंकार लाना पड़ता।

मानस मे परिकर और परिकरांकुर अलंकार काव्यनायक की प्रशंसा या भक्तिभावना के कारण प्रयुक्त हुए है,[7] और कहीं-कहीं अन्य पात्रों के नामों का भी

१. बिब्लियोग्राफी, पृ० ७४।
२. रा० ५. ६. ५८ तथा १०. ५३
३. Although it stands among Trishtubh stanzas (जिनमें से अधिकांश अप्रामाणिक माने जाते है), yet it receives a certain attestation through the commentaries of Govind raj and Ramverman -दे० बिब्लियोग्राफी० में पृ० ७५ पर जाकोबी का विचार।
४. रा० ३. १७, २०-२२।
५. 'तोहि अनुज सन संयन बुझाई' (मा० ३. १७) इंगित से सूक्ष्म अर्थ का सूचन, दे० तु० सा० रत्नाकर, पृ० ५०२।
६. मुद्रिका में अशोक अंगार मा० ५. १२वां दो०
७. त्रिषनिधि कृपासिन्धु दीनदयाल रघुकेश दे० तु० सा० रत्नाकर पृ० ४७८

सार्थक प्रयोग किया गया है जैसे 'विदेह' 'धरनि सुता' इत्यादि। बालकाण्ड मे चारो भाइयों का नामकरण सार्थकता के आधार पर किया गया है—(बाल० १९७)। वाल्मीकि ने भी जाने-अनजाने इन अलंकारों का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। उन्होंने अधिकांश स्थलों पर लक्ष्मण, सुग्रीव, रावण,[1] तथा अनेकानेक राक्षस व राक्षसियों के नामों का सार्थक प्रयोग किया है।[2] इसमें उनकी विनोदवृत्ति भी लक्षित होती है, जैसा कि हम हास्य रस के प्रसंग में पहले दिखला चुके हैं। चमत्कारिकता की प्रवृत्ति भी दोनों ही कवियों में है, यद्यपि पांडित्य-प्रकाशन की संकीर्ण अभिरुचि उनमें नहीं है। वाल्मीकि रामायण का ऊपर दिया गया समासोक्ति अलंकार का उदाहरण[3] तथा परिकर और परिकरांकुर के प्रयोग भी इसी चमत्कारिकता के बोधक है। मानस मे तो चमत्कार सूचक अनेक प्रयोग है जैसा कि हम आगे शब्दालंकार का विवेचन करते समय देखेंगे। रूप, गुण, शक्ति आदि के वर्णन में अतिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग भी दोनों कवियों ने किये हैं,[4] परन्तु पौराणिक शैली के प्रभाव के कारण मानसकार ने अतिशयोक्ति का अधिक प्रयोग किया है, जैसा कि हम अद्भुत रस के प्रसंग में भी दिखला चुके हैं।[5]

मानसकार की नाटकीय शैली और उपदेश-शैली के कारण भी कुछ विशिष्ट अलंकारों का सन्निवेश उनकी कृति में हुआ है। नाटकीय शैली के कारण मानस में उक्ति चमत्कार सूचक अलंकार जैसे व्याज-निन्दा,[6] सूक्ष्म,[7] पिहित[8] आदि के प्रयोग हुए हैं और जहाँ रामायण के प्रसंगों में भी नाटकीयता है वहाँ ऐसे कुछ अलंकार स्वाभाविक रूप से आये हैं। उपदेशात्मक शैली में सहयोग देने वाले अलंकार अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, निदर्शना आदि होते हैं जो कि मानस के दोहों में विशेष रूप से दिखलाई पड़ते हैं। भक्ति भावना के कारण कवि ने अपने भगवान को भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में देखे जाते हुए दिखलाकर उल्लेख अलंकार का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया है।[9] इससे स्पष्ट है कि तुलसी के विशिष्ट काव्योद्देश्य के कारण उनकी शैली पर जो प्रभाव पड़ा है उससे भी अनेक अलंकारों को उनके काव्य मे स्थान मिल

---

१. लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः, सुग्रीवः विपुलग्रीवः, रावणः लोकरावणः।

२. रा० ५. १२।

३. रा० ४. ३०. ४६

४. दे० पीछे दी गई अर्मीन १. ८ का 'फैन्टास्टिक डिसेम्बिल' वाली उक्ति और एस० विलियम्स का विचार।

५. दे० अध्याय ५ रसविवेचन।

६. दे० अंगद-रावण सम्वाद और परशुराम लक्ष्मण सम्वाद।

७. मा० ३. २७ (उदा० और परिभाषा पहले दी जा चुकी है)।

८. मा० १. २३४. ५-६ में सीता की प्रेम दशा (सूक्ष्म अर्थ) देख कर सखी का कल आने को कहना (साकूत चेष्टा)। परिभाषा "आकार-लक्षित सूक्ष्म अर्थ के ज्ञाता द्वारा साकूत चेष्टा की जाना"—कुवलयानन्द (१० ह० अलं० मंजरी, पृ० २३०)।

[९.] मा० १ २४२

है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने भक्ति के आवेश मे भी अनेकानेक अलंकारो से अपने भगवान की पूजा करने का प्रयत्न किया है। तुलसी के अलंकारों की एक और भी विशेषता है जो कि उनकी प्रबंधपटुता से सम्बन्ध रखती है। उन्होंने प्राय: प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं के भीतर से ही अलंकार की सामग्री चुनी है और उनके वे अलंकार प्रबन्ध-धारा के बीच इस प्रकार घुल मिल जाते है कि उनकी अलकारिकता पृथक प्रतीत नही होती।[2] उदाहरण के लिये निम्नलिखित पंक्ति पर विचार कीजिए—

रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह दिखाया॥

(बाल० २३९)

यहाँ पर कवि ने एक ओर तो कथाप्रसंग के अनुसार यह बतलाया है कि राम ने सूर्योदय के समय रंगभूमि में प्रवेश किया, और दूसरी ओर सूर्य के प्रकाश और राम के प्रताप मे उपमेय-उपमान भाव स्थापित करते हुए 'व्याज' शब्द के प्रयोग द्वारा कैतवापन्हुति का प्रयोग भी कर दिखाया है। उपरोक्त उल्लेख अलंकार का उदाहरण भी (मा० १. २४२) इसी प्रकार का है जहाँ कि कवि ने रंगभूमि मे आये हुए राम के प्रति सभी दर्शकों की भावना का चमत्कारिक वर्णन किया है। वा० रामायण में भी इस प्रकार के कुछ प्रयोग आनुषंगिक रूप में दिखलाई पडते है, जैसे कि समुद्रोल्लंघन के समय हनुमान की गति की उपमा राम के बाण से दी जाना।[3] उससे यह ध्वनित होता है कि अब युद्ध की तैयारी होने वाली है।

तुलसी की काव्यशैली में लोकतत्व की प्रचुरता से लोकोक्तियों और मुहावरो तथा शास्त्रीय तत्व की प्रचुरता से सूक्तियों का भी अधिक प्रयोग होने से अलकारिकता को अधिक स्थान मिला है।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों की प्राचीनता नाट्यशास्त्र में 'यमक' की चर्चा किये जाने से सिद्ध होती है और यह भी प्रकट होता है कि जिस प्रकार अर्थालंकारों का मूल उपमा को माना गया था उसी प्रकार शब्दालंकारों का मूल यमक को। आचार्य भरत शब्दाभ्यास मात्र को यमक मानते थे[4] और उन्होंने यमक के जो भेद दिये है उनमें अनुप्रास भी आ जाता है।[5] आगे चलकर भरत और भामह के बीच के काल में अनुप्रास का जन्म हो गया था और उसका अस्तित्व यमक से पृथक हो गया था।[6] वा० रामायण मे

१. हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य, डा० ओमप्रकाश, पृ० १६३।
२. गो० तुलसीदास, रा० शुक्ल, पृ० १६८ तथा १७२।
३. रा० ५. १. ३९।
४. 'शब्दाभ्यासस्तु यमकं', नाट्यशास्त्र १६. ५९ (गायक वाड)।
५. 'पादान्त यमक' में अन्त्यानुप्रास—समुदगयमक में लाटानुप्रास इत्यादि।
६. हिन्दी अलंकार साहित्य, डा० ओमप्रकाश, पृ० १०

अनेक शब्दालंकार इसी यमक के आश्रित दिखलाई पड़ते हैं, जबकि मानस मे वे यमक से स्वतन्त्र हैं। रामायण में यमकाश्रित शब्दालकारों में अनुप्रास के विभिन्न भेदो के अतिरिक्त श्लेष[1], वीप्सा[2] आदि भी दिखलाई पड़ते हैं और वर्तमान परिभाषा के अनुसार यमक[3] भी स्वतन्त्र रूप मे मिलता है। वा० रामायण के प्रक्षिप्तांशो मे शब्दालकार की प्रवृति और भी अधिक है।[4] अनुप्रास या यमक के प्रति वाल्मीकि की सचेष्टता का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

नस्य वेगसमुदभूतः पुष्पस्तोयमदृश्यत।
ताराभिरामाभिरुदिताभिरिवाम्बरम्। (रा० ५. १. ५६)

इस श्लोक के उत्तरार्ध मे 'र' की आवृति और उसको लाने में कवि का प्रयास दर्शनीय है।

तुलसी ने न केवल लक्षण ग्रन्थो मे उल्लिखित समस्त शब्दालकारों का ही प्रयोग किया है वरन् अर्थालकारों के समान ऐसे अनेक शब्दालंकारो का भी प्रयोग किया है जिनका नामकरण किये जाने की आवश्यकता है। अनुप्रास के जितने भेद लक्षण ग्रंथों में बतलाये गये है उनसे कहीं अधिक भेद विवेचन करने पर मानस मे मिलेंगे। इसीलिए तुलसी के समालोचको ने जिस प्रकार उन्हें "रूपक का बादशाह" कहा था उसी प्रकार अनुप्रास का भी "बादशाह"[5] कहा है। शब्दालंकार अधिकांशत चमत्कारमूलक होते है। अतः तुलसी के काव्य में उनकी अपेक्षा अर्थालंकारों की प्रधानता है। निम्नलिखित उदाहरण मे तुलसी का शब्दपांडित्य और चमत्कारिकता दोनो को देखिये—

गाधिसूनु कह हृदयं हसि मुनिहि हरिअरइसूझ।
अयमय खांड न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ।। (१. २७५)

यह लोह का 'खाँडा' है ऊख की 'खाँड' नहीं, यह श्लेष का उत्कृष्ट एव चमत्कारपूर्ण प्रयोग है। शास्त्रीय दृष्टि से रस-परिपाक के लिये उन्होंने वृत्यानुप्रास के भी विशिष्ट प्रयोग करते हुए अपने पांडित्य के साथ चमत्कार-क्षमता को भी प्रकट किया है।

ससृष्टि और संकर अलंकार

वाल्मीकि रामायण में तत्कालीन समाज की सरलता के परिणाम स्वरूप सरल शैली होने से उसमे ससृष्टि और संकर अलंकारों को विशेष स्थान न मिलना

१. रा० ४. ३. ४६ में 'तारका' शब्द श्लिष्ट है—नक्षत्र और पुतली।
२. रा० ४. २८. २२ में 'विश्रम्य' की आवृति से मेघों का गति-चापल्य और ४. ३०. ४२ में 'विक्षोभ्य' की आवृति से हाथियों की क्रीड़ा के भाव की तीव्रता प्रकट होती है।
३. ५. १. ८३ में प्लवमान और प्लवंग की आवृति मे यमक।
४. दे० ५. ५ में चन्द्रिका-वर्णन। इसी प्रकार किष्किंधा काण्ड मे वर्षा वर्णन भी अनुप्रास, अनुरणन और संगीतात्मकता की दृष्टि से बहुत उत्तम है।
५ गो तुलसीदास रा० शुक्ल पृ० १७८

ही स्वाभाविक है, जबकि तुलसी के युग के भाव-सकुल और विचार-संकुल समाज के अनुरूप उनकी शैली में भी संसृष्टि और संकरता का होना अनिवार्य था। परन्तु आदिकाव्य के 'कवि प्रथम पद्धति' होने के नाते उसमें भी साहित्यशास्त्र की कोई विधा अनुपस्थित नहीं कही जा सकती। वाल्मीकि रामायण में दो शब्दालंकार यमक और श्लेष, और एक अर्थालंकार समासोक्ति की संसृष्टिका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है (४. ३०. ४६)। कुछ स्थलों पर उन्होंने उपमा की सहायता से सांगरूपक का विधान किया है जिन्हें दो अर्थालंकारों की संसृष्टि कहा जा सकता है।[1] इसी प्रकार 'लोकरावणः रावणः' और 'विपुलग्रीवः सुग्रीव' जैसे प्रयोग भी शब्दालंकार और अर्थालंकार की संसृष्टि कहे जा सकते हैं। डा० याकोबी ने वाल्मीकि रामायण के एक श्लोक को 'काम्प्लीकेटेड उत्प्रेक्षा'[2] कहा है, जिसे संकर अलंकार का उदाहरण कहा जा सकता है। इसमें 'मन्ये' के प्रयोग से उत्प्रेक्षा की भ्रांति होती है और साथ ही अनन्वय अलंकार भी झलकता है, परन्तु दोनों ही अस्पष्ट हैं। एक उदाहरण में उन्होंने उपमेयोपमा और अनन्वय दोनों साथ-साथ माने है।[3] इन उदाहरणों से पता चलता है कि डा० याकोबी वाल्मीकि रामायण में सभी प्रकार की अलंकार-शैलियों का प्रारंभिक विकास देखते थे[4]। एक उदाहरण वाल्मीकि रामायण से ऐसा भी दिया जा सकता है जिसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार परस्पर प्रतिद्वंद्वी बने हुए हैं और यह निर्णय करना कठिन है कि प्रधानता किसकी है।[5] सुन्दर काण्ड का तो यह नामकरण ही उसके काव्य-सौन्दर्य के कारण हुआ है।[6]

जहाँ तक तुलसीदास का प्रश्न है उनके विषय में हम कह चुके हैं कि उनका सांगरूपक अनेकानेक अलंकारों की सेना लिये हुए किसी नायक के समान अग्रसर होता है। उनके काव्य में 'उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा उलझे पड़े हैं'[7] इस कथन में 'उलझे पडे' शब्द से ही प्रकट है कि उनकी शैली में संकर और संसृष्टि अलंकार कितने अधिक हैं।

अलंकार विषयक दोष

तुलसी के रूपकों में हम देख चुके है कि उनमें जटिलता, दूरान्वय और प्रस्तुत-

---

१. कालचक्रमिव प्रजाचक्रं (६. ९४. २८) तथा 'शमगरडो... उत्पतिष्यति वैनतेय इव' (५. २१. २७)।

२. ५. २०. १३ में उत्प्रेक्षा और अनन्वय का सम्मिश्रण, दे० बिब्लियोग्राफी, पृ० ७५ पर जाकोबी का विचार।

३. दे० वही, पृ० ७४।

४. दी इवोल्यूशन आव पोयट्री प्रेस्ड फारवर्ड', जार्ज वी कालिंस, बिब्लियोग्राफी, पृ० ७४।

५. ५. १. ५६ में 'र' की आवृत्ति जितनी चमत्कारिक है, उतनी ही समुद्र के लिये आकाश की उपमा भी।

६. जाकोबी, बिबलियोग्राफी, पृ० ७५।

७ हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य पृ० १८२।

अप्रस्तुत का असामजस्य आदि दोप है। कहीं-कहीं उपदेश के निमित्त उन्होंने भौंडे उपमायें भी दे डाली है, जैसे—

सेवहि लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

इस उपमा में सेवा-धर्म की प्रबलता तो प्रकट हुई है लेकिन लक्ष्मण और सीता के लिये अविवेकी की उपमा खटकती है।[1] इसी प्रकार उनकी दार्शनिक और पौराणिक उपमाओं की सूक्ष्मता और दुरूहता भी खटकती है, परन्तु ऐसे उदाहरण कम ही है।

वाल्मीकि रामायण के रूपकों में भी कहीं कहीं मानस जैसी जटिलता है। चमत्कारिकता लाने के लिये कहीं कहीं उन्होंने भी अलंकारों के सहज सौन्दर्य को क्षति पहुँचाई है, परन्तु उनमें ऐसे उदाहरण और भी कम हैं।

सम्वाद

प्रबन्धकाव्यों में सम्वादों के प्रयोग की परम्परा अत्यन्त पुरानी है। ऋग्वेद में भी सम्वाद हैं जिनके आधार पर नाटक और महाकाव्य का प्रादुर्भाव वैदिक साहित्य में ही माना गया है।[2] इसके बाद रामायण और महाभारत में भी सम्वादों की योजना हुई है। विदेशों की महाकाव्य-शैली में भी सम्वाद योजना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अरस्तू ने महाकाव्य और ट्रेजडी (नाटक) में सादृश्य माना है।[3] होमर ने पात्रों के सम्वाद के रूप में ही अधिकांश कथा अपने दोनो महाकाव्यों में कही है। मिल्टन के पराडाइज लास्ट की शैली मे भी सम्वादो का विशिष्ट स्थान है। इस प्रकार सम्वाद जहाँ नाटकों के लिए अनिवार्य है वहाँ महाकाव्य की शैली में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। मानस की काव्य शैली में सम्वादों का विशेष महत्त्व है। आगे चलकर हम देखेंगे कि भारतीय महाकाव्यों पर पुराणों का जो विशेष प्रभाव पड़ा उसके कारण भी सम्वादशैली का समावेश उनमें किया गया। पुराणों की अपनी एक निश्चित सम्वादशैली है जिसमें श्रोता प्रश्न या शंका अथवा जिज्ञासा उपस्थित करता है और वक्ता घुमाव-फिराव तथा अवान्तर कथाओं के साथ उसका उत्तर देता है। कादम्बरी में भी इस शैली का प्रयोग है और प्राकृत अपभ्रंश के काव्यों में विशेषकर इस शैली का प्रयोग हुआ है। ऐसे सम्वादों को पौराणिक शैली के सम्वाद कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के सम्वाद वे होते हैं जिनमें

१. गो० तुलसीदास, र० शुक्ल, पृ० २७१।
२ विन्तरनित्स—ए हिस्ट्री आव इन्डियन लिटरेचर(संस्कृत सा० का इतिहास)(भाग १) पृ० १११।
३ पोयटिक्स (अंग्रेजी अनुवाद) लन्दन १९७४, एव्रामन्स लाइब्रेरी भाग ३

कवि सूक्ति रूप में विविध पात्रों के द्वारा नीति, दर्शन, धर्म और भक्ति आदि का उपदेश देता है। पौराणिक सम्वादों से इनमें समानता तो यह होती है कि एक पात्र ही अधिकांश वार्ता कहता है अर्थात श्रोता तो संक्षिप्त प्रश्न करके ही रह जाता है या प्रश्न नहीं भी करता और वक्ता ही सब कुछ बोलता है, पर अन्तर यह है कि इनमें कथातत्व नहीं होता, केवल उपदेश रूप में तथ्य-कथन होता है। इन सम्वादों को उपदेशात्मक सम्वाद कह सकते हैं। तीसरे प्रकार के सम्वाद नाटकीय सम्वाद कहलाते है और वास्तविक कवित्व इन्हीं में होता है। उनमें उत्तर-प्रत्युत्तर की शृंखला बनी रहती है और दो पात्रों के संलाप में उनके मनोभावों का उतार-चढ़ाव अंकित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। जहाँ पौराणिक सम्वाद कथात्मक और उपदेशात्मक होते हैं वहाँ नाटकीय सम्वाद मनोवैज्ञानिक होते है। प्रबन्धकाव्यों में कथा के लिये पौराणिक और रस-सृष्टि के लिये नाटकीय सम्वादों की योजना होती हैं। रामायण और मानस दोनों में उक्त तीनों प्रकार के सम्वादों की योजना दिखलाई पड़ती है परन्तु मानस में उनका प्रयोग अधिक है। मानस की प्रबन्ध-पद्धति में सम्वादयोजना का विशिष्ट स्थान है।

पौराणिक शैली के सम्वाद

मानस में पौराणिक शैली के सम्वादों का प्रयोग विशेष रूप में किया गया है। वा० रामायण में भी इस शैली के सम्वाद हैं परन्तु वे प्रक्षिप्तांशों में ही दिखलाई पड़ते हैं। दोनों काव्यों का समारंभ सम्वादशैली से हुआ है। वा० रामायण के आरम्भ में (बाल० सर्ग १) स्वयं कवि नारद से महापुरुष के विषय मे प्रश्न करता है जिस पर नारद उसे इक्ष्वाकुवंशीय राम का परिचय देते हुए रामायणी कथा सुनाते है। इस सम्वाद का सम्बध बाल काण्ड से है जो कि प्रक्षिप्त माना गया है, अतः यह कवि वाल्मीकि की शैली का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार का एक और सम्वाद भी बालकाण्ड में ही है। विश्वामित्र जनकपुर के मार्ग में राम और लक्ष्मण को अपने वंश की और गंगा की उत्पत्ति की कथायें सुनाते है (बाल० सर्ग ३२-४७) जिसमे राम-लक्ष्मण मूक श्रोता बने रहते है और वक्ता विश्वामित्र अबाध रूप से कथा सुनाते जाते है। यह एक विशिष्ट पौराणिक ढंग है। साथ ही इसमे वंश-कथन भी है जिससे इसकी पौराणिकता स्पष्ट है। उत्तरकाण्ड में भी उसी प्रकार का सम्वाद है जिसके वक्ता अगस्त्य है और वे राम को रावण, मेघनाद, बालि, सुग्रीव, हनुमान आदि की जन्म-कथायें सुनाते है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड मे लवकुश का भी उल्लेख है। वाल्मीकि ने कथा उन्हें सुनाई और उन्होंने ऋषियो को तथा बाद में राम की राज-सभा में सुनाई। ये समस्त अंश वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्तांश माने गये है जिसका मुख्य कारण इनका परवर्ती पौराणिक शैली के रूप में होना है [१] में भी यह शैली है इसी के गीता प्रकरण में वक्ता-श्रोता

की दो जोड़िया है, संजय और धृतराष्ट्र की तथा भगवान कृष्ण और अर्जुन की। इनमे भी वक्ता का ही प्राधान्य है पर पौराणिक सम्वादों के समान अवान्तर कथाओ की योजना उनमें नही है। गीता-प्रकरण के अतिरिक्त शुद्ध पौराणिक शैली के सम्वाद भी महाभारत मे प्रचुर रूप से है जिनमें अवान्तर कथाओं की घनी भीड़ और विस्तार है। इसीलिए महाभारत को प्रथम पुराण या पौराणिक शैली का जन्मदाता माना गया है।[1] रामायण इस दृष्टि से महाभारत से भिन्न है। महाभारत में प्रक्षिप्तांश अधिक है, रामायण में उसकी अपेक्षा एक कवि की प्रतिभा के ज्ञापक अंश सुस्पष्ट है। उसमें ऐतिहासिक तथ्य अधिक स्पष्ट है, साथ ही उसमें काव्यत्व भी अधिक है। महाभारत प्राय: आदि पुराण के रूप में सम्मानित है, उसमें कवित्व और ऐतिहासिकता कम तथा पौराणिकता अधिक है। आशय यह कि मानसकार को पौराणिक सम्वाद-शैली की परम्परा रामायण से नहीं, पुराणों से ही प्राप्त हुई है। अध्यात्म रामायण भी पुराण ही है (ब्रह्माण्ड पुराण का अंश) और मानस पर उसकी शैली का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। यह वक्ता-श्रोता सम्वाद की परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में अधिकाधिक बढ़ती रही। अपभ्रंश के चरित-काव्यों की यह एक निजी विशेषता है जिससे मानसकार विशेष रूप से प्रभावित हुआ है।

मानस में अनेक कल्पों में रामावतार की बात कही गई है और उसी के अनुसार अनेक वक्ता-श्रोता भी हुए हैं। अध्यात्म रामायण में भी अनेक वक्ता-श्रोता है। सूत जी श्रोताओं को सुनाते हैं और कहते हैं कि पहले यही कथा ब्रह्मा ने नारद को सुनाई थी और उससे भी पहले सीता और राम ने हनुमान को और बाद मे शिव ने पार्वती को सुनाई थी।[2] मानस की पौराणिक सम्वादयोजना इन पिछली परम्पराओं से प्रभावित होकर भी कुछ नवीन है। इसमें सारी कथा आदि से अन्त तक तीन वक्ता-श्रोताओ के बीच प्रवाहित होती है। मुख्य वक्ता-श्रोता शिव-पार्वती है, याज्ञवल्क्य और भारद्वाज केवल बालकाण्ड की कथा में ही दिखलाई पड़ते है, पर कागभुशुण्डि तथा गरुड़ बीच-बीच में भी दृष्टिगोचर होते है। कथा का आरम्भ और अन्त शिव पार्वती सम्वाद से ही हुआ है। इस प्रकार अध्यात्म रामायण के समान मानस शिव-पार्वती सम्वाद के रूप में लिखा गया है परन्तु उमा और शिव का उल्लेख मानसकार ने बहुत बार किया है।

मानसकार की इन सम्वादों की योजना की यह विशेपता है कि उसने उन वक्ता-श्रोताओं के बीच कथारंभ होने के कारण और अवसर भी बतलाये हैं। शिव-चरित को उसने सविस्तार रामचरित से पूर्व जोड़ा है और पार्वती के प्रश्नों के उत्तर के रूप में कथा का आरम्भ कराया है। शिव कागभुशुण्डि का भी उल्लेख करते है जिनसे उन्होंने कथा सुनी थी। जिस प्रकार प्रारंभ मे प्रथम वक्ता-श्रोता शिव-पार्वती की

१. महाभारत में व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को, वैशम्पायन ने जनमेजय को और सूत उग्रश्र । ने शौनकादिको कथा सुनाई है। इसी प्रकार पुराण सत-शौनक सम्वाद के रूप मे लिखे गये है

२ अध्या० रा० बालकाण्ड से पूर्व माहात्म्य सर्ग

कथा मानस की कथा की प्रस्तावना के रूप में जोड़ी गई है उसी प्रकार अन्त में कागभुशुण्डि के चरित के साथ कथा का उपसंहार किया गया है। केवल याज्ञवल्क्य और भरद्वाज की कथा अत्यन्त संक्षेप में बालकाण्ड में कहकर उनका सम्वाद भी उसी काण्ड में समाप्त कर दिया गया है, वे बालकण्ड के बाद दिखलाई नहीं पड़ते इस प्रकार दो मुख्य संवादों के द्वारा कवि ने राम कथा के शास्त्रीय और लौकिक स्रोतों के सामंजस्य को प्रकट किया है। शिव-पार्वती का सम्वाद रामकथा की शास्त्रीय परम्परा का प्रसारक है जो इससे पूर्व अध्यात्म रामायण में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और कागभुशुण्डि-गरुड सम्वाद उसकी लौकिक परम्परा का द्योतक है जो भुशुडि रामायण में सुरक्षित रही। इनके अतिरिक्त लोमश, अगस्त्य आदि का उल्लेख भी मानस में रामकथा के वक्ताओं के रूप में हुआ है।

वाल्मीकि रामायण मूलतः वक्ता-श्रोता सम्वाद के रूप में नहीं रची गई थी, सीता-वनवास का प्रसंग प्रक्षिप्त होने के कारण लव-कुश का सम्बन्ध भी उसके साथ निश्चित नहीं है, और न ही वाल्मीकि का राम या लव-कुश का समकालीन होना ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित है। अतः समस्त कथा वाल्मीकि द्वारा ही कही गई है। इस प्रकार मानस की शैली सर्वथा भिन्न है क्योंकि उसमें सारी कथा तीन वक्ता-श्रोताओं के बीच कही गई है, चौथे वक्ता-श्रोता तुलसी और उनके पाठक है। दोनों कवियों के समय के बीच साहित्य और संस्कृति के इतने उत्थान-पतन हो हो गये थे कि मानस की कथा-शैली ने एक नवीन रूप धारण कर लिया है और काव्य के रचयिता तुलसीदास के समान ही पाठक भी कथा के वक्ता शिव, याज्ञवल्क्य और गरुड़ के प्रति आकृष्ट होते हैं। तुलसीदास ने मानस-रूपक में राम-चरित रूपी मानसरोवर के चार घाटों की कल्पना की है जिन पर ये चारों वक्ता-श्रोता विराजमान है:—

> सुठि सुन्दर संवादवर विरचे बुद्धि बिचारि
> तेहि एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥ (बाल० ३६)

मानसरोवर की कल्पना ने चार वक्ता-श्रोता और चार वक्ता-श्रोताओं की योजना ने मानसरोवर की कल्पना को प्रभावित किया है। इसमें तुलसीदास की समन्वय वृत्ति भी कार्य कर रही है। कुछ विद्वानों ने इन चार घाटों और सम्वादों की व्याख्या इस प्रकार की है—"पहिला पूर्व घाट स्वयं ग्रन्थकार का है जिसके वे वक्ता और सुजन श्रोता है। यह दीनघाट या गोघाट है।······· दूसरा घाट भरद्वाज और याज्ञवल्क्य संवादका दक्षिण ओर बंधा है। यह कर्मघाट है। तीसरा पश्चिम घाट भवानी-शंकर सम्वाद का है। इसे ज्ञान घाट कहते हैं·········इसे राजघाट भी कहते हैं। चौथा उत्तरघाट, पनिघट या उपासना घाट है" यह गरुड़-कागभुशुण्डि सम्वाद है जिसकी कथा उत्तरकाण्ड में दी गई है।[1] यद्यपि यह व्याख्या अधिकांशत भावात्मक है परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि तुलसी कितने बड़े समन्वयवादी कवि

१ विनय टीका ५लक्ष्म० पृ० ६५।

थे, उन्होंने रामकथा की विभिन्न परम्पराओं के सूत्र मानस में संगृहीत किये जाने की सूचना इस प्रकार दी है। तुलसीदास की चमत्कारिक सूझ भी इससे प्रकट होती है, साथ ही अपनी काव्यकृति को सर्वांगपूर्ण बनाने की उनकी महत्वाकांक्षा भी।

मानस के उक्त चारों सम्वादों में प्रतिपाद्य विषय एक ही है—राम के स्वरूप की व्याख्या, जैसा कि स्वयं कवि का कथन है—

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

प्रत्येक श्रोता ने राम के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया है और वक्ता उसे अधिकांशतः ऐसे ही स्थलों पर सम्बोधित करता है जहाँ राम के स्वरूप की वास्तविकता प्रकट होती है। वह श्रोता को सावधान करता है कि मायावपु की लीला देखकर उन्हें सामान्य मानव समझने की भूल नहीं की जानी चाहिये। साथ ही रह-रह कर वक्ता द्वारा श्रोता को सम्बोधित करवाकर कवि अपनी कथा में जागरूकता और चैतन्य बनाये रखना चाहता है मानो कि उसे भय है कहीं श्रोता को मोह की नींद न घेर ले। तुलसीदास की उपदेशात्मक प्रवृत्ति, उन उपदेश के प्रति निष्ठा और उसके लिये उनका पूरा उद्योग इनसे प्रकट है। कदाचित् किसी दूसरे कवि ने इतने संकल्प और इतनी सफलता के साथ उपदेश की योजना अपने काव्य में नहीं की है। वक्ता-श्रोता सम्वाद के रूप में मानस की रचना करने का यही उद्देश्य है।

इन सम्वादों का मानस के काव्यरूप पर प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार संप्रदाय विशेष के प्रचार में एक बात को बार-बार दुहराया जाता है और तर्क की उपेक्षा करके हठवादिता से काम लिया जाता है उसी प्रकार तुलसी इन सम्वादों में कवि का आसन छोड़कर प्रचारक या पौराणिक वक्ता के प्लेट फार्म पर आकर खड़े होते दिखाई पड़ते है।[1] यह शैली काव्य के लिये कितनी प्रतिकूल है इस विषय में एक साहित्य-समीक्षक की यह खीझ वास्तव में संवेदनीय है—"घन की निरन्तर चोट से जिस प्रकार कील पक्की दीवार में दृढता से घुसती चली जाती है उसी प्रकार इस निरन्तर स्मरण दिलाते रहने से पाठकों और श्रोताओं के हृदय में यह विश्वास जमता जाता है कि कोशलेश दशरथ के राजकुमार राम और कोई नहीं स्वयं भक्त-वत्सल भगवान ही हैं।"[2]

कवि व्यंजना वृत्ति द्वारा अपने आदर्शों और विचारों तथा कल्पनाओं के प्रति पाठकों की सहानुभूति अर्जित करता है न कि उन्हें उपदेश, और इतनी हठ के साथ, देता है। आश्चर्य है कि कविता के प्रति यह धारणा रखने वाले—"उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं"—महाकवि तुलसीदास अपने ही भावों और विचारों की छवि पर स्वयं इतना अधिक क्यों रीझ उठे थे कि उससे दूसरों को खीझ उठने का अवसर मिला है।

---

२ दे० मानसदर्शन पृ० ५६ तथा १५

वही पृ० ७

उपदेशात्मक सम्वाद

इन्ही पौराणिक सम्वादो से मिलते-जुलते एक दूसरे प्रकार के सम्वाद है जिन्हें उपदेशात्मक सम्वाद कह सकते है। इन सम्वादों में कवि या कोई वयोवृद्ध पात्र अथवा ऋषि मुनि कथा-प्रसंगो के बीच अवसर पाने पर नीति, दर्शन, धर्म, भक्ति आदि विषयों पर उपदेश देता है परन्तु वे उक्त पौराणिक सम्वादों के समान दूर तक नही चलते। ऐसे सम्वाद मानस मे चार रूपों मे मिलते हैं—

१. कवि के कथन के रूप मे
२. सभाओं या दरबारों के सम्वाद के रूप मे
३. विचार-गोष्ठी या दो व्यक्तियो के प्रश्नोत्तर रूप मे
४. बिना पूछे ही किसी पात्र द्वारा उपदेश के रूप मे[१]

पहले प्रकार का उदाहरण मानस की प्रस्तावना में है जहा कवि वन्दना-प्रकरण में सगुण, निर्गुण, राम-नाम की महिमा और रामभक्ति का विवेचन करता हुआ अपने श्रोताओ 'सुजन' से वार्तालाप करता हुआ प्रतीत होता है।[२] इसके बाद कथा आरम्भ हो जाने पर तुलसी ने यह उपदेश-कार्य पात्रों को सौप दिया है। वाल्मीकि रामायण में ऐसे उदाहरण नही है, कवि सदैव तटस्थ रहा है।

सभा-सम्वाद के उदाहरण मानस मे अनेक हैं। उदाहरण के लिये चित्रकूट सभा, अंगद-रावण सम्वाद और हनुमतरावण सम्वाद उद्धृत किये जा सकते है। चित्रकूट सभा मे लोकनीति, राजनीति, कुलधर्म आदि का सुन्दर विवेचन विविध पात्रों के द्वारा किया गया है। इसी प्रकार अंगद और हनुमान भी रावण को राज-नीति का उपदेश देते है। ऐसे ही दो उदाहरण वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड मे भी मिलते हैं और उनका सम्बन्ध भी चित्रकूट सभा से है। पहला उदाहरण भरत के पहुँचते ही राम के कुशल-प्रश्न के रूप मे भरत को राजनीति का उपदेश है (अयो० सर्ग० १००), और दूसरा उदाहरण चित्रकूट सभा मे जाबालि के लोकायत दर्शन के उपदेश का है। परन्तु ये दोनो प्रसग प्रक्षिप्त माने गये है।[३] पहला प्रकरण महाभारत के अनुसरण पर (सभापर्व, अध्याय ५०) बाद में जोड़ा गया है और दूसरे में भी बहुत संदिग्ध सामग्री है। अतः मूल वाल्मीकि रामायण मे इस प्रकार की सम्वाद-शैली का अभाव प्रकट होता है।

विचारगोष्ठी या दो व्यक्तियो के प्रश्नोत्तर के रूप में सम्वादो के उदाहरण भी दोनों काव्यों में मिलते है। सीता-अनसूया सम्वाद दोनों में है जिसमें पातिव्रत-विषयक चर्चा हुई है। वाल्मीकि रामायण मे उसका स्वरूप संलाप जैसा है (२·११८) जब कि मानस में वह अनसूया का उपदेश-कथन है जिसे सीता बिना कुछ बोले चुपचाप सुनती रहती हैं (३·५)। एक दूसरा उदाहरण वाल्मीकि रामायण मे सीता और

१ महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ० ४२०।
२ मा २
३ वल्के पृ० ३११

राम के अहिंसा विषयक सम्वाद का है परन्तु यह अंश प्रक्षिप्त माना जाता है (३·९)। मारीच-रावण सम्वाद भी ऐसा ही उदाहरण है जिसमें मारीच रावण को नीति का उपदेश देता है और रावण उसे कुपित होकर धमकाता है (३·३५-४१ सर्ग)। एक और भी उदाहरण उल्लेखनीय है। युद्ध-प्रकरण में मेघनाद और विभीषण के सम्वाद में राजनीति का विवेचन हुआ है जिसमें मेघनाद विभीषण को देशद्रोही सिद्ध करना चाहता है और विभीषण उसके मत का खण्डन करता है (६·८७)।

इसमें से प्रथम दोनों प्रकरण संदिग्ध माने गये हैं।[1] किन्तु शेष दो प्रकरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मूल वा० रामायण में दो पात्रों के वार्तालाप द्वारा कवि के निजी विचार-प्रकाशन का प्रयत्न कहीं-कहीं अवश्य लक्षित होता है। विशेषकर आदि कवि ने राजनीति विषयक निजी विचारों को अवश्य प्रकट किया है, जैसा कि अन्यत्र भी प्रकट होता है। रामराज्य की कल्पना मूल वा० रामायण से चली आ रही है, ऐसा निश्चय पूर्वक माना जा सकता है। रावण-मारीच सम्वाद और विभीषण-मेघनाद सम्वाद वाल्मीकि के राजनीति और राज्य विषयक विचारों का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। वाल्मीकि की इस प्रवृत्ति को लक्षित करके अयोध्याकाण्ड में एक पूरा सर्ग ही महाभारत के अनुकरण पर राजनीति का उपदेश देने के लिये जोड़ दिया गया है (२·१००)।

सीता-अनसूया सम्वाद भी संदिग्ध माना जाता है परन्तु राम के वन-प्रस्थान के अवसर पर कौशल्या ने भी सीता को पातिव्रत का उपदेश दिया है जिसकी बहुत कुछ छाया मानस के सीता-अनसूया सम्वाद में दिखाई पड़ती है।[2] वा० रामायण में कौशल्या द्वारा सीता को वन-प्रस्थान के अवसर पर दिया गया पातिव्रत का उपदेश प्रबन्ध-विस्तार के मेल में है, उसमें उपदेशात्मकता नहीं है, परन्तु मानस में सीता-अनसूया सम्वाद प्रकरण का उपयोग पातिव्रत विषयक उपदेश के लिये ही किया गया है।

मानस में ऐसे विशुद्ध उपदेश-प्रधान सम्वाद बहुत अधिक हैं। तुलसीदास प्रायः दो पात्रों के आमने सामने बैठते ही उपदेश देने का अवसर प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे उदाहरण मानस की तथाकथित 'गीताओं' में विशेष रूप से मिलते हैं, जैसे लक्ष्मण-निषाद सम्वाद[3], राम-लक्ष्मण सम्वाद,[4] राम-नारद सम्वाद,[5] और उत्तरकाण्ड में राम तथा भ्राताओं के सम्वाद[6] और कुछ अन्य सम्वाद। ये सब एकपक्षीय सम्वाद हैं जिसमें तुलसी पात्र-विशेष को अपनी विचारधारा का वाहक बनाकर प्रस्तुत करते

---

१. वही पृ० ३३० ।
२. मानस, अरण्य० ५ ।
३. अयोध्या० ९३ ।
४. अरण्य० १५, १६ ।
५. अरण्य ४३ ४४
६. [illegible] उत्तर० ७

हैं यहां तक कि शूर्पणखा भी रावण को नीति का सार-पूर्ण उपदेश देती है। आश्चर्य है कि उस 'दुष्ट हृदय दारुनि जस अहिनी' के हृदय में ऐसे तत्वपूर्ण विचार आविर्भूत हो सके! इससे प्रकट है कि तुलसी के काव्य में उपदेशात्मकता और अपने विचारों के प्रति आग्रह अत्यधिक है। इस प्रवृत्ति से वाल्मीकि सर्वथा मुक्त है। तुलसी के ये सम्वाद, सम्बोधन न होकर उपदेश ही हैं।

बिना पूछे किसी पात्र के द्वारा सहसा उपदेश दिलाने लगने के बहुत अधिक उदाहरण मानस में हैं जिनसे उपरोक्त बात की पुष्टि होती है। वा० रामायण में भरत के प्रति राम का राजनीति विषयक उपदेश (अयो० सर्ग १००) इसका उदाहरण कहा जा सकता था परन्तु ऊपर कहा जा चुका है कि वह प्रक्षिप्त माना गया है। मानस के इस प्रकार के उदाहरण राम-शबरी की भेंट और राम-पुरवासी सम्वाद के अवसर पर मिलते हैं। शबरी से भेंट होने पर राम दर्शन के प्रसाद-रूप में उसे नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं और उत्तरकाण्ड में वे (संभवतया महाप्रस्थान से पूर्व) पुरवासियों को ज्ञानोपदेश प्रदान करते हैं।

मानसकार ने प्रकृतिचित्रण भी इसी रूप में किया है। वसन्त, वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन राम लक्ष्मण को सम्बोधित करते हुये करते हैं और प्रकृति के माध्यम से नीति का उपदेश देते हैं।

इन चारों प्रकार के उपदेशपरक सम्वादों के उदाहरणों से प्रकट है कि तुलसीदास ने उपदेश प्रदान करने के लिये अपने काव्य में विविध शैलियों की स्थापना की थी जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने सच्चे कवि की अपेक्षा सफल उपदेशक का ही कार्य किया है। वाल्मीकि में उपदेश-प्रवृत्ति सर्वथा अलक्षित तो नहीं है, पर वह काव्य-प्रवाह के साथ घुली मिली है और मुख्यतया राजनीति के विषय में ही यत्रतत्र उनके विचारों का आभास मिलता है। उसे उपदेश या सांप्रदायिक विचारों का प्रचार नहीं कह सकते। तुलसी ने दर्शन, भक्ति और नीति के विषय में अपने विचार इन सम्वादों के माध्यम से स्पष्ट रूप से प्रकट किये हैं।

काव्य में इस प्रकार उपदेश देने के विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। प्रबन्ध के बीच उपदेश-योजना की पद्धति रामायण-काल से ही चली आ रही थी। इससे प्रबन्ध-प्रवाह स्खलित अवश्य होता है परन्तु यह भारतीय काव्य की एक मूलभूत प्रवृत्ति है। भारतीय साहित्य में वर्णन-विस्तार और ज्ञान-उपदेश की बातों को जितना महत्त्व दिया जाता रहा है उतना कथा के सहज और अनवरुद्ध प्रवाह को नहीं। इस सम्बन्ध में रवि बाबू का विचार दर्शनीय है। उन्होंने कहा है कि वर्णन तत्त्व-विचार और अवान्तर प्रसंगों से कथा-प्रवाह भले ही पद-पद पर स्खलित हो जाय पर प्रशान्त भारत कभी अधीर होता दिखाई नहीं पड़ता। इसका अद्भुत प्रमाण महाभारत के युद्ध में मिलता है जबकि महायुद्ध का सागर सामने गरज रहा था फिर भी अर्जुन प्रशान्त चित्त से गीता का उपदेश श्रीकृष्ण मुख से श्रवण कर रहा था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राचीन साहित्य हि[illegible] अनुवा[illegible] तीय संस्करण ७०

अतः भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण मानस के उपदेशात्मक वर्णन कोई गम्भीर काव्य-दोष नहीं माने जा सकते।

नाटकीय सम्वाद

प्रबन्धकाव्यों में शुद्ध कवित्व अथवा कलात्मकता की दृष्टि से उन सम्वादों की विशेष उपयोगिता है जिनमें वर्तालाप के द्वारा पात्रों के मनोविकार प्रकट होते हैं और कवि की वाक्पटुता के भी 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' नमूने सामने आते हैं। ऐसे सम्वादों से काव्य में नाटकीयता का संचार होता है, उनसे रसविधान में सहयोग मिलता है और आंगिक तथा वाचिक अभिनय देखने जैसा आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिये इन्हें नाटकीय सम्वाद कहा गया है। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है और, जैसाकि प्रकरण के आरंभ में कहा गया है ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों में इनका उद्भव देखा जा सकता है। यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, सरमा-वृत्र, वृषाकपि-इन्द्राणी आदि के सम्वादों में नाटकीयता झलकती है जिस कारण नाटकों का बीज वैदिक साहित्य में माना गया है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस दोनों में इस प्रकार के सम्वाद हैं परन्तु जहाँ तुलसीदास ने उपदेशात्मक सम्वादों का वाल्मीकि की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयोग किया है वहाँ इन नाटकीय सम्वादों की संख्या भी मानस में बहुत अधिक है और उनमें उन्होंने आदिकवि की अपेक्षा कहीं अधिक काव्य-निपुणता प्रकट की है। वे मानस की रचना में अनेक संस्कृत नाटकों से प्रभावित हुए हैं और मानस की काव्य-शैली का एक प्रमुख गुण है उसकी नाटकीयता, यहाँ तक कि उसे नाटकीय शैली का महाकाव्य भी कहा जाता है।[1] तुलसीदास की समन्वयवृत्ति केवल धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में ही नहीं काव्य रचना के क्षेत्र में भी प्रकट हुई है: एक ओर उपदेश-शैली के कारण मानस को पौराणिक महाकाव्य कहा जाता है तो दूसरी ओर इन सम्वादों के कारण नाटकीय महा काव्य भी। प्रबन्ध काव्यों में सम्वादों के प्रयोग से नाटकीयता के समावेश के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण, जैसे कि मानस में है, बहुत कम मिलेंगे। हिन्दी साहित्य में इस शैली का पर्याप्त अनुकरण हुआ है जो कि विशेष रूप से केशवदास की रामचन्द्रिका में और मैथिलीशरण गुप्त की प्रायः सभी रचनाओं में देखा जा सकता है। अन्य भारतीय भाषाओं के प्रबन्ध काव्यों में भी यह शैली दिखलाई पड़ती है जैसे बंगला के कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-वध में। विदेशी भाषाओं के भी पुरातन और नूतन प्रबन्ध काव्यों में जैसे होमर के 'इलियड'-'ओडेसी', मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' और 'सैम्सन एगानिस्टस' इत्यादि में यह परम्परा देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाटकीय सम्वादों की योजना महाकाव्य की शैली का एक प्रमुख अंग प्रारम्भ से ही रहा है और महाकाव्यों में इस पद्धति का विकास नाटकों की रचना के साथ और भी अधिक हुआ। इससे

[1] [illegible] म ४ वि [illegible] में मर्यादरत्नमानस [illegible] रना १ पृ० [illegible]

यह भी प्रकट होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में साहित्य काव्य के रूप में आविर्भूत होता है और गद्य, कथा, नाटक आदि बाद में उसमें से ही प्रस्फुटित होते हैं। संस्कृतवाङ्मय में 'काव्य' और 'साहित्य' शब्दों का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग इसका प्रमाण है।

तुलसीदास ने पौराणिक या उपदेशात्मक सम्वादों के द्वारा होने वाली कलात्मक क्षति की पूर्ति इन नाटकीय-सम्वादों के द्वारा कर दी है। उनका रामचरित मानस साधारण जनता की दृष्टि में नाटक ही है जैसा कि रामलीला में मानस के प्रयोग से प्रकट होता है। भारतवर्ष में, विशेष कर उत्तर प्रदेश में, रामलीला-नाटक मानस के आधार पर आज तक खेला जाता है और विद्वानों का विचार है कि स्वयं तुलसीदास ने इस प्रकार की परम्परा चला दी थी।[1] काशी और अयोध्या में इन्होंने अपने मानस के आधार पर रामलीला खेलने की योजना की थी। रामलीला शब्द में 'लीला' श्लिष्ट अर्थ का वाचक है, भगवान की लीला अर्थात् अवतारवाद और उसका अनुकरण अर्थात् नाटक। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में नाटकों के अभाव की पूर्ति अकेले मानस के द्वारा ही बहुत कुछ हुई है। बहुत संभव है कि रंगमंच और नाटक को कुफ्र समझने वाले विधर्मी इस्लामी शासकों की आँखों में 'मानस' काव्य के द्वारा धूल झोंकते हुए नाटकीय माध्यम से जनता में क्रान्ति संचारित करने का यह ढंग तुलसीदास ने निकाला हो। नाटक जनक्रान्ति का सबल साहित्यिक साधन है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के आविर्भावकाल में द्विजेन्द्रलाल राय और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस साधन को अत्यन्त सफलतापूर्वक आजमाया था। भारतेन्दु स्वयं अपने नाटकों के अभिनय की योजना मेलों के अवसर पर भीड़ के बीच में खेले जाने के लिये करते थे। तुलसी की दृष्टि में भी भारतीय सांस्कृतिक क्रान्ति के लिये राम-कथा का उपयोग करने की बात अवश्य रही होगी जिस कारण उन्होंने संस्कृत नाटकों का सहयोग लेकर अपना पांडित्य और कवित्व प्रकट करने के साथ ही अपने महाकाव्य को इतना रम्य नाटकीय रूप प्रदान किया है, जो कि उसकी लोकप्रियता का मुख्य साधन सिद्ध हुआ है।

नाटकीय सम्वाद पात्रों के कथोपकथन के रूप में कथानक की परिस्थितियों को प्रकट करते हुए कथा को आगे बढ़ाते हैं। अतः प्रबन्ध काव्य में पात्रों के कथोपकथन का होना अनिवार्य है परन्तु उनमें नाटकीयता का संचार प्रयोक्ता कवि की विशेष निपुणता के द्वारा ही हो सकता है जो कि निस्सन्देह तुलसी में वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक है। वाल्मीकि तो केवल एक महाकाव्य लिख रहे थे और उस कोटि का महाकाव्य जिसकी उदात्त शैली में कथा, काव्य और नाटक का सहज सम्मिलन होता है, परन्तु तुलसीदास ऐसा महाकाव्य लिख रहे थे जिसमें उन्हें पुराणों स्मृतियों और सुभाषित-संग्रहों से उपदेश संचित करके रखना था, जिसमें उन्हें पूर्व-

१ कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह : मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा ... भारती, कानपुर ६५ पृ० ९५

वर्ती और समकालीन कवियों एवं काव्यशास्त्रों की रचना-पद्धतियों का भी यथासंभव अधिकाधिक प्रयोग करना था, जिससे कि उनकी रामकथा पुराण-पंडितों में ही नहीं वरन् उसी स्तर पर काव्य-पंडितों मे भी समादृत हो सके, साथ ही उसमें उन्हें संस्कृत की नाट्यविभूति का चमत्कार भी संचारित करना था जिससे जनता उनके काव्य का मानस-श्रवण ही नहीं चाक्षुष दर्शन भी कर सके। रामचरित मानस के काव्यशिल्प की त्रिवेणी में अध्यात्म रामायण और भागवत के प्रतिनिधित्व से पौराणिकधारा, रामायण और रघुवंश के प्रतिनिधित्व से काव्य-धारा और महावीर चरित, उत्तर रामचरित, प्रसन्न राघव तथा हनुमान्नाटक के प्रतिनिधित्व से नाट्यधारा का प्रवाह एक ही स्थल पर आकर संगमित हुआ है। उसके नाटकीय सम्वादों में संस्कृत के नाटककारों की प्रतिभा झांक उठती है, अनेक उक्तियाँ और सम्वाद उनमें ज्यों के त्यों अनूदित कर दिये गये है।

रामकथा में ऐसे नाटकीय स्थल कुछ तो सहज रूप से, उस कथा की विशिष्टता के कारण ही, विद्यमान हैं और कुछ दोनों कवियों ने अपनी प्रतिभा से सन्निविष्ट किये है। कुछ उदाहरणों को लेकर इस क्षेत्र मे दोनों कवियों की काव्यनिपुणता की तुलना की जा सकती है।

वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड मे न तो नाटकीय सम्वाद है और न ही उसमे विशेष कवित्व है। वस्तुतत्व और काव्यतत्त्व दोनों ही दृष्टियों से यह काण्ड वाल्मीकि की रचना का अंश प्रतीत नहीं होता, अतः यह अप्रमाणिक माना गया है। दूसरी ओर मानसकार के काव्य की नाटकीयता इस प्रारंभिक काण्ड से ही प्रकट होने लगती है। कथातत्व, काव्यतत्व और विचारतत्व सभी में उसकी मौलिकता इस प्रारंभिक काण्ड में दिखलाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रस्तावना में उसका पांडित्य और विषय-प्रतिपादन का कौशल्य हमें प्रभावित करता है उसी प्रकार कथा की शृंखला आरंभ हो जाने पर प्रबन्ध प्रवाह में नाटकीयता का पुट प्रारंभ से ही हमें आकृष्ट करता है। रामचरित से पूर्व ही शिव चरित और नारद चरित में उसने दो नाटकीय खण्डकाव्यों द्वारा अपनी नाटकीय काव्यशैली को प्रकट कर दिया है, आगे भी रामकथा के विशिष्ट घटना-प्रसंगो में यह निरन्तर नाटकीयता का संचार करता रहा है। इस दृष्टि से बालकाण्ड की कथा में परशुराम-लक्ष्मण सवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास ने केवल नाटकीय शैली के बल पर ही काण्ड की कथा को इतना नवीन रूप दे दिया है कि वह कथा उनकी मौलिक प्रतीत होती है। राम के जन्म का प्रसंग संक्षेप में कहकर और विश्वामित्र के साथ यात्रा, राक्षस-वध तथा अहल्या-तारण की घटनाओं को भी अत्यन्त संक्षिप्त ढंग से कहते हुए कवि ने बालकाण्ड के अतर्गत अपना सारा कवित्व-कौशल स्वयंवर, लक्ष्मण-परशुराम संवाद और विवाह वर्णन में प्रकट किया है। रामायण में ये तीनों प्रसंग इतनी इतिवृत्तात्मक शैली से कह दिये गये हैं कि उनकी कोई स्मृति भी काव्य के पाठक को नहीं रह जाती जबकि मानस का पाठक इन्हे भुला ही नही सकता क्योंकि वह इन्हें रूप में देख

चुका है। मानस के इन तीन प्रसगों में से स्वयंवर-प्रसग प्रसन्नराघव और आनंद रामायण का अनुकरण है, विवाह-वर्णन महाकाव्योचित शैली के ढग पर विस्तृत वस्तुवर्णन है, परन्तु लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद का विस्तार तुलसी ने एक नाटकीय प्रहसन के रूप में अपने ही ढंग से किया है।

मानस के लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद में उत्तर-प्रत्युत्तर की शैली, उग्र कथोप-कथनों के मध्य राम की कोमल वाणी का स्रोत, व्यंग और वाग्विदग्धता, धनुर्भंग के हर्षोल्लास के बाद भय और शका का संचार और फिर राम की विजय-दुंदुभि के साथ द्विगुणित हर्ष-संचार आदि बातों के द्वारा यह प्रकरण एक रमणीय नाटक सा बन गया है जिसमें स्वयंवर का विपुल समाज मूक दर्शक बना हुआ है और केवल तीन पात्रों अर्थात् राम, लक्ष्मण और परशुराम के सम्वादों में कथा को सीमित करके नाटकीय रूप दे दिया गया है।[1] इस स्थल पर कवि न तो अध्यात्म रामायण से प्रभावित है, न प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक अथवा किसी अन्य नाटक से, न वाल्मीकि रामायण से, वरन् उनकी मौलिक प्रतिभा ने राम कथा के एक अछूते से प्रकरण को नाटकीय स्वरूप प्रदान करके चमका दिया है। इस सम्वाद के भाव-सौन्दर्य को कवि ने उपमानिष्ठ सागरूपक मे इस प्रकार प्रकट किया है—

> लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु
>
> बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल भानु ॥ (बाल० २७६।

हास्य, व्यग और विनय की अद्भुत त्रिवेणी इस प्रसंग मे प्रवाहित हुई है। भावशबलता का चित्र इन पंक्तियों से देखिये—

> राम बचन सुनि कछुक जुडाने। कहि कुछु लषन बहुरि मुसकाने।
>
> हँसत देखि नखसिख रिस व्यापी। राम तोर भ्राता बड पापी॥ (बाल० २७७)

डा० माता प्रसाद गुप्त ने इस स्थिति को असंभव बतलाया है कि दो उग्र प्रकृति वाले व्यक्ति इतनी देर तक वाग्युद्ध करते रहे और उनमें संघर्ष न हो।[2] परन्तु कदाचित् वे दो अग्निशिखाओं के बीच राम की वाणी के शीतल जल-स्रोत को भूल रहे है। यही तो प्रसग का अद्भुत चमत्कार और इसकी नाटकीयता है और इसी में है तुलसी का सम्वाद-कौशल। लक्ष्मण की वाणी मे कवि ने न जाने कितने प्रकार की वक्रोक्तियों के नमूने भर दिये है—व्यंग (सटायर), विपरीत-लक्षणा (आयरनी), कटूक्ति (सरकाज्म), विदग्धता (विट), हास्य (ह्यूमर), सद्योत्तर (रिपार्टी), उपहास एवं उपेक्षापूर्ण उत्तर (स्लर) इत्यादि। वाल्मीकि रामायण मे व्यग और वक्रोक्ति के अनेक नमूने है परन्तु लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद और अगद-रावण सम्वाद के जोड़ के सम्वाद उसमें नही है।

मानस के अंगद-रावण सम्वाद में कवि का नाटकीय कौशल और उक्ति विलास और भी अधिक उच्चस्तर पर पहुँच गया है। रावण की राजसभा एक भव्य

---

१ मा० प्र० तुलसीदास पृ० ३ २

२ वही ६ १

रगमंच है, सभासद दर्शक बने बैठे है, एक ओर है प्रतापी राजा रावण और दूसरी ओर राजदूत के रूप मे एक सामान्य बानर। एक वेद और शास्त्रों का पण्डित है और दूसरा निरा असभ्य निरक्षर वानर। राजा राजनीति फैलाता है, बानर न केवल उस जाल से निकल निकल जाता है अपितु जाल को पैने दाँतों से काट-काट कर फैलाने वाले की विफलता पर हँसता भी है। साम, दाम, दंड, भेद सभी उपायो को यह प्रतिभाशाली रामदूत भक्ति के प्रताप से विफल कर देता है। उपेक्षित और उपहसित होकर भी रावण उसकी उक्तियो पर मुस्करा उठता है—

> जुगुति सुनत रावन मुसुकाई। मूढ़ सिखिहि कहं बहुत झुठाई॥
> बालि न कबहु गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह ते भएसि लबारा॥[1]

अपनी चाल की विफलता पर लज्जित होकर रावण अंगद की उक्तियो को 'गाल-मारना' बतलाकर अपनी झेंप मिटाता है। रावण की डींगों को अंगद डाँट और उपहास से तुच्छ बना डालते है, ईंट का जवाब वे पत्थर से देते हैं। यहाँ भी तुलसी ने सांगरूपक के द्वारा प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त उक्ति कौशल को इस प्रकार प्रकट किया है—

> बक्र-उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
> प्रति उतर संडसिन्ह मनहुं काढ़त भट दस सीस॥[2]

संवाद-योजना में तुलसी की निपुणता और व्यंग-वाणी के विविध प्रयोगों में उनकी दक्षता का अनुमान इस उदाहरण से भली प्रकार किया जा सकता है।

मानस की कथावस्तु में तीन प्रकार के विराम हैं—उपदेशात्मक, वर्णनात्मक और नाटकीय। उपदेशात्मक स्थलों पर कवि प्रायः मूक हो गया है और भक्त एव समाज सुधारक संत बोलने लगा है। वर्णनात्मक स्थलो पर जैसे राम का विवाह, प्राकृतिक वर्णन और रामराज्य के वर्णन में महाकाव्य की शैली की पूर्ति हुई है, और इन नाटकीय विरामों में कवि ने लोक-प्रिय, फिर भी उच्च भाषाशक्ति से भरपूर, कविता के नमूने उपस्थित किये है। यह मानसकार की काव्यपद्धति का वैशिष्ट्य है कि उसने ज्ञान, पांडित्य और काव्यकला का अद्भुत सामंजस्य अपने महाकाव्य मे किया है जिस कारण प्रतिकूल और अनुकूल सभी प्रकार की आलोचनाओं के बाद भी वह एक महानकृति माना जाता है।

• बाल्मीकि रामायण और मानस की नाटकीय सम्वादों की दृष्टि से तुलना के विचार से अयोध्याकाण्ड का प्रारम्भिक प्रकरण लिया जा सकता है जिसमे मंथरा-कैकेयी और कैकेयी-दशरथ सम्वाद है। इन दोनों सम्वादों को नाटकीय सम्वाद की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक सम्वाद कहना अधिक उपयुक्त होगा। इनमें अनुभावयोजना और अनुकृति की सामग्री इतनी नहीं है जितना कि मनोवैज्ञानिक चमत्कार। एक कुटिल दासी किस प्रकार अपनी स्वामिनी को फुसला कर विश्वास, प्रेम और वात्सल्य के

---

१ लं० कां० ३६

२ वही दो० २३ क

निर्मल जल को पंकिल और विषाक्त कर देती है और राज्याभिषेक का आह्लाद वनप्रस्थान के विषाद में परिणत हो जाता है, यही इस सम्वाद का नाटकीय चमत्कार है। नाटकीयता, विशेषकर ट्रेजेडी के वातावरण की सृष्टि, इसमें उच्चकोटि की है परन्तु जहाँ तक सम्वादों का प्रश्न है इनमें लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद या अंगद-रावण सम्वाद जैसी कथोपकथन-शैली नहीं है। मन्थरा का कैकेयी के मानस में मनोवैज्ञानिक प्रवेश, कैकेयी का क्रमशः भाव-परिवर्तन, जिसका मानसकार ने सुन्दर दृश्यत्मक निरूपण इस प्रकार किया है—

तन पसेउ कदली जिमि कांपी। कुबरी दसन जीभ तब चांपी॥ (अयो० २०)

काम-पीड़ित दशरथ की परवशता, और इन सब के ऊपर पुरुषोत्तम राम की प्रशान्त मुखाम्बुज-श्री ने मिलकर अयोध्या काण्ड के इस कथांश को संसार के श्रेष्ठतम नाटक के योग्य वातावरण से भर दिया है, फिर भी नाटकीय सम्वादों में धाराप्रवाही कथोपकथन का जैसा आकर्षण और प्रभाव होता है वह इसमें नहीं है। यहाँ भी तुलसीदास ने 'गूढ़ कपट प्रिय बचन;' सबरी गान', 'बहुविधि गढ़ि छोली' आदि शब्दो के प्रयोग द्वारा यह प्रकट कर दिया है कि परिस्थिति के अनुरूप संलापों और सम्वादो की योजना में वे कितने निपुण थे। मानस और वाल्मीकि रामायण दोनों में इस स्थल पर मनोवैज्ञानिक कौशल प्रकट किया गया है परन्तु मानसकार की नाटकीय-निपुणता यहाँ भी रामायणकार की अपेक्षा सराहनीय है—

भरतमातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥
ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥
तबहुं न बोल चेरि बड़िपापिनि। छाड़इ स्वास कारिजनु साँपिनि॥
(मानस, अयोध्या० १३)

(आ) सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥
उत्तिष्ठ मूढ़े किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते।
उपप्लुत मघौघेन किमात्मानं न बुध्यसे॥
अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे॥ (वा० रा० २,७,१३-१५)

÷ ÷ ÷

कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे।
विषण्णवदनां हि त्वाँ लक्षये भृशदुःखिताम्॥
मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम्।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्या हितैषिणी
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् वा०रा० २ ७ १७ १९

तुलसीदास ने अधिक शब्दों की बात थोड़े शब्दों में कही है और उसकी अर्थ व्यंजना में भी वृद्धि की है, यह बात ध्यान देने की है। इस प्रकार काव्य शैली पर उनका अद्भुत अधिकार प्रकट होता है।

रामायण की मन्थरा एक दम गरजती हुई पहुँचती है और मानस की मंथरा गीली आँखें लेकर जाती है। 'उत्तिष्ठ मूढ़े' कहती हुई मंथरा रंगमंच के लिए उतनी उपयुक्त नहीं है जितनी कि 'ऊतरु देह न लेइ उसाँसू' जैसी कायिक चेष्टायें व्यक्त करती हुई मंथरा। मानस की मन्थरा की उक्तियाँ संक्षिप्त हैं और पैनी कटार जैसी हैं जबकि रामायण की उक्तियाँ विशद हैं और विकराल तलवार जैसी है। तुलसीदास के सम्वादों की सर्वत्र यही विशेषता है। उन्होंने सम्वाद विषयक उक्तियों में भाषा की व्यंजना शक्ति का पूर्ण कौशल प्रकट किया है, हिन्दी के शब्द-मायाकार (Magician of words) बिहारी के समान उनकी ये उक्तियाँ भी गागर में सागर हैं, नावक के तीर है। वाल्मीकि न केवल आदि कवि है वरन् इस देश के अन्यतम कवि भी है परन्तु भाषा के उत्तरोत्तर विकास के साथ काव्य-वाणी में जो समृद्धि उत्पन्न होती है वह उनकी अपेक्षा तुलसी को अधिक प्राप्त हुई। इसीलिए वाल्मीकि की कविता हृदय की उमड़ती भावधाराओं का सहज प्रवाह है और तुलसी की कविता कूलों में बंधी सरिता का उर्मिल प्रवाह। रामायण में तरंगें हैं ऊँची उठती हुई, मानस मे उर्मियाँ हैं छोटी-छोटी परन्तु चित्रात्मक। रामायण की काव्यकला में सहजता है, मानस मे कृत्रिमता। कृत्रिम होकर भी वह जनसमुदाय के लिए सुलभ है क्योंकि उसमें अभिधेयार्थ का अभाव नहीं है और जो व्यंग्यार्थ है वह पण्डितों के तथा काव्य मर्मज्ञों के लिए है। जनसाधारण को कथा चाहिए, उपदेश चाहिए और मनोरंजन चाहिए। मानस में इस प्रकार की सामग्री प्रचुर मात्रा में है और इसीलिए वह इतना लोकप्रिय हुआ। पण्डित समाज और काव्यमर्मज्ञों के लिए मानव-प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण, भावों का सूक्ष्म विवेचन और वाणी के सूक्ष्मतम प्रयोग तथा चमत्कार चाहिए मानस में वह भी भरपूर है। मानसकार ने वाल्मीकि से लेकर कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ तक परिमार्जित होने वाली काव्य-भाषा का लाभ उठाया है और विविध भाषा-शक्तियों एवं शैलियों का उपयोग किया है। दूसरी ओर उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों में विकसित होने वाली लोकोपयोगी सहज भाषा का भी लाभ उठाया जिसमें कि पाँडित्य और विलष्टता के बिना ही भावगांभीर्य के आधार पर काव्य-वाणी में गहराई आ जाती है। तुलसी के सम्वादों में ऐसी ही सहजता और कृत्रिमता का मेल है जहाँ शब्द सरल हैं, इतिवृत्त के ग्रहण में कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु साथ ही उनमें भाव की इतनी गहराई भी होती है कि उस तक उतरने में साहित्यशास्त्र के पंडित को आनन्द प्राप्त होता है।

मानस के प्रबन्ध विस्तार में सम्वादमय स्थलों की संख्या वा० रामायण की अपेक्षा बहुत अधिक है इस प्रकार तुलसीदास ने अपनी काव्यशैली में रामकथा का विशिष्ट रूप में कर दिया है ऐसे अनेक स्थल हैं जहां वाल्मीकि ने

केवल वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है परन्तु वहाँ तुलसी ने सम्वादात्मक शैली को अपनाया है। जहाँ वाल्मीकि ने भी संवाद-शैली का प्रयोग किया है वहाँ भी तुलसीदास ने उनकी अपेक्षा उक्ति-चमत्कार, उत्तर-प्रत्युत्तर का प्रवाह, वक्रोक्ति, व्यंग, काकु, व्याजोक्ति, पर्यायोक्ति, कटूक्ति, विपरीतलक्षणा आदि सवादोपयोगी भाषातत्वों को अधिक प्रचुर रूप मे प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष—

१—सम्वाद-योजना तुलसीदास की प्रबन्धकाव्य-कला की मुख्य विशेषता है। तीनों प्रकार के सम्वाद मानस में वा० रामायण की अपेक्षा अधिक है—पौराणिक, उपदेशात्मक और नाटकीय। इनसे एक ओर मानसकार की उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रकट होती है, दूसरी ओर प्रबन्ध काव्य में नाटकीयता का संचार करके उसे लोकप्रिय बनाने की प्रवृत्ति भी। संस्कृत नाटकों के प्रभाव से मानस की शैली में नाटकीयता विशेष रूप से आ गई है।

२—वा० रामायण के प्रचलित संस्करण मे पौराणिक शैली का सन्निवेश हो जाने से प्रायः प्रक्षिप्तांशों में पौराणिक और उपदेशात्मक सम्वाद भी दिखलाई पड़ते है परन्तु मानसकार को ऐसे सम्वादों की परम्परा परवर्ती अपभ्रंश के चरितकाव्यों से प्राप्त हुई है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस परम्परा का आरम्भ वाल्मीकि रामायण से ही हो चुका था।

३—उपदेशात्मक सम्वाद मानस में विविध रूपों से प्रयुक्त हुए हैं, कहीं कहीं रामायण के प्रामाणिक अंशों में भी यह शैली मिल जाती है। अन्तर यह है कि तुलसी नीति, भक्ति, दर्शन, आदि के उपदेश देते हैं जबकि वाल्मीकि ने केवल राजनीति विषयक विचार ही कहीं-कहीं प्रकट किये हैं। मानस के उपदेशात्मक सम्वादों मे तुलसीदास सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं परन्तु वाल्मीकि कहीं प्रकट नही होते, वे उपदेशक बनकर कहीं-कभी सामने नहीं आये है।

४—न केवल पौराणिक और उपदेशात्मक सम्वादों में मानस की शैली वा० रामायण से भिन्न है, वरन् नाटकीय सम्वादों में भी। मानसकार ने कथा के नाटकीय स्थलों को विशेष रूप से पहचाना है और सम्वादों के अतिरिक्त भी अन्य नाटकीय उपकरणों यथा वातावरण की सृष्टि, अनुभवों की योजना, मुद्राओं के चित्रण आदि के द्वारा अभिनयात्मकता का आभास उत्पन्न करके उन स्थलों को ऐसा नाटकीय स्वरूप प्रदान किया है कि वे प्रबन्ध-धारा के बीच-बीच रमणीय विश्राम से प्रतीत होते हैं। रामायण का प्रचार गायन के द्वारा हुआ था, और उसके रंगमंच पर लाये जाने के प्रमाण नहीं मिलते हैं परन्तु मानस का प्रचार रंगमच के द्वारा भी विशेष रूप से हुआ और स्वयं मानसकार ने अपनी कृति के आधार पर रामलीला की योजना की थी।

महाकाव्यत्व

महाकाव्य के सामान्य शास्त्रीय तत्वों के आधार पर दोनों काव्यों की परीक्षा इन पृष्ठों में की गई है। कथा वस्तु, पात्र, प्रकृति-चित्रण, वस्तु-वर्णन, एक रस की प्रधानता एवं अन्य का सहयोग, सर्गों में कथा का विभाजन, यथोचित छन्दों और अलंकारों का प्रयोग, उदात्त भाव, ऊर्जस्वित भाषा, नाटकीयता का सन्निवेश, यथावश्यक सम्वाद-शैली का प्रयोग, आदि ऐसे आन्तरिक और बाह्य तत्व है जो सभी महाकाव्यों में होने अनिवार्य है, फिर भी सभी महाकाव्यों की आकृति और प्रकृति एक सी नहीं होती। इन विभिन्न तत्वों के गुण और परिमाण तथा काव्य-रचयिता की निजी योजना के कारण महाकाव्यों के विभिन्न वर्ग और श्रेणियाँ बन जाती हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे हमें इसी दृष्टि से दोनों काव्यों की परीक्षा करनी है अर्थात उनके काव्यरूप पर तुलनात्मक विचार करना है।

महाकाव्यों के विविध वर्ग और उनसे वाल्मीकि रामायण का सम्बन्ध

भारतीय महाकाव्यों, और ससार के महाकाव्यों को भी, विद्वानों ने मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया है—मौखिक परम्परा के अर्थात् विकसनशील महाकाव्य और लिखित परम्परा के अर्थात् अलंकृत या शास्त्रीय महाकाव्य।[1] अलंकृत या शास्त्रीय का यहाँ यह आशय नही है कि उनमें अलकरण. या काव्य-पण्डित्य का प्रकाशन और शास्त्र का बंधन अनिवार्य होता है वरन् यह नाम उन्हें मौखिक परम्परा के महाकाव्यो से पृथक करने के लिए दिया गया है। अलंकृत या शास्त्रीय महाकाव्यो को पुनः वस्तु-तत्व और शैली की दृष्टि से अनेक वर्गों मे विभाजित किया जाता है,—यथा रससिद्ध अथवा स्वच्छंद-शास्त्रीय महाकाव्य, रीतिबद्ध अर्थात् काव्य-पण्डित्य के प्रकाशक महाकाव्य, पौराणिक महाकाव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य, रोमाचक महाकाव्य, रूपक कथात्मक महाकाव्य और स्वच्छन्दतावादी महाकाव्य। ये विविध वर्ग अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से बनाये गये हैं परन्तु न तो इनमें स्पष्ट एवं निश्चित भेद किया जाना सम्भव है और न ही ये पूर्ण और अन्तिम हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ महाकाव्यों की विशेषताओं के आधार पर अन्य वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं।

वा० रामायण और रामचरितमानस के काव्यरूप को समझने के लिए इन वर्गों पर दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है।

(अ) विकसनशील महाकाव्य

विकसनशील महाकाव्य उन महाकाव्यों को कहते हैं जो चिरकाल तक मौखिक परम्परा मे जीवित रह कर बाद में लिखित रूप धारण करते हैं और उस समय तक मूल रचना

१. दे० महाकाव्य० शंभुनाथसिंह और दि एपिक ले० एबरक्राम्बी।

के साथ बहुत सा दूसरा अंश भी जुड़ गया होता है। इस प्रकार ये एक कवि की रचना नहीं होते, वरन् इनमें अनेक प्रतिभाओं के कृतित्व का सम्मिश्रण हो जाता है। वस्तुतः इनमें हमारी संस्कृति और जनजीवन के विकास के अनेक सोपान लक्षित होते हैं। वा० रामायण ऐसी ही रचना है और इस रूप में मानस उससे बहुत भिन्न है। वा० रामायण एक विशालकाय रचना है जिसमें वस्तु और शैली के अनुपात का अभाव है, स्तरों की भिन्नता है और उद्देश्य की अनेकता है। इसके विपरीत मानस एक सुव्यवस्थित रचना है जिसमें अन्विति है और उद्देश्य की एकता है। काव्यों के सभी अवयवों,—कथा, चरित्र, शैली आदि पर इसका प्रभाव पड़ा है।

वाल्मीकि रामायण की कथा मे अन्विति का अभाव है। मूल कथा के साथ उसमें अनेक अनावश्यक अवान्तर कथाओं ने स्थान पाने की चेष्टा की है। मौखिक परम्परा में रहने के कारण उसमें श्रोताओं के मनोरंजन के लिए अनेक चमत्कारिक अंश जोड़ दिये गये हैं और इनकी अनेक वार आवृत्ति भी की गई है। इस प्रकार के अंशों में अद्भुत और अलौकिक तत्वों की मात्रा अधिक है जो कि मूल रचना से उनकी पृथकता को प्रकट करते है। उसमें नई-नई कथानक-रूढ़ियों को भी स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। प्रचलित वा० रामायण के आदि और अंत ही अर्थात बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड दोनों ही मूल रचना की भावना और शैली से पृथक दिखलाई पड़ते है।

उसके चरित्र-चित्रण मे भी एक पद्धति का निर्वाह नही है। उसमे यथार्थ और आदर्श का अनुपयुक्त मेल किया गया है। राम का चरित्र कही एक महान एव उदार लोकरक्षक वीर के रूप मे दिखलाई पड़ता है तो कहीं संकुचित कुलमर्यादा और वंश-गौरव को ही सब कुछ समझने वाले एक साधारण वीर के रूप मे। सीता के प्रत्यावर्तन पर राम का व्यवहार (युद्धकाण्ड, सर्ग ११८) उनके शेष चरित्र के साथ मेल नहीं खाता। इसी प्रकार अन्य पात्रो की मूल प्रकृति को भी समझने मे कठिनाई पड़ती है और उनके चारित्रिक एवं सांस्कृतिक स्तर में पर्याप्त विषमता दिखलाई पडती है। कथा के क्षेत्र मे जिस प्रकार प्रामाणिक और प्रक्षिप्त घटनाओं मे सामंजस्य का स्थापन कठिन प्रतीत होता है उसी प्रकार चरित्र के क्षेत्र में उन घटनाओं पर आधारित शील-स्वभाव के गुण-दोषों में भी तारतम्य नही बैठता।

विकसनशील महाकाव्यो में शैली विषयक एकता भी नही होती। कहीं उनकी शैली एकदम सरल दिखलाई पड़ती है और कहीं बहुत अधिक अलंकृत, कहीं उनके वर्णन सर्वथा स्वाभाविक और घटनाये विश्वसनीय प्रतीत होती है, तो कही उनमें अत्युक्ति और कल्पना की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। [illegible] वा० रामायण में जितना छन्द-बाहुल्य और अलंकरण है वह मूल रचना की शैली से मेल नहीं खाता, यह हम देख चुके हैं।

इन कारणों से यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वाल्मीकि की अपनी शैली और उद्देश्य क्या था। प्रचलित वा० रामायण के राम के चरित्र मे

आदर्श मनुष्यत्व, देवत्व और ईश्वरत्व का ऐसा मेल किया गया है कि वाल्मीकि की मूल कल्पना तक पहुँचना ही कठिन हो जाता है। इन्हीं कारणों से दोनों काव्यों की तुलना में अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता है, जैसा कि पूर्ववर्ती अध्यायों से प्रकट है। फिर भी, दोनों काव्यों में एकता के अनेक सूत्र लक्षित होते हैं क्योंकि अनेक प्रतिभाओं की सम्मिश्रित रचना होने पर भी वा० रामायण में भारतीय जीवन की एक विशिष्ट पद्धति का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त उसके प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंशों में कुछ सामंजस्य सूत्र भी है। यदि ऐसा न होता तो दोनों को पृथक कर पाने में ये कठिनाइयां ही न होतीं। अनेक प्रक्षिप्तांश प्रामाणिक अंशों के पूरक हैं अर्थात् कथा में कुछ अभाव लक्षित होते थे जिनकी पूर्ति इन परवर्ती अंशों के द्वारा हुई है। बालकाण्ड इस काव्य की आवश्यक प्रस्तावना है और उत्तरकाण्ड परिशिष्टों का संग्रह। इसी कारण सामान्य जनता प्रक्षिप्त और प्रामाणिक में भेद किये जाने पर विक्षोभ प्रकट करती है।[1]

विकसनशील महाकाव्यों में लोक और शास्त्र के सामंजस्य की प्रवृत्ति होती है अर्थात् लोक में जो नये-नये विश्वास और प्रवृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं उन्हें परवर्ती रचनाकार मूल रचना के साथ जोड़ते चले जाते हैं और ये परवर्ती अंश धीरे-धीरे परिष्कृत और व्यवस्थित हो कर मूल रचना के साथ इस प्रकार घुल-मिल जाते है कि दोनों को पृथक करना असम्भव हो जाता है। इस आधार पर वर्तमान वा० रामायण को कम से कम तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— व्यवस्थित रचना जिसमें शास्त्रीय रूप प्रकट होता है, अव्यवस्थित अनगढ़ रचना जिसमें लोक-साहित्य की झलक मिलती है और इन दोनों के बीच की शैली जिसमें कहीं उत्तम साहित्य है और कहीं मनोरंजनात्मक सस्ता साहित्य। इसी आधार पर उसके प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंशों के निर्णय में मतभेद हो जाता है। उदाहरण के लिये उत्तरकाण्ड में पौराणिक शैली (जो कि लोक-साहित्य के अधिक निकट होती है) का इतना बाहुल्य है कि उसे प्रक्षिप्त मानने वालों की संख्या पर्याप्त है। वह प्राय सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माना जाने लगा है। परन्तु, बालकाण्ड की स्थिति भिन्न है। इसके प्रति अपेक्षाकृत अधिक मोह है क्योंकि उसमें एक आवश्यक प्रस्तावना है, काव्य-नायक के जीवन की प्रारम्भिक झाँकी है, उसके कुल का परिचय है, इत्यादि। इसी प्रकार शेष पाँच काण्डों में बहुत सी ऐसी सामग्री है जो मूल रचना में सहजता से समाविष्ट हो गई है और बहुत सी ऐसी भी है जो सहृदय जन एवं शास्त्रनिष्ठ व्यक्तियों को अरुचिकर प्रतीत होती है और काव्य के वास्तविक रसास्वादन में बाधा

---

1 कवि गुरु रवीन्द्रनाथ का विचार है कि प्रक्षिप्त अंश वास्तव में मूल रचना के पूरक हुआ करते हैं और उन्हें मिला कर ही काव्य की सम्पूर्ण चेतना का आस्वादन किया जा सकता है। उनका कथन है—"ये प्रसंग काव्य के अंग हैं या प्रक्षिप्त, इसकी आलोचना निष्फल है क्योंकि प्रक्षिप्त विषयों को अपना लेने वाले यदि न रहते तो प्रक्षेपों को स्थान नहीं मिलता।" —प्राचीन साहित्य (हिन्दी अनुवाद) तृतीय संस्करण पृ० ५०

भी पहुँचाती है। त्रिष्टुप छन्दों में किये गये प्राकृतिक वर्णन (४.२८ और ३० तथा ५.५) इतने रमणीय हैं कि उन्हे वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी अन्य कवि की रचना स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है, परन्तु वाल्मीकि की सहज शैली के साथ उनका मेल कर पाने में भी कम कठिनाई नहीं होती। अयोध्याकाण्ड के "कच्चित्त सर्ग" (सर्ग १००) में भी ऐसी सारपूर्ण राजनीति है कि उसके वर्णन और विवेचन का श्रेय किसी अनाम कवि को प्रदान करना अन्याय ही प्रतीत होता है। श्री सी० वी० वैद्य जैसे विद्वानों ने तो कॉचन मृग का प्रसंग भी प्रक्षिप्त माना है[1] जो कि रामकथा के साथ इतना अभिन्न हो गया है कि इस सुझाव पर गंभीरता से विचार करने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार वर्तमान वा० रामायण में कला: सम दृष्टि से व्यवस्थित जितना अंश है वह तो एक हाथ की रचना होने से उसका शास्त्रीय अंश कहा जा सकता है, जितना पौराणिक, चमत्कारिक और अलौकिक तत्वों वाला अंश है उसे लोकसाहित्यिक अंश कह सकते हैं और जितना विशेष अलंकृत तथा सवाँरा हुआ अंश है उसे विकासोन्मुख साहित्य-शास्त्रीय अंश कह सकते हैं। यही कारण है कि भारतीय महाकाव्य के विकास का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानों ने उसमें सभी परवर्ती महाकाव्य-रूपों का पूर्वाभास प्राप्त किया है।[2]

यहां विकसनशील महाकाव्य के रूप में वाल्मीकि रामायण की उपर्युक्त कुछ विशेषताओं को बतलाने का आशय रामचरितमानस से उसकी जाति की पृथकता प्रकट करना था। अब हमें यह भी विचार करना है कि क्या मानस इस जाति के महाकाव्यों से सर्वथा पृथक रचना है। विचार करने पर पता चलता है कि ऐसा नहीं है। मानस का भी आज तक सर्वथा प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने वाला संस्करण दुर्लभ है और इस दिशा में अब भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। वा० रामायण के समान उसके भी विभिन्न पाठ हैं, जिनमें बहुत कुछ मतभेद है। उदाहरण के लिये गीता प्रेस गोरखपुर और स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण लिये जा सकते हैं। ये दोनो ही आदर्श और प्रामाणिक संस्करण माने जाते हैं परन्तु इनमें भी परस्पर पाठभेद हैं। उदाहरण के लिये सभा-संस्करण में विराध-वध (अरण्यकाण्ड) का प्रसंग विस्तार के साथ दिया गया है जो कि प्रचलित वाल्मीकि रामायण से बहुत कुछ मिलता जुलता है परन्तु गीता प्रेस के संस्करण में सारी घटना केवल एक पंक्ति में दी गई है। इसी प्रकार एक अन्य संस्करण में निम्नलिखित पंक्ति भी है :—

---

१. दे० रिडिल, पृ० ६१।

२. एक ओर वा० रामायण को शास्त्रीय महाकाव्य भी माना गया है क्योंकि उसने परवर्ती काव्य ग्रंथों और लक्षण ग्रंथों को प्रभावित किया है और दूसरी ओर उसे पहला चरितकाव्य या पौराणिक काव्य भी माना गया है क्योंकि उसमें उपदेश की भावना भी है। दे० हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १३९ तथा पृ० ४

चहुँ दिसि रेख खंचाइ अहीसा । बारबार नाइ पद सीसा ॥[१]

जो कि न तो गीता प्रेस-संस्करण को स्वीकार है और न डा० मा. प्र. गुप्त को। गीता प्रेस से प्रकाशित विभिन्न संस्करणों में से एक संस्करण में विभिन्न प्रतियों से संग्रहीत ऐसे पाठ पादटिप्पणियों में दे दिये गये है,[२] जिनसे मूल रामचरित मानस और विकसनशील रामचरितमानस के बीच की स्थितियों का स्पष्ट बोध होता है। अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये स्थितियां मूल वा० रामायण और प्रचलित रामायण के बीच की स्थितियों से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इनमें उसी प्रकार चमत्कारिक अंश जोड़ने की, विस्तार की, विवाद चित्रण की और जनता की जिज्ञासाओं को तुष्ट करने की प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही है। उदाहरण के लिये उपरोक्त विराध-वध के संक्षिप्त वर्णन से कथावाचक और कथाश्रोता दोनों की ही तृप्ति नहीं होती, इस लिये उसका विस्तार किया गया है। इसी प्रकार लक्ष्मण-रेखा प्रसंग अपनी चमत्कारिकता के कारण जनता को इतना प्रिय था कि उसे मूल कथा में जोड़ने का प्रयत्न किया गया और परवर्ती संस्करणों में से उसे निकाल देने पर भी इसकी आवृत्ति आगे चलकर रावण-मन्दोदरी सम्वाद में हुई है जिससे यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह मूल रचना का अंश था अथवा नहीं। आशय यह है कि एक विशिष्ट वर्ग के महाकाव्यों की प्रवृत्ति विकसित होते रहने की ओर होती है और उन्हें लेखबद्ध या ग्रंथ रूप में कर लिये जाने पर भी मौखिक रूप में अनेक अंशों का सम्मिश्रण होता रहता है। रामचरितमानस के विषय में इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वैज्ञानिक पाठशोधन-विधि आरंभ होने से पूर्व उसमें भी किसी समय प्रचलित रामायण के उत्तरकाण्ड का बहुत सा अंश अर्थात् सीता-बनवास आदि की कथा जोड़ दी गई थी,[३] जिसका परिणाम यह हुआ कि आज न केवल साधारण जनता वरन् शिक्षित समाज के भी बहुत से लोग, यहां तक कि हिन्दी साहित्य के भी अनेक पाठक उसमें लवकुशकांड के रूप में एक आठवां कांड भी मानते हैं। भवभूति के उत्तर रामचरित और केशवदास की रामचन्द्रिका के कारण ऐसा भ्रम बना रहना अत्यन्त स्वाभाविक भी है। मानस के अनेक कथावाचक आज भी जिस प्रकार अपनी ओर से अतिरंजना और अलंकरण करके उसका पाठ-गान और कथा-कीर्तन करते हैं उससे उसकी विकसनशीलता का पता चलता है। अतः प्राचीन आख्यानों पर आधारित महाकाव्यों की यह मूलभूत प्रवृत्ति दोनों काव्यों में है। अन्तर यही है कि मानस के पाठ पर विज्ञान का पहरा जल्दी लग जाने के कारण

१. दे० गीता प्रेस संस्करण (संवत् २०१४, डिमाई) के अरण्य कांड (२८. ६) की टिप्पणी तथा ना० प्र० स० संस्करण में ३. ४८. ८।

२. वही अर्थात् सं० २०१४ संस्करण

३. ना० प्र० लंका ३६

उसकी विकास की प्रवृत्ति सीमित हो गई और आज हम उसे वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा कहीं अधिक सुव्यवस्थित, आनुपातिक और अन्विति युक्त रचना के रूप मे देख सकते है। फिर भी उसमें तुलसी के अतिरिक्त दूसरा हाथ नहीं लगा है, यह नही कहा जा सकता। कौन कह सकता है कि वा० रामायण पर भी अगर इस प्रकार का पहरा ईस्वी सन् के आस पास न लग गया होता तो उसका आज क्या रूप होता और इन चौबीस हजार श्लोकों मे न जाने कितनी वृद्धि हो गई होती। सूर सागर के सवा लाख पद भी हिन्दी-प्रेमियों के हृदय में खलबली मचाये रहते है और उनकी शोध-वृत्ति को उकसाते रहते है। रासो, पद्मावत तथा और भी अनेक प्राचीन एव मध्यकालीन आख्यान-काव्यों की यही स्थिति है कि हम मूल और प्रक्षेप को पृथक-पृथक कर पाने लिये आज प्रयत्नशील हैं।

विकसनशीलता की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण के समान रामचरितमानस के विषय मे एक बात यह भी कही जा सकती है कि मानस ने अनेक विकसनशील तत्वों को पहले से ही अपने में पचा रक्खा है अर्थात् उसमें स्वयं तुलसीदास ने अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार और स्वाभाविक विकासक्रम मे प्राप्त सांस्कृतिक और साहित्यिक उत्तराधिकार के रूप में इतना अलौकिक, पौराणिक, अद्भुत, चमत्कारिक और भावात्मक अ श मिला रक्खा है कि उसके अधिक विकास की दिशा अवरुद्ध नहीं तो नियंत्रित अवश्य हो गई है। अब भी यदि मानस को जनता की मुक्त सम्पत्ति बना कर छोड़ दिया जाये तो भविष्य उसकी विकसनशीलता को प्रकट कर दिखायेगा।

(आ) अलंकृत या शास्त्रीय महाकाव्य

महाकाव्यों का दूसरा वर्ग अलकृत या शास्त्रीय कहलाता है अर्थात् ये महाकाव्य लिखित परम्परा में जन्म लेते है, एक व्यक्ति की रचना होते है और उनकी शैली व्यवस्थित होती है। इनमें एक विशिष्ट युग, सीमित वातावरण और निश्चित उद्देश्य का बोध होता है। इनके मुख्य वर्ग इस प्रकार किये जा सकते हैं---रीतिमुक्त या रससिद्ध, रीतिबद्ध या रूढ़िबद्ध, काव्य-पांडित्य प्रदर्शक अथवा जटिल यमक गुम्त या बहु-अर्थक, पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमांचक, रूपक-कथात्मक और स्वच्छन्दतावादी महाकाव्य। इनमे से सभी महाकाव्य अलंकारों से पूर्ण या शास्त्र के बन्धन से बंधे हुए नही होते परन्तु एक व्यक्ति की रचना होने के कारण सीमित, सुव्यवस्थित और सोद्देश्य अवश्य होते हैं। अलंकृत या शास्त्रीय का यहा यही अर्थ लिया गया है। इनमे से प्रथम तीन अर्थात् रससिद्ध, रूढ़िबद्ध और जटिल पाडित्य-प्रदर्शक को विशेष रूप से शास्त्रीय महाकाव्य कहा जा सकता है क्योंकि उन पर काव्य शास्त्र का प्रभुत्व विशेष रूप से रहता है। शेष वर्गों के ये नाम उनके विषय और शैली की पृथक्ता के कारण दिये गये हैं इनमें से भी पौराणिक ऐतिहासिक और रोमाचक को चरित काव्य कहा जा सकता है क्योंकि उनमें नायक के चरित्र विधान या चरित्र की प्रवृत्ति

प्रमुख होती है। रूपक कथात्मक महाकाव्यों की विशेषता रूपक या अन्योक्ति की शैली के द्वारा दोहरा अर्थ प्रकट करने में होती है, अतः इन्हें अन्योक्ति मूलक या प्रतीकात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों के उदाहरण पाश्चात्य साहित्य में अधिक प्राप्त होते हैं, भारतीय भाषाओं में उनका अनुकरण अभी आरंभ ही हुआ है। अतः वा० रामायण और मानस की तुलना के लिये इस वर्ग को छोड़ा जा सकता है। शेष वर्गों के आधार पर इन दोनों महाकाव्यों की विशेषताओं पर विचार करना है। यहाँ पुनः यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि ये वर्ग सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है और एक की कुछ विशेषतायें दूसरे वर्ग में भी पाई जा सकती हैं क्योंकि ये सभी वर्ग महाकाव्य के विकास के विविध सोपान मात्र है जो अपने-अपने युग की आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए हैं। इन सभी वर्गों की कुछ विशेषतायें दोनों ही महाकाव्यों में देखी जा सकती है और किसी एक वर्ग में न तो वा० रामायण को सीमित किया जा सकता है, न रामचरितमानस को। वा० रामायण तो स्वयं लक्ष्यग्रंथ है जिसका प्रभाव आचार्यों के द्वारा की गई महाकाव्य की परिभाषाओं पर पड़ा है।[१] फिर भी उसमें इन सभी परवर्ती वर्गों की विशेषताओं का पूर्वाभास है क्योंकि महाकवि भविष्यदृष्टा होता है और उसकी ऊर्जस्वित वाणी में अनेक आगामी युगों की अभिव्यक्ति प्रतिभासित होती है। इसके अतिरिक्त विकसनशील काव्य के रूप में वाल्मीकि रामायण में कई सौ वर्षों की अवधि में अनेक व्यक्तियों और विविध युगों की सृजन-प्रतिभा का प्रभाव पड़ा है जिस कारण उसमें अनेकानेक काव्यशैलियों का मेला लग गया है। दूसरी ओर रामचरितमानस में भी इन सभी वर्गों की विशेषताओं का समाहार देखने को मिलेगा क्योंकि तुलसी समन्वयवादी और सारग्राहिणी-संग्रहकारिणी प्रतिभा वाले कवि थे। उन्होंने नानापुराणनिगमागम से वस्तुतत्व सग्रहीत किया था और पूर्ववर्ती तथा समसामयिक साहित्य से शैली तत्व। उनके महाकाव्य के रचनाविधान पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों और नाटकों का तथा समकालीन साहित्य की भी विविध रचना-पद्धतियों का प्रभाव पड़ा है, जैसा कि हम उनकी भाषा-शैली, छन्द विधान, अलंकार और सम्वादों आदि का विश्लेषण करते हुए देख चुके है। इस प्रकार ये दोनों ही महाकाव्य, 'महाकाव्यों के महाकाव्य' है अर्थात् उनमें विविध महाकाव्य-शैलियों का संगम है। वा० रामायण में उसके उदय का आभास है और रामचरितमानस में विकास की पूर्णता।

तुलना की दृष्टि से हमें यह देखना है कि इनमें से किस वर्ग की विशेषतायें दोनों काव्यों में अधिक मिलती हैं। इस प्रकार हम उनके स्वरूप-निर्धारण के निकटतम बिन्दु तक पहुंच सकेंगे।

१. "दण्डी के बाद सातवीं शताब्दी के दूसरे महान आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है वह रामायण-महाभारत को भी ध्यान में रखकर बनाई प्रतीत होती है"—महाकाव्य का स्वरूप विकास पृ ५१

१ रस सिद्ध या रीतिमुक्त महाकाव्य

वा० रामायण के बाद महाकाव्यों के विकास का पहला सोपान इस वर्ग के महाकाव्यों में लक्षित होता है। अश्वघोष और कालिदास के काव्य इस वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। इन कवियों ने महाकाव्य सम्बन्धी किन्ही निश्चित रूढियो का अनुगमन नहीं किया है वरन् स्वयं इन रूढ़ियों को जन्म दिया है। महाकाव्य की प्रारंभिक परिभाषा करने वाले आचार्यों, भामह और दण्डी, ने इन्हीं को लक्ष्य बनाया है।[1] वा० रामायण मे महाकाव्य के स्वरूप-विकास की जो अनिश्चित स्थिति थी वह इनमें अपेक्षाकृत निश्चित हो गई है। एक ओर इनमें वा० रामायण के समान सादगी और ताजगी, जीवन के विविध अनुभवों की अभिव्यक्ति, परिष्कृत और प्रवाहमयी भाषा, उदात्त भावनायें और उच्च उद्देश्य है तो दूसरी ओर उनमें व्यवस्था, अनुपात और अन्विति, घटना का प्रवाह, अवान्तर कथाओं की कमी और एक प्रकार का नाटकीय विकासक्रम है। उनमें अलंकृति भी है पर वा० रामायण जैसी, परवर्ती महाकाव्यों जैसी नही। यह दूसरा पक्ष ही इन महाकाव्यो का शास्त्रीय पक्ष है अर्थात् उनमें धीरे-धीरे काव्य शास्त्र का विकास होता हुआ दिखलाई पड रहा है। वा० रामायण में भी हम यह स्थिति देख चुके हैं अर्थात् उसमें अभिव्यक्ति की नाना विधाओं के रूप मे छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, रसशास्त्र, और काव्यभाषा-शास्त्र का उदय दृष्टिगोचर होता है। उसकी कथावस्तु अवश्य अन्विति रहित है परन्तु यह दोष प्रक्षेपकारो का है। सम्पूर्ण कथा का काण्डों में विभाजन और काण्डों की सर्ग-बद्ध प्रणाली इस बात की द्योतक है कि मूल रचना व्यवस्थित रही होगी और उसकी कथावस्तु भी सुसगठित रही होगी। दूसरी ओर हम कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभव मे भी महाकाव्यों की अपेक्षित अन्विति नहीं पाते। रघुवंश मे अनेक राजाओं का वर्णन और परवर्ती महाकाव्यों जैसा वस्तुवर्णन-विस्तार भी है। कुमारसंभव मे भी कथा स्थल-स्थल पर ठिठक-ठिठक कर चलती है। वा० रामायण मे सम्पूर्ण रूप से तो अन्विति का अभाव है परन्तु स्थल-स्थल पर अनेक प्रसंग सुसंगठित रूप में दिखलाई पडते हैं, उदाहरण के लिये अयोध्याकाण्ड मे यौवराज्य का प्रस्ताव और राम का वनगमन। ऐसे स्थलों पर परवर्ती रससिद्ध महाकाव्यों की प्रारंभिक झलक दिखलाई पड जाती है। उसके प्राकृतिक चित्रों में शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा वर्णन-विस्तार भी लक्षित होता है। इस प्रकार वा० रामायण के नाटकीय मार्मिक प्रसंगो मे रस-प्रवाह और प्राकृतिक चित्रों मे अलंकृत वर्णन देखकर कहा जा सकता है कि वह आंशिक रूप से रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्यों की परम्परा का प्रथम सोपान है। वाल्मीकि द्वारा प्रवर्तित, कालिदास और अश्वघोष द्वारा प्रसारित, अन्त में कुमारदास (जानकीहरण) तथा अभिनन्द (रामचरित) जैसे कवियों द्वारा पोषित रससिद्ध, रीतिमुक्त, शास्त्रीय महाकाव्यों की परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य मे से

[1] का स्वरूप विकास पृ० १४४

होती हुई, कुछ नवीनताओं के साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हुई है।

रामचरित मानस में भी संस्कृत के रीतिमुक्त शास्त्रीय रससिद्ध महाकाव्यों की अनेक विशेषतायें हैं। रघुवंश के रचयिता ने 'पार्वती परमेश्वरौ' से मंगलाचरण किया है तो रामचरितमानस के रचयिता ने 'वाणी-विनायकौ' की अभ्यर्थना की है, परोक्ष रूप में काव्यशैली के उच्च आदर्श का संकेत कालिदास ने 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'[1] कह कर दिया है तो तुलसी दास ने 'सीताराम पद' को 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कह कर।[2] यह मंगलाचरण की रीति शास्त्रीय है परन्तु प्रत्येक काण्ड में मंगलाचरण करने की रीति मानसकार की अपनी ही है। शास्त्रीय होते हुए भी उसके काव्य में सहजता और अलंकरण का सुखद सामंजस्य है। कथा के मार्मिक स्थलो पर गंभीर अनुभूतियाँ रस का प्रवाह प्रकट करती है तो प्रस्तावना और उपसंहार में अलंकरण और पांडित्य का आलोक है। परन्तु, इन विशेषताओं के साथ नीति और भक्ति के तत्वों ने उसे इस वर्ग से पृथक कर दिया है। अतः मानस भी आंशिक रूप से रससिद्ध महाकाव्यों की परम्परा को स्वीकार करता हुआ अपने युग और रचयिता के व्यक्तित्व के प्रभाव से अपने स्वतन्त्र मार्ग पर चला गया है। विद्वानों ने उसे एक भिन्न वर्ग का अर्थात् पौराणिक महाकाव्य मानने के साथ यह भी कहा है कि "प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित और प्रतिष्ठित काव्य-कला का समावेश रामचरित मानस में पूर्ण मात्रा में हुआ है।"[3] इसका आशय यह है कि रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्यों की परम्परा में उसका भी एक स्थान है।

२. रीतिबद्ध या रूढ़िबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य

महाकाव्य की प्रारंभिक रूढ़ि है सर्गबद्धता—'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते'। उसकी दूसरी रूढि है केवल महच्चरित का वर्णन अर्थात् नायक का अभ्युदय।[4] इसी प्रकार अन्य रूढ़िया है—नगर, वन, पर्वत, सागर, ऋतुचक्र, सायं-प्रभात, चन्द्रिका आदि का वर्णन, कथा का इतिहासाश्रित होना, 'रसभाव निरन्तरम्' की स्थिति, भाव्यवृत्तता' इत्यादि।[6] आगे चलकर "सर्वे रसाः क्रियन्ते" अर्थानुरूप छन्द-योजना[8] आदि रूढ़ियाँ भी इनमें जुड़ गई। हम देखते है कि इनमें से अधिकांश रूढ़ियाँ, जाने-अनजाने, वा० रामायण मे ही बन चुकी थी। छन्द-विवेचन में हम पहले देख चुके

१. रघुवंश, १.१।
२. मानस, १.१८।
३. मानस दर्शन, पृ० १५६।
४. दे० काव्यालंकार और काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद।
५. दे० काव्यालंकार, १।
६. काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद।
७. रुद्रट, काव्यालंकार, १६.५।
८. हेमचन्द्र, काव्यानुशासनम (अध्याय)

है कि एक छन्द के प्रयोग का नियम, और सम्भवत: सर्गान्त में छन्द-परिवर्तन का नियम भी, तभी से चला आ रहा है। आचार्यों ने भले ही कालिदास, भारवि, माघ आदि के बाद परिभाषायें निर्धारित की थीं परन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं है कि वे रामायण और महाभारत से भी प्रभावित थे।[१] स्वयं तुलसीदास ने मानस की प्रस्तावना में 'रामायन जेहिं निरमयउ' (बाल० १४) कहकर महाकाव्य की परम्परा के प्रथम प्रवर्तक वाल्मीकि की वन्दना की है। आशय यह कि आदि काव्य रामायण में ही महाकाव्य-विषयक मूलभूत रूढ़ियां बन चुकी थीं। वह वस्तुत: महाकाव्यों का रीति-निर्धारक आदर्श ग्रंथ है, यद्यपि आदिकाव्य होने के नाते स्वयं रूढ़ियों से आक्रान्त नहीं है। भारवि (किरातार्जुनीयम्), माघ (शिशुपाल बध) और श्रीहर्ष (नैषधचरित) इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं, तथा वा० रामायण के प्रचलित रूप में इस वर्ग का पूर्वाभास देखा जा सकता है। इस वर्ग के काव्यों मे विषय-वस्तु और रूप-शिल्प का जैसा असंतुलन है वैसा ही प्रचलित वा० रामायण मे भी है। विविध छन्दों के प्रयोग में, यमक और अनुप्रास के चमत्कार में, चन्द्रिका और पुष्पक-वर्णन (सुन्दरकाण्ड) के विस्तार में, इन रीतिबद्ध शास्त्रीय महाकाव्यों की प्रारंभिक चेष्टायें देखी जा सकती है। मूल वा० रामायण के भी प्राकृतिक चित्रों में कुछ-कुछ इन काव्यों मे वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यद्यपि उनमें परम्पराभुक्त वर्णन नहीं है, वरन् ताजगी, सौन्दर्य और आत्मा का रस है, परन्तु आश्रमवासी कवि का उन चित्रों के प्रति मोह और उनके वर्णन के प्रति विशेष रुचि अवश्य लक्षित होती है। यही व्यक्तिगत मोह और रुचि रूढ़ि का आभास देती है। मूल रामायण के चित्र ऊब पैदा नहीं करते परन्तु प्रचलित रामायण में उनकी आवृत्तियों ने काव्य-शिल्प का सन्तुलन नष्ट कर दिया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वा० रामायण एक सीमा तक रूढ़िबद्ध काव्यो का भी आदिस्रोत है। उसमें महाकाव्य की कुछ मूलभूत रूढ़ियों का स्थिरतापूर्वक स्थापन हो चुका था।

मानसकार ने संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यो की भी अनेक रूढ़ियों को आत्मसात् किया है, उदाहरण के लिये मानस की प्रस्तावना का विधान अपभ्रंश के चरित्रकाव्यों और पौराणिक काव्यो की एक निश्चित प्रणाली के अनुसार किया गया है। इस प्रकार अनेक कथानक रूढ़ियां भी इन काव्यो से ग्रहण की गई है। परन्तु यह तो मानस के एक अंश मात्र मे है, सम्पूर्ण मानस मे नहीं। रूढ़ियों का परिपालन करते हुए भी तुलसीदास ने न तो कथा के सन्तुलन को बिगड़ने दिया है,—एक बार एक कथा प्रसंग आरम्भ करके फिर उसकी समाप्ति के बाद ही दूसरा प्रसंग आरंभ किया है,—और न ही उसने काव्यपांडित्य के प्रदर्शन मे की उपेक्षा अथवा अपने उद्देश्य का विस्मरण किया है उन्होंने चित्रकूट का वर्णन किया परन्तु माघ के रैवतक-वर्णन के समान वहीं जमकर नहीं बैठ गये

सागरूपकों के प्रति उन्हें मोह है परन्तु यह किसी रूढ़ि का परिपालन नहीं है, वरन् अपने उद्देश्य की गंभीर अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट शैली है। आशय यह कि वाल्मीकि के द्वारा कुछ महाकाव्य-रूढ़ियों की संस्थापना हुई और तुलसी ने भी अनेकानेक काव्यरूढ़ियों को मान्यता प्रदान की परन्तु दोनों ही महाकवि मुख्य रूप से मानवीय उदात्त भावनाओं के अभिव्यजक कलाकार थे, काव्यशास्त्र के बन्धनों मे अपनी प्रतिभा को बाध कर रखने वाले जड़ पंडित नहीं।

३. यमक अथवा बहु-अर्थक शास्त्रीय महाकाव्य

रससिद्ध महाकाव्यों मे स्फुरित और रीतिबद्ध में विकसित महाकाव्य की कला आगे चलकर उत्कर्ष की अपेक्षा अपकर्ष की ओर बढ़ने लगी और महाकाव्य की परम्परा में से महान जीवन की अभिव्यक्ति तो समाप्त हो गई, केवल काव्य-कला का जटिल प्रदर्शन ही शेष रह गया। एक प्रकार से महाकाव्य की आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार की महत्ता समाप्त हो गई, वह महाकाव्य ही नहीं रह गया। भट्टि के 'रावणवध' में तो व्याकरणशास्त्र के साथ कवित्व की कुछ रक्षा हो भी सकी है परन्तु धीरे-धीरे काव्यशास्त्र पर मानो गणितशास्त्र का अधिकार होने लगा अर्थात् पंडित कवि दो-दो और तीन-तीन अर्थ वाले काव्यों की रचना करके अद्भुत काव्य चमत्कार दिखलाने लगे। इस वर्ग के प्रतिनिधि महाकाव्य 'राघव नैषधीयम्' (हरिदत्त सूरि), 'राघवपाण्डवीयम्' (कविराज सूरि), 'पार्वती-रुक्मिणीयम्' (विद्या माधव), आदि रचनायें है जिनका महाकवित्व यदि माना जाये तो उनके रचयिताओं के धैर्य और भाषा की भूलभुलैयों या शब्दों की कलाबाजी में ही माना जा सकता है। यह संस्कृत के महाकाव्य के ह्रास का युग था और प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्य का अभ्युदय हो रहा था। शब्दक्रीड़ा और चमत्कार के प्रचुर उदाहरण वा० रामायण और रामचरित मानस में भी है परन्तु ये उदाहरण महाकाव्य की विराट् छवि के एक अंश मात्र हैं, उसके सम्पूर्ण कलेवर को आच्छादित कर लेने वाले भाषा के जड़ परिधान नहीं।

शास्त्रीय महाकाव्यो के इस संक्षिप्त इतिहास-विवेचन और उनकी परम्परा से दोनों काव्यों का सम्बन्ध-परीक्षण करने का अभिप्राय यह था कि हमारे दोनो प्रतिपाद्य महाकाव्य इनकी अनेक विशेषताओं का आभास कराते हुए भी वर्ग विशेष की सीमाओं से मुक्त स्वतंत्र श्रेणी के ही महाकाव्य है। आगे प्राकृत और अपभ्रंश की साहित्य परम्परा में विकसित चरित्र-प्रधान महाकाव्यों या चरित काव्यों की विशेषताओं का संक्षिप्त विश्लेषण करते हुए भी हम इस बात की परीक्षा करेंगे।

४ चरित्र प्रधान चरित काव्य

काव्य' कह सकते है। यद्यपि इस प्रकार के महाकाव्य संस्कृत मे भी लिखे गये थे परन्तु इनकी परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश से ही आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्राप्त हुई।[1] इस समय तक विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों के कुछ पुराण भी व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किये जा चुके थे जिनका भारतीय जनजीवन पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। ब्राह्मण धर्मावलम्बी कवियों ने हिन्दू पुराणों के आधार पर और जैन कवियों ने जैन पुराणों का आश्रय लेकर ऐसे महाकाव्यों की रचना की। इन चरितकाव्यों को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक। लोक प्रचलित आख्यान का अवलम्बन, चरित की महत्ता, कल्पना का अतिरेक, अद्भुत, अलौकिक और साहसिक तत्वों का समावेश इन सभी होता है, परन्तु पौराणिक मे धर्मोपदेश की प्रवृत्ति, ऐतिहासिक में इतिहास-सम्मत चरितनायक का अनिरंजित चरित्र-वर्णन और रोमांचक मे नायक के प्रेम-व्यापारो के निरूपण एवं साहसिक कार्यो की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। पूर्वनिरूपित शास्त्रीय महाकाव्यों की भी अनेक विशेषतायें इनमें होती है, जैसे वस्तु-व्यापार वर्णन, अलंकृत शैली, पात्रो की विविध मनोदशाओं का रागात्मक चित्रण इत्यादि। अनेक प्रकार की काव्यरूढ़ियो का उदय भी इनमें हुआ है जैसे विस्तार के साथ प्रस्तावना, मंगलाचरण के अतिरिक्त काव्य, काव्यनायक, पूर्वपरम्परा, समाज आदि का परिचय। काव्यशास्त्र के साथ उपदेश और प्रचार का इनमें मेल किया जाता है।

संस्कृत में रामायणमंजरी, भारतमंजरी और दशावतारचरित ('काश्मीर के व्यास' क्षेमेन्द्र द्वारा लिखित)[2], तथा प्राकृत और अपभ्रंश मे क्रमशः पउमचरिय (विमलसूरि) तथा पउमचरिउ (स्वयंभू) पौराणिक शैली के काव्यो के आदर्श उदाहरण है। हिन्दी में रामचरितमानस को इसी वर्ग के अंतर्गत रखा जाता है। ऐतिहासिक काव्यो मे संस्कृत का बुद्धचरित (अश्वघोष) सबसे पहले गिना जा सकता है, परन्तु उसे तथा कथित ऐतिहासिक शैली के चरितकाव्यो में रखना उपयुक्त नहीं है क्योंकि तब तक इनकी परम्परा का उद्भव ही नहीं हुआ था। यही बात कल्हण की राजतरंगिणी के विषय में कही जा सकती है। ऐतिहासिक शैली का प्रतिनिधि महाकाव्य वस्तुतः बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित ही है। हिन्दी में पृथ्वीराज रासो वर्तमान रूप मे विकसनशील महाकाव्यों के वर्ग मे आता है परन्तु, उसे ऐतिहासिक महाकाव्य भी कह सकते हैं। रोमांचक शैली के महाकाव्यों पर गुणाढ्य की बृहत्कथा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। बृहत्कथामंजरी (क्षेमेन्द्र) और कथासरित्सागर (सोमदेव) से रोमांचक शैली के महाकाव्यों की परम्परा का श्रीगणेश माना जा सकता है। प्राकृत मे कौतूहल के लीलावती[3] और मे क भविसयत्त कहा को रोमांचक [illegible] का

महाकाव्य कहा जा सकता है। हिन्दी में जायसी के पद्मावत को इसी वर्ग में रखा जाता है।[1] इन काव्यों में परस्पर अन्य वर्गों की भी विशेषतायें पाई जाती हैं। ऐतिहासिक और रोमांचक महाकाव्यों का स्पष्ट विभाजन भी प्रायः कठिन हो जाता है, उदाहरण के लिये पद्मगुप्त या परिमल के नवसाहसांक-चरित को ऐतिहासिक और रोमांचक दोनों वर्गों में स्थान दिया जाता है।[2] इसके अतिरिक्त इनमें संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों की विशेषतायें भी सुरक्षित रही हैं। बिल्हण का विक्रमांकदेव चरित एक ओर ऐतिहासिक शैली का प्रतिनिधि है तो दूसरी ओर उसमें अलंकृत महाकाव्यों की परिमार्जित भाषा, अलंकार युक्त शैली और काव्यरूढ़ियों का पालन भी इस सीमा तक किया गया है कि उसे भारवि और माघ की शास्त्रीय परम्परा में भी स्थान दिया जा सकता है।[3] इसी प्रकार प्राकृत का पउमचरिय (विमलसूरि) और अपभ्रंश का पउमचरिउ (स्वयंभू) पौराणिक होने के साथ ही उच्च कोटि के शास्त्रीय महाकाव्य भी हैं। प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावणवहो तो विशेष रूप से एक उत्कृष्ट शास्त्रीय महाकाव्य माना जाता है जिस पर कालिदास की काव्यशैली का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।[4] हिन्दी में रामचरितमानस की भी यही स्थिति है। चरितकाव्यों के इन तीनों वर्गों (पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक) में प्रधानता और प्रचुरता पौराणिक शैली के महाकाव्यों की है, अतः वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस की परीक्षा इन्हीं को दृष्टि में रखकर की जायेगी।

(क) पौराणिक महाकाव्य

पौराणिक शैली के महाकाव्यों की जो विशेषता उन्हें अन्य वर्गों के महाकाव्यों से पृथक करती है वह है उनकी उपदेशात्मकता और प्रचारात्मकता। यद्यपि धार्मिक तत्व सभी प्रकार के महाकाव्यों में पाया जाता है, और वह तो भारतीय साहित्य की एक मूलभूत विशेषता ही है,[5] परन्तु इस वर्ग के महाकाव्यों में धार्मिक प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता का रूप धारण कर लेती है। धर्म का सम्बन्ध, लोकमंगल के रूप में, समस्त संसार से होता है, सम्पूर्ण देश से होता है, परन्तु संप्रदाय का सम्बन्ध एक सीमित वर्ग से होता है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ, यश और अहंकार की भावना प्रबल होती है। धार्मिक तत्वों की उपस्थिति के कारण स्वयं आदि काव्य को पहला पौराणिक महाकाव्य माना जाता है[6] परन्तु उसे सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता, जबकि राम-

---

१. वही, पृ० ३९७।
२. वही, पृ० १५५।
३. वही, पृ० १५५।
४. वही, पृ० १७०।
५. दे० डा० श्याम सुन्दर दास का निबन्ध—'भारतीय साहित्य की विशेषतायें'। (साहित्यिक लेख, आगरा, १९४९, पृ० १७९) तथा (हिन्दी भाषा और साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० १७९)।
६. ० पृ० ४ ७

चरित मानस को कहा जा सकता है। तुलनात्मक दृष्टि से हमें देखना है कि इन दोनों महाकाव्यों का इस वर्ग से कितना सम्बन्ध है और क्या उन्हें इस एक वर्ग मे सीमित किया जा सकता है।

आन्तरिक गुण (जिसे 'स्पिरिट' या भावना कह सकते है) के विचार मे पौराणिक महाकाव्यों की मुख्य प्रवृति है तत्व-कथन अर्थात् धर्म, नीति, ज्ञान आदि का उपदेश। विषय के विचार से (जिसे अंग्रेजी में 'मैटर' और हिन्दी में 'विभाव पक्ष' कहा जा सकता है) उनका मुख्य आधार होती है धार्मिक लोककथाये और ऐतिहासिक-पौराणिक महापुरुषों के चरित्र। शैली के विचार से उनका स्वरूप शास्त्रीय महाकाव्यों जैसा ही होता है—सर्गों या काण्डों मे अथवा दोनों में विभाजित कथानक, प्राय: एक ही छन्द या एक छन्द-पद्धति का प्रयोग, यथास्थान अलंकारों का समावेश, कहीं जनसामान्य की साधारण और अपरिष्कृत तथा कहीं शिक्षित और पंडित समाज की परिष्कृत-साहित्यिक भाषा, एक प्रधान रस के साथ अन्य रसो का भी समावेश, विशिष्ट प्रकृति-चित्रण, वस्तु-वर्णन, अत्युक्ति, चमत्कारिकता आदि। उपदेश को गौरवशाली बनाने के लिये इनमें पांडित्य का पुट भी पर्याप्त रहता है और धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति, व्याकरण, ज्योतिष, भूगोल, शकुनशास्त्र, युद्धविद्या, संगीत-शास्त्र, दर्शन आदि विषयों का भी समावेश किया जाता है। शास्त्रीय महाकाव्यों मे ये विषय अप्रस्तुत या गौण रूप से आते हैं परन्तु पौराणिक महाकाव्यों में प्रायः पांडित्य के समावेश के लिये इन्हें मुख्य स्थान भी दे दिया जाता है।

इनका कथानक अन्विति युक्त नहीं होता, अवान्तर कथाओं के भार से शिथिल और अव्यवस्थित भी हो जाता है। उसमे अनेकानेक कथानक रूढ़ियों को भी स्थान दिया जाता है। इनमें चरित्र-चित्रण मे सूक्ष्म मनोदशाओं की अपेक्षा पात्रों के व्यक्तित्व को एक विशेष सांचे (टाइप) मे ढालने का प्रयत्न होता है और उद्देश्य के अनुसार उन्हें सत् और असत् वर्गो मे विभाजित करने की चेष्टा होती है। कुछ विशेष अलंकारों का प्रयोग इनमें अधिक किया जाता है जैसे अन्योक्ति, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना आदि। इनके प्रकृतिचित्रण और वस्तुवर्णन पर भी धार्मिक, नैतिक या सांप्रदायिक दृष्टि का प्रभाव रहता है। इनकी अत्युक्ति और अतिरंजना-शैली अलौकिक और अनिर्वचनीय अद्‌भुत तत्वों के चित्रण मे प्रवृत्त होती है। कुल मिलाकर इनकी शैली में लोकतत्वों और शास्त्रीय तत्वों के सामंजस्य की चेष्टा की जाती है।

ऐसे काव्यों में जब पुराण-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष का प्रभुत्व अधिक दिख-लाई पडता है तब कुछ लोग उन्हें केवल 'पुराण' कहने लगते हैं। इस प्रकार के काव्य सबसे अधिक जैन-संप्रदाय के अन्तर्गत अपभ्रंश में लिखे गये। हिन्दी पर इनकी शैली का विशेष प्रभाव पड़ा है।

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस दोनों मे इस शैली के महाकाव्यों की विशेषतायें भी उतनी ही मिलती हैं जितनी कि शास्त्रीय महाकाव्यों की विशेष

रूप से प्रचलित वा० रामायण का स्वरूप तो बहुत कुछ पौराणिक शैली के समीप पहुँच चुका था जिससे यह प्रकट होता है कि पुराणों का भारतीय महाकाव्यों की परम्परा पर गभीर प्रभाव पड़ा है। वास्तव में इस देश में, और प्रायः प्रत्येक देश में, पुराण और महाकाव्य का उद्भव एवं विकास साथ-साथ हुआ है जिस कारण कुछ पुराण अलंकृत शैली का अवलब लेकर महाकाव्य से प्रतीत होने लगे हैं और कुछ महाकाव्यों ने पुराणों की उपदेशात्मकता, अलौकिकता, अत्युक्ति, चमत्कारवाद आदि के कारण पुराणों का बाना धारण कर लिया है। रामचरितमानस ऐसी स्थिति का विशिष्ट उदाहरण है। जब उसकी काव्य-सम्पदा पर ध्यान जाता है तब तो वह हिन्दी का सर्वोत्तम शास्त्रीय महाकाव्य प्रतीत होता है, परन्तु जब उसकी उपदेश-प्रवृत्ति पर दृष्टि जाती है तब उसे पुराण-काव्य या साहित्यिक शैली का पुराण ही कहते बनता है। वाल्मीकि रामायण में भी पौराणिक तत्व है फिर भी उसे पुराण-काव्य या पौराणिक शैली के वर्ग का महाकाव्य नहीं कहा जाता है। आशय यह है कि पौराणिक तत्व रामचरितमानस में वा० रामायण की अपेक्षा अवश्य अधिक हैं फिर भी पौराणिक शैली का महाकाव्य कह देने से उसका पूरा स्वरूप-विश्लेषण नहीं हो जाता जिस प्रकार शास्त्रीय महाकाव्य कह कर वा० रामायण की परिभाषा पूरी नहीं हो जाती।

इससे पूर्व के अध्यायों में कथानक, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण और वस्तु-वर्णन आदि का विश्लेषण करते हुए हम संकेत कर चुके हैं कि दोनों ही महाकाव्यों में पौराणिक तत्वों की प्रचुरता है। यहाँ हमें यह देखना है कि मानस में किस रूप में पौराणिक तत्व वा० रामायण की अपेक्षा अधिक है। कुछ मुख्य पौराणिक तत्वों के आधार पर ही यह परीक्षा की जा सकती है। ये तत्व निम्नलिखित है—

उपदेशात्मक तत्व

पौराणिक महाकाव्य मूल रूप में चरित्र-काव्य होते हैं अर्थात् महच्चरित के द्वारा उपदेश प्रदान करना उनका लक्ष्य होता है। मूल वा० रामायण, प्रचलित वा० रामायण और रामचरित मानस तीनों में ही 'चरित' की प्रधानता है। रामचरित मानस में तो यह 'चरित' शब्द से ही प्रकट है और वाल्मीकि रामायण के पहले ही काण्ड में नारद-वाल्मीकि सम्वाद से (कोऽन्वस्मिन् सांप्रतं लोके—बाल० १.२) उसकी चरित-प्रधानता प्रकट होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रक्षिप्तांश एक सीमा तक मूल रचना के व्यंग्यार्थ विस्तारक और जिज्ञासा के समाधान-कर्ता ही होते हैं। इसके अतिरिक्त राम को 'विग्रहवान धर्मः' तथा सीता के विषय में 'सीतायाः

---

१. महाभारत को पुराण और महाकाव्य दोनों ही कहा जाता है। श्रीमद्भागवत के विषय में विन्टरनित्स का कहना है कि भाषा, शैली, छन्द और कथा की आन्विति, सभी दृष्टियों से भागवत एक महत्वपूर्ण साहित्यिक रचना है (दे० ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता, पृ० ५५८)।

चरितं महत्' आदि कहे जाने से भी (जिस पर चरित्र-चित्रण के अध्याय मे प्रकाश डाला जा चुका है) इस काव्य की उपदेशात्मकता प्रकट होती है। वाल्मीकि का भी अपने काव्य नायक के प्रति पक्षपात है, यह भी दिखलाया जा चुका है।

मानस ने इस उपदेशात्मक तत्व की वृद्धि आदर्शवाद और साम्प्रदायिकता के रूप में हुई है। उसका आदर्शवाद चरमसीमा पर पहुँचा हुआ है। उसके काव्य-नायक मे नरत्व कम, तथा देवत्व और परब्रह्मत्व अधिक है। रामानुज और रामानन्द सम्प्रदाय तथा अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की छाप मानस पर गहराई के साथ स्पष्ट रूप मे अंकित है। उसका प्रधान रस भक्ति है। काव्य में अनेक स्तुतियाँ और दार्शनिक उपदेश है। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में मंगलाचरण और अन्त में माहात्म्य-कथन है। काव्य की प्रस्तावना और उपसंहार में भी उसने अपना उद्देश्य प्रतिपादित करते हुए अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रकट की है।

अलौकिकता

यह तत्व भी आदि रामायण और प्रचलित रामायण दोनों में है परन्तु मानस मे यह दोनों से ही अधिक है। रामकथा आरम्भ से ही अद्भुत और चमत्कारिक कृत्यों की कोष रही है। प्रक्षेपकारों ने मूल रामायण में ऐसे अंश और अधिक बढा दिये है और मानस में उन्हें और भी अधिक सहज विश्वास के साथ ग्रहण कर लिया गया है क्योंकि पुराणो ने उन्हें पूरी तरह से अपना लिया था। देवता, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर आदि अलौकिक जातियों, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि अपार्थिव स्थलों तथा और भी अनेक विचित्र पदार्थो का वर्णन दोनों ही काव्यों में हुआ है। पूर्व जन्म की कथायें वा० रामायण के उत्तरकाण्ट में है जैसे सीता पूर्व जन्म में वेदवती थीं (सर्ग १७) और इसी प्रकार सुग्रीव, बालि, हनुमान, रावण आदि की जन्म-कथाओं का पौराणिक ढग से विस्तार उत्तरकाण्ड में हुआ है। मानस में यह पौराणिक तत्त्व अर्थात् भवान्तर, पूर्वजन्म, आदि अवतारवाद के रूप में व्यापक ढंग से प्रसारित हुआ है और बालकाण्ड मे राम के अवतार-हेतुओं के साथ दशरथ, कौशल्या, रावण आदि के पूर्वभवों का भी वर्णन है। सगुण और निर्गुण चर्चा के रूप में अलौकिकता ने दार्शनिक रूप धारण किया है। परब्रह्म के लीलातत्व ने इसी अलौकिक तत्व को एक दार्शनिक गरिमा प्रदान करके मनोरंजन से पृथक मनन की वस्तु बना दिया है। शक्ति और सौन्दर्य के वर्णन में अत्युक्ति और अतिरंजना दोनों काव्यों में है परन्तु मानस में इन तत्वों का इस सीमा तक विकास हुआ है कि उन्हें अनिर्वचनीय कह दिया गया है। आशय यह है कि वा० रामायण में जो अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्व है वही मानस मे परब्रह्म की लीला का अंग बनकर अनिर्वचनीय दार्शनिक तत्व बन गया है।

सम्वाद-शैली

वाल्मीकि रामायण में इसका आविर्भाव मात्र हुआ है परन्तु मानस मे पूर्ण विकास है सम्वाद विवेचन में हम दिखला चुके हैं कि प्रचलित के में

नारद-वाल्मीकि सम्वाद और फिर वाल्मीकि से रामकथा का उत्तराधिकार पाकर लवकुश द्वारा उसका प्रचार पौराणिक महाकाव्यों की वक्ता-श्रोता परम्परा का ही पूर्वाभास है, जिसका विकसित रूप मानस में प्राप्त होता है।

इन विशेषताओं के आधार पर वा० रामायण की अपेक्षा मानस की पौराणिक महाकाव्यों के साथ अधिक निकटता प्रकट होती है, परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या मानस को वर्गबद्ध रचना माना जा सकता है ? उसका पुष्पवाटिका-प्रसंग, धनुष यज्ञ और परशुराम-लक्ष्मण सम्वाद, सारा ही अयोध्याकाण्ड, चित्रकूट-सभा का वर्णन, अशोक-वाटिका प्रसंग, अंगद-रावण सम्वाद आदि प्रकरण उसे पौराणिक शैली के महाकाव्यों से पृथक कर देते हैं। इस प्रकार के कवित्वपूर्ण और नाटकीय प्रसंग पौराणिक महाकाव्यों में कम ही मिलते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वा० रामायण और रामचरित मानस दोनों ही भावपक्ष, विचारपक्ष और शिल्प की दृष्टि से किसी एक वर्ग की रचनायें नहीं हैं। वे उस उदात्त श्रेणी की महान रचनायें हैं जिनकी वर्गसीमा असंभव और परिभाषा अकल्पनीय है।

महाकाव्य की व्यापक परिभाषा

विद्वानों ने इसी लिये महाकाव्यों के व्यापक लक्षण भी निर्धारित किये हैं जो ऐसे ही उच्च कोटि के वर्गमुक्त महाकाव्यों पर लागू होते हैं। इन लक्षणों पर एक दृष्टि डालने मात्र से इन दोनों महाकाव्यों का भी सच्चा स्वरूप समझ में आ जाता है। ये लक्षण इस प्रकार हैं—१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा, २. गुरुत्व, गांभीर्य और महत्त्व, ३. महत्कार्य और समग्र युग जीवन का चित्रण, ४. सुसंगठित जीवन्त कथानक, ५. महत्त्वपूर्ण नायक, ६. गरिमामयी उदात्त शैली, ७ तीव्र प्रभावान्विति और गंभीर रसव्यंजना तथा ८. अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवात्त।[1]

इन लक्षणों के आधार पर दोनों काव्यों की परीक्षा करने पर उनमें कुछ त्रुटियाँ भी मिलेंगी परन्तु कुल मिलाकर वे इन लक्षणों के बहुत अधिक समीप दिखलाई पड़ेंगे। उदाहरण के लिए, मानस पर भक्ति-संप्रदाय, अवतारवाद, अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद आदि के रूप में साम्प्रदायिकता का प्रभाव होने से उसके महदुद्देश्य में शंका की जा सकती है परन्तु विचार करने पर पता चलता है कि तुलसी की भक्ति-भावना सांप्रदायिक नहीं थी। भक्ति रस का विवेचन करते समय हम उसके लोकसंग्रह भाव और महदुद्देश्य पर प्रकाश डाल चुके हैं। इसी प्रकार वा० रामायण के सुसंगठित जीवन्त कथानक के विषय में शंका उठाई जा सकती है परन्तु केवल उसके प्रचलित संस्करण के विषय में। मूल वा० रामायण का कथानक सुसंगठित रहा होगा, ऐसी आशा की जा सकती है क्योंकि वह एक व्यक्ति की रचना थी। उसके प्रायः वे सभी प्रकरण जिनके कारण कथानक असंतुलित हो गया है, जिनकी आवृत्ति हुई है अथवा

१ का स्वरूप विकास, पृ० १० १२१

जिनका अनावश्यक विस्तार किया गया है, प्रक्षिप्तांश माने जाते है। अतः उपरोक्त व्यापक लक्षणों के आधार पर हम मूल वा० रामायण को आदर्श महाकाव्य कह सकते है।

इन लक्षणों में 'महता' और 'गरिमा' पर विशेष बल दिया गया है और इस प्रकार महाकाव्य की वास्तविक परिभाषा और स्वरूप 'काव्य' के साथ जुड़े हुए 'महा' शब्द मे ही निहित है। जब हम वर्गबद्ध महाकाव्यों का स्मरण करते है तब हृदय मे वैसी महानता की भावना उत्पन्न नहीं होती जैसी कि इन वर्गमुक्त महाकाव्यों के वस्तु और शिल्प पर दृष्टि डालने से होती है। वास्तव मे महाकाव्यत्व का निर्णय तो जनता और समय स्वयं कर लेता है। शास्त्रीय और चरितात्मक महाकाव्यों के वर्ग-द्वारो से निकल कर जब हम रामायण, महाभारत और रामचरित मानस जैसे काव्यों पर दृष्टि डालते हैं तब बिना परिभाषा के ही महाकाव्य शब्द का अर्थ प्रकट होने लगता है। हमारे देश मे 'महाकाव्य' शब्द रामायण और महाभारत के लिए जिस प्रकार उपयुक्त बैठता है उस प्रकार अन्य काव्यों के लिये नहीं, रघुवंश और कुमारसंभव के लिए भी नहीं। अंग्रेजी में 'एपिक' शब्द भी इतना ही व्यापक है और वह भी यूनानी महाकाव्य 'इलियड' के लिए जितना उपयुक्त है उतना अन्य तथाकथित 'एपिक्स' के लिए नहीं।

उपरोक्त व्यापक लक्षणो का विवेचन करने से यह भी पता चलता है कि ये सभी प्रकार के महाकाव्यों के लक्षणों के सारभूत लक्षण है, और हम देख सकते है कि वा० रामायण और मानस दोनों ही सब वर्गों के लक्षणो से युक्त होकर भी उनसे परे और अधिक व्यापक हैं। श्री अरविन्द ने वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के युग तथा कृतित्व का विश्लेषण करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि रामायण, महाभारत और रघुवंश (कुमारसंभव तथा मेघदूत भी) वास्तव में आर्य सभ्यता के तीन मुख्य पक्षों के अभिव्यंजक हैं। वे तीन पक्ष है नैतिक, बौद्धिक और भौतिक।[१] रामायण मे नैतिकता की कल्पना की पराकाष्ठा है, महाभारत में बौद्धिक उत्कर्ष की, तथा रघुवंश-कुमारसंभव-मेघदूत में सौन्दर्य-दर्शन, ऐन्द्रिय उल्लास और आनन्द की। उक्त पक्षो के अतिरिक्त श्री अरविन्द ने एक चौथे पक्ष का भी संकेत किया है जिसमें हमारी सभ्यता आध्यात्मिकता के शिखर पर पहुंची हुई दिखलाई पड़ती है और जिसमें उक्त तीनों शिखर समाहित हो जाते हैं।[२] कदाचित् मानस की रचना में हमारी सभ्यता के इसी आध्यात्मिक पक्ष की झाँकी है। 'सीयराम मय सब जग जानी' इसी महान [illegible] और महान आध्यात्मिक कल्पना की पूर्ति का प्रयास है।

---

१. Their works are pictures of three moods of our Aryan civilization of which the first was predominantly moral, the second predominantly intellectual and the third predominantly material.—[illegible]

उपरोक्त विचार के अनुसार महाकाव्य एक जाति के व्यापक जीवन की अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यक्ति होता है जिसमें महाकवि की अनुभूति के माध्यम से सम्पूर्ण जनता की आन्तरिक शक्ति उमड़ कर प्रकट होती है। मानस भी निस्सन्देह ऐसा ही महाकाव्य है और इस का प्रमाण है उसकी लोकप्रियता और भारतीय जीवन पर उसका गहरा प्रभाव।

वा० रामायण और रामचरितमानस दोनों का ही महाकाव्य की किसी एक शास्त्रीय परिभाषा पर अपूर्ण प्रकट होना वस्तुत. उनकी इस प्रकार की पूर्णता का द्योतक है जिसकी उपयुक्त परिभाषा और व्याख्या करना कठिन है। यही उनका विशिष्ट महाकाव्यत्व है।

निष्कर्ष

महाकाव्य के रूप में दोनों की तुलना के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते है—

१—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के आधार पर महाकाव्यो के जो विविध वर्ग निर्धारित किये गये है उनमें से किसी एक में न तो वा० रामायण को सीमित किया जा सकता है और न ही रामचरितमानस को। उनकी परख महाकाव्य के अस्थिर या युग-विशेष में निर्मित नियमो के आधार पर नही की जानी चाहिए, वरन् स्थिर अर्थात् व्यापक नियमो के आधार पर की जानी चाहिए।

२—वा० रामायण आदिकाव्य होने के नाते और मानस समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं का परवर्ती और उनका समन्वयकारी होने के नाते इन सीमाओं से परे है। दोनों ही महाकाव्य-शैली के लक्ष्य ग्रंथ है। वे वस्तुतः महाकाव्यों के जनक महाकाव्य है।

३—संस्कृत के महाकाव्यों की शास्त्रीय शैली और प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों की चरित-शैली (प्रधानतः पौराणिक शैली) का समन्वय दोनों में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय महाकाव्य का हृदय पुराणों से निर्मित हुआ है और उसका कलेवर सम्पूर्ण साहित्यशास्त्रीय उपादानों से। उसकी मूल प्रवृत्ति धार्मिक ही है।

४—दोनो ही कवि उस उत्कृष्ट प्रतिभा के कलाकार हैं जो निर्बन्ध रह कर अपनी आन्तरिक शक्ति से पूर्णतया विकसित होती है, अर्थात् दोनों की रचनाएँ स्वान्तस्सुखाय हैं। उनके महाकाव्यत्व का रहस्य उनकी वाह्य रचना एवं आकार मे नही वरन् 'महा' विशेषण से द्योतित उस महती अनुभूति में खोजना चाहिए जिसकी प्रेरणा से वह आकार निर्मित हुआ है।

मानस की मौलिकता

विविध आधारों पर दोनों कवियों की काव्यशैली की तुलना करने के पश्चात् कुछ शब्द तुलसी की मौलिकता के विषय मे भी कहने आवश्यक हैं क्योंकि मौलिकता

का अधिक संबंध शैली के साथ ही होता है। जहाँ तक भावों और विचारों का प्रश्न है वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि देश और काल की सीमाओं में नहीं बँधते, और इस प्रकार चिर-नवीन या चिर-पुरातन बने रहते हैं। केवल नवीन शैली के आधार पर ही वे नवीन रूप में प्रकट होते है। एक विद्वान का कथन है कि मौलिकता नाम की कोई चीज ही नहीं होती—"आल औरिजिनेलिटी इज बट अनडिटेक्टिड प्लेगियारिज्म"[1] इसका आशय यही है कि मुख्य रूप से विचारों और भावों को नवीन रूप में प्रस्तुत करने की कला (शैली) में ही मौलिकता रहती है, न कि स्वयं विचारों और भावों मे।[2] राजशेखर ने भी इसी आशय को लेते हुए कहा है—

नास्त्यचौरो कविजनः नास्त्यचौरो वाणिग्जनः।
स नन्दति बिना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥ (काव्यमीमांसा)

अर्थात् न तो कोई कवि ऐसा है जो चोरी न करता हो और न कोई वणिक् ही ऐसा है। जो छिपाना जानता है वही निन्दा से बच कर आनन्द मनाता है।

तुलसी की मौलिकता के विषय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समस्त सामग्री पूर्ववर्ती ग्रंथों से लेकर भी उन्होंने किस आधार पर समस्त भारतवर्ष और इस देश के महान कवियों में इतना उच्च स्थान पा लिया है? उन्होंने मानस की प्रस्तावना में इतने स्पष्ट रूप से पूर्ववर्ती साहित्य का आभार स्वीकार किया है जितना कि कदाचित् किसी ने भी न किया हो। अतः वे राजशेखर के अनुसार 'निगूहन' करके 'नन्दित' होने वाले कवि तो नहीं ही थे।

तुलसी की मौलिकता पर विचार करने से पूर्व वाल्मीकि की मौलिकता पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। वाल्मीकि यद्यपि आदि कवि और रामकथा के प्रथम ग्रंथकार माने जाते है परन्तु वे केवल 'ग्रंथकार' है, कथाकार अर्थात् मूल कथा के 'कल्पनाकार' नहीं। रामकथा उन्हें अस्फुट आख्यान काव्य के रूप में प्राप्त हुई थी जिसकी चर्चा बालकाण्ड मे भी की गई है।[3] वह चारण काव्य कितना कवित्व पूर्ण था और उसकी क्या रूपरेखा थी, इसके विषय में तो कुछ कहा भी नहीं जा सकता परन्तु वाल्मीकि अपने पूर्ववर्ती साहित्य के आभारी अवश्य हैं, यह निश्चित है। शैली-तत्वों के विषय में भी हम पिछले अध्याय में देख चुके है कि उन्होंने पूर्ववर्ती छन्द और अलंकारों को वैदिक साहित्य से ग्रहण किया था। अतः भाव, विचार और शैली तीनों के लिए ही वे भी एक सीमा तक अपने पूर्ववर्ती साहित्य के ऋणी अवश्य हैं।

तुलसी की स्थिति निस्सन्देह वाल्मीकि से भिन्न है। उनका आदान जितना अधिक है आभार भी उतना ही स्पष्ट और विनम्र है। उनकी प्रतिभा तो उनके सार-ग्रहण और समन्वय मे ही देखी जा सकती है। राजशेखर ने जितने प्रकार के 'शब्द

१. ए कम्पेयरेटिव फिलोलोजी आव इंडो-आर्यन लैंग्वजेस, जहाँगीरदार, (भूमिका)।
२. विचार प्रवाह, ह० प्र० द्विवेदी, पृ० १०२।
३. १.५.३।
४ काव्यमीमांसा अध्याय १२ १३।

ग्रहण' और 'अर्थ ग्रहण' बतलाये है वे सभी तुलसी में प्राप्त होते है फिर भी वे "सकल प्रबन्धहर्ता साहसकर्ता"[1] की श्रेणी में नहीं आते। उनके संग्रह और त्याग की कला मौलिकता के अनोखी है, जिस पर अभी गभीरता पूर्वक विचार नहीं किया गया है।[2] यहाँ हम उनकी ज्ञापक कुछ ही तत्वो पर प्रकाश डाल कर इस विषय के विशेष अध्ययन की आवश्यकता को व्यक्त करना चाहते है। ये प्रसग और तत्व निम्नलिखित है —

मानस की प्रस्तावना

तुलसी की मौलिकता का परिचय वास्तव मे उनके ग्रंथ की प्रस्तावना और उपसंहार से मिलता है, क्योकि इन दोनों अंशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने किस प्रकार एक निजी और निश्चित उद्देश्य बना कर कथा को नवीन रूप प्रदान किया है। यह प्रस्तावना उनके महाकाव्य का राजद्वार है और ग्रंथ की भव्यता तथा प्रणेता की महानता की सूचक है। यद्यपि प्रस्तावना की यह शैली उसे अपभ्रश के महाकाव्यों से प्राप्त हुई है परन्तु इसमे अनेक नवीनतायें भी है। मंगलाचरण, साधु-प्रशसा, दुर्जन-निन्दा, सत्संग-महिमा, विनम्रता-प्रदर्शन, काव्य-शास्त्रीय विवेचन, काव्य रचना का उद्देश्य, वस्तुनिर्देश, रामकथा के पात्रों की बन्दना, नाम-महिमा, कथा की परम्परा और महत्व, आत्मनिवेदन, काव्य का रचना-काल और कथा प्रसंगों की तालिका आदि बातें अपभ्रंश के महाकाव्यो की प्रस्तावना में भी मिलती है, मानसरूपक भी स्वयभु के सरिता-रूपक से मिलता जुलता है,[3] फिर भी अनेक बातें तुलसी की निजी है जिनमें से मुख्य है निर्गुण और सगुण का विवेचन, जिसके द्वारा उन्होने अपनी भक्तिभावना में समन्वय के लक्ष्य का और अधिक विस्तार किया है और अपने काव्य के उद्देश्य को सुस्पष्ट किया है। विविध देवों की वन्दना में भी उन्होंने इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को प्रगट किया है। अतः मानस की प्रस्तावना भारतीय भाषाओ के महाकाव्यो मे अपना विशेष महत्व रखती है।

मानस का उपसंहार

प्रस्तावना के समान उपसंहार मे भी तुलसी की मौलिकता प्रकट होती है। उपसंहार की विशेषता इस बात मे होती है कि समस्त ग्रंथ का सार अध्येता के हृदय मे एकत्र हो जाय और सम्पूर्ण कथा स्मृति-पटल पर अंकित हो उठे। तुलसी ने शिव और पार्वती के सम्वाद के रूप में प्रबन्ध की समाप्ति की सूचना दी है—

१. कविरनुहरतिच्छायां पदमेकं पादमेकमर्धं वा।
सकलप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै नमस्तस्मै ॥ (सुभाषित रत्न भाण्डागार)
२. प्रस्तुत प्रबन्ध की प्रस्तावना में इस पर किंचित विचार किया गया है। इस दृष्टि से मानस के अध्ययन का प्रयास श्री सीताराम कपूर ने "मानस के साहित्यिक स्रोत" शीर्षक शोध प्रबन्ध मे किया है परन्तु उसमें भी तुलसी की मौलिकता का पर्याप्त आकलन नहीं हुआ है
३ पउमचरिउ १ २

गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा ॥[1]

इसके पश्चात् उसने अपने श्रोता में नवीन जिज्ञासा उत्पन्न करके प्रबन्ध को नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया है जिससे उसमें बड़े ही स्वाभाविक ढग से काग-भुशुण्डि और गरुड़ का प्रकरण सन्निविष्ट हो गया है। प्रस्तावना-भाग में इस प्रकरण को स्थान नहीं मिल सका था। अतः कवि ने बड़ी कुशलता से उसे उपसंहार में स्थान दिया है क्योंकि वह रामकथा के वक्ता-श्रोताओं में से इस तीसरे युग्म की भी कथा अवश्य कहना चाहता था। इसी प्रसंग से उसको मानव के कथा-प्रसंगों की तालिका उपस्थित करने का भी अवसर मिल गया है। इसी प्रकार की प्रसग-तालिका वह प्रस्तावना में भी दे चुका था और उपसंहार में उसकी आवृत्ति करके उसने अपने कथानक की रूपरेखा सुस्पष्ट कर दी है। कथानक की बृहदता की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। मानस का उपसंहार तुलसी के आध्यात्मिक सदेश की अन्तिम निर्णयात्मक स्थापना है। 'राम कवन' से कथा का आरंभ करके, और बीच-बीच मे भी इसी प्रकार के प्रश्न उठा कर तुलसी ने इस उपसंहार मे राम के 'स्वरूप' को अतिम बार पूरी शक्ति से स्थापित करके परम सन्तोष की सांस ली है।

प्रस्तावना और उपसंहार ही नहीं, मानस का मध्य भाग अर्थात् अयोध्याकाड भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों मे यह बात प्रचलित है कि मानस के आरम्भ (प्रस्तावना), मध्य (अयोध्याकाण्ड) और अन्त (ज्ञान-दीप तथा भक्ति-मणि के रूपको सहित उपसहार) की गहराई डुबने से ही पता चलती है।[2]

मानस के काण्ड

मानस के काण्डों की योजना मे भी तुलसी की मौलिकता का प्रकाशन हुआ है। प्रत्येक काण्ड के आदि में भव्य मंगलाचरण और अत मे भावपूर्ण माहात्म्य-कथन ने उसे एक विशेष प्रकार की भव्यता प्रदान करदी है और वह अपने में एक स्वतन्त्र महाकाव्य जैसा प्रतीत होने लगा है। कथावस्तु के विवेचन मे हम कह आए हैं कि प्रत्येक काण्ड की कथा का विभाजन भी तुलसी ने बहुत कुछ अपने उद्देश्य के अनुरूप किया है। 'लका काण्ड' का तो नामकरण भी उन्होंने अपनी ही रुचि से किया है।

नाटकीय शैली

तुलसी के सम्वादो मे हम दिखला चुके हैं कि उनके सम्वाद न तो केवल पौराणिक शैली के हैं और न केवल मनोवैज्ञानिक शैली के। संस्कृत के नाटकों के प्रभाव से उनके मानस में अद्भुत नाटकीय शिल्प का समावेश हो गया है। मानस के कुछ सम्वाद इतने प्रसिद्ध हुए है कि उन्हे सामान्य जनता स्वतन्त्र नाटकों के रूप मे देखती और समझती है, जैसे लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद और अगद-रावण सम्वाद।

[1] मा० उत्तरकाण्ड ५

[2] गो० तुलसी० [illegible]

रामलीला के रूप में मानस का जिस प्रकार प्रचार हुआ है यह बात भी पहले कही जा चुकी है। अपनी इस नाटकीय शैली के कारण मानस वस्तुतः महाकाव्यों का एक नवीन वर्ग ही स्थापित करता हुआ प्रतीत होता है। विद्वानों ने उसे नाटकीय शैली का सबसे बड़ा महाकाव्य कहा है।[1]

सांगरूपक

मानसकार की शैली की विशिष्टता उसके छन्दों और अलंकारों में भी प्रकट हुई है, विशेषकर उसके सांगरूपकों का विश्लेषण करते हुए हम बतला चुके हैं कि उसके रूपक-विधान में विविध प्रकार की नवीनतायें प्रकट हुई हैं। साथ ही उसके रूपक उसके विशाल काव्य-पांडित्य के भी ज्ञापक है।

समन्वय वृत्ति

अन्त में मानसकार की मौलिकता का सबसे अधिक प्रकाशन उसकी समन्वय-कला में होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मौलिकता की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'मौलिकता सामंजस्य-विधायिनी दृष्टि की स्वकीयता है।'[2] इस दृष्टि से मानस सर्वथा मौलिक रचना है और मानसकार की सफलता का सच्चा रहस्य उसकी अपूर्व समन्वय शक्ति में दिखलाई पड़ता है। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी के शब्दों मे—"उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का, ब्राह्मण और चांडाल का, पंडित और अपंडित का समन्वय रामचरितमानस के आदि से अंत दो छोरों पर जाने वाली परा कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।"[3]

डा० माता प्रसाद गुप्त ने तुलसी की मौलिकता के सम्बन्ध मे अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"तुलसीदास का पुरानी परिपाटी का समालोचक तो उनके इस मधु-संचय पर मुग्ध है। किन्तु नई परिपाटी का समालोचक इस प्रकार के मधु-संचय मात्र से संतुष्ट नहीं होता, वह तो तुलसीदास के मौलिक योग को ठीक-ठीक समझना चाहता है। × × × × तुलसीदास की विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के दिव्यतत्वों को (सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, निर्वैरता, अनासक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, शुचिता निष्कपटता, त्याग, उदारता आदि) पूर्ण रूप से आत्मसात् करके अपनी रामकथा को और भी उज्ज्वल बनाया है।"[4]

---

1. विश्व साहित्य में रामचरित मानस, राज बहादुर लमगोड़ा, पृ० ६।
2. [illegible] प्रवेश पृ० [illegible]
3. [illegible] पृ० २२५
4. [illegible] ० [illegible]

डा० शम्भूनाथ सिंह ने इस विषय में अपने विचार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किये हैं—

"तुलसी ने विभिन्न स्रोतों से गृहीत तत्वों को अपने उद्देश्य के रंग में इस प्रकार रंग दिया है कि वे उनके अपने हो गये हैं। अपनी सारग्राहिणी प्रतिभा के कारण ही वे ऐसा करने में सफल हो सके हैं। विभिन्न स्थानों से विविध तत्त्वों का संग्रह करके भी उन्होंने मानस को संग्रह-ग्रंथ नहीं बनाया, बल्कि उन्हे इस प्रकार नियोजित किया है और उनमें अपने विचार और भावनाओं को मिला कर इस तरह का रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है कि नवीन वातावरण में वे बिल्कुल नये लगते हैं।"[1]

इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी की मौलिकता विषय के पुनर्विधान और उसकी सीमित परिधि में नवीन कल्पनाओं और नवीन अर्थ-योजनाओं में निहित है। वही कथा और वही पात्र, यहां तक कि अनेक शब्द भी पूर्ववर्ती कवियों के ग्रहण करके उन्होंने अपने चिन्तन की गहराई से समस्त रचना को एक मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है।

अध्याय (काव्यकला) के निष्कर्ष

प्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय मे हमने दोनों कवियों की रचना की तुलना काव्यतत्वो और महाकाव्य की शैली के विचार से की है। इस तुलना मे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है :—

१. दोनों ही कवि आदर्शवादी हैं और अपने आदर्शों एवं विचारों के प्रचार की दृष्टि भी उनकी रही है। तुलसी में प्रचार-शैली अधिक व्यक्त है और वाल्मीकि में अपेक्षाकृत अव्यक्त।

२. काव्यपांडित्य का प्रदर्शन उन्होंने नही किया है, उनका मुख्य उद्देश्य अपने विचारों को जनता में संचारित करना था। उनकी भाषा की सरलता, छन्दों की गेयता, अलंकारों की सहजता और रसपरिपाक की स्वाभाविकता के कारण उनका काव्य जनता की सम्पत्ति बन गया है। भारतीय साहित्य में इतनी लोकप्रियता अन्य काव्यों को प्राप्त नहीं हुई है। रामकथा-साहित्य में वाल्मीकि रामायण के बाद रामचरितमानस ही इतना लोकप्रिय हुआ है। लोकभाषा में लिखित और लोकतत्वो से परिपूर्ण होने के कारण की दृष्टि से मानस वा० रामायण से भी

साहित्य का ऋण ग्रहण किया है परन्तु तुलसी के समय तक विशाल वाङ्मय की रचना हो चुकने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि अपनी काव्यरचना में उन्होंने शास्त्रीय काव्यतत्वों का सन्निवेश वाल्मीकि की अपेक्षा कहीं अधिक किया। उन्होंने छन्द-प्रयोग बहुलता के साथ किया और अलकार-बाहुल्य भी उनमें अधिक है।

४. अलंकारों में उपमा वाल्मीकि का और रूपक तुलसी का सिद्ध अलंकार है। स्वभावोक्ति अलंकार का भी सुन्दर और प्रचुर प्रयोग दोनों ने किया है। अलंकारो की प्रचुरता और विविधता मानस मे वा० रामायण की अपेक्षा कहीं अधिक है, फिर भी उसमें कोरा चमत्कार-प्रदर्शन और पाडित्य का ज्ञापन नहीं है। उसके शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही स्वाभाविक है। उभयालंकार या संकर और समृष्टि भी दोनों कवियों मे हैं। वास्तव मे इन दोनों कवियों की वाणी इतनी प्रौढ और सुसमृद्ध है कि समस्त काव्यतत्व रत्नगर्भा पृथ्वी के समान उसमे मे स्वमेव उभरते हुए दृष्टि-गोचर होते है। इस प्रकार ये दोनों ही काव्य साहित्यशास्त्र के श्रेष्ठ लक्ष्यग्रन्थ बन गये हैं।

५. अलकारों के विषय में इस बात पर ध्यान जाता है कि दोनों का अप्रस्तुत विधान अत्यन्त व्यापक है अर्थात् जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों से उन्होने उपमानों की सामग्री ग्रहण की है। कुछ उपमान ऐसे भी हैं जो वाल्मीकि से लेकर तुलसी तक अक्षुण्ण रूप मे चले आये है जैसे मुख के लिये चन्द्रमा और कमल, कम्पन के लिये कदली, गति के लिये गज इत्यादि। इस समानता से इस देश की प्राकृतिक विशेषता लक्षित होती है। कमल और चन्द्रमा इस देश के सबसे अधिक प्रिय प्राकृतिक उपमान रहे हैं।

६. महाकाव्य के रूप में दोनों काव्य साहित्य शास्त्रीय बन्धनो से ऊपर हैं और उन्हे किसी विशिष्ट वर्ग के महाकाव्यों में नहीं गिना जा सकता। मानस को यद्यपि "पौराणिक शैली" का महाकाव्य कहा गया है परन्तु वह उसी के लक्षणो मे बधा हुआ नही है, उसकी कुछ निजी विशेषतायें भी हैं। उसकी जैसी नाटकीयता, वैसे सरस सम्वाद, सभी पौराणिक महाकाव्यों में नहीं मिलेंगे। दूसरी ओर पौराणिक महाकाव्यों के अनेक लक्षण वा० रामायण में भी हैं और उसे पौराणिक शैली का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। महाकाव्य की मूल कल्पना या परम्परा इस देश मे वास्तव में पौराणिक महाकाव्यों को लेकर चली है, अतः दोनों ही महाकाव्य उसी प्रधान प्रवृत्ति के प्रकाशक हैं। वास्तव में दोनों महाकाव्यों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस देश में महाकाव्य का हृदय पुराण द्वारा और शरीर विविध साहित्यशास्त्रीय उपादानो द्वारा निर्मित हुआ है।

७. सम्वादशैली का प्रयोग तुलसी की एक प्रधान विशेषता है। उनके सम्वाद पौराणिक और नाटकीय हैं। नाटकीय सम्वादों के द्वारा उसका नाट्य-कौशल प्रकट होता है। इसी आधार पर रामचरितमानस को सर्वश्रेष्ठ "नाटकीय महाकाव्य" कहा गया है ऐसी नाटकीयता वा० रामायण म नहीं है, यद्यपि सम्वाद योजना उसमे

भी हुई है जैसी कि सभी प्रबन्धकाव्यों में होती है ।

८. तुलसी की भक्तिभावना का प्रभाव उनकी समस्त काव्यशैली पर पड़ा है जैसा कि उनकी भाषा, छन्द, अलंकार और सम्वाद के अतिरिक्त प्रकृतिचित्रण, वस्तु-वर्णन आदि का भी विवेचन करते समय बतलाया गया है । राम की भक्ति को लोकमंगल का एक मात्र साधन मानते हुए उन्होंने समस्त काव्यतत्वों का उपयोग उसी भक्तिभावना का प्रभाव प्रसारित करने के लिये किया है। यही उनके काव्य की प्रचारात्मकता है जिससे उसकी व्यापकता और शुद्ध कलात्मकता को रह-रह कर ठेस पहुँची है ।उपदेशात्मकता वाल्मीकि के काव्य में भी है परन्तु उनकी काव्यशैली मे वह प्रकट नही होती है। उन्होने काव्य मे कलात्मकता की रक्षा की है और प्रत्यक्ष रूप में उपदेश बहुत कम दिया है ।

७

●●●

उपसंहार

प्रत्येक अध्याय के अन्त में कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। उनसे सार रूपमें यही प्रकट होता है कि वाल्मीकि और तुलसी के विचारों, आदर्शों और जीवन-दर्शन मे वस्तुतः उतना अन्तर नहीं है जितना कि उनकी काव्यशैली और युग की भिन्नता के कारण प्रतीत होता है। दोनों काव्यों के तुलनात्मक अध्ययन से सिद्ध होता है कि एक ही मूल भावना वाल्मीकि से आरम्भ होकर मध्यवर्ती युगों के जीवन की जलवायु मे पनपती और परिवर्तित होती हुई तुलसी के साहित्य में नवीन उपकरणों के साथ प्रकट हुई है। उसमें नवीन सांस्कृतिक और शैली-तत्व अवश्य सम्मिश्रित हो गये हैं, परन्तु मूल भावना एवं विचार परिवर्तित नही हुए है। तुलसी के साहित्य को भक्ति-भावना के प्राधान्य के कारण वाल्मीकि के साहित्य से भिन्न जाति का (पौराणिक-धार्मिक) समझा जाता है, परन्तु जब हमारी दृष्टि इस बात पर जाती है कि आदि काव्य की रचना और प्रचलित रामायण का रूप स्थिर होने के बीच के समय में भक्ति के तत्व इस सीमा तक प्रस्फुटित हो चुके थे कि प्रक्षेपपंडितों ने आदिकाव्य का कायापलट ही कर दिया तो यह समझना सरल हो जाता है कि भारतीय जीवन का उत्थान जिस आदर्श को लेकर वा० रामायण में आरम्भ हुआ था उसकी ही एक मंजिल मानस मे पूरी हुई है। श्री अरविन्द ने अपने एक लेख में कहा है कि भारतीय संस्कृति का बौद्धिक पक्ष (इंटलैक्चुअल मूड) या उसका बौद्धिक उत्कर्ष महाभारत मे प्रकट हुआ है, नैतिक पक्ष (मॉरल एटीच्यूड) वा० रामायण में अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखलाई पड़ता है और पार्थिव या भोगात्मक पक्ष (मैटीरियल आस्पेक्ट) कालिदास के काव्य मे उल्लसित होता हुआ दिखलाई पड़ता है। चौथे पक्ष अर्थात् आध्यात्मिक पक्ष (स्प्रिचुयल आस्पेक्ट) के विषय में उनका कथन है कि वह उक्त तीनों पक्षों का समन्वय कर सकता है, परन्तु वह किसी युगविशेष की कृति के द्वारा प्रकट नहीं हुआ है, यद्यपि उसके आभास परवर्ती युगों के सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रयत्नों में मिलते रहे हैं (दे० इन्डियन इन्हेरिटेंस, भाग १—साहित्य, दर्शन, और धर्म, भा० वि० भवन बम्बई, १९५५, पृ० ११०)। रामचरितमानस भारतीय जीवन के उस चतुर्थ अर्थात आध्यात्मिक पक्ष का पूर्ण अभिव्यंजन कर सका है या नही यह विवादास्पद

विषय हो सकता है, परन्तु इतना तो निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उसने प्रयत्न इसी दशा में किया है। उसकी रचना राजनैतिक परतंत्रता के युग में हुई थी जब कि भारतीय संस्कृति अवसन्न हो रही थी। अतः उसकी अभिव्यंजना में यदि उतनी शक्ति, जितनी कि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास में थी, न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसमें वह उल्लास, स्वस्थता, निर्भीकता और वेग भले ही न हो परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह उस परम्परा से विच्छिन्न है। भारतीय संस्कृति का प्रवाह चार धर्मों या संप्रदायों में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन और शैव। वाल्मीकि और तुलसी की एकता इस बात से भी प्रकट होती है कि दोनों का ही सम्बन्ध ब्राह्मण धर्म की परम्परा में विकसित साहित्य से है, अतः उनमें साम्प्रदायिक दृष्टि से भी एकता है। वाल्मीकि और तुलसी की इस मौलिक एकता को समझने के लिये उनके जीवन-दर्शन पर, जो कि उनके काव्यनुशीलन के आधार पर प्रकट होता है, एक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

वाल्मीकि और तुलसी का जीवन-दर्शन

दोनों काव्यों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि उनके कवि वैदिक विचारधारा के अनुयायी थे। इसीलिये उनकी रामकथा के विविध प्रसगों में यज्ञों, उपासना, श्राद्ध, देव-पूजन आदि की चर्चा है अर्थात् उनकी कथा का वातावरण बौद्ध, जैन और शैव सम्प्रदायों द्वारा निरूपित रामकथा से भिन्न और ब्राह्मण धर्म के अनुकूल है। इसी प्रकार उनके सामाजिक, पारिवारिक और राजनैतिक आदर्शों मे भी बहुत कुछ समानता है। सामाजिक क्षेत्र में धर्माचरण, पारिवारिक में पितृ-भक्ति, पातिव्रत आदि गुण और राजनैतिक में रामराज्य की कल्पना दोनों में प्रायः एक जैसी है। दोनों का जीवनादर्श नैतिक मूल्यों पर आधारित था। वाल्मीकि ने भी अपने श्रेष्ठ पात्रों में जो दुर्बलतायें प्रकट की है उन्हें अवाछनीय अवगुण ही माना है और रावण-पक्ष के भोगवादी पात्रों में भी जहां साधनात्मक गुण देखे हैं उनकी प्रशंसा की है। रावण का तप और शक्ति स्वार्थनिष्ठ थी, इसीलिये उसके प्रति श्रद्धा जागृत नहीं की जा सकी है। कांचनमृग के प्रति सीता की ललक एक भौतिक या सामान्य सासारिक दुर्बलता थी, इसीलिये उस की निन्दा की गई है। अन्य संप्रदायों द्वारा निरूपित रामकथा के अभिप्राय और संकेत अधिकाशतः भिन्न है, परन्तु वा० रामायण और मानस में वे प्रायः एक ही है।

तुलसी के जीवन-दर्शन में वाल्मीकि से जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है उसका मुख्य आधार है उनकी भक्ति-भावना। यह भक्ति-भावना वाल्मीकि में भी है, परन्तु यह एक आदर्श महापुरुष के प्रति श्रद्धा के रूप में ही दिखाई पड़ती है। उसमें ईश्वर और अवतार-विषयक जो अंश हैं वे प्रायः प्रक्षिप्त माने गये हैं। तुलसी ने अपने काव्य-नायक को पूर्ण ब्रह्म का अवतार माना है और वाल्मीकि ने पुरुषोत्तम (अर्थात मानवीय जीवन की श्रेष्ठता का चरम आदर्श परन्तु हम यह देख चुके हैं कि वाल्मीकि भी

अपने राम का चित्रण करते हुए प्राय: उन्हे उस सीमा पर प्रतिष्ठित कर देते है कि वे असाधारण प्रतीत होने लगते है। यही असाधारणता आगे चलकर दार्शनिक विचार-धारा में पल्लवित होने वाली परब्रह्म की कल्पना को साहित्य के साथ संयोजित कर देने में सहायक हुई है। विषय-प्रवेश में यह बतलाया गया है कि भक्ति का आविर्भाव सहसा नही हो गया था, वरन् वह वैदिक काल से चली आती हुई विचारधारा के विकास का एक सोपान थी। वाल्मीकि और तुलसी के विचारों या जीवन-दर्शन मे इसीलिये मूलभूत एकता का आभास मिलता है। वाल्मीकि अपने साहित्य में मनुष्य की जिस अनिर्वचनीय शक्ति और प्रकृति में सन्निहित जिस जीवन-सत्ता का आभास देते है उससे भावी परब्रह्म की कल्पना की भूमिका बनती दिखलाई पडती है। महत्ता की कल्पना दोनों ही कवियों ने 'मानव जीवन के श्रेष्ठ गुणों के समुदाय' के रूपमे की है, परन्तु तुलसी ने उसमे कुछ अन्य तत्व जोड़ कर मानस जीवन से उसे पृथक बनाते हुये उसका महत्त्व बढ़ाने का प्रयत्न किया है। उनके युग की जनता के लिये इसकी आवश्यकता भी थी, और अपने युग तक विकसित हुई विचारधाराओ की अवहेलना भी वे नही कर सकते थे। अत: विचारधारा में विविध विचारों के सम्मिश्रण और व्यापक समन्वय के कारण उनका जीवन-दर्शन वाल्मीकि से भिन्न प्रतीत होता है। फिर भी, इसे सभी स्वीकार करते है कि इस सम्मिश्रित विचारधारा मे एक स्रोत आदिकवि की विचारधारा का भी है. जिनकी वन्दना तुलसी ने मानस-प्रस्तावना मे की है और इसलिये वह उनकी विचारधारा का मुख्य आधार माना जा सकता है। वाल्मीकि ने जिस विचारधारा को इतिहास के आश्रय से व्यक्त किया था तुलसी ने उसको दर्शन और पुराण के आश्रय से प्रकट किया। इसीलिये उनके काव्य के उद्देश्य में भी भिन्नता दिखलाई पड़ती है और उससे भी अधिक उनकी काव्य-शैली मे।

वाल्मीकि और तुलसी का काव्यादर्श

वाल्मीकि ने कही भी तुलसी के समान अपने काव्य में अपने काव्यादर्श की चर्चा या विवेचन नही किया है, फिर भी उनके काव्यादर्श का अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने उदात्त भावो की स्वच्छन्द अभिव्यंजना की है, पर जो कुछ लिखा उसके प्रचार की लालसा भी उसके मन में थी। अत: यह कहा जा सकता है कि उनमें आदर्श की स्थापना के साथ उपदेश की वृत्ति भी थी। उनकी संगीतात्मक "तन्त्रीताललय समन्वित" कथाशैली प्रचार का साधन बनी और 'लवकुश' या 'कुशीलवों' के द्वारा आदि काव्य का प्रारंभिक प्रसार हुआ। उनके काव्य में मानव-आकृतियों और प्रकृतियो के सुन्दरतम चित्र हैं, जीवन-प्रवाह की रोचक और रोमांचक घटनायें हैं, कथन में वक्रता और विविध भंगिमायें हैं, अलंकारो और अनुप्रासों की छटा है, हास-विषाद, उत्साह और प्रेम की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं--ये उनके काव्य में निहित 'आनन्द' के तत्व है। दूसरी ओर उनके काव्य में सत् और असत्, मंगल और अमंगल, शुभ और अशुभ, अनुकरणीय और त्याज्य दूसरे शब्दों में धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप का विवेक

भी है,—यही उनके काव्य का उपदेश पक्ष है। पर इसकी साहित्यिक अभिव्यंजना हुई है, पौराणिक शैली जैसा प्रत्यक्ष उपदेश-कथन नहीं है।

तुलसी ने अपने काव्यादर्श को स्पष्ट रूप में बतलाया है (जिसे 'कथाशिल्प' अध्याय के अंतर्गत उनकी 'प्रस्तावना' और 'उपसंहार' के विवेचन में प्रकट किया गया है)। उनका काव्य 'शिवेतरक्षतये' और 'उपदेशयुजे' था, 'सद्यः परनिर्वृत्ति' भी उसमें है, परन्तु 'कान्तासम्मित' के साथ 'प्रभु सम्मित' के संयोजन ने उनकी काव्यशैली को भिन्न रूप प्रदान कर दिया है। इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी के काव्यादर्श अथवा उद्देश्य में वस्तुतः अन्तर नहीं है, जो अन्तर है वह शैली के कारण प्रतीत होता है। दोनों का ही काव्य 'चरितकाव्य' है और आदर्श चरित्र या चरित्रों की स्थापना के द्वारा धर्मोपदेश भी दोनों का ही लक्ष्य है। परन्तु दोनों की धर्म विषयक कल्पना मे भी अन्तर है। तुलसी के मानस मे धर्म और भक्ति पर्यायवाची हैं अर्थात् धर्माचरण करने वाले व्यक्ति को भक्ति की ओर भी अग्रसर होना ही चाहिए, क्योंकि धर्मादर्श रूप में जिस व्यक्ति के आचरण को वह अपना लक्ष्य बनायेगा उसके सतत् सान्निध्य के कारण उसके प्रति 'श्रद्धापूर्ण अनुराग' अर्थात् भक्ति का हो जाना भी स्वाभाविक है (दे० प्रस्तुत प्रबन्ध में 'भक्ति रस' का विवेचन)। इसी प्रकार जो भक्त होगा उसके आचरण में धर्म का आविर्भाव स्वयमेव होगा। अतः तुलसी ने भक्ति का उपदेश प्रत्यक्ष रूप में और आग्रह पूर्वक दिया है। इसी आधार पर उन्होंने अपने काव्य-विषय का निर्धारण किया है। उनके विचार से 'प्राकृतजन-गुणगान' उच्च काव्य विषय नहीं है, वस्त्रों के बिना जैसे सुन्दर स्त्री भी कुरूपा प्रतीत होती है उसी प्रकार राम-चर्चा के बिना पांडित्य-पूर्ण, अलंकृत और चमत्कारयुक्त कविता शोभा और प्रकाश से रहित प्रतीत होती है (बाल० १०)। पांडित्य, अलंकरण और चमत्कार उत्तम काव्य के साधन है, साध्य नहीं। उसका साध्य है आदर्श अर्थात् उत्तम उदाहरण या आचरण। इस प्रकार तुलसी का काव्यादर्श रामनाम और राम-चरित्र के माध्यम से धर्मोपदेश करना था। समस्त काव्य तत्वों के समान कथा भी उनके लिए गौण है। उनका उद्देश्य तो राम की भक्ति का पाठ पढ़ाना है और उसके लिये जब जिस काव्य-तत्व की आवश्यकता पड़ी है उसका उन्होंने अपनी सुसम्पन्न काव्य-सम्पत्ति मे से प्रयोग किया है। प्रधानता उन्होंने चरित्र की रक्खी है कथा की नहीं, क्योंकि चरित्र ही उपदेश का सहज साधन होता है।

वाल्मीकि का उद्देश्य भी यही है, यह बात उनके राम-सम्बन्धी विशेषणों से प्रकट है। साकार, सावयव धर्म को राम के चरित्र में, और उनके साथ धर्म के छोटे बड़े रूपों को अन्य पात्रों के माध्यम से, प्रस्तुत करके वाल्मीकि ने भी तो धर्मोपदेश ही दिया है और उस धर्म का स्वरूप दोनों ही काव्यों में समान है। वह एक ही भूमि पर उगा हुआ कल्पतरु है। तुलसी के समय की जलवायु, ऋतु और आयु के अन्तर के कारण उस कल्पतरु में विकास और वृद्धियां हो गई हैं। पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि भक्ति के तत्व वा० में भी हैं परन्तु उसका स्वरूप साम्प्रदायिक

नहीं है। उसमें तुलसी के समान निर्गुणता भी नहीं है। तुलसी ने नाम को राम से अधिक माना है (बाल० २४-२५), उसे सगुण और निर्गुण दोनों से बढ़कर माना है (वही, १९-२३), इसी प्रकार के विवेचन और उपदेश ने उनके काव्य में दार्शनिक दुरूहता, धार्मिक सांप्रदायिकता और पौराणिक उपदेशात्मकता उत्पन्न कर दी है। राम को ब्रह्म का पर्यायवाची बना कर, समस्त उपास्यों और उपासनाओं को उनके आधीन करके, तुलसी ने प्रत्येक महापुरुष के समान समन्वयबुद्धि का परिचय दिया है और उनका भी अपना एक वाद अथवा सम्प्रदाय जैसा बन गया है। किसी सत्य को दृढ़तापूर्वक अधिगत कर लेने पर उसके प्रति आग्रह हो जाना स्वाभाविक है, जो कि तुलसी में भी था। वाल्मीकि के सामने समन्वय की समस्या नहीं थी, अथवा कह सकते है कि इतनी जटिल नहीं थी। उनके सामने प्रश्न संस्कृति का था, धर्म का नहीं। इक्ष्वाकु-संस्कृति के रूप में आर्य संस्कृति का श्रेष्ठ स्वरूप, धर्म के श्रेष्ठ तत्वों से पुष्ट होकर, विद्यमान था। उसी का प्रचार उन्हें करना था। अतः उनका उद्देश्य सांस्कृतिक और राजनैतिक था। उन्होंने (जैसा कि हम कथा और चरित्रों के विवेचन में दिखला चुके हैं—दे० 'समष्टिगत-चरित्र चित्रण', अध्याय ३ का उत्तर भाग), संस्कृतियों का समन्वय किया है, और समन्वय भी नहीं वरन् अन्य अविकसित, अर्धविकसित अथवा कुविकसित संस्कृतियों को आर्य संस्कृति के आधीन बनाया है।

इस प्रकार तुलसी और वाल्मीकि के काव्यविषयक उद्देश्य में भी एक सीमा तक समानता है, अर्थात् उनका लक्ष्य तो एक ही है—'जनककल्याण' अथवा 'जनता को धर्मोपदेश', परन्तु उनकी रीति, पद्धति और साधन भिन्न हैं। तुलसी ने धर्म और दर्शन को साधन (जन-कल्याण का) बनाया है और प्रत्यक्ष उपदेश की पद्धति अपनाई है, और वाल्मीकि ने संस्कृति को साधन (राष्ट्रीय संगठन का) बनाया है तथा अप्रत्यक्ष या सांस्कृतिक प्रचार की पद्धति अपनाई है। इसीलिये वा० रामायण को दक्षिण में आर्यसंस्कृति के प्रचार अथवा अनार्य जातियों पर आर्य जाति के अभियान का रूपक माना गया है (दे० विषय-प्रवेश), जो निराधार कल्पना नहीं है। वा० रामायण में इस राजनैतिक और सांस्कृतिक लक्ष्य को प्रकट करने वाले ठोस आधार है। फिर भी मानसकार के समान उनका उद्देश्य व्यक्त नहीं है। काव्य रचना दोनों ही कवियों ने लोकसंग्रह के लिये की थी पर इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने भिन्न अभिव्यंजना-पद्धति और काव्यशैली के द्वारा की है।

वाल्मीकि और तुलसी की अभिव्यंजना-पद्धति

दोनों कवियों की साहित्यिक परिस्थितियाँ भिन्न थीं। वाल्मीकि के समक्ष था केवल वैदिक साहित्य, परन्तु तुलसी के समक्ष थी पुराणों की भीड़, ललित वाङ्मय की वीथिकायें और विविध प्रकार का धार्मिक साहित्य। वाल्मीकि स्वयं आदि कवि थे, उनके समय में साहित्यिक शैलियाँ उभर ही रही थी। साहित्य केवल लोकमुख में पनप रहा था चारण ही जनता के कवि थे वाल्मीकि ने लोक के धरातल पर उगते हुए

साहित्य को अभिजात भूमि पर आरोपित किया और उसे वैदिक वाङ्मय के पवित्र जल में सींच कर ललित वाङ्मय की वाटिका लगाई। आदि महाकाव्य के विशाल आँचल में से अलंकृत महाकाव्य, नाटक, गीत, चम्पू आदि की शाखायें फैल उठीं। वाल्मीकि काव्यशैलियों के आदि निर्देशक थे और तुलसी विभिन्न शैलियों के प्रयोक्ता। उन्होंने अपने महाकाव्य में नाना धार्मिक पद्धतियों के समान नाना साहित्यिक शैलियों का भी समन्वय किया। उन्होंने काव्य, नाटक, स्तोत्र, धर्मग्रंथ और पुराण की शैलियों का समन्वय मानस में एक साथ ही किया है। वाल्मीकि और तुलसी की भाषा, छन्द, अलंकार, सम्वाद, महाकाव्य-रूप, आदि काव्य-तत्त्वों की तुलना करते समय हम सम्बन्धित अध्याय में देख चुके हैं कि तुलसी में जनतत्त्व अधिक हैं। उनकी भाषा वाल्मीकि के समान साहित्यिक और परिष्कृत नहीं है, परन्तु उसमें तद्भव शब्दावली, बोलियों के प्रयोग, प्रचलित अरबी-फारसी शब्द तथा लोकोक्तियों और मुहावरों के रूप में एक देशव्यापी जनभाषा या राष्ट्र भाषा का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तुलसी ने मानस की प्रस्तावना में 'भाषा भनिति' 'गिरा ग्राम्य' और 'कवित विवेक एक नहि मोरे' कहते हुए अपनी अभिव्यंजना-पद्धति के लोकस्तरीय स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। उनका उद्देश्य भले ही 'प्राकृतजन-गुणगान' नहीं है, परन्तु उनकी शैली प्राकृत जन के लिये ही है।

जिस प्रकार तुलसी की भाषा वाल्मीकि की अपेक्षा सामान्य और अपरिष्कृत है, उसी प्रकार उनकी चौपाई अनुष्टप की अपेक्षा स्वच्छन्द है। वाल्मीकि के पास तंत्री-ताल-लय का शास्त्रीय संगीत है तो तुलसी के पास जनकंठ का सहज संगीत। उनके रूपकों में पांडित्य है, परन्तु उनके अप्रस्तुतविधान में लोक-जीवन का व्यापक सन्निवेश हुआ है। उनकी सम्वादशैली ऐसी है जैसे कि वे मानस-सरोवर के चारों घाटों पर विराजमान समस्त भारतीय जनता (विविध वर्गों सहित) से स्वयं बात कर रहे हों। बीच-बीच में सम्बोधन, चेतावनी, उपदेश, भर्त्सना, भाव-प्रेरणा और नाटकीयता आदि तुलसी की कथन-शैली के विशिष्ट गुण हैं जिनके आधार पर वाल्मीकि की काव्यशैली से उसकी पृथकता स्पष्ट हो जाती है।

तुलसी की अभिव्यंजना-पद्धति में साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का (धर्म तत्त्वों की तुलना में) अभाव नहीं है, वरन् वे अत्यन्त प्रचुर हैं और हिन्दी के आदर्श हैं, पर उनमें जनजीवन का सारल्य और स्वच्छन्दता है। एक ओर उनकी उपदेश-शैली वाल्मीकि से उनकी पृथकता प्रकट करती है तो दूसरी ओर उनकी नाटकीय शैली भी। यदि वा० रामायण उपदेश-शैली से दूर रहने के कारण काव्य-धर्म का अधिक निर्वाह करती हुई दिखलाई पड़ती है तो मानस उपदेश-शैली के साथ नाटकीयता का संयोजन करने के कारण साहित्यिकता को हाथ से नहीं जाने देता। वा० रामायण ने भी संस्कृत के नाटकों को अनुप्रेरित किया है परन्तु मानस तो स्वयं पद्यनाटक या नाटकीय महाकाव्य ही है

इस प्रकार तुलसी की अभि -पद्धति की मुख्य विशेषता इस बात में

दिखलाई पड़ती है कि साहित्यशास्त्र के सभी तत्त्वों का यथोचित सम्मान करते हुए भी उन्होंने प्रधानता लोकतत्त्वों को ही दी है। लोक और शास्त्र का वह समन्वय ही उन के समस्त काव्य का—विचार और अभिव्यक्ति का—मुख्य गुण है।

तुलसी का उद्देश्य भक्ति का प्रचार था, इसका प्रभाव भी उनकी शैली पर पड़ा है। उन्होंने समस्त काव्य तत्त्वों की योजना इसी दृष्टि से की है। भाषा की यह सरलता छन्द की यह स्वच्छन्दता, लोकजीवन से अप्रस्तुत-विधान का चयन, सम्वादों की योजना आदि इसीलिये की गई है कि भक्ति का सन्देश जनता के सभी वर्गों तक पहुँच सके। इसीलिये एक ओर वे पुराणों की उपदेश-शैली का आश्रय लेते हैं, तो दूसरी ओर साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का आधार भी नहीं छोड़ते, और साथ ही मार्मिक स्थलों को नाटकीय ढंग से भी प्रस्तुत करते चलते हैं। रसनिरूपण के अध्याय में यह दिखलाया गया है कि उन्होंने प्रत्येक रस का सांगोपांग निर्वाह करते हुए उसे भी भक्तिरस मे परिणत किया है और जो सम्बन्ध संचारी भावों का स्थायी भावों के साथ होता है वही समस्त रसों का तुलसी के भक्ति रस के साथ है। वा० रामायण मे भक्ति एक भावना के रूप मे ही सीमित है परन्तु मानस में वह पूरा जीवनशास्त्र बन कर प्रकट हुई है, और रस के क्षेत्र मे 'रस राज' बन गई है। वा० रामायण का प्रधान रस वीर है परन्तु वह एक प्रकार से भक्ति के रूप में ही प्रकट होता है क्योंकि उस वीर के प्रति जनता के मन में पूजा-भावना बन जाती है। इस प्रकार मानस के भक्ति रस की पुष्ट भूमिका भी वा० रामायण मे ही बन चुकी थी।

इस विवेचन से प्रकट है कि मूल विचार मे पर्याप्त समानता, उद्देश्य में आंशिक अन्तर और अभिव्यंजना शैली में विशेष पार्थक्य होने के कारण दोनों काव्यकृतियाँ एक ही विषय मे सम्बन्धित होती हुई भी पृथक् प्रतीत होती है।

जनता पर प्रभाव

भारतीय जनता पर वाल्मीकि की अपेक्षा तुलसी का प्रभाव इस अर्थ मे अधिक माना जा सकता है कि उन्होंने राम कथा की जनजीवन के अनुकूल व्याख्या करके उसे अधिक स्थायी तथा व्यापक बना दिया है। वा० रामायण का भी प्रचार कथा के रूप मे ही आरम्भ हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे वह राज-सभाओं और उच्च सभाओं में पहुँच कर शास्त्रीय और अभिजात साहित्य का उपजीव्य बन गई थी। एक ओर उसने संस्कृत के ललित साहित्य को अनुप्राणित किया और दूसरी ओर अधिकांश सांप्रदायिक साहित्य का आधार भी वही बनी। तुलसी ने अपने रामचरितमानस में ललित और साम्प्रदायिक साहित्य, दोनों की ही, परम्पराओं का सामंजस्य करके वा० रामायण की शक्ति को एक प्रकार से द्विगुणित कर दिया है। एक ओर रामचरितमानस आधुनिक भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ और हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक ग्रंथ है, तो दूसरी ओर वह भारतीय जीवन के श्रेष्ठ आधार-ग्रंथ के रूप में भी पूजित है।

वा० की अपेक्षा मानस की अधिक का प्रमाण भारतीय

परिवारों में उसके प्रचार के रूप में प्राप्त होता है। जिस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से उसकी विशेषता 'नाटकीय महाकाव्य' होने में है, उसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से उसकी विशेषता 'कौटुम्बिक महाकाव्य' होने मे है। कथा, चरित्र और काव्य-तत्त्वो आदि के विवेचन में यह दिखलाया जा चुका है कि मानस को वा० रामायण की अपेक्षा कौटुम्बिक शैली में अधिक ढाला गया है। ये दोनो ही महाकाव्य राष्ट्रीय महाकाव्य है परन्तु, जैसा कि पिछले अध्यायों में कहा गया है, तुलसी ने पारिवारिक अर्थात् छोटी इकाइयो को क्रान्ति का माध्यम बनाकर राष्ट्रीय चेतना का संचार किया था जब कि वाल्मीकि ने उच्च और विस्तृत वर्गों के माध्यम से यह क्रान्ति की थी। मानस का राष्ट्रीय महत्त्व इसीसे प्रकट है कि एक ओर विन्सेंट स्मिथ जैसे इतिहासकारों ने तुलसी को महान मुगल सम्राट अकबर से महत्तर माना था तो दूसरी ओर भारत के राष्ट्र-पिता गांधी ने जनजीवन में क्रांति लाने के लिये मानस को आदर्श ग्रंथ के रूप में चुना था। मानस में श्रद्धा का जो प्रबल आवेग है वह जनक्रान्ति या राष्ट्रीय संगठन का मुख्य आधार सिद्ध हुआ है। सामान्य जनता भावोपजीवी होती है और मानस में यह भाव-भोग श्रद्धा के रूप में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। मानसकार ने वा० रामायण की उत्साह-भावना और अध्यात्म रामायण की श्रद्धाभावना का सामंजस्य करते हुए अपने राष्ट्रीय महाकाव्य की रचना की है। विदेशों में भी आज भारतवर्ष का दर्शन और उसके विषय में ज्ञान-प्राप्ति जिन माध्यमों से की जाती है उसमे मानस का मुख्य स्थान है। आज पहले दृष्टि मानस पर पड़ती है फिर वा० रामायण पर। वा० रामायण भारतीय साहित्य और संस्कृति का आदि स्रोत है और मानस उसका विस्तृत प्रवाह। इस युग के पाठक को वाल्मीकि को समझने के लिये तुलसी की आवश्यकता है और तुलसी को समझने के लिये वाल्मीकि की।

परिशिष्ट

वाल्मीकि और तुलसी का नारी-समाज

तुलसी के नारी सम्बन्धी विचारो की विशेष आलोचना की जाती है और उन्हे नारी के प्रति अत्यधिक अनुदार और असहिष्णु बतलाया जाता है,[1] परन्तु तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक तो रामकथा की ही चिर प्रचलित परम्परा में नारी को विशेष सम्माननीय स्थान नहीं मिला है और दूसरे, वाल्मीकि तथा तुलसी दोनों ने ही, नारी जाति के प्रति पुरुष जाति के प्राकृतिक एव परम्परागत विचारो का ही प्रतिनिधित्व किया है जो कि मध्य युग के वातावरण के कारण तुलसी के साहित्य में (और समस्त मध्य युगीन साहित्य में ही) विशेष उग्र स्वर में प्रकट हुए हैं। इस दृष्टि से मानस की जिस पंक्ति की विशेप आलोचना की जाती है वह तुलसी के विचारों की प्रतिनिधि न हो कर गर्गसहिता का अनुवाद है जिससे एक चिर प्रचलित मनोवृत्ति और विचारधारा का बोध होता है। तुलना के लिए दोनो ग्रथो की पंक्तिया उद्धृत है :—

(अ) ढोल गंवार शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

(आ) दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टश्च पटहाः स्त्रियः।
ताड़िता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम् ॥[2]

पहले हम मूल कथा में ही नारी की स्थिति की परीक्षा करके देखते है। रामकथा मे रावण के बाद सबसे अधिक निन्दा स्त्री पात्रों की ही की गई है या उन्हें अपमानजनक स्थिति में रक्खा गया है। कैकेयी, मंथरा और शूर्पणखा और स्वयं सीता का भी कथा की दुर्घटनाओं मे मुख्य हाथ है। इसीलिये इन चारो पात्रो के माध्यम से स्त्री जाति की निन्दा हुई है। कैकेयी के चरित्र-विश्लेषण में हम देख चुके है कि उसके पक्ष मे अनेक बातें हैं और स्वयं दोनो कवियों की उसके विषय मे घृणा और सहानुभूति की मिश्रित भावनायें हैं। विद्वानों के अतिरिक्त यही स्थिति जनता की भी है। जनता का एक वर्ग उसका कटु आलोचक है और दूसरा प्रशंसक तथा श्रद्धालु भी है। कैकेयी ने वस्तुतः अपना अधिकार ही प्राप्त करना चाहा था, यद्यपि व्यापक दृष्टि से उसमें एक राज्य और देश का अहित था, परन्तु इस कृत्य के लिये सारी नारी जाति को लाछन का भागी बनना पड़ा है। भरत की माता की निन्दा स्त्री-पुरुष सभी ने की है (नराश्च

---

१. दे० डा० मा० प्र० गुप्त, "तुलसीदास", पृ० २०७ तथा डा० नगेन्द्र, "विचार और विश्लेषण" पृ० ४३ २ दे० रामनरेश त्रिपाठी तुलसी और उनका काव्य पृ० १६२

नार्यश्च समेत्य संपशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्—२, ६६, २९) । मथरा की भी दुष्टता और षडयंत्र की ओर ही सब का ध्यान गया है, परन्तु, जैसा कि एक विद्वान का विचार है, उसके कृत्य के दूसरे पक्ष अर्थात् 'स्वामिभक्ति' की ओर न तो दोनो कवियो का ही ध्यान गया है और न जनता का । इस षड्यंत्र की प्रेरणा देने वाला भाव उसकी स्वामिभक्ति थी ।[1] शत्रुघ्न द्वारा मथरा के कूबड़ पर लात दोनों कवियो ने लगवाई है । शूर्पणखा के प्रति राम और लक्ष्मण का व्यवहार बालि से भी अधिक निन्दनीय है । यद्यपि उसका निरूपण सीता पर उसके प्रहार की प्रतिक्रिया में किया गया है, फिर भी इसके दूसरे उपाय थे । उसको बाध कर डाला जा सकता था, धनुष-बाण तथा दूसरे उपायों से भयभीत किया जा सकता था, परन्तु कथा का उद्देश्य तो शत्रु की बहिन की नाक-कान काट कर शत्रु को चुनौती देना है । अत. यह अशोभन कृत्य किया गया है जिसकी प्रतिक्रिया आज की रामकथा सम्बन्धी रचनाओ मे दिखलाई पड़ रही है, जिनमें राम को इसके लिये 'नराधम' आदि तक कहा गया है ।[2] तुलसी ने अवश्य शूर्पणखा-प्रसंग से नारी जाति की कामुकता के विषय में अत्यन्त उग्र शब्द कह दिये है, जिन पर हम आगे विचार करेंगे, परन्तु वाल्मीकि का व्यवहार भी शूर्पणखा के साथ अमर्यादित ही दिखलाई पडता है । आदि कवि ने भी अतृप्त विधवा की बुभुक्षा का मखौल उडाया है और मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अनुज सहित उससे परिहास करते हुए दिखलाया है ।[3] मथरा के कूबड़ और शूर्पणखा के वेश-विन्यास की उन्होंने हसी उडाई है ।[4] प्रचलित वाल्मीकि रामायण में शूर्पणखा से भी अधिक घृणित अयोमुखी का प्रसंग भी है जिसमे लक्ष्मण को उसके स्तन काट कर डालते हुए दिखलाया गया है ।[5] यह कृत्य आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व के समाज की, जब कि वाल्मीकि रामायण का रूप स्थिर हो चुका था और प्रक्षेप बन्द हो गये थे, भावनाओं का द्योतक कहा जा सकता है । ताड़का-वध भी ऐसी ही घटना है । स्वय सीताहरण और काचन मृग के प्रसंग को लेकर नारी के चाचल्य की निन्दा की जाती है । सीता भी यदि हठ-पूर्वक वन को न आतीं तो ये सारे उपद्रव न होते । वा० रामायण मे अगस्त्य ऋषि ने इस बात को लक्ष्य किया है (३, १३,४) । आशय यह है कि स्वयं मूल कथा मे ऐसे प्रसग प्रमुख रूप में आये है जिनके कारण स्त्री-निन्दा एक प्रकार से अनिवार्य हो गई है, मानो कि दुर्घटनाओ और उत्पातों का उत्तरदायित्व स्त्री पर ही है, जैसा कि लक्ष्मण-शक्ति के प्रसग पर राम के उद्गार मे भी प्रकट होता है— 'नारि हेतु प्रिय

---

१. डा० मा० प्र० गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३०५ ।
२. "धिक है नराधम तुम्हे. वंचक कहीं का शठ" (सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला कृत 'अनामिका', संस्करण १९२३, पृ० २४) ।
३. मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा (३, १८, १३) ।
४ रा० २ ९ और ३ १७
५ रा० ३ ६९

भाइ गंवाई'। एक विद्वान के शब्दों मे "राम इस दुर्घटना का समस्त दोष नारी के ही मत्थे मढ़ देते हैं।"[1]

इससे स्पष्ट है कि रामकथा में कैकेयी, मथरा, शूर्पणखा और ताड़का के बहाने सारी स्त्री जाति की ही निन्दा की गई है। इतना ही नही, स्वय पतिव्रता सीता के माध्यम से भी स्त्री के दुर्गुणो का उल्लेख और उनका अपमान किया गया है। यह स्थिति दोनों ही काव्यो मे एक जैसी दिखलाई पड़ती है। यद्यपि वाल्मीकि ने प्राय व्यक्तिगत स्त्री पात्रों को ही लक्ष्य करके उनके विषय में निन्दात्मक उद्गार प्रकट किये हे और तुलसी के समान उनकी जातिगत निन्दा कम की है, फिर भी ऐसे स्थलों की सख्या वा० रामायण मे भी इतनी अधिक है और इतने पात्रों के द्वारा ऐसे उद्गार प्रकट कराये गये हैं कि वाल्मीकि और तुलसी के विचारों में अधिक अन्तर नही दिखलाई पड़ता। अनेक अवसरो पर स्त्रियों के सम्बन्ध में जातिगत उद्गार भी व्यक्त किये गये हैं। अनेक कथा प्रसंगो से भी उनकी निम्न स्थिति का बोध होता है।

कैकेयी के प्रसंग से दशरथ ने स्त्रियों के विषय में कहा है—'धिगस्तु योषितो नाम शठा: स्वार्थपरा: सदा' (२, १२, १०२)। स्पष्ट ही उन्होंने यह उक्ति स्त्री-जाति के विषय मे कही है, यद्यपि इसके उत्तरार्थ में कवि ने इसे कैकेयी के लिये सीमित करके विचार के मार्जन या गोपन का असफल प्रयत्न किया है। यही स्थिति हम अगस्त्य ऋषि की उक्ति में देखते हैं। वे सीता के वन-आगमन प्रसंग को लेकर नारी-स्वभाव पर टिप्पणी करते हे परन्तु सीता को उससे पृथक् रखने का प्रयत्न भी करते हैं (रा० ३, १३, ५-६)। पहले प्रसंग में व्यक्ति पर आक्षेप है और जाति की रक्षा तथा दूसरे मे जाति पर आक्षेप और व्यक्ति की रक्षा। सीता के ही प्रसंग से लक्ष्मण ने भी समस्त स्त्री जाति की निन्दा की है—

स्वभावस्त्वेष नारीणामेवं लोकेषु दृश्यते।
विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकरा: स्त्रिय:॥ (३, ४५ ३०)

आगे लक्ष्मण कहते हैं 'स्त्रीत्वं दुष्टं स्वभावेन' (श्लोक ३३)। तुलसीदास ने नारी के आठ अवगुण गिनाये है—

साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥ (६, १६, २)

उपरोक्त उदाहरणों में इनमें से अनेक आ गये हैं। रामायणकालीन समाज के लेखक ने आदि कवि द्वारा कथित नारी के अवगुणों की निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की है—

उत्सुकता की भावना, त्रिया-हठ, निर्मम स्वभाव, वज्रतुल्य-वाणी, व्यर्थ का गर्व, व्यंग्य करने की प्रवृत्ति, शरीर और मन की दुर्बलता, नैराश्य, हृदय का लघुत्व, कुशिक्षा के सहज ग्रहण की प्रवृत्ति, चपलता, अस्थिरता, ईर्ष्या, तिरस्कृत स्त्री का खूंख्वारपन, पति पर कठोर शासन, हृदय का पहेली जैसा होना, कपटाचरण, विनाश-

१ डा० नगेन्द्र विचार और विश्लेषण पृ० ८१

कारी प्रवृत्ति, उनका वास्तविक रूप जानने में पुरुष की असमर्थता इत्यादि ।[1] मानस मे भी स्थल-स्थल पर स्त्रियों के ये ही अवगुण बतलाये गये हैं । वा० रामायण मे अनेक स्थलों पर स्त्रियों के लिये भय और घृणा सूचक उपमायें दी गई है जैसे नागिन, विष सयुक्त मदिरा, व्याध इत्यादि ।[2] किन परिस्थितियों में ये उपमायें दी गई हैं और उनका उद्देश्य क्या है, इस पर बाद मे विचार करेंगे क्योंकि उद्देश्य और परिस्थितियाँ भी दोनों ही कवियों की एक साथ समझनी ठीक होंगी ।

दशरथ, लक्ष्मण और अगस्त्य ऋषि द्वारा व्यक्तिगत तथा जातिगत रूप मे प्रकट किये गये विचार हमने देखे। अब राम के भी विचारों की परीक्षा कर ली जाये। लक्ष्मण-शक्ति के अवसर पर राम के उद्‌गारों में स्त्री-जाति की जो तुच्छता मानस मे में प्रकट हुई है वही आदिकाव्य में भी है । भावों और शब्दों का यह सादृश्य देखिये—

(अ) देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा. ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर. ॥ (६, १०२, ११)

(आ) सुत बित नारि भवन परिवारा । होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता । मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
(६, ६१)

इसके अतिरिक्त लंका से सीता के प्रत्यागमन पर तो राम का व्यवहार और भी अधिक आश्चर्यजनक एवं विक्षोभकारी प्रतीत होता है जब कि सीता को देखते ही उनके नेत्र क्रोध मे लाल हो उठते हैं और वे कहते है कि मैंने यह युद्ध तुम्हारे लिये नही वरन् अपनी कुल-प्रतिष्ठा के लिये किया था, अत. अब तुम भरत, लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण में से किसी को वरण कर लो । मैंने अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली परन्तु तुम मेरे काम की नहीं हो (रा० ६, ११८, २०-२३) । अग्नि-परीक्षा के प्रसंग को विद्वानों ने प्रक्षिप्त प्रकरण माना है,[3] परन्तु उन्होंने केवल घटना की असगति और अलौकिकता को ही लक्षित किया है, आदि कवि के विचारों के आधार पर इसे प्रक्षिप्त नही कहा है । एक अन्य स्थल पर राम ने कहा है कि मै पिता की आज्ञा से भरत को राज्य ही नही अपनी पत्नी सीता भी दे सकता हूं (२, १९, ७) जिससे प्रकट होता है कि "असाधारण परिस्थितियों में स्त्री की स्वतंत्र सत्ता या इच्छा का कोई स्थान नहीं है, तथा उसके प्रति एक सर्वथा महत्त्वहीन एवं उपेक्षणीय प्राणी का सा व्यवहार किया जा सकता है ।"[4] लक्ष्मण-विलाप के अवसर पर भी वाल्मीकि रामायण में राम की उक्तियों से यही प्रकट होता है कि "पत्नी इन्द्रियों के विलास की एक सामान्य वस्तु है, जो जहां चाहे सुलभ हो सकती है ।"[5]

---

१. शा० ना० व्यास, रा० का समाज, पृ० २०४-२१० ।
२. वही, पृ० २१० ।
३ बुल्के पृ० ३८२ तथा ३९८ ।
४ व्यास रा० का० समाज पृ० १६४
५ वही ।

वा० रामायण में सुन्दर स्त्रियों को दान-दक्षिणा में देने की प्रथा[1] और उनसे पुरुषों का शरीर-मर्दन तथा स्नान आदि की सेवा लेने की प्रथा[2] से भी यह प्रकट होता है कि नारी का उपयोग 'इन्द्रियार्थ' के रूप में होता था तथा वह एक प्रकार की निजी संपत्ति थी जो स्वामी की इच्छानुसार ली-दी जा सकती थी। अन्य अनेक प्रकरणों से भी यह संकेत मिलता है कि पति पत्नी का निरंकुश स्वामी होता था और स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं था।"[3]

नारी विषयक विचारों और उनकी स्थिति के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वा० रामायण में भी स्त्रियों की स्वतन्त्रता सीमित थी तथा पुरुषो के साथ उन्हें समानाधिकार प्राप्त नहीं थे। वाल्मीकि के पक्ष मे, इस दृष्टि से, जो कुछ कहा गया है वहीं तुलसी के विषय में भी कहा जा सकता है। रामायण कालीन समाज के लेखक का कथन है—'इन में से अधिकाश उक्तियाँ ऐसे लोगो के मुख से निकली है जो किसी कारण से स्त्रियों से रुष्ट,[4] अपकृत या असंतुष्ट थे।······ इन उक्तियों का अभिप्राय समस्त नारी जाति को कलंकित करना नहीं है······ स्त्रियों को वासना का पिंड तथा उनके अनुराग को क्षणिक बताने वाले लोग प्राय. तपोनिरत ऋषिमुनि हुआ करते थे जो स्त्रियों में अनासक्ति रख कर जनसाधारण को वैराग्य की ओर उन्मुख करना चाहते थे।·········रामायण-कालीन समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण विभिन्न पहलुओं से निर्धारित होता था और इसी कारण उसमे परस्पर विरोधी बातें देखने को मिल जाती है।······भारत में मुख्यत: दो वर्गों की नारी के प्रति तीव्र प्रतिक्रियाएँ हुई है—एक भोगी, दूसरा वैरागी।······उनसे प्रभावित हो करसमाज मे नारी की स्थिति के विषय में कोई एकागी मत नही बनाया जा सकता।" (रा० का० समाज, व्यास, पृ० २११)।

मानस में भी नारी-विषयक उक्तियों के आधार पर कोई एकांगी मत नही बनाया जा सकता। यह ठीक है कि तुलसी के समय में नारी की स्थिति परवशता, अति नियन्त्रण और दासता की थी, जिसका प्रतिबिम्ब उनके तथा उनके समकालीन कवियों के साहित्य में दिखलाई पड़ता है और जिस कारण उनकी सीता में वा० रामायण की सीता जैसा दर्प और स्वाभिमान नहीं है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि तुलसी को स्त्रियो से चिढ़ थी, स्त्रियों के प्रति उनमें कोई विशेष मनोग्रंथि थी, अथवा वे इतने वैरागी-सन्यासी थे कि उन्हें स्त्रियों में दोष ही दोष दिखलाई पड़ते थे और वे सिद्धान्त रूप से स्त्रियों के विरोधी थे। जिस आधार पर ऊपर वाल्मीकि के नारी विषयक विचारों को संतुलित दृष्टि से देखने की आवश्यकता प्रकट की गई है, ठीक वही आधार डा० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के लिये प्रस्तुत किया है। उनका कथन है

१. रा० ६ १२८ ४३-४४

२. रा० २. ९१.५३.५४ तथा ६. १२४.३।

३. रा० का० समाज, पृ० १९५।

४ वही

'सब रूपों में स्त्रियों की निन्दा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में की है,—माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं।......जो निन्दा उन्होंने की है वह विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये और कुछ लोक की अत्यन्त आसक्ति को कम करने के विचार से...उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये है, कुछ साधा-गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये...अतः स्त्रियों को जो स्थान-स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं, बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिये...स्त्रियों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जो कहा है, वह सिद्धान्त-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है।"—(गो० तुलसीदास, पृ० ५५-५६)। इसके अतिरिक्त यदि हम वा० रामायण के समान मानस में नारी-निन्दा सम्बन्धी उद्‌गारों की परीक्षा पात्र और परिस्थिति के आधार पर करें तो विदित होगा कि वे सर्वत्र कवि के अपने विचार नहीं हैं, जैसा कि आचार्य श्यामसुन्दरदास ने रावण की मन्दोदरी के प्रति अवसर विशेष पर कही गई उक्ति (नारी स्वभाव सत्य कबि कहीं। अवगुन आठ सदा उर रहीं) के आधार पर सिद्ध किया है। उनका कथन है कि प्रसग, वक्ता, श्रोता, प्रयोग, अवस्था आदि पर ध्यान रखते हुए ही शब्दों और वाक्यों का अर्थ लगाना चाहिये (साहित्यालोचन, संवत् २००६, पृ० ३५६)।

तुलसी की नारी-निन्दा को उनका व्यक्तिगत दुर्बलता मानना और इसके पीछे उनके व्यक्तिगत जीवन की, जनश्रुति के आधार पर कथित, घटना से उत्पन्न विशिष्ट मनोग्रंथि देखना तुलसी के साथ अन्याय करना है (दे० 'विचार और विश्लेषण' में पृ० ४३ पर डा० नगेन्द्र का लेख "तुलसी और नारी")। सीताहरण के पश्चात राम ने भी स्त्री की निन्दा करते हुए कहा है—"राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं" (३. ३७)। इसका आशय क्या लिया जाये? इसमें सीता की निन्दा है, स्त्री जाति की निन्दा है, राम की दुर्बलता है या पुरुष-जाति की स्वार्थ-दृष्टि है, या यह तुलसी का विचार है? इनमें से यह एक भी नहीं है, वरन् यह एक मन-स्थिति विशेष का प्रकाशन है जिसे जीवन व्यापी सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इन्हीं राम ने सीता को यह सन्देश भी तो भिजवाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ (५. १५)

स्त्रियों की निन्दा करने वाला या दाम्पत्य प्रेम के महत्व को न समझने वाला कवि ऐसे आदर्श प्रेम की कल्पना नहीं कर सकता था। ढोल, गंवार, और शूद्र के समान स्त्री को भी ताड़ना का अधिकारी बतलाने वाला कवि रावण जैसे उद्धत नायक का मन्दोदरी के प्रति वैसा दाक्षिण्य नहीं दिखला सकता था, जैसाकि मानस के तमोगुणी रावण में है। डा० नगेन्द्र का विचार है कि सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया आदि की महिमा राम के नाते से ही है। इस विचार से भी सहमत नहीं हुआ जा सकता। सीता राम की मूल शक्ति है अत उनकी पौर राम की महिमा तो दृष्टि

से ही परस्पराश्रित है। पुष्पवाटिका की सीता के शील और अशोकवाटिका की सीता के प्रशान्त तेज को दृष्टि में रखते हुए यह भी कहा जा सकता कि उनका अपना व्यक्तित्व है ही नहीं। कौशल्या के विषय में तो यह बात और भी नहीं कही जा सकती। कौशल्या के चरित्र विश्लेषण में हम दिखला चुके हैं कि वा० रामायण में तो अवश्य कौशल्या का गौरव राम के कारण है क्योंकि वे स्वयं दुर्बल हैं और राम उन्हें उपदेश देते है, परन्तु मानस में तो वे ही पुत्र को उपदेश देने का मातृ-कर्तव्य पूरा करती है। अनसूया ने राम की भक्ति की कोई बात नही कही है, उसका महत्व सीता को निज जीवन के सार स्वरूप पातिव्रत का उपदेश प्रदान करने मात्र में है। अत. यदि 'आधुनिक नारी की उद्‌बुद्ध चेतना को सहृदयता के न्यायालय में अपने प्रति न्याय की माग" (डा० नगेन्द्र) करनी है तो उसे केवल तुलसी से ही नही, वाल्मीकि से भी (आदिकवि से भी), समस्त मध्यकालीन भाषा-कवियों से और "हीरोज' की अपेक्षा अधिक "ब्रिल्लियेन्ट हीरोइन्स" की कल्पना करके भी "फ्रेल्टी दाऊ आर्ट वुमन" कहने वाले विश्व कवि शेक्सपीयर से भी करनी होगी।

"ढोल गवार शूद्र पशु नारी" के अतिरिक्त जिन पक्तियों के आधार पर तुलसी बाबा की निन्दा की गई है वे शूर्पणखा के विषय में कही गई है—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ।।
होइ विकल सक मनहि न रोकी। जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी ।।
—(३. १७)।

शूर्पणखा अपने आकस्मिक वैधव्य के कारण एक अतृप्त युवती थी जिसका पुनर्विवाह न करना आश्चर्य की बात थी, कदाचित् अहंकारी भाई और स्वयं अहंकारिन बहिन को कोई योग्य वर नहीं मिला था। शब्दों को न पकड़ कर यदि उक्त पक्तियों का आशय ग्रहण किया जाय तो यही है कि कामातिरेक और असयम स्त्रियों मे अधिक होता है। इसी का परिष्कृत रूप विरह के विषय में आचार्य शुक्ल जी के इस कथन में मिलता है (दे० जायसी ग्रथावली और भ्रमरगीत सार की भूमिका) कि "भारतीय साहित्य मे विरह-वेदना अधिकतर स्त्रियों के मत्थे मढ़ी गई है।" स्व० जयशंकर प्रसाद ने भी कहा है "भारतीय साहित्य मे पुरुष-विरह विरल है और स्त्रियों का अधिक (काव्यकला तथा अन्य निबंध)। विरह की जितनी तीव्र और मार्मिक अनुभूति स्त्रियों को होती है उतनी पुरुषों को नही। इस अवान्तर प्रसंग को छोड़ते हुए अब हमें "होई विकल सक मनहि न रोकी" के विषय मे वा० रामायण का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानो की राय जाननी है।

बम्बई विश्वविद्यालय के समाजविज्ञान (सोशलाजी) विभाग के एक शोध-प्रबन्ध "इवोल्यूशन आफ मारल्स इन एपिक्स" (बम्बई, १९५९), की लेखिका श्रीमती धैर्यबाला पी० वोरा ने वा० रामायण और महाभारत मे चित्रित समाज के आधार पर, कुछ पक्षों को लेकर, इस देश की तत्कालीन सामाजिक विचारधारा को समझने का प्रयत्न किया है सम्बंधित विचारों का साराश कुछ वाक्यों के अक्षरश: अनुवाद

के रूप में, इस प्रकार है '—

"स्त्रियों की स्थिति के विषय में भारतीय आर्य परम्परा का अध्ययन करने पर उसमें बड़ा विचार-वैषम्य दिखलाई पड़ता है। हम देखते है कि यद्यपि पत्नी और माता के रूप में उनका सम्मान किया गया है, परन्तु "नारी" के रूप में उनकी निंदा ही की गई है। धुर वैदिक काल से लेकर अब तक भारतीय साहित्य में नारी-विरोधी, व्यंगात्मक, उपहास और घृणा की सूचक मनोवृत्ति, अन्तर्धारा के रूप में, प्रवाहित होती हुई दिखलाई पड़ती है। स्त्रियों के अवगुणों का राग अलापते हुए,—उनका दर्प, अहंकार, अस्थिरता, जीवन के उथले तल के प्रति अनुराग आदि बतलाते हुए—उन्हें सदैव एक छली, धूर्त या मायावी प्राणी के रूप मे देखा गया है जिसका जन्म ही मनुष्य को सत् मार्ग से विचलित करने के लिये हुआ हो। महाकाव्यों से भी इस विचार का समर्थन भी होता है (पृ० ११०)।"

"स्त्रियों का वर्णन कामसुख के लिये अतृप्त लालसा ('इनसेटियेबल लस्ट फार सेक्सुएल प्लेजर्स") रखने वाले प्राणी के रूप में हुआ है। रतिसुख (कोइटस) को वे समस्त सुखों से ऊपर समझती है (पृ० १११)।

"स्त्रियों की इस अतृप्त लालसा के वर्णन में निश्चय ही अत्युक्ति है (पृ०११२)। अवश्य ही इस विषय मे पुरुष भी उतने ही दुर्बल है, लेकिन इन दोनों महाकाव्यो ने 'स्त्री को रति से अधिक आनन्द मिलता है' इस पर बल देते हुए अधिकांश दोष स्त्रियो के ही मत्थे मढ़ने का प्रयत्न किया है (पृ० ११२)।

"स्त्रियों में दूसरा दोष जो महाकाव्यों में बढ़ा चढ़ा कर कहा गया है वह है उनकी अदम्य उत्सुकता (लेखिका ने कैकेयी की माता का प्रसंग दिया है, जो वा० रा० २/४५ में सुमंत्र ने सुनाया है)। स्त्रियों के विषय में सामान्य धारणा थी कि वे चंचल, अविश्वसनीय और काम-प्रवृत्ति के आधीन हो जाने वाली (ऐप्ट टु सकम्ब टु सेक्सुअल प्लेजर्स) होती हैं (पृ० ११३)।"

आगे भी लेखिका ने कहा है—

"यद्यपि स्त्री के लिये स्नेह और सम्मान की काफी वकालत की गई है, काफी आदर और गौरव प्रदर्शित किया गया है, परन्तु यह तथ्य ज्वलंत रूप में प्रकट है कि अपने पुरुष साथी के प्रति स्त्री का आत्मसमर्पण ही महाकाव्यो में स्त्री का आदर्श माना गया है" (पृ० १२१)।

लेखिका ने अपने मत की पुष्टि मे ई० डब्लू हापकिन्स (दि ग्रेट एपिक आफ इंडिया' के लेखक) के विचार भी उद्धृत किये है—"महाकाव्यों में नारी केवल मनो-विनोद का साधन है, उसके गुणों और अवगुणों का आकलन केवल पुरुषों के संदर्भ से किया गया है,—उसके काम-सुख, उसकी शक्ति-श्रेष्ठता और उसके अहंकार को तुष्ट करने की दृष्टि से।" (दे० हापकिन्स का लेख—दि पोजीशन आफ रूलिंग कास्ट इन इंडिया जर्नल आफ अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी १८९७ पृ० १९१)

ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी के उद्गारो का उद्गम न केवल आदिकाव्य और पुरातन साहित्य में वरन् स्त्री और पुरुषों की प्राकृतिक स्थिति तथा उसके आधार पर विनिर्मित उनकी मनोवृत्तियों में है। शास्त्र और साहित्य के मुख्य विधायक और रचयिता पुरुष ही रहे हैं। उन्होंने दूसरे पक्ष की दुर्बलता को बढ़ा कर देखा है और कहा है, तथा उस पर अधिक नियत्रण भी लगाये हैं। वर्तमान राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

नरकृत सब शास्त्रों के बन्धन है नारी ही को ले कर।
अपने लिये सभी सुविधायें पहले ही कर बैठे नर ।।
('पंचवटी' काव्य में शूर्पणखा की उक्ति)

समस्त साहित्य स्त्री और पुरुष के पारस्परिक समझौते का—एक दूसरे को समझने का—प्रयत्न है। आज भी "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" कहने वाले नवयुग-नायक जयशकर प्रसाद को स्कन्दगुप्त नाटक में अनन्तदेवी को लक्ष्य करके यह भी कहना पड़ा है—"एक पहेली है। देखू गुप्त साम्राज्य की कुजी यह किधर घुमाती है।" प्रसाद-साहित्य में भी नारी के प्रति विक्षोभ कम नहीं है। तुलसी ने अपने युग की वाणी को, अपनी वैराग्य परक दृष्टि के दबाव से, संतों की दो टूक भाषा में—अधिक सफाई और अशालीनता के साथ कह डाला, यही उनका अपराध है और साहित्यिक दृष्टि से बड़ा अपराध है। वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य के मन में स्त्री के प्रति सदैव विक्षोभ अथवा असंतोष रहा है, वह अपनी इस दुर्बलता से सदैव ऊपर उठने का प्रयत्न करता रहा है और यह प्रयत्न उच्चतर संस्कृति और साहित्य के सृजन में सहायक होता आया है।

प्रमुख सहायक ग्रंथ

(संवत् के सं० लिख दिया गया है, अन्यथा ई० सन् समझा जाए)

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
१. अंजनी नन्दन शरण	मानस पीयूष	अयोध्या	तृतीय संस्करण
२. अरविन्द श्री	दी इन्डियन इनहेरिटेन्स (भाग १)— लिट्रेचर, फ़िलासोफ़ी एण्ड रिलीजन (लेख : वाल्मीकि, व्यास ऐंड कालिदास)	बम्बई	१९५५
३. अरस्तु	पोयटिक्स (अंग्रेजी अनुवाद)	लन्दन	१९३४
४. आनन्द वर्धन	ध्वन्यालोक		
५. उदयभानु सिंह	हिन्दी के स्वीकृत शोधप्रबन्ध	दिल्ली	१९६३
६. ए० आर्थर लिली	राम एण्ड होमर	लन्दन	१९१२
७. ए० ए० मैकडॉनल	१. वैदिक माइथोलाजी	स्ट्रासबर्ग	१८९८
	२. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर	लन्दन	१९१३
८. एच० डी० वेलकर	जय दामन	बम्बई	१९४४
९. एफ० एस० ग्राउस	रामचरितमानस का अंग्रेजी अनुवाद	इलाहाबाद	१८७७
१०. एन० आर० नावलेकर	ए न्यू स्प्रोच टु रामायण	जबलपुर	१९४७
११. एन० ए० गोरे	ए विब्लियोग्राफी आफ दी रामायण	पूना	१९४३
१२. एबरक्राम्बी एल०	दि एपिक		
१३. ए० वारान्निकोव	मानस की रूसी भूमिका (हिन्दी अनुवाद, केसरी नारायण शुक्ल)	लखनऊ	१९५५
१४. एडविन ग्रीव्स	नोट्स आन दी ग्रामर आफ रामायण		
१५ एम०	राम दि ग्रटेस्ट फ़ारू आफ इजिप्ट		१९३६

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
१७. कन्हैया लाल पौद्दार	१. अलंकार मंजरी		
	२. रस मंजरी		
	३. संस्कृत साहित्य का इतिहास		
	४. संक्षिप्त अलंकार मंजरी		
१८. कालिदास	१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्		
	२. कुमार सम्भवम्		
	३. रघुवंश		
	४. श्रुत बोध		
१९. किशोरीदास वाजपेयी	हिन्दी शब्दानुशासन	काशी	२०१४ सं०
२०. कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह	मध्यकलीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु	कानपुर	१९५८
२१ के० एस० रामस्वामी शास्त्री	स्टडीज़ इन रामायण	वड़ौदा	१९४८
२२. केलाग	ए ग्रामर आफ हिन्दी लैंग्वेज		द्वि० संस्करण
२३. केशवदास	रामचन्द्रिका		
२४. क्रोचे (बेनेडिटो)	एस्थेटिक्स (अंग्रेजी अनु० डी० ऐंस्ली)		
२५. ग्रियर्सन	वर्नाक्युलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान विथ स्पेशल रेफ़रेन्स टू तुलसीदास	कलकत्ता	१८८९ सं०
२६. गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन	दिल्ली	१९५०
२७. थाटे	ग्रान वैदिक मीटर		
२८. चन्द्रभान	रामचरित मानस में लोकवार्ता	आगरा	२०१३ सं०
२९. चाडविक	दि ग्रोथ आफ लिट्रेचर	कैम्ब्रिज	१९३२
३०. जगन्नाथ राय	रामचरितमानस की कथावस्तु	पटना	
३१. जगन्नाथ पण्डितराज	रस गंगाधर		
३२. जहांगीरदार	ए कम्परेटिव फिलोलोजी आफ इन्डोआर्यन लैंग्वेजिज		
३३. जयराम दास दीन	१ मानस रहस्य	गोरखपुर	२००१ सं०
	२. मानस शंका समाधान	गोरखपुर	१९९९ सं०
३४. जय देव	प्रसन्न राघव नाटक		
३५. ज्वाला प्रसाद मिश्र	मानस (संजीवनी टीका)	बम्बई	
३६ जे० एन० फर्कुहार	एन आउट लाइन आफ दी		

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
	रिलीजस लिट्रेचर आफ इण्डिया	लदन	१६२०
३७. टेसीटरी,	इण्डियन एन्टीक्वेरी पत्रिका (लेख)	बम्बई	१६१३
३८. डगलस हिल (डब्ल्यू पी०)	होली लेख आफ दी ऐक्ट्स आफ राम (मानस का अंग्रेजी अनुवाद)		
३६. डोनाल्ड ए मेकेन्जी	इण्डियन मिथ एण्ड लिजेन्ड्स	लंदन	
४०. तुलसी ग्रंथावली	१. ना० प्र० सभा, पहला खण्ड	काशी	१६८० सं०
	२. ना० प्र० सभा, दूसरा खण्ड	"	१६८० सं०
	३. ना० प्र० सभा, तीसरा खण्ड	"	१६८० सं०
४१. तुलसी का अंतर्जगत	देवेन्द्र सिंह	इलाहाबाद	१६६२
४२. दण्डी	काव्यादर्श		
४३. देवकीनन्दन श्रीवास्तव	तुलसीदास की भाषा	लखनऊ (वि० वि०)	२०१४ सं०
४४. द्वारका प्रसाद मिश्र	कृष्णायन		
४५. धनंजय	दशरूपक		
४६. धैर्य वाला (श्रीमती, पी० बोरा)	इवोल्यूशन आफ मारल्स इन एपिक्स	बम्बई	१६५६
४७. नगेन्द्र (डा०)	१. विचार और विवेचन	दिल्ली	१६४६
	२. विचार और विश्लेषण	दिल्ली	१६५५
	३. साकेत एक अध्ययन	आगरा	१६४८
	४. सुमित्रानंदन पंत	आगरा	च० संस्करण
परशुराम चतुर्वेदी	रामकथा		
४८. पाराशर	रामायण का ऐतिहासिक रूप	कनखल (हरिद्वार)	१६४१
४६. पार्जिटर एम० ई०	एसियेन्ट हिस्टारिकल ट्रैडीशन	लंदन	१६२२
५०. पुत्तूलाल शुक्ल	आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द योजना	लखनऊ (वि० वि०)	२०१४ सं०
५१. बच्चन हरवंशराय	गीता (अवधी पद्यानुवाद)	दिल्ली	
५२. बल्देव प्रसाद मिश्र	१. तुलसी दर्शन	प्रयाग	१६४२
	२. मानस में रामकथा	कलकत्ता	१६५२
५३. बाबूराम सक्सेना	इवोल्यूशन आफ अवधी		
५४. बी० ए० पारम	दि मिरेकुलस एण्ड मिस्टीरियस इन वैदिक लिटरेचर	बम्बई	१६५२
५५ भरत	नाटय शास्त्र		

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
५६. भवभूति	महावीर चरित (ए० च० मिश्र)	वाराणसी	१९५५
५७. भाग्यवती सिंह (डा०)	तुलसी की काव्यकला	आगरा	१९६२
५८. भोलानाथ तिवारी (सम्पा०)	तुलसी शब्द सागर		
५९. मस्तीवेंकटेश आयंगर	दि पोयटरी आफ वाल्मीकि	बंगलौर	१९ ४०
६१. माघ	शिशुपाल वध		
६२. माता प्रसाद गुप्त	तुलसीदास	प्रयाग	१९५३
६३. मानियर विलियम्स	१. इण्डियन ऐपिक पोएट्री	लंदन	१८६३
	२. इण्डियन विज़डम	लंदन	१८९३
	३. संस्कृत-अंग्रेजी शब्द-कोष		
६४. मुंशीराम शर्मा	१. भारतीय धर्म साधना और सूर साहित्य	कानपुर	२०१० सं०
	२. भक्ति का विकास	"	२०१६ सं०
	३. साहित्य शास्त्र	दिल्ली	१९६३
६५. मुरारी,	अनर्घ राघव		
६६. मैथिलीशरण गुप्त	साकेत	चिरगांव	
६७. मोल्टन	वर्ल्ड लिट्रेचर		
६८. रजनी कान्त शास्त्री	मानस मीमांसा,	इलाहाबाद	१९४९
६९. रांगेय राघव	तुलसीदास का कथा शिल्प	दिल्ली	१९५९
७०. रागोज़िन (जेड० ए०)	वैदिक इंडिया	लंदन	१९१५
७१. राजपति दीक्षित	तुलसीदास और उनका युग	बनारस	२००९ सं०
७२. राजबहादुर लमगोड़ा	विश्व साहित्य में रामचरित मानस	सतना	१०४४
७३. राज शेखर	काव्य मीमासा		
७४. राधा कुमुद मुकर्जी	प्राचीन भारतीय विचार और विभूतियाँ	दिल्ली	१९५८
७५ रामकुमार वर्मा	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	प्रयाग	१९४८
७६. रामचन्द्र द्विवेदी	तुलसी साहित्य रत्नाकर	काशी	१९८६ सं०
७७. रामनरेश त्रिपाठी	तुलसी और उनका काव्य	दिल्ली	१९५३
७८	तुलसी एक	प्रयाग	२००३ सं०

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
७९. रामदास गौड़	१. मानस की भूमिका		
	२. हिंदुत्व		
८०. राहुल साकृत्यायन	हिंदी काव्य धारा	इलाहाबाद	१९४५
८१. रुद्रट	काव्यालंकार		
८२. रघुनंदन शास्त्री	हिंदी छंद प्रकाश	दिल्ली	१९५२
८३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर	प्राचीन साहित्य हिंदी अनु०, रा० द० मिश्र तृतीय संस्करण)	बम्बई	१९३३
८४. रामचन्द्र शुक्ल	१. गोस्वामी तुलसीदास	प्रयाग (इं० प्रे०)	१९३३
	२. बुद्ध चरित का अनुवाद		
	३. हिन्दी साहित्य का इतिहास	काशी (ना. प्र. सभा)	
	४. जायसी ग्रंथावली	,, ,,	२०१२ सं०
	५. चितामणि (भाग १)	प्रयाग	१९५३
८५. वामन	काव्यालंकार सूत्र		
८६. विजयानंद त्रिपाठी	१. मानस टीका	बनारस	
	२. मानस व्याकरण	,, ,,	
८७. विजयेन्द्र स्नातक	राधावल्लभ संप्रदाय	दिल्ली	२०१४ सं०
८८. विद्यानंद विदेह	रामचरित	अजमेर	१९५८
८९. विन्टरनिट्ज़	ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर भाग १	कलकत्ता	१९२७
९०. विश्वनाथ	साहित्य दर्पण (सम्पा० टी० सत्यव्रत सिह)	बनारस	१९५७
९१. वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री	लेकचर्स आन दी रामायण	मद्रास	१९५२
९२. वी. राघवन	दि नम्बर आफ रसाज	मद्रास	१९४०
९३. बुल्के कामिल	रामकथा : उत्पत्ति और विकास	प्रयाग	१९५०
९४. सत्यनारायण सिह	तुलसी के राम	नई दिल्ली	
९५. सद्गुरुशरण अवस्थी	तुलसी के चार दल	प्रयाग	१९३५
९६. सरनाम सिंह शर्मा	हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	इलाहाबाद	१९४९
९७. स्वयंभू देव	पउमचरिउ	काशी	१९५७
९८. सातवलेकर	वा० रामायण (हि० अनुवाद)	पार्डी (सूरत)	
९९. सिद्धान्त एन. के.	दि हीरोइक एज आफ इंडिया	लन्दन	१९२९
१०० सीताराम कपूर	मानस के साहित्यिक स्रोत शोध प्रबंध आगरा		१९५५

लेखक	ग्रंथ	प्रकाशन	सन्-सम्वत्
१०१. सी० वी० वैद्य	१. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर (वैदिक पीरियड)	पूना	१९३०
	२. रिडिल आफ रामायण	लंदन	१९०६
१०२. सुमित्रा नन्दन पंत	१. आधुनिक कवि	प्रयाग	२००३ सं०
	२. पल्लव		
१०३. सूर्यकान्त शास्त्री	मानस शब्दानुक्रमणिका		
१०४. सु. शंकर राज नायडू	कम्बन और तुलसी	मद्रास	१९५६
१०५. श्याम सुन्दर दास	१. साहित्यालोचन	प्रयाग	२००६ सं०
	२. हिन्दी भाषा और साहित्य		
१०६. शान्तिकुमार नानू-राम व्यास	१. रामायण कालीन संस्कृति,	दिल्ली	१९५८
	२. रामायण कालीन समाज	"	"
१०७. श्री कृष्ण लाल	मानस दर्शन	बनारस	२००६ सं०
१०८. श्रीधर सिंह	मानस का कथाशिल्प	वाराणसी	१९५९
१०९. हजारी प्रसाद द्विवेदी	१. हिन्दी साहित्य	दिल्ली	२००९ सं०
	२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल		प्रथम संस्करण
११०. हापकिन्स वी०	दि ग्रेट एपिक आफ इण्डिया	यल (वि० वि०)	१९०१
१११. हेमचन्द्र	काव्यानुशासन		
११२. हेमचन्द्र राय चौधरी	मॅटीरियल्स फार दी अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट	कलकत्ता	१९३६
११३. क्षेमेन्द्र	सुवृत्त तिलक		

वा० रामायण और रामचरित मानस

वा० रामायण—

१. तिलक टीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

२. टीका त्रय (तिलक, भूषण, शिरोमणि), गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई ।

३. विश्वबन्धु, राम लभाया और भगवत दत्त द्वारा सम्पादित संस्करण, लाहौर ।

४. वा० रामायण (हिन्दी अनुवाद), द्वारका प्रसाद मिश्र, इलाहाबाद १९५० ।

५. टी० ग्रिफिथ, अंग्रेजी अनुवाद (पद्य) ।

६. एम० एन० दत्त, अंग्रेजी अनुवाद (गद्य) ।

७. ज्वाला प्रसाद मिश्र, हिन्दी अनुवाद ।

८ सातवलेकर हिन्दी अनुवाद पार्डी (सूरत)

९. एन० सी० अय्यर (अंग्रेजी मे वा० रामायण का सार)—भारतीय विद्या भवन, बम्बई

रामचरित मानस

१. गीताप्रेस गोरखपुर ।
२. काशी ना० प्र० सभा ।
३. डा० माता प्रसाद गुप्त ।
४. राम नरेश त्रिपाठी ।
५. ज्वाला प्रसाद मिश्र ।
६. वि० नं० त्रिपाठी ।
७. रामेश्वर प्रसाद भट्ट ।
८. अंग्रेजी गद्यानुवाद, डब्लू पी० डगलस हिल ।
९ ,, ,, ,, एफ० ऐस० ग्राउस ।
१०. अंग्रेजी पद्यानुवाद, एटकिन्स ।

पत्र पत्रिकायें

१. इंडियन एंटीक्वेरी, सन् १९१२, १९१३ ।
२. कल्याण, रामायण विशेषांक, जुलाई १९३० ।
३. जर्नल आफ़ दि ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा १९५४ से १९५९ तक के अंक ।
४. नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका, भाग १७ ।
५. हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, १९६० ।
६. आलोचना, अंक १, दिल्ली, १९५१ ।
७. एनल्स आफ भण्डारकार ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट-५, २३ ।